पं. जगन्मोहन लाल शास्त्री साधुवाद ग्रन्थ

जैन विद्यायें : विविध विधायें

संपादक मंडल

डा० विलास ए० संगवे, कोल्हापुर
डा० (सौ०) नीलांजना शाह, अहमदाबाद
डा० विद्याधर जोहरापुरकर, नागपुर
डा० हरीन्द्रभूषण जैन, उज्जैन
पं० जमना प्रसाद शास्त्री, कटनी
डा० नंदलाल जैन, रीवाँ

प्रबंध संपादक

डा० सुदर्शनलाल जैन, काशी

पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री साधुवाद समिति
कुंडलपुर—जबलपुर—रीवा
जैन केन्द्र, रीवा, म० प्र० ४८६ ००१
१९८९

प्रकाशक

प० जगन्मोहनलाल शास्त्री साधुवाद समिति
कुंडलपुर, जबलपुर एवं रीवा, म० प्र०

सहयोगी संस्थायें

दि० जैन सिद्धक्षेत्र, कुंडलपुर, दमोह
श्री महावीर दि० जैन पारिमार्थिक संस्था, सतना
दि० जैन अतिशय क्षेत्र, पपौरा
दि० जैन अतिशय क्षेत्र, खजुराहो
दि० जैन परवार सभा, जबलपुर
जैन ट्रस्ट एवं जैन केन्द्र, रीवा

प्रकाशन वर्ष : १९८९

मूल्य : २०१-००

मुद्रक

तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी (भारत)

Pt. JAGANMOHANLAL SHASTRI SADHUVAD GRANTHA

JAIN VIDYAYEN : VIVIDH VIDHAYEN

(JAINOLOGY : MANIFOLD FACETS)

Editorial Board

Dr. VILAS A SANGWAY, KOLHAPUR

Dr. (Mrs) NEELANJANA SHAH, AHAMADABAD

Dr. VIDYADHAR JOHRAPURKAR, NAGPUR

Dr. HARINDRA BHUSHAN JAIN, UJJAIN

Pt. JAMNA PRASAD SHASTRI, KATNI

Dr. NAND LAL JAIN, REWA

Managing Editor

Dr. SUDARSHAN LAL JAIN, KASHI

Pt. JAGANMOHANLAL SHASTRI SADHUVAD SAMITI

Kundalpur-Jabalpur-Rewa

Jain Kendra, Rewa 486001, (M. P.)

1989

Publisher

Pt JAGANMOHANLAL SHASTRI SADHUVAD SAMITI
Kundalpur, Jabalpur, Rewa, M. P.

Associated Institutions

Digamber Jain Siddhakshetra, Kundalpur, Damoh
Shree Mahavir Digamber Jain Parmarthik Sanstha, Satna
Digamber Jain Atishaya Kshetra, Papaura
Digamber Jain Atishaya Kshetra, Khajuraho
Digamber Jain Parwar Sabha, Jabalpur
Jain Trust and Jain Kendra, Rewa

Publication Year : 1989

Price : Rs. 201/-

Printers

Tara Printing Works
Varanasi

कुण्डलपुर के बड़े बाबा

जिनके सुमरण से छिन भर में, कट जाते कर्मों के दावा,
हमको भव-सागर पार करें दे सन्मति, वीर, बड़े बाबा।

छायाकार—**नीरज जैन**

प्रबन्ध समिति

संरक्षक मंडल

श्री चारुकीर्तिजी स्वामी भट्टारक, मूडबिद्री	साहू अशोक कुमार जैन, दिल्ली
ब्र० पं० माणिकचंद्र जी चवरे, कारंजा	श्री रतन लाल गंगवाल, दिल्ली
समाजरत्न साहु श्रेयांसप्रसाद जी, बम्बई	श्री निरंजन लाल जी बैनाडा, आगरा
श्री दीपचंद एस० गार्डी, उषाकिरण, बम्बई	श्री ज्ञानचंद्र जी खिंदूका, जयपुर
श्री वीरेन्द्र हेगड़े, धर्मस्थल	श्री लालचंद्र हीराचंद्र दोशी, बम्बई
श्री डालचंद जैन, सागर	श्री धन्य कुमार सिंघई, कटनी

अध्यक्ष

दादा नेमीचंद्र जैन, जबलपुर

कार्याध्यक्ष

श्री बी० एल० जैन, भारतीय वनसेवा, म० प्र०

उपाध्यक्ष-मंडल

श्रीमंत सेठ रिषभकुमार खुरई	श्री धर्मचंद्र सरावगी, कलकत्ता
श्री विजयकुमार मलैया, दमोह	श्री जवाहरलाल, बम्बई
श्री मुलायमचंद्र जैन, एस० ई०, खंडवा	श्री देवेन्द्र सिंघई, आई० ए० एस०
श्री व्ही० के० गांधी, ई० ई०, सतना	श्री विमल राका, जबलपुर
श्री डी० के० जैन, एडीजे०, रीवा	श्री राजेन्द्र आर० व्ही०, जबलपुर
सेठ सुमतचंद्र देवेन्द्रकुमार जैन, कटनी	श्री सुभाषचंद्र जैन, कटनी
श्रीमती चंद्रदेवी मोतीलाल, सागर	श्री प्रकाशचन्द्र जैन, सतना अध्यक्ष, आयोजन समिति

सचिव

श्री प्रकाश सिंघई, एडवोकेट एवं नोटरी, दमोह

प्रचार सचिव

निर्मल आजाद, जबलपुर

समन्वयक

नन्दलाल जैन, जैन केन्द्र, रीवा

स्वागताध्यक्ष

श्री ताराचंद्र सिंघई, अध्यक्ष, कुंडलपुर क्षेत्र कमेटी
कैलाशचन्द्र जैन, अध्यक्ष, दि० जैन पारमार्थिक संस्था, सतना

स्वागत मंत्री

श्री हुकमचंद्र जैन, नेताजी, सतना

सदस्यगण

श्री दशरथ जैन, खजुराहो
श्री गो० खुशालचंद्र, काशी
डॉ० के० एल० जैन, शहडोल
मंत्री, जैन शिक्षा संस्था, कटनी
डॉ० अरविन्द जैन, ललितपुर
श्री सुन्दरलाल कवि, पटैरा
श्री तोशचंद्र मोदी, सागर
श्री रूपचंद्र नायक, दमोह
श्री प्रकाश सिंघई, नैनधरा
श्री निर्मल कुमार बजाज, दमोह
श्री विमल कुमार सोंरया
श्री डॉ० धर्मचंद्र जैन, सिवनी
श्री दयाचंद्र चंचल, पपौरा
श्री खेमचंद्र सराफ, कुंडलपुर
श्री ताराचंद्र बाझल, पथरिया
श्री टीकमचंद्र सिंघई, दमोह
श्री सुरेन्द्र कुमार नायक
श्री प्रेमचंद्र गोयल
श्री महताब सिंह जैन, दिल्ली

पंडित जगन्मोहन लाल शास्त्री साधुवाद समारोह
विद्वत् समिति

१. श्री भट्टारक चारुकीर्ति जी, श्रवण बेलगोला
२. श्री भट्टारक चारुकीर्ति जी, मूडबिडी
३. मुनिश्री समदर्शी जी
४. श्री जौहरीमल पारख, जोधपुर
५ स्वामी सत्यभक्त जी, वर्धा
६. श्री एम० एल० जैन, कुलपति, सागर विश्वविद्यालय
७. पं० फूलचंद्र शास्त्री, हस्तिनापुर
८. पं० हीरालाल कौशल
९. डा० सुदर्शन लाल जैन
१०. ,, गोकुलचंद्र जैन
११. ,, कपूरचंद्र खतौली
१२. ,, जयकुमार जैन
१३. ,, सुपार्श्व कुमार जैन, बडौत
१४. ,, जिनेन्द्र कुमार जैन, सासनी
१५. ,, कुन्दन लाल जैन
१६. ,, सत्यप्रकाश जैन
१७. ,, हरीन्द्र भूषण जैन (स्व०)
१८. ,, आर० सी० जैन, उज्जैन
१९. पं० जमुना प्रसाद शास्त्री
२०. ,, दयाचंद्र शास्त्री, उज्जैन
२१, डा० सुभाष कोठारी
२२. ,, नरेन्द्र भाणावत
२३. ,, संजीव भाणावत
२४. ,, महेन्द्र सागर प्रचंडिया
२५. ,, आदित्य प्रचंडिया
२६. ,, कंछेदी लाल जैन
२७. ,, केशरीमल वैद्य
२८. ,, गुलाबचंद्र दर्शनाचार्य
२९. ,, पद्मचंद्र जी शास्त्री
३०. पं० नाथूलाल शास्त्री
३१. ब्र० कल्याणदास जी, बहोरीबंद
३२. ,, के० सी० जैन, सागर विश्व विद्यालय
३३. ,, विद्याधर जोहरापुरकर
३४. पं० धन्यकुमार भौरे
३५. पं० माणक चंद्र जी चवरे
३६. डा० जगदीशचंद्र जैन
३७. ,, नीलांजनाशाह
३८. पं० मल्लिनाथ शास्त्री
३९. डा० पी० अनंत नारायण
४०. ,, व्ही० ए० संगवे
४१. ,, करुणा जैन
४२. श्री व्ही० के० गांधी, डूंगरपुर
४३. नंदलाल जैन
४४. श्री खुशालचन्द्र गोरावाला
४५. डा० बाबूलाल जैन, अशोक नगर
४६. डा० के० सी० जैन, रीवा
४७. श्री कमल कुमार जैन, छतरपुर
४८. पं० पन्नालाल काव्यतीर्थ, कलकत्ता
४९. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर
५०. श्री बिमल कुमार सोंरया, टीकमगढ
५१. डा० अरविंद सिंघई, ललितपुर
५२. ,, रमेश जैन, बिजनौर
५३. निर्मल आजाद, जबलपुर
५४. भूरमल जैन, जबलपुर
५५. श्री पी० सी० जैन, CA विलासपुर
५६. ,, एल० एम० जैन, डेपुटी मैनेजर, इलाहाबाद
५७. ,, मोती लाल जैन, डालमिया नगर
५८. पं० गोविन्दराय जैन, झूमरीतिलैया
५९. ,, सत्यंधर कुमार सेठी, उज्जैन
६०. डा० विष्णुकान्त शुक्ल, सहारनपुर
६१. ,, एम० एम० जोशी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
६२. श्री डा० एम० ए ढाकी, काशी

६३. डा० सागरमल जैन, वाराणसी
६४. श्री सुमति प्रकाश जैन, दिल्ली
६५. डा० नरेन्द्र प्रकाश जैन, फीरोजाबाद
६६. श्री रतन लाल कटारिया, केकड़ी
६७. ,, डा० धर्मचन्द्र जैन, सिवनी
६८. डा० सुरेश जैन, लखनादौन
६९. ,, महेन्द्र राजा, दिल्ली
७०. ,, राजकुमार जैन, दिल्ली
७१. ,, उर्मिला जैन, दिल्ली
७२. श्री सौभाग्यमल जैन, शाजापुर
७३. ,, पंचमलाल जैन, अमलाई
७४. ,, एस० के० जैन
७५. ,, शील चन्द्र जैन
७६. ,, डी० के० जैन, अति० न्या०
७७. डा० डी० सी० जैन, न्यूयार्क
७८. ,, पी० एस० जैनी, कैलिफोर्निया
७९. श्री कस्तूरचंद्र सतभैया, रायपुर
८०. डा० सुरेश जैन, रायपुर
८१. श्री आदर्श जैन, जज, अंबाह
८२. मुमुक्षु शान्ता बहन, लाडनूं
८३. डा० वागीश शास्त्री, काशी
८४. ,, सुरेश जैन, स्याद्वाद विद्यालय
८५. पं० सुमतिचंद्र शास्त्री, मोरेना
८६. डा० जी० सी० जैन, लखनऊ
८७. ,, पी० सी० जैन, लखनऊ
८८. ,, ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ
८९. ,, लालचंद्र जैन, वैशाली
९०. ,, ए० के० जैन, अंकलेश्वर
९१. ,, ताराचंद्र बख्शी, जयपुर
९२. श्री एल० सी० जैन, जबलपुर
९३. डा० अनुपम जैन, ब्यावरा
९४. ,, चेतन प्रकाश पाटनी, जोधपुर
९५. ,, भागचंद्र भास्कर, नागपुर
९६. श्री एस० सी० जैन, रीवा
९७. डा० एस० सी० लहरी
९८. श्री महेन्द्र कुमार मानव
९९. श्री रतन पहाड़ी, कामटी
१००. डा० सुदर्शन लाल जैन, काशी
१०१. श्री मोती लाल जैन, सागर

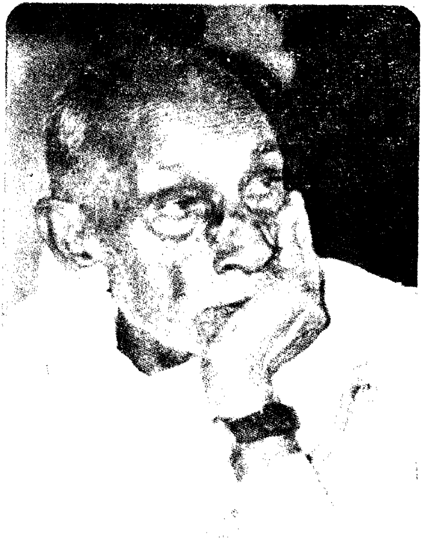

पण्डित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री, कुंडलपुर, १९९०

समितीय

भारतीय संस्कृति में विशिष्ट कोटि के महापुरुषों की प्रशस्ति, गाथा, स्तुति की परंपरा वैदिक युग से लेकर पुष्पदत-भूतबलि युग, हेमचंद्र युग एवं आधुनिक युग तक अविरत रूप से प्रवाहित है। इसके अंतर्गत शूरवीर, दानवीर, राजवीर, एवं तपोवीरों की गाथाओं से जन-जन भलीभाँति परिचित है। इस परंपरा में विद्यावीरों की प्रशस्ति का समाहरण भी स्वाभाविक है। यह प्रक्रिया व्यक्तिगत जीवन के लिये प्रेरणा, धार्मिक एवं सांस्कृतिक विचार एवं परिवेश की परिरक्षा, जीवन्तता तथा वर्तमान एवं भविष्य के ऊर्ध्वमुखी विकास की दिशा के प्रति जागरूकता प्रदान करती है। इसकी उपयोगिता के प्रति प्रश्नचिह्न अतीत के प्रति अनादर तथा वर्तमान एवं भविष्य के प्रति उपेक्षा का प्रतीक है। जैन संस्कृति भी इस प्रक्रिया से अनाप्लावित कैसे रह सकती है? बीसवीं सदी के धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षरण के युग में इस या इसके समकक्ष प्रक्रिया का अविरत रहना अनिवार्य है। इसीलिये पिछले पचास वर्षों में इसकी गति न केवल तेज ही हुई है अपितु इसके उद्देश्य व स्वरूप में विविधता भी आई है। वागीश शास्त्री के अनुसार, पहले यह प्रक्रिया मात्र व्यक्ति-प्रधान थी, यह मात्र पुष्पमाला 'पत्र-पुष्प', एवं मानपत्रों में सीमित थी। अब यह साधुवादित के माध्यम से स्थायी, शोधोन्मुख, ज्ञान वर्धक, विचार प्रेरक संदर्भ-साहित्य की प्रस्तुति के रूप में विकसित हो चुकी है। इस प्रस्तुति के कम-से-कम चार रूप हमारे सामने आये हैं। इनमें (१) व्यक्तिगत जीवन के विविध आयाम, (२) व्यक्तित्व एवं कृतित्व, (३) व्यक्तित्व, कृतित्व एवं धर्म-संस्कृति के विविध आयामों का परंपरागत या शोधगत परिचय, तथा (४) विशेष विषय के शोधपूर्ण क्षितिज समाहित हैं। इन रूपों में अन्तिम दो रूप नवीन पीढ़ी के अध्ययनशील स्तर एवं शोधरुचि को पल्लवित करते हैं और वर्तमान को उन्नत करने की प्रेरणा देते हैं। ये रूप बहु-श्रम, बहु-समय एवं बहु-व्यय साध्य भी होते हैं। वर्तमान में प्रथम रूप तो प्रायः अदृश्य हो गया है, पर दूसरे रूप की प्रचुरता दिख रही है। इसी प्रकार यद्यपि चौथे रूप की विरलता ही है, पर तीसरा रूप भी पर्याप्त प्रचलन में है। हमारा यह प्रयत्न उपरोक्त उपयोगी एवं अविरत परंपरा को विभिन्न प्रस्तुतियों में से तीसरे रूप का प्रतीक है। यह बीसवीं सदी के नव विद्वत्-बंधुओं द्वारा परंपरा-पूत विद्या-गुरु के लिये साहित्यिक यज्ञ का प्रकल्प है।

पंडित जगन्मोहनलाल शास्त्री ऐसे विद्यावीर एवं श्रावकवीर हैं जिन्होंने न केवल आधुनिक विद्या-वीरों का सृजन ही किया है, अपितु उन्होंने अपने गहन अध्ययन से जैन विद्याओं के आचार-विचार पक्ष को प्रकाशित भी किया है। गृहस्थ रह कर भी उन्होंने गृहत्यागी श्रावकवीरत्व का अभ्यास किया है। वे मूलाम्नायी परवार कुलावतंस है। उनके समान विरल-वीरता के साधुवाद के स्वाभाविक विचार का उदय १९८० में हुआ था, परंतु अनेक ननु-नच के बाद इसको १९८६ के उत्तरार्ध में ही मूर्तरूप देने का सक्रिय प्रयास किया जा सका। इस प्रयास के घोषित होते ही अनेक प्रकार के झंझावात आये, सहयोगी असहयोगी बने, उपयोगिता एवं निष्ठायें संदिग्ध कोटि में आईं, अकृत कृत्य की कोटि में लाये गये, व्यक्तिगत विचार सार्वजनिक विवाद के विषय बने। इनके कारण व्यक्तिगत थे, अहंभावी थे या अन्य, यह तो नहीं कहा जा सकता, पर इससे गुरुता अवश्य विकृत की गई। हमें ऐसा लगता है कि यह शास्त्रीय अभ्यास ही क्या जब उद्वेलनों के समय ही उसकी अनुकृति विस्मृत की जावे। परंपरा को उपेक्षित भी कर दिया जावे, तो भी सोमदेव के गृहस्थों के षट्कर्तव्यों, आशाधर के सत्रह श्रावक गुणों, हेम चन्द्र के पैंतीस मार्गानुसारी गुणों तथा प्रवचनसारोद्धार के इक्कीस श्रावक गुणों को विस्मृत

कर देने की बात समझ में नहीं आई। ये तो मूलगुणों के भी मूल गुण हैं। इनका अपहार करने वाले एवं कराने वाले को शास्त्रज्ञ या आगमज्ञ कहना विडंबना ही होगी। इनमें गुरुपूजा, गुणगुरु-यजन, ज्ञानवृद्ध-वयोवृद्ध आचारवृद्ध सम्मान, वृद्धानुगामिता एवं कृतज्ञता के गुण क्या अनुज्ञावचनी हो सकते हैं? हम 'पासगस्स उद्देसोणत्थि एवं 'मानिताः सततं मानयन्ति' कैसे भूल गये? यही शास्त्रीय आधार हमारे विचार को प्रबल बना सका और पंडित जी के 'आपके तर्क बड़े प्रबल रहे' का आशीर्वाद प्राप्त कर सका। इसीलिये वे आ० चवरे जी के 'उपसर्ग-सहन' के मत के सहभागी भी बन गये। हमने भी मौनी बनकर संवादी मार्ग ग्रहण किया। इसके अनुरूप सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखकर अनेक सहयोगी संस्थाओं एवं समितियों के माध्यम से हमने १९८७ के पहले दिन से यह कार्य प्रारंभ कर ही दिया।

इस हेतु भाई नंदलाल जैन के अनुरोध पर कुंडलपुर क्षेत्र पर अगस्त १९८७ में एक बैठक आयोजित की। इसमें साधुवाद आयोजन की पूरी द्विचरणी योजना स्वीकृत हुई एवं इक्कीस सदस्यों की प्रबंध समिति गठित की गई। इनके नाम यथास्थान पद सहित दिये गये हैं। इसमें रिक्त स्थानों पर अनेक नये सदस्यों का मनोनयन भी किया गया। अनेक संस्थाओं के साथ कुंडलपुर क्षेत्र समिति इसकी मुख्य सहयोगी बनी। इस पर भी सैद्धांतिक आपत्तियाँ आई। पंडित नाथू लाल शास्त्री एवं ब्र० माणिक चंद जी चवरे के मतों से इनका निराकरण किया गया। साधुवाद ग्रन्थ के संपादक मंडल का गठन किया गया। प्रारंभ में इसमें तीन सदस्य थे, बाद में इसे षट् सदस्यी बनाया गया। इसके वरिष्ठ संपादक अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जैन समाजशास्त्री डा० आदिनाथ संगवे कोल्हापुर है। लगभग पंद्रह माहों में ग्रन्थ के लिये विभिन्न खंडों की सामग्री प्राप्त हो गयी। उसका संपादन किया गया और उसे प्रबंध समिति की मई, १९८८ की बैठक में कुछ चर्चाओं के बाद, पारित करने का प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। इस बैठक में जैन समाज के मूर्धन्य विद्वान् के "पौरपाट अन्वय-१" लेख के ग्रन्थ में समाहरण पर चर्चा तीक्ष्ण रही, उस पर साधु जनों का भी ध्यान गया। ऐसा भी लगा जैसे आ० चवरे जी के अनुसार प्रबंध समिति के मुख्य सहयोगी संपादक मंडल के अधिकारों का अतिक्रमण कर रहे हों। हमने इस व्यतिक्रम को प्रायः एक वर्ष तक मौन रह कर सहन किया और अंत में सहयोग-सहयोगिभाव की चिंता किये बिना अनेक प्रकार के सुझावों को ध्यान में रखकर आवश्यक संशोधन परिवर्धन कर ग्रंथ को मुद्रणार्थ सौप दिया। इस प्रक्रिया में तथा अपने पृष्ठ-सीमा बंधन के कारण हम अनेक विद्वान लेखकों के लेखों का समाहरण नहीं कर सके हैं। आशा है, हमारे सहयोगी लेखक हमारी परिस्थितियों के सम्वेदी होंगे और हमें क्षमा करेंगे। संभवतः यह ग्रंथ मई-जून १९८९ में मुद्रित हो जाता, पर डा० जैन की दो माह की दीर्घ विदेश यात्रा एवं उसकी तैयारी की व्यस्तता ने इस प्रक्रिया को भी विलंबित कर दिया। हमें प्रसन्नता है कि उन्होंने लौट कर इस कार्य को उत्साहपूर्वक लिया और यह ग्रंथ आपके समक्ष है। मुझे विश्वास है कि इसकी विविधा आपको रुचिकर लगेगी।

प्रारंभ में साधुवाद ग्रंथ के लघुतर आकार का अनुमान था, पर परिस्थितियों की जटिलता ने इसे किंचित बृहद् आकार दे दिया है। कुछ ऋणात्मक हितैषियों ने इसकी सामग्री की कोटि पर रूढ़िवद्धता और पुनरावृत्ति की धारणा प्रचारित की है। इसमें कितनी रूढ़िवद्धता है, यह तो सुधी पाठक इसके विविध खंडों की विषय-सूची के अन्तर्गत सामग्री के अध्ययन से अनुमान लगा सकेंगे। हाँ, पुनरावृत्ति की बात विचारणीय है। सारणी १ से यह पता चलता है कि कोई भी साधुवाद ग्रंथ इस दोष से अछूता नहीं। फिर भी, इस ग्रंथ में यह अन्य ग्रंथों की तुलना में न केवल अल्प है अपितु उसका चयन सामग्री की जीवंत उपयोगिता तथा ग्रंथ गरिमा के अनुरूप किया गया है।

सारणी १ : कतिपय साधुवाद ग्रंथों का विवरण

ग्रंथनाम	प्रकाशन वर्ष	संख्या पृष्ठ	खंड लेख संख्या	पृष्ठ	पूर्व प्रकाशित लेख पृष्ठ संख्या	प्रतिशत पुनरावृत्ति	समग्र आयोजन समय, वर्ष
१. वर्णी अभि० ग्रंथ	१९४९	५९३	७०	५२३	१०३	२३	—
२. छोटे लाल स्मृति ग्रंथ	१९६७	८७१	—	८१७	१००	१२	—
३. महावीर स्मृति ग्रंथ	१९७५	३०८	—	—	१२०	४०	—
४. पं० चैन सुखदास स्मृति	१९७६	४९०	४६	४१८	४२	१०	—
५. पं० सु०चं० दिवाकर अ०	१९७६	४००	५६	३२४	५६	१४	२½
६. पं० कै०चं०शा० अ०ग्रं०	१९८०	६००	७४	४८८	४६	९.५	२
७. बाबूलाल जमादार ग्रंथ०	१९८१	४०८	५७	३००	८०	२६	३
८. डा० दरबारी लाल को०	१९८२	५००	६०	३७०	५८	५०	३
९. माता इंदुमती अभि-ग्रंथ	१९८३	५३२	२७	१६०	२०	१२.५	२
१०. सात्यंधर सेठी ,, ,,	१९८३	३८०	७२	२००	२००	१००	२
११. पं० फूलचंद्र शास्त्री ग्रंथ	१९८५	६८०	६८	५०६	४२५	८०	२
१२. भवरलाल नाहटा ग्रंथ	१९८६	४२२	५६	३३८	२७४	८०	१½
१३. जीत अभि० ग्रंथ	१९८६	६९४	४६	३०३	७७	२५	१½
१४. पं० लालबहादुर शास्त्री	१९८६	४७८	७३	४००	२८५	७०	६
१५. आ० देशभूषण ग्रंथ	१९८७	१७००	१७५	११५०	१४२	१३	७
१६. अर्चनार्चन ग्रंथ	१९८८	१३०८	—	—	—	१८	१½
१७. पं० जगन्मोहनलाल शा०	१९८९	५४०	८१२	५००	६०	११	३
१८. पं० बंशीधर व्या० चा०	१९८९	—	—	—	—	८०	½
१९. विद्वत् अभिनंदन ग्रंथ	१९७६	—	—	—	—	—	१२
२०. डा० पन्नालाल सा०अ०ग्रं०	१९८९	७००	—	—	—	८०	७

इस ग्रंथ की सामग्री को छः खंडों में विभाजित किया गया है। इनके नाम क्रमशः (i) पंडित परंपरा और पंडित जी, (ii) धर्म और दर्शन: नवयुग, (iii) ध्यान और योग, (iv) जैन विद्याओं में वैज्ञानिक तथ्य: समीक्षण (v) इतिहास और पुरातत्व और (vi) साहित्य है। कुल लेख संख्या ८३ है। प्रत्येक खंड की सामग्री नवीन परिवेश एवं भविष्य का संकेत देती है। इसे अधिकाधिक कोटि के पाठकों को रोचक बनाने का संपादक मंडल ने प्रयास किया है। इस विषय में उनके समीक्षापूर्ण मत की हमें जिज्ञासा रहेगी। यह प्रयास किया गया है कि मुद्रण में त्रुटियां न हों, पर 'प्रिंटर्स डेविल' कैसे हमारे प्रयत्न को सफल होने दे सकता है? हमारी असावधानी भी इसमें कारण हो सकती है। क्रमव्यक्तिक्रम भी हो सकता है। एतदर्थ सुधी पाठक हमें क्षमा करेंगे, ऐसी आशा है। साथ ही, यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि विभिन्न लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के स्वयं के हैं। उनसे समिति या संपादक मंडल सहमत ही हो, ऐसा नहीं मानना चाहिये। जैन संस्कृति ने विचार स्वातंत्र्य को सदा प्रेरित किया है।

आयोजन की प्रायोजना के समय ही यह धारणा रही है कि पंडित जी आखिल भारतीय व्यक्तित्व होते हुए मूलतः विंध्य एवं मध्य प्रदेशीय हैं। अतः इस आयोजन का आर्थिक पक्ष इसी क्षेत्र से समृद्ध किया जावे। सामान्यतः, ऐसे साहित्यक आयोजनों के लिये इस क्षेत्र का योगदान नगण्य ही रहा है। जहाँ विद्वत् अभिनंदन ग्रंथ जैसे ग्रंथ में मध्य प्रदेश का आर्थिक योगदान शून्यवत् ही रहा है, वहीं पं० सुमेरुचंद्र दिवाकर ग्रंथ में यह १६% एवं पं० कैलाशचंद्र जी शास्त्री के ग्रंथ हेतु यह २०% रहा। फिर भी, हमारी समिति को इस बात की प्रसन्नता है कि इस आयोजन हेतु हमें ८०% से अधिक योगदान इसी क्षेत्र से मिला है। भारत के अन्य क्षेत्रों से भी हमें योगदान मिला है। हमारे आयोजन के अनुमानित सत्तर हजार रु० के व्यय के मुख्य मद ग्रंथ प्रकाशन (लगभग ५०,०००=००) और यात्रा व्यय (प्रायः १०,०००=००) रहे हैं। आयोजन संबंधी जटिल स्थितियों को देखते हुए और कार्य को गति देने के लिये बैठकों एवं पत्राचार के बदले व्यक्तिगत संपर्कों को ही वरीयता दी गई। यह आलोचना का विषय हो सकता है, पर समिति यह मानती है कि यही उसके लिये कार्यसाधक उपाय था। इसी कारण यह संभव हो सका कि हमारा जटिल आयोजन अन्य सरलतर आयोजनों के समकक्ष समय में सम्पन्न हो पा रहा है जैसा सारणी १ से प्रकट है। इस आयोजन कार्य हेतु पंडित जी से संबंधित अनेक संस्थाओं विद्वत् परिषद, वर्णी शोध संस्थान, स्याद्वाद महाविद्यालय काशी, परवार सभा, जबलपुर, जैन शिक्षा-संस्था, कटनी, अनेक ट्रस्टों (बी० एस० ट्रस्ट, सागर, एच० एस० ट्रस्ट, जबलपुर, जैन ट्रस्ट, रीवा), क्षेत्रों—कुंडलपुर, पपौरा, खजुराहों, एवं शिष्यों से सहयोग मिला है। दमोह नगर से सर्वाधिक सहयोग मिला। कटनी भी पीछे नहीं रहा। सेठ धर्मचंद सरावगी जैसे सज्जनों ने परोक्ष जानकारी के आधार पर सहयोग दिया। वस्तुतः यह कुण्डलपुर के बड़े बाबा एवं भ० संभवनाथ की प्रतिमा के नवोत्तरण का प्रभाव ही है कि 'पदे पदे विच्छिन्नशंकु' प्रतीत होने वाले इस आयोजन को पूर्णता मिल सकी। समिति का आय-व्ययक पृथक् से प्रसारित किया जा रहा है।

इस आयोजन का द्वितीय चरण, ग्रंथ समर्पण समारोह, कुंडलपुर क्षेत्र पर आचार्य श्री विद्यासागर जी के सान्निध्य में जैन विद्या गोष्ठी के माध्यम से संपन्न करने का निश्चय था। परंतु अनेक विवशताओं ने स्थान-परिवर्तन के लिये बाध्य किया। हम सतना की महावीर दि० जैन पारमार्थिक संस्था के आभारी हैं कि उन्होंने इस आयोजन को अपने यहाँ संपन्न कराने का पूर्ण उत्तरदायित्व लिया।

इस आयोजन हेतु हमारे समन्वयक डा० जैन ने ८०,००० किमी० से भी अधिक यात्रायें की, ३०० से अधिक व्यक्तियों से सम्पर्क किया और ३,५०० से भी अधिक पत्र लिखे। उनका श्रम और त्याग प्रशंसनीय हैं। हमें लगता है कि उनकी तीव्र निष्ठा के बिना यह कार्य संभव नहीं हो पाता। उनके कार्य साधक वचनों या व्यवहार से अनेक जन अन्यथाभावी दिखे हैं। पर हम जानते हैं कि उनका उद्देश्य ऐसा कभी नहीं रहा। हम इस स्थिति के लिये क्षमाप्रार्थी हैं और समिति की ओर से डा० जैन को कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

अंत में हम सभी दातारों, लेखकों, विद्वत् समिति, स्वागत समिति एवं प्रबंध समिति, समारोह आयोजन समिति के सदस्यों, विभिन्न संस्थाओं, ट्रस्टों एवं क्षेत्र-समितियों को धन्यवाद देना चाहते हैं जिनके सहयोग के बिना समिति यह गुरुतर कार्य कैसे कर सकती थी? ग्रंथ मुद्रण के निर्णय के क्रांतिक क्षणों के हमारे सहयोगी श्री पी० के० जैन और श्रीमती क्षमा जैन के प्रति समिति की कृतज्ञता मनोहारी ही होगी। इस अवसर पर अनेक लिपिकीय सहायकों को भी कैसे भुलाया जा सकता है?

मुझे विश्वास है कि यह साधुवाद ग्रंथ विद्वत् वर्ग, अध्येता, अनुसंधित्सु एवं समाज के प्रगतिशील विचारकों के लिये सारवान् सिद्ध होगा। हमारे समग्र प्रयास में अपूर्णता एवं त्रुटियाँ स्वाभाविक हैं। उसके लिये समिति की ओर से हम क्षमाप्रार्थी हैं।

महावीर जयन्ती, १९९०

—प्रबंध समिति

संपादकीय

जैन समाज के विश्रुत विद्वद्वर पंडित जगन्मोहन लाल जी शास्त्री के साधुवाद ग्रंथ की योजना का प्रस्ताव कुंडल पुर क्षेत्र पर आयोजित अगस्त १९८७ की बैठक में पारित किया गया था। तदनुरूप वर्तमान संपादक मंडल का दो चरणों में गठन किया गया। हमें दुःख है कि इस मंडल के दो प्रमुख एवं अनवरत प्रेरक सदस्य डा० हरीन्द्रभूषण जी, उज्जैन व डा० कंछेदी लाल जैन, रायपुर हमारे बीच नहीं हैं। फिर भी, उनका आशीर्वाद तो हमें है ही।

वर्तमान संपादक मंडल ने अरुचिकर परिस्थितियों में भी ग्रंथ-हेतु समुचित सामग्री का संकलन एवं संपादन किया। पूज्य पंडित जी की इच्छानुसार, हमने उनके लिये स्वतंत्र खंड नहीं रखा है, अपितु पंडित परंपरा खंड के ही उप खंडों के अन्तर्गत उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की अपूर्व झांकी दी गई है। इस खंड हेतु हमें प्रसन्नता है कि पूज्य पंडित जी ने अपनी सरल आत्मकथा, नयी पीढ़ी के लिये विचार एवं दैनंदिनी के रूप में अपने विविध रूप प्रकाशनार्थ दिये। हमें विश्वास है कि नव-परंपरा का यह कार्य अनुमोदित ही होगा। इस खंड के अतिरिक्त इस ग्रंथ में पांच खंड और हैं। इनमें ध्यान और योग का खंड विशेष ध्यान देने योग्य है। दिगंबर जैन समाज में ध्यान-योग विषयक तुलनात्मक एवं सूचना परक सामग्री, संभवतः सर्व प्रथम, इसी ग्रंथ में दी जा रही है। संपादक मंडल का विचार है कि ध्यान जहाँ व्यक्तित्व को ऊर्जा-संचय से निखारता है, वहीं उसमें व्यक्तियों से बने संपूर्ण समाज को निखारने की क्षमता है। ऐसे उत्कृष्ट साधन को वर्तमान में सर्वत्र सार्वजनिक रूप दिया जा रहा है। बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में ऐसे महत्वपूर्ण विषय का समाहार करना आवश्यक माना गया। इसके अतिरिक्त, वैज्ञानिक युग में जैन विद्याओं में वैज्ञानिक तथ्यों के समीक्षणात्मक खंड का भी अपना महत्व है। इसमें वर्तमान विज्ञान के सात विषयों से संबंधित लेख हैं जो जैन शास्त्रों पर आधारित हैं। इस प्रकार की एकत्रित सामग्री पूर्व प्रकाशित कुछ ग्रंथों में भी आई है, पर यहाँ सामग्री की नवीनता पाठकों को मनोहारी एवं ज्ञानवर्धक सिद्ध होगी, ऐसा विश्वास है।

ग्रंथ के अन्य तीन खंडों—धर्म-दर्शन, इतिहास-पुरातत्व एवं साहित्य की सामग्री भी बीसवीं सदी के प्रगति शील विचारों के परिप्रेक्ष्य में संयोजित की गई है। इसमें अनेक आशाओं और निराशाओं के बीज हैं। परंपरावाद और प्रगतिवाद के समन्वय के तर्क हैं। इस सामग्री से पाठकों को दो लाभ तो होंगे ही-सूचना वर्धन और ज्ञान वर्धन। अधिकांश लेखों में संदर्भ सूचनायें दी गई हैं जिनसे पाठक अपनी रुचि का संवर्धन कर सकते हैं।

इस ग्रंथ की सामग्री तो विशिष्ट है ही, इसके लेखक भी विशिष्ट हैं। पाठक देखेंगे कि ग्रंथ के लेखकों में जैन समाज के परंपरागत सुप्रतिष्ठित लेखक नगण्य ही हैं। इनमें नई पौध ही अधिक है। यह ग्रंथ इस तथ्य का प्रतीक है कि वट वृक्षों के तले भी नई पौध जन्म ले सकती है। इस नई पौध को पनपने के लिये साधुजनों एवं विद्वज्जनों का आशीर्वाद ही चाहिये। लेखकों के अतिरिक्त, इस ग्रंथ की एक और विशेषता भी पाठक देखेंगे। इस ग्रंथ में विविधा है : जैन धर्म और संस्कृति के विविध आयाम, विविध नजरों से। विविधा एकधा से सदैव अधिक मनोहारी होती है, ऐसा संपादक मंडल का विश्वास है।

संपादक मंडल उन साधु-साध्वी जनों का आभारी है जिनका प्रारंभ से ही इस कार्य में आशीर्वाद रहा है। यह अपने उन सभी देश-विदेश के लेखकों, संस्मरण प्रेषकों, शुभाशंसियों का भी आभारी है जिनके सहयोग

के बिना यह ग्रंथ मूर्त रूप नहीं ले सकता था। भाई अमर चंद्र जी, सतना, नीरज जैन (फोटो) और सिंघई धन्य कुमार जी कटनी के सहयोग से पंडित जी से संबंधित सामग्री मिल सकी। संपादक मंडल उनका अतीव ऋणी है। संपादन के कार्य में हमें काफी परेशानी आई है और अनेक लेखकों की संपादकों की कतर-ब्योंत से अरुचिकरता का हम अनुमान कर सकते हैं। फिर भी, हमारी पेज सीमा, अर्थ सीमा व समय सीमा को देखते हुए वे हमारी विवशता को क्षमा करेंगे, ऐसा विश्वास है। काशी के अवतरण-सहायकों में डा० कमलेश, डा० प्रेमी एवं डा० गोकुलचंद भी धन्यवादाह हैं। मुद्रण कार्य में स्नेह पूर्ण सहयोग और मार्ग दर्शन के लिये तारा प्रेस के व्यवस्थापक श्री रमाशंकर पंड्या हमारे विशेष धन्यवाद पात्र हैं जिन्होंने मुद्रण में त्रुटियां कम करने का भारी प्रयास किया। यदि वे रह गई हैं, तो हम ही क्षमा प्रार्थी हैं।

अंत में, संपादक मंडल साधुवाद समिति के पदाधिकारियों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता है जिनके स्नेहपूर्ण विश्वास ने हमें इस दुरूह कार्य को पूर्ण करने का बल दिया। कुंडलपुर के बड़े बाबा का प्रसाद तो सदैव हमारे साथ रहा है।

—संपादक मंडल

विषय सूची

			पेज
	प्रबंध समिति		i
	विद्वत् समिति		iii
	समितीय		v
	संपादकीय		ix

आशीर्वचन एवं शुभकामनायें

१.	आचार्य विमलसागर जी		३
२.	आचार्य विद्यासागर जी		३
३.	मुनि अरहसागरजी एवं माता पद्मतीजी		३
४.	शुभ भावना	उपाध्याय अमर मुनि	४
५.	शुभ कामना	भट्टारक चारुकीर्तिजी, श्रवणबेलगोला	४
६.	शुभ आशीर्वाद	भ० चारुकीर्ति जी, मूडबिद्री	४
७.	सद्भावना	ब्र० कल्याणदास	४
८.	स्वामी रिषि कुमार, ऋषिकुंज आश्रम		५
९.	मंगलाशंसनम्	विष्णुकान्त शुक्ल	५
१०.	मदर टेरेसा, कलकत्ता		५
११.	श्री एम. एल जैन, कुलपति, सागर विश्वविद्यालय		६
१२.	श्री राधाकांत वर्मा, (भू० पू०) कुलपति, रीवा विश्वविद्यालय		६
१३.	श्री राजेन्द्र कुमार जैन, विदिशा		६
१४.	श्री महेन्द्र कुमार मानव, भोपाल		७
१५.	बेजोड़, बेनजीर आगमी आचार्य	डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया, अलीगढ़	७
१६.	डा० जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर		८
१७.	श्री ज्ञानचंद जैन, खुरई		८
१८.	श्री सत्यधर कुमार सेठी, उज्जैन		८
१९.	सेवाभावी पंडित जी	डा० एस० सी० जैन, जबलपुर	९
२०.	प्रेरक स्मृतिकण	पं० जीवनलाल शास्त्री, ललितपुर	९
२१.	मेरे मामा जी	रतनचंद जैन, स्वतंत्रता संग्राम सेनानी	१०
२२.	अमर रहे व्यक्तित्व तुम्हारा	मल्लिनाथ शास्त्री, मद्रास	१०
२३.	डा० पन्नालाल, साहित्याचार्य, जबलपुर		१०
२४.	पं० हीरालाल जैन, दिल्ली		११
२५.	अणुव्रतों की प्रतिमूर्ति	डा० राजाराम जैन, आरा	११

२६.	चलती-फिरती जिन वाणी	गुलाबचंद्र पुष्प, टीकमगढ़	१२
२७.	अनोखे व्यक्तित्व के धनी	धर्मचंद्र सरावगी, कलकत्ता	१२
२८.	सदाशयी पंडित जी	(स्व०) भूरमल जैन, जबलपुर	१२
२९.	वंदनीय विभूति	पं० नाथूलाल शास्त्री, इंदौर	१३
३०.	परवार सभा के प्राण	दादा नेमीचंद जैन, जबलपुर	१३
३१.	कलाबाज पंडित जी	पं० जमनाप्रसाद शास्त्री, कटनी	१३
३२.	गुरुता के गौरव	देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच	१४
३३.	बड़े पंडित जी का बडप्पन	डा० प्रेमसुमन जैन, उदयपुर	१४
३४.	मेरे आगम-अध्ययन के प्रेरणास्रोत	भुवनेंदु कुमार शास्त्री, बादरी	१६
३५.	मेरे आराध्य पंडित जी	सेठ रिषभकुमार, खुरई	१७
३६.	चुम्बकीय प्रवचनकार एवं सत्संगी	श्री रतनचन्द्र जैन, सतना	१७
३७.	प्रकाश और ऊष्मा के अजस्र स्रोत	दशरथ जैन, छतरपुर	१८
३८.	एकनिष्ठ व्रती विद्वान्	कोठिया खुशालचंद्र, काशी	७
३९.	विरोधाभासी गुरु : शत-शत वंदन	डा० सुदर्शन लाल, काशी	२१

खंड १—पंडित परम्परा और पंडित जी : (अ) पंडित परम्परा

१-१.	प्राचीन भारत की वैदिक पंडित परंपरा	डा० नत्थू लाल गुप्त	२५
१-२.	बौद्ध संस्कृति में पंडित परंपरा	डा० चंद्रशेखर प्रसाद	३१
१-३.	जैन पंडित परंपरा : एक परिदृश्य	नंदलाल जैन, रीवा	३४
१-४.	विंध्य क्षेत्र के जैन विद्वान्—१. टीकमगढ़ और छतरपुर	कमल कुमार जैन	४३

खंड १ (ब)—पंडित जी : व्यक्तित्व और संस्मरण

१-५.	जन्मकुंडली, वंशवृक्ष एवं विद्यावृक्ष		५६
१-६.	मेरा जीवन वृत्त	पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री	५७
१-७.	स्व० पं० बाबू लाल जी : मेरे विद्या गुरु	पं० जगन्मोहन शास्त्री	६४
१-८.	जैन शिक्षा संस्था के संस्थापक और संचालक	नीरज जैन	६६
१-९.	श्री अतिशय क्षेत्र कुंडलपुर में स्थित श्री उदासीन आश्रम के संस्थापक	पं० बाबू लाल शास्त्री	६८
१-१०.	सूझबूझ एवं वाक्‌चातुर्य के धनी पंडित जी के कुछ शिक्षाप्रद संस्मरण	(स्व०) डा० कंछेदी लाल जैन	७४
१-११.	मोरेना के मेरे आदर पात्र और मार्गदर्शक	डा० जगदीश चंद्र जैन	८०

खंड १ (स)—पंडित जी : कृतित्व एवं समीक्षण

१-१२.	अध्यात्म अमृतकलश: एक समीक्षा	(स्व०) डा० हरीन्द्र भूषण जैन	८३
१-१३.	श्रावकधर्म प्रदीप टीका : एक समीक्षा	राजेन्द्र, आर० बी०	८७
१-१४.	पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री : लेख सूची	संकलित	९६
१-१५.	पंडित जी की कृतित्व सूची, यात्रायें, अभिनंदन	संकलित	१००

१-१६.	पंडित जी से संबंधित संस्थायें : संपादन	संकलित	१०२
१-१७.	पंडित जी के विविध रूप	संकलित	१०३
१-१८.	पंडित जी के वर्तमान उद्गार	पत्राचार	१११
१-१९.	इतिहास के पृष्ठों से : बाबा गोकुल चंद्र जी	गणेश प्रसाद वर्णी	११२
१-२०.	समाज की परमोपकारी सचेतन निधि	पं० माणिकचंद्र चवरे	११३
१-२१.	विनोदी सहयोगी का साधुवाद	पं० फूलचंद्र शास्त्री	११५
१-२२.	विराट् महामानव	सिंघई धन्यकुमार जैन	११६

खण्ड २—धर्म और दर्शन : नवयुग

२-१.	सा विद्या या विमुक्तये	युवाचार्य महाप्रज्ञ	३
२-२.	जैन धर्म : प्राचीनता का गौरव और नवीनता की आशा	स्वामी सत्यभक्त	६
२-३.	श्रमण संस्कृति का विराट् दृष्टिकोण	सौभाग्यमल जैन	११
२-४.	जैनधर्म में अहिंसा	डा० श्रीरंजनसूरि देव	१७
२-५.	रिलेटिविज्म ऐंड इट्स प्रेक्टिस	डा० डी० सी० जैन	२१
२-६.	योगि प्रत्यक्ष और ज्योतिर्ज्ञान	डा० बि० जोहरापुरकर	२७
२-७.	जैनधर्म: भारतीयों की दृष्टि में (अनु०)	डा० करुणा जैन और डा० के० जैन	२९
२-८.	वर्तमान न्याय-व्यवस्था का आधार धार्मिक आचार संहिता	सोहन राज कोठारी	३८
२-९.	एन एनेलिसिस ऐंड एवेलुयेशन आव ईस्टर्न ऐंड वेस्टर्न फिलासोफिकल एप्रोचेज	प्रो० डोनाल्ड एच० विशप	४५
२-१०.	मानवीय मूल्यों के ह्रास का यक्ष-प्रश्न-मानव	डा० रामजी सिंह	५५
२-११.	आधुनिक युग और धर्म	डा० ह्वी० एन० सिन्हा	६१
२-१२.	धार्मिक परिप्रेक्ष्य में आज का श्रावक	डा० सुभाष कोठारी	६७
२-१३.	जैन साधु और बीसवीं सदी	निर्मल आजाद	७१
२-१४.	विदेशों में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार	डा० डी० के० जैन	८१
२-१५.	विदेशों में धार्मिक आस्था	डा० महेन्द्र राजा जैन	८८
२-१६.	जैन विद्याओं के कतिपय उपाधि-निरपेक्ष शोधकर्ता	संकलित	९१
२-१७.	आगम-तुल्य ग्रंथों की प्रामाणिकता का मूल्यांकन	डा० एन० एल० जैन	९५
२-१८.	सपादशतकद्वय परमात्मस्तोत्र	पं. माणिक चंद्र चवरे	१०७

खंड ३—ध्यान और योग

३-१.	ध्यान का शास्त्रीय अध्ययन	एन० एल० जैन	११३
३-२.	ध्यान का वैज्ञानिक विवेचन	डा० ए० कुमार	१२९
३-३.	प्रेक्षा मेडीटेशन; परसेप्शन आव साइकिक सेन्टर्स	मुनिश्री महेन्द्र कुमार	१४१
३-४.	लेश्या ध्यान	युवाचार्य महाप्रज्ञ	१४८
३-५.	लेश्या द्वारा व्यक्तित्व रूपांतरण	मुमुक्षु शांता जैन	१५५
३-६.	बच्चों के लिये ध्यान योग का शिक्षण	स्वामी शंकर देवानंद सरस्वती	१६७

३-७.	सुख शांति की प्राप्ति का उपाय : सहज राजयोग	ब्रह्माकुमारी सुनीता बहन	१७०
३.८.	पूर्ण स्वास्थ्य के लिये योगाभ्यास	स्वामी निरंजनानंद सरस्वती	१७५
३-९.	आचार्य हरिभद्र की आठ योग दृष्टियाँ	सतीश मुनि	१७९
३-१०.	साइंटिफिक स्टडीज इन योग	डा० एम० एल० घारोटे	१८३
३-११.	णमोकार मंत्र और मनोविज्ञान	(स्व०) डा० नेमचंद्र शास्त्री	१९२
३-१२.	जैन शास्त्रों में मंत्रवाद	प्रकाश चंद्र सिंघाई	१९७
३-१३.	मंत्रयोग और उसकी सर्वतोभद्र साधना	डा० रुद्रदेव त्रिपाठी	२११

खंड ४--जैन विद्याओं में वैज्ञानिक तथ्य : समीक्षण

४-१.	ज्ञान प्राप्ति की आगमिक एवं आधुनिक विधियों का तुलनात्मक समीक्षण	डा० एन०एल० जैन	२१७
४-२.	जैन शास्त्रों में वैज्ञानिक संकेत	पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री	२२८
४-३.	वर्ण : पदार्थ का एक अभिन्न गुण	डा० अनिल कुमार जैन	२३४
४-४.	जैन थ्योरी आव स्कंधाज ऑर मोलीक्यूल्स	एन० एल० जैन	२३८
४-५.	जीव विचार प्रकरण और गोम्मटसार जीव कांड	कु० अंबर जैन	२५३
४-६.	जैन शास्त्रों में आहार विज्ञान	डा० एन० एल० जैन	२६७
४-७.	शाकाहारी आहारों से ऊर्जा	डा० मधु ए० जैन	२७९
४-८.	जैन सिद्धान्तों के संदर्भ में वर्तमान आहार विहार	डा० राजकुमार जैन	२८७
४-९.	सिमिलरिटीज बीटवीन जैन एस्ट्रोनोमी ऍड वेदांग ज्योतिष	डा० एस० एस० लिश्क	२९४
४-१०.	जैनाचार्य नागार्जुन	प्रो० एम० एम० जोशी	२९८
४-११.	कवि हस्तिरुचि और उनकी वैद्यक कृतियाँ	डा० आर० पी० भटनागर	३०१
४-१२.	रोगोपचार में गृह शांति एवं धार्मिक उपायों का योगदान	डा० जी० सी० जैन	३०५
४-१३.	दार्शनिक गणितज्ञ आचार्य यतिवृषभ की कुछ गणितीय निरूपणायें	प्रो० अनुपम जैन	३१०

खंड ५—इतिहास एवं पुरातत्त्व

५-१.	मिथिला और जैन मत	प्रो० उपेन्द्र ठाकुर	३१७
५-२.	जिन मूर्ति लेख विश्लेषण : तीर्थंकर मान्यता एवं भट्टारक परंपरा	डा० एन० एल० जैन	३२४
५-३.	जैन संस्कृति प्रतिष्ठापक—आचार्य कुंदकुंद व्रात्य थे	गोरावाला खुशालचंद्र	३३३
५-४.	जैनों का सामाजिक इतिहास	डा० विलास ए० संगवे	३३५
५-५.	रीवा के कटरा जैन मंदिर की मूर्तियों पर प्रशस्तियाँ	पुष्पेन्द्र कुमार जैन	३४३
५-६.	बीसवीं सदी की एक जैनेतर जैन विभूति : कुं० दिग्विजय सिंह	डा० के० एल० जैन	३४६
५-७.	पौरपाट (परवार) अन्वय—१	पं० फूलचंद्र सिद्धान्तशास्त्री	३५१
५-८.	सिद्धक्षेत्र कुंडलगिरि	फूलचंद्र शास्त्री	३६७

५-९.	श्रीधर स्वामी की निर्वाण भूमि : कुंडलपुर	पंडित जगन्मोहन लाल शास्त्री	३७५
५-१०.	दिगंबर जैन परवार समाज, जबलपुर : संस्कार धामी के लिये अवदान	सिंघई नेमीचंद्र जैन	३८०
५-११.	शहडोल जिले की प्राचीन जैन कला और स्थापत्य	डा० राजेन्द्र कुमार बंसल	३८३

खंड ६—साहित्य

६-१.	कामन टर्मिनोलोजी इन अर्ली बुद्धिस्ट ऐंड जैन टैक्स्ट्स	के० आर० नामंन	३९३
६-२.	कनकसेन का स्वतंत्र वचनामृत	डा० पी० एस० जैनी	३९८
६-३.	प्राचीन प्रश्न व्याकरण : वर्तमान ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन	डा० सागरमल जैन	४०४
६-४.	जैन मिथक तथा उनके आदि स्रोत : भगवान रिषभ	डा० हरीन्द्र भूषण जैन	४१५
६-५.	अजैन नाटककारों के हिन्दी नाटकों में जैन समाज दर्शन की अवधारणा	डा० लक्ष्मी नारायण दुबे	४२१
६-६.	ऐरावत छवि	कुंदन लाल जैन	४२३
६-७.	अपभ्रंश के खंड और मुक्तक काव्यों की विशेषतायें	डा० आदित्य प्रचंडिया	४२७
६-८.	जैन कवियों द्वारा रचित हिन्दी काव्य में प्रतीक योजना	डा० महेन्द्र प्रचंडिया	४३१
६-९.	अर्ध कथानक : पुनर्विलोकन	डा० कैलाश तिवारी	४३८
६-१०.	कातंत्र व्याकरण	डा० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश' शास्त्री	४४३
६-११	कुवलयमाला कथा के आधार पर गोल्लादेश व गोल्लाचार्य की पहिचान	डा० यशवन्त मलैया	४४७

आशीर्वचन एवं शुभकामनाएँ

व्यवहार नय और निश्चय नय

निश्चय नय जीव का यथार्थ स्वरूप बताता है। इसके विपर्यास में, व्यवहार नय वर्तमान उपाधियों के आधार पर जीव स्वरूप को बताता है। निरुपाधिक वर्णन न करने से वह अयथार्थ है। तथापि, व्यवहार नय की गणना मिथ्याज्ञान में नहीं है, यह सम्यक् ज्ञान का भेद है। इसमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय भी नहीं होते। यह सापेक्ष वर्णन है। यह मन्द बुद्धि शिष्य को सामान्य मूर्खता की अपेक्षा 'गधा' कहने के समान है। व्यवहार नय मिथ्याभाषी नहीं है, सम्यग् ज्ञान है और प्रमाण कोटि में आता है।

अध्यात्म अमृत कलश, ५७

परमपूज्य आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी के आशीर्वचन

पण्डित जी समाज के अग्रणी विद्वान् हैं। साथ-साथ व्रती भी हैं। उनका जीवन समाज की सेवा में बीता है और बीत रहा है। हमारी उनको पूर्ण 'समाधिरस्तु' है। वे समाज को उठाते हुए जैन शासन की महिमा को बढ़ाते हुए जन-जन के लिये कल्याणकारी और मंगलमय हों। वे अपनी भावनाओं को वृद्धिगत करते चले जावें। यही आशीर्वाद है।

श्रमणगिरि (दतिया) म० प्र०, १४-२-८९।

●

परमपूज्य १०८ आचार्य श्री विद्यासागर जी
के
अलिखित आशीर्वाद

इस आयोजन के प्रायोजन से ही विभिन्न चरणों
पर प्राप्त होते रहे हैं और
आज भी प्राप्त हैं।

●

मुनि श्री भरहसागर जी
एवं
माता पद्ममती जी

इस मंगलमय साहित्यिक अनुष्ठान एवं
ज्ञान-तपोपूत के गुणगान में
अपना आशीर्वाद प्रदान करते हैं।

●

शुभ भावना

उपाध्याय श्री अमर मुनि
वीरायतन, राजगिर (बिहार)

पण्डित जी यथानाम तथागुण हैं। उनके अध्ययन, अध्यापन एवं लेखन में मौलिकता है। जटिल विषय की सरल, सुबोध एवं स्पष्ट व्याख्या श्रोता को हर्षित कर साधुवाद के लिये प्रेरित करती है।

पण्डित जी से मेरा परिचय उनके सारस्वत वाङ्मय के माध्यम से है जो प्रत्यक्ष परिचय से अधिक महत्वपूर्ण है। पण्डित जी अपनी यशस्वी रचनाओं से समाज के बौद्धिक क्षेत्र को प्रकाशमान करते रहें, यही शुभ भावना है।

●

श्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामी जी
जैन मठ, श्रवणबेलगोला, कर्नाटक, ५७३,१३५

पण्डित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री के साधुवाद हेतु आप एक ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं, यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई। श्री शास्त्री जी जैनदर्शन के बहुश्रुत विद्वान् हैं। जैन-साहित्य के क्षेत्र में एवं जैन-समाज के लिये शिक्षण, व्याख्यान, लेखन के रूप में उनकी सेवायें अत्यन्त सराहनीय रही हैं। उनकी सेवाओं का साधुवाद सामयिक है। हम आपकी योजना की सफलता की कामना करते हैं।

●

स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति पंडिताचार्य स्वामी जी
दिगम्बर जैन मठ, मूडबिडी, कर्नाटक, ५७४,२२७

पण्डित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री के साधुवादन के अवसर पर जैन-विद्या-ग्रन्थ प्रकाशन के निर्णय से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। श्री पण्डितजी इस समय के सर्वोत्कृष्ट विद्वान्, धर्मानुशासित, सिद्धान्तवादी शिक्षक, लेखक, सम्पादक और व्याख्याता हैं। कृपया इस कार्य हेतु हमारे आशीर्वाद स्वीकार करें।

'भद्रं भूयात्, वर्धताम्' जिनशासनं' अनेक शुभाशिष

●

ब्र० कल्याणदास जी
सीहोरा रोड, जबलपुर

पण्डित जी बचपन से ही कुशाग्रबुद्धि और गुणी रहे हैं। आपने मोरेना और वाराणसी में शिक्षा प्राप्त की है। आपकी वाणी जन-जन को मोह लेती है। आपके द्वारा परिपोषित शिक्षा-संस्था कटनी आज अनेक संस्थाओं का समूह बन गया है।

आपके कारण अनेक साधुसंघ अध्ययनार्थ कटनी में चातुर्मास करते हैं। गहन विषय को सरल करना आपकी विशेषता है। मैं भी उन्हीं के प्रसाद से आत्मकल्याण की ओर अग्रसर हुआ हूँ।

आप सद्गुरु, हितचिन्तक, संतोषी, सरल स्वभावी, ज्ञान-भण्डारी, अष्टमदविकल, निरतिचार व्रत-पालक, पंचशील, कषायत्यागी एवं कल्याणमार्गी हैं। मैं उनके प्रति अपनी सद्भावना व्यक्त करता हूँ।

●

स्वामी रिषि कुमार

ऋषि कुंजाश्रम, पंचमठ, रीवा

परमेश्वरी विवदमानानां पंचांधानां गज इव । चक्षुष्मान् कश्चित्तेषां विवादं श्रुत्वा प्रोक्तवान् सर्वेषां युष्माकं कथनं सत्यमिति । विवादो निरर्थकः । सर्वाणि अंगानि मिलित्वा गजो भवति । तथैव परमतत्व-विषये विद्वांसः विविधाः वदंति । आध्यात्मिकचेतनायाः विविधस्तरीयास्तेऽनुभवा एव महाजनानां । अतएव सर्वं समीचीनं । इदमित्थमेव न कश्चित् वक्तुं परं तत्वं । अनुभवस्य विषयोऽयं, न विवादस्य । वर्गवाद एव तिरस्कृतो विवेकिभिः नानुभवो महापुरुषाणां । धर्मस्य पुरस्सराणि विशेषणानि एव मिथः कलहस्य कारणानि, नो धर्मः साक्षात् । धर्मस्तु आचारणस्य विषयो, न वितंडावादस्य । सर्वे जनाः सदाचारिणो भूयासुः । सर्वे महाजनाननुसरन्तु इति कामनया शुभया अहमभिवादयामि जैन विद्यामनीषिणं महामुनिं कुंडलपुर-संतं श्री जगन्मोहनशास्त्रिणं महाभागमिति ।

•

मङ्गलाशंसनम्

विष्णुकान्त शुक्ल

सहारनपुर

तपःस्वाध्यायपूतात्मनां विधूतपाप्मनां, अज्ञानभ्रान्तिनिवारणैकज्ञान-दिवाकराणां, अनेकपत्रप्रसाधकानां, सम्पादकानां विविधपत्रिकाणां, अष्टाशीतिवर्षावधिसमध्यापितजिज्ञासूनां, शोधसंस्थानगुरुकुलपीठाधीशानां, स्वातन्त्र्ययोधनजयभटानां, सरस्वतीसमाराधनतत्पराणां, पुराणज्ञानामपि अभिनवमतीनां, शुद्धस्वान्तःकरणानां, गुणगौरवलुब्धजगतां पंडितप्रवराणां जगन्मोहनलालजैनानां साधुवादोत्सवे तेषां शतायुष्यं सुयशं वैदुष्यं च भगवन्तं विश्वरूपं कामये ।

•

परम श्रद्धास्पद मदर टेरेसा

मिशनरीज आव चेरिटीज, ५४ ए, लोअर सर्कुलर रोड, कलकत्ता–१७

अहिंसा और शान्ति के लिये आपके साहित्यिक कार्य की सफलता के लिये हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। हम जिन लोगों के साथ रहते हैं, उन्हें हम ईश्वरीय प्यार के प्रकाश में नम्रतापूर्वक क्षमा करना सीखें। यही सच्चे भ्रातृत्व एवं शान्ति का एकमात्र मार्ग है।

•

श्री एम० एल० जैन

कुलपति, सागर विश्वविद्यालय, सागर म० प्र०

पण्डित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री के साधुवाद के कार्य प्रारम्भ करने से मैं अति प्रसन्न हूँ। कृपया पण्डित जी को हमारे आदरभाव व्यक्त करें। हम सभी लोग उनके दीर्घ एवं सेवाभावी जीवन की कामना करते हैं। वे हमें सदैव धार्मिक चिन्तन देते रहें।

●

प्रो० राधाकान्त वर्मा

कुलपति, अवधेश प्रताप सिंह, विश्वविद्यालय, रीवा, म० प्र०

पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री साधुवाद समारोह के अन्तर्गत साधुवाद ग्रन्थ का प्रकाशन पूरे विन्ध्य-क्षेत्र के लिये गौरव की बात है।

शास्त्री जी धर्म और ध्यान विद्या में पारंगत हैं तथा उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में भी भाग लिया है। उन्होंने अपने कुशल निर्देशन में प्रज्ञाशक्ति द्वारा जो सामाजिक कार्य सम्पन्न किये है, वे चिर-स्मरणीय रहेंगे।

ग्रन्थ में धर्म-दर्शन के साथ ही कला, इतिहास-पुरातत्व, ध्यान एवं विज्ञान पर आप सामग्री प्रकाशित कर रहे हैं, यह एक उपलब्धि होगी। मैं स्वयं विन्ध्य क्षेत्र के जैन मन्दिरों एवं कला पर काम कर रहा हूँ।

ग्रन्थ के प्रकाशन की सफलता के लिये मेरी शुभकामनाएँ स्वीकार करें।

●

श्री राजेन्द्रकुमार जैन

माधवगंज, विदिशा, म० प्र०

जिनवाणी की निरन्तर साधना में रत पण्डित जी का व्यक्तित्व सहज, अपूर्व और सरल है। उन्होंने अध्ययन-अध्यापन के माध्यम से समाज के साथ-साथ स्वयं को भी आचार-संहिता के कंटकाकीर्ण पथ में चिन्तन-मननपूर्वक ढाला है। वे यथार्थ में साधुवाद के पात्र हैं।

निरभिमानी तत्वचिंतक आत्मसाधक बड़े पण्डित जी शतायु होकर हमारा मार्गदर्शन करते रहें।

●

श्री महेन्द्रकुमार मानव
सम्पादक, पंचायत राज, भोपाल–२, म० प्र०

पण्डित जगन्मोहनलाल जी की साधुवाद-योजना से मैं प्रसन्न हूँ। निश्चय ही पण्डितजी निरभिमानी एवं साधु प्रकृति के पण्डित हैं। वे जैन दर्शन के मर्मज्ञ एवं जैन आचार के आदर्श पथिक हैं। वे दर्शन ज्ञान और चारित्र के समवेत रूप हैं। उन्हें मेरे प्रणाम कहें।

●

बेजोड़, बेनजीर आगामी आचार्य

डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया
अलीगढ़

एक बार पंडित मण्डली में उन्होंने मेरा भाषण सुना वे पास में बैठे मित्र-संगी पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री से मेरे विषय में जाँच-पड़ताल कर बैठे। पण्डित जी बोले—"अरे, यह अपना डाक्टर प्रचण्डिया है, प्रभावक वक्ता है, विद्वान् है।" कार्यक्रम समाप्ति पर उन्होंने अपनी भुजाओं में मुझे समेट लिया। उन्होंने मुझे अपनी दो पुस्तकें भी भेजी जो आज भी मेरा मार्गदर्शन कर रही हैं। यह उदाहरण है, "गुणी जनों को देख हृदय में, मेरा प्रेम उमड़ आवे"।

पण्डित जी कोरी शास्त्र-अभिज्ञता नहीं रखते। वे मात्र शब्द-साधक भी नहीं हैं। तपस्या के मार्ग पर उनके चरण बहुत आगे बढ़ गये हैं। यह बात सर्वथा विरल मानी जावेगी। जब तक चरण सदाचरणमय न हो, तब तक चिन्तन का मार्ग प्रशस्त नहीं होता।

पण्डित जी आगम के चलते-फिरते कोश हैं। दर्शन के आचार्य हैं। चरित्र के चूड़ामणि हैं। गुण के प्रति सच्ची श्रद्धा कोई उनसे सीखे। इस त्रिवेणी-संकुल गुणीजन को मेरा बार-बार अभिनन्दन।

●

हम जैन विद्याओं के मूर्धन्य मनीषी एवं ज्ञान तपोपूत पंडित जगन्मोहनलाल शास्त्री का अभिवंदन करते हुए उनके दीर्घायुषी मार्गदर्शन की शुभकामना करते हैं :

१. सदस्यगण, जैन ट्रस्ट एवं जैन केन्द्र, रीवा, म० प्र०
२. सदस्यगण, खजुराहो तीर्थक्षेत्र कमेटी, छतरपुर, म० प्र०
३. सदस्यगण, पपौरा क्षेत्र कमेटी, टीकमगढ़
४. सदस्यगण, साधुवाद समिति, रीवा–दमोह–जबलपुर
५. पंडित गोविन्दराय शास्त्री, झूमरीतिलैया

●

डा० जयकुमार जैन
मुजफ्फर नगर

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते, पूज्यानां च व्यतिक्रमः ।
त्रीणि तत्र प्रवर्धन्ते, दारिद्र्यं, मरणं, भयम् ॥

इस उक्ति के अनुरूप ही भारतवर्ष में पूज्य त्यागियों, विद्वानों व विवेकियों के साधुवाद की परम्परा रही है। पूज्य पण्डित जी के विषय में यह व्यतिक्रम अशोभन लगता था।

महापुरुषों में त्याग, विद्वत्ता, विवेक, सत्यान्वेषण एवं सद्विचारकता के गुण पाये जाते हैं। पूज्य पण्डित जी में इन सभी गुणों का मणि-कांचन संयोग है। वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान्, कुशल प्रवचनकार एवं परिमार्जित मति के लेखक हैं। वे गहन विचारों को सहज अभिव्यक्ति देने में कुशल हैं।

मनसि, वचसि, काये, पुण्यपीयूषपूर्णाः
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥

●

श्री ज्ञानचन्द्र जैन
व्याख्याता, खुरई

पूज्य पण्डित जी महान् अनेकान्ती एवं जिनवाणी के मर्मज्ञ, उन्नायक एवं संवर्धक हैं। आपकी कथनी-करनी में एकरूपता दृष्टिगोचर होती है। आप मुनिभक्त है। आप आचार्य विद्यासागर जी की वाचनाओं में प्रमुख भाग लेते रहे हैं। आप जैनधर्म की ध्वजा सदैव फहराते रहें, यही मेरी कामना है।

●

पं० सत्यन्धर कुमार सेठी
उज्जैन

पूज्य पण्डित जी से सर्वप्रथम मेरा साक्षात्कार सागर की वाचना में हुआ। मैंने उनसे कुछ सैद्धान्तिक चर्चायें की। उनके उत्तरों से मुझे आभास हुआ कि उनके ज्ञान में गहनता है, अभिव्यक्ति की स्पष्टता है। वास्तव में पण्डित जी शान्त साधक हैं। वे सदैव ज्ञानाराधन में रत रहते हैं। वे माँ भारती के सच्चे सेवक हैं। वे निर्लोभ तथा वितृष्ण हैं।

'अध्यात्म अमृतकलश' में उनके विचार पढ़ने से मुझे अत्यन्त शान्ति मिली है। उनके अनुसार, वस्तु-स्वरूप समझने के लिए व्यवहार और निश्चय नय के दो नेत्र हैं। जैन संस्कृति का हार्द इन नेत्रों के सदुपयोग में है। पण्डित जी पुरापीढ़ी के विद्वान् हैं पर रूढ़िवादी नहीं हैं। वे सिद्धान्तवादी महापुरुष हैं। मेरा उन्हें शत बार नमन।

●

सेवाभावी पण्डित जी

डा० एस० सी० जैन
जवाहरगंज, जबलपुर

वर्णी गुरुकुल, मढ़िया जी प्रारम्भ में लार्डा भवन में लगता था। उस समय पण्डित जी उसके अधिष्ठाता थे। प्रायः २-४ दिनों में कटनी से आकर बालकों को शिक्षा एवं उपदेश देते थे।

एक बार जबलपुर में मलेरिया का प्रकोप पड़ा। गुरुकुल के बच्चे भी उससे अछूते न रहे। गोली तो सबको खानी ही पड़ती थी। उन्हीं दिनों एक रोगी बालक ने कक्षा में ही वमन और दस्त कर दिए। घृणा के कारण उसे साफ करने का किसी को साहस नहीं हो रहा था।

संयोगवश उसी समय पण्डित जी कक्षा में आए। उन्होंने रोगी की सेवा पर उपदेश दिया। पर घृणा के कारण कोई भी छात्र इससे प्रभावित न हुआ। फलतः पण्डित जी ने तत्काल कपड़े बदले और वमन-दस्त को साफ करने के लिए तैयार हो गये। यह देख छात्रों के मन में उथल-पुथल हुई। एक छात्र ने तत्काल वह वमन-दस्त साफ कर दिया। पण्डित जी उससे प्रसन्न हुए और उसकी फीस माफ कर दी।

●

प्रेरक स्मृति-कण

श्री जीवनलाल शास्त्री आयुर्वेदाचार्य
ललितपुर

(अ) आत्मनिर्भर बनो

एक बार कटनी विद्यालय के अनेक छात्र पण्डित जी के आचार्यत्व में सिद्धचक्र विधान कराने जबलपुर गये थे। हम लोग जिस कमरे में ठहरे थे, उसमें झाड़ू नहीं लगती थी। कमरे को गन्दा देख पूज्य पण्डित जी स्वयं झाड़ू लेकर उसे झाड़ने लगे। हम सब यह देख चकित हो गये एवं पश्चात्ताप भी करने लगे। उस दिन पण्डित जी ने हमें कहा, "तुम लोग अपना काम भी स्वयं नहीं कर सकते। आलसी बनकर दूसरों के भरोसे रहकर कभी कोई सफलता नहीं पा सकोगे। आत्मनिर्भर बनो।" आज भी उसकी यह शिक्षा हमारे लिए मार्गदर्शक बनी हुई है।

एक बार, इसी प्रकार, हम लोगों को खेलते समय सिर में चोट आ गई। उन्होंने कहा, "ज्यादा मत खेला करो। देखकर खेला करो। अति सर्वत्र वर्जयेत्।"

(ब) वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि

शिक्षा-संस्था कटनी की दिनचर्या प्रातः ४ बजे से प्रारम्भ होती थी। प्रायः पण्डित जी प्रतिदिन ही इस दिनचर्या का प्रारम्भ कराने आते थे। उनके भय से ही हम लोगों में आज भी प्रातः उठने की आदत पड़ी हुई है। इसलिए जब कभी वे न भी आते, तो भी हम प्रातः उठ ही बैठते थे। न उठने वाले के लिए वे दण्ड भी देते थे और बाद में समझाते भी थे। वस्तुतः वे 'वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि' की उक्ति के जीवन्त स्वरूप रहे हैं। उनकी इस अनुशासनप्रियता ने ही कटनी के विद्यालय को गरिमा और प्रतिष्ठा दिलाई। उनके भीतर अपने विद्यार्थियों के लिए हितकारी भावनाएँ एवं स्वर्णिम भविष्य का भाव बना रहता था। वे हमारे जीवन-निर्माण के लिए कुम्भकार के समान थे

ज्यों कुम्हार मृत्पिंड को, घड़ घड़ काढ़े खोट। भीतर हाथ पसार के, बाहर मारे चोट॥

सचमुच ही, उनका प्रभावी अनुशासन इसी कोटि का था। हम सब उनके ऋणी हैं।

●

मेरे मामा जी

रतनचन्द्र जैन

स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी, जबलपुर

मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरे मामाजी जब छोटे थे, तो उनकी बड़ी चुटैया थी। उसकी गाँठ खोलने में मुझे बड़ा आनन्द आता था। जिस प्रकार मेरे नानाजी ने मुझे धार्मिक संस्कारों की रुझान दी, उसी प्रकार मेरे मामाजी ने भी मुझे क्रान्तिकारी देश-सेवा के बदले सत्यनिष्ठ देश-सेवा एवं पारिवारिक कर्तव्यों के निर्वाह की भावना को जगाने में अत्यन्त धैर्य एवं चतुराई से काम लिया। अन्यथा मैं तो बहक ही जाता। मेरे जैसे अनेक युवकों को उन्होंने सन्मार्ग में लगाया होगा, ऐसा मेरा विचार है।

मुझे बचपन से ही हिन्दीसेवी वंशीधर जी ड्योढ़िया, बाबा गोकुल प्रसाद जी एवं पंडित जी का आशीर्वाद रहा है। वर्तमान में मेरी अनेक सामाजिक, राजनीतिक व अन्य प्रवृत्तियों में लगे रहने का श्रेय इस त्रिपुटी को ही है। मैं चाहता हूँ कि पंडित जी अमृतमयी वाणी को कैसेट आदि के माध्यम से स्थायी रूप दिया जावे। मेरे उन्हें शतशत प्रणाम।

●

अमर रहे व्यक्तित्व तुम्हारा

मल्लिनाथ शास्त्री

मद्रास

'विद्वानेव विजानाति, विद्वज्जनपरिश्रमं।' की नीति के अनुसार, पण्डित जी की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता। वे शास्त्रमर्मज्ञ, अटूट श्रद्धालु एवं महान् व्यक्ति हैं। वे आचार्य-मुनि भक्त, आचार्य विद्यासागर जी के अनन्य बुद्धिजीवी सेवक, एकान्तवाद के दूषक एवं अनेकान्तवाद के पोषक हैं। उनकी कृतियों एवं प्रवचनों में उनकी विद्वत्ता का परिचय मिलता है। भगवान् से प्रार्थना है कि ऐसा ज्ञानवृद्ध एवं तपोवृद्ध व्यक्तित्व अमर रहे और धर्म की ज्वाज्वल्यमान धवल पताका फहराता रहे।

●

डा० पन्नालाल साहित्याचार्य

जैन गुरुकुल, मढ़ियाजी, जबलपुर

पंडित जी के प्रति मेरा गुरु तुल्य श्रद्धाभाव है। वे मेरे विद्यागुरु के सहाध्यायी रहे हैं। इन्होंने अपने पिताजी से चारित्र निष्ठा, गुरूणां गुरुः वरैया जी से व्यवहार की प्रामाणिकता, बड़े वर्णी जी से निस्पृहता और पं० देवकीनन्दनजी से सामाजिक कार्यों में निपुणता प्राप्त की है। ये सभी उनके विशेष गुण हैं।

पंडित जी अनेक संस्थाओं के मार्गदर्शक हैं, सिद्धान्त ग्रंथों की वाचना के सर्जक हैं और 'अध्यात्म अमृत कलश' के पुरस्कृत लेखक हैं। उनके साधुवाद-प्रसंग पर मेरे शतशः अभिवादन।

●

पण्डित हीरालाल जैन
मन्त्री, दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्, दिल्ली

पण्डितजी अनुपम, अनुकरणीय एवं दुर्लभ व्यक्तित्व के धनी हैं। उनकी विचारधारा, जीवनपद्धति एवं कार्यपद्धति पर उनके पिताजी के अतिरिक्त पूज्य वर्णी जी एवं पं० देवकीनन्दन जी का विशेष प्रभाव है। इससे पण्डित जी ज्ञानी तो बने ही, साथ ही साथ उत्कृष्ट समाज-सेवी, दृढ़ श्रद्धानी, संस्था-पोषक, छात्र-सहायक, मनोमालिन्य-दूरक एवं अध्यात्म मार्गी बने। वस्तुतः वे व्यक्ति नहीं, एक संस्था हैं। वे समाज की बीसवीं सदी के जीवन्त इतिहास हैं। मेरी उनसे प्रार्थना है कि इसी सदी के जैन समाज का इतिहास लिखकर भावी पीढ़ी के लिये प्रेरणास्रोत बनें।

पण्डित जी अपूर्ववक्ता, परम मुनिभक्त, आदर्श समाज सेवी हैं। वे प्रगतिशील भी हैं। उन्होंने ही विदिशा के सेठ शिताबराय लखमीचन्द्र जी को गजरथ न चलाकर धवलादि ग्रन्थों के प्रकाशन का सुझाव दिया था। इससे जिनवाणी की अनुपम सेवा हुई है।

पण्डित जी से मेरा लगभग पचास वर्षों से सम्बन्ध है। मैं उनके सभी आकर्षक रूपों से परिचित हूँ। कटनी को केन्द्र बनाकर उन्होंने जो अखिल भारतीयता अर्जित की वह नयी पीढ़ी के लिये प्रकाश-दीप है। यह सदैव अपनी आभा बिखेरता रहे।

•

अणुव्रतों की प्रतिमूर्त्ति

डॉ० राजराम जैन
आरा

यदि महान् दार्शनिक प्लेटो, सुकरात, अरस्तू, कन्फ्यूशियस एवं आचार्य समन्तभद्र के व्यक्तित्व की झाँकी लेना हो, तो आप पं० जगन्मोहनलालजी के दर्शन कर लीजिए। है ऐसा कोई त्यागी महाश्रावक, जिसने अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए अथक परिश्रम किया हो, अपने पुत्रों को सुयोग्य बनाने के लिए जिसने घोर साधना की हो और जब वे अपने-अपने कार्यों में लग कर समृद्ध हो गए हों, और वार्धक्य के दिनों में विश्रामपूर्वक उसके फल-भोग का जब समय आ गया हो, तब स्वयं अपनी आज्ञाकारिणी धर्मपत्नी, प्रिय पुत्रों एवं भद्रप्रकृति-पुत्रवधुओं को छोड़कर गृहविरत परिव्राजक के वेश में निकल पड़ा हो ?

"श्रमण-संस्कृति त्याग की संस्कृति है, भोग की नहीं", इस सूक्ति-वाक्य को उन्होंने अक्षरशः अपने जीवन में उतारा है।

पूज्य पण्डितजी जिस प्रकार सामाजिक जीवन में सत्यनिष्ठ रहे, उसी प्रकार साहित्यिक जीवन में भी। उनका विषयवस्तु का विश्लेषण, गूढ़ दार्शनिक विचारों का सीधी सादी सरल-भाषा में स्पष्टीकरण तो प्रशंसनीय है ही, इसके अतिरिक्त भी शत-प्रतिशत नैतिक ईमानदारी उनकी उन भूमिकाओं में दृष्टिगोचर होती है, जहाँ उन्होंने उन व्यक्तियों के प्रति भी अपना आभार प्रदर्शित किया है, जिनसे परोक्षतः यत्किञ्चित् भी सहायता या प्रेरणा उन्हें मिली है।

आज पण्डित जी निरतिचार अणुव्रतों की साकार मूर्त्ति बन गए हैं। वे ऐसे विशाल वटवृक्ष हैं, जिनकी शीतल छाया में सभी को सुख-शान्ति मिलती है, विद्वानों को प्रेरणा मिलती है, छात्रों को पथ-प्रदर्शन, साधन-विहीनों को सहायता और समस्याग्रस्तों को समस्याओं का समाधान। उनके सान्निध्य में ऐसा अनुभव होता है जैसे सतयुग पुनः लौट आया हो।

•

चलती फिरती जिनवाणी

गुलाबचन्द्र पुष्प
टीकमगढ़

भ० महावीर की देशना को हृदयङ्गम कर उसके तलस्पर्शी ज्ञान द्वारा जिनवाणी के प्रचार-प्रसार एवं अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन से आपका जीवन स्वयं ही चलती फिरती जिनवाणी बन गया है। मेरी कामना है कि "यावत् चंद्र दिवाकरौ" समाज को आपका मार्गदर्शन प्राप्त होता रहे।

•

अनोखे व्यक्तित्व के धनी

धर्मचन्द सरावगी
भूतपूर्व पार्षद एवं विधायक, कलकत्ता

संयोग की बात है कि १९४४ में पंडितजी भी रथ-यात्रा देखने कलकत्ता पधारे और जैन-भवन में ठहरे। पंडितजी के व्याख्यान कई शास्त्र सभाओं में हुए। उसे लोग बहुत रूचि लेकर सुनते थे। पंडितजी का व्यक्तित्व भी अनोखा था, खादी पहने लोगों को बहुत प्रभावित करते थे।

संयोग से ९ नवम्बर १९४४ को मेरा विवाह तय हुआ। दोनों परिवार जैन थे और चाहते थे कि जैन-पद्धति से विवाह हो। उस समय कलकत्ते में विवाह कराने के लिए जैन पंडित उपलब्ध नहीं थे। पंडितजी ने यह विवाह बिना कुछ रूपये-पैसे लिए सुन्दर ढंग से कराया और मैं मानता हूँ कि उसका ही परिणाम है कि देखते-देखते ४५ वर्ष पूरे होने को आये। हम दोनों पति-पत्नी स्वस्थ रहकर जीवन-यात्रा और धर्म-कर्म आदि का पालन कर रहे हैं। यह पंडितजी की निःस्वार्थ सेवा का ही प्रभाव है। मैं वीर प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि उन्हें स्वस्थ रखकर शतायु करें।

•

सदाशयी पंडित जी

स्व० श्री भूरमल जैन
जबलपुर

१९६२ में मैंने 'चीनी चुनौती और हम' नामक अपने जीवन का प्रथम लेख जैन-सन्देश के तत्कालीन संपादक शास्त्री जी की सेवा में प्रकाशनार्थ, ससंकोच, भेजा। मेरी आशा के विपरीत, वह लेख प्रशंसनीय संपादकीय टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुआ। यह मेरे लेखन के लिए पण्डित जी की परोक्ष प्रेरणा थी। मेरे जैसे अनेक उदीयमान लेखकों के भी वे प्रेरक बने, यह मुझे ज्ञात है।

मेरी उनसे घनिष्ठता बढ़ती गई। एक बार मैं एक धृष्टता कर बैठा। पण्डित जी प्रायः जबलपुर आते रहते थे। मैंने एक बार उन्हें दो किलो सुपारी लाने के लिए निवेदन किया। दूसरे दिन मैंने देखा कि पण्डित जी सुपारी का झोला लिये मेरे घर के सामने खड़े हैं। उनकी इस सदाशयता के लिए मेरा सिर उनके पवित्र चरणों में झुक गया। मैं उनकी शत-शत वन्दना करता हूँ।

•

वंदनीय विभूति

पं० नाथूलाल जी शास्त्री
इन्दौर, म० प्र०

मैं पण्डित जी को मथुरा संघ के अध्यक्ष मनोनीत होने के समय से १९४६ से ही जानता हूँ। उन दिनों वहाँ जैन ज्योतिष और वेदी प्रतिष्ठान-सम्बन्धी शिक्षण-शिविर आयोजित किया गया था। इस शिविर में पण्डित जी का ही मार्गदर्शन था, जो सफल रहा।

१९४४ में वीर शासन महोत्सव के अवसर पर विद्वत् परिषद् की स्थापना में भी आपका अमोघ योगदान था।

आपमें सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र का सुमेल कांचन-मणि संयोग है।

उत्तम विचारक एवं समाज-व्यवहार के सूक्ष्मज्ञ होने से उन्होंने समाज, व्यक्ति एवं पञ्चायतों के अनेक विवाद सुलझाये हैं। आपका जैन संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन में महान् योगदान है। वे आगमानुकूल आधुनिक विचार भी प्रस्तुत करते हैं।

समाज के संगठन में बाधक वर्तमान संघर्ष को देखकर आप चिन्तित हैं। अनुशासन बिना बहुनायकत्व समाज को कहाँ ले जायगा, यह विचारणीय है।

वे हमारी वन्दनीय विभूति हैं। मेरी कामना है कि वे विद्वत्-गण रूपी उपवन को सदैव सुरभित करते रहें।

●

परवार सभा के प्राण

दादा नेमीचंद्र जैन
मंत्री, परवार सभा, जबलपुर

मैं पंडित जी से पिछले पचास वर्षों से भी अधिक समय से परिचित हूँ। जातीय सभाओं के निर्माण के युग में परवार सभा का भी सूत्रपात हुआ। यह जातीय इतिहास, विकास तथा हितों के संरक्षण के साथ ही जैन सामाजिकता के सुदृढ़ करने का भी काम करती है। इसने पंडितजी के मार्गदर्शन में लगभग अर्धशती का जीवन पाया है। इस संपर्क से मैंने उनसे बहुत कुछ सीखा है—संगठन-शक्ति, संस्था-संचालन कला और समाज को ले चलने की चतुराई। उनके ये गुण हम सबको बल दें, यही हमारी मंगलकामना है।

●

कलाबाज पंडित जी

पंडित जमनाप्रसाद शास्त्री
कटनी, म० प्र०

मैंने पंडित जी के मार्गदर्शन में जैन शिक्षा संस्था, कटनी में अनेक दशकों तक कार्य किया है। फलतः मैं पंडित जी को भीतर और बाहर—दोनों दिशाओं से जानता हूँ। जैन समाज की भीतरी जटिलताओं से पंडित जी परिचित हैं और उनसे मुस्कुराते हुए निपटना उन जैसे कलाबाज का ही काम है। उनके साथ अनेक खट्टे-मीठे अनुभव जुड़े हुए हैं पर मैंने हंस-क्षीर-न्याय का सहारा लेकर उनमें गुणगरिमा ही अधिक पाई है। मैं चाहता हूँ कि उनका मार्गदर्शन हमें सन्मार्ग पर लगाये रखे। मैं उनका आशीर्वाद-अभिलाषी हूँ।

●

गुरुता के गौरव

देवेन्द्र कुमार शास्त्री
प्रधान संपादक, "जैन संदेश" नीमच, म० प्र०

श्रीमद् रायचन्द्र और बड़े वर्णी जी से प्रभावित होने के पश्चात् यदि किसी जीवन से जुड़ सका हूँ, तो वह पूज्य बड़े पंडित जी का है। चादर के भीतर छिपा हुआ उनका सरल जीवन संभवतः इसलिये निकट आ सका है कि उसमें कहीं भेदभाव या दुराव नहीं है। वह वास्तविकता और यथार्थ के अधिक निकट है। मैं दो दशक पूर्व उनके सम्पर्क में पहली बार आया। उनकी यथार्थता और स्पष्टता से मुझे समाज में विद्यमान दुर्भेदी षड्यंत्रों का आभास हुआ।

पंडित जी श्रावकाचार के सजीव संस्थान हैं, आत्मध्यान के हितकर चिंतक हैं, समाज के यथार्थ मार्गदर्शक हैं, अनेक संस्थाओं के मूर्तिमान चालक हैं। उनसे जैनों का ही नहीं, जैनेतरों का भी भला हुआ है। आज भी पंडित जी में बालक जैसी सरलता, निश्छलता, न्यायाधीश-जैसी न्यायबुद्धि, वक्ता-जैसी वाक्पटुता, व्याख्याकार-जैसी विवेचन शैली और सिद्धान्तकार-जैसी दृढ़ता एवं साहित्यकार-जैसी संवेदनशीलता लक्षित होती है। उनके दृष्टान्तों एवं उदाहरणों में गुरुता का भान कराने वाली निधि में गुण ही रहे हैं। गुरु गुरु ही होते हैं—अनुभव में, युक्ति में, कला-कौशल में-कहीं से भी परखिये, वे अपनी गुरुता से भरपूर मिलेंगे। यह उक्ति पंडित जी के लिये पूर्णतः चरितार्थ होती है। ऐसे गुरु की गुरुता को शतशत नमन।

●

बड़े पंडित जी का बड़प्पन

डॉ० प्रेमसुमन जैन
उदयपुर

मैं कटनी विद्यालय में १९५४–६० में रहा। वहाँ से मैंने मध्यमा पास की। मैं पंडित जी का अत्यंत प्रिय छात्र रहा। सभी लोग वहाँ पंडित जी को 'बड़े पंडित जी' कहते थे। यह बात मेरी समझ में तभी आई जब मैंने उनका स्वयं अनुभव किया। हम सभी लोग प्रारंभ में आदर और भय के कारण उनको सम्मान देते थे, पर धीरे-धीरे यह सहज रूप पा गया।

पंडित जी स्वयं को शिक्षा-संस्था के कर्मचारी या प्रधानाध्यापक नहीं, अपितु उसका अंग एवं पर्याय मानते थे। यही कारण है कि इस संस्था ने इतनी प्रतिष्ठा पाई और आज के अनेक पीढ़ी के विद्वान् इसके स्नातक हैं। मेरे साथ घटित अनेक घटनायें पंडित जी के बड़प्पन की निशानी हैं।

(अ) पढ़ाई और सान्त्वना

सामान्यतः मैं अनुशासन और अध्ययन प्रिय माना जाता था। पर एक बार मैं मध्यमा-अन्तिम के कुछ छात्रों के प्रलोभन में आकर उनके साथ दो-दो शो सिनेमा देखने चला गया। शाम को हमारी खोज हुई और हम सिनेमा हाल से पकड़-बुलाये गये। जैसे-तैसे रात तो कटी, पर प्रातः की कक्षा के बाद पंडित जी ने मुझे रोका और मुझे १०-१५ बेंत लगाये। अन्य छात्रों की कोई सजा नहीं दी गयी। मुझे मन में काफी बेचैनी रही। पर, रात जब मैं सो रहा था, तो पंडित जी ने मुझे उठाया और सजा के बारे में पूछा "मैं सबसे गरीब हूँ, मेरा कोई बड़ा रिश्तेदार नहीं है। इसीलिये मुझे सजा मिली।" मैंने कहा। "तुम नहीं समझे। अन्य लड़के धनी हैं, उन्हें आगे पढ़ना नहीं है। उन्हें किसी भी व्यसन से कोई अंतर नहीं पड़ता। पर तुम्हें तो आगे पढ़ना है, तुम अभी से व्यसनों में फंस जाओगे, तो आगे कैसे बढ़ोगे? तुम आदर्श विद्यार्थी हो। मैं तुम्हें नहीं बिगड़ने देना चाहता।"

इन वाक्यों से मेरी सारी पीड़ा तो गई ही, मुझे पंडित जी के अंतरंग बड़प्पन के दर्शन भी हुए।

(ब) एक समय में चार परीक्षायें

उस वर्ष मैंने शिक्षा-संस्था के नियमों के विरुद्ध वर्ष में चार परीक्षाओं (धार्मिक, वैद्यविशारद, मैट्रिक, पूर्व मध्यमा) के फार्म भरे। किसी ने इसकी शिकायत पंडित जी से कर दी। उन्होंने मुझसे तैयारी के बारे में पूछा। फिर उन्होंने कहा, "ज्ञान बढ़ाने के लिये यदि नियमों में बाधा भी पड़ती है, तो मुझे आपत्ति नहीं है।"

बाद में जब मैं चारों परीक्षाओं में सफल रहा, तो पंडित जी ने मुझे पुरस्कृत भी किया। उन्होंने कहा, "हम शिक्षक तो कीचड़ में पड़े हुए पत्थर के समान हैं जो अपने विद्यार्थियों को बेदाग निकालता है और बुराई का कीचड़ उन्हें नहीं लगने देता। अपनी शिक्षा और संस्कार से हमारे विद्यार्थी बेदाग जीवन बितायें, यही हमारी कामना है।"

मुझे लगता है कि मेरे साथ उनके अन्य शिष्यों ने भी उनकी इस कामना का स्मरण रखा है। इसीलिए वे आज प्रतिष्ठित पदों पर है।

(स) साधन और साध्य की श्रेष्ठता

कटनी की पढ़ाई समाप्त कर पंडित जी मुझे बनारस भेजना चाहते थे। पर मेरे पास तो उतने पैसे नहीं थे। उसी समय काशी से एक विद्यार्थी आये और विनय करने पर उन्होंने अपना रिटर्न कंसेशन मुझे दिया। मैंने जब पंडित जी से यह कहा, तो वे नाराज हुए और कंसेशन लेकर उन्होंने मेरे सामने ही फाड़ दिया। कहने लगे "तुम बनारस नीति सीखने जा रहे हो। उसकी नींव क्या इस अनीति पर रखोगे? साध्य की श्रेष्ठता के लिये साधन की श्रेष्ठता भी चाहिये।"

उनके इस उपदेश से मैं तो निराश हो गया। पर कुछ ही क्षणों में मैं क्या देखता हूँ? पंडित जी ने अपनी जेब से तीस रुपये निकाले और मुझे दिये। बोले, "लो, बनारस जाओ। वहाँ से विद्वान् बन कर लौटना।"

उनके इस वाक्य ने मेरी जीवन धारा ही बदल दी। मैं आज जो कुछ भी हूँ, उनका आशीर्वाद ही है। पंडित जी सिद्धान्त और शास्त्र के ज्ञान में जितने बड़े है, उससे कहीं अधिक सदाचार और व्यवहार में उनका बड़प्पन अन्तर्निहित है।

●

मेरे आगम-अध्ययन के प्रेरणा स्त्रोत

भुवनेन्द्र कुमार शास्त्री
बांदरी, सागर

लगभग १९८० से आ० विद्यासागर जी की सत्प्रेरणा से आगम-वाचना का कार्य वर्णी स्मारक भवन से प्रारंभ हुआ। मैं प्रतिवर्ष इसमें सम्मिलित होता हूँ। बड़े पंडित जी से भी मेरा अन्तः परिचय इन वाचनाओं में ही हुआ। उन्होंने मेरे संकोची स्वभाव को जिज्ञासु रूप में परिणत किया, आगम साहित्य उपलब्ध कराया और उनमें गति बनाई। वे इस प्रक्रिया में मेरे प्रेरणा स्रोत और स्थितिकारक भी बने। यह मेरा सौभाग्य है कि मैं भी उनके सहज स्नेह, उदारता, सहभागिता का पात्र बन सका।

पंडित जी के जीवन काल के तीन अनुभवों के रूप में मैं अपनी वंदनांजलि प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

(अ) सत्य की विजय

१९२१ में कुछ दिनों के लिये पंडित जी बनारस में धर्माध्यापकी करते थे। वहाँ के तत्कालीन प्रबंधक से उनका कुछ मतभेद रहता था। उसने पंडित जी के विरुद्ध छात्रों को भड़का कर एक रिपोर्ट मंत्री जी के पास भिजवाई। मंत्री जी चकित हुए और जांच करने आये। सचमुच ही, कुछ लड़कों ने पंडित जी के विरुद्ध साक्षी दी। पर उसी समय वहां सागर के मा० नानकचंद्र जी भी मौजूद थे। उन्हें स्मरण आया कि आरोपित तिथि को तो उन्होंने पंडित जी को अपने यहाँ बुलाया था। उन्होंने मंत्री जी से यह बताया, तो वे प्रबंधक पर रुष्ट हुए और पंडित जी से क्षमा मांगने लगे।

(ब) कष्ट सहिष्णुता में आनंद

एक बार पंडित जी एवं डा० पन्नालाल जी सागर को महावीर जयंती के अवसर पर किसी बड़े नगर में भाषण हेतु आमंत्रित किया गया। भाषण के बाद समाज ने बस में बैठाकर सागर की ओर रवाना कर दिया। जब सागर १५—१६ किमी० रह गया, तब बस फेल हो गई। रात्रि का अधिकांश भाग दोनों ने सड़क पर लेट कर गुजारा। प्रातः चार बजे प्रसन्न मुद्रा में उन्होंने कहा, "पन्नालाल, विस्तर बांधो और पैदल चलो।।"

दोनों वरेण्य पंडित अपना सामान लादे सुबह ७ बजे सागर पहुँचे।

(स) संस्था के कार्य के लिये संस्था को ही किराया

एक बार पूज्य वर्णी जी एवं एक संस्था के पदाधिकारियों के आग्रह से पंडित जी बिना पारिश्रमिक लिये उस संस्था के एक कमरे में धर्मशिक्षा प्रचार-प्रसार की भावना से छह महीने तक रहे। काम पूरा होने पर पंडित जी कटनी वापस आ गये। कुछ दिनों बाद उक्त संस्था के मंत्री का छः माह के कमरे के किराये का पत्र आया। पंडित जी ने उन्हें लिखा कि वे तो संस्था के काम से ही वहां रहे थे। इस पत्र की उपेक्षा कर संस्था ने किराये के लिये स्मरणपत्र दिया। पंडित जी ने किराया भेज दिया और उन्हें अपनी समाज-सेवा का ही प्रतिदान देना पड़ा।

मेरे आराध्य पंडित जी

श्रीमंत सेठ रिषभकुमार
खुरई, म० प्र०

पूज्य पंडित जी का मेरे परिवार से मेरे पिता जी के समय से ही सामाजिक संबंध रहा है। मैंने तो उनका परिचय १९४४ में ही पाया जब खुरई में गुरुकुल की स्थापना हुई थी। इसके बाद तो १९४९ में हम व्यक्तिगत संबंधी भी हो गये। हमारे कुटुंब पर पंडित जी की कृपा, संरक्षण एवं मार्ग-दर्शन सदैव बने रहे। एक बार आचार्य समंतभद्र जी महाराज के चातुर्मास के समय पंडित जी भी खुरई रहे थे। तब मुझे पंडित जी की अगाध विद्वत्ता और प्रभावी प्रवचन क्षमता ने मोहित किया।

सन् १९४६ में कुरवाई में गजरथ-महोत्सव हुआ। उस समय परवार सभा का अधिवेशन भी हुआ। मैं अध्यक्ष था। मुझे स्मरण है कि पंडित जी ने पंडित देवकीनंदन जी के सहयोग से कितनी नीति एवं चतुरता से उस अधिवेशन में दस्साओं के पूजन-अधिकार का प्रस्ताव पारित कराया था। समाज के समक्ष उपस्थित यह ज्वलंत प्रश्न टल ही नहीं पा रहा था।

जैन समाज में प्रायः सभी जगह गुटबंदी और पार्टीबंदी रही है। इनके कारण कभी-कभी व्यवधान और संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। उन्हें हल करने और संघर्ष टालने में पंडित जी में जो चतुरता और क्षमता है, वह मेरी जानकारी में अभी किसी विद्वान् में नहीं है। उन्होंने अनेक पंचायतों की गुत्थियां सुलझाईं और अनेक लड़ते परिवारों में सुख-शांति स्थापित की।

उनका जैन सिद्धान्त का अध्ययन निष्पक्ष एवं गूढ है। व्यवहार की समन्वयमूलक धारणा उनके 'अमृत कलश' की टीका में स्पष्ट झलकती है। आगमानुसारी बने रहना उनका उत्कृष्ट गुण है। वे ज्ञान के साथ चरित्र में भी सर्वोपरि हैं। जहां तक संभव होता है, वे किसी मुनिराज के साथ रहना पसंद करते हैं। मेरी पण्डित जी पर अटूट श्रद्धा है। भगवान् से मेरी प्रार्थना है कि हम सबके बीच रहकर धर्म और समाज की रक्षा करते रहें।

●

चुंबकीय प्रवचनकार एवं सत्संगी

मास्टर रतन चंद जैन
सतना म० प्र०

पण्डित जी प्रभावशाली व्यक्तित्व के महान् जैन विद्वान् हैं। वे इस वृद्धावस्था में भी जब प्रवचन करते हैं तो उनकी अमृतमयी वाणी से हृदय आह्लादित होता है और मानसिक क्लेश दूर होता है। मिथ्यात्व भागता है, भावनायें कोमल होती हैं। कटनी की शिक्षा-संस्था के प्रधानाध्यापक और प्रवचनकार पंडित जी का व्यक्तित्व कितना चुम्बकीय था, इस बात का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि मेरे पिताजी ने उनकी कन्या बिना देखे ही पंडित जी से मात्र चर्चा कर ही मेरे विवाह की स्वीकृति दे दी थी, "आपकी कन्या में आपसे आधे गुण तो होंगे ही।"

मुझे जबलपुर में सेठ हरिश्चन्द्र सुमेरचंद्र के मकान में पंडित जी, फूलचंद जी, देवकीनंदन जी व कैलाश चंद जी की हास-परिहास एवं विद्वत्तापूर्ण गोष्ठी देखने का सौभाग्य मिला। तभी मैंने अनुभव किया कि मनुष्य को पूर्णता प्राप्त करने के लिये मस्तिष्क, हृदय और श्रम–तीनों की संतुलित समायोजना आवश्यक है। यही तो राज पथ है, यही त्रिवेणी है।

पंडित जी को समाज के सभी व्रती एवं साधुजनों का सत्संग मिला है। यही नहीं, वर्तमान में सभी दिगंबर जैन साधुगण अपनी शास्त्रीय शंकाओं एवं प्रवृत्तियों के संबंध में आपसे चर्चा करते हैं। आ० विद्यासागर जी ने तो आपको आपातकालीन आगमज्ञ के रूप में ही मान्यता दे रखी है। हमारी समाज का अहोभाग्य है कि हम उनके मार्गदर्शन में रह रहे हैं। हम सभी उनके स्वस्थ और स्वश्वासी जीवन की कामना करते हैं।

●

प्रकाश और ऊष्मा के अजस्त्र स्त्रोत

दशरथ जैन
अध्यक्ष, खजुराहो क्षेत्र कमेटी, छतरपुर, म. प्र.

पंडित जी का नाम लेते ही ऐसी भव्य और सौम्य पुरुषाकृति सामने आती है जिसने जैन-विद्या का समुद्र-मंथन की भाँति गहन अध्ययन, चिंतन व मनन कर न केवल त्रिरत्न खोजे, अपितु उन्हें अपने जीवन में उतारने की चेष्टा की। उन्होंने सदैव सत्य को अविचलित रहकर निर्भीकता एवं दृढ़ता के साथ अभिव्यक्ति दी और आवश्यकता पड़ी तो अपने विश्वास और निष्ठाओं के लिये कष्ट भी उठाये। उन्हें आलोचनायें विचलित नहीं कर सकीं और प्रलोभन पथभ्रष्ट नहीं कर सके।

अध्यात्म की मर्मज्ञता से उत्पन्न स्व-पर विवेक एवं अध्ययन-अध्यापन की वृत्ति के फलस्वरूप उनमें एक विशेष नैतिक एवं आध्यात्मिक निखार आया है जिससे उनकी प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता में कल्पनातीत वृद्धि हुई है। इसी कारण साधुजन, विद्वज्जन एवं श्रेष्ठिजन कठिन समय में उनका परामर्श लेना उचित समझते हैं। उनकी भाषा बड़ी संयमित, सीमित, मधुर एवं स्पष्ट होती है।

उन्होंने अनेक रूपों में समाज की सेवा की है। इनमें जैन तीर्थों की रक्षा-व्यवस्था एवं प्रगति में योगदान करना भी संमिलित है। इस कार्य में वे ज्योतिपुंज तो रहे ही हैं, कार्य-कर्ताओं के संबल भी रहे हैं। वस्तुतः वे प्रकाश और ऊष्मा के अजस्र स्रोत हैं और उनमें दोनों का सुन्दर समन्वय नजर आता है।

पंडित जी अनेक बार खजुराहो पधारे और उन्होंने सदैव इस क्षेत्र के संरक्षण और संवर्धन में अपना योगदान किया है। १९६९ में साहू शांति प्रसाद जी खुजराहो आये थे। उस समय पंडित जी भी पधारे थे। वे पंडित जी के बड़े भक्त थे। यह पंडित जी की ही कृपा थी कि उनके सत्परामर्श से साहू जी ने खजुराहो क्षेत्र पर संग्रहालय एवं धर्मशाला के निर्माण के लिए स्वीकृति दी थी। म० प्र० तीर्थक्षेत्र कमेटी के गठन के अवसर पर भी पंडित जी यहाँ आये और उनके चतुर सत्परामर्श से ही श्री देवकुमार सिंह कासलीवाल का अध्यक्षीय चुनाव हुआ था।

पंडित जी न केवल १९८१ के गजरथ में आये, अपितु उन्होंने बिलहरी से क्षेत्र को कलचुरि-कालीन जैन मूर्तियाँ दिलाने में भी हमारी सहायता की। इसी अवसर पर पंडित जी के 'अध्यात्म अमृत कलश' का आ० विद्यासागर जी के सांनिध्य में, विमोचन हुआ था। १९८२ में मुनि पार्श्वसागर-विवाद के समय भी पंडित जी के आगमन ने क्षेत्र कमेटी का उत्साह बढ़ाया था। उस समय समाज से उन्होंने कहा था, "हम महावीर के उत्तराधिकारी हैं। वैराग्य के समय उन्होंने जो छोड़ा, उसे हमने ग्रहण किया (राग, द्वेष, कषाय आदि) और जो उन्होंने ग्रहण किया, उसे ग्रहण करने में हम सदैव कतराते रहे। तीर्थ क्षेत्रों पर तो हम बिना लड़े रह ही नहीं सकते। महावीर के नाम पर यह सब दूर होना चाहिये।" उनके भाषण का बड़ा प्रभाव पड़ा और समस्या क्षणों में ही समाप्त हो गई। सन् १९८३ में भी पंडित जी ने शांतिनाथ जिनालय के नवीन फर्श का उद्घाटन साहू श्रेयांस प्रसाद जी की उपस्थिति में किया था।

खजुराहो के समान भारत के समस्त दि० जैन तीर्थों के संरक्षण व विकास में पंडित जी सहायक रहे हैं। फिर भी, बुंदेलखंड के तीर्थों की तो उन्होंने महती सेवायें की हैं। मुझ जैसे सामाजिक कार्यकर्त्ता को पंडित जी के स्नेह और आशीर्वाद का महान् संबल रहा है। वह स्नेह और आशीर्वाद सदैव प्राप्त होता रहे, यही वीर प्रभु से कामना है।

●

एक निष्ठव्रती विद्वान्

खुशाल चंद्र गोरावाला, काशी

गुरुत्व के धनी

आधुनिक दि० जैन पाण्डित्य के स्रोत पूज्यवर श्री १०५ गुरुवर गणेश वर्णी महाराज थे। इन्होंने स्वयं प्रथम छात्र होकर वाराणसी में स्याद्वाद महाविद्यालय की स्थापना पं० अम्बादास शास्त्री के आचार्यत्व में की थी। यह लोकोत्तर घटना जैन समाज के इतिहास में युग परिवर्तन का ओंकार थी। फलत: देखते-देखते स्वयंभू पंडित गुरु गोपाल दास जी के आचार्यत्व में सिद्धान्त जैन विद्यालय मुरैना के आविर्भाव ने श्रीमानों को इस दिशा में प्रेरित किया। इससे इन्दौर, सहारनपुर आदि के विद्यालयों के समान संस्थायें स्थापित हुयी। इससे आंचलिक पाठशालाओं ने भी गुरुवर गणेश वर्णी से प्रेरणा पाई और चारों प्रधान विद्यालयों के लिए छात्र-सहयोग दिया।

जगन्मोहनमय जैन-जग जानी

दि० जैन पाण्डित्य की दूसरी पीढ़ी के प्रमुख विद्वानों में से पं० जगन्मोहन लाल जी को मध्य भारत क्या, पूरे भारत को देने का श्रेय कटनी के विद्यालय को उतना ही है जितना कि पंडित जी के औघड़ मनस्वी, अतिसाहसी तथा गुरुवर गणेश वर्णी के दीक्षा गुरु गोकुल दास जी को इन्हें कटनी के तत्कालीन संभ्रान्त स्व० दादा जी के दि० जैन परिवार में मिलाने का था। यह गणेश वर्णी के दीक्षागुरु के व्यक्तित्व का ही प्रभाव था कि

पंडित जगन्मोहन लाल जी ने आभिजात्य एकनिष्ठता के साथ लम्बे व्रती जीवन को आत्म निह्नव के साथ सगौरव निभाया है। सहाध्यायी अपने अतिसाहसी शार्दूल पंडित स्व० राजेन्द्र कुमार जी, आजीवन गुरुकुली, स्याद्वाद महा-विद्यालय तथा जिनवाणी के अथक साधक स्व० पं० कैलाश चन्द्र जी तथा प्रवाहपतित मारवाड़ी जैन समाज के लिए प्रकाश—स्तम्भ अदम्य साहसी पं० चैनसुख दास जी के समान मध्यभारत की विगत अर्द्धशती भी पं० जगन्मोहन लाल मय है।

जागरूक द्रष्टा

दि० जैन महासभा के अमरावती अधिवेशन से आरब्ध ह्रास या संकोच के समान पंडित जी ने जातीय सभाओं के आरम्भ को उन्मन होकर देखा है। शिक्षा-संस्थाओं के विकास और क्षीणता को भी वे 'कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा' मानने के साथ-साथ अंतर्मुख हो जाते हैं। वे कहते हैं कि 'कहीं हम लोगों से ही कोई भूल तो नहीं हुई है जो अपने सामने ही इनका कृष्णपक्ष देखने को विवश हैं।' किन्तु उनकी कल्पना है कि इनके साथ भी दुषमा-सुषमादि चलते हैं। इसी कल्पना के बल पर उनके सगुण सहयोगी सोचते हैं कि स्याद्वाद तथा सिद्धान्त विद्यालयों में ही नहीं, अपितु सागर, कटनी, साढूमल पाठशालादि में भी "अईहै फैर वसन्त ऋतु, इन डालन पै फूल।" अवश्य होगा।

प्रदर्शन-प्रचार से परे

अपनी दैनंदिन चर्या के समान दि० जैन समाज तथा देशचिन्ता भी पंडित जी के नित्यकृत्य हैं। समाज की बहिर्मुखता, प्रदर्शन, व्यक्तित्व प्रकाश तथा कोलाहलमय आयोजनों को भी वे देशगत वर्तमान स्थिति का प्रभाव मानते हैं। वे मानते हैं कि भारत फिर भारत होगा तथा श्रमण नहीं; अपितु श्रमण-सम्प्रदाय भी भारत की मूल व्रात्य-संस्कृति का अनुकरण करके आदर्श नागरिकता अर्थात् इच्छापरिमाण का आदर्श उपस्थित करेंगे। वे अपनी इस मान्यता का उपदेश न देकर इसे अपने आचरण द्वारा प्रतिष्ठित करते हैं। यही कारण है उनके सम्पर्क में एक बार आने पर, व्यक्ति और समष्टि उनके अगाध सिद्धान्त ज्ञान, प्रभावक वक्तृता तथा प्रशान्त व्यक्तित्व से अभिभूत होकर कहता है कि मैंने पहिले सम्पर्क में न आकर अपनी अपार हानि ही की है।

विवेकी व्रती

पूज्यवर आचार्य श्री १०८ समन्तभद्र महाराज को भी इनके ज्ञान तथा आचरण को देख कर 'भवन्ति भव्येषु हि पक्षपातः' हो गया था। आचार्यश्री ने कहा "पंडित जी; प्रतिमा बढ़ाइये।" पंडित जी का विनम्र निवेदन था "महाराज, ग्रहीत ही निरवद्य नहीं निभतीं। आगे कैसे बढ़ूं।" लगता है कि गुरुवर गणेशवर्णी के पैरों की असमर्थता के समान त्याग में भी वही आदर्श है जो इनके गुरु के दीक्षा गुरु का था। विरक्ति का उत्तरोत्तर वर्द्धमान विकास ज्ञान, ध्यान तथा इच्छा-निरोध में होने पर ही संभव है। इस व्यक्तित्व का चिरकाल तक हमें सान्निध्य रहे, इस कामना के साथ सवंदना शत-शत प्रणाम।

●

विरोधाभासी गुरु को शत शत बन्दन

डॉ० सुदर्शन लाल जैन
रीडर, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

(१) **नाम में विरोधाभास**—'जगन्मोहन' शब्द के चार अर्थ संभव हैं—(१) जो जगत् को मोहित करे (जगत् स्वाकर्षकगुणादिभिः शरीरादिभिर्वा मोहयतीति जगन्मोहनः)। (२) संसार में कामदेव के समान मोहन स्वभावी (जगति मोहनवत् कामवत् मोहनः जगन्मोहनः)। (३) जिसे जगत् से मोह नहीं है, ऐसा वीतरागी (जगति मोहो नास्ति यस्य सः जगन्मोहनः)। (४) जगत् के प्राणियों के लिए शिवस्वरूप कल्याणकारी (जगते मोहनः शिवः कल्याणकरः एतन्नामको देवो वा जगन्मोहनः)। इन चार शब्द-व्युत्पत्तियों में से प्रथम दो उनके सरागीपन को सूचित करती हैं जबकि अंतिम दो उनके वीतरागभाव को प्रकाशित करती हैं। वस्तुतः अपेक्षा भेद (नय भेद) से वे बाहर से सरागी (गृहस्थ) और अन्दर से वीतरागी (साधक) हैं। हिन्दू पुराणों में एक कथा आती है। जब समुद्र-मन्थन से अमृत निकला, तो उसे पाने के लिए देव और राक्षस दोनों में छीना-झपटी होने लगी। तब भगवान् विष्णु ने राक्षसों को ठगने के लिए 'मोहनी' का रूप धारण करके अमृत को राक्षसों से बचाकर देवों को दिया था। इसी तरह पं० जगन्मोहन ने राक्षसरूपी कर्मशत्रुओं को ठगने के लिए अपना जगन्मोहन रूप बनाकर उन्हें ठगा और अपनी देव-तुल्य ज्ञान चेतना को जागृत किया।

(२) **कार्य क्षेत्र में विरोधाभास**—जिस प्रकार नाम में विरोधाभास दिखता है, उसी प्रकार कार्य क्षेत्र में भी विरोधाभास दिखता है। जैसे—प्रकाश नहीं परन्तु समाज के प्रकाशस्तम्भ हैं, त्रिशलानन्दन (भगवान् महावीर) नहीं, परन्तु त्रिशलानन्दन-पथानुगामी हैं, मृग नहीं, परन्तु **कस्तूरी** (प्रथम पत्नी का नाम, जिनसे सन् १९२२ में विवाह था) को धारण करते हैं, फूल नहीं परन्तु **फूलमती** (द्वितीय पत्नी का नाम जिनसे सन् १९३४ में विवाह हुआ था) से समलंकृत हैं, मोहन (कामदेव या कामदेव का वाण) नहीं, परन्तु **जगन्मोहन** हैं, गोकुल नहीं परन्तु **गोकुलप्रसाद** रत्न (पं० जी के पिता का नाम) हैं, अमर (देव) नहीं, परन्तु **अमरचन्द्र** (पं० जी के पुत्र) के जनक हैं, देव नहीं परन्तु देवद्वय (पं० जी के दो पुत्र) से पूजित हैं, भगवान् ऋषभ नहीं परन्तु ऋषभ-**क्षमा** (पं० जी की पुत्रवधू, भ० ऋषभ द्वारा प्रतिपादित क्षमा गुण के धारक) से विभूषित हैं, राजनेता नहीं परन्तु राजनीति निष्णात हैं, पलट स्वभावी नहीं; परन्तु पलटूराम जी (पं० जी के हितैषी) के भक्त हैं, भ० गौतम बुद्ध नहीं परन्तु **सिद्धार्थ** (पं० जी का पुत्र) के पिता हैं, रत्नाकर (समुद्र) नहीं परन्तु गुणरत्नों के आकर हैं, आकाश नहीं परन्तु शशिद्वय (इन्दु और शशि ये दो कन्यायें हैं, शशि पुत्रवधू भी है) से वेष्टित हैं, ब्रह्मचारी (ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी) हैं परन्तु मुक्तिरमा के चिरालिङ्गन के अभिलाषी हैं, कमठ (भ० पार्श्वनाथ पर उपसर्ग करने वाला) नहीं, परन्तु कमंठ हैं, त्यागी नहीं परन्तु रागद्वेष के त्यागी हैं (त्याग पर पदार्थ का होता है, स्व का नहीं। अतः कोई भी त्यागी नहीं है। परन्तु व्यवहार नय से रागद्वेष के त्यागी हैं।)

(३) **विविध गुणों के आकर**—जैसे दीपावली में नगर विविध दीपमालाओं से सुशोभित होता है, वैसे ही उनके चैतन्य नगर में अनेक गुणमालाओं का सदा निवास है। इन्हीं गुणों के कारण आप गाढ़ान्धकार में दीपक हैं, विपत्ति में बन्धु हैं, दुःख रूपी समुद्र में नौका हैं, और समस्याओं के सुलझाने में मन्त्रशक्ति सम्पन्न हैं। इनके अतिरिक्त, स्याद्वाद की साक्षात् प्रतिमूर्ति, समाज सुधारक, अन्तर्जातीय विवाह समर्थक, एकता के अभिलाषी,

तेरह-बीस पन्थ में समझौतावादी, विद्वत्परिषद् के प्राण, दि० जैन संघ के प्राण प्रतिष्ठापक, समुद्रवत् गम्भीर, सौम्यमूर्ति, अनुशासन प्रिय, सादगी की मूर्ति, शान्ति पथ के पथिक, उदार एवं सरल हृदय, तर्क वागीश, संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं के उद्‌भट विद्वान्, शान्ति निकेतन (कटनी विद्यालय) के निकेतन, स्वाध्याय प्रेमी, कुशल प्रवक्ता, आगमज्ञ, विविध पत्र-पत्रिकाओं के मार्गदर्शक, जैन संदेश के भूतपूर्व सम्पादक, अनेक संस्थाओं के सक्रिय कार्यकर्त्ता, अनेक पुरस्कारों एवं सम्मान पत्रों से सम्मानित, देशप्रेमी, राजनीति निष्णात, छात्रों के हितैषी तथा सर्वधर्म समन्वयवादी **श्रावकधर्मप्रदीप** (ग्रन्थ के अनुवादक) के प्रदीपक, श्रावकाचार सारोद्धार (ग्रन्थ के अनुवादक) के उद्धारक तथा अध्यात्म अमृत कलश स्वात्मबोधिनी की प्रश्नोत्तरी टीका के रचयिता है।

(४) **सप्त संख्या से सम्बन्ध**—सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्व नाथ की जन्म भूमि स्याद्वाद महाविद्यालय काशी में अध्ययन करने के कारण आप में सप्त संख्या का प्रवेश कर गया। फल स्वरूप आप सात प्रतिमाधारी, सप्त व्यसन त्यागी, सात बन्धुओं और पुत्रों से पुत्रवन्त, सात नयों के ज्ञाता, सप्तभङ्गी के व्याख्याता, सात स्थानों से विशेष सम्बन्धित (शहड़ोल, कटनी, मथुरा, सागर, मोरेना, काशी और कुण्डलपुर), सप्तम वर्ष में मातृ वियोगी, सात कर्मों (आयु कर्म छोड़कर) का प्रतिक्षण प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध करते हुए भी स्थिति और अनुभागबन्ध से विरक्त हो गए।

(५) **परिवार मंडल**—जो **धन्य कुमार** जैसे अनुज सहयोगी से सतत परिवेष्टित हो, वह स्वयं क्यों न धन्य हो ? जो नाम और गुणों से **इन्दु** और **शशि** नामक चन्द्रवदना कन्याओं का जनक हो, वह स्वयं आह्लादकता सुन्दरता, शीतलता आदि चन्द्र गुणों से क्यों न परिपूर्ण हो ? **प्रमोद** और **विनोद** से युक्त **अमरचन्द, देवचन्द, देवकुमार** जैसे सुरगणों का जो जनक हो, वह **सिद्धार्थ** का जनक क्यों न हो ? **क्षमा, समता, ममता** की **मीना** से जड़ित तथा **शशि** प्रतिबिम्बित **गुणमाला** मे जिसके पुत्र समलङ्कृत हो, वह स्वयं क्यों न गुणों-रत्नों की निधि हो ?

(६) **कटनी और कुंडलपुर निवास में हेतु**—जैसे किसान फसल के तैयार होने पर कटनी करता है, वैसे ही ज्ञानार्जन के बाद रत्नत्रय रूपी फसल की कटनी करने के लिए कटनी में ही रमने वाले, अथवा ज्ञानावरणादि कर्मों की कटनी फटनी करके ज्ञानस्वभावी आत्मा की रक्षा करने हेतु कटनी को कार्यक्षेत्र चुनने वाले, अथवा दूसरों के अज्ञानान्धकार को काटने हेतु कटनी को निवास स्थान बनाने वाले, अथवा रत्नत्रय की करनी और कर्मों की कटनी में निश्चय-व्यवहार नय के द्वारा समन्वय करने की इच्छा से कटनी को ही कार्य क्षेत्र चुनने वाले गुरुवर्य ने कटनी को ही रणभूमि बनाया। जैसे कुण्डल से कान अलङ्कृत होता है, उसी प्रकार महावीर रूपी कुण्डल से अलङ्कृत सिद्ध क्षेत्र कुण्डलपुर का आश्रय ही सच्चे अलङ्कार का साधन है, ऐसा जानकर पीछे कुण्डलपुर में ही लवलीन हो गए।

ऐसे स्वनाम धन्य वीतरागी, आपाततः विरोधाभासी परम पूज्य गुरुवर्य को मेरा शत शत वन्दन जिनके पदार्पण से न केवल उनका जन्म स्थल शहडोल ग्राम धन्य है, अपितु समस्त भूमण्डल धन्य है।

जैन विद्वत गोष्ठी, बम्बई, १९८२ में पण्डितजी का अभिनन्दन

दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद, बीना बारहा के अधिवेशन (१९७८) में पण्डितजी

महामस्तकाभिषेक के अवसर पर श्रवणबेलगोल में पण्डितजी, १९८१

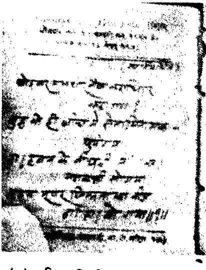

(अ) पण्डितजी की सामान्य लिपि

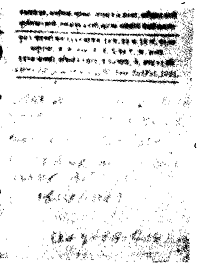

(ब) स्वतंत्रता आंदोलन के समय संप्रसारण की गूढ़ लिपि, १९२१ (काशी)

पण्डितजी के अनन्य सहयोगी
श्री धन्य कुमार सिंघई, कटनी

खण्ड १

पण्डित परम्परा और पण्डित जी

(अ)

पण्डित परम्परा

जो मद्यपायी वैद्य को, कुशिक्षित नर को, मूर्ख संन्यासी को, कायर योद्धा को, वेगरहित अश्व को, कुलध्वंसी पुत्र को, कुमन्त्रियों से घिरे राजा को, उपद्रवसहित देश को, यौवन के गर्व को और पर-पुरुषी स्त्री को छोड़ते है, वे पंडित हैं।

सर्वोपयोगी श्लोकसंग्रह

प्राचीन भारत की वैदिक पंडित परम्परा

डॉ० नत्थूलाल गुप्त

शिक्षा अधिकारी, केन्द्रीय विद्यालय संगठन, भोपाल

भारत जिन विविध सांस्कृतिक उपादानों के कारण विश्व में गुरुपद पर अधिष्ठित रहा, उनमें भारत की स्वर्णिम आचार्य-परम्परा का अपना विशिष्ट स्थान है। आज के कम्प्यूटर-युग में शिक्षा के क्षेत्र में, चाहे जितने बेमिसाल वैज्ञानिक उपकरणों का प्रचलन किया गया हो, किन्तु गुरु की अपरिहार्यता सदियों से प्रतिष्ठित रही है। शास्त्रों का कथन[1] है कि आचार्य के उपदेश के बल पर ही शिष्य के हृदय में ज्ञान अंकुरित एवं पल्लवित होता है। अतः ज्ञान के क्षेत्र में, विशेषतः परा एवं अपरा विद्या के क्षेत्र में आचार्य की अपरिहार्यता चिरकाल से रही है। आचार्य के इस गुरुत्व को ध्यान में रखकर ही भारतीय परम्परा उसे सम्यक् आदर और प्रतिष्ठा प्रदान करती रही है। आचार्य की प्रतिष्ठा का प्रमुख कारण था—उसका गरिमामय चरित्र। वे सदाचरण को न केवल विद्यार्थियों में स्थापित करते थे, अपितु स्वयं भी अपनी विद्या के अनुकूल आचरण करते थे। वर्तमान आचार्य पहली बात में सचेष्ट है, किन्तु दूसरी के प्रति उदासीन। इसीलिए उसके उपदेश कारगर नहीं हो पा रहे हैं। वे यमनियमशील होकर सतत शास्त्राभ्यास के द्वारा विविध शास्त्रों का रहस्योद्घाटन करते थे।

वायुपुराण के निम्न—

> स्वयमाचरति यस्माद् आचारं स्थापयत्यपि।
> आचिनोति च शास्त्रार्थान् यमैः संनियमैर्युतः॥[2]

कथन से स्पष्ट है कि आचार्यत्व प्राप्ति के लिए सदाचरण के साथ-साथ शास्त्रों का गहन आलोडन भी अनिवार्य था। ऐसा करने से ही उनमें शास्त्रोपपत्ति की क्षमता आती थी और वे आचार्यत्व से विभूषित होते थे। शिष्टता आचार्य का एक अनिवार्य लक्षण था। बिना शिष्टता के कोई आचार्य नहीं माना जाता था। 'विद्या विनयेन शोभते' यह उक्ति इसी तथ्य का फलितार्थ है। वास्तविकता यह थी कि शिष्टता के बिना विद्या-प्राप्ति असम्भव मानी जाती थी। विनय के बिना श्रद्धा नहीं और बिना श्रद्धा के ज्ञान लाभ नहीं। इसीलिये तो गीता की उक्ति है—"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्।" शिष्टता का घनिष्ट सम्बन्ध अध्येता अथवा अध्यापक के आचरण से माना जाता था। दम्भ, दर्प, क्रोध, मोह, अहंकार, मात्सर्य आदि दुर्गुणों से रहित व्यक्ति को ही शिष्ट कहा गया है।[3]

शुक्रनीति[4] के अनुसार मीमांसा, न्याय, वेदान्त, व्याकरण में तत्पर, तर्क का ज्ञाता, बोध कराने में समर्थ और तत्त्व का ज्ञाता शास्त्रवित् होता है किन्तु जो व्यक्ति वेद का ज्ञाता और श्रुति-स्मृति, पुराणों के पठन-पाठन में समर्थ हो, उसे श्रुतज्ञ कहा गया है।[5] महाकाव्य-युग में हमें शास्त्रवित् और श्रुतज्ञ के बीच कोई व्यावर्तक रेखा नहीं दिखाई पड़ती। एक ही व्यक्ति श्रुतज्ञ एवं शास्त्रज्ञ—दोनों होते थे। वास्तव में ऐसे मनीषी आचार्यत्व के अधिकारी होते थे। ऐसे आचार्य की सेवा करके वेद का मर्म समझकर साधक इष्ट-प्राप्ति में सफल होता था।[6]

मनु ने उस ब्राह्मण को आचार्य कहा है जो शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके उसे कल्प (यज्ञविद्या) तथा रहस्यों (उपनिषदों) के सहित वेदशाखा पढ़ावे। जो जीविकार्थ वेद के एकदेश (मंत्र तथा ब्राह्मण भाग) को तथा वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्दशास्त्र) को पढ़ावे, उसे 'उपाध्याय' कहा है। वहाँ संस्कार कराने वाले

कर्मकांडी को 'गुरु' कहा गया है। मनुस्मृति में आचार्य अथवा उपाध्याय ब्राह्मण को ही कहा गया। महाकाव्य युग में विशेषतः महाभारत में विद्या के क्षेत्र में वर्ण-बन्धन शिथिल ही प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि हम परशुराम, द्रोण, कृप जैसे ब्राह्मणों में अद्भुत क्षात्र-बल पाते हैं, तो भीष्म, युधिष्ठिर जैसे क्षत्रियों में अपूर्ण ब्राह्मतेज की झाँकी पाते हैं। महाभारत में द्विजों के अतिरिक्त अन्य वर्णों के भी उच्च शिक्षा-प्राप्ति से सम्बद्ध उल्लेख प्राप्त होते हैं। शिक्षा-क्षेत्र में अनेक निम्नकुलोत्पन्न विद्वान् अपने प्रखर पाण्डित्य के कारण प्रख्यात थे। इनमें शूद्रागर्भोत्पन्न विदुर, सूतजातीय संजय, लोमहर्षण आदि उल्लेखनीय हैं।

महाभारत में ऐसी अनेक, राजकन्याओं का उल्लेख है जिनका विवाह ऋषियों से हुआ था। च्यवन ऋषि को राजकन्या सुकन्या और गौतम को अहल्या ब्याही गई थी। अनेक ऋषि-कन्याओं ने क्षत्रिय राजाओं का वरण किया था। असुराचार्य शुक्र की कन्या देवयानी ने ययाति का, कण्व की पालिता पुत्री ने दुष्यन्त का वरण किया था। ऐसे उदाहरण भी इस तथ्य के ज्ञापक हैं कि ऋषि अथवा आचार्य वर्ग के प्रति लोगों में असीम श्रद्धा थी। राजकीय ऐश्वर्य में पली राजकन्याएँ भी ऋषियों के साथ सादगीपूर्ण जीवन बिताने में गौरव का अनुभव करती थीं। राजा शर्याति की सुपुत्री सुकन्या अपने वृद्ध एवं नेत्रहीन पति च्यवन की सेवा अप्रमत्त होकर करती थी।[८]

आचार्यत्व के सोपान

पाणिनि[९] ने चार प्रकार के शिक्षकों का उल्लेख किया है—आचार्य, प्रवक्ता, श्रोत्रिय और अध्यापक। इनमें आचार्य का स्थान सर्वोच्च था। आचार्य को ही शिष्य के उपनयन का अधिकार था। महाभारत में इन चारों प्रकार के शिक्षकों का उल्लेख मिलता है। इन चारों प्रकार के शिक्षकों की प्रतिष्ठा भी वैसी ही थी जैसी कि पाणिनि-काल में। महाभारत में ऋषि सनत्सुजात का कथन है कि जैसे यत्नपूर्वक मूंज के भीतर से सींक निकाली जाती है, वैसे ही भौतिक देह के भीतर निगूढ़ आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किया जाता है। भौतिक शरीर तो माता-पिता से मिल जाता है, किन्तु सत्य के संसार में नया जन्म केवल आचार्य की कृपा से होता है।[१०]

मनु ने शिक्षकों की तीन कोटियों—आचार्य, उपाध्याय और गुरु का पूर्वोक्त परिभाषानुसार निरूपण किया है।[११] मनु की दृष्टि में आचार्य का महत्त्व उपाध्याय की अपेक्षा दसगुना है—"उपाध्यायान्दशाचार्य"। वेदाध्यापन के स्तर के अनुसार महाभारत में शिक्षकों की तीन श्रेणियों का वर्णन पाया जाता है—छन्दोवित्, वेदवित् और वेद्यवित्। जो बहुपाठी, पदक्रम, जटा, घन आदि की रीति से वेदों को कण्ठस्थ करते थे, उन्हें छन्दोवित् कहा जाता था। दूसरी कोटि में वे विद्वान् आते थे जो षडंग वेद का अर्थसहित अध्ययन-अध्यापन करते थे। वे मध्यम कोटि के विद्वान् माने जाते थे, जिन्हें वेदवित् कहा गया है। श्रेष्ठ कोटि के विद्वान् वेद्यवित् थे जो जानने योग्य परम तत्त्व को जानते थे।[१३] ये वेद्यवित् कोटि के विद्वान् ही आचार्य कहलाते थे। इससे स्पष्ट है कि कोरा वेद-परायण नहीं, अपितु वेदों के माध्यम से सत्य का साक्षात्कार करना उच्चो विद्वत्ता की कसौटी थी।[१०]

ऋषि और आचार्य

यास्क ने ऋषि को 'साक्षात्कृतधर्मा' कहा है। ऋषि का लक्षण बताते हुए वे कहते हैं कि जो अभीष्ट पदार्थों का साक्षात्कार करते हैं, वे ऋषि कहलाते हैं। ये उन्हें उपदेश देते हैं जो साक्षात्कारी नहीं होते।[१५] कहने का तात्पर्य यह है कि केवल वेदाभ्यास कराने से ही कोई ऋषित्व को नहीं प्राप्त करता था, अपितु उन वेद-ऋचाओं के पीछे जिनकी अपनी तपस्या और आत्मानुभव होता था, वे ही सही अर्थ में 'ऋषि' पदवाच्य होते थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सभी ऋषि आचार्य माने जाते थे, किन्तु सभी आचार्य 'ऋषि' पद से सुशोभित नहीं होते थे।

ऋग्वेद के दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक प्रत्येक मण्डल के मन्त्रद्रष्टा ऋषि एक ही परिवार के हैं। इन ऋषियों में क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ अथवा इनके वंशजों का उल्लेख किया गया है।

अष्टम मण्डल के अधिकांश ऋषि कण्व परिवार के हैं। प्रथम, नवम तथा दशम मण्डल के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों में विविध परिवार के ऋषियों के समावेश है। इन ऋषियों के चारित्रिक वैशिष्ट्य की झाकियाँ हमें वेदों में विभिन्न स्थलों में दिखाई देती हैं। इनके वैभव को सूर्य के वैभव के समान पूर्ण और उनकी महिमा को सागर के समान गम्भीर बताया गया है।[१६]

इसके साथ ही ऐसे सन्दर्भों को भी कमी नहीं, जहाँ ये ऋषि (जिन्हें परवर्ती साहित्य में सर्वज्ञ निरूपित किया गया है) अपने ज्ञान की सीमा स्वीकार करते हैं अथवा मानवीय दुर्बलता के शिकार होते हैं।[१७]

कवि या आचार्य

प्राचीन ग्रन्थों से 'कवि' शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्दों के सृजनकर्ता के रूप में न होकर एक दार्शनिक, नीतिज्ञ, क्रान्तिदर्शी एवं शास्त्रकार के रूप में हुआ है। यदि कवि शब्द का अर्थ काव्यप्रणेता ही होता, तो गीता में 'कवीनाम् उशना कविः' के स्थान पर शायद 'कवीनां वाल्मीकि कविः' का प्रयोग होता। महाभारत में नीतिज्ञता एवं शास्त्रज्ञान के क्षेत्र में शुक्राचार्य की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए ही उन्हें श्रेष्ठ कवि कहा गया है। महाभाष्य[१८] में इसी अर्थ में पाणिनि को कवि कहा गया है। ऋग्वेद[१९] में अनेक स्थानों पर कवि शब्द का प्रयोग मन्त्रद्रष्टा ऋषि के लिए भी हुआ है। महाभारत में शास्त्रवचनों के लिए 'काव्यां गिरः'[२०], 'काव्यां वाचं'[२१] जैसे पदों का प्रयोग अनेक बार हुआ हुआ। आज भी आयुर्वेद के निष्णात आचार्य अपने नाम के आगे 'कविराज' का प्रयोग करते हैं।

सप्तर्षि और आचार्य

महाभारत में अर्जुन को उपदेश देते हुए कृष्ण कहते हैं कि सात महर्षिजन (सप्तर्षि), चार उनसे भी पूर्व होवे वाले सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु—ये सब मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए है।[२२]

इन सप्तर्षियों के लक्षण बताते हुए वायुपुराण[२३] में कहा गया है कि क्षमा, सत्य, दम, शम, समता आदि भावों का जो अध्ययन करने वाले हैं, वे ऋषि माने गये हैं। इन ऋषियों में सप्तगुनी दीर्घायु, मन्त्रकर्ता, ऐश्वर्यवान्, दिव्य-दृष्टियुक्त, गुण-विद्या और आयु में वृद्ध, धर्म का साक्षात्कार करने वाले और गोत्र चलाने वाले सात गोत्र ऋषियों को ही सप्तर्षि कहते हैं। ऐसा कहा जाता है कि ये सप्तर्षि प्रत्येक मन्वन्तर में भिन्न-भिन्न होते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में जिन प्रमुख वेदाचार्यों का परिगणन सप्तर्षियों में किया गया है, वे मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ हैं।[२४]

वेदों के आचार्य

चतुर्दश अथवा अष्टादश विद्याओं में वेदों का स्थान प्रमुख है। वेद-वेदांगों में पारंगत होना पाण्डित्य अथवा आचार्यत्व की प्राप्ति के लिए आवश्यक समझा जाता था। अतः प्रायः सभी आचार्य वेदविद् थे। किन्तु महाभारत में उपर्युक्त सात मुख्य वेदाचार्यों का उल्लेख यह ज्ञापित करता है कि वास्तविक रूप में वेदाचार्य वही कहलाता था जो वेदनिहित सत्य का साक्षात्कार कर लेता था। केवल वेदपाठी ब्राह्मण वेदाचार्य कहलाने के अधिकारी न थे। वैदिक साहित्य में हमें जिन ऋषियों के नाम उपलब्ध होते हैं, उनके प्रथम चार सम्प्रदाय बताये गये हैं—ऋषि, ऋषिका, ऋषिपुत्र और महर्षि।[२५] इनका मूल अभिधान 'मुनि' था। अतः ऋषि-मुनियों को आचार्यों की कोटि में गिनना सर्वथा संगत है। आचार्यत्व के प्रतिमानों को पुरस्सृत एवं स्थापित करने वालों में ये अग्रणी रहे हैं।

सांख्याचार्य

याज्ञवल्क्य-विश्वावसु-संवाद में सांख्यशास्त्र के आचार्यों के नामों का परिगणन किया गया है। गन्धर्व विश्वावसु याज्ञवल्क्य से कहते हैं कि पंचविंश (सांख्य) का अध्ययन उन्होंने याज्ञवल्क्य के अतिरिक्त जैगीषव्य, आर्षगण्य, भिक्षु पंचशिख, कपिल, शुक, गौतम, आर्ष्टिषेण, गर्ग, नारद, आसुरि पुलस्त्य, सनत्कुमार और शुक्र के समान अन्य आचार्यों से भी

किया था।[२६] पं० उदयवीर शास्त्री के 'सांख्यदर्शन का इतिहास' शीर्षक ग्रन्थ में सांख्यदर्शन के ३२ आचार्यों के परिगणन में उपर्युक्त आचार्य भी सम्मिलित हैं।

धर्मशास्त्र के प्रणेता

याज्ञवल्क्य-स्मृति के आरम्भ में प्रतिष्ठित धर्मशास्त्र-प्रयोजकों की संख्या बीस बताई गई है। इनमें मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना (शुक्राचार्य), अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वसिष्ठ का समावेश है। पाराशर-स्मृति में भी लगभग इन सभी धर्मशास्त्रकारों का उल्लेख हुआ है। कृष्णद्वैपायन व्यास अपने पिता पराशर से कहते हैं कि उन्होंने मनु, वसिष्ठ, कश्यप, गर्गाचार्य, गौतम, शुक्र, अत्रि, विष्णु, संवर्त, दक्ष, अंगिरा के द्वारा रचित धर्मशास्त्रों को सुना है। इसी प्रकार शातातप, हारीत, याज्ञवल्क्य, शंख, कात्यायन आदि द्वारा रचित ग्रन्थों का श्रवण किया है।[२७]

वास्तुकला के आचार्य

मत्स्यपुराण[२८] में अठारह वास्तुशास्त्रोपदेशकों के नामों का परिगणन हुआ है—भृगु, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, विशालाक्ष, पुरन्दर, ब्रह्मा, नदीश, शौनक, गर्ग, अनिरुद्ध, शुक्र और बृहस्पति आदि। इनमें से प्रायः सभी आचार्यों का उल्लेख महाभारत में विविध सन्दर्भों में हुआ है।

आचार्य एवं पण्डित

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि आचार्य, गुरु, उपाध्याय आदि शब्दों का विशिष्ट सम्बन्ध वेदार्थ-ग्रहण की गहनता एवं अध्ययन-अध्यापन के विविध प्रकारों से था, किन्तु 'पण्डित' शब्द से वेदादि शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त लौकिक विवेक भी समाहित था। जैसे आज पढ़े-लिखे 'मूर्ख' पाये जाते हैं, वैसे उस समय भी थे, इनकी संख्या भले ही आज जैसी अधिक न रही हो। 'चार बुद्धिमान मूर्खों की कथा' (मूर्खचतुष्टयकथा) इसी यथार्थ की ओर संकेत करती है कि कोरा शास्त्रीय ज्ञान सफल लोकयात्रा हेतु पर्याप्त नहीं है। 'पण्डित' के लिए 'प्राज्ञ' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। जिस व्यक्ति में शास्त्रीय ज्ञान के अतिरिक्त पाप-पुण्य का विवेक; शुभ-अशुभ, अपने पराये, कथ्य-अकथ्य, ग्राह्य-अग्राह्य आदि की पहचान; सुख-दुःख, जय-पराजय, सम्पत्ति-विपत्ति में समबुद्धि, विनय, सत्य एवं संयत भाषण आदि गुण हों, उसे 'प्रज्ञावान्' या 'प्राज्ञ' कहते थे।

वस्तुतः रामायण एवं महाभारत जैसे महाकाव्यों में वसिष्ठ, वाल्मीकि, युधिष्ठिर, भीम आदि विशिष्ट पात्रों के लिए 'महाप्राज्ञः' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। उपर्युल्लिखित गुणों की सामूहिक संज्ञा 'प्रज्ञा' थी। यही 'प्रज्ञा' शब्द कालान्तर में 'पण्डा' के रूप में अपभ्रष्ट होकर प्रचलित हुआ। उड़ीसा में मध्ययुग में इस 'पण्डा' शब्द को शास्त्रनिष्णात कर्मकाण्डी ब्राह्मणों ने अपने कुलाभिधान (उपनाम) के रूप में अङ्गीकार कर लिया था और यह आज भी प्रचलित है। 'पण्डा' शब्द की दिव्यता-भव्यता देखकर स्वयं को गौरवान्वित करने के लिए तीर्थस्थलों में स्थापित ब्राह्मणों यजमानों ने भी इसे अपना लिया, किन्तु कालान्तर में उनके लोलुप एवं गर्हित आचरण के कारण 'पण्डा' शब्द की खूब दुर्गति हुई और शायद आज भी हो रही है।

महाभारत (गीता-प्रेस) के उद्योग पर्व के ३३वें अध्याय में पण्डित के जो लक्षण बताये गये हैं, वही 'प्रज्ञा' (पण्डा) का वास्तविक अर्थ है। अपने पुत्रों के दुष्कृत्यों को लेकर धृतराष्ट्र बहुत उद्विग्न और चिन्तातुर होते हैं, उन्हें नींद नहीं आती (प्रजागरण-पर्व)। वे आधी रात को युधिष्ठिर को बुलवाते हैं। महामहिम विदुर उन्हें सान्त्वना देते हैं और उनकी चिन्ता दूर करते हुए कहते हैं कि—जो पहले निश्चय करके कार्य का आरम्भ करता है, कार्य के बीच में नहीं रुकता, समय को व्यर्थ नहीं जाने देता और चित्त को वश में रखता है, वही पण्डित कहलाता है। पण्डितजन श्रेष्ठ कर्मों में रुचि रखते हैं, उन्नति के कार्य करते हैं और भलाई करनेवालों में दोष नहीं निकालते। जो अपना आदर होने पर हर्ष

के मारे फूल नहीं उठता, अनादर से सन्तप्त नहीं होता तथा गंगाजी के कुण्ड के समान जिसके चित्त को क्षोभ नहीं होता, वह पण्डित कहलाता है। सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों की असलियत का ज्ञान रखनेवाला, सब कार्यों के करने का ढंग जाननेवाला तथा मनुष्यों में सबसे बढ़कर उपाय का जानकार है, वही मनुष्य पण्डित कहलाता है। जिसकी वाणी कहीं रुकती नहीं, जो विचित्र ढंग से बातचीत करता है, तर्क में निपुण तथा प्रतिभाशाली है तथा जो ग्रन्थ के तात्पर्य को शीघ्र बता सकता है, वही पण्डित कहलाता है। जिसकी विद्या बुद्धि का अनुसरण करती है और बुद्धि विद्या का तथा जो शिष्ट पुरुषों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, वही पण्डित की पदवी पा सकता है।[१९]

उपर्युक्त से प्रज्ञा (पण्डा) शब्द का अर्थ स्पष्ट होता है। इसी प्रकार की प्रज्ञा (पण्डा) से युक्त व्यक्ति पण्डित कहा जाता था। अधिकांश आचार्य पण्डित होते थे; किन्तु उक्त अर्थ में पाण्डित्य के लिए शास्त्रीय ज्ञान अनिवार्य न था। आज भी प्राज्ञ एवं विवेकी होने के लिए कोई उपाधि अथवा पदवी (डिग्री) अनिवार्य नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'पण्डित' शब्द गुरु, उपाध्याय एवं आचार्य का समीपी होते हुए भी इनसे कहीं अधिक व्यापक एवं गुरुतर है। इतिहास में विश्वामित्र, जमदग्नि जैसे आचार्य भी कभी-कभी अविवेकपूर्ण कृत्यों में लिप्त पाये जाते हैं और शूद्रागर्भोत्पन्न विदुर, गोरा कुम्हार, रैदास चमार, जुलाहा कबीर, मांस विक्रेता व्याध आदि भी ऋषितुल्य एवं महाप्राज्ञ-सा आचरण करते दिखाई देते हैं।

पण्डित और आचार्यों के उपरोक्त दिव्य-भव्य व्यक्तित्व और कृतित्व से यह स्पष्ट है कि प्राचीन पण्डित और आचार्य विविध शास्त्रों के पारदर्शी विद्वान् हुआ करते थे। एक पण्डित के लिये वेद-वेदांग, धर्मशास्त्र, योग, वास्तुकला, दर्शन आदि का आचार्य होना एक साधारण बात थी। वह आजकल के समान विशेषज्ञता के कजरौटे में स्वयं की अल्पज्ञता को छिपाने का ओछा प्रयास नहीं करते थे। ज्ञान अखण्ड समझा जाता था। आज हमने अपनी सुविधा के लिये उसके विविध खण्ड कर दिये हैं। फिर भी, खेद है कि उस खण्ड विशेष को भी उपेक्षित कर दिया जाता है।

आज का आचार्य और पण्डित पाठशालाओं, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में सिमटना चाहता है। यद्यपि उसे राष्ट्र का निर्माता अवश्य कहा जाता है, किन्तु समूचे शैक्षिक तन्त्र में उसकी सहभागिता का अभाव, कार्य करने की स्वतन्त्रता का अभाव, आदि उसके मन को कचोटते रहते हैं। इसीलिये वह अनास्था एवं आत्महीनता की भावना से ग्रस्त होकर विविध नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति उदासीन पाया जाता है। उसे मात्र दूसरों के आदेशों का पालन करने का कर्तव्य करना पड़ता है। इसी कारण अध्ययन और स्वाध्याय में उसकी रुचि सीमित हो गई है। उसके सामने उचित जीवन-दर्शन व आदर्शों का अभाव-सा दिखता है। मेरा विचार है कि आज के पण्डित को भी आचार्यों की प्राचीन गरिमा प्राप्त करनी चाहिये। इस गरिमा के आदर्श की खोज में वह भटक गया है। क्या हम आदर्श-प्रस्तुति कर पा रहे हैं? क्या भविष्य में भी कर पायेंगे?

●

सन्दर्भ :

१. न विना गुरुसम्बन्धः ज्ञानस्याधिगमः। —शान्ति ३२.६२२।
आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति। —छान्दोग्य ४.९.३।
नीत्शे का मन्तव्य तुलनीय,
"An academic system without the personal influence of teachers upon pupils is an arctic winter."

२. वायुपुराण ५९.३०।
तुलनीय—आचार्यः कस्मात्, आचारं ग्राहयति,
आचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा। —निरुक्त १.२।

३. शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहंकाराः कुम्भीधान्या, अलोलुपाः, दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिताः ।
—बौधायन धर्मसूत्र १.१.१.५ ।

४. शुक्रनीति, २७.९ ।

५. वही, २.७७ ।

६. गुरुं यस्तु समाराध्य द्विजो वेदमवाप्नुयात् ।
तस्य स्वर्गफलावाप्तिः सिध्यते चास्य मानसम् ॥ —शान्ति १८४.९ ।

७. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥
एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ —मनु० २.१४०-४१ ।

८. सुकन्या च्यवनं प्राप्य पतिं परमकोपनम् ।
प्रीणयामास चित्तज्ञा अप्रमत्तानुवृत्तिभिः ॥ —श्रीमद्भागवतपुराण ९.३.१० ।

९. अष्टाध्यायी २.१.६५ ।
१०. उद्योगपर्व ४४.६-८ ।
११. मनु० २.१४०-४२ ।
१२. मनु० २.१४५ ।
१३. उद्योग० ४३.२९ ।
१४. उद्योग० ४३.३१ ।
१५. निरुक्त १.२० ।
१६. ऋग्वेद ७.३.८ ।

१७. At the same time, we have passages in which the rishis distinctly speak of their own consciousness of ignorance and inability to fathom the profound depths of the universe and knowledge, as against the omniscience prescribed to them by later writer e. g. 1. 164. 5, 6 and 37.—Ghate's Lectures on Rigved (Revised and enlarged by V. S. Sukathenkar), 3rd ed. P. 116.

१८. ११४.५१ पर भाष्य ।

१९. ते चिद्धि पूर्वे कवयो गृणन्तः । —ऋग्वेद ७.५३.१ ।
त इद् देवानां सधमाद् आसन् ऋतावानः कवयः पूर्व्यासः । —ऋग्वेद ७.७.६.४ ।

२०. सभा० ५५.३ ।

२१. सभापर्व ५६.७ ।

२२. भीष्मपर्व ३२.६ ।

२३. वायुपुराण ६१.९३-९४ ।

२४. शान्तिपर्व ३२७.६१ ।

२५. मुनीनां चतुर्विधो भेदः, ऋषयः, ऋषिका, ऋषिपुत्राः, महर्षयः ।
—हरिश्चन्द्र भट्टारक, चरकतन्त्र, सूत्रस्थान, १०७ ।

२६. शान्तिपर्व ३०६.५७-६० ।

२७. पाराशर स्मृति १.१२-१५ ।

२८. मत्स्यपुराण २५२.२-४ ।

२९. महाभारत, उद्योगपर्व ३३.२९-३४ ।

□

बौद्ध संस्कृति में पण्डित परम्परा

डा० चन्द्रशेखर प्रसाद
नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार

जैन समुदाय में पण्डित शब्द का प्रयोग विशेषतः उन गृहस्थ विद्वानों के लिए होता है जो अपने पाण्डित्य, धर्मज्ञान एवं आचारनिपुणता से जैन संस्कृति एवं समाज का सम्वर्धन-सम्पोषण करते हैं। ऐसे पण्डितों की जैनों में विशिष्ट परम्परा है। विद्वानों की धारणा है कि इस परम्परा का प्रारम्भ लगभग तेरहवीं सदी से हुआ है। इस समय तक बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि से लुप्तप्राय हो चुका था। सम्भवतः इसी कारण जैनों की भांति बौद्ध समुदाय में कोई मान्य पण्डित परम्परा नहीं स्थापित हो सकी। फिर भी, अतीत से ही भारत एवं अन्य बौद्ध देशों में गृहस्थों की बौद्ध धर्म के विकास में भूमिका रही है, इसे नकारा नहीं जा सकता। वर्तमान में पण्डित गृहस्थों की यह भूमिका प्रबल होती हुई दो मुख्य रूपों में उभर कर सामने आई है।

आधुनिक शिक्षापद्धति के विकास एवं विस्तार के साथ बौद्ध धर्म एवं दर्शन भी विभिन्न रूपों में अध्ययन एवं गवेषणा का विषय बना। गृहस्थों में भी इसके अध्ययन के प्रति रुचि बढ़ी। देश की बदलती हुई राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों ने विद्वानों को इस नये क्षेत्र में आने की प्रेरणा दी। जनसाधारण ने उसका नेतृत्व स्वीकार किया और उनका स्वरूप संघनायक धर्माचार्यों के समान माना जाने लगा। इससे आचार्यों के साथ गृहस्थ धर्मगुरुओं का एक पृथक् वर्ग उभरा। इन लोगों ने बौद्ध धर्म के परिज्ञान और प्रसार में नया आयाम प्रस्तुत किया।

बौद्ध-धर्म और पालिभाषा के अध्ययन-अध्यापन में भाग लेने वाले गृहस्थ विद्वानों का एक दूसरा वर्ग भी अब सामने आ रहा है। इस वर्ग में बौद्धों के अतिरिक्त इतर धर्मावलम्बी भी समाहित हैं जो विश्व के सभी भागों में पाये जाते हैं। इस वर्ग के विद्वानों का प्रमुख ध्येय बौद्ध-धर्म एवं दर्शन के प्राचीन एवं वर्तमान स्वरूप को परम्परागत एवं वैज्ञानिक ढंग से समझना-समझाना है।

जैन धर्म के समान बौद्ध धर्म भी प्रधानतः भिक्षु धर्म है। इसका चरम लक्ष्य दुःखनिरोध एवं निर्वाण प्राप्ति है। इसके लिए यह अनिवार्य है कि दुःख के मूल-अज्ञान और तृष्णा को निर्मूल किया जाये। इस कार्य के लिए पारिवारिक जीवन को बाधा एवं धूलि-धूसरित तथा प्रव्रज्या को मुक्त आकाश कहा है। दुःखनिरोध की कामना करने वालों के लिए प्रव्रज्या लेकर भिक्षु जीवन को अपनाना अनिवार्य था। बुद्ध के सम्पूर्ण उपदेश भिक्षुओं को लक्ष्य कर ही दिए गये थे। फिर भी, गृहस्थों के लिए भी बौद्ध धर्म में स्थान था। उन्हें उपासक/उपासिका कहा जाता था। इसके लिए यह आवश्यक था कि वे गृहस्थ जीवन के उत्तरदायित्वों को निभाते हुए धर्मानुकूल जीवन व्यतीत करें तथा वर्तमान और भावी जीवन को सुख और शान्तिपूर्ण बनायें। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह विहित था कि वे बुद्ध, धर्म एवं संघ में श्रद्धा रखें एवं शील या सदाचार का पालन करें। बुद्ध और उनके शिष्य चारिका हेतु गृहस्थों के घर जाते थे। भोजनोपरान्त उन्हें दानकथा, शीलकथा आदि का उपदेश देते थे। गृहस्थों को धर्म-दर्शन जानने-समझने की कोई सीमा निर्धारित नहीं थी। उनकी क्षमता को नगण्य भी नहीं माना जाता था। एक बार बुद्ध से पूछा गया, "भन्ते, गृहस्थ ही गन्तव्य तक पहुँचने में सफल होते हैं, प्रव्रजित नहीं। ऐसा क्यों?" बुद्ध ने उत्तर दिया, "आउसो, प्रश्न गृहस्थ और प्रव्रजित का नहीं, सम्यक् मार्ग का है। जो सम्यक् मार्ग पर चलेगा, वही गन्तव्य प्राप्त करेगा।" बुद्ध यह नहीं मानते थे कि भिक्षु बनने मात्र से धर्म-दर्शन का पूर्ण ज्ञान हो सकता है या कि वे ही इसके एकमात्र अधिकारी हैं। यही कारण है कि बुद्ध ने

धर्म और विनय को व्यक्ति से ऊपर रखा। उन्होंने अपने बाद किसी भी शिष्य को संघ का उत्तराधिकारी मनोनीत करने से इन्कार किया और स्वयं को धर्म एवं विनय के शास्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया। बुद्ध के शिष्यों में योग्य व्यक्तियों का अभाव नहीं था। उन्होंने स्वयं कई शिष्यों को अपने समकक्ष माना था। बुद्ध के जीवन के अन्तिम दिनों में भी महाकश्यप जैसे महास्थविर विद्यमान थे। इन्होंने ही बुद्ध के महापरिनिर्वाण के शीघ्र बाद ही उनके उपदेशों का संग्रह एवं संगायन कराया।

बुद्ध के उपदेश मौखिक थे और संगायन के बाद भी अलिखित रहे। इन उपदेशों को सर्वप्रथम सिंहल में राजा बट्टगामिनी अभय ने प्रथम सदी ईसापूर्व में लिपिबद्ध कराया। बुद्ध के जीवनकाल में अनेक बार भिक्षुओं ने अन्य तीर्थिकों के मत,को बुद्ध उपदेश मानने की गलती की थी। ऐसी गलतियों के निवारण के लिए बुद्ध ने 'महापदेश' किया, "यदि कोई कहे कि मैंने यह बुद्ध के मुख से सुना है, ग्रहण किया है, तो न उसे प्रसन्नता से ग्रहण करो और न उसका तिरस्कार करो। उसे सूत्र एवं विनय से मिलाकर देखो। यदि वह उनके अनुरूप है, तो ग्रहण करो। यदि वह अनुरूप नहीं है, तो समझो कि उस व्यक्ति ने धर्मोपदेश को ठीक से नहीं समझा है।"

यह उल्लेखनीय है कि बुद्ध ने अपने मूलभूत उपदेशों को इतना स्पष्ट कर दिया था कि उनके सम्बन्ध में विभेद की गुंजाइश ही नहीं थी। फिर भी, बुद्ध के बाद उनके समुदाय में जो मतान्तर हुए, वे उनके उपदेशों की व्याख्या को लेकर ही हुए। बौद्ध-संघ १८ सम्प्रदायों में विभाजित हुआ। लेकिन कोई भी सम्प्रदाय अन्य के धर्म और विनय को बुद्धवचन मानने से इन्कार नहीं करता।

बुद्ध ने धर्म को बुद्ध और संघ के ऊपर रखा। उनका धर्म तथागतों द्वारा अनुभूत सनातन मार्ग है जिसका उन्होंने भी साक्षात्कार किया। इसकी तुलना विस्मृत नगर के उत्खनन से की गई है। बुद्ध का स्थान मार्गदर्शी का है, वे दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा का आलोकित किया करते हैं। इस मार्ग पर आरूढ़ होकर साधक चरमान्त तक पहुँच सकता है। यह अलग बात है कि सम्यक् ज्ञान-मार्ग के अज्ञान से वह ऐसा न कर सके। ऐसी स्थिति में ही बुद्ध और धर्माचार्यों के निर्देशन एवं प्रेरणा की आवश्यकता होती है। बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था, "बहुजनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए चारिका करते हुए धर्म को दूसरों तक पहुचाओ।"

ये सभी उपदेश भिक्षुओं को लक्ष्य कर दिये गये थे। बौद्ध-स्थविरों ने इन्हें सूत्रबद्ध किया। इस सम्बन्ध में गृहस्थों की भूमिका के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन बौद्धधर्म के विकास मे बुद्ध को गृहस्थों का पर्याप्त सहयोग मिला। अनेक धनी गृहस्थों और राजाओं के संरक्षण में बुद्ध धर्म का प्रसार हुआ। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के कुछ ही समय बाद अजातशत्रु ने बुद्ध के उपदेशों के संग्रह और संगायन के लिए संरक्षण प्रदान किया। महासांघिक संगीति के विवरण में इस कार्य में गृहस्थों की भूमिका का कुछ उल्लेख है। संघ के प्रथम विभाजन के बाद प्रतिवादियों ने जो संगीति बुलाई थी, उसमें गृहस्थों को भी सम्मिलित किया गया था। यद्यपि वहाँ गृहस्थों की कोटि और भूमिका के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं मिलती।

सूत्रों एवं शास्त्रों से सम्बन्ध रखने वाले गृहस्थों में अग्रणी देवानांप्रिय प्रियदर्शी अशोक हैं। उन्होंने बुद्ध के उपदेशों को जगह-जगह उत्कीर्ण करवाया, धर्म को शासन का आधार बनाया और देश-विदेशों में धर्म प्रचार किया। इस दिशा में राजा मिनान्डर का नाम भी उल्लेखनीय है। इनकी जिज्ञासा ने भिक्षु नागसेन के साथ संवाद कराया और 'मिलिन्दपण्हा' जैसी अमूल्य निधि अवतरित हुई। यह प्रथम शताब्दि की रचना मानी जाती है।

अन्य बौद्ध देशों में ऐसे अनेक गृहस्थों के नाम गिनाये जा सकते हैं। इनमें एक विशेष उल्लेखनीय नाम जापान के राजकुमार सोतोकु का है। इनके दरबार में ही सातवीं सदी में बौद्धधर्म को राजकीय मान्यता प्राप्त हुई

थी। राजकुमार ने सोतोकु ने सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र पर जापानी में भाष्य लिखकर वहाँ की जनता में बौद्ध धर्म को बोधगम्य बनाया। उसने बौद्ध धर्म के आदर्शों के आधार पर देश के लिए संविधान भी तैयार किया। सोतोकु ने धर्म के प्रचार-प्रसार में जापान में अशोक की भूमिका निभाई।

बौद्ध धर्म-दर्शन के विकास में अनेक गृहस्थों ने योगदान किया है पर ऐसे गृहस्थों की कोई मान्य परम्परा नहीं बन पाई है। वर्तमान में ऐसे गृहस्थों की परम्परा दो रूपों में उभर कर आई है। इस सदी में अनागारिक धर्मपाल और धर्मानन्द कोसंबो के समान धर्म-मर्मज्ञों ने बौद्ध धर्म के प्रति लोगों की निष्ठा को सुदृढ़ करने का दुर्धर प्रयत्न किया। इस दिशा में बाबा अम्बेडकर का नाम भी विशेष उल्लेखनीय मानना चाहिए जिनके प्रभाव से बौद्धधर्म भारत में पुनः जागृत हुआ। बाबा सा० ने लोगों को वर्तमान सन्दर्भ में बुद्ध के उपदेशों की उपयोगिता समझाई। आचार्य नरेन्द्र देव, नथमल टाटिया, सी० आर० उपासक तथा अन्य विद्वान् भी इसी कोटि में आते हैं। यह स्पष्ट है कि भिक्षु-संस्था की तुलना में बुद्ध-समुदाय में गृहस्थ विद्वानों की संस्था सदैव दुर्बल रही है।

इस दृष्टि से जापानी गृहस्थ धर्म-मर्मज्ञों की भूमिका अति-सराहनीय है। एक समय आया जब जापान में राष्ट्रवादी भावना को उभारने के लिए वहाँ बौद्ध धर्म को विदेशी बना दिया गया। इस दुर्गति से रक्षा के लिए प्रबुद्ध गृहस्थ धर्म-पण्डित आगे आये और बौद्ध गृहस्थ पंडित परम्परा का जन्म हुआ। इस परम्परा के व्यक्तियों ने द्वितीय विश्व युद्ध की पराजय एवं परमाणु-बम के नरसंहार से त्रस्त जापानवासियों को बौद्धधर्मसंगत निदान खोजने हेतु सहानुभूतिपूर्वक मार्ग निर्देश देना प्रारम्भ किया। इससे गृहस्थ धर्म पंडितों की प्रतिष्ठा बढ़ी और लोगों की बुद्ध धर्म के प्रति आस्था भी बढ़ी। इससे गृहस्थ बौद्ध-परम्परा के विकास में भी सहायता मिली। इस समय सोभागक्काई एवं रिस्सोकोसेईकाई परम्परायें जापान में बड़ी सम्मानित है। उनके नेताओं को जापान में संघनायकों तथा धर्माचार्यों के समान ही सम्मान मिलता है।

पिछले चालीस वर्षों में जापान ने पुनः आर्थिक समृद्धि पा ली है। इससे उनमें पाश्चात्य आचार-विचार और रहन-सहन का रौगन चढ़ गया है। उन्हें जीवन जटिल प्रतीत होने लगा है। जापानी गृहस्थ विद्वानों का ध्यान इस ओर गया है। वे धर्म को जीवन में अधिकाधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनका कथन है कि समृद्धि के जीवन को छोड़ कर अपरिग्रही जीवन आज के समाज का आदर्श नहीं हो सकता। अतः यह प्रयत्न आवश्यक है कि मानव में मानवीय गुणों का ह्रास न हो। इसलिये धर्म को जीवन का आधार मानना अनिवार्य है। आज व्यक्ति की सबसे प्रबल समस्या बिलगाव एवं व्यक्तिवाद की है। वह अपनी समस्याओं में ही इतना व्यस्त रहता है कि समाज की चिन्ता के लिए अवकाश ही उसे नहीं रहता। ये गृहस्थ-समुदाय के नेता 'धार्मिक बैठकों' के माध्यम से आज के समाज में सामाजिकता का सूत्र पिरोने का प्रयत्न कर रहे हैं। वे व्यक्तिगत एवं समष्टिगत समस्याओं का धर्म-संगत समाधान खोजने का प्रयत्न भी करते हैं। इस प्रकार जापान के गृहस्थ बौद्ध धर्माचार्य बौद्ध धर्म को अधिकाधिक उपयोगी बनाने में लगे हैं और उसे एक नया आयाम दे रहे हैं। भारत को भी ऐसी ही परम्परा का विकास करना चाहिये।

□

जैन पंडित परंपरा : एक परिदृश्य

नंदलाल जैन
गर्ल्स कालेज, रीवा, म० प्र०

महावीर के अनुयायियों की वर्तमान दोनों ही परंपरायें भद्रबाहु प्रथम (३७६-३०० ई० पू०) को आदरपूर्वक मानती हैं। संभवतः इनके बाद ही श्वेतांबर-दिगम्बर परंपराओं ने विकसित होना प्रारम्भ किया। श्वेताम्बर परम्परा में साधुओं को ही संघ और समाज का आध्यात्मिक नेतृत्व मिला जो अबतक चल रहा है। प्रारम्भ में, दिगम्बर परम्परा में भी पुष्पदन्त-भूतबलि, गुणधर, उमास्वाति, पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द, वादिराज, धर्मभूषण (यति), नेमचन्द्र चक्रवर्ती आदि ने विभिन्न युगों में धार्मिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक नेतृत्व प्रदान किया। ये सभी साधु, यति या आचार्य थे। उत्तरवर्ती समय में सर्वप्रथम दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्र (९८०-१०६५ ई०) को आचार्य और पंडित शब्द से अभिहित पाया जाता है एवं आशाधर (११८०-१२५० ई०) को तो स्पष्टतः ही पंडित कहा गया है। भाग्य से, दोनों विद्वानों का कार्य-क्षेत्र धारानगरी ही रहा है, अतः धारा को दिगम्बर परम्परा की पंडित प्रथा को पुष्पित करने का श्रेय दिया जावे, तो यह अनुचित नहीं होगा। इससे यह प्रतीत होता है कि आचार्य तो साधुवेशी ही होते थे। पंडित प्रायः गृहस्थ होते थे। सम्भवतः प्रभाचन्द्र गृहस्थावस्था में ही अपनी विद्वत्ता में ख्यात हो चुके थे, बाद में वे आचार्य बने होंगे।

यह सम्भव है कि जैनों में पंडित परम्परा की प्रेरणा वैदिक संस्कृति से मिली हो जहाँ प्रारम्भ से ही गृहस्थ पंडित और ऋषि साहित्यिक एवं धार्मिक जागरण तथा अनुष्ठानों के लिये मान्य रहे हैं। धार्मिक कट्टरता के मध्ययुग में अपनी सुरक्षा एवं संरक्षण के लिये "सर्वमेव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः। यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणं।" का सिद्धान्त अपनाते हुए जैनों ने अनेक बाह्य कर्मकांडों को भी अपनाया। इसके अन्तर्गत देवपूजन, विधान, प्रतिष्ठा, संस्कार, कथावाचन, मन्त्र-तंत्र प्रयोग, तीर्थंकरातिरिक्त देवपूजन आदि की क्रियाओं ने जैनधर्म में प्रतिष्ठा पाई। इनमें से अनेक मान्यताओं पर बीसवीं सदी में आदर्श सैद्धान्तिक ऊहापोह हो रहे हैं। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि ये तत्व अब जैन धार्मिक एवं सामाजिक संस्कृति के अंग बन गये हैं। इनकी मनोवैज्ञानिक व्यावहारिकता को सैद्धान्तिक तर्कों से विदलित शायद ही किया जा सके। उपरोक्त कार्य साधुजन तो कर नहीं सकते थे, अतः साधु और गृहस्थों के मध्यवर्ती उच्च आचार-विचार वाली भट्टारक और पंडित परम्परायें जैनों में स्वयमेव विकसित हुईं। इनमें प्रारम्भ में साधु ही भट्टारक बने, पर बाद में अविवाहित रहने वाले आचारवानों को भट्टारकत्व मिला। इन्होंने और इनके शिष्य-प्रशिष्यों ने अपने समय में धर्म-संरक्षण एवं क्रियाकांडों का नेतृत्व किया। राज्य अनुशंसा भी पाई। इन्होंने मठ बनाये और उसमें रहने लगे। परिग्रह और अधिकार के कारण इनके आचारों में परिवर्तन हुआ, जिससे साधु-संस्था की प्रतिष्ठा भी गिरी। आशाधर[1] तो अपने युग में इन्हें 'म्लेच्छ के समान' कहने से नहीं चूके। फिर भी, यह संस्था दक्षिण भारत में आज भी प्रतिष्ठित है। इसके विपर्यास में, पंडित गृहस्थ के रूप में रहकर भी धार्मिक एवं सामाजिक नेतृत्व करते थे। ऐतिहासिक दृष्टि से यह परम्परा निर्माण एवं पोषण का युग माना जा सकता है। भट्टारक और पंडित-दोनों ही इस कोटि से समान हैं। सातवीं-आठवीं सदी के धनंजय संभवतः सबसे पहले गृहस्थ थे जिन्होंने इस क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त की। भट्टारकों के जो शिष्य इस प्रकार के कार्य करते थे, वे 'पांडे' कहलाते थे।[2] पंचाध्यायीकार राजमल पांडे, पं० बनारसीदास के गुरु सम पं० रूपचन्द पांडे तथा हेमचन्द पांडे आदि सोलहवीं सदी के उदाहरण हैं। भट्टारक परम्परा के क्षीण होने पर पांडे नाम महत्वहीन हो गया और पंडितों के हाथ ही धर्मरुचि

को जगाये रखने का काम रहा । इस बीच अनेक कवियों (सोमदेव ९०८-९७० ई०; पुष्पदंत, हस्तिमल्ल (११६१-८१ ई०), हरिश्चन्द्र, धनपाल, तेजपाल, रइधू (१५-१६ वीं सदी), श्रीधर (११००-८३ ई०) आदि[3] ने अपने काव्यात्मक उपाख्यानों द्वारा धर्मचक्र को जीवन्तता प्रदान की ।

ऐस प्रतीत होता है कि १३-१५ वीं सदी में भट्टारक परम्परा के प्रभाव के कारण पंडित आशाधर के उत्तरवर्ती दो सौ पचास वर्षों में पंडित परम्परा नामरूपेण ही रही । फिर भी, यह विषय शोधनीय है । पर पिछले पाँच सौ वर्षों में पंडितों की अनेक कोटियों ने दिगम्बर परम्परा की अनेक रूपों में सेवा की है । इसके पूर्ववर्ती वर्षों में लौकिक विधियों के समावेश से धर्म का अध्यात्म तत्व आवृतप्राय हो गया था । पंडितों की प्रथम पंक्ति ने इस तत्व को पुनः प्रतिष्ठित कर पाँच सौ वर्षों की जड़ता को दूर करने का प्रयास किया । इस बहादुर पंक्ति का दिगम्बर-श्वेताम्बर-दोनों ओर से साहित्यिक एवं सैद्धान्तिक विरोध हुआ । इसके फलस्वरूप लगभग १६१८-२० में भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के समय राजस्थान के सांगानेर में दिगम्बरों के दो पंथ-तेरापन्थ और बीसपन्थ—हो गये ।[४] उस समय प्रचलित पंथ बीसपंथ और सैद्धान्तिक पंथ तेरापन्थ कहलाया । वर्तमान पंडित वर्ग इन दोनों को पोषित करता है ।

परम्परापोषी पंडितों के विवरण के अतिरिक्त जैन इतिहासज्ञों द्वारा पंडित परम्परा पर कोई विशेष कार्य नहीं किया गया है । इससे इस सम्बन्ध में पर्याप्त सूचनाओं का भी अभाव है । सतीशकुमार[५] ने अपने व्यापक उद्देश्य के अनुरूप लेखक व वैज्ञानिकों की कोटि में अनेक पंडितों का विवरण दिया है । फिर भी, जैन विद्वानों से सम्बन्धित सूचनाओं की दृष्टि से शास्त्रि परिषद् का प्रकाशन[६] अधिक उपयोगी है । इसमें अनेक अपूर्णतायें, हैं, पिछले एक युग में अनेक नूतनतायें भी जुड़ी है, फलतः उक्त संस्था को इसके परिवर्धित संस्करण की दिशा में सक्रिय रूप से विचार करना चाहिये । वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि से, पंडित परम्परा को तीन युगों में वर्गीकृत किया जा सकता है; (i) स्वान्तःसुखाय सर्जना एवं उपदेशना युग (ii) प्रचार-प्रसार, अनुसंधान एवं सामाजिक प्रेरणा का युग और (iii) शिक्षा अनुष्ठान एवं साहित्य सर्जना का युग ।

सारणी १ से स्पष्ट है कि प्रथम युग (१५००-१८००) के विद्वानों में तीन व्यवसायी, चार राजसेवी तथा चार अनिर्दिष्ट व्यवसायी रहे हैं । कहा जाता है कि इनमें द्यानतरायजी की स्थिति सबसे कमजोर रही है । फिर भी, ये सभी धर्म के सिद्धान्तों का जीवन एवं समाजव्यापी महत्व समझते थे । अपनी इस विचारधारा का लाभ उन्होंने समाज को देने का प्रयत्न किया । उन्होंने भक्तिधारा और उसके साहित्य को विकसित किया, प्राचीन ग्रन्थों को जनभाषा में प्रस्तुत किया । सम्भवतः जयपुरवासी पं० दौलत राम (१६८२-१७७२) ने जैनों के व्यक्तिगत जीवन में त्रेपन क्रियाओं को प्रतिष्ठित किया ।[७] जो आज भी जैनों के आचार-विचार के अंग बनी हुई हैं । इस प्रकार भक्तिवाद, क्रियाकांड एवं तत्कालीन भाषा में जिनवाणी के प्रस्तुतीकरण के कार्य के लिये प्रथम युग को श्रेय दिया जाना चाहिये । इस युग में आगरा, जयपुर एवं बिहार पंडितों के प्रमुख केन्द्र रहे हैं । यह भी स्पष्ट है कि इस युग में पंडितों की आजीविका समाजनिर्भर नहीं थी । वे स्वान्तःसुखाय एवं परोपकारहेतु ही धार्मिक चर्चायें एवं साहित्य सृजन करते थे । ऐसे लोगों की संख्या कम ही होती है । तीन-सौ वर्षों में केवल ग्यारह महत्वपूर्ण नाम हमें मिले हैं ।

द्वितीय युग के विद्वानों में प्रथम की अपेक्षा काफी विविधता पाई जाती है । इनमें आधे से अधिक मान्य पंडितों ने जैनधर्म का स्वयमेव अध्ययन किया । ये आजीविका हेतु समाज पर आश्रित भी नहीं रहे । इन्होंने धर्म और समाज में जागरूकता लाने की स्वान्तःसुखाय प्रवृत्ति को कार्यरूप दिया । इनका कार्य समाज में धार्मिक शिक्षा एवं सिद्धान्तों का प्रचार प्रमुख रहा है । बैरिस्टर चम्पतराय, जे० एल० जैनी और ब्र० शीतल प्रसाद जी तो विदेशों में भी धर्म-प्रचारार्थ गये, अंग्रेजी में जैनधर्म विषयक साहित्य-सृजन एवं अनुवाद कार्य किया । वर्णीजी और बरैयाजी बीसवीं सदी में जैन शिक्षा प्रसार के आदिपुरुष माने जा सकते हैं । इस सदी के आठवें दशक का वरेण्य जैन विद्वत् समाज इनके द्वारा स्थापित संस्थाओं की ही देन है । श्री प्रेमी जी और मुख्तार सा० ने अपनी अध्ययनशीलता से जैन-विद्याओं में अनुसन्धान तथा

सारणी १. विभिन्न युगों में पंडित परंपरा

(i) प्रथम युग : स्वान्तः सुखाय साहित्य सर्जक एवं उपदेशक (१५००–१८००)

१. राजमल पांडे	१५४५—१६२३	आगरा	पंचाध्यायी, लाटी संहितादि
२. पं० रूपचंद पांडे	१५५०—१६३७	—	बनारसीदास के गुरुसम
३. पं० बनारसीदास	१५८६—१६४३	जौनपुर	अर्धकथानक, नाटक समयसार
४. पं० द्यानतराय	१६७६—१७२६	आगरा	स्तुति, स्वयंभू-पार्श्वनाथ स्तोत्र
५. पं० दौलतराम	१६३२—१७७२	जयपुर	त्रेपन क्रियाकोश, भाषाकार
६. पं० भूधरदास	१६९३—१७४९	आगरा	विनती, स्तुतिकार
७. पं० टोडरमल	१७१४ – १७६६	जयपुर	मोक्षमार्ग प्रकाशक, भाषाकार
८. पं० जयचंद छाबड़ा	१७३८—१८०२	जयपुर	भाषा टीकाकार
९. पं० वृन्दावन	१७९१ — ?	बिहार	भाषा टीकाकार
१०. पं० सदासुखदास	१७९५—१८७०	जयपुर	भाषा टीकाकार
११. पं० दौलतराम	१७९८—१८६६	हाथरस	छह ढाला

(ii) द्वितीय युग : प्रचार-प्रसार, अनुसन्धान एवं सामाजिक प्रेरणायुग (१८००—१९००)

१. बैरिस्टर चंपतराय	१८६७—१९४२	दिल्ली	की आव नालेज आदि, प्रचार
२. पं० गोपालदास बरैया	१८६७—१९१७	आगरा	जैन सि० प्रवेशिका, शिक्षण
३. पं० गणेशप्रसाद वर्णी	१८७४—१९६१	हसेरा	जीवनगाथा, शिक्षा-प्रचार
४. पं० जुगल किशोर मुख्तार	१८७७—१९६८	सरसावा	वीरसेवा मंदिर, अनेकांत
५. ब्र० शीतल प्रसाद	१७७९—१९४२	लखनऊ	समाज-सुधारक, प्रचारक
६. बैरिस्टर जे० एल० जैनी	१८८१—१९२७	सहारनपुर	अंग्रेजी में अनुवादक प्रचारक
७. पं० नाथूराम प्रेमी	१८८१—१९६०	देवरी	ऐतिहासिक शोध, प्रकाशक
८. भुजबली शास्त्री	१८८७—१९८०	कर्नाटक	शोधक, उपदेशक
९. पं० वंशीधर न्यायालंकार	१८९०—१९७२	महरौनी	शिक्षक, उपदेशक
१०. पं० देवकी नंदन शास्त्री	१८९२—१९६२	बुन्देलखंड	अनुवादक, व्याख्याता
११. पं० मक्खनलाल शास्त्री	१८९५—१९८०	आगरा	शिक्षक, उपदेशक, परंपरापोषी
१२. पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ	१८९९—१९६९	जयपुर	विद्वान्, शिक्षा प्रसारक

(iii) तृतीय युग : शिक्षा, साहित्य सर्जना एवं अनुष्ठान युग (१९०१—)

१. पं० कस्तूरचंद्र शास्त्री	१९००—१९६६	रायसेन	सराकोद्धारक, उपदेशक
२. बाबू कामता प्रसाद जैन	१९०१—१९६४	अलीगंज	जैन धर्म-प्रचार, लेखन
३. पं० फूलचंद्र शास्त्री	१९०१—	ललितपुर	विद्वान्, लेखक व्याख्याकार
४. पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री	१९०१—	शहडोल	शिक्षक, उपदेशक, व्रती
५. पं० कैलाशचंद्र शास्त्री	१९०३—१९८७	नहटौर	शिक्षक, लेखक, अनुवादक
६. पं० हीरालाल शास्त्री	१९०४—१९८३	साढूमल	विद्वान्, शोधक
७. पं० सुमेरुचंद्र दिवाकर	१९०५—	सिवनी	षट्खंडागम उद्धारक, लेखक
८. पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य	१९०५—	सोंरई	न्यायाचार्य, व्यापारी विद्वान्

९. बालचंद सिद्धान्तशास्त्री	१९०५—१९८८	सोंरई	शोधक
१०. पं० परमेष्ठीदास	१९०८—१९८१	महरौनी	पत्रकार, समाजसेवी
११. पं० परमानंद शास्त्री	१९०८—१९८०	पन्ना	विद्वान्, शोधक
१२. डा० जगदीशचंद्र जैन	१९०९—	बंबई	शोधक, शिक्षक, लेखक
१३. डा० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य	१९११—१९५९	खुरई	न्यायाचार्य, शिक्षक, लेखक
१४. पं० पन्नालाल साहित्याचार्य	१९११—	सागर	धर्म-साहित्य के उद्गाता
१५. पं० इन्द्रचन्द्र शास्त्री	१९१२—१९८६	हिसार	लेखक, शिक्षक
१६. डा० ज्योतिप्रसाद जैन	१९१२—१९८८	मेरठ	शोधक, विद्वान्
१७. डा० दरबारीलाल कोठिया	१९१३—	सोंरई	न्यायाचार्य, लेखक
१८. पं० नाथूलाल शास्त्री	१९१३—	जयपुर	शिक्षक, प्रतिष्ठापक
१९. पं० हीरालाल कौशल	१९१४—	ललितपुर	शिक्षक, अनुष्ठानक
२०. डा० नेमीचंद्र शास्त्री	१९१५—१९७४	राजस्थान	शिक्षक, शोधक, लेखक
२१. डा० लालबहादुर शास्त्री	१९१६—	आगरा	परंपरापोषी विद्वान्
२२. पं० बलभद्र जैन	१९१६—	आगरा	संपादन, लेखन
२३. श्री खुशालचंद्र गोरावाला	१९१७—	गोरा	समाजसेवी सेनानी
२४. डा० गुलाबचंद्र चौधरी	१९१७—१९८६	सिलौंडी	प्रशासक, लेखक, शोधक
२५. पं० अमृतलाल शास्त्री	१९१९—	झांसी	साहित्यरसिक विद्वान्
२६. डा० कस्तूरचंद्र काशलीवाल	१९२०—	जयपुर	इतिहास-शोधक
२७. क्षु० जिनेन्द्र वर्णी	१९२१—	पानीपत	जैनेन्द्रसिद्धान्तकोष
२८. डा० हरीन्द्रभूषण जैन	१९२१—१९८९	नरयावली	शिक्षक, साहित्यसेवी
२९. श्री बालचंद्र जैन	१९२३—	गोरखपुरा	पुरातत्वविद्
३०. श्री लक्ष्मीचंद्र जैन	१९२६—	सागर	जैन गणितज्ञ
३१. श्री नीरज जैन	१९२८—	रीठी	पुरातत्वी, समाजसेवी
३२. डा० नंदलाल जैन	१९२८—	शाहगढ़	विज्ञानविद्, शिक्षक
३३. डा० कंछेदीलाल जैन	१९२९—१९८९	पथरिया	शिक्षक, समाजसेवी
३४. डा० राजाराम जैन	१९२९—	मालथौन	प्राकृतविद्, शोधक, शिक्षक
३५. डा० विद्याधर जोहरापुरकर	१९३५—	कारंजा	शिक्षक, शोधक
(ब) अनुष्ठानक पंडित			
३६. वाणीभूषण जमना प्रसाद शास्त्री	१९१४—	खुरई	शिक्षक, अनुष्ठानक
३७. पं० मोहनलाल शास्त्री	१९१४—	बरायठा	साहित्यसेवी, प्रकाशक
३८. पं० शिखरचंद्र जी प्रतिष्ठाचार्य	१९१७—	बखरौली	प्रतिष्ठाचार्य
३९. पं० गुलाबचंद्र पुष्प	१९२४—	टीकमगढ़	प्रतिष्ठाचार्य
४०. पं० मोतीलाल मार्तंड	१९३२—	रिषभदेव	प्रचारक, प्रतिष्ठाचार्य
४१. पं० विमलकुमार सोंरया	१९४०—	मडावरा	प्रतिष्ठापक सेवाभावी

प्रकाशन का क्षेत्र विकसित किया। वस्तुतः इन्होंने शिक्षण का कार्य तो नहीं किया, पर शिक्षक तैयार करने की भूमिका बनाई। इन्होंने जैनधर्म के प्रचार और गहन अध्ययन की दिशाएँ दो। सामान्य परिभाषा में, इनमें से अनेकों को पण्डित नहीं कहा जाता, पर उन्होने पंडितों के समान ही कार्य किये हैं। ये अपने युग की आदर्श मूर्तियाँ हैं।

इस युग की अन्तिम पाँच विभूतियाँ बीसवीं सदी की दिगम्बर पण्डित परम्परा की स्थापक हैं। इन्होंने न केवल बनारस, जयपुर या अन्य स्थानों की संस्थाओं में अध्ययन-अध्यापन ही किया, अपितु अनेक धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं का निर्माण एवं सञ्चालन भी किया। इनकी आजीविका का प्रमुख स्रोत भी समाज-सेवा ही रहा। बीसवीं सदी के विश्रुत जैन विद्या मनीषी इनकी शिष्य-परम्परा में ही आते हैं। इन्होंने अनेक प्रकार की सामाजिक व धार्मिक प्रवृत्तियों को प्रतिष्ठित करने में अपना अमूल्य योगदान किया है। ये उत्तम व्याख्याकार एवं भाषा टीकाकार भी रहे हैं। इनमें से कुछ विभूतियों ने पूर्ववर्ती स्वान्तःसुखाय की पण्डित परिभाषा से संक्रमण किया और आजीविका-सुखाय की परिभाषा को मूर्तरूप दिया। इससे इनकी स्वयं की प्रतिष्ठा में चार चाँद तो अवश्य लगे, पर इनका परिवार और पारिवारिक जीवन किन परिस्थितियों में रहा, यह अनुभव की ही बात है। इनके केवल एक पण्डित के पुत्र ने ही सामाजिक संस्थाओं में आजीविका ग्रहण की। अन्य की सन्तानों ने अधिक उपयोगी एवं आधुनिक क्षेत्र को आजीविका हेतु चुना।

बीसवीं सदी आते-आते पण्डितों का कार्य-क्षेत्र काफी बढ़ गया। अनेक सामाजिक एवं शिक्षण-संस्थाओं, क्षेत्रों तथा अन्य प्रवृत्तियों को चलाने के लिये पण्डितों की आवश्यकता अनुभव की गई। जैनों पर नास्तिकता के प्रहार भी, अनेक ओर से, इस सदी के पूर्वार्ध में हुए। यह समय था जब पण्डितों को अपनी विद्वत्ता एवं चतुरता का प्रदर्शन करना पड़ा एवं जैनों के जैनत्व की सुरक्षा एवं प्रभावना करनी पड़ी। शास्त्रार्थ संघ का निर्माण इन विद्वानों ने ही किया था जो बाद में दि० जैन संघ में परिणत होकर आज भी एक जीवन्त संस्थान के रूप में काम कर रहा है। पण्डितों की इस महती धर्म सेवा का ही यह फल है कि आज जैन विद्याओं और उनके इतिहास की ओर देश-विदेशों में पर्याप्त अनुसन्धान किये जाने लगे हैं।

तीसरे युग में पण्डित पीढ़ी के कार्यों में बड़ी व्यापकता आई। सामान्य पण्डित का सारा समय समाज में धार्मिक शिक्षा प्रदान करने, स्वाध्याय या शास्त्र-सभा करने, धार्मिक अनुष्ठान या सामाजिक क्रियाकलापों को सम्पन्न करने, साहित्य के भाषान्तर एवं सृजन करने एवं आवश्यकता पड़ने पर धर्म की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक सुरक्षा एवं प्रभावना करने में लग जाता है। इसी से समाज की सामाजिकता तथा एकरूपता बनी हुई है। इन सभी कार्यों के लिये समाज ने पण्डितों की सेवायें ग्रहण कीं (कभी-कभी उन्होंने स्वयं भी दीं, पर ऐसे प्रकरण अपवाद हैं)। परन्तु समाज ने उनको समुचित आजीविका-साधनों के विषय में ध्यान से नहीं सोचा। शास्त्री[८] के अनुसार पण्डित मसालची के समान बने रहे जो स्वलाभ न लेकर दूसरों को लाभान्वित करने में अपना और आश्रितों का पूरा जीवन बेबसी और भटकन में गुजार देते हैं। अपने कार्यों का सुफल उन्हें सामाजिक भर्त्सना के रूप में मिलता है। सामन्तवादी मनोवृत्ति के अनुरूप उन्हें बाहरी प्रतिष्ठा के बावजूद आन्तरिक वितृष्णा का ही शिकार होना पड़ता है। इसी कारण यह परम्परा जैसे ही बीसवीं सदी के व्यापक परिवेश में विकसित हुई, वैसे ही एक ही पीढ़ी में रूपान्तरित हो गई। इस स्थिति का अनुभव सभी को होने लगा है। फिर भी, इसके सुधार की ओर ध्यान देने का समाज के नेताओं को अवसर ही कहाँ है?

बीसवीं सदी या तीसरे युग की पण्डित पीढ़ी के जैन विद्वानों को स्पष्टतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहले वर्ग में काशी, मोरेना, सागर या जयपुर आदि में पढ़े हुए शास्त्रीय विद्वान् आते हैं। ये आज अपने जीवन के सातवें-आठवें दशक में चल रहे हैं। इनमें अधिकांश आगम-पोषी हैं। ये बीसवीं सदी की समस्याओं का उत्तर शास्त्रीय मर्यादाओं में देते हैं। इनकी शास्त्रज्ञता, भाषान्तरण-क्षमता एवं व्याख्यानशैली अनूठी है। इनकी आजीविका का मुख्य स्रोत सामाजिक संस्थायें हो रही हैं। आजकल यह वर्ग दो कोटियों में विभाजित दिखता है। पाश्चात्य विधि शिक्षण में निष्णात लोग उन्हें वह मान्यता नहीं देना चाहते जो समाज उन्हें देती रही है। इस स्थिति को देखकर इस वर्ग के अनेक पण्डित उत्परिवर्तित होकर आगे आये। इन्होंने प्रारम्भ में सामाजिक आजीविका ग्रहण की। बाद में युगानुरूप योग्यतायें प्राप्त कर समाजेतर क्षेत्र ग्रहण किया। इससे इनका समाज में जो स्थान था, वह तो रहा ही, अन्य विद्वत् समाज में भी इनकी प्रतिष्ठा बढ़ी। वे आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त स्वावलम्बी भी बने।

इस सदी के चौथे-पाँचवें दशक में मूर्ति छात्रवृत्ति के समान योजनाओं से एक नयी पण्डित पीढ़ी का निर्माण हुआ। ये पण्डित न केवल जैन विद्याओं के ही ज्ञाता थे, अपितु इन्होंने पाश्चात्य शिक्षा का भी अवसर पाया। इससे अनेक जैनविद्याविज्ञ के साथ व्यवसाय-विद्याओं में भी निष्णात बने। आज अनेक विश्वविद्यालयों, जैन महाविद्यालयों या संस्कृत-प्राकृत संस्थानों में यही पीढ़ी सामने है। यही पीढ़ी तकनीकी क्षेत्र में बिहार, उत्तर-प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र आदि में अपना यश कमा रही है। यह पीढ़ी अपनी गुरु-प्रगुरु परम्परा की तुलना में समाजेतर स्रोतों से अपनी आजीविका ग्रहण किये हुए है और अपने पूर्ववर्ती वरिष्ठों से सम्पन्न बनती जा रही है। इस पीढ़ी को जहाँ जैन-जैनेतर विद्वत्-समाज में अच्छा स्थान प्राप्त हो रहा है, वहीं जैन समाज में, सामान्यतः, उसको वह मान्यता नहीं है जो शास्त्रीय पण्डितों की आज भी है। इससे इस पीढ़ी में कुछ विशिष्ट मानसिकता के दर्शन होते हैं जो समाज के प्रति उपेक्षावृत्ति के द्योतक हैं। इस वर्ग में पुराने समय की स्वान्तःसुखाय सामाजिक रुचि की वृत्ति के भी अर्थ-सुखाय के रूप में परिणत होने से अध्यात्मसाधक दिगम्बर समाज की स्थिति एक निर्वात अवस्था में पहुँचती जा रही है। आचार्यों ने कहा है, "आदहिदं कादव्वं"। आखिर पण्डित या विद्वान् की भी तो आत्मा है। इन्होंने अपने गुरुओं के उदाहरण देखकर समाज का मर्म समझा है और तदनुरूप वृत्ति अपनाना अपना कर्तव्य माना है।

इस द्वितीय वर्ग के वर्तमान और भविष्य के प्रति शंकित होकर जैन संस्थाओं में पुनः एकपक्षीय शिक्षानीति बनी। इसके युगानुरूप न होने से दो परिणाम हुए :

(i) संस्थाओं में उच्चतर अध्ययन हेतु विद्यार्थी आना कम हो गया।

(ii) अधिकांश विद्यार्थी पाश्चात्य पद्धति पर आधारित उपाधियों या उनके समकक्ष शिक्षण के प्रति आकृष्ट हुए। उन्हें इसी दिशा मे आजीविका के अच्छे स्रोत प्रतीत हुए।

फलतः आज स्थिति यह है कि प्राच्य पद्धति की जैन शिक्षा प्रायः समाप्त दिख रही है और शुद्ध नयी कोटि के आधुनिक विद्वान् जन्म ले रहे हैं। इन्हें पण्डित मानने को समाज तैयार नहीं दिखता। ये जैनेतर क्षेत्रों में ही अपनी आजीविका के प्रति आशावान् हैं। यह वर्ग वर्तमान पीढ़ी के तीसरे रूप का प्रतिनिधि है। इसमें भी सामाजिकता तथा धर्म के प्रति माध्यस्थ भाव है। इस वर्ग की संख्या क्रमशः वर्धमान है।

आधुनिक पण्डित वर्ग की ये तीनों ही कोटियाँ पूर्ववर्ती कोटि से भिन्न स्तर पर चल रही हैं। प्रथम वर्ग के अधिकांश पण्डित सामाजिक एवं साहित्यिक संस्थाओं और विशिष्ट श्रीमन्तों से सहचरित होकर जीवन-क्षेत्र में रहे। इनकी ज्ञानगरिमा और बाह्य चारित्र की धाक समाज पर रही। इन्होंने अनेक संस्थाओं की स्थापना में मील के पत्थर बनकर भाषान्तरित धार्मिक साहित्य का प्रकाशन कराया। इस पीढ़ी ने जैन विद्याओं से सम्बन्धित धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परम्परा पर विद्वत्तापूर्ण गवेषणायें की। इससे जैनेतरों में भी जैन विद्याओं के प्रति अनुसन्धानात्मक दृष्टिकोण से अनुराग उत्पन्न हुआ। इस वर्ग के पण्डितों ने नई पीढ़ी को जन्म तो अवश्य दिया, पर उसे प्रेरणा या मार्गदर्शन नहीं दिया। इससे इनके शिष्य वर्ग ने जो, जहाँ, जैसी दिशा मिली, ग्रहण की।

इस वर्ग की उत्परिवर्तित पीढ़ी ने प्रत्यक्षतः तो नहीं, परोक्षतः अपने शिष्य-प्रशिष्यों को नई दिशा ग्रहण करने की प्रेरणा दी। फलतः मूलभूत आधार के बावजूद भी वे समाज पर अनाश्रित आजीविका क्षेत्रों की ओर मुड़े। उन्होंने यह भी प्रयत्न किया कि या तो वे स्वयं अपनी सामाजिक/साहित्यिक संस्था बनायें या ऐसी संस्थाओं में अपना स्थान पायें जहाँ उनके भौतिक लक्ष्य सफल हो सकें।

प्रथम वर्ग की पीढ़ी की ९१% सन्तति ने पण्डित व्यवसाय नहीं अपनाया। यह तथ्य भी शिष्य-प्रशिष्यों को अचरजकारी होते हुए भी उनके मनोमन्थन का कारण बना। सम्भवतः इसी तथ्य ने उन्हें सामाजिक आजीविका के प्रति

उपेक्षित बनाया। फिर भी नये वर्ग ने जैन धर्म और संस्कृति का नाम आगे बढ़ाया है। अपने अनुसन्धानों द्वारा उन्होंने जैन विद्याओं के अनेक ऐसे पक्षों पर प्रकाश डाला है जो इसके पूर्व अनुद्घाटित थे। उन्होंने अपने पाश्चात्यपद्धतिगत एवं तुलनात्मक अध्ययनों द्वारा विश्व में जैन विद्याओं को गौरव दिया है। आज यही पीढ़ी विश्व के अनेक भागों में होने-वाले राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में जैन विद्याओं के प्रचार-प्रसार के अवसर पा रही है। इनके योगदान को नगण्य नहीं माना जा सकता।

इस युग के उपरोक्त तीनों वर्गों के पण्डित सामान्यतः धर्म-शास्त्रज्ञ एवं मुख्यतः विद्याव्यसनी रहे हैं। इन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक क्रियाओं के प्रवर्तन का नेतृत्व नहीं किया। यह नेतृत्व भी सामाजिकता के लिये आवश्यक है। समाज में सदैव प्रतिष्ठापाठ, उद्यापन, विधान, पञ्चकल्याणक आदि प्रवृत्तियाँ चलती रहती हैं। इनका सञ्चालन कौन करे? पहले यह कार्य भट्टारक पन्थ में दीक्षित लोग करते थे। इनके अभाव में पण्डितों का एक मध्यम वर्ग भी बीसवीं सदी में उदित हुआ। इस वर्ग में विद्याव्यसनी कम, क्रियाकांडज्ञानी अधिक हैं। यह क्षेत्र अब आर्थिक दृष्टि से भी आकर्षक बन गया है। इस वर्ग की संख्या भी अब बढ़ने लगी है। जयपुर एवं शास्त्रिपरिषद् के शिविर भी इस क्षेत्र के लिये प्रशिक्षण देने लगे हैं। इस तरह ज्ञानकांडी पण्डितों की परम्परा की तुलना में क्रियाकांडज्ञों की संख्या कुछ बढ़ रही है। इसे शुभ लक्षण नहीं माना जा सकता। इससे समाज में अनेक प्रकार के ऐसे वातावरण पनपने लगे हैं जो धार्मिक और नैतिक सिद्धान्तों से विचलित होने की ओर अग्रसर करते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि साधु और पण्डित परम्परा ने जैन संस्कृति एवं साहित्य के संरक्षण, प्रवर्तन एवं संवर्धन का काम किया है। इस समय ये परम्परायें शास्त्रीय मान्यताओं के अनुरूप वातावरण एवं क्षमताओं की क्षीणता से अपना अस्तित्व शक्तिशाली रूप से प्रकट करने में जटिलता का अनुभव कर रही हैं। दिगम्बर परम्परा के पूज्य साधु और आचार्य आचार-प्रवण तो होते हैं, पर इनमें विचार और अध्ययन-मननशीलता विरल है। पंडितों की स्थिति भी ऊपर बताई जा चुकी है। यह सचमुच ही सक्रिय एवं गहन चिन्तन का प्रश्न है कि ऐसी स्थिति में हम जैन संस्कृति की गरिमा को कैसे अभिवर्धित कर सकेंगे? इसी प्रश्न का समाधान खोजने लगभग आठ वर्ष पूर्व दिल्ली में 'जैन पंडित परम्परा : भूत, वर्तमान और भविष्य' पर एक गोष्ठी आयोजित की गई थी। उसमें विद्वान् वक्ताओं से पंडितों के भविष्य पर कुछ करणीय सुझावों की आशा थी पर मुझे लगता है कि डॉ० दयानन्द भार्गव का निम्न कथन वस्तुस्थिति को स्पष्ट करता है :

"पण्डित भाव साधु एवं भावयज्ञ का प्रतीक है। इस प्रतीक के भूतकाल की चर्चा सभी वक्ताओं ने की है, पर भविष्य की किसी ने चर्चा ही नहीं की। क्या यह परम्परा भविष्य में नष्ट होनेवाली है? पण्डित को ज्ञान-आचार वृद्ध होना चाहिए और समाज को उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति करना चाहिए।"

आज समाज-आश्रित या समाज अनाश्रित विद्वान् को भविष्य की चिन्ता ही नहीं दिखती, सम्भवतः उसे वर्तमान ही अधिक महत्वपूर्ण दिखता है। दूरदर्शीपन का युग समाप्त हो गया लगता है। इस परम्परा के क्षीण होते जाने का अनुभव सभी कर रहे हैं। इसका मूल कारण यह है कि लक्ष्मीवन्दन के इस युग में सरस्वती पुत्रों को, समाज भौतिक तथा मानसिक दृष्टि से समुचित पोषण नहीं प्रदान करता। इसकी दशा 'जैन सन्देश' के ३० जुलाई ८७ के अंक के एक समाचार से अनुमान की जा सकती है जहाँ एक पण्डित को पिछले ४० वर्षों से ७३ = ०० रुपये मासिक वेतन दिया जा रहा है। विद्वत् परिषद् के ३०० = ०० रु० मासिक के न्यूनतम वेतन के प्रस्ताव की सामाजिक मान्यता का यह एक अच्छा उदाहरण है। वर्णी स्मृति ग्रन्थ १९७४ में शास्त्री[१] ने पण्डित परम्परा की क्षीणता के पांच कारण बताये हैं। समाज-आश्रित बहुसंख्यक पण्डितों की यही नियति रही है। इसके निम्न परिणाम सामने आते रहे :

(१) अधिकांश अच्छे विद्वानों का पारिवारिक जीवन कष्टमय रहा।

(२) अधिकांश अच्छे विद्वानों ने अपनी आजीविका हेतु द्वितीयक स्रोत के रूप में विभिन्न साहित्यिक, सामाजिक संस्थाओं को भी अपनी सेवाएँ देने की प्रक्रिया अपनाई।

(३) एक समय ऐसा आया कि ये द्वितीयक स्रोत व्यक्तिनिष्ठ हो गये। इनमें नये लोगों का प्रवेश असम्भव-सा लगने लगा।

(४) पण्डित ने देखा कि समाज के कर्णधार मुख्यतः धनपति ही होते हैं। उन्होंने अनुभव किया कि उनकी रुचि के अनुरूप कथनों एवं प्रवृत्तियों से ही जीविका चालू रखी जा सकती है। परिवर्तन या नवीनता के प्रति अरुचि का भी उन्हें आभास मिला। इसी के अनुरूप उन्होंने व्यवहार करना प्रारम्भ किया। वे स्थितिस्थापकता के पोषक एवं बौद्धिक जड़ता के अनुयायी बन गये।

(५) पण्डित ने पराश्रितता को तो अपनी नियति माना पर उन्होंने अपनी सन्तति को इस स्थिति से उभारने का दृढ़ अन्तःसंकल्प लिया। इसके फलस्वरूप पण्डितों की सन्ततियों के ९७% ने व्यवसायों की पैतृकता को भारतीय परम्परा को अस्वीकार किया। यह स्थिति पण्डित पीढ़ी के ह्रास का प्रमुख कारण है। वह अधिक नास्तिक एवं भौतिक बनी।

(६) अपने कुण्ठा एवं अभावग्रस्त जीवन के अभिशाप के कष्टों के अनुभव से पण्डित जनों ने किसी को भी इस क्षेत्र में आने के लिए प्रेरित नहीं किया। वे इस प्रक्रिया में धर्म-अधर्म द्रव्य के समान उदासीन बने रहे। इसके अनेक फल हुए :

(अ) किसी भी पण्डित का कोई योग्य उत्तराधिकारी न बन सका!

(ब) इस कारण पण्डितों का अपने-अपने क्षेत्रों में एकाधिपत्य तो हुआ पर भविष्य अन्धकारमय हो गया। इस स्थिति में नई पीढ़ी मध्यस्थ हो गई।

(स) समुचित प्रेरणा के अभाव में नई पीढ़ी ने आजीविका के अधिक उपयोगी क्षेत्र चुनने की स्वतंत्रता ली।

(७) विद्यमान पीढ़ी द्वारा प्रेरणा के अभाव एवं वर्तमान परिवेश में समाज से समुचित जीविका की प्रत्याशा के अभाव की आशंका से समाज द्वारा स्थापित सागर, काशी, बीना आदि की संस्थाओं की हरियाली सूखने लगी। इस समय या तो वे भग्नावशेष हो रही है या दिशा बदल रही हैं।

(८) इन परिणामों के अपवाद में भी कुछ लोग पाये जाते हैं। इनकी सेवायें भी सामान्य पण्डितों की अपेक्षा अधिक स्थायी कोटि की मानी जाती हैं।

इन परिणामों के परिप्रेक्ष्य में यदि हमें धार्मिकता एवं सामाजिकता की ज्योति प्रज्वलित रखकर जीवन को प्रगत बनाना है, तो हमें पण्डित परम्परा को सुरक्षा एवं संवर्धन की बात सोचनी होगी। हमें उपरोक्त परिणामों का विश्लेषण कर ऐसी प्रक्रिया निर्धारित करनी होगी जो इस परम्परा को क्षीण होने के कारणों का निराकरण कर सके।

यह प्रसन्नता की बात है कि इस ओर कुछ संस्थाओं का ध्यान गया है। वे नियमित संस्थाओं एवं अल्पकालिक शिविरों के माध्यम से बीसवीं सदी के आठवें दशक के उत्तरार्ध की पण्डित पीढ़ी तैयार कर रही हैं। उन्हें आर्थिक स्वावलम्बन का आश्वासन भी दिया जा रहा है। इस पीढ़ी के अगणित पण्डित आपको भाद्रपद मास में तथा अन्य अवसरों पर भारत के कोने-कोने में धर्म-ध्वज फहराते मिलेंगे। समाज में अनेक क्षेत्रों में इस पीढ़ी के प्रति आक्रोश भी व्यक्त किया जा रहा है। अनेकान्त सिद्धान्त के मानने वाले ही घोर एकान्तवाद का आश्रय लेकर मतभेदों की तीव्रता पर

उतरते दिखते हैं। वैसे पण्डितों में मतभेद कोई नई बात नहीं। इसका प्रभाव समाज को विकृत न करे, यह महत्वपूर्ण है। समाचार पत्रों की सूचनाओं से पता चलता है कि इस समय प्रमुख दो मतों के पोषक पण्डितों का अनुपात ९५ : २३५ है। इससे समाज में विकृति के लक्षण प्रकट होते दिखते हैं। विद्वानों का उत्तर है कि वे विकृति की शिक्षा नहीं देते, शास्त्रीय मार्ग का उपदेश देते हैं। पर यदि समयसार के पारायण से टीकमगढ़, ललितपुर, करेली, उज्जैन, हस्तिनापुर और अन्यत्र सिर-फुटौवल होती है, तो इसका परोक्ष मूल तो खोजना ही चाहिये। ऐसे मार्ग को सन्मार्ग में परिणत करने का उपाय क्या है? यह वर्तमान पण्डित परम्परा के सामने जटिल प्रश्न है। नयी पीढ़ी को आर्थिक स्वावलम्बन के साथ ऐसे प्रश्नों का समाधान भी खोजना होगा। यदि नई एवं भावी पीढ़ी 'आदहिदं कादव्वं' के उपदेश से प्रसूत आत्मकेन्द्रण की वृत्ति से दिगम्बर पन्थ को मुक्त कर कुछ उदारता दे सके, तो समाज पर उसका अनन्त उपकार होगा।

निर्देश

१. आशाधर, पण्डित; **अनगार धर्मामृत**, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७७ पेज १८१।

२. नाथूराम प्रेमी (सम्पा०, स्व०); **अर्धकथानक**, युवा फैडरेशन, जयपुर, १९८७, पेज ८७।

३. नेमिचन्द्र शास्त्री; **भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परम्परा**, १–४,
दि० जैन विद्वत् परिषद्, सागर, १९७४।

४. देखिए निर्देश २ पेज ४९।

५. सतीश कुमार जैन; **प्रोग्रेसिव जैन्स आव इंडिया**, श्रमण साहित्य संस्थान, दिल्ली, १९७५।

६. सोंरया, विमलकुमार; **विद्वत् अभिनन्दन ग्रन्थ**, शास्त्रि, बड़ौत, १९७६।

७. पं० दौलतराम; **जैन क्रिया कोष**, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, १९२७।

८. शास्त्री, पं० पद्मचन्द्र; **अनेकान्त**, दिल्ली, ४०, १, १९८७, पेज ३०।

९. शास्त्री, पं० जगन्मोहनलाल; **वर्णी स्मृति-ग्रन्थ**, दि० जैन विद्वत् परिषद्, सागर, १९७४, पेज ३७।

□

विन्ध्य क्षेत्र के जैन विद्वान्–१. टीकमगढ़ और छतरपुर

कमलकुमार जैन
छतरपुर

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त छोटी रियासतों के संघ में विलीनीकरण योजना के अन्तर्गत बुन्देल खण्ड और बघेल खण्ड की ३६ रियासतों को मिलाकर १९४८ में विन्ध्य प्रदेश का निर्माण हुआ था। इसमें रीवा, सतना, शहडोल, सीधी, पन्ना, छतरपुर, टीकमगढ़ और दतिया के आठ जिले समाहित हुए। विन्ध्य क्षेत्र के सांस्कृतिक विकास में जैन धर्म और संस्कृति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। बुन्देल खण्ड क्षेत्र के छतरपुर, टीकमगढ़ और पन्ना जिले तो इस दृष्टि से विपुल भण्डार के स्रोत है। जहाँ छतरपुर जिले में द्रोणगिरि, रेशंदीगिरि के समान तीर्थभूमियाँ हैं, वहीं वहाँ खजुराहो जैसे विश्वविख्यात कलातीर्थ भी हैं। उदंमऊ, धुबेला, जगत सागर, छतरपुर, जचट्ट आदि में विपुल जैन पुरातत्त्व उपलब्ध हो रहा है। टीकमगढ़ जिले में भी पपौरा, अहार, बड़ा गाँव आदि तीर्थभूमियों के अतिरिक्त भूदौर आदि स्थानों पर जैनमूर्तियाँ पर्याप्त स्थानों पर आज भी बिखरी पड़ी है। पन्ना जिले में सीरा पहाड़ी, सलेहा, अजयगढ़ आदि ऐसे स्थान हैं जहाँ विपुल जैनमूर्तियाँ हैं। इस क्षेत्र के जैन-पुरातत्वी होने के कारण इस क्षेत्र में जैन विद्वानों के अस्तित्व का अनुमान सहज ही होता है।

छतरपुर एवं टीकमगढ़ ऐसे जिले हैं जहाँ प्रायः ग्रामानुग्राम में जैन मन्दिर और समाज पायी जाती है। इससे भी अनुमान लगता है कि इस क्षेत्र में जैन विद्वान् पर्याप्त मात्रा में होने चाहिए। इनके विवरण के संकलन के लिए पर्याप्त समय एवं शोध की आवश्यकता है। प्रस्तुत विवरण इस दिशा में कार्य करने की प्रेरणा देगा, ऐसा विश्वास है। इस लेख में टीकमगढ़ एवं छतरपुर जिले के कुछ विद्वानों का विवरण देने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

टीकमगढ़ के जैन विद्वान : (१) पंडित देवीदास जो

टीकमगढ़ जिले को जैन विद्वानों की खान माना जाता है। पिछले तीन सौ वर्षों के इतिहास को देखने पर यहाँ अनेक विद्वानों का पता चला है। ये प्रतिभा के धनी थे। इन्होंने जैन साहित्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य कर सम्माननीय स्थान प्राप्त किया है।

टीकमगढ़ के विद्वानों में सर्वप्रथम श्री देवीदासजी का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इनका जन्म इस जिले के दिगौड़ा ग्राम में हुआ था। इनका विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। फिर भी, इन्होंने **जीव चतुर्भेदादि बत्तीसी** की रचना १७५३ ई० में की थी। यह उनकी पहली रचना मानी जाती है। इतना तो निश्चित है कि इस समय कवि की आयु लगभग २०–२५ वर्ष की रही होगी। अतः उनका जन्म १७२८–३३ के बीच हुआ होगा। ग्रन्थकार की अन्तिम रचना **प्रवचनसार पद्यानुवाद** है। इसे १७६७–६८ में समाप्त हुआ बताया गया है। इसमें ही ग्रन्थकार ने अपना परिचय दिया है। ये गोलालारे जाति के श्री सन्तोषमनजी के सुपुत्र थे।

देवीदासजी की रचनायें विविध रूप में हैं। अब तक इनकी २९ रचनायें प्राप्त हुई है। इनमें पूजन, भजन की अनेक रचनायें हैं। इनकी **चतुर्विंशति जिनपूजन** नामक रचना द्रोणप्रांतीय नवयुवक सेवा संघ, द्रोणगिरि (छतरपुर) ने प्रकाशित की है। इनकी रचनाओं में जीव चतुर्भेदादि बत्तीसी, परमानन्द स्तोत्र, जिन अन्तरावली, धर्म पच्चीसी, पंचपद पच्चीसी, पुकार पच्चीसी, वीतराग पच्चीसी, दर्शन छत्तीसी, अड़तीसी, बुद्ध बावनी, तीन मूढ़ता, देवशास्त्र गुरु पूजा, शीलांग चतुर्दशी, सप्त व्यसन कवित्त, दशधा सम्यक्त्व त्रयोदशी, विवेक बत्तीसी, स्वजोग राछरो, भवानराबली,

जोग पच्चीसी, पंचवरण-कवित्त, द्वादश भावना बावनी, जिन स्तुति, आदिनाथ स्तुति, २४ तीर्थङ्करों की पूजायें, अंग पूजा, फुटकर भजन, पञ्चमकाल की विपरीत दशा और प्रवचनसार पद्यानुवाद आदि प्रसिद्ध हैं। यद्यपि कवि स्वयं को अल्पज्ञ मानता है, पर इनकी रचनाओं की कोटि उत्कृष्ट मानी गई है।

कवि ने अपनी रचनायें प्रायः स्वान्तः सुखाय एवं जिन भक्तिवश लिखी है। उनकी रचनाओं में पूजन-भजनों के अतिरिक्त अनेक संस्कृत-प्राकृत आध्यात्मिक ग्रन्थों के पद्यानुवाद प्रमुख हैं। कवि ने अपनी रचनाओं में सवैया, कबित्त आदि छन्दों का प्रयोग किया है। इन्होंने सर्वतोभद्र, कटारबन्ध, कमलबन्ध आदि मिश्रबन्ध की भी रचनायें की हैं। इन रचनाओं से कवि की अद्भुत कवित्वशक्ति का परिचय मिलता है।

इनकी अधिकांश रचनाओं में आध्यात्मिकता, उद्बोधनात्मकता तथा भक्तिवाद के दर्शन होते हैं। बुन्देल खण्ड में ये अत्यन्त लोकप्रिय है। इनमें मानव मात्र को स्वयं को पहचानने का मार्ग बताया गया है। ये रचनायें हिन्दी जगत में भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

पं० ठाकुरदास जी बी० ए० शास्त्री

टीकमगढ़ जिले के यशस्वी जैन विद्वानों में पं० ठाकुरदास जी शास्त्री का महत्वपूर्ण स्थान है। आपका जन्म तालबेहट जिला ललितपुर में हुआ था। बाद में आप टीकमगढ़ मे आकर रहने लगे थे। बी० ए० एवं शास्त्री करने के पश्चात् आपने शिक्षा-विभाग में अध्यापन किया। आप संस्कृत, हिन्दी व अंग्रेजी के बहुश्रुत विद्वान् थे। जैन धर्म में विशेष रुचि होने के कारण आपने जैनशास्त्रों का गहन अध्ययन किया। आपकी प्रतिभा से तत्कालीन ओरछा नरेश श्री वीरसिंहजू देव अत्यन्त प्रभावित थे। साहित्यिक रुचि के कारण श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी और श्री यशपाल जैन से भी आपका सम्बन्ध रहा। आध्यात्मिक सन्त पंडित गणेश प्रसाद जी वर्णी भी आपसे अत्यन्त अनुराग रखते थे।

बाबूजी शिक्षा-संस्थाओं के संचालन में बड़े दक्ष थे। इसीलिये आप श्री वीर दि० जैन संस्कृत विद्यालय, पपौरा के १८ वर्ष तक मंत्री रहे। आपके मंत्रित्व काल में विद्यालय की बड़ी उन्नति हुई। उनके समय में विद्यालय से ऐसे योग्य छात्र निकले जो आज जैनों में चोटी के विद्वान् गिने जाते हैं। निःसंदेह बाबूजी एक सजीव संस्था थे। आपका जीवन सादा और विचार उच्च थे।

बाबूजी कुशल लेखक और वक्ता थे। आपके अनेक महत्वपूर्ण लेख है जो वर्तमान शोधकर्ताओं के लिये मार्ग दर्शक हैं। आपका लेख, "अहार नारायणपुर ऐतिहासिक स्थल है" महत्वपूर्ण एव खोजपूर्ण है। यह अहार की प्राचीनता एव पुरातत्व की सामग्री पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। आपने अतिशय क्षेत्र पपौरा का परिचय भी "पपौराष्टक" के नाम से संस्कृत में लिखा है। आपने संस्कृत मंगलाष्टक का हिन्दी में पद्यानुवाद भी किया है। आप अपने समय के प्रभावी विद्वान् एवं वक्ता रहे हैं।

प्रो० सुखनन्दन जी

प्रो० सुखनन्दनजी टीकमगढ़ जिले के व्युत्पन्न विद्वान, कुशल एवं निर्भीक लेखक और वक्ता के रूप में जाने जाते रहे। आपका जन्म बरमा ताल नामक छोटे से ग्राम में हुआ था। आपने संस्कृत-हिन्दी में एम० ए० एवं साहित्याचार्य की उपाधियां प्राप्त की। आप एक साथ हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी के विद्वान् रहे हैं। आपने सहारनपुर गुरुकुल में प्रधानाचार्य एवं व्याकरण-साहित्याध्यापक के पद पर कार्य किया। आप बहुत समय तक श्री दि० जैन स्नातकोत्तर महा-विद्यालय, बड़ौत में रीडर एव संस्कृत विभागाध्यक्ष रहे हैं। जैनदर्शन में नयवाद पर शोध प्रबन्ध लिखकर पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। आपकी रुचि अध्ययन, चिन्तन, प्रवचन और लेखन में रही हैं। आप उच्च कोटि के लेखक एवं

प्रभावक वक्ता रहे हैं। आप अपनी योग्यता के बल पर मेरठ विश्वविद्यालय में बोर्ड आफ स्टडीज एवं संस्कृत परिषद् के सदस्य रहे हैं। आपकी योग्यता, समाज-सेवा एवं साहित्य-सृजन से प्रभावित होकर वीर निर्वाण भारती ने समाज-रत्न की उपाधि एवं २५००।- रु० का पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया। समाज का यह होनहार, योग्य विद्वान असमय में ही इस धरा से सदैव के लिये उठ गया।

श्री पं० खुन्नी लाल जी (१९००—१९८८)

निरन्तर शास्त्र स्वाध्याय में रत श्री पं० खुन्नी लाल जी (अब ज्ञानानन्द जी) का जन्म १९०० में हुआ था। धर्म, न्याय, व्याकरण का अध्ययन करने के पश्चात् आपने व्यवसाय करना प्रारम्भ किया। आप समाज सेवा के क्षेत्र में हमेशा आगे रहे हैं। श्री दिगम्बर जैन विद्यालय, पपौरा जी के सम्वर्धन में आपकी सेवायें मंत्री—अध्यक्ष के रूप में प्राप्त होती रही हैं। आपने अकलंक सरस्वती सदन, "ज्ञानामृत" पुस्तकालयों की स्थापना की। आपके प्रवचन प्रभावशाली होते हैं। आप ज्ञान और चरित्र के धनी हैं। आप अत्यन्त सरल स्वभाव के हैं और अनोखी सूझबूझ के हैं। इसीसे वे समाज की जटिल से जटिल गुत्थियों को आसानी से हल कर देते हैं। सामाजिक वैमनस्य को तो आप इस तरह खत्म करा देते हैं जैसे कभी रही ही न हो। दीन-अनाथों के प्रति आप दयालु प्रकृति के हैं। ज्ञान, चारित्र और मृदु व्यवहार से आप समाज में बहुमान्य हैं।

श्री पं० गोविन्द दास जी (१९१९—)

पुरातत्त्व की खान अहार, जिला टीकमगढ़ में पं० गोविन्द दास जी का जन्म सन् १९१९ में हुआ। कोठिया वंश में जन्म लेने के कारण आप अपने नाम के साथ कोठिया भी लिखते हैं। आपने एम. ए., साहित्याचार्य, न्यायतीर्थ की परीक्षायें उत्तीर्ण करने के पश्चात् अहार, इन्दौर, मुरैना आदि के जैन विद्यालयों में प्रधानाचार्य के रूप में कार्य किया है।

आपमें साहित्यिक प्रतिभा है। आपकी रचनाओं में ज्ञानमाल पच्चीसी, अहार वैभव, अमरसन्देश, अहार दर्शन, प्राचीन शिलालेख (अहार) प्रकाशित हैं तथा शान्तिनाथ संग्रहालय की परिचयात्मक सूची, चन्द्रप्रभु चरित, चौथा सर्ग की हिन्दी-संस्कृत टीका, धर्मशर्माभ्युदय छठवाँ सर्ग की हिन्दी-संस्कृत टीका, अहार का इतिहास, रांगा की चाँदी नाटक अप्रकाशित महत्वपूर्ण रचनायें हैं। आप संस्कृत, हिन्दी और व्याकरण के विद्वान है तथा अध्यापन-अध्ययन-लेखन ही आपके प्रमुख कार्य हैं। आप अत्यन्त सरल, विनम्र और मृदु स्वभावी हैं। आपके द्वारा रचित साहित्य महत्वपूर्ण है। अप्रकाशित साहित्य को शीघ्र प्रकाशित करने के लिये प्रकाशकों की प्रतीक्षा है। आप कुशल वैद्य भी हैं।

पं० किशोरी लाल जी (१९०५—१९५३)

प्रतिष्ठा विशेषज्ञ पं० किशोरी लाल जी शास्त्री मूलतः मालथौन जिला सागर के निवासी हैं। आपका जन्म १९०५ में हुआ था। शास्त्री तक शिक्षा ग्रहण करने के उपरांत आपने सादूमल एवं पपौरा विद्यालय में शिक्षण कार्य किया। सन् १९४३ से आप अपना स्वतंत्र व्यवसाय करने लगे। आपने प्रतिष्ठा ग्रंथों का अध्ययन कर प्रतिष्ठा कार्य किया। नौ वर्ष तक आप जैनगजट के सह-सम्पादक रहे हैं। आपने विधवा-विवाह मीमांसा, शूद्र जलत्याग मीमांसा आदि महत्वपूर्ण लेखों द्वारा समाज को स्वस्थ विचार दिये हैं। आपका जीवन सादा, सरल था और धार्मिक श्रद्धा अटूट थी।

श्री पं० गुलाब चन्द्र जी पुष्प (१९२४—)

ककरवाहा जिला टीकमगढ़ के जन्मे 'पुष्प' उपनाम से प्रसिद्ध मृदुभाषी, सरल, श्री गुलाब चन्द्र जी पुष्प ज्योतिष, वैद्यक और प्रतिष्ठा के निष्णात विद्वान् हैं। संगीत में विशेष रुचि होने से आपके द्वारा कराये जाने

वाले धार्मिक आयोजन प्रभावक होते हैं। आप का जन्म अषाढ़ शुक्ल ८ सन् १९२४ में हुआ था। आपकी साहित्य रचना में भी रुचि होने के कारण पंचकल्याणक भजन आदि आपने स्वयं रचे हैं। चिकित्सा विद्वान् एवं विधि-विधान संग्रह आपकी सम्पादित रचनायें हैं। प्रतिष्ठा कार्यों में आप सिद्धहस्त हैं। आपने सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि, किशनगढ़, खजुराहो, सरधना, हस्तिनापुर, अहमदाबाद, बीनाबारहा आदि स्थानों में पंचकल्याणक जिनबिम्ब प्रतिष्ठा एवं महा गजरथ महोत्सव जैसे विशाल महोत्सव बड़ी कुशलता, योग्यता, प्रभावना और निर्विघ्नता से सम्पन्न कराये। आपको द्रोणप्रांतीय नवयुवक सेवा-संघ ने १९७७ में सम्मानित कर वाणीभूषण की उपाधि से विभूषित किया है।

पं० कमल कुमार जी शास्त्री

वाणीभूषण पं० कमल कुमार जी नारायणपुर, जिला टीकमगढ़ के निवासी है। अहार, पपौरा एवं इन्दौर के विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करने के उपरांत आपने श्री दि० जैन वीर विद्यालय, पपौरा में कुछ समय तक प्रधानाध्यापक के पद पर कार्य किया। आप कुशल एवं प्रभावी वक्ता हैं। अहमदाबाद में आपको वाणीभूषण की उपाधि से अलंकृत किया गया है।

आपमें साहित्य के प्रति रुचि है। **पपौरादर्शन** आपकी पद्य रचना है। साथ ही, समय-समय पर जैन पत्रों में समाज सुधारक लेख प्रकाशित होते रहते हैं। आपने १९६४ में **गजरथ पत्रिका पपौरा जी** का सम्पादन भी किया है। आप मृदुभाषी, प्रसन्नचित्त, उदार और कर्मठ सामाजिक कार्यकर्त्ता भी हैं।

पं० पूर्ण चन्द्र जी "सुमन"

ककरवाहा जिला टीकमगढ़ के विद्वान् सुमन नाम से प्रसिद्ध पं० पूर्णचन्द्र जी ने काव्यतीर्थ, शास्त्री तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद शाहगढ़, नवापारा राजिम के जैन विद्यालयों में बहुत समय तक अध्ययन कार्य किया। इसके पश्चात् दुर्ग में स्वतंत्र व्यवसाय स्थापित किया है। पूज्य वर्णी जी से प्रभावित एवं प्रेरणा प्राप्त कर आपने कविता करना प्रारम्भ किया। संगीत में विशेष रुचि के कारण **सुमन संगीत सरिता** की रचना की। इसके अलावा नेमी काव्य, भक्तामर पद्यानुवाद, अभिनय, नाटक एवं संवादों की रचना की है। आप प्रायः सामाजिक संगठन एवं सुधारात्मक लेखों को लिखते हैं जो जैन मित्र, छत्तीसगढ़ केसरी, दैनिक नवभारत आदि में समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं। राजनीति में भी आप सक्रिय हैं।

जैन विद्वानों की दृष्टि से निःसंदेह टीकमगढ़ जिला विद्वानों की खान रहा है। यहाँ अनेक योग्य विद्वान्, साहित्यकारों व लेखकों ने जन्म लेकर जैन समाज, संस्कृति एवं धर्म की महान् सेवा करते हुये राष्ट्र की भी महती सेवा की है। उपरोक्त विद्वानों के अतिरिक्त पठा निवासी पं० बारे लाल जी ने, जिन्हें सर्वसाधारण राजवैद्य के नाम से जानती है, लगभग ४० वर्ष से अधिक अहार क्षेत्र के मंत्री के रूप में महती सेवा की है, प्रसिद्ध ज्योतिषी और वैद्य रहे हैं। बरमाताल के श्री ब्रजलाल जी एम. ए., एम. एड., कारी निवासी पं० रतन चन्द्र जी, एरोरा जिला टीकमगढ़ के श्री पं० सरमन लाल जी उपनाम दिवाकर, मवई के पं० बाबूलाल जी सुधेश, जतारा जिला टीकमगढ़ के पं० घनश्याम दास जी शास्त्री आदि ऐसे विद्वान् हैं जिनके द्वारा जैन धर्म और संस्कृति की महती सेवा हो रही है। ये सामाजिक संगठन के लिये महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

छतरपुर जिले में जैन विद्वान्

पुराने विन्ध्य-प्रदेश में छतरपुर जिला जैन संस्कृति, पुरातत्त्व और साहित्य से सम्पन्न रहा है। यहाँ जैन संस्कृति एवं पुरातत्त्व के प्रतीक श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि, रेशन्दीगिरि (नैनागिरि) एवं कलातीर्थ खजुराहो के अलावा छतरपुर के समृद्ध विशाल जैन मन्दिर, डेरा पहाड़ी स्थित चहार दीवारी के अन्दर चार विशाल जैन मन्दिर,

मेला ग्राउन्ड में स्थित जैन मन्दिर, उर्द मऊ का प्राचीन शान्तिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, धौरा के विशाल जैन मन्दिर, जगत सागर के जैन मन्दिर, अचट्ट में प्राप्त प्राचीन जैन प्रतिमायें इस बात के जीवन्त प्रमाण हैं। जिले में लगभग ३०% ग्रामों में जैन समाज और जैन मन्दिर हैं। जिले में जैन समाज की पर्याप्त संख्या होने पर निश्चत ही विद्वानों की बहुलता होनी चाहिये। इस दृष्टि से जब हम इतिहास देखते हैं तो लगभग ३०० वर्षों से यह प्रमाण मिलते हैं कि यहाँ पर्याप्त जैन विद्वान् रहे हैं। इन्होंने अपने धर्माराधन के अलावा साहित्य सम्बर्द्धन एवं सृजन में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। गौड़ राजाओं की पूर्व राजधानी खटौला में जैन समाज बहुमान्य रहा। वहाँ भी—विद्वानों की परम्परा रही है। वर्द्धमान पुराण के रचयिता पं० नवल शाह खटौला के ही मूल निवासी थे। बाद में आपने भेलसी जिला टीकमगढ़ अपना निवास बनाया। उन्होंने अपने ग्रंथ के अन्त में अपना परिचय दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि उनके पूर्वज तो भेलसी के निवासी थे। ये खटौला में रहते थे। छतरपुर में स्थित डेरा पहाड़ी (जिसे पांडे बाबा भी कहते हैं) पर पं० भागवली और बाल किशुन के रहने का उल्लेख मिलता है। इनका कार्य शास्त्र लिखने का रहा है। पर्याप्त प्रयास करने पर छतरपुर जिले के जिन जैन विद्वानों की जानकारी प्राप्त हो सकी है और जिन्होंने जैन धर्म, समाज एवं साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना योगदान दिया है, उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है। यह शोधकर्ताओं के लिये लाभकारी होगा, ऐसी आशा है।

कविवर पण्डित नवल शाह (१७४३–)

वर्द्धमान पुराण के रचयिता कविवर नवल शाह के पूर्वज टीकमगढ़ जिला के ग्राम भेलसी के निवासी थे। बाद में ये खटोला में आ गये थे जो छतरपुर जिले की विजावर तहसील में बड़ामलहरा के पूर्व में लगभग १० मील की दूरी पर स्थित है। पूर्व में यह ग्राम उन्नत ग्राम रहा है और गौड़ राजाओं की राजधानी रहा है। जैन समाज के साथ ही सभी सम्प्रदाय के व्यक्ति निवास करते थे। वर्तमान में यह ग्राम ऊजड़ हो गया है और मात्र कुछ कृषकों के घर ही वहाँ पर स्थित हैं। कवि ने अपनी रचना में स्वयं अपना परिचय दिया है।

नवलशाह के वंशज प्रकृति प्रकोप के कारण ग्राम भेलसी छोड़ खटौला में आ गये थे। इनके पिता का नाम देता राम और माता का नाम प्रानमति था। ये चार भाई थे जिनमें जेष्ठ नवलशाह ही थे। इसके अलावा तुलाराम, घासीराम और खुमान सिंह अन्य भाई थे।

नवलशाह जैन सिद्धान्त के अधिकारी विद्वान् थे और ये काव्यगत सभी छंदों के ज्ञाता थे। इन्होंने सकल कीर्ति आचार्य के वर्धमान पुराण के आधार पर **वर्धमान पुराण की पद्यात्मक रचना** की है। कवि ने पूर्ण विद्वान् होते हुये भी अपनी लघुता को प्रगट किया है। उन्होने वर्द्धमान पुराण की रचना भक्तिवश एवं स्वान्त:सुखाय की। इसे ग्रंथ के अन्त में कवि ने स्वयं भी लिखा है।

कवि ने अपने जन्म के सम्बन्ध में कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। अपने ग्रन्थ में उन्होंने यह उल्लेख तो किया है कि ये गोलापूर्व चंदेरियावंश के थे। अत: इनका समय निर्धारण इनके द्वारा रचित वर्द्धमान पुराण की समाप्ति सम्वत् से किया जा सकता है। वर्धमान पुराण की समाप्ति वि० सं० १८२५ फागुन शुक्ल पूर्णमासी बुधवार सन् १७६८ को हुई है। इससे यह अनुमान तो लगाया ही जा सकता है कि कवि का जन्म इस सम्वत् से कम २५-३० वर्ष पूर्व अवश्य हुआ होगा। अत: इनका जन्म काल १७४३ से पूर्व का होना चाहिये।

कवि द्वारा रचित वर्द्धमान पुराण की रचना १६ अधिकारों में हुयी है। कवि ने इस पुराण की रचना १६ अधिकारों में ही क्यों की, इसका औचित्य स्वयं कवि ने ही बताया है। उन्होंने सोलह स्वप्न, षोडश कारण भावना, सोलह स्वर्ग तथा चद्रमा की १६ कलाओं में सोलह की संख्या का महत्व देखा और अपने पुराण में सोलह अध्याय रखे। इस पुराण में आपने जैन-जातियों के सम्बन्ध में भी विवरण दिया है।

कवि ने अपने ग्रन्थ में छप्पय, चौपाई, दोहा, गीतिका आदि सभी छन्दों का उपयोग किया है। इससे कवि के छन्दशास्त्र और काव्यगत सभी विशेषताओं की विशेषज्ञता का पता चलता है। यह ग्रन्थ जैन सिद्धान्त के मर्म से भरा-पूरा है। इसमें महावीर का सम्पूर्ण चरित्र बड़ी सुन्दरता के साथ लिखा गया है।

कविवर पण्डित जवाहर लाल जी

छतरपुर में जन्मे जवाहर लाल जी ऐसे कवियों में से हैं जो महत्वपूर्ण अवसरों पर प्राय: स्मरण किये जाते हैं। जैन सम्प्रदाय के संयम और साधना के पर्व दश लक्षण के अन्तिम दिन हम अपने कवि का स्मरण उनके द्वारा रचित ढारों के माध्यम से (जो कलशाभिषेक के समय की जाती है,) करते हैं। छतरपुर नगर में हर दश लक्षण की चतुर्दशी को कलशाभिषेक के समय आज भी कविवर पण्डित जवाहर लाल जी द्वारा रचित ढारों का ही वाचन किया जाता है।

जवाहर लाल जी के पिता का नाम मोतीलाल था और ये भारूमूरी भारिल्ल गोत्र के थे। इनके मामा अमरावती में रहते थे। वि० सं० १८९१ सन् १८३४ के लगभग वे छतरपुर छोड़कर अमरावती चले गये।

उन्होंने पंचकल्याणक विधान, सम्मेद शिखर सिद्ध क्षेत्र पूजा, मुक्तागिरि पूजा, अन्तरिक्ष प्रभु अन्तरजामी आदि की रचना की। आप की कविता-शक्ति अनोखी थी। जैन सिद्धान्त का गहन अध्ययन था। आपकी रचनाओं में अध्यात्म ही अध्यात्म भरा है। कवि की पदावली में ३१ सरस पद संकलित हैं। ये पद संसार की असारता के द्योतक हैं तथा मनुष्य जीवन की सार्थकता की ओर संकेत करने वाले हैं।

कवि का दृष्टिकोण संकुचित नहीं है। उन्होंने अपने पदों में प्राणीमात्र को भी सम्बोधित कर सही मार्ग दिखाया है। कवि ने कहा है कि वह संसार में अकेला ही आया है, अकेला ही जावेगा, कोई साथी नहीं है। इससे भव संसार से पार उतारने के लिये भगवान् से प्रीति कर। ऐसे अनेक पद हैं जिनके माध्यम से कवि ने प्राणी को अपने दुर्लभ मानव जीवन का सदुपयोग कर शुभगति प्राप्त करने की सलाह दी है। कवि ने सोरठा, लावनी, दोहा, कहरवा आदि का प्रयोग किया है। कवि की रचनायें जैन साहित्य में श्रेष्ठ स्थान रखती हैं। इनका व्यक्तिगत जीवन शोध का विषय है।

पं० परमानन्द जी शास्त्री (१९०८–१९७९)

जैन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति के अधिकारी विद्वानों की श्रेणी में पं० परमानन्द जी शास्त्री का नाम पहले लिया जाता है। पं० परमानन्द जी का जन्म छतरपुर जिले में रेशन्दीगिरि (नैनागिरि) के निकट ग्राम निवार में श्रावण कृष्ण ४ वि० सं० १९६५ (सन् १९०८) को हुआ। आपके पिता स० सिंघई श्री दरयाव सिंघई एवं माता मूलाबाई थीं। ग्राम में ही प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर से न्यायतीर्थ, न्यायशास्त्री की शिक्षा ग्रहण की। बुन्देलखण्ड के आध्यात्मिक सन्त पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी से जैन न्याय के प्रमेय कमल मार्तण्ड, अष्ट सहस्री जैसे अत्यन्त कठिन ग्रंथों का अध्ययन किया। खतौली, सलावा और शाहपुर के जैन विद्यालयों में अध्यापन कार्य करने के पश्चात् १९३६ में श्री वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट सरसावा मे इतिहासविद् जुगल किशोर जी मुख्तार के सान्निध्य में पहुँच गये। आपकी रुचि निरन्तर प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन में रहती थी। इससे सौभाग्य से आपको अपनी रुचि के अनुसार ग्रंथों के आलोड़न, अध्ययन और प्रकाशन स्थल वीर सेवा मन्दिर जैसा स्थान मिला जहां आपने जैन साहित्य-संस्कृति की जो महान् सेवा की है, वह जैन साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित है।

पंडित जी पत्रकारिता में अग्रणी विद्वान् रहे हैं। आपने अनेक महत्वपूर्ण, खोजपूर्ण शोध निबन्धों को लिखा है। प्राचीन विद्वानों की अप्रकाशित महत्वपूर्ण रचनाओं की खोज की और उनका जीवन परिचय एवं उनकी

रचनाओं पर लेख समाज के सामने लाने का श्रेय लिया। आपने प्राचीन विद्वानों में देवीदास जी दिगौड़ा और उनके द्वारा रचित अनेकों रचनायें, जो यत्र-तत्र शास्त्र भण्डारों में हस्तलिखित रूप में पड़ी थी, खोज कर और उनके प्रकाशन की व्यवस्था कर दुर्लभ महत्वपूर्ण जैन भजन, पूजायें समाज को सुलभ की हैं। द्रोण प्रान्तीय नवयुवक सेवा संघ, द्रोण-गिरि द्वारा वर्तमान चौवीसी जिन पूजन का प्रकाशन आपकी ही प्रेरणा से हुआ है। आपने लगभग ३०० शोधपूर्ण निबन्ध लिखे हैं जो अनेकान्त, जैन सन्देश शोधांकों, जैन सिद्धान्त भास्कर आदि महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये हैं। उनके निबन्धों का ही एक पृथक से संकलन कर प्रकाशन किया जाय, तो निःसन्देह जैन साहित्य पर शोध करने वाले शोधार्थियों के लिये अनोखा संदर्भ-ग्रंथ बन सकेगा। आपका साहित्य के क्षेत्र में इतना विशाल कार्य है कि यदि कोई विश्वविद्यालय इनके शोधपूर्ण निबन्धों और साहित्यिक कार्यों का आकलन करे, तो डी. लिट् की सम्मानित उपाधि प्राप्त हो सकती है। इतिहास, पुरातत्व की मासिक पत्रिका अनेकान्त के आप बहुत समय तक सम्पादक रहे हैं।

पंडित जी ने अपने जीवन में जैन साहित्य का खूब चिन्तन, मनन और लेखन किया है। जैन सिद्धान्त के महत्वपूर्ण आगमग्रन्थ मोक्षमार्ग प्रकाशक, अनुभव प्रकाश, जैन ग्रन्थ प्राभृत संग्रह, द्वितीय भाग, जैन तीर्थयात्रा संग्रह, जिनवाणी संग्रह, पुरातन जैन वाङ्मय सूची आदि का सम्पादन, एकी भाव स्तोत्र, समाधितंत्र, इष्टोपदेश का अनुवाद एवं जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह प्रथम भाग का सहसम्पादन आपने बड़ी कुशलता से किया है। आपने नेमीनाथ पुराण, अर्थ प्रकाशिका की महत्वपूर्ण भूमिका लिखकर इन ग्रन्थों का महत्व बढ़ा दिया है।

निःसन्देह आप जैन साहित्य के क्षेत्र में ऐसे अनोखे विद्वान् हुए हैं जिसके लिए 'न भूतो न भविष्यति' की उक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती हैं।

पुरातत्वविद् बालचन्द्र जी एम० ए० (१९२४—　　)

श्री बालचन्द्र जी का मध्यप्रदेश के पुरातत्वविदों में महत्वपूर्ण स्थान है। आपका जन्म सिद्ध-क्षेत्र द्रोणगिरि के पार्श्व भाग में स्थित ग्राम गोरखपुर में हुआ। आपने काशी से प्राचीन भारतीय इतिहास-संस्कृति एवं पुरातत्व में एम० ए० की शिक्षा प्राप्त कर प्रिन्स आफ वेल्स म्यूजियम बम्बई में संग्रहालय विज्ञान का प्रशिक्षण प्राप्त किया। इसके बाद आप मध्य प्रदेश शासन के पुरातत्व विभाग में विभिन्न पदों पर कार्यरत रहे।

आपकी लिखने में रुचि थी। इससे पौराणिक आख्यानों को आप लिखते रहे। **आत्म समर्पण** और **राहुल खण्डकाव्य** आपकी प्रकाशित रचनायें हैं। इसके बाद १९४७ से आपकी रुचि पुरातत्व एवं मुद्राशास्त्र की ओर गई और तब से पुरातत्व सम्बन्धी महत्वपूर्ण लेखों को लिख कर पुरातत्व की महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में प्रकाशित कराते रहे। पुरातत्व की पत्रिका एपिग्राफिया इण्डिका, जरनल आफ इन्डियन म्यूजियम, जरनल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इन्डिया, जरनल आफ इन्डियन हिस्ट्री, उड़ीसा-हिस्टारिक जरनल आदि में आपके लेख प्रकाशित होते रहे हैं। आपका जैन प्रतिमा विज्ञान मूर्तिकला का ज्ञान कराने वाला महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अलावा छत्तीसगढ़ का इतिहास और छत्तीसगढ़ के उत्कीर्ण लेख भी महत्वपूर्ण हैं। ये दोनों रचनाएँ अभी अप्रकाशित हैं। आपने कला मासिक पत्रिका एवं जरनल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसाईटी आफ इन्डिया का सम्पादन भी किया है। आप पुरातत्व विभाग में उप संचालक पद से सेवानिवृत्त हुये हैं। आपने अपने सेवा काल में रायपुर एवं जबलपुर के पुरातत्व संग्रहालयों की साजसज्जा की हैं। शान्ति नाथ जैन कला संग्रहालय खजुराहो की साजसज्जा भी आप अपने ही निर्देशन में करा रहे हैं। आपने हिन्दी में पुरातत्व विषयक एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखा है जो प्रकाशन की प्रतीक्षा में है। इस समय आप जबलपुर में रहते हैं।

श्री ब्रजलाल जी छतरपुर (१७७४—)

विद्वत् परम्परा में छतरपुर नगर के श्री ब्रजलाल जी का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इनका जन्म सन् १७७४ में हुआ था। पिता का नाम सल्ले था। आप कपड़े का व्यापार करते थे और टोपियाँ बनाने का कारखाना भी था। आप कुशल वैद्य थे। आप का स्वभाव विनोदी था और ज्योतिष में आपकी रुचि थी। धर्म में प्रकाण्ड श्रद्धा थी। समैया होते हुये भी मूर्ति पूजा में विश्वास रखते थे। अपने दैनिक कार्यों के अलावा जो समय बचता था, उसमें आप शास्त्रों का लेखन करते थे। आप अच्छे कवि और नाटककार के रूप में जाने जाते रहे हैं। आप द्वारा रचित **दशहरे का बलिदान** नाटक से प्रभावित होकर तत्कालीन राजा श्री विश्वनाथ सिंह ने तालाबों में मछली मारना, शिकार-खेलना, बलिदान, धार्मिक पर्वो पर वधशालाओं को बन्द रखने का आदेश प्रसारित किया था। आप अच्छे समाज सुधारक भी थे। समाज में फैली कुरीतियों के निवारणार्थ उन्होंने साहित्य का सृजन किया। कवि की रचना **वनिता-विहार** कुरीतियों के निवारणार्थ गीत, दादरा, गजल, बनरा आदि का संग्रह है।

ब्रज लाल जी के समय में विवाह आदि के अवसर पर कुछ ऐसी कुरीतियाँ थीं जो द्रव्य खर्च होने के साथ ही अशोभनीय भी लगतीं थीं। इनका उन्होंने जोरदार विरोध किया है। कवि ने बाल-वृद्ध-विवाह और कन्या-विक्रय का भी विरोध किया है। आभूषण प्रिय नारी के लिए सच्चे आभूषण क्या हैं, इस पर भी कवि ने लिखा है। कवि तारण पंथ को मानने वाला था। अतः तारण स्वामी के ग्रन्थों में भी शंका होने पर उसके सम्बन्ध में भी कवि ने लिखा है। कवि ने पर स्त्री-सेवन जैसे दुष्कर्मों के प्रति भी आगाह करते हुये चेतावनी दी है।

कवि राष्ट्र प्रेमी भी थे। इनकी **दशहरे का बलिदान** नामक रचना राष्ट्र-प्रेम से ओत-प्रोत है। कवि की अन्य स्फुट रचनायें भी हैं जो सभी धार्मिक भावना से ओतप्रोत समाज सुधार की ओर अग्रसर है।

पं० गोरेलाल जी शास्त्री (१९०८—)

सन् १९०८ में पं० गोरेलाल जी शास्त्री का जन्म पावन भूमि सिद्ध-क्षेत्र द्रोणगिरि में हुआ। आप दो भाई और एक बहिन हैं। जेष्ठ श्री विहारी लाल जी तथा बहिन का स्वर्गवास हो गया है। आपके पिता श्री भूरे लाल जी थे। प्रारंभिक शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् साढ़मल, ललितपुर तथा इन्दौर के जैन विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण की। बुन्देलखण्ड के आध्यात्मिक संत पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी के सम्पर्क में आने पर सन् १९२८ में प्रान्त में व्याप्त अज्ञान अन्धकार को मिटाने के लिए सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि में पूज्य वर्णी जी ने गुरुदत्त दि० जैन संस्कृत विद्यालय की स्थापना की और उसके संचालन का भार आपके सबल कन्धों पर रखा। आप उत्साही, सुयोग्य विद्वान् तो थे ही, ज्ञान-पिपासु होने के कारण ज्ञानार्जन कैसे-किस प्रकार किया-कराया जाता है, यह आप जानते थे। अतः आपने बड़ी ही योग्यता और उत्साह के साथ विद्यालय का संचालन किया। परिणाम स्वरूप, थोड़े से समय में ही विद्यालय लोकप्रिय हो गया और शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्रों की एक खासी भीड़ आने लगी। आपने स्थापना काल से सन् १९६४ तक विद्यालय में प्रधानाचार्य के पद पर रह कर सैकड़ों विद्वानों को तैयार किया है।

आपने न केवल शिक्षा के क्षेत्र में ही कार्य किया है, अपितु सामाजिक उत्थान के क्षेत्र में भी प्रारंभ से कार्य किया और प्रान्त में व्याप्त कुरीतियों, मरण भोज, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, दहेज-प्रथा आदि को भी दृढ़ता से दूर करने में अपना योगदान दिया। द्रोण प्रान्तीय सेवा परिषद् के माध्यम से आपने प्रान्त में समाजोत्थान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं।

पंडित जी प्रतिभाशाली रहे हैं। काव्य प्रतिभा जन्मजात होने के कारण आपने साहित्य के क्षेत्र में कम कार्य नहीं किया। आपने बारह भावना, जैन गारी संग्रह, सुमन संचय, द्रोणगिरि पूजन, भक्ति पीयूष, द्रोणगिरि

वन्दना की रचना कर जैन साहित्य में श्रेष्ठ साहित्य की सर्जना की है। विवाह के समय प्राय: अभद्र गारियों का प्रचलन होने की पद्धति बहुत अखरी और उन्होंने इसको मिटाने के लिए सुन्दर धार्मिक, शिक्षाप्रद गारियों की रचना कर उनके स्थान पर प्रचलित कराया। आपके द्वारा रचित **जैन गारियां** आज भी महत्वपूर्ण पर्वों पर गायी जाती हैं। बारह भावना तो पं० जी की एक अनोखी रचना है। उन्होंने इसके माध्यम से संसार की असारता का सुन्दर चित्रण किया है। व्यक्ति अपने कर्मों के द्वारा ही फल प्राप्त करता है। जो जैसा करेगा, वह वैसा ही भरेगा। पंडित जी ने इस तथ्य को एक नई भावना के द्वारा व्यक्त किया है। वास्तव में इन भावनाओं के माध्यम से जैन सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त होता है। रचना सरल, सुबोध और हृदयस्पर्शी है और भावनाविभोर करने वाली है।

आप सम्पादन और लेखन कला में भी पीछे नहीं हैं। आपने रामविलास तथा नाममाला का कुशलता के साथ सम्पादन किया है। चिदानन्द स्मृति-ग्रन्थ, जो वास्तव में शोधार्थियों के लिए एक महत्वपूर्ण संदर्भ ग्रन्थ है, के आप प्रधान सम्पादक रहे। अध्यापन काल में आप **मार्तण्ड** हस्त लिखित मासिक पत्रिका का सम्पादन करते थे और छात्रों को पत्रकारिता, सम्पादन का कार्य सिखलाते रहे हैं। सम्यग्दर्शन पर पूज्य वर्णी जी के प्रवचनों का भी आपने सम्पादन किया है।

वर्तमान में आप त्याग के मार्ग का अनुसरण करते हुये संन्यासियों को धार्मिक शिक्षा एवं प्रवचन का लाभ देते हुये आत्म-कल्याण में लगे हुये हैं। आपने अब द्रोणगिर के व्रती आश्रम को अपना कार्यक्षेत्र बनाया है।

पं० मकुन्दी लाल जी फोजदार

द्रोणगिरि में फोजदार वंश एक ऐसा वंश है जिसमें गत चार पीढ़ियों में विद्वान् हुये हैं। पं० मुकुन्दी लाल जी फौजदार एक कुशल प्रतिष्ठाचार्य के साथ ही कवि भी रहे हैं। इन्होंने सुन्दर धार्मिक भजनों की रचना की है। उनका एक भजन "कभी भी अवसर मिलेगा हमको, स्वरूप निज में समायगें हम" मार्मिक भजन हैं। हमें खेद है कि परिवार वालों ने उनके द्वारा रचित भजनों को भी सुरक्षित नहीं रख पाया और निश्चित ही साहित्य जगत् में एक अच्छे धार्मिक गीत साहित्य की कमी हो गई। पं० मकुन्दी लाल जी के सुपुत्र राम बगस जी भी उसी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले विद्वान् हुए हैं। प्रतिष्ठाचार्य के अलावा आप कुशल चिकित्सक भी थे। आप में स्वभाविक काव्य प्रतिभा थी। आपके द्वारा रचित भजनों का संग्रह राम विलास के रूप में प्रकाशित है। राम विलास एक गायन मंजरी हैं। उसमें संग्रहीत भजन बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

पं० कमलापति जी फोजदार

पं० राम बगस जी के सुपुत्र पं० कमलापत जी भी प्रतिष्ठाकार्यों में दक्ष थे।

पं० मोती लाल जी फोजदार

पं० कमलापत जी की परम्परा को उनके सुपुत्र पं० मोती लाल जी ने आगे बढ़ाया। जहाँ तक मुझे स्मरण है इस परम्परा में पं० मोती लाल जी ही योग्यतम और अन्तिम विद्वान् थे। आपने महत्वपूर्ण विशाल प्रतिष्ठाओं, गजरथों को शुद्ध दिगम्बर आम्नाय से सम्पन्न कराया। प्रतिष्ठाकार्यों में सिद्धहस्त होने के साथ सम्पादन कला में भी कुशल थे। आपके द्वारा सम्पादित दीप मालिका पूजन, वर्तमान चतुर्विंशति जिन पूजा विधान द्रोण प्रांतीय नवयुवक संघ, द्रोणगिरि द्वारा प्रकाशित रचनायें हैं।

पं० कमल कुमार शास्त्री एम. ए.

द्रोणगिरि की विद्वत् परम्परा में श्री पं० गोरे लाल जी शास्त्री के सुपुत्र श्री कमल कुमार का नाम उल्लेखनीय है। इसके द्वारा सामाजिक सेवा के साथ ही साहित्य सृजन का कार्य भी हो रहा है। वर्तमान में जिन मूर्ति प्रशस्ति लेख, जैन तत्वदर्शन, द्रोणगिरि, क्षु० चिदानन्द महाराज आदि रचनायें प्रकाशित हैं। क्षु० चिदानन्द

स्मृति ग्रंथ के सम्पादन और प्रकाशन का श्रेय भी आपको ही है। अनेक स्मारिकाओं का सफल सम्पादन भी आप कर चुके हैं। वर्तमान में आप बराबर लेखनकार्य करते रहते हैं। आप श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र खजुराहो में अनेक वर्षों से मंत्री हैं। आप दिगम्बर, जैन महासमिति जैन परिषद्, महावीर ट्रस्ट आदि संस्थाओं से सम्बद्ध है। आप मध्य प्रदेश शासन के शिक्षा-विभाग में कार्यरत है।

श्री पं० अमर चन्द्र जी प्रतिष्ठाचार्य

पं० अमर चन्द्र जी बकस्वाहा जिला छतरपुर के निवासी थे। ये जैन सिद्धांत के विद्वान् होने के साथ ही प्रतिष्ठापाठ में दक्ष थे। इन्होंने अनेको पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें, गजरथ महोत्सव, मन्दिर-वेदी प्रतिष्ठा जैसे महत्वपूर्ण कार्य किये। पण्डित जी मंत्र विद्या में दक्ष थे और इन्होंने कई मंत्र सिद्ध किये थे। विशाल प्रतिष्ठा समारोहों में ओले-पानी की अक्सर जो बाधा आया करती थी, वह उनकी मंत्रशक्ति से प्रभावहीन हो जाती थी। मंत्रशक्ति के सम्बन्ध में इनके विषय में कई आश्चर्यजनक घटनायें प्रसिद्ध हैं।

पं० कमलापत जी कुटौरा

प्रतिष्ठाचार्यों की परम्परा के कुटौरा निवासी पं० कमलापत जी का भी नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। इन्होंने अनेक विशाल प्रतिष्ठाओं एवं गजरथों को कराया। ये प्रतिष्ठा विधि के विशेषज्ञ थे और सभी क्रियायें शुद्ध दिगम्बर आम्नाय से सम्पन्न कराते थे।

श्री पं० दुलीचन्द्र जी प्रतिष्ठाचार्य (१८९४—१९७९)

पं० दुली चन्द्र जी का जन्म सन् १८९४ में ग्राम बाजना में हुआ था। पिता श्री गिरधारी लाल जी थे। प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर ग्राम बाजना में ही राज्य समय में सरकारी सेवा करना प्रारम्भ की। प्रतिष्ठा कार्यों में आपकी रुचि थी। फलत श्री पं० अमर चन्द्र जी बकस्वाहा से प्रतिष्ठा विधियों का ज्ञान प्राप्त कर स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठा कार्य कराने लगे। आपने अनेकों महत्वपूर्ण पंचकल्याणक, गजरथ महोत्सव प्रभावना के साथ सम्पन्न कराये। मन्दिर-वेदी प्रतिष्ठा, सिद्ध चक्र विधान के जैसे धार्मिक कार्य तो आप प्रायः कराते ही रहते थे। सामाजिक कार्यों में आपकी रुचि थी। इससे सामाजिक उत्थान के कार्य किये। द्रोणप्रान्तीय सेवा परिषद्, द्रोणगिरि के आप बहुत समय तक अध्यक्ष रहे हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में भी आप प्रभावशाली थे। धनुषयज्ञ जैसे विशाल समारोहों में आप अध्यक्ष रहे हैं। ग्राम पंचायत बाजना के तो आप लगभग ३५ वर्ष तक सरपंच रहे हैं। आप प्रभावशाली वक्ता थे। आपने श्री दिगम्बर जैन सिद्ध-क्षेत्र द्रोणगिरि के विकास और उन्नति के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आपकी सामाजिक सेवाओं से प्रभावित होकर १९७० में द्रोणप्रान्तीय नवयुवक सेवा संघ, द्रोणगिरि ने तथा १९७७ में गजरथ महोत्सव समिति, द्रोणगिरि ने आपका अभिनन्दन किया था। आपका स्वर्गवास २३ अक्टूबर १९७९ को हुआ।

डा० नरेन्द्र विद्यार्थी

पावन भूमि द्रोणगिरि के अंचल धनगुवां में जन्मे और श्री गुरुदत्त दिगम्बर जैन संस्कृत विद्यालय में पढ़े डा० नरेन्द्र कुमार जी को साधारण समाज विद्यार्थी नाम से जानती है। आप छतरपुर जिले के विद्वानों की परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आपने शास्त्री, साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ, एम० ए० की उच्च शिक्षा प्राप्त कर शोध प्रबन्ध लिखा और पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

सार्वजनिक जीवन में आपका प्रवेश छात्र जीवन से ही है। स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लेकर जेल यातनायें भी सहन की। १९५५-५६ में विन्ध्य-प्रदेश विधान-सभा के सदस्य रहकर आपने अपने क्षेत्र का बहुत विकास किया है। सड़कों का निर्माण, कुयें-तालाबों की मरम्मत, पाठशाला भवनों का निर्माण तथा प्राथमिक

चिकित्सालयों की स्थापना, डाकखानों की सुविधा, सिचाई हेतु बाँधों के निर्माण की स्वीकृति आदि कराकर आपने अपने क्षेत्र का पर्याप्त विकास किया है। सामाजिक क्षेत्र में भी आपका महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

साहित्य के क्षेत्र में तो आपका योगदान है अमूल्य है। वर्णी साहित्य का सम्पादन ही आपका ऐसा अभूतपूर्व कार्य है जिससे आपको हमेशा याद रखा जावेगा। आपकी अछूत कोई नहीं पुस्तक को शासन से पुरस्कार प्राप्त हुआ है। आपने अभी तक लगभग १५ ग्रंथों का सम्पादन एवं लेखन कार्य किया है। आपके द्वारा लिखित शोध प्रबन्ध भागवत पुराण के आधार पर वर्णित भगवान् ऋषभदेव का तुलनात्मक अध्ययन एक महत्वपूर्ण शोध है। यह आपकी विशेषता है कि आपने अपने परिवार में पत्नी और पुत्री को भी साहित्य सृजन की ओर उत्साहित किया है।

श्री लक्ष्मण प्रसाद जी प्रशांत

विद्यार्थी जी के ग्राम धनगुवा में ही जन्में और गुरुदत्त दिगम्बर जैन संस्कृत विद्यालय, द्रोणगिरि में शिक्षा प्राप्त करने वाले यशस्वी स्नातक श्री लक्ष्मण प्रसाद जी प्रशान्त उन विद्वानों में हैं जिन्होंने जैन शिक्षा संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त कर लम्बे अरसे तक जैन शिक्षा संस्थाओं में ही शिक्षण का कार्य किया। श्री प्रशान्त जी ने १५ वर्ष से अधिक श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, मोराजी भवन, सागर में शिक्षण-कार्य करते हुये सम्पादन-लेखन का कार्य किया। सामाजिक कुरीतियों के निवारण की ओर तो आपने क्रान्ति जैसा कार्य किया। कुरीतियों, कुरूढियों के निवारण एवं सामाजिक उत्थान के लिये आपने द्रोणप्रान्तीय सेवा परिषद् की स्थापना की और उनके माध्यम से समाज को बहुत आगे लाये। समाजोत्थान के सम्बन्ध में आपने अपने उत्तेजनापूर्ण भाषण दिये और लेख लिखे। आपने समाधि-तन्त्र एवं क्षत्र चूडामणि का पद्यानुवाद किया। आप जन्मजात कवि हैं। आपने बालकों के लिये सुन्दर कविताओं की रचना की जिसपर आपको मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् से पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। आप स्वयं अनुशासित हैं और दूसरों को अनुशासन में रहने की शिक्षा भी देते हैं। आप बड़े-बड़े समारोहों एवं सेवादलों का समायोजन कुशलता से करते हैं। वर्तमान में आप शासन की सेवा से अवकाश प्राप्त कर चुके हैं और एक पत्रिका के सम्पादक हैं। आप एम. ए., आचार्य एवं काव्यतीर्थ हैं। आपके द्वारा रचित साहित्य ठोस साहित्य के रूप में माना जाता है।

डॉ० भाग चन्द्र जी बहोरी (१९३८—　　)

बहोरी ग्राम जिला छतरपुर में ३१ दिसम्बर १९३८ को जन्में श्री डॉ० भाग चन्द्र जी के पिता का नाम श्री सेठ बोरे लाल जी एवं माता श्रीमती तुलसाबाई थी। प्रारम्भिक शिक्षा अपने जन्म-नगर में ही प्राप्त कर सागर और वाराणसी में शिक्षा ग्रहण की। आपने एम. ए. (संस्कृत-पालि), साहित्याचार्य, विद्यावाचस्पति, साहित्य-रत्न की परीक्षायें उत्तीर्ण की। कामन-वेल्थ की स्कालरशिप से लंका में बौद्ध साहित्य में जैन धर्म विषय पर शोध प्रबन्ध लिखकर पी. एच-डी. की उपाधि प्राप्त की। सन् १९६६ से आप नागपुर विश्वविद्यालय में पालि-प्राकृत विभाग के व्याख्याता एवं अध्यक्ष पद पर आसीन हैं। आपकी साहित्य सृजन में रुचि है जिससे निरन्तर आपकी लेखनी चलती रहती है। आपके द्वारा लिखित साहित्य एम. ए. के पाठ्यक्रमों में भी स्वीकृत है। बौद्ध-साहित्य पर आपके कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं जिनका साहित्य जगत् में महत्वपूर्ण स्थान है। आजकल आप एक बाल पत्रिका का सम्पादन भी कर रहे हैं। आपने अपना एक प्रकाशन संस्थान भी स्थापित किया है जिससे आपके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

डॉ० नन्दलाल जैन (१९२८—　　)

इनका विवरण इसी ग्रंथ में अन्यत्र दिया गया है। जैनधर्म की वैज्ञानिक मान्यताओं के संदर्भ में आपके चार दर्जन शोधपत्र हैं।

वैद्य दामोदर चन्द्र जी धौरा (१९१६—)

ग्राम धौरा जिला छतरपुर में सन् १९१६, पूस शुक्ल ५वीं को श्री दामोदर जी का जन्म हुआ। द्रोणगिरि विद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर अपना ग्रहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए स्वाभाविक काव्य प्रतिभा होने के कारण कविता रचने लगे। धीरे-धीरे जैसे ही काव्य में निखार आता गया, महत्वपूर्ण रचनायें बनने लगी। अपने गुरु पं० गोरे लाल जी शास्त्री से अपनी रचनाओं का संशोधन कराकर आगे बढ़े और अब तो दामोदर जी चन्द्र उपनाम से विख्यात सुप्रसिद्ध कवियों की श्रेणी में हैं। इनके द्वारा रचित हीरों का खजाना, नीतिरत्नाकर, जैन गारी संग्रह, महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं। पूज्य वर्णी जी द्वारा लिखित मेरी जीवनगाथा का पद्यानुवाद सन्तवर्णी जी नाम से कर आपने एक महाकाव्य की रचना भी की है जो लोकप्रिय बन गया है। आप समाज सुधारक, कुशल वक्ता, कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं। आप वैद्य में भी निस्वात्त हैं।

श्रीमती विदुषी डॉ० रमा जैन

जैन समाज में विद्वान् ही नहीं, विदुषी भी महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। डॉ० रमा जैन उनमें प्रथम हैं। श्रीमती रमा जैन डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी की धर्मपत्नी हैं। आपने एम० ए० काव्यतीर्थ, न्यायचन्द्रिका, शास्त्री की शिक्षा प्राप्त कर परिनिष्ठित बुन्देली का व्याकरणिक अध्ययन विषय पर शोध-प्रबंध लिख कर पी० एच-डी० की उपाधि प्राप्त की है। आप की लेखन कार्य में बहुत रुचि है। इससे आपने अच्छे साहित्य का सृजन भी किया है। आपके द्वारा लिखित भगवान् महावीर लोकप्रिय पुस्तक है। इसके अलावा आपने वर्णी जी की **मेरी जीवन गाथा** का जीवन यात्रा के रूप में सम्पादन किया है। 'आप समाज में नारियों की उन्नति किस प्रकार हो सकती है' पर बराबर सोचती रहती हैं। नारी के उत्थान के संदर्भ में आपने महत्वपूर्ण लेख लिखे हैं। उत्सवों में भाषण दिये हैं। आप सरल, निरभिमानी, सुयोग्य वक्ता और आधुनिक आडम्बरों से बहुत दूर हैं। वर्तमान में आप महाराजा महाविद्यालय, छतरपुर में हिन्दी-विभाग में सहायक प्राध्यापक हैं। निश्चित ही आप जैसी सुयोग्य महिला पर समाज को गर्व है।

पं० कमल कुमार जी न्यायतीर्थ

बकस्वाहा जिला छतरपुर के निवासी श्री पं० कमल कुमार जी न्यायतीर्थ वर्तमान में कलकत्ता में रहकर धार्मिक शिक्षण एवं शास्त्र प्रवचन करते हैं। साहित्य और व्याकरण में आप निष्णात विद्वान् हैं। पूर्व में आप श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर में व्याकरण अध्यापक रहे हैं। संस्कृत का ज्ञान आपका उच्चकोटि का है।

डॉ० लालचंद्र जैन

आप किशनगढ़ जिला छतरपुर में १९४४ में जन्में तथा किशनगढ़, छतरपुर, सादूमल, काशी एवं मुज्जफरपुर में प्रशिक्षित होकर वर्तमान में प्राकृत एवं जैन विद्या संस्थान वैशाली (बिहार) के कार्यकारी निदेशक हैं। आप जैन दर्शन एवं भारतीय दर्शन के ख्याति प्राप्त विद्वान् हैं। आपने अबतक लगभग पचास शोधपत्र प्रकाशित किये हैं। जैन दर्शन में आत्म विचार नामक आपका शोधग्रन्थ लोकप्रिय है। आप अनेक संस्थाओं से विभिन्नरूपों में संबंधित हैं। आपके अनेक ग्रन्थ प्रकाशनाधीन है। आपने अनेक छात्रों को शोध का निर्देशन किया है।

इसके साथ ही पं० विजय कुमार जी साहित्याचार्य, एम० ए० (प्राकृत, संस्कृत), पं० धरणेन्द्र कुमार जी शास्त्री, डा० महेन्द्र कुमार जी एम० ए० साहित्याचार्य, पी एच-डी०, श्री रतन चन्द्र जैन एम० ए० आचार्य, पं० अमर चन्द्र जी शास्त्री, श्री महेन्द्र कुमार जी मानव, श्री सुरेन्द्र कुमार जी आदि जैन समाज के ऐसे विद्वान् हैं जो निरन्तर जैन धर्म, संस्कृति की सेवा कर रहे हैं। इनके विषय में आगे प्रकाश डाला जावेगा। ●

खण्ड १

पण्डित परम्परा और पण्डितजी

(ब)

पण्डितजी : व्यक्तित्व और संस्मरण

जीवन-परिचय

जन्मकुण्डली और अठसखा

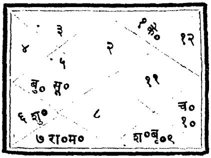

जन्म सं० १९५८, रास का नाम भोजराज

शाके १८२३ द्वि० श्रावण सुदी १२ वृषलग्ने उत्तराषाढ़ नक्षत्रे द्वितीयचरणे

१.	प्रथम भूर बाहू गोत्र	बाछल्ल	५.	पांचे लड़का के मामा	भारू
२.	दूसरे आजा के मामा	डेरिया	६.	छठे नाना के मामा	सोहला
३.	तीसरे बाप के मामा	बी बी कुट्टम	७.	साते महतारी के मामा	बहुरिया
४.	चौथे आजी के मामा	छितरा	८.	आठे नानी के मामा	सिग्गा

वंश-वृक्ष

तुलसी चौधरी
|
पूरन चौधरी
|
भैरों चौधरी
|
गोकुल प्रसाद (ब्र०)
|
पं० जगन्मोहन लाल
|
अमरचन्द
|
अमोद, प्रमोद आदि
|
अभिजित

विद्या-वृक्ष

पं० गोपाल दास बरैया
|
पं० वंशीधर, देवकीनन्दन जी
|
पं० जगन्मोहन लालजी
|
पं० नाथूराम डोंगरीय
|
डा० गुलाबचन्द चौधरी
|
डा० सुदर्शन लाल जैन

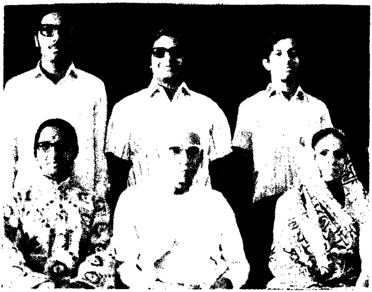

पण्डितजी का परिवार

पण्डितजी की धर्मपत्नी

पण्डितजी, आहार लेते हुये

श्री पार्श्वनाथ गुरुकुल का उद्घाटन

कलकत्ता के दमदम हवाई अड्डे पर जापान यात्रा के समय पं० दिवाकर को विदाई देते हुए

मेरा जीवन वृत्त

पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री

[illegible]

मेरे पर-आजा श्री तुलसीदास चौधरी इन्द्राना (जबलपुर) के निवासी थे। किसी कारण वश कालान्तर में मझौली (जबलपुर) में आकर निवास किया। मेरे आजा का नाम था श्री भैंरों चौधरी और पिता जी का नाम श्री गोकुल प्रसाद। मेरे मामा सिगरामपुर (संग्रामपुर) जिला दमोह के अधिवासी थे। वे तीन भाई थे।

मेरे पिता दो भाई थे। उनमें बड़े भाई के पुत्र चैतूलाल जी थे। उनकी दो बहनें थीं। छोटे के एकमात्र पुत्र मैं था और एक ही मेरी बहिन थी जो जबलपुर में सिंघई बट्टी लाल जी को ब्याही थी। मेरे बड़े चचेरे भाई की मात्र दो कन्याएं थीं। एक पेन्ड्रा, दूसरी डोंगरगढ़ में ब्याही गई। एक बार मझौली में प्लेग की बीमारी फैलने पर मेरे माता-पिता शहडोल गये। वहां मेरी चचेरी बड़ी बहिन ब्याही थी। मेरे बहनोई थे लाला जैनीलाल जी। बड़े धर्मज्ञ थे। मेरा जन्म शहडोल में सावन सुदी १२ वि. सं. १९५८ को हुआ था। मझौली में मैं कक्षा दो तक पढ़ा था। यद्यपि मझौली के आस-पास पिता की जमींदारी थी, पर पिता जी की अदालती लत के कारण वह सब समाप्त हो गई और वे वहां से चलकर सिवनी आये। सिवनी वाले पन्ना लाल टेक चंद जी की आढ़त दुकान पिंडरई में थी, वहां उस दुकान पर मुनीम हो गये। मेरे चचेरे भाई और छोटे मामा भी उसी दुकान पर मुनीमी का काम करने लगे।

वि. सं. १९६६ में श्री सम्मेद शिखर जी पर सिवनी निवासी श्री पूरन शाह जी द्वारा निर्माणित तेरह पंथी कोठी के जिन मंदिर की ऐतिहासिक गजरथ पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा हुई। शिखर में प्रतिष्ठा के साथ गजरथ चलना प्रथम घटना थी, कारण यह प्रथा मात्र बुन्देलखंड में ही उस समय चालू थी। करीब १०-१५ वर्ष से अन्य प्रान्तों में भी गजरथ कहीं कहीं हुए हैं। शिखर जी में लाखों की भीड़ थी। बुन्देलखंड में यह भी एक नियम था कि ऐसी प्रतिष्ठा में समागत धर्म-बन्धुओं की तीन दिन भोजन व्यवस्था (पक्की) की जाती थी। मेरे पिता जी को श्री पूरन शाह जी ने इन तीन ज्योनारों के सारे इन्तजाम का काम सौंपा। इस कारण करीब एक माह उनको यहां रहना पड़ा। मेरी माता जी भी वहीं आकर साथ रही और मैं भी। वहां के दूषित जल का प्रभाव मेरी माता जी पर पड़ा और वहां से लौटने पर दिवंगत (थोड़े ही दिनों में) हो गई।

पिंडरई में पं० पल्टूराम जी पुजारी थे। स्वाध्यायी ज्ञानी पुरुष थे। उनके पास मेरी धर्म शिक्षा हुई। प्राथमिक शाला में कक्षा ४ पास की। मेरे पिता भी पं० पल्टूराम जी के सहवास से स्वाध्याय प्रेमी बने। कालान्तर में उन्होंने व्रत लेकर ब्रह्मचारी जीवन बिताया। त्रिकाल सामायिक उनका व्रत बन गया। दुकान में मालिक को पत्र दिया कि हम अब सर्विस न करेंगे, अन्य व्यवस्था बनावें। दुकान मालिक का पत्र था कि आप सहयोगी मुनीमों व कर्मचारियों से ही काम करावें। मात्र दो घंटा दुकान आकर उनका काम देख कर चिट्ठी-पत्री का जवाब दें। आपका वेतन (उस समय ५० रू० माह था) आपको दिया जायेगा। इसे स्वीकार करने पर भी एक दिन दोपहर को सामायिक में अलसी की सौदा का ध्यान आ गया कि इसे बेच देना चाहिए अन्यथा बहुत घाटा लगेगा। आकर सौदा बेच दिया और सर्विस अंतिम रूप से छोड़ दी व लिख दिया कि यह परिग्रह और चिंता हमारे धर्म ध्यान में बाधक है, अतः मैं न कर सकूंगा और काम सब शेष मुनीमों को सौंप दिया।

पनागर (जबलपुर) में विमानोत्सव था। वहाँ भी मेरी एक चचेरी बहिन ब्याही थी। मेरे पिता उस उत्सव में आये थे। मैं छोटा था, सो साथ ही था। इस समय यह प्रथा थी कि अन्य छोटे ग्रामों की जैन पाठशालाओं के बालक ऐसे महोत्सवों पर आते थे और कोई विशिष्ट लोग उनकी धार्मिक परीक्षा लेते तथा पारितोषिक भी दिया करते थे। यही परीक्षालय था और अन्य कोई व्यवस्था नहीं थी।

मेरे पिता के मौसेरे भाई कटनी में रहते थे। वे पाँच भाई थे। उनमें ज्येष्ठ थे कन्हैयालाल (दादा), दूसरे गिरधारी लाल जी जो उस समय दिवंगत हो चुके थे। तीसरे रतनचन्द जी (लाला जी के नाम से विख्यात थे), चौथे थे दरबारीलाल जी। पाँचवें परमानन्दजी। इनमें रतनचन्द जी उस महोत्सव में आये थे। वहाँ उपस्थित छात्रों की परीक्षा हुई। मैंने पिंडरई में रत्नकरण्डश्रावकाचार की मात्र गाथाएँ याद की थीं। उनका शीर्षक यदि आप बोलेंगे, तो उस श्लोक को सुना सकता था, पर अर्थ समझाने समझने की योग्यता न थी। मुझसे चार बार प्रश्न किए गये। मैंने चारों बार के उत्तरस्वरूप श्लोक सुना दिए, तो श्री रतनचन्द जी ने एक रुपया प्रथम पारितोषक मुझे दिया।

कटनी के इन सभी पाँचो भाइयों से मेरे पिता उम्र में ज्येष्ठ थे। अत: उन्हें सब "वीर" नाम से संबोधित करते थे। श्री रतनचंदजी ने मेरा परिचय पूछा। उन्हें जब ज्ञात हुआ, तो मेरे पिता जी से कहा, 'वीर, जब भाभी दिवंगत हो गई और आप व्रती ब्रह्मचारी हो गये, तब इस बालक को साथ-साथ लेकर कहाँ फिरोगे ? इसे हमे दे दो, हम इसकी शिक्षा-दीक्षा का सब प्रबंध करेंगे, आप निर्विकल्प होकर अपना व्रती जीवन बितावें। आप भी कटनी ही रहें।

मेरे पिता कुछ समय कटनी रहे और मेरे लालन-पालन की सम्पूर्ण व्यवस्था देखकर निराकुल हुए। उन्होंने देखा कि त्यागी ब्रह्मचारी जो धार्मिक उत्सवों में आते हैं, वे मैले-कुचैले कपड़ों में होने से तथा शिक्षा की कमी से भी समाज में अपमानित ही होते हैं। खर्च भी समाज से माँगते हैं। यह दुर्दशा देखकर विचार किया कि त्याग का मार्ग अप्रशस्त और अनादृत हो रहा है। अतः उन्होंने एक त्यागी उदासीन आश्रम की स्थापना की कल्पना की और शीघ्र ही कुंडलपुर में उसकी स्थापना की जो आज भी संचालित है। मैं भी आजकल उसी आश्रम में रहता हूँ। अब आश्रम में जो भी त्यागी ब्रह्मचारी है, वे सब अपना खर्च स्वयं वहन करते हैं। आश्रम पर उनका व्यय-भार नहीं है। मात्र रसोई वाली बाई आश्रम फंड से रखी गई है। मध्यकाल में मेरे पिता के सामने १४/१५ गृहत्यागी रहते थे, जो ग्राम - ग्राम जाकर धर्माचरण की शिक्षा देते थे। उस समय बुन्देलखंड में काफी धर्माचरण का प्रचार हुआ, जो आज भी पाया जाता है। पूज्य पं० गणेश प्रसाद जी उस समय तक पण्डित तो थे, ब्रह्मचारी थे, पर व्रती न थे। हमारे पिता जी के ध्यान में आया कि गणेश प्रसाद यदि व्रती हो, तो धर्म प्रचार का कार्य समाज मे उत्तम हो सकता है। कारण पाकर पं० जी के मन मे भी यही ध्यान आया। वे सागर से कुंडलपुर को रवाना हुए और मेरे पिता जी कुंडलपुर से सागर को। मध्य में दमोह धर्मशाला मे दोनों की मुलाकात हो गई और दोनों कुंडलपुर आ गये। बड़े बाबा के समक्ष उन्होंने हमारे पिता से सप्तम प्रतिमा की दीक्षा ली और पूज्य वर्णी जी के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके पवित्र जीवन की व ज्ञान व समाज की अद्भुत कहानी सम्पूर्ण जैन समाज में सुप्रसिद्ध है।

मैं कटनी पाठशाला में पढ़ता रहा। ११ साल की उम्र में मेरे पिता ने मुझे मथुरा में भर्ती कराया और स्वयं मोरेना पं० गोपाल दास जी के पास छः माह गोम्मटसार का अभ्यास करते रहे। मैं आठ मास बाद कटनी आ गया और वहाँ जैन पाठशाला में रहा। १५ वर्ष की उम्र में पुनः मोरेना विद्यालय मे प्रवेश किया। वहाँ तीन वर्ष तक विशारद तृतीय खंड तक की परीक्षा दी। मोरेना सिद्धांत विद्या का गढ़ था। उसी की मुख्यता थी। मेरा

व्याकरण ज्ञान कम था। उसकी पूर्ति को मैं बनारस चला गया और तीन वर्ष वहाँ व्याकरण साहित्य व न्याय की शिक्षा ली। सन् २० में गांधी जी का असहयोग आन्दोलन शुरु हुआ। वे काशी आये और उनके प्रभाव से हमने संस्कृत विश्वविद्यालय की सरकारी परीक्षाओं का बहिष्कार कर दिया। पं० कैलाश चंद जी ने भी बहिष्कार कर दिया। वे मोरेना गये और में कटनी आ गया। उनके आग्रह से मैं भी पुनः मोरेना गया और दोनों ने एक साथ सिद्धांत के उच्चतम कोर्स को पूरा किया। मोरेना छोड़ने के पूर्व एक घटना घटित हुई। मेरे पिता जी अपने दो सहयोगी ब्रह्मचारियों के साथ बुंदेलखंड में धर्म प्रचार करते हुए ककरहटी पंचकल्याणक के बाद छतरपुर स्टेट के एक छोटे ग्राम में बीमार पड़ गये, लंघनें हो गईं। दोनों साथी भी बीमार हो गये। मुझे तार लिखा। मैं बड़ी कठिनाई से वहाँ पहुँचा, समस्या जटिल थी, पैसा पास न था। अपनी सब परिस्थिति अपने मित्र पं० कैलाशचन्द जी को पत्र द्वारा लिखी। वे वहाँ से कटनी होकर लाला रतनचंद जी कटनी से खर्च योग्य रुपया लेकर भटकते-भटकते मेरे पास पहुँचे। मेरे को रोना आ गया। जिसने जीवन में भी जंगल न देखा हो, वह २० साल की उम्र में ऐसी बीहड़ रास्ता पार कर मेरी दुरवस्था में साथी हुआ। उसका स्नेह मैं जीवन भर नहीं भूल सका। तीनों ब्रह्मचारियों को वहाँ से लाया। जबलपुर में भी अच्छे न हुए। मेरे पिता दो दिन पूर्व संन्यास लेकर स्वर्गधाम पधारे।

यह स्मरण रहे कि उस समय काशी विद्यालय में धर्मशास्त्र के पठन-पाठन की व्यवस्था न थी। चूंकि मैं गोम्मटसार जीवकांड तक पढ़ कर काशी गया था, अतः मैं मंत्री जी की आज्ञा से छात्रों को, जो छोटी कक्षाओं के थे, उन्हें धर्म शिक्षण देने का भी (अवैतनिक) कार्य करता था। मोरेना की शिक्षा समाप्त कर मैं कटनी आ गया। काशी विद्यालय के मंत्री थे श्री बाबू सुमति लाल जी। उनका पत्र आया कि स्या० महावि० में अब आप धर्माध्यापक का कार्य करें, ५०/- मासिक वेतन हम आपको देंगे। चूंकि कटनी में भी विद्यालय था और मैं वहाँ पढ़ाने लगा था, पर काशी विद्या-केन्द्र है, अतः उसका आकर्षण था आगे मार्ग में बढ़ने का। मैंने उसे स्वीकार कर लिया और अपने अभिभावक श्री लाला जी (रतन चंद जी) को पत्र दिखाया। उन्होंने कहा कि कहीं मत जाओ। मैंने तुम्हें इसी हेतु पढ़ाया था कि जो दान हमने यहाँ पाठशाला में शिक्षा के लिए निकाला है, उसकी पूर्ति करना है। ५०।- हम भी देंगे, यहाँ रहो। मैंने कहा कि समाज की सर्विस मुझे नहीं करना, काशी की बात दूसरी है। उन्होंने कहा कि तुम्हें सारा खर्च हम देंगे, जैसा कि आज तक दिया है। मैंने इसे स्वीकार किया, मेरा तो लालन-पालन ही उन्होंने किया है। मेरे पिता की मेरे विषय की सारी चिंताएँ भी अपने ऊपर ले ली थीं और भविष्य भी मेरा अपने हाथ में रख रहे हैं और समाज की नौकरी से मुझे बचा रहे हैं, तब मन के मुताबिक पूरी मुराद हो रही है। कृतज्ञता का भी यही तकाजा है। मैंने पूर्ण रीत्या आत्म समर्पण कर दिया। श्री सुमति लाल जी मंत्री, काशी विद्यालय को पत्र दिया कि मैं यही काम करने लगा हूँ, आप मेरे साथी पं० कैलाश चंद जी को बुला लें, वे आ जायेंगे। मैं भी पत्र उनको दे रहा हूँ। फलतः पं० कैलाश चंद जी काशी में प्रधानाध्यापक बने और मैं यहाँ। सन १९२२ में मेरा विवाह मेरे अभिभावकों और रिस्तेदारों ने कर दिया था और सन् १९२३ में हमने शिक्षा पूर्ण कर उस स्थान पर कार्य किया।

सन् १९२५ में मैंने संस्कृत छात्रों को उद्योग सिखाने की दृष्टि से कुछ मोजा, बनियान बनाने, कपड़े सीने आदि की शिक्षा का प्रबन्ध संस्था में किया पर उसमें जैसी चाहिये, सफलता नहीं मिली। तब मैंने आयुर्वेद की शिक्षा संस्कृत छात्रों को उपयुक्त मानी और वह विद्यालय में प्रारम्भ की। कानपुर कन्हैयालाल जी वैद्य के पास छात्र प्रेमचंद को भेजा जिसे मासिक वृत्ति दादा जी ने दी। दो छात्र कलकत्ता श्री बाबूलाल जी राजवैद्य के पास भेजे। उनको भी मासिक वृत्ति दादा जी ने दी। ये शिक्षा प्राप्त कर आ गये। देवचन्द्र जी कटनी में अपना दवाखाना चलाते थे जो आज भी उनके बाद उनके सुपुत्र चला रहे हैं। उनके छोटे भाई प्रेमचन्द्र जी आयुर्वेदाचार्य भी कर चुके

थे। बहुत सुन्दर कुशाग्र बुद्धि थे। श्रीबाबूलाल जी राजवैद्य ने योग्य पात्र मानकर बिल्कुल गरीब देखने पर भी अपनी कन्या सुन्दरबाई का विवाह उनके साथ कर दिया और सब प्रकार का दहेज व सहायता उनकी की। वे उज्जैन में दवाखाना खोले थे पर उनका कुछ समय बाद देहावसान हो गया।

आयुर्वेद शिक्षा के लिये अलग से खर्च की व्यवस्था संस्था नहीं कर सकती थी। फलतः श्रीक्षेमचंदजी अवैतनिक शिक्षा देते रहे। पश्चात् स० सि० कन्हैयालाल गिरधारीलालजी की ओर से दवाखाना खोला गया। उसमें प्रारंभ से क्षेमचंदजी और बाद में केशरीमलजी आयुर्वेदाचार्य काम करते थे। श्रीकेशरीमलजी ने ४० साल तक संस्था के छात्रों को आयुर्वेद की शिक्षा अवैतनिक दी।

दूसरे छात्र पं० बाबूलाल जी कलकत्ता की ट्रेनिंग लेकर जब आये थे, तो शहडोल में सेठ नथमल द्वारा स्थापित दवाखाना में सर्विस करते थे। पर आज ४० साल से स्वतंत्र दवाखाना वहाँ चला आ रहे हैं। उन्होंने अच्छी कीर्ति और धन अर्जित किया। समाज के बालकों की धर्म शिक्षा का अवैतनिक कार्य करते हैं। अब वृद्ध हो गये हैं तथा गतमास ही दिवंगत हो गए।

सन् १९२५ में मैं दूसरे जिला कांग्रेस का प्रतिनिधि बनकर कानपुर कांग्रेस में शामिल हुआ। सन् १९३० में मैंने जंगल सत्याग्रह के जेल-यात्रियों के परिवारों की सहायता की। मैंने कुछ समय तक कांग्रेस की ओर से बुलेटिन भी निकाला।

सन् १९२७ में परम पूज्य आचार्य श्री १०८ शांति सागर जी का ससंघ चातुर्मास कटनी में हुआ। उसके पूर्व ही सि० हीरालाल कन्हैया लाल जी मिर्जापुर द्वारा कटनी में एक छात्रावास का निर्माण ४०–५० हजार रुपया लगाकर कराया और ४०००/–नगद देकर उसका ट्रस्ट डीड लिख दिया। संस्था को लीज पर जमीन सरकार से भी प्राप्त की जा चुकी थी जिसे प्राप्त करने में मुझे स० सि० दादा जी, सेठ पीरमल जी, स्व० पं० बाबूलाल जी, जो मेरे प्रारंभिक विद्या गुरु थे, मास्टर भैयालाल जी आदि ने पूर्ण सहयोग दिया और फारेस्टर सहित, जो यहाँ नगर-पालिका अध्यक्ष थे, उनसे पूर्ण सहकार लेकर सहायता पाई थी। कटनी संस्कृत विद्यालय में शास्त्री कक्षा तक पढ़ाई चलती थी, काशी में आचार्य परीक्षा तक। छात्र संख्या उच्च कक्षाओं में कम रहती थी पर अध्यापक तो उसके लिये रखना पड़ता था। पं० कैलाश चंद जी एकबार कटनी आये। परस्पर परामर्श हुआ कि इससे समाज का धन ज्यादा खर्च होता है। अतः हम यहाँ मध्यमा तक ही चलावें। शास्त्री परीक्षा हेतु छात्रों को काशी भेज दें, तो अध्यापक का खर्च कम हो जायेगा और काशी में छात्रों के साथ में ये छात्र भी पढ़ लेंगे। काशी में प्रथमा कक्षा तोड़ दी जाये। प्रारंभिक प्रथमा के छात्र सब कटनी ही पढ़ें। इस समझौते के अनुसार ४० साल दोनों विद्यालय चले।

कटनी में प्रारंभ के वर्षों में कुछ छात्र शास्त्री या न्यायतीर्थ परीक्षा पास कर निकले। पं० नाथूराम जी डोंगरीय, पंडित गुलाब चंद जी, पंडित बाबूलाल जी, पंडित रामरतन जी, पंडित नाथूलाल जी आदि न्यायतीर्थ, सिद्धांतशास्त्री, कोई काव्यतीर्थ और कोई व्याकरणतीर्थ भी हुए। आयुर्वेदाचार्य तो पचासों जैन-जैनेतर छात्र बने, जो यत्र-तत्र अपनी स्वतंत्र आजीविका कर समाज की सेवा कर रहे हैं। इनमें प्रमुख हैं नाथूराम जी डोंगरीय पं० क्षेमचन्द्र जी, प्रेमचन्द्र जी, पं० बाबूलाल जी, पं० बाबूलाल जी छपारा, पं० हुकमचंद जी, पं० मोतीलाल जी आदि।

मैं संस्था संचालन कार्य हेतु पर्यूषण पर्व, अष्टाह्निक पर्व, महावीर जयंती आदि पर्वों तथा वेदी प्रतिष्ठा, गजरथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं पर जाकर समाज से संस्था को आर्थिक सहायता प्राप्त कराता था। इसी सहायता के बल पर संस्था के आर्थिक संचालन का भार था।

सन् १९३५ में संस्था में माध्यमिक शाला की स्थापना हुई जो अभी भी चल रही है। सन् ४० में कन्या माध्यमिक शाला भी पूज्य वर्णी जी के सदुपदेश से चली जो ८ वर्ष चली। कुछ विघ्न-बाधाएँ भी आईं जिनको पार कर भी संस्था को संचालित बनाये रखने में शाला की व्यवस्थापक समितियाँ सफल रहीं।

सन् १९३८ में मैं भा० दि० जैन परवार सभा की ओर से प्रकाशित 'परवार बन्धु' मासिक पत्र का में सम्पादक चुना गया। श्री स० सि० धन्य कुमार जी भी सह-संपादक चुने गये और उनके सहयोग से वह पाँच वर्ष चलता रहा। इसके बाद "वीर संदेश" पत्र का भी मैंने दो वर्ष सम्पादन किया। (सन् ४७ में अखिल भा० परवार सभा का प्रधान मंत्री चुना गया जिसका कार्य में २५ साल करता रहा।)

सन् ५३ में मैं भा० दि० जैन संघ मथुरा का प्रधानमंत्री चुना गया। उस पद पर २० वर्ष रहा। "जैन संदेश" के सम्पादन का दायित्व भी मुझ पर सन् ५५ में आ गया। सन् ५७ से श्री पं० कैलाश चंद जी का सहयोग मिला। सन् ६९ के बाद "जैन संदेश" का कार्य पं० कैलाश चंद जी ही पूर्ण रीत्या संभालते रहे।

वर्णी ग्रंथमाला का भी मैं मध्य काल में उपाध्यक्ष और पश्चात् अध्यक्ष रहा। सदस्य आज भी हूँ। यह प्रगतिशील संस्था आज भी वर्णी-शोध-संस्थान के नाम से है। इस संस्था के संचालन का मुख्य श्रेय पंडित फूलचंद जी शास्त्री को है। इन सब संस्थाओं के संचालन में पं० फूलचंद जी का भी सहयोग मुझे सतत मिला है। जैनेतर समाज कटनी की भी मुझ पर आस्था रही। शिक्षा संस्था में नगर के अनेक अजैन छात्र मेरे पास संस्कृत और जैन धर्म की शिक्षा पाते रहे। स्व० डॉ० हीरालाल जी रायबहादुर प्रख्यात विद्वान् थे। वे डिप्टी कमिश्नर भी रहे। उनकी पुस्तकें देश-विदेश में भी चलती थीं और चल रही हैं। इतिहास के प्रेमी थे। पुरातत्व की खोज में उनकी खास दिलचस्पी थी। उनकी एक पुस्तक में श्री रामचन्द्र जी के मांस भक्षण व शिकारप्रिय होने तथा सीता माता द्वारा गंगा जी को मद्य के घट चढ़ाने की चर्चा आई थी। हिन्दू समाज में तहलका मच गया। उन्होंने शास्त्रार्थ का चैलेंज दिया। हिन्दू समाज के मुख्य लोग मेरे पास आये, मुझसे चैलेंज स्वीकार कर शास्त्रार्थ करने का प्रेमपूर्ण आग्रह किया। कटनी के ब्राह्मण विद्वानों ने उनके अनुनय को स्वीकार नहीं किया, तब वे मुझ से आग्रह करने लगे। मैंने स्वीकार कर लिया और दस हजार की जनता के बीच उनके प्रमाणों का व तर्कों का स्पष्ट उत्तर देकर उसमें सफलता पाई जिससे स्थानीय हिन्दू समाज को बहुत संतोष हुआ।

विन्ध्य-प्रदेश के स्पीकर श्री शिवानन्द जी ने एक बार कटनी में अपने भाषण में प्राचीन हिन्दू ऋषियों को तथा जैन तीर्थंकरों को भी मांस सेवन करने वाला कहा। मैंने उनके पास जाकर उनका समाधान किया तथा निराकरण किया। उन्हें अपने शब्द वापिस लेने व जनता से क्षमा मांगने का आग्रह किया। उन्होंने अपना वक्तव्य वापिस लिया और लिखित क्षमा याचना की, अपनी भूल को सुधारा। यह उनका बड़प्पन था जो सराहनीय है। उनकी इस सज्जनता की छाप आज भी मुझ पर है।

मथुरा दि० जैन संघ पहले शास्त्रार्थ संघ था। उसके प्रमुख स्थापनकर्ता पं० राजेन्द्र कुमार जी न्याय तीर्थ थे। अनेक बार आर्य समाज से संघ ने पं० जी के तत्वावधान में शास्त्रार्थ कर विजय पाई। अंतिम शास्त्रार्थ में पं० कर्मानन्द जी आर्य समाजी शास्त्रार्थी ने शास्त्रार्थ के अंत में अपनी पराजय के साथ-साथ जैन धर्म भी स्वीकार किया और कालान्तर में क्षुल्लक पद भी प्राप्त किया। इन कार्यों से संघ का प्रभाव जैनेतर समाज में भी था। मेरे प्रधानमंत्रित्व के काल में दो बार शास्त्रार्थ के चैलेंज आये पर संघ के नाम से ही शास्त्रार्थियों ने शास्त्रार्थ करने से इंकार कर दिया और वे नहीं हुए।

स्व० सिंघई तोड़लमल जी कटनी के प्रख्यात पंच थे। उन्होंने समाज के सहयोग से कटनी में एक जिन मंदिर बनाया। अन्त समय वे बहुत पीड़ित व दुःखी थे। मुझे बुलाया, मेरे समझाने पर वे आश्वस्त हुए और दो मकानों का दान घोषित कर शांति से जीवन सुधार कर मृत्यु को वरण किया। उनके दो भाई थे। दोनों दिवंगत हो चुके थे। दोनों की धर्मपत्नी ने उनके दान का एक ट्रस्टडीड लिख दिया जो सि० तोड़लमल कन्हैयालाल जैन परमार्थिक ट्रस्ट के नाम से आज भी अच्छे रूप में संचालित है। कटनी के उस मंदिर के लिये, बिलहरी के प्राचीन मंदिरों के जीर्णोद्धार में, जिनवाणी प्रचार व तीर्थ रक्षा में इसका आज भी महत्वपूर्ण स्थान है। आज ट्रस्ट की यह संपत्ति करीब १५ लाख की है।

स० सि० कन्हैयालाल गिरधारी लाल जी ने भी अपने अनुज श्री रतन चंद जी, दरबारीलाल जी, परमानन्द जी के सहयोग से कन्हैयालाल रतन चंद जैन शिक्षा ट्रस्ट की स्थापना की तथा उनके सुपुत्रों ने धन्य कुमार अभय कुमार जैन शिक्षा ट्रस्ट की स्थापना की। दोनों ट्रस्ट क्रमश; सन् १९१५ और १९४४ में बने। कटनी जैन संस्थाओं में इन ट्रस्टों का महत्वपूर्ण योग रहा है। सभी ट्रस्ट तीन लाख के हैं। संस्कृत भाषा और जैन धर्म की शिक्षा इन ट्रस्टों का मुख्य उद्देश्य है। इसकी पूर्ति हेतु जो संस्थाएँ दि० जैन समाज में स्थापित हैं, उनको भी यथासमय ये ट्रस्ट सहयोग दे रहे हैं। स० सि० कन्हैयालाल जी (दादाजी) ने अपने जीवन काल में अपनी पूरी जायदाद की एक वसीयत बना दी थी जिससे उनकी पुत्रियों, परिवार, मन्दिर और धार्मिक संस्थाओं का पोषण होता है। इस ट्रस्ट द्वारा जैन धर्मशाला के निर्माण में एक लाख रुपयों का योगदान किया है। अपनी इस वसीयत की प्रापर्टी आज २.९२५ लाख कीमत कटनी जैन मंदिर तिवरी वालों के मंदिर के नाम से प्रख्यात है। मूल नायक भगवान चंद प्रभू है। इसकी ओर से साहित्य प्रकाशन भी होता है।

इन सभी संस्थाओं और ट्रस्टों के निर्माण में व संचालन में मैंने शक्त्यनुसार अपना योगदान दिया है। मेरे पिता जी ने सन् १५ में मुझे पांच अणुव्रत दिये थे। उसके बाद परमपूज्य श्री १०८ आचार्य शांति सागर जी से मैंने सन् १९२८ में द्वितीय प्रतिमा के व्रत लिये और सन् ७६ में श्री १०८ आचार्य श्री विद्यासागर जी से सप्तम प्रतिमा के व्रत लिये। उनका कटनी में पदार्पण हुआ था। कटनी में और भी छोटी-मोटी संस्थाएँ स्थापित है, संचालित है। यहाँ मुझे उनका सांनिध्य प्राप्त हुआ।

कुंडलपुर क्षेत्र का मैं ६ वर्ष अध्यक्ष रहा। सन् ७६ में वहाँ मेरे अध्यक्ष काल में ऐतिहासिक गजरथ पंचकल्याणक हुए। कुछ सज्जन इसके विरोध में भी थे। उनके द्वारा सामाजिक तथा अदालती बाधाएँ भी इस कार्य में आई पर अपने सहयोगियों के सहयोग से और जिन धर्म के प्रभाव से सर्व काम निर्विघ्न हुए।

स० सि० कन्हैयालाल गिरधारी लाल जी आदि पूरे सिंघई परिवार का मुझे जीवन भर सहारा मिला। उनके कारण ही मुझे कटनी संस्था की आर्थिक सहायता मिली जिससे सेवा का अवसर मिला। मेरा सभी खर्च उन्होंने स्वयं तथा अपने ट्रस्ट द्वारा वेतन के रूप में दिया। जैन समाज में किसी विद्वान् को उसके जीवन भर इस प्रकार के खर्च का संभवतः यह एक ही उदाहरण है।

अब मेरी आयु का ८८वाँ वर्ष चल रहा है। मैं १२ साल से सभी कार्यों से निवृत्त हो कुंडलपुर क्षेत्र स्थित उदासीन आश्रम में रहकर अपना जीवन धर्म साधनापूर्वक व्यतीत कर रहा हूँ।

मेरी सामान्य जीवनकथा उक्त प्रकार है। यद्यपि और भी अनेक घटनायें हैं, तथापि उन सबका संनिवेश यहाँ नहीं कर रहा हूँ। अपने स्नेहियों के अत्याग्रह से उक्त पंक्तियाँ लिखी गई हैं। मेरे प्रारंभिक विद्यागुरु

स्व० पं० बाबूलाल जी कटनी थे। मोरेना में न्यायाचार्य पं० माणिकचंद जी, स्व० पं० बंशीधर जी एवं पं० देवकी नन्दन जी एवं जगन्नाथ जी शास्त्री थे। इन सबका परिचय उक्त कथानक में न आ सका। काशी के प्रख्यात नैयायिक पं० अम्बादास जी शास्त्री मेरे गुरु थे। अन्य गुरुजन भी थे।

इन ८८ वर्षों में समाज के अनेक बंधुओं से सम्पर्क आया, अनेकों का स्नेहभाजन रहा। उन सबका उल्लेख इस छोटे से लेख में संभव नहीं है।

खुरई गुरुकुल, ऐलोरा गुरुकुल, विद्वत् परिषद् आदि संस्थाओं की स्थापना में व निर्माण में भी मेरा यथाशक्य योगदान रहा है। इतनी संक्षिप्त सूचना के साथ मैं विराम लेता हूँ।

●

स्व० पंडित बाबूलालजी : मेरे विद्यागुरु

पं० जगन्मोहनलाल जी शास्त्री
कुंडलपुर

मेरे प्रारम्भिक विद्यागुरु स्वर्गीय पं० बाबूलाल जी के पूर्व निवास का मुझे पता नहीं है। मैंने अपने बचपन से उन्हें कटनी में ही सपरिवार रहते देखा। कभी उन्होंने यह बताया था कि कटनी आने के पूर्व वे सरकारी शालाओं में शिक्षिकीय कार्य कर चुके थे। वे मेरे पिता जी के साथी और मित्र थे।

उनके आने के ५ वर्ष पूर्व, सन् १९०३ में कटनी में संस्कृत शिक्षा का प्रारम्भ हो चुका था। इसे संस्कृत विद्यालय की स्थापना तो नहीं कह सकते क्योंकि स्व० पं० नाथूराम लमेंचू, जो मूलतः करहल के निवासी थे और उन दिनों कटनी में रहते थे, उन्होंने अपने निवास पर ही २-४ छात्रों को संस्कृत पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था। तीन वर्ष तक इसी प्रकार संस्कृत का शिक्षण चलता रहा। इसी पाठशाला को संस्कृत विद्यालय के रूप में स्थायित्व देने के लिए सन् १९०६ में समाज ने एक जमीन खरीदी और बारह हजार के चन्दे से विद्यालय भवन का निर्माण कराया। उसे संस्कृत पाठशाला का नाम दिया गया। बाहर से भी एक-दो छात्र आ गये, उनके रहने की व्यवस्था भी उसी भवन में की गई।

सन् १९०८ में पं० बाबूलालजी ने नगर के बालक-बालिकाओं को धार्मिक शिक्षा के साथ लौकिक शिक्षा देने के अभिप्राय से, हिन्दी माध्यम की जैन पाठशाला का प्रारम्भ किया। मन्दिर के पीछे की कोठरी में वह पाठशाला लगने लगी। पं० बाबूलालजी ही उसके प्रधान अध्यापक थे। इस शाला की स्थापना से समाज के वे बन्धु कुछ असंतुष्ट और रुष्ट हो गए जो संस्कृतशाला चलाते थे। यही कटनी समाज में मतभेद का कारण बना जिसका उल्लेख पं० बाबूलाल जी ने अपने लेख में किया है। उन्हीं दिनों मैं प्रवेशिका के लिए दो वर्ष तक इस पाठशाला में पढ़ा। इसमें भी संस्कृत पढ़ाई जाती थी जिसके लिए संस्कृत शिक्षक रखे गये थे।

कुछ समय के पश्चात् श्री क्षुल्लक पन्नालालजी के प्रयत्न या प्रभाव से जब समाज का मतभेद समाप्त हुआ और दोनों पक्षों में सौजन्य स्थापित हो गया, तब यह हिन्दी शाला भी पं० नाथूराम लमेंचू द्वारा १९०३ में स्थापित संस्कृत पाठशाला से सम्बद्ध होकर उसी नवनिर्मित शाला भवन में चली गई।

पं० बाबूलालजी एक धर्मनिष्ठ, लगनशील, कर्मठ और समाज-प्रिय विद्वान् थे। वे सदैव अपने छात्रों को हर प्रकार से सुयोग्य और संस्कार-सम्पन्न बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। आजकल के शिक्षकों की तरह वे मात्र वेतनभोगी शिक्षक न थे जो घड़ी पर निगाह रखकर आधे मन से कार्य करते हैं। विद्यार्थियों से अलग से फीस लेकर ट्यूशन की पद्धति उन दिनों कटनी-जैसी जगह में प्रायः प्रारम्भ ही नहीं हुई थी। पण्डितजी शाम-सबेरे और रात्रि में भी छात्रावास के छात्रों की सहायता करते। उनकी देख-रेख, व्यवस्था आदि का सारा कार्य वे सेवाभाव से अवैतनिक ही करते थे। वे सच्चे अर्थों में विद्यानुरागी थे और अपने विद्यार्थियों पर पितृवत् स्नेह करते थे। संस्था की समुन्नति के लिये सदा तत्पर रहते थे।

एक सुयोग्य ज्ञानाराधक की तरह अध्यापन में संलग्न रहते हुए पण्डित जी हमेशा अपने लिये भी ज्ञान पिपासु बने रहे। आठ-नौ वर्ष अध्यापन करने के उपरान्त सन् १९१७ में वे स्वयं सिद्धान्त-ग्रंथों के अध्ययन के

लिए मोरैना चले गये। उन दिनों मोरैना में गुरुवर पं० गोपालदासजी बरैया दिगम्बर जैन समाज के सर्वोपरि मान्यता प्राप्त, प्रसिद्ध और सेवाभावी विद्वान् थे। ज्ञानपिपासा शान्त करने के लिए उनके पास बहुत दूर-दूर से लोग आते थे। मोरैना से वापिस आकर पं० बाबूलालजी ने अपनी आजीविका के लिये कटनी में ही टोपियों की दुकान खोल ली। तब मेरे पिताजी के अनुरोध पर पं० कुन्दनलाल जी सरकारी सर्विस छोड़कर पं० बाबूलालजी के स्थान पर, कटनी पाठशाला के प्रधान अध्यापक पद पर आए। पं० कुन्दनलाल जी ट्रेण्ड अध्यापक थे। शासकीय सेवा में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। मैं मोरैना तथा बनारस से अपनी शिक्षा पूरी करके सन् १९२३ में कटनी आया और इसी पाठशाला में अध्यापक का कार्य करने लगा। कालान्तर में यहीं प्रधानाध्यापक बन गया। पं० कुन्दनलाल जी ने शिक्षिकीय कार्य छोड़ दिया और अपना निजी व्यवसाय करने लगे।

पं० बाबूलाल जी व्यापार में संलग्न हो जाने पर भी इस पाठशाला की उन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। संस्था के लिए जब जो सहयोग चाहा गया, वह उनकी ओर से उपलब्ध होता रहा। वे इस संस्था के लिए सि० कन्हैयालाल जी एवं सिं० रतनचंद जी को सदैव दान देने की प्रेरणा करते रहते थे। पाठशाला का विस्तार होता गया। छात्रावास का अभाव खटकने लगा और विद्यालय के लिये भी स्थान की कमी पड़ने लगी। तब नवीन भवन के लिए शासन से उपयुक्त जमीन की प्राप्ति के लिए मैंने प्रयास किया। पं बाबूलाल जी ने इसमें मुझे पूरा सहयोग दिया।

भूमि प्राप्त हो जाने के उपरान्त मैंने संस्था के भवन निर्माण के लिए मिर्जापुर निवासी सिं० हीरालाल कन्हैयालाल जी से दान का अनुरोध किया। सिंघई जी से इस दान की स्वीकृति दिलाने में भी पं० बाबूलाल जी का महत्वपूर्ण सहयोग रहा। सिंघई जी से उनके परिवार का कुछ रिश्ता भी था। अत: उनके सहयोग से हम मिर्जापुर वालों से दान की स्वीकृति पाने में सफल हुए।

इस प्रकार मिर्जापुर वाले सिंघई हीरालाल कन्हैयालाल जी ने संस्कृत विद्यालय और छात्रावास के लिए अपनी ओर से पूरा भवन बनवाकर समाज को समर्पित किया। आज कटनी नगर के बीचोंबीच यह विशाल और आकर्षक दो मंजिला भवन, कचहरी के ठीक सामने अपना सिर ऊँचा किये हुए, अपने निर्माता की कीर्ति का उद्घोष करता हुआ शान से खड़ा है। जैन शिक्षा-संस्थान के छात्रा और संस्कृत-शिक्षा आदि सब विभाग उसी में चलते हैं।

इस प्रकार मुझे यह स्वीकार करने में गौरव की अनुभूति होती है कि कटनी की जैन शिक्षा-संस्था के संचालन में, और उसकी चहुंमुखी अभिवृद्धि में, मुझे अपने प्रारम्भिक विद्यागुरु स्व० पं० बाबूलाल जी का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। वास्तव में उन्हीं की सहायता, सहयोग और आशीर्वाद से ही मुझे अपने प्रयत्नों में बराबर सफलता मिलती रही, अत: मैं उनके परमोपकार का सदा ऋणी हूँ। पण्डित जी ने जीवन के अंतिम समय में इस संस्था के बारे में यह पत्र लिखकर, जैन पत्रों में प्रकाशित कराने के निर्देश के साथ मेरे पास भेजा था। इस पत्र में कुछ ऐसी भी घटनाओं का उल्लेख था जिनके बारे में पहले मुझे भी पता नहीं था। परन्तु वह मेरी प्रशंसा से भरा था, इसलिए मैंने उसे प्रकाशित नहीं कराया। पनागर में सन् १९६८ में, ८३ साल की आयु में पण्डित बाबूलाल जी का देहावसान हुआ। संस्था के प्रति उनकी सेवायें तथा अपने प्रति उनका स्नेह एवं उपकार—मेरी स्मृति में आदरपूर्वक चिर-स्थायी हैं।

जैन शिक्षा-संस्था के संस्थापक और संचालक

नीरज जैन
सतना, म० प्र०

बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में एक निस्पृह शिक्षाव्रती अध्यापक ने समाज के बालकों को जैन धर्म के संस्कारों के साथ शिक्षा देने के अभिप्राय से, सरकारी नौकरी छोड़कर, एक दिन एक छोटी-सी कोठरी में अपने ज्ञान-यज्ञ का शुभारम्भ किया। उनका रोपा हुआ वह पौधा धीरे-धीरे बढ़कर थोड़े ही समय में एक विशाल और छायादार वृक्ष के रूप में वृद्धिगत हुआ। संयोग की बात यह रही कि उसी महान् अध्यापक के एक सुयोग्य शिष्य ने उस पौधे को अपने जीवन भर सींचा और संरक्षण दिया।

गुरु ने अपनी पचहत्तर साल की आयु में उस विद्यालय का लेखा-जोखा लिखकर अपने शिष्य को सौंप दिया। शिष्य ने अपनी प्रसंशा के परहेज के कारण पच्चीस वर्ष तक उस दस्तावेज को अपने बस्ते में सबसे नीचे बाँध कर रखा। आज, इतिहास की शृंखलाएँ जोड़ने के प्रयास में वह महत्त्वपूर्ण विरासत अकस्मात् हाथ लग गई। अब तक शिष्य महाराज भी 'बाबा जी' बनकर अपने पिता द्वारा स्थापित उदासीन आश्रम में पहुँच चुके हैं।

उस परम निस्पृही, सेवाभावी अध्यापक का नाम था पं० बाबू लाल। उनके सुयोग्य शिष्य को हम पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री के नाम से प्रणाम करते हैं। वे कटनी की जैन शिक्षा-संस्था के प्राथमिक कक्षा के विद्यार्थी से लेकर प्रधान अध्यापक और प्रमुख-संचालक तक विभिन्न रूपों में अपने पूरे समय इस संस्था से जुड़े रहे। आज भी उन्हें और संस्था को अलग-अलग नहीं माना जाता। वस्तुतः जैन शिक्षा-संस्था कटनी का इतिवृत्त प्रकारान्तर से पण्डित जगन्मोहन लाल जी की कहानी है, और पण्डित जी का जीवन परिचय प्रकारान्तर से संस्था का ही परिचय है।

सवाई सिंघई रतन चन्द्र जी ने सन् १९१८ में पच्चीस हजार रुपये का दान निकाला। अपने दान-पत्र में उन्होंने यह निर्देश किया कि इस राशि से ब्याज की जो आय हो, उसका आधा भाग जैन पाठशाला के छात्रावास की व्यवस्था में व्यय किया जाय और शेष आधी राशि जगन्मोहन लाल की आजीविका के लिए उपयोग में आती रहे। यह दान-पत्र पं० बाबू लाल जी की प्रेरणा से लिखा गया और उनके तथा दातार के बीच में ही रहा। जगन्मोहन लाल जी को भी यह व्यवस्था बहुत दिनों तक ज्ञात नहीं थी।

यह दान-पत्र कच्चे कागज पर किसी मुन्शी के हाथ से लिखाया गया था। इस पर दातार के हस्ताक्षर भी नहीं थे। कालान्तर में इसे वैधानिक रूप देने के लिए जब सन् १९३५ और १९३९ में प्रयास किये गये, तब इस विषय में समाज में ऐसा भ्रम फैला दिया गया जिससे कटनी में इस बात को लेकर कई सप्ताहों तक एक आन्दोलन सा छिड़ा रहा। खैर, दान-पत्र का प्रकरण तो अपने ढंग से कुछ दिनों में समाप्त हो गया परन्तु इस घटना ने सिंघई जी का मन सामाजिक कार्यों के प्रति खट्टा कर दिया। वास्तव में दान-पत्र की रजिस्ट्री कराते समय अपनी सम्पत्ति का और भी भाग वे उसमें सम्मिलित करना चाहते थे परन्तु फिर अपने अंत समय तक वे ऐसा नहीं कर पाये। एक मोटी रूप-रेखा बनी, पर इसी बीच सन् १९३९ में ही उनका देहावसान हो गया। उनके मरणोपरान्त उनके उत्तराधिकारियों की ओर से उनकी भावना के अनुरूप, पूर्वजों के दान के रूप में, ५१,००० हजार की राशि दान में निकाली और उसका विधिवत् ट्रस्ट बना दिया गया।

सन् १९२३ में पं० जगन्मोहन लाल जी कटनी आकर संस्था में अध्यापन करने लगे परन्तु उन्होंने कोई वेतन, या अपने निर्वाह के लिए कोई खर्च कभी भी शिक्षा-संस्था से नहीं लिया। सन् १९३० तक तो, नियमित अध्यापक होते हुए भी, संस्था के वेतन रजिस्टर में पण्डित जी का नाम तक नहीं था। इसके बाद जब एक बार जिला शाला निरीक्षक ने उनसे अनुरोध किया कि यदि आपका नाम वेतन रजिस्टर पर रहेगा तो उस राशि पर भी शासकीय अनुदान मिलेगा और संस्था की भलाई होगी। आप नाम न देकर संस्था की हानि कर रहे हैं। तब पण्डित जी ने संस्था के वेतन रजिस्टर पर अपना नाम लिखने की अनुमति दी। परन्तु अपना वेतन या खर्च वे हमेशा सिंघई जी के पारिवारिक ट्रस्ट से ही लेते रहे। पण्डित जी द्वारा स्वीकार की गई इस राशि ने कभी ट्रस्ट की आय की उनके लिये निर्धारित सीमा को पार नहीं किया। उससे कुछ कम, ३/४ या ४/५ राशि में ही वे अपना काम चलाते रहे। कालान्तर में उनके पुत्र व्यवसाय में अग्रसर हुए और अब एक सम्पन्न-सुखी परिवार के रूप में व्यवस्थित हैं।

मैं समझता हूँ कथा की इस शृंखला के सभी पात्र अपने आप में ऐसे महान् रहे जो आज समाज के किसी भी वर्ग या व्यक्ति के लिये आदर्श उदाहरण हो सकते हैं। पण्डित बाबू लाल जी अपनी लगन के पक्के और विद्या-प्रसार के प्रति गहन-निष्ठा वाले व्यक्ति थे। स्वर्गीय सिंघई बंधु वात्सल्य-पूरित, उदार और दूरदर्शी महापुरुष और हमारे गुरु जी पण्डित जगन्मोहन लाल जी एक ऐसे साधक हैं जिन्होंने समाज के अंधकार-आवेष्ठित कोनों तक ज्ञान का प्रकाश पहुँचाने में अपना पूरा जीवन ही लगा दिया। ऐसे शुभानुध्यायी व्यक्तित्व सदैव समाज की संस्तुति और श्रद्धा के पात्र रहे हैं। समाज को उनसे दीर्घकाल तक प्रेरणा मिलती रहेगी, ऐसी आशा है।

श्री अतिशय क्षेत्र कुंडलपुर में स्थित श्री जैन उदासीन आश्रम के संस्थापक

पं० बाबू लाल जी शास्त्री
भू० पू० प्रधानाध्यापक, जैन पाठशाला, कटनी, मध्य-प्रदेश

पूज्य बाबा गोकल प्रसाद जी वर्णी के संस्मरण और शिष्य को आशीर्वचन

कटनी की जैन शिक्षा संस्था से आज जैन समाज भली-भांति परिचित है। यह संस्था प्रतिवर्ष अनेक विद्यार्थियों को विद्वान् बनाकर जन-साधारण की भली-भांति सेवा कर रही है और दिनोंदिन प्रगतिशील है। इसकी प्रगति में इसका सुव्यवस्थित रूप में हो रहा संचालन मुख्य सहायक है, जो इसे लोकप्रिय बनाकर इसका भरण-पोषण कर रहा है। इसका श्रेय इसके सुयोग्य संचालक वाणी-भूषण, व्रती पंडित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री को है। जिस भांति शैशव अवस्था में माता की अमित ममता से हुए लालन-पालन और सिखाये गए बोलचाल, व्यवहार आदि का स्मरण कर कृतज्ञ-जन वयस्क होने पर अपनी माता की सेवा करना अपना कर्तव्य मानता है, ठीक उसी प्रकार ये भी इस संस्था की सेवा करने में अथक परिश्रम कर रहे हैं। आज के पचास वर्ष पूर्व इस संस्था की जननी जैन पाठशाला में आपने हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत भाषा में लौकिक तथा जैनधर्म विषयक ज्ञान बालबोध और प्रवेशिका कक्षाओं में पढ़कर प्राप्त किया था और उसी के आधार पर स्नातकोत्तर ज्ञान संपादन कर समाज व राष्ट्र-सेवा तथा जैनधर्म प्रभावना बढ़ाने में समर्थ हुए। ये संस्था के उसी ऋणभार के चुकाने के रूप में आज अथक परिश्रम कर रहे हैं। आपने अपने बाल्य जीवन में अपने पूज्य पिता स्वर्गीय बाबा गोकल प्रसादजी की व्रती जीवनचर्या से जो आदर्श सदाचार का अभ्यास किया था, आज अपना उसी के अनुकूल इन्द्रिय-जित व्रती जीवन बनाये हुए अपने छात्रों को भी सदाचारी बना रहे हैं। इतना ही नहीं, चारित्र पालन में अत्यन्त प्रमादी पंडितों के सन्मुख आदर्श भी उपस्थित कर रहे हैं।

पंडित जी के पिता श्रीमान् गोकल प्रसाद जी जबलपुर जिलान्तर्गत मझौली कस्बा के निवासी सद् गृहस्थ सज्जन थे। आपकी एक कन्या विनयश्री और एक पुत्र जगन्मोहन-मात्र दो सन्तानें थीं। आप कन्या का पाणिग्रहण जबलपुर के कालेज के विद्यार्थी सदाचारी नवयुवक सिंघई बट्टीलालजी के साथ कराकर निश्चिन्त हुये थे कि दैवदुर्विपाक से कहें सन् १९०९ में बीमारी से आक्रांत होकर आपकी सुलक्षणा आज्ञाकारिणी पतिव्रता धर्मपत्नी स्वर्गवासिनी हो गई। इनके वियोग से आप दुःखी हो गये। इसके कुछ दिनों के पश्चात् आप कटनी में आये। यहाँ आपके मौसेरे भाई स. सि. कन्हैया लाल जी, रतन चंद जी. दरबारी लाल जी और परमानंद जी सम्मिलित रूप में रहते थे। ये कटनी के सुप्रतिष्ठित सवाई सिंघई कन्हैया लाल गिरधारी लाल फर्म के स्वामी थे। इन चारों भाइयों ने आपका अच्छा आदर किया, भली-भांति समझा बुझाकर आपके संतप्त चित्त को सांत्वना पहुंचाई। अतएव आप कटनी में रहने लगे। बड़े भाई कन्हैया लाल जी ने आपके पुनर्विवाह करने की चर्चा भी चलाई, परंतु आपने उदासीन वृत्ति की ओर प्रगति कर रहे अपने चित्त को पुनः वनिता रूपी बेड़ी में बांधने में अपनी असमर्थता दिखाई। आपने जैनागम का स्वाध्याय द्वारा अध्ययन करना और मनन करना, वैराग्य उपावन भावनाओं का चिन्तन करना ही अपना लक्ष्य बनाया। उस समय मैं कटनी की इसी जैन पाठशाला में अध्यापक था। इसकी स्थापना सन् १९०८ में हुई थी। उस समय यत्र-तत्र जो जैन समाज की पाठशालायें चालू थीं, उनमें

रात्रि के समय सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों को केवल धर्म विषय की शिक्षा ही दी जाती थी। स्कूलों में पांच छः घन्टों में भाषा, साहित्य, गणित, भूगोल, पदार्थ विज्ञान आदि अनेक विषयों को पढ़ने में तल्लीन विद्यार्थी इस धर्म शिक्षा को ग्रहण करने में बहुत कम मन लगाते थे। मेरा सुझाव था कि प्रयोजनीय व्याबहारिक विषयक ज्ञान कराने वाले विविध विषयों के साथ एक ही शाला में साथ में जैन धर्म की भी शिक्षा दी जावे, जिससे वे इसे भी मनोयोग से ग्रहण करके लाभान्वित होते रहें। यद्यपि मैं स्कूल के पाठ्य विषयों की शिक्षा देने में भली-भांति अभ्यस्त था, परंतु जैन धर्म विषयक ज्ञान से प्रायः अछूता ही था, किन्तु उसे पाने के लिये अत्यंत लालायित था और प्रयत्नशील भी था।

ज्ञान के बिना क्रियायें फलदायक नहीं है। बाबा जी ने ऐसा अनुभव करके आत्मा के परम कल्याण-कारी चरित्र को सार्थक बनाने के लिये आगम ज्ञान का अभ्यास करना आवश्यक माना। अतएव इसे प्राप्त करने के लिये आपने जैन शास्त्रों का स्वाध्याय करना प्रारंभ किया और आगम ज्ञान को प्राप्त करने की अभिलाषा रखने वाले अपने भाई स. सि. रतन चंद जी तथा पटवारी गिरधारी लाल जी और मुझको अपना साथी बना लिया। अब हम चारों ज्ञान-पिपासुओं के सहयोग से इस कक्षा की पढ़ाई प्रारम्भ हुई। प्रतिदिन श्री जिन मंदिर में प्रातः काल डेढ़-दो घंटा बैठकर शास्त्रों का अध्ययन होने लगा। हम चारों ही परस्पर में एक-दूसरे के अध्यापक और विद्यार्थी बनकर शास्त्र पढ़ते, चर्चा करते और अपनी बुद्धि के अनुसार निर्णय करने लगे। जिस बात का संतोषजनक निर्णय न होता अथवा जिस छंद या पंक्ति या शब्द का अर्थ निकालने में बुद्धि काम न करती, उसके सम्बन्ध में निर्णय कराने—अर्थ समझने के वास्ते किताब पर उसे लिखने लगे। दैव-योग से, जब कभी पूज्य पंडित शिरोमणि गोपाल दास जी वरैया से या उस समय के पंडित गणेश प्रसाद जी तथा अन्य जैन पंडितों से भेंट हो जाती, तब लिखी हुई शंकाओं का, प्रश्नों का निर्णय करा लेते, अर्थ को समझ लेते थे। इस प्रकार सतत् प्रयत्नशील रहने से अति अल्पकाल में ही छह ढाला, द्रव्य संग्रह, रत्नकरंडश्रावकाचार, मोक्षशास्त्र, अर्थप्रकाशिका, नाटक समयसार, पंचास्तिकाय आदि महान् ग्रन्थों का अध्ययन करके तत्वज्ञान के अर्थ को संचय करने के योग्य पूँजी रूप में कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया।

हम सबका यह शुभ प्रयत्न चालू ही था कि इसी अवसर पर सतना से पूज्य क्षुल्लक बाबा पन्ना लाल जी का कटनी में शुभागमन हुआ। आपके आगमन से इस स्वाध्याय मण्डली के प्रमुख श्री ब्र. गोकल प्रसाद जी को बड़ा हर्ष हुआ। आपकी उदासीन भावना को प्रेरणा प्राप्त हुई। साथ ही, यह आशा हुई कि कटनी के जैन समाज में विद्यमान फूट महारानी को बिदा मिलेगी जिसके लिये आप पहिले से प्रयत्न कर रहे थे। बाबा जी के उपदेश से बरसों से (पार्टियों में) जो वैमनस्य फैला था, वह दूर हो गया। बरसों से जो खान-पानादि व्यवहार बंद था, वह चालू हो गया। परन्तु इसके स्थान में एक नयी बाधा उपस्थित हो गई। बाबा जी छपे हुए शास्त्रों के पठन-पाठन करने के विरोधी थे। इस कारण आपने श्री मंदिर जी में बैठकर छपे शास्त्रों का पढ़ना बंद करा दिया। साथ ही, शास्त्र भंडार में विद्यमान छपे शास्त्रों को वहाँ से उठवा दिया। बाबाजी के इस आदेश से सम्यग्ज्ञान के प्रसार में जो रोड़ा अटका, उससे स्वाध्याय प्रेमी बंधुओं के चित्त में बड़ा आघात पहुँचा। परंतु उपाय क्या था, गुरु-पद पर आरूढ़ क्षुल्लक महाराज के आदेश को उल्लंघन करने की किसमें सामर्थ्य थी क्योंकि उसके उल्लंघन करने वाले के लिये भविष्य में नरक की भारी यातना को भोगने के सिवाय वर्तमान में पंचों द्वारा दिये जाने वाले दंड को सहने का भय था। यद्यपि कुछ दिनों तक हमारी अध्ययन कक्षा का कार्य सरस्वती भंडार में संगृहीत लिखित शास्त्रों के पठन-पाठन रूप में चलता रहा, परंतु लिखित शास्त्रों में लेखकों की अनभिज्ञता से तथा प्रमाद के वश से अनेक अशुद्धियाँ होने से अनेक स्थलों पर शब्दों के ही समान वाक्य के वाक्य छूटे हुए होने के कारण

वास्तविक अर्थ के बोध करने में बड़ी उलझन उपस्थित होने लगी। जैन पाठशाला में चालू पाठ्यक्रम में जैन धर्म विषयक छपे हुए ग्रंथ छहढाला, द्रव्यसंग्रह, रत्नकरंडश्रावकाचार, मोक्षशास्त्र आदि ग्रन्थों के पढ़ाने में बाबाजी के इस आदेश का प्रतिबन्ध नहीं लगा था। इसको मैंने छात्रों का और अपना शुभ भाग्योदय ही माना था। क्षुल्लक महाराज के इस आदेश से छपे शास्त्रों के अध्ययन में आई हुई बाधा के कारण बाबाजी (गोकुल प्रसादजी) के ज्ञान-पिपासु मन में बहुत ही खिन्नता हुई। इसे कम करने के लिये आपने तीर्थयात्रा की बात सोची। आपके इस विचार के पता लगने पर आप के परम स्नेही बन्धु स० सि० कन्हैयालालजी ने इसकी अनुमोदना करते हुए इस यात्रा में होने वाले सम्पूर्ण व्यय का भार बिना मांगे हुए ही वहन कर लिया। बस, फिर क्या था, अपनी एकमात्र पूंजी बालक जगन्मोहन को साथ में लेकर आपने यात्रार्थ प्रस्थान कर दिया।

आपने अनेक तीर्थों की वंदना करते हुए सन् १९११-१२ में परमपूज्य श्री गोमटेश्वर भगवान् के पादपद्मों के दर्शन करके नरभव को सफल बनाया, तदनंतर वहाँ से चलकर आसपास के क्षेत्रों में विद्यमान भव्यजनों को आत्मबोध कराने वाले श्री जिनबिम्बों के दर्शन करते हुए आप बेलगाँव में आये। संयोग की बात थी कि इस अवसर पर श्री दक्षिण प्रांतीय दिगम्बर जैन सभा का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। अधिवेशन के अध्यक्ष पद के लिये स्वागत कारिणी समिति ने अपने प्रांत की जैन जनता से सन्माननीय निर्भीक स्पष्टवक्ता, जैनधर्म की प्रभावना बढ़ाने में कटिबद्ध रहने वाले उदार पंडितप्रवर पंडित गोपालदासजी वरैया को नियत किया था। इस अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिये कटनी से जाने वाले स० सि० रतनचन्दजी तथा अन्य सज्जनों के साथ मेरा भी वहाँ पहुँचना हुआ था। अधिवेशन का सम्पूर्ण कार्य निर्विघ्नतापूर्वक आनन्द से सम्पन्न हुआ। सभाध्यक्ष पद से दिये हुए भाषण से सर्वसाधारण जनता को संतोष हुआ, विद्वानों को अनेक सैद्धान्तिक गुत्थियों को सुलझाने का लाभ मिला। इस अधिवेशन में उत्तर तथा मध्य भारत के अनेक धीमान् और श्रीमान् जैनबन्धु पधारे थे।

कटनी से गये हुए हम सब बन्धुओं को उस समय बड़ा हर्ष हुआ जब बेलगाँव में अपने श्रद्धा-भाजन बाबा गोकलप्रसाद जी को आत्मज जगन्मोहन सहित देखा। आप तीर्थों की यात्रा करते हुए सकुशल वहाँ पधारे थे। अधिवेशन समाप्त होने पर हमारी मंडली वहाँ से चलकर बम्बई होती हुई कटनी को वापिस आ गई और साथ में बाबाजी को आग्रह करके साथ में लिवा ले आई। श्री १०५ पूज्य छुल्लक पन्नालालजी के जाने के पश्चात् कटनी में श्री १०५ पूज्य ऐल्लक पन्नालालजी महाराज का शुभागमन हुआ, आपने सम्यग्ज्ञान के प्रसार में परम सहायक होने वाले शास्त्रों का छपे हुए होने मात्र से निषेध करने के दिये हुए छुल्लक महाराज के आदेश को अहितकर कहा और खेद प्रकट किया तथा छपे शास्त्रों को मंदिर जी में रखने तथा उनके पठन-पाठन करने की आज्ञा प्रदान की। ऐल्लक महाराज के आने के समय बाबा गोकल प्रसादजी कटनी से यात्रार्थ चले गये थे। बेलगाँव से आने पर बाबाजी ने अपनी स्वाध्याय कक्षा पुनः चालू कर दी। कुछ समय पश्चात् कटनी में प्लेग का प्रकोप होने से नगर-निवासियों को बाहिर जाना पड़ा, रोग शमन होने पर जब हम लोग नगर में आये, तब पुनः स्वाध्याय कक्षा चालू हो गई। यद्यपि बाबाजी का कटनी में अपने सुहृद स० सिं कन्हैयालाल जी रतनचंदजी द्वारा पूर्ण सुविधाएँ होने से मन बिना किसी विघ्न-बाधाओं के सुखपूर्वक धर्मसाधन में व्यतीत हो रहा था, परंतु आपके मन में सदैव ऐसी भावना रहने लगी थी कि कभी ऐसी सुविधा प्राप्त हो जाय कि किसी तीर्थक्षेत्र में अपने ही समान उदासीन वृत्ति वाले मुमुक्षु, त्यागी, ब्रह्मचारी भव्यजनों के समागम में स्नेह का लाभ प्राप्त होने लगे। उस समय आज कल के समान उदासीन आश्रम नहीं थे। आप इसी अवसर पर श्री अतिशय क्षेत्र कुंडलपुर में विद्यमान श्री १००८ भगवान् महावीर जी की यात्रा करने के लिये दमोह को गये, और जन सहयोग से आश्रम की स्थापना भी कुंडलपुर में की। दैवयोग से कुछ समय बाद सागर से न्यायाचार्य पंडित गणेश प्रसाद जी का भगवान् महावीर जी के दर्शनार्थ आना हुआ और दमोह में

बाबाजी से भेंट हुई। पंडित जी ने ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने की अपनी अभिलाषा आपसे प्रकट की। यह सुनकर आप को बड़ा हर्ष हुआ, ज्ञानोपार्जन करके उसके प्रसार में तन-मन से दत्तचित्त पंडितजी के मन को व्रत पालन की ओर आकर्षण बाबा जी के लिये परम प्रमोद का कारण था। बाबा जी के प्रति आचरण में सम्यक् चारित्र की वास्तविकता की झलक देखकर पंडित जी ने आपसे सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की और श्री १००८ परमपूज्य भगवान् के बिम्ब के आगे बाबा जी से ब्रह्मचर्य प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये। ज्ञान प्रसाद के सत्प्रयत्न में अहर्निश प्रयत्नशील महाविद्वान् इस युवक को चारित्र पथारूढ़ करके बाबा जी कटनी को लौट आये। बाबा जी की मनोगत कामना को स्फूर्ति प्राप्त हुई। आप का मुझपर प्यार के सिवाय विश्वास भी था। अतएव आपने मुझसे अपनी हार्दिक अभिलाषा कह सुनाई। साथ ही यह भी कहा कि उदासीनाश्रम के उपयुक्त इस क्षेत्र में कुंडलपुर अतिशय क्षेत्र है। बस, फिर क्या था, आश्रम की वृद्धि के लिए योजना तैयार की गई, साथ ही कटनी की जैन पाठशाला के जैन छात्रावास में, जिसकी स्थापना सन् १९१३ में पूज्य वर्णी जी ने की थी, रहने वाले छात्रों के भोजन आदि की व्यवस्था के लिए शाला के परम हितैषी स० सिं० रतनचन्द और मैं, ग्रीष्म काल के एक माह के अवकाश में देवरी, सिहोरा, पनागर, उमरिया, शहडोल, अकलतरा और राजनादगाँव आदि स्थानों में डेपूटेशन रूप में जाते थे और इस भ्रमण में लगभग बाहर सौ रुपयों की सहायता प्राप्त कर लाते थे। इस भ्रमण में हमें जगदलपुर (बस्तर स्टेट) निवासी श्री मुन्नालाल करोड़ेलालजी, दीपचन्दजी आदि से भी सहायता प्राप्त होती थी।

आश्रम की उन्नति की योजना बन जाने पर इस वर्ष बाबा जी और मैं जगन्मोहन को साथ लेकर भ्रमणार्थ निकले। घर में आवश्यक कार्य के कारण रतनचंद जी का जाना नहीं हो सका। सहायता प्राप्त करके हमारी मण्डली कटनी वापिस आ गई। मुझे उस समय इस बात की कल्पना नहीं थी कि हमारे साथ में संस्था की सहायता के लिए निकला पाठशाला का यह बालक विद्यार्थी अपना भविष्य जीवन, अपनी ज्ञानदात्री जन्मी इस जैन पाठशाला की सेवा में ही बितायेगा।

चंदा करके वापिस आने पर मैंने सं० सिं० कन्हैया लाल जी से बाबा जी की भावना कह सुनाई। इसे सुनकर वे बोले कि भैया का विचार तो अच्छा है, अच्छा होवे कि ये यहाँ ही रहकर त्यागी-व्रती भाइयों को बुला लें और हमको उनकी सेवा सुश्रूषा करने का अवसर देवें और शुभ दान में योग देने की सुविधा प्राप्त कराकर हमको पुण्य का भागी बनावें। यह सुनकर मैंने उनसे कहा कि आपकी उदारता तथा शुभ भावना का बाबा जी को पूर्ण परिचय है। आपका उनके प्रति जो अगाध वात्सल्य है, जिसे भी वे खूब जानते हैं, परन्तु इस स्थान की अपेक्षा वे इस महत्वपूर्ण संस्था के लिए कुंडलपुर क्षेत्र को अधिक उपयुक्त समझते हैं। सिं० जी ने बाबा जी के इन विचारों को सुनकर मुझसे कहा कि हमारी ओर से उनसे कह दो कि वे अपनी इच्छानुसार कार्य करें और अपने मनुष्य जीवन को धर्म-साधन में व्यतीत करें। रही जगन्मोहन की बात, सो इसके लिए हम पहले ही कह चुके है कि वे इसके भरण-पोषण, विद्याध्ययन, विवाह आदि की चिन्ता छोड़कर इससे निःशल्य हो जावें। हम चारों भाई इसे पुत्रवत् मान रहे हैं और आगे भी मानते रहेंगे। इनके पास अभी जो कुछ गहना आदि है, इसे भी ये आश्रम के भण्डार में जमा कराकर निःशल्य हो जावें। हमसे जहाँ तक बनेगा, इनके भविष्य जीवन में भी इनकी यथाशक्ति वैयावृत्ति करते रहेंगे।

मुझसे सिं० जी के ये विचार सुनकर बाबा जी को परम संतोष हुआ। अब इन्होंने उदासीन आश्रम में रहने के लिए, त्यागी-व्रती भाइयों की खोज करने के लिए प्रस्थान किया। ये कटनी से दमोह पधारे और वहाँ की जैन समाज के सन्मुख अपनी इच्छा प्रकट की। इसकी समाज ने हृदय से अनुमोदना करते हुए सराहना की और श्री कुंडलपुर क्षेत्र में खोले गये इस आश्रम की व्यवस्था का भार वहन करने का वचन भी इनको दिया।

बाबा जी ने उस समय तक भ्रमण करके पाई हुई दान की सम्पत्ति, व अपनी दी हुई सम्पत्ति समाज के सम्मुख रख दी। फिर दमोह की समाज ने उदासीन आश्रम की सहायता करने के लिए एक समिति का संगठन किया और उसके पदाधिकारी नियत करके कोषाध्यक्ष महाशय के पास उस सम्पत्ति को उदासीन आश्रम के खाते में जमा करा दिया।

आश्रम की आर्थिक सहायता हेतु बाबा जी जैन समाज की धन-कुबेर नगरी इन्दौर गये। किसी विशेष असवर पर वहाँ समाज एकत्रित की। इन्होंने सभा में अपने उद्गार प्रकट करने की इच्छा व्यक्त की, परंतु सरसेठ सा० ने इनकी साधारण वेशभूषा से इन्हें कोई चंदा माँगने वाला गरीब जानकर बोलने का अवसर नहीं दिया। उस समय सेठजी के पास ब्र० दरयाव सिंहजी सोधिया रहते थे। उन्होंने सेठजी को बाबा जी का परिचय कराया। तब सेठजी ने इन्हें बोलने का अवसर दिया।

त्यागी आश्रम की महती आवश्यकता सुनकर सेठजी को परम आनन्द हुआ। तीनों ही भाइयों ने ग्यारह-ग्यारह हजार रुपया देकर इन्दौर में आश्रम खोलने के लिए बाबा जी से प्रार्थना की। बाबाजी को बहुत आनन्द हुआ और वे सेठजी की इच्छानुसार चार माह इन्दौर में आश्रम की स्थापना तथा उसके संचालन के लिए रहे। बाद में ब्र० पन्नालालजी गोधा को इन्दौर आश्रम का अधिष्ठाता बनवाकर बाबाजी कुंडलपुर वापिस आने लगे। सेठ सा० चाहते थे कि ये यहाँ ही रहें पर बाबाजी कुंडलपुर आना चाहते थे। सेठजी बोले "फिर तुम्हें यहाँ से क्या मिला ?" बाबाजी ने कहा—"एक आश्रम चाहता था, सो मुझे यहाँ दूना लाभ मिला, दो आश्रम हो गये।" सेठ साहब को उनकी धर्मनिष्ठ निरीह-वृत्ति पर आश्चर्य हुआ। बाबाजी कुंडलपुर वापिस आ गये।

कुछ समय पश्चात् कटनी में स० सिं० रतनचंदजी को शरीर में घोर वेदना हुई। उस समय इनके अग्रज स० सिं० कन्हैयालालजी ने इनसे ममतापूर्ण शब्दों में कहा—"भैया, साहस करो, भगवान् की भक्ति शीघ्र ही तुम्हारी इस बेदना को दूर करेगी। हमारा तुमसे इस अवसर पर यह आग्रह है कि बिना किसी प्रकार का संकोच किये, जितनी चाहो उतनी सम्पत्ति दान कर दो। "अश्रुपात करते हुए अग्रज के इन ममता भरे वचनों को सुनकर रतनचंद बोले" "भैया, और भाइयों को भी बुला लो।" इसी समय भाई दरबारीलाल और परमानन्द भी वहाँ आ गये और विनम्र होकर बोले—"भैया, जो कुछ देने की इच्छा होवे, दे डालो। तुम्हारे दिये हुए इस दान से होने वाले पुण्य में हम भी तो भागीदार रहेंगे।" बस फिर क्या था, रतनचंदजी ने मेरी साक्षी देते हुए कहा—"जिस दिन आपने पच्चीस हजार रुपयों का रेहननामा लिखाया था, हमने कक्का से उसी दिन कहा था कि हमारी इच्छा है कि बड़े भैया यह रेहननामा विद्यादान में लिखा दें।" रतनचंदजी की यह बात सच थी, मैंने भी इसे ठीक कहा। इसे सुनकर उपस्थित तीनों बंधुओं ने कहा—"इस रकम को हम सब उसी समम से, भैया की इच्छानुसार, विद्यादान में देना स्वीकार करते है।"

कुछ समय पश्चात् रतनचंद जी स्वस्थ हो गये। इनके स्वस्थ हो जाने पर, इन सब भाइयों ने दान में दी हुई पच्चीस हजार की रकम व इससे मिलने वाले ब्याज की कुल रकम का विधिवत् दान-पत्र लिख दिया। इसमें से आधी रकम से होने वाली आय जैन छात्रावास की सहायतार्थ, और शेष आधी रकम से होने वाली आय जगन्मोहनलाल को सदैव सहायतार्थ दी जाती रहे जिसे प्राप्तकर वे अपनी गृहस्थी के खर्च की चिन्ता से निश्चिन्त रहकर, ज्ञान प्रसार के कार्य में रत रहें। इस दानपत्र के माध्यम से सिंघई जी ने, छात्रावास के संस्थापक अनुज रतनचंद की मनोभावना की, और बाबाजी को दिये हुए वचन की, जगन्मोहन लाल के भरण-पोषण आदि के भार वहन की पूर्ति के अर्थ यह स्तुत्य कार्य किया।

मोरैना के सिद्धान्त विद्यालय और बनारस के स्याद्वाद महाविद्यालय से स्नातक बनकर कटनी आने पर पंडित जगन्मोहनलालजी ने कटनी के जैन पाठशाला के संचालन का भार सम्हाला और मन-वचनकार्य से दत्तचित्त रहकर उस संस्था को प्रगति की ओर बढ़ाते हुए पाठशाला से आज जैन-शिक्षा-संस्था के रूप में परिणत कर दिया है।

आज इस संस्था के अन्तर्गत जैन संस्कृत महाविद्यालय चल रहा है, जिसमें जैन सिद्धान्त के ग्रन्थों के साथ न्याय, व्याकरण, साहित्य, आयुर्वेद और संस्कृत भाषा की शिक्षा दी जाती है। इसके साथ, शासन से मान्यता प्राप्त एक जैन मिडिल स्कूल, जैन माध्यमिक शाला और बालक-बालिकाओं के लिए जैन बालबोधनी पाठशाला का भी संचालन हो रहा है। पंडित जी अपने अभिभावक स्वर्गीय सवाई सिंघई जी के कुटुम्ब के प्रति पूर्ण सहानुभूति रखते हुए कृतज्ञता के साथ उनके दान को सार्थक कर रहे हैं। आप अपनी व्रतीचर्या को पालते हुए जैन समाज की अनेक भारतवर्षीय जैन सभाओं, परिषदों और गुरुकुलों आदि के अध्यक्ष, मंत्री आदि अधिकार के पद प्राप्त करके उनमें अपनी योग्यतापूर्वक सुचारु रूप से संचालन में योगदान दे रहे हैं।

पंडित जगन्मोहन लाल को अपने पूज्य पिता के आदर्श व्रती जीवन को आंशिक परंतु निर्दोष रूप में पालते हुए, तथा अपने पूज्य गुरुजनों तथा अभिभावकों द्वारा स्थापित किये हुए विद्यालय-छात्रावास आदि रूप वृक्ष को सम्हालने में व उसकी प्रगति करने में तल्लीन देखकर मेरा मन सदैव परम प्रसन्न रहता है। विश्ववन्द्य १००८ श्री वीर प्रभु से मेरी प्रार्थना और मनोकामना है कि मेरे प्रिय पंडित जगन्मोहन लाल को अपने परोपकारी कार्यों के करने में सदैव सद्बुद्धि और सहायता प्राप्त होती रहे।

सूझबूझ एवं वाकचातुर्य के धनी पंडितजी के कुछ शिक्षाप्रद संस्मरण

डा० के० एल० जैन, रायपुर

समाज में विद्वानों की उपेक्षा एवं अवमानना

पंडित जगन्मोहन लाल जी शास्त्री भी अपने व्यावहारिक जीवनकाल में अनेक बार समाज की उपेक्षा एवं अवमानना के शिकार हुए हैं। ऐसी स्थितियों में भी उनकी आशुबुद्धि एवं चतुरता उनकी प्रतिष्ठा का ही कारण बनी।

एक बार उन्हें पर्यूषण पर्व में प्रवचनार्थ बम्बई के भूलेश्वर मंदिर की ओर से आमंत्रित किया गया। जब पंडित जी वहाँ पहुँचे, तो वहाँ के पदाधिकारी ने राशन-सामग्री की कठिनाई दूर करने हेतु राशन कार्ड बनवाने (अस्थायी) के लिये पंडित जी से खाद्य एवं आपूर्ति विभाग के कार्यालय में चलने का निवेदन किया। वे इस स्थिति की कल्पना तक नहीं कर सकते थे कि बम्बई जैसे नगर में पहले ही दिन राशन कार्यालय से राशन कार्ड बनवाने पर ही वहाँ की समाज से भोजन प्राप्त होगा। सोचकर उन्होंने पदाधिकारी जी कहा, "मैं शुद्ध भोजन करता हूँ और अपने पास खाद्य सामग्री भी रखता हूँ। आप मेरी चिन्ता न करें।"

उन्होंने तत्काल कटनी तार किया और दूसरे ही दिन उनके पास पर्याप्त खाद्य सामग्री पहुँच गई। इस तात्कालिक सूझ-बूझ से पंडित जी के आत्मगौरव की रक्षा तो हुई ही, इसके साथ ही, पता चलने पर बम्बई समाज के लोगों ने उपरोक्त पदाधिकारी को भी प्रताडित किया और पंडित जी से क्षमायाचना की।

सयोग से, उन्हीं दिनों अहार क्षेत्र के दो प्रचारक विद्वान् वहाँ पहुँचे। पंडित जी ने समाज के लोगों से उनके भोजनादि की व्यवस्था के लिये संकेत दिया। एक सज्जन बोले—इनकी व्यवस्था तो होटल में करा देंगे। पंडित जी ने कहा, "ये पर्यूषण के दिन हैं। फिर भी, उन विद्वानों को न केवल होटल में भोजन हेतु भेजा गया, अपितु अपने भोजन का बिल भी उन्हें ही चुकाना पड़ा।

एक घटना पंडित जी के अध्ययन काल की पन्ना, म. प्र. से संबंधित है। एक बार अहिंसा प्रचारिणी सत्ता की ओर से पंडित जी पं रमानाथ जी के साथ धर्म-प्रचार हेतु पन्ना गये। उन दिनों वहाँ १०-१५ घर जैनों के थे। वे मंदिर में प्रवचन भी करते थे। यातायात संबंधी कठिनाई के कारण वहाँ उन्हें कुछ अधिक दिन रुकना पड़ा। गर्मी के दिन थे, तो पानी भी किंचित् कष्ट साध्य था। उन दिनों समाज के किसी भी व्यक्ति ने इन दोनों को भोजन पानी तक के लिये नहीं पूछा। वे गुड़-चिरोंजी खाकर और आम चूसकर अपने दिन बिताते थे।

इनके निवास के सामने एक ब्राह्मणी रहती थी। उसने उनसे पूछा, "तुम लोग क्या खाते-पीते हो? कुछ बनाते भी नहीं हो।" पंडित जी ने उसे सही स्थिति बताई। उस दिन उसने पानी छानकर भोजन बनाया और दोनों को अपने घर भोजन कराया। शाम को वह ब्राह्मणी वहाँ के प्रमुख जैन के घर गई और बोली, "तुम्हारा समाज कैसा है? तुम पंडितों और विद्यार्थियों को दो चार दिन भोजन भी नहीं करा सकते?"

एक अन्य अवसर पर, नवयुवक सभा, अजमेर के मंत्री ने महावीर जयन्ती के अवसर पर पंडित जी को आमंत्रित किया। पंडित जी वहाँ गये और चार-पाँच दिन रहे। वहाँ उन्होंने सर्वधर्म सम्मेलन एवं मुस्लिम-

धर्मगृह में भी भाषण दिया और प्रतिष्ठा अर्जित की। इतने दिनों निमंत्रणकर्त्ता सज्जन ने पंडित जी से न मुलाकात ही की और न उनकी व्यवस्था की जानकारी ही की। जब पंडित जी लौटने लगे, तब उन्होंने सोनी जी से कहकर निमंत्रणकर्त्ता सज्जन को बुलवाया। उन्होंने उन्हें सलाह दी, "भविष्य में ऐसी भूल मत करना कि किसी विद्वान् को निमंत्रित करो और फिर उसे पूछो ही नहीं।"

पंडित जी के स्मरणकोश में इस प्रकार स्वयं की और अन्य विद्वानों की उपेक्षा के अनेक अनुभव हैं जो छोटे स्थानों के ही नहीं, दमोह, भोपाल जैसे समाज-प्रधान नगरों से भी संबंधित हैं। एक बार पंडित जी कुंडलपुर क्षेत्र के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। इस पर ही अखबारबाजी और राजनीति हो गई। सामाजिक क्षेत्र के अतिरिक्त, साहित्यिक क्षेत्र में भी इस तीर्थ की ओर से पंडित जी को कडुआ घूंट पीना पड़ा है। धार्मिक वृत्ति के संस्कार एवं सम्यक् चारित्र ने ही उन्हें प्रबलित किया है। जब आमंत्रित विद्वानों की यह स्थिति है, तो बिना बुलाये विद्वानों के साथ होने वाले व्यवहार की तो कल्पना ही की जा सकती है। ऐसे अवसरों पर विद्वानों को अपने स्वाभिमान की रक्षा स्वयं करनी पड़ती है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि आज भी इस स्थिति से कोई विशेष परिवर्तन आया हो, ऐसा नहीं लगता। दो वर्ष पूर्व महावीर जयंती के अवसर पर जबलपुर में ही एक विद्वान् के साथ ऐसा ही हुआ था। मेरे साथ भी शहडोल में ही धर्म प्रचार करने वालों ने इसी प्रकार व्यवहार किया था। समाज के अनेक मुखिया आज भी पंडित को समाज चालित पाठशाला वाला मानते हैं और कहते है, "पंडित जी कौन होते है?" यही कारण है कि समाज में क्रमशः पंडित परम्परा का ह्रास हुआ है और नये शास्त्रज्ञ बीसवीं सदी के अनुसार व्यवहार करने लगे हैं। वर्णी स्मृति ग्रंथ, १९७४ में पंडित जी ने लिखा था कि (१) नास्तिकता की वृद्धि (२) विद्वानों के प्रति सम्मान भावना का अभाव (३) वेतन की अल्पता (४) पंडितों से कर्मचारी जैसा व्यवहार तथा (५) व्यक्तिगत जटिलताओं ने इस प्रवृत्ति की गति तेज की है। समाज को चाहिये कि वह इस परम्परा को श्रुत-संरक्षण हेतु ही सही, जीवंत बनाये रखे।

दूसरे की प्रगति में साधक बनने की प्रवृत्ति

पंडित जी से समय-समय पर हुई चर्चा के आधार पर मेरी ऐसी धारणा बनी है कि वे उपादान को ही सब कुछ मानते हैं, निमित्त को विशेष महत्व नहीं देते। परन्तु मैं कार्य संपादन में दोनों को ही बराबर महत्व देता हूँ। इसलिये यह मानता हूँ कि उपादान की योग्यता के साथ-साथ पंडित जी द्वारा अनेक प्रकरणों में दी गई सुविधा, सहायता या साधन के निमित्तों से भी लोगों ने जीवन में प्रगति की है। अपनी संभावित मान्यता के बावजूद भी उनमें परहित निमित्तता की वृत्ति सदा रही है। यहां कुछ ही प्रकरण दिये जा सकते हैं।

(अ) मेरी व्यक्तिगत सहायता

जब पंडित जी १९५३-७३ के बीच जैन-संघ के प्रधानमंत्री एवं 'सन्देश' के सम्पादक थे, तब मैं कुछ दिनों तक व्यवस्थापक का कार्य करता था। मैं कार्यालय जल्दी निपटा लेता था।

मेरी इच्छा थी कि मैं 'साहित्याचार्य' की नियमित कक्षायें पढ़ूँ और अपना भविष्य सुधारूँ। पंडित जी ने इस हेतु मुझे न केवल अनुमति दी, अपितु अनेक प्रचारक विद्वानों के विरोध करने पर भी कार्यालय की साइकिल के उपयोग की भी अनुज्ञा दी। उन्होंने विरोधियों को समझाया, "यदि संस्था के काम का नुकसान न हो तथा व्यक्ति की उन्नति होती हो, तो बाधक न बनकर साधक बनना चाहिये।" मुझे इस बात का भी अनुभव है कि जैन संस्थाओं के अनेक अधिकारी ऐसी प्रवृत्ति के नहीं पाये जाते।

सामान्यतः पंडित जी का अपने अधीनस्थ कार्यकर्ताओं एवं विद्वानों के प्रति मधुर एवं ससम्मान व्यवहार रहता था। इसीलिये कार्यकर्तागण और सहयोगी पीठ-पीछे भी उनकी प्रशंसा किया करते थे। उनका यह प्रयास रहा है कि कुशाग्र बुद्धि छात्र अर्थाभाव के कारण अध्ययन से वंचित न रह पावे।

(ब) क्षमादान से सीख

एक बार संघ के एक प्रचारक ने दूरगामी प्रचारयात्रा के लिये मुझे प्रथम श्रेणी के यात्राव्यय का बिल दिया और उसने कल्पित टिकिट नम्बर लिख दिया। जांच करने पर मुझे पता चला कि किसी विशिष्ट दिन प्रथम श्रेणी का कोई टिकिट ही नहीं बिका। संबंधित प्रचारक ने अपनी भूल स्वीकार की। मैंने पंडित जी से इसकी रिपोर्ट की, उन्होंने प्रधानमंत्री के रूप में विद्वान् को समझाया और उसकी भूल को क्षमाकर दिया। इससे उसका भविष्य ही सुधर गया।

(स) तेल-चोर की सहायता

जब पंडित जी काशी में अध्ययन करते थे, उस समय विद्यालय के छात्रावास में बिजली नहीं थी। छात्रों को पढ़ने के लिए लालटेन या डिब्बी का तेल दिया जाता था। उन दिनों एक छात्र रात में काफी देर तक पढ़ते थे और उनका तेल उन्हें पूरा नहीं पड़ता था। अतः वे रात में दूसरों की लालटेनों का तेल चोरी से निकाल कर अपनी डिब्बी में डाल कर पढ़ा करते थे। एक रात ऐसा करते हुए पंडित जी ने उन्हें देख लिया। पूछने पर उन्होंने सच बात बता दी। पंडित जी ने उस छात्र से कहा, "आज तेल चुराते हो, यही आदत बन गई, तो आगे अन्य चीजें भी चुराओगे। ऐसा नहीं करना चाहिये।"

पंडित जी ने यह बात अपने पिता जी से कही। उन्होंने उदारतापूर्वक कहा, "तुम अपनी ओर से इस छात्र को आवश्यकतानुसार तेल के लिए पैसे दे दिया करो।" पंडित जी ने बाबा जी की आज्ञा का पालन किया। यह छात्र बाद में अच्छे विद्वान् बने और उन्होंने एक ग्रन्थ की टीका भी की।

इसी प्रकार, एक बार एक सहयोगी विद्वान् के पुत्र को भी उन्होंने शिक्षा संस्था में अशंकालिक काम देकर अधिक वेतन दिया और सहायता की। इस सुविधा से उस छात्र का अध्ययन निरंतर चलता रहा और उसने जीवन में अच्छी प्रगति की। एक अन्य छात्र कटनी से पढ़कर वाराणसी गया। एक बार वह पंडित जी के पास आया और बोला, "पंडित जी, मेरे पास परीक्षाफार्म भरने को पैसा नहीं है। यदि फार्म नहीं भर सका, तो वर्ष बरबाद हो जायगी।" पंडित जी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को उसकी सहायता करने का निर्देश दिया। बाद में वह छात्र उच्च अध्ययन कर अच्छे पद पर पहुँचे।

सूझबूझ एवं चतुराई : (अ) शहडोल के नायक परिवार में सुलह

पंडित जी ने अनेक अवसरों पर व्यक्तिगत समस्याओं एवं सामाजिक संस्थाओं की जटिल परिस्थितियों पर अपनी चतुरता एवं सूझबूझ का उपयोग कर जन-सामान्य को प्रभावित किया है। शहडोल के प्रतिष्ठित एवं धार्मिक नायक परिवार में बटवारे को लेकर वैमनस्य हो गया। मामला न्यायालय में भी गया। एक बार पंडित जी एक वेदी प्रतिष्ठा के समय शहडोल आये। दोनों पक्षों ने अपना प्रकरण पंडित जी को समझौता कराने हेतु सौंप दिया। उन्होंने भी अपनी यात्रा स्थगित कर अपनी सूझ-बूझ एवं चतुराई से दोनों पक्षों में राजीनामा करा दिया। इसे मैंने ही लिपिबद्ध किया था और इसकी प्रति मेरे पास अब भी मौजूद है। इसमें पंडित जी के व्यक्तित्व ने भी सहायता की। दोनों पक्षों ने मामले उठा लिये और अब समृद्ध व्यापार कर रहे हैं।

साधुवाद आयोजन का चक्र-व्यूह टूटा

पंडित जी के साधुवाद आयोजन की योजना की पृष्ठभूमि १९८० में निर्मित हुई थी। अपने अनुभवों के आधार पर इसकी बात सुनकर वे परेशान से हो जाते, इसमें उन्होंने कभी स्वयं रुचि नहीं दिखाई। इस विषय में उनके भक्त ने उपयोगिता, परंपरा पालन एवं ईमानदारी संबंधी प्रश्नचिन्ह भी प्रकट किये। उन्होंने मुझे लिखा था कि मैं इसका विरोधी हूँ एवं जैन संदेश में प्रतिवाद प्रकाशित कराना चाहता हूँ। पंडित जी के रुख को भाँप कर यह योजना अनेक बार अनेक कारणों से स्थगित होती रही। परंतु जब यह चर्चा समाचार पत्रों में मतमतान्तरों का विषय बनी और आयोजकों की सदाशयता पर प्रश्नचिन्ह लगने लगे, तब एक अच्छे चक्रव्यूह का निर्माण-सा प्रतीत होने लगा। विवाद का प्रत्युत्तर संवाद ही है। यह ध्यान में रखकर हमारे मित्र डा० जैन जैसे धुन के पक्के व्यक्ति ने इस आयोजन हेतु संकल्प लिया और मैं भी उनके साथ हो गया। इसके कई कारण थे। मुझे उनका यह तर्क बहुत जंचा कि पण्डित जी के समान शास्त्रज्ञ नेमचंद्र सूरि, हेमचंद्र और आशाधर पण्डित के द्वारा निर्दिष्ट गृहस्थों को अपने कर्त्तव्यों को करने में कैसे बाधक हो सकते हैं ? इससे मैंने सुझाव दिया कि शास्त्रीय निर्देशों के अंतर्गत आने वाले कर्त्तव्यों के प्रति आप तटस्थ रहें। आखिर, इसके बावजूद भी डा० धर्म सागर जी का अभिनंदन ग्रन्थ प्रकाशित हुआ ही है। यही नहीं, आ० देशभूषण जी का 'आस्था एवं चिन्तन' भी आठ वर्ष के प्रयत्न से उनके आशीर्वचन सहित लोकार्पित हुआ है और अब आचार्य श्री विमल सागर जी के लिये ऐसे ही साहित्यिक यज्ञ की तैयारी चल रही है। मुझे लगता है कि पूज्य पंडित जी को मेरा निवेदन जंचा और उन्होंने तटस्थ रुख अपना कर चक्रव्यूह को तोड़ने जैसा महान् प्रेरणादायी कार्य किया।

सहयोग का अभाव कार्य में उतना बाधक नहीं होता, जितना उसका विरोध। पण्डित जी ने अपने मौन भाव से आयोजकों की सभी बाधायें दूर की और उनका शक्ति-संचय बढ़ाया।

सर्वधर्मसम्मेलन एवं दरगाह शरीफ, अजमेर में प्रवचन, १९५०

महावीर जयंती, १९५० के अवसर पर पंडित जी अजमेर निमंत्रित थे। उस अवसर पर एक सर्वधर्म सम्मेलन आयोजित किया गया था। इसमें लगभग ५००० लोग उपस्थित थे। वक्ता को दूसरे के धर्म पर आक्षेप न करते हुए भाषण की शर्त थी। पर वैदिक प्रतिनिधि ने जैन धर्म को नास्तिक कह ही दिया। पंडित जी तो अनेकान्ती ठहरे। उन्होंने कहा "यदि मैं आपका वेद नहीं मानता, इसलिये नास्तिक हूँ, तो आप भी मुस्लिमों का कुरान, ईसाइयों की बाइबिल और जैनों का मोक्षशास्त्र नहीं मानते, इसलिये आप भी हम सब लोगों की दृष्टि से नास्तिक है।" पंडित जी ने अस्तित्व का व्युत्पत्ति-लब्ध अर्थ बताया कि अस्तित्व में विश्वास करने वाला आस्तिक कहलाता है। किसका अस्तित्व ? अपना, आत्मा का, परमात्मा का, पुनर्जन्म, परलोक और कर्मफल का किसी का भी अस्तित्व विश्वासी आस्तिक है। यहाँ बैठे सभी लोग आस्तिक हैं क्योंकि वे इनमें से किसी न किसी के अस्तित्व में आस्थावान् हैं।

पंडित जी के इस वाक्चातुर्य ने सभी श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया। वक्तागण तो प्रभावित हुए ही, पर वहाँ की दरगाह शरीफ के मौलवी साहब अत्यंत प्रभावित हुए। उन्होंने पंडित जी से दरगाह शरीफ पर प्रवचन हेतु निवेदन किया। उन्होंने कहा, "सुबह आप हमारे मंदिर आइये। फिर शाम मैं आपके यहाँ चलूंगा।" सुबह मौलवी साहब जैन मंदिर पहुँचे, पूर्ण शुद्धता और विनय के साथ प्रवचन में बैठे। कर्मणा जैन के विश्वासी पंडित जी को 'जन्मना जैनों' की नजरों में भटकाव दिखा, उन्होंने मौलवी साहब को अपने बगल में बैठने का निवेदन कर लिया और फिर शान्त वातावरण में राजा श्रेणिक द्वारा यशोधर मुनि के गले में सर्प डालने की कथा सुनाई।

मौलवी साहब यह सुनकर चकित रह गये कि मुनि जी ने आंखें खोलते ही रानी चेलना और श्रेणिक दोनों को धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया एवं समभाव प्रकट किया। मौलवी साहब को जिज्ञासा हुई कि कोई भी व्यक्ति अपने विरोधी पर समदृष्टि कैसे हो सकता है? उन्हें जैन साधु के दर्शन की अभिलाषा भी हुई।

सर सेठ सोनी जी की अनुमतिपूर्वक पंडित जी अपने वाक्चातुर्य से ४०० श्रावकों के साथ दरगाह शरीफ पर भाषण करने गये। वहां ४-५ हजार जन-समुदाय मौजूद था। आपने ४० मिनट के भाषण में श्रोताओं में राष्ट्रीयता, एकता, भाईचारा तथा अहिंसा के पालन की व्याख्या से एक नया जागृति मंत्र फूंक दिया। आपने मुस्लिम भाइयों को अतिथि बताया और उनके खुदा की इबादत करते हुए कहा कि जब खुदा ने हमें और जानवरों को-सभी को, दुनिया को बनाया है, खुदा की बनाई दुनिया की वस्तुओं को तोड़े, तो कैसा लगेगा? अहिंसा ही हमें भाईचारा सिखाती है। हमें एक दूसरे से मेल-मिलाप करना बताती है। सभी धर्मों में यही सिखाया गया है। इस तरह धर्म विशेष का नाम लिये बिना सभी धर्मों के मूल सिद्धान्त की प्रभावक चर्चा अजमेर में काफी समय तक चली। इस व्याख्यान को अजमेर के सभी पत्रों, आजाद, नवज्योति, अमर भारत तथा दरबार अजमेर ने मुखपृष्ठ पर प्रकाशित किया। यह घटना पंडित जी की व्याख्यान-कला एवं विषय-प्रस्ताव की प्रभावी विधि का निरूपण है।

सन्मति सन्देश के 'राम' और पंडित जी की सूझबूझ

वर्ष १९५७-५८ की बात है जब क्षु० सहजानंद वर्णी की वरद छत्रछाया में 'सन्मति सन्देश' मासिक जबलपुर से प्रकाशित होता था। उसमें भगवान् राम के संबंध में एक लेख प्रकाशित हुआ। यह जैन रामायण पर आधारित था। पारस्परिक मत-प्रतिस्पर्धा ने इस लेख को सांप्रदायिक रूप दे दिया। बस क्या था, जैनेतर संप्रदाय के लोगों ने जैन बोर्डिंग के जैन मंदिर की छोटी-बड़ी मूर्तियों को खंडित कर दिया। कुछ बड़ी मूर्तियाँ तो इस प्रकार तोड़ी गई थी कि जैनेतर लोग भी दुःखी हुए। कुछ ही समय में इस घटना ने विकराल रूप लिया और जैनों के साथ दुर्व्यवहार, मारपीट, दूकानों की लूटपाट एवं क्षतिकरण के कार्य किये गये।

सरकार से गुहार करने पर उसने श्री गमन लाल बागडी व सुश्री रूपरानी को उत्तेजना शान्त करने एवं सौहार्द स्थापित करने के लिये जबलपुर भेजा। जैन समाज, जबलपुर की ओर से अनेक तर्क-वितर्कों के बाद पंडित जी को प्रतिनिधि बनाया गया। शासन के प्रतिनिधि के रूप में श्री मिश्री लाल जी गंगवाल ने सुझाव दिया, "घटना तो घट ही गई है। अब इन मूर्तियों को सिरा देना चाहिये और ऐसे उपाय करना चाहिये कि भविष्य में ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो।"

उस समय 'धर्मयुग' पत्रिका में खंडित मूर्तियों के चित्र प्रकाशित हुए थे और समूचे देश का जैन समाज क्षुब्ध था। इस क्षेत्र को शान्त करने के लिए पंडित जी ने शासन के प्रतिनिधियों से कहा, "हम आपके सुझाव का आदर करते हैं। पर समाज के क्षोभ को शान्त करने के लिये यह आवश्यक है कि शासन एक जनसभा द्वारा ऐसी घटना के लिये खेद प्रकट करे एवं आश्वासन दे। इसके बाद मूर्तियों को सिराने में हमें कोई आपत्ति नहीं होगी।" अनेक प्रकार के मतों को सुनने के बाद युक्ति से काम लिया गया और सभी संप्रदाय एवं पार्टियों के सहयोग से जनसभा आयोजित हुई और उसमें जैन समाज के प्रति हुए दुर्व्यवहार एवं उनकी मूर्तियों के प्रति किये गये असम्मान को अनुचित बताते हुए भविष्य के लिये सुरक्षा का आश्वासन दिया गया। इस अवसर पर पंडित जी ने बड़ा मार्मिक भाषण दिया।

उन्होंने कहा, "हिन्दू रिषभदेव को अवतार मान कर पूजते हैं। हम उन्हें भगवान् मान कर पूजते हैं। वे राम को अवतार मान कर पूजते हैं, हम भी उन्हें सिद्ध मानकर पूजते हैं। पत्रिका के लेख में राम को सिद्ध मान कर हमने उन्हें पूज्य ही माना है, उनका कोई अनादर तो नहीं किया है। मोक्षगामी मान कर भी पूज्य ही माना है। इसमें क्या गाली दी ? इस प्रकार रिषभ और राम में पूज्यता की दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। फलतः जिसने भी रिषभ की मूर्ति खंडित की है, उसने राम की मूर्ति तो पहले ही खंडित कर ली। हम अपने णमोकार मंत्र में सिद्ध के रूप में राम को प्रतिदिन नमस्कार करते हैं। ऐसी स्थिति में क्या मूर्ति खंडन विवेकपूर्ण माना जा सकता है ?

श्री मगन लाल वागडी ने भी कहा कि उन्होंने वह लेख पढ़ा है जो मूर्ति-खंडन कांड की जड़ है। उसमें कोई भी अनुचित बात नहीं है। मैं कह सकता हूँ कि जैनों के साथ अन्याय हुआ।

जन सभा के बाद पंडित जी ने निर्णय लिया कि खंडित मूर्तियों को दूसरे दिन शोभायात्रा सहित नर्मदा में विसर्जित किया जावे। इसके लिये निःशुल्क वसों की व्यवस्था की गई और विसर्जन हेतु लगभग ५००० जैनाजैन जनता एकत्र हुई। इस अवसर परम० प्र० के तत्कालीन मुख्यमंत्री डा० काटजू, श्री मिश्री लाल जी गंगवाल तथा जबलपुर संभाग के कमिश्नर भी मौजूद थे। विसर्जन समारोह शास्त्रोक्त विधि से गरिमामय वातावरण में संपन्न हुआ।

इस समारोह के अवसर पर यह आवाज भी आई कि इसके लिये मुहूर्त शोधना चाहिये। पंडित जी ने वाक्चातुर्य से कहा, "जन्म और विवाह के मुहूर्त देखे आते हैं। मरण का मुहूर्त नहीं देखा जाता। जब प्रतिष्ठित मूर्तियां खंडित हो गई, तो मुहूर्त का महत्व ही क्या रहा ?"

यह घटना पंडित जी की तत्काल बुद्धि एवं वाक्चातुर्य की अजीब मिसाल है।

●

मोरेना के मेरे आदर पात्र और मार्गदर्शक

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन
बंबई

मोरेना जैन विद्यालय कभी एक शान थी। मुझे भी कुछ समय वहाँ अध्ययन करने का अवसर मिला है। मेरे जैसे नये विद्यार्थी का ध्यान एक बात की ओर बारबार जाता वह थी जगन्मोहन लाल जी और कैलाशचंद्र जी की जोड़ी। जब देखो, तब एक साथ। एक साथ रहते, एक साथ पढ़ते, साथ ही स्नान करने जाते, साथ-साथ देव दर्शन के लिए मंदिर जाते, एक साथ भोजनालय में भोजन करते और सायकालीन भ्रमण में भी साथ-साथ रहते। लगता था एक आत्मा दो शरीरों में विद्यमान है। हम लोग बड़े गौरव के साथ उनकी प्रवृत्तियाँ देखते और मन ही मन गर्व का अनुभव करते—विद्यालय के वरिष्ठ विद्यार्थी जो वे थे। शायद ही उनसे बातचीत करने का कभी शुभ अवसर मिला हो। और तो और, सामने आ जाने पर 'अभिवादन' करने की भी हिम्मत कभी नहीं हुई। एक बार गर्मी की छुट्टियों में मैं नजीबाबाद गया हुआ था। देखता क्या हूँ कि दोनों स्नेही मित्र छोटे तागे पर सवार हुए चले आ रहे हैं। लेकिन क्या आप समझते हैं कि मैंने उनसे मिलने की या हाथ जोड़कर अभिवादन करने की हिमाकत की? नहीं, बिलकुल नहीं। मैं एक ओर को खिसक गया जिससे वे मुझे देखकर पहचान न सकें। वरिष्ठ छात्र जो वे थे। मेरे आदर के पात्र।

यह जानकर दुख होता है कि आजकल मोरेना-जैसे अनेक पुराने जैन विद्यालयों की गरिमा क्षीण हो गई है। वस्तुतः पुरातन और नूतन के बीच होनेवाले संघर्ष में हम बुरी तरह फस गये हैं। युवकों को मार्गदर्शन की आवश्यकता है। अर्थकरी विद्या की व्यावहारिकता के आगे धर्मशास्त्र की महत्ता सिद्ध करने की आवश्यकता है। यह प्रसन्नता की बात है कि मोरेना विद्यालय में पढ़े पंडित जी ने जैन समाज में प्रतिष्ठित एवं विशिष्ट आदर का स्थान बना लिया है। वे नयी पीढ़ी का मार्ग दर्शन करें, यही कामना है।

खण्ड १

पण्डित परम्परा और पण्डितजी

(ख)

पण्डितजी कृतित्व एवं समीक्षण

अध्यात्म अमृत-कलश : एक समीक्षा

डा० हुरींद्र भूषण जैन
निदेशक, अनेकांत शोधपीठ, बाहुबली-उज्जैन (म० प्र०)

जैनों में कुंदकुंद के प्राभृतत्रय की मान्यता पिछले एक हजार वर्षों से अविच्छिन्न बनी हुई है। इनमें भी समयसार का महत्त्व सर्वाधिक है। यद्यपि यह ग्रन्थ मुख्यतया यति और मुनिजनों को शुभ एवं शुद्ध उपयोग के प्रति प्रेरणार्थ निबद्ध है फिर भी इसमें ज्ञानी के समान अज्ञानी भी अज्ञान विमूढ़ता, ज्ञानमय प्रणाध्यन के अनुसार ज्ञान-भाव के उच्चतम स्तर को प्राप्त करने के लिये प्रेरित किये गये हैं। इस ग्रन्थ पर आशाचन्द्र, जयसेन, शुभचन्द्र, राजमल, बनारसीदास, गणेश प्रसाद वर्णी आदि की टीकायें इसकी महत्ता और लोकप्रियता व्यक्त करती हैं। पंडित जी के अनुसार (i) गुरुजनों द्वारा जागृत रुचि, (ii) इन्दौर में दो बार पर्यूषणवाचना के समय जिज्ञासुओं के शंका-समाधानों के प्रकाशन का तीव्र आग्रह एवं (iii) स्वांत: सुखी आत्मप्रबोध के परिप्रेक्ष्य में अमृतचंद्र के समयसार के पद्यबद्ध 'अमृत-कलशों' पर उन्होंने विस्तृत टीका लिखी और उसका नाम 'अध्यात्म अमृत-कलश' रखा। अन्य टीकाओं की तुलना में जिज्ञासुओं के हितार्थ ४७७ प्रश्नों का आध्यात्मिक एवं आगमिक दृष्टि से किया गया समाधान इस ग्रंथ का हार्द एवं वैशिष्ट्य है।

अध्यात्म अमृत-कलश १९ × २७ सेमी० के ४०९ पृष्ठों में निबद्ध है। प्रस्तावना, प्राक्कथन आदि के ७० पृष्ठ इसके अतिरिक्त हैं। इसका प्रथम प्रकाशन १९७७ में श्री चंद्रप्रभ दिगंबर जैन मंदिर, कटनी से हुआ। इसकी द्वितीयावृत्ति १९८१ में आई और अब तृतीयावृत्ति मुद्रण में गई है। इससे इस ग्रंथ की लोकप्रियता ज्ञात होती है। इस प्रकाशन संस्था के सर्वस्व श्री धन्यकुमार सिंघई ने संस्थापरिचय में इस बात पर बल दिया है कि जिन मंदिर का द्रव्य केवल मंदिर-मूर्ति निर्माण में ही व्यय न कर जिनवाणी के ऊपर भी व्यय किया जाना चाहिये। यह जिनवाणी प्रसार के लिए प्रेरक प्रक्रिया है। (इसी मंदिर से अभी कुमार कवि रचित 'आत्मप्रबोध' भी पंडितजी के भाषान्वयार्थ सहित प्रकाशित हुआ है।) पंडितजी के अनन्य सहाध्यायी स्व० पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्री के 'प्राक्कथन' एवं पं० फूलचंद्रजी शास्त्री के 'जिनशासन' शीर्षक वक्तव्यों से तथा उपाध्याय श्री विद्यानंदजी एवं आचार्य श्री विद्यासागरजी के निर्देशानुग्रहों से इस ग्रंथ की आगमाविरोधिता तथा प्रामाणिकता पुष्ट होती है।

ग्रंथ की प्रस्तावना

इस टीका ग्रंथ की प्रस्तावना में टीकाकार पंडितजी ने प्रामाणिक साक्ष्यों द्वारा अमृतकलशकार अमृतचन्द्र को नंदिसंघी आचार्य यथाजातरूप निर्गुणता के पोषी एवं शुद्धाम्नायी प्रमाणित किया है और उनका समय ९०५-९९६ ई० निर्णीत किया है। इसके अतिरिक्त पंडितजी ने अमृतचन्द्र और जयसेन द्वारा की गई 'समयसार' टीकाओं में पाई जाने वाली भाषा-संख्याओं के अन्तर-सम्बन्धी डा० उपाध्ये की व्याख्या को आलोकित करते हुए स्पष्ट मत दिया है कि इनमें अधिकांश गाथायें क्षेपक हैं मूल नहीं। उन्होंने यह भी उद्धृत किया है कि बलभद्रजी ने अपने समयसार-संपादन के समय पैंतीस ताड़पत्रीय प्रतियों में से अजमेर व मूड़बिद्री की प्राचीन प्रतियों में अमृतचन्द्र के अनुरूप ही गाथायें पाईं। समयसार पर भावी लेखकों को यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिये। साथ ही उन्हें प्राचीन आचार्यों की कृतियों के अन्तः-परीक्षण एवं समीक्षण के बाद ही उनकी यथार्थता का प्रतिपादन करना चाहिये। इन मतों से अनेक भ्रांतियां निरस्त हुई हैं। प्रस्तावना के दूसरे अंश में आठ ऐसे ग्रन्थांतगति प्रकरणों का संक्षेपण किया है जो वर्तमान युग में चर्चा के विषय बने हुए हैं। इनमें से निम्न चर्चायें महत्वपूर्ण हैं :

(i) पंडितजी ने यह स्पष्ट बताया है कि आरम्भिक और आध्यात्मिक निरूपण दृष्टियों में मात्र आभासी विरोध है। यह नयदृष्टि से सामंजस्य और अविरोध का रूप लेता है। एक ओर जहाँ अध्यात्म-मार्ग

शुद्धोपयोगी है, वहीं आगम-मार्ग शुद्धोपयोग को भी महत्व देता है क्योंकि यही शुद्धोपयोग का मार्ग है। अध्यात्मदृष्टि साक्षात् साधन को ही साधन मानती है जब कि आगमिक दृष्टि इसे तो स्वीकार करती ही है, अन्य निमित्तों को भी साधन मानती है। आगमिक दृष्टि पर्याप्त व्यापक है एवं सर्वजन हिताय है। एक दृष्टि सिद्धान्त है, तो दूसरी सिद्धान्त तक पहुँचाने का मार्ग है। इसी आधार पर व्रतादि की उपयोगिता का पंडितजी ने पूरी तरह समर्थन किया है।

(ii) पंडित जी श्रावक को, अज्ञानी को भी समयसार—जैसे सिद्धांत ग्रन्थों के अध्ययन-मनन का अधिकारी मानते हैं और, संभवतः पद्मनंदि के 'तत् प्रति प्रीतिचित्तेन निश्चतं भवेत् भव्यो' के मत के समर्थक हैं। द्वादशानुप्रेक्षा में उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रों का निरूपण भी इसी मत का पोषक है। इस प्रकरण में यदि किंचित् आनुभविक, बौद्धिक या मनन-स्तर की कोटि का निरूपण भी, शास्त्रीय भाषा के साथ होता, तो अधिक उपयुक्त होता।

(iii) कुंदकुंद बड़े वैज्ञानिक थे। उनका कथन है कि जीवन के शुद्धतत्त्व को स्वानुभूति, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ही जाना जा सकता है। उसे मेरे कहने से स्वीकार न करें। पंडित जी ने पाया है कि अमृतचंद्र ने अपने कलशों में लगभग दो दर्जन स्थलों पर अध्यात्म-विद्या की स्वानुभविता का उल्लेख किया है। वैज्ञानिक बाह्यजगत् के लिये प्रयोग-सिद्धता को महत्व देता है तो आध्यात्मिक अन्तर्जगत् के लिये अन्तःप्रयोगों को स्वीकार करता है। पंडितजी ने द्रव्य एवं पर्यायगत शुद्धता की चर्चा कर अमृतचन्द्र के आभासी विरोधी कथनों (प्रवचनसार २३७, २५४) का अच्छा समाधान किया है।

(vi) पंडित जी ने चतुर्थ गुणस्थानी अविरत सम्यग्दृष्टि को प्रमाणोपेत तर्कों के द्वारा सम्यक् चारित्री बताया है, पर संयमाचरणी नहीं। वह संयमाचरणी अनन्तानुबंधी के अतिरिक्त अन्य कषायों के अभाव में ही हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि संयमाचरण चारित्र का स्तर उच्चतर होता है।

(v) पंडित जी ने मतिश्रुत ज्ञानियों के आत्म-प्रत्यक्ष संबंधी चर्चा में मतिज्ञान के स्वसंवेदन-रूप प्रत्यक्षत्व के संबंध में अनेक आचार्यों को मत देकर अपनी गम्भीर एवं तुलनात्मक अध्ययनशीलता का परिचय दिया है। उन्होंने पंचाध्यायी के अनुसार, मतिज्ञान के स्वानुभूत्यावरण-भेद के क्षयोपशम में आत्म-प्रत्यक्षत्व का समर्थन किया है। इनकी परोक्षता पर-पदार्थ ज्ञान में ही है।

ग्रंथ में वर्णित कुछ शंका-समाधान

शंका-समाधान 'आत्मप्रबोधिनी' टीका का हार्द है। यह पंडित जी की निश्चय-प्रधान व्यवहारोन्मुखी बौद्धिकता को प्रकट करती है। यह उनकी बहुश्रुतज्ञता, हस्तावलंब सिद्धांतज्ञता, तर्कशक्ति एवं तत्कामी बुद्धि का भी आभास देती है। उन्होंने मंगलाचरण, तीर्थङ्कर की स्तुति, शरीराधारित जिनवाणी मूर्ति की व्यवहारनयात्मक उपादेयता एवं भाषा-रूपकता, केवली की जड़वाणी की शुभकार्य निमित्तताजनित उपयोगिता, जीव के लिये प्रथम हस्तावलंब एवं विभाव वर्णनात्मक रूप में व्यवहारनय की सम्यक्त्वता, पनिहारिन और नृत्यांगना के उदाहरण के द्वारा सत्य-असत्यार्थ के हेयो-पादेयरूप अर्थ का प्रतिबोधन, आध्यात्मिक दृष्टि से पुत्र-मित्रादि या महापुरुषों की जयंतियों को अव्रती दशा का मानकर अविवेक रूप में स्वीकृति एवं दीक्षा दिवस या तीर्थङ्कर कल्याणकों को सम्यग् दर्शन के प्रेरक के रूप में मनाने की स्वीकृति, वर्तमान संसारी जीव की विभाव पर्यायता के भेदज्ञान की सोदाहरण प्ररूपणा, प्रवचन की अनैकानिकता, द्रव्य और भावकर्म के जड़ होनेपर भी उनकी जीव के साथ अनुभाग-शक्ति संयोगजनित निमित्त-नैमित्तिकता, रागादि विकारों के अस्तित्व एवं सत्यत्व के तथ्य को गौण मानकर शुद्धनय की ओर प्रवृत्ति-प्रेरणा, स्वभाव-विभावों का अन्योन्य सम्बन्ध, शुद्ध जीव की अवबोधनता, द्रव्य की त्रैकालिकता एवं पर्याय की तत्कालता के

कारण सत्यासामार्थता, संशय-विपर्यय अनध्यवसाय के अभाव से व्यवहार नय की सम्यग्नयता एवं सापेक्ष सत्यता, व्यवहार चारित्र की शुभोपयोगिता, मोक्षमार्ग निमित्तता एवं पुण्य बंधकता, जीव की कर्माधारित संसरणशीलता की अयथार्थता एवं व्यवहारता, द्रव्याभाव पूजा का अनुकरण, आदर, तद्गुणलब्धिभावना, राग-त्याग वृत्ति के वपन, शुभभाववृद्धिसेरण आदि लक्ष्यों के कारण महती उपयोगिता, क्षेत्रपाल शासन देवता आदि की पूजा की अनागमिकता एवं मिथ्यात्वता, जीव की साध्य-साधकता एवं व्यवहार तथा यथार्थ जीवता, व्यवहार और निश्चयनय की अपेक्षा जीव की उन्नीस प्रकार की विविधरूपता, हेतु-प्रकृति, अनुभाग एवं आश्रय की अपेक्षा, जाति एवं आचारगत शुभाशुभ कर्म की व्यवहारनयिक व्याख्या, मिथ्याबोधार्थ आगमज्ञान तथा बाह्य चारित्र की द्रव्यलिंगिता एवं भावानुचारी फलप्रदत्ता, ज्ञान की परिणामन क्रियता, शुभोपयोग की पुण्यबंधकता एवं मोक्षमार्ग-अकारणता, द्रव्य-पर्यायोजय शुद्धता एवं अशुद्धता की अपेक्षा संसारी और मुक्त की परिभाषा, ज्ञान की ही मोक्षकारणता, ज्ञानाभाव के बदले विकारी ज्ञान की अज्ञानता, संन्यास और सल्लेखना की एकार्थकता, ज्ञानी की अबंधकता की रागाशिकता के आधार पर व्याख्या, संयम की पुण्यबंधकारणता, केवली की निर्मोहिता का निर्दयता परिहरण, चित्तवृत्ति को स्थिर रखने की प्रक्रिया की पुरुषार्थता, हेय पर रागात्मकता का अभाव, रागादिभावों में जीव की उपामान कारणता, द्रव्यकर्म की भावकर्म के प्रति उपादान कारणता, निमित्त और उपादान कारणों की बहिरंग एवं अंतरंग कारणता एवं योग्यता व्यवहार और निश्चयनय की पर एवं मूल सापेक्षता, उपयोगिता एवं स्वाश्रय पर्यायरूप-हेयोपादेयरूप-सत्यासत्यरूपता जैसे अनेक विषयों पर अपने स्पष्ट विचार व्यक्त किये हैं।

भाषात्मक विवेचन

पंडित जी ने कलशों के शास्त्रीय एवं सूक्ष्म सैद्धान्तिक मतों की प्रस्थापनाओं को सहज एवं बोधगम्य भाषा का वेश देकर जन-सामान्य को उपकृत किया है। उनकी भाषा में अनेक बुंदेलखंडी शब्द और मुहावरे पाये जाते हैं जिससे भाषा का माधुर्य भी ओजस्विता ले लेता है। स्थान-स्थान पर उन्होंने अनेक अलंकारों का उपयोग किया है और भाषा में चमत्कारिकता उत्पन्न की है। कुंदकुंद के जटिल आध्यात्मिक विषयों की प्रश्नोत्तरी में भाषा की सरलता जितनी महत्वपूर्ण है, उतना ही व्याख्या में लौकिक उदाहरणों का प्रयोग भी विषय वस्तु के अर्थावबोध के लिये महनीय है। पंडित जी ने लौकिक जीवन के दैनंदिनी उदाहरण देकर अर्थबोध को सुगम बनाया है। उन्होंने उदाहरणों में जल-दुग्ध, स्वर्ण-पत्थर, दूध-शक्कर, पनिहारिन, नृत्यांगना, लाल-श्वेत वस्त्र, धर्मशाला, सूर्यप्रकाश, घी का घड़ा, दर्पण में प्रतिबिंब, घर और पड़ोसी, गेहूं का पौधा और गेहूँ, व्यवहार और परमार्थ, नशे में गुड़ और मिट्टी का भक्षण, 'दुकान और मुनीम, दुकानदार और ग्राहक, विषमारक औषधि, प्यासा और गंदला पानी, हल्दी और चूने के मिश्रण की रक्तवर्णता एवं उपयोगवृत्ति की अन्यवत्ता पर अनुभूति के अनेक उदाहरण दिये हैं।

कुछ महत्वपूर्ण चर्चाओं के निष्कर्ष

अमृत-कलश कुंदकुंद के मुख्यत: निश्चयोन्मुखी प्रतिपादन पर आधारित है लेकिन इसमें व्यावहारिक जीवन की चर्चाओं की उपेक्षा नहीं की गई है। यह स्पष्ट बताया गया है कि पुण्य-पाप, हेय-उपादेय, बंध-अबंध, शुभ-शुद्ध आदि की सूक्ष्म-चर्चाओं में हमारे सांसारिक जीवन की जो भी दयनीय स्थिति हो, पर उपादान योग्यता को प्रतिफलित करने में निमित्त व्यवहार की अनदेखी नहीं की जा सकती। वस्तुत: निमित्त और उपादान अथवा निश्चय व्यवहार की चर्चा वस्तु-ज्ञान की सूक्ष्मता एवं तीक्ष्णता की प्रतीक है, इनकी उपयोगिता के विलोपन की नहीं। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों की सत्यता है, पर कुंदकुंद व्यवहार मार्ग को निश्चयमार्ग का माध्यम मानकर इसे कुछ उच्चतर या प्रमुख ध्येय मानते हैं। इस आधार पर ही पंडित जी ने प्रश्नोत्तरी में अनेक विषय पर आधुनिक दृष्टि से अपना मत प्रस्तुत किया है इनमें से कुछ निम्न हैं :

(१) पूजा एवं बाह्य या व्यवहार चरित्र के पालन का महत्व ।
(२) कोरे शास्त्रज्ञानी के ज्ञानी न होने की व्याख्या ।
(३) सद्गुरु संगति एवं तत्वज्ञान का जीवन में उपयोग ।
(४) जड़ एवं अज्ञानी में मूर्छित चैतन्य के कारण अंतर ।
(५) सम्यक्त्व के आठ अंगों की आधुनिक व्याख्या ।
(६) मुनिसेवादि कार्यों की व्यवहारपरक उपयोगिता का समर्थन ।
(७) प्रभावना के अंगों के रूप में धार्मिक महोत्सवों के अतिरिक्त आधुनिक प्रकार के विद्या, आजीविका, आवास आदि धर्म अविरोधी एवं धर्म-अघाती दानों का समर्थन ।
(८) व्यवहार-चारित्र के अभाव में निश्चय चारित्र का अभाव ।
(९) अहिंसक माध्यम की आजीविका की ग्राह्यता ।
(१०) समदृष्टिता की राग-बंध-अबंधकता के आधार पर मार्मिक व्याख्या ।
(११) केवल ज्ञान या मानने से कुछ नहीं होता जो मानने के अनुसार चलता है, वही मुक्त होता है ।
(१२) ज्ञान नहीं, अपितु ज्ञेयों के प्रति राग की बंधकता की प्रज्ञापता ।
(१३) पशु-पक्षियों की अपरिग्रहजन्य साधुता के अभाव की व्याख्या ।

व्यवहार और निश्चय की भूल-भुलैया में सामान्यजन

नय-विवक्षा का दृष्टिकोण ज्ञानवर्धक होने पर भी सामान्य जन को अनेक अवसरों पर भूल-भुलैया एवं अनिर्णय की स्थिति में डाल देता है । इस टीका में भी ऐसे अनेक प्रकरण हैं जो इस तथ्य को परिपुष्ट करते हैं । उदाहरणार्थ, निम्न प्रश्नोत्तर देखिये :

प्रश्न : आप सभी को सही कह देते हैं । क्या गलत कुछ होता ही नहीं ?

उत्तर : हाँ, गलत कुछ होता ही नहीं है । दृष्टिभेद से ही गलत और सही कहा जाता है ।

इस आधार पर रस्सी को सांप, काँच को मणि, शुक्ति-रजत आदि के समान भ्रमज्ञान एवं भ्रम की भ्रमवादी की स्वदृष्टि से सत्यता सिद्ध की है । इसी प्रकार व्यवहार एवं निश्चय के सत्यासत्य निर्णय में दृष्टि-भेद का उपयोग किया गया है । जीव के कर्तृत्व-भोक्तृत्व के विषय में कर्म की निमित्तता का व्यावहारिक दृष्टिकोण उपादान पद्धति से गौण हो जाता है । वस्तुतः उपादान की चर्चा सामान्य जन के लिये किंचित दुरुह-सी प्रतीत होती है । रागादि प्रवृत्तियों की पुद्गलात्मकता को अज्ञानरूप में व्याख्या तथा उन्हें अशुद्ध जीवोपादान की मान्यता आदि के समान प्रश्नोत्तरियाँ एक निश्चित् बौद्धिक स्तर की अपेक्षा रखती हैं । इस स्तर की उपलब्धि ज्ञानावरण कर्म के विशेष क्षयोपशम से ही संभव है । इसके अभाव में ही भूतकाल में कुंदकुंद एक हजार वर्ष तक अज्ञात रहे और अब इस युग में भेद-विज्ञान के कारण बनते प्रतीत होते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानानंद स्वभाव और भेद-विज्ञान की सही व्याख्या व्यावहारिक जगत के लिये बोधगम्य नहीं हो पा रही है । पंडित जी ने 'अध्यात्म अमृत-कलश' में इसकी युक्तिसंगतता एवं सहज बोधगम्यता के लिये दुर्धर प्रयास किया है । मुझे विश्वास है कि इस ग्रन्थ के रुचि-पूर्वक अध्ययन से निश्चय और व्यवहार या निमित्त-उपादान संबंधी मान्यताओं के संबंध में अनेक भ्रान्तियाँ निरस्त हो सकेंगी । अंत में पंडित जी का निम्न सार मननीय है "यदि बंधन स्वीकार करना है, तो शुभ बंधन स्वीकार करिये । शुभ परिणाम करिये । यदि बंधन स्वीकार नहीं है, तो आप शुभ-अशुभ राग में वीतराग भाव स्वीकार करिये । क्योंकि दोनों प्रकार के परिणाम बंधन के हेतु होने से अपराध हैं ।"

●

श्रावक धर्मप्रदीप टीका : एक समीक्षा

श्री राजेन्द्र आर० वी०

जबलपुर (म०प्र०)

श्रावक धर्म प्रदीप : एक परिचय

कर्नाटक में जनमे रामचंद्र ने आचार्य शान्तिसागर जी से क्षुल्लक एवं मुनिपद में दीक्षित होकर क्रमशः पार्श्वकीर्ति और १०८ कुन्थुसागर नाम पाया। अपनी अध्ययनशीलता एवं ओजपूर्ण वाणी से आप आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त ही लोकप्रिय एवं आदर्श साधु बने। आपने अपनी चर्या के दौरान अनेक (लगभग ३०) ग्रन्थ लिखे। इनमें संस्कृत में लिखित **श्रावक धर्मप्रदीप** भी एक है। पं० कैलाशचंद्र जी शास्त्री के अनुसार, इस ग्रन्थ में श्रावकाचार का वर्णन जिनसेनाचार्य की पद्धति पर किया गया है जिसमें श्रावकों को पाक्षिक, नैष्ठिक एवं साधक की कोटि में सर्वप्रथम वर्गीकृत किया गया है। इस ग्रन्थ में पाँच अध्यायों के २११ श्लोकों के माध्यम से श्रावकों की तीनों कोटियों (पाक्षिक एक अध्याय, नैष्ठिक चार अध्याय) का वर्णन किया है। इसके श्लोकों में अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपजाति, और वसन्ततिलका छन्दों का प्रयोग किया गया है। भाषा अति सरल और प्रभावकारी है। इसमें कुछ पूर्वाचार्यों के समान सल्लेखना को १२ व्रतों में सम्मिलित नहीं किया गया है। बीसवीं सदी की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें कुछ नवीन बातें भी आई हैं। 'विश्व में सुख-शान्ति का कारण दुष्ट का निग्रह और सज्जन का संरक्षण है' स्पष्ट ही द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभाव का प्रतीक है। सूतक-चर्चा भी श्रावकाचार ग्रन्थों में तो नई ही है।

आचार्यश्री का और पंडित जी का कटनी से ही प्रगाढ़ परिचय रहा है। वे उनसे प्रभावित भी रहे हैं। उनके दर्शनार्थ १९४३ में पंडित जी इंदौर से बासवाड़ा गये। कुछ दिन रहने के बाद जब पंडित जी लौटते समय पुण्याशीर्वाद लेने गये, तब आचार्यश्री ने उन्हें 'श्रावक धर्मप्रदीप' की प्रति देते हुए उसकी हिन्दी व संस्कृत टीका हेतु आदेश दिया। पंडित जी ने इसे सहर्ष स्वीकार किया और यह भी सोचा कि इस कार्य से वे अपने पूज्य पिताजी के उस अपूरित आदेश का भी परोक्षतः पालन कर सकेंगे जो वे ढूंढारी भाषा की कठिनाई के कारण नहीं कर सके थे।

यह तो सुज्ञात नहीं है कि इस ग्रन्थ की संस्कृत और हिन्दी टीका करने में पंडित जी को कितना समय लगा, पर ग्रन्थ का प्रथम संस्करण 'वर्णी ग्रन्थमाला' से संभवतः १९५५ में प्रकाशित हुआ था। सन् १९८० में इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ है।

संस्कृत एवं हिन्दी टीका की विशेषतायें

ग्रन्थ के टीकाकार के संबंध में शास्त्री जी का यह मत शत-प्रतिशत सत्य है कि वे अपने समय के आदर्श विद्वान् हैं। उन्होंने अपनी टीकाओं के माध्यम से मूलग्रन्थ के महत्त्व को चौगुना कर दिया है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी यह टीका स्वतंत्र ग्रन्थ के ही समकक्ष हो गई है। मूलग्रन्थ के सूक्ष्म विवेचन का आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य में विस्तार इसकी विशेषता है। ग्रन्थ की संस्कृत टीका की भाषा अति सरल है और यह अ-संस्कृतज्ञ के लिये भी किंचित् प्रयास से बोधगम्य हो सकती है। 'टीका' की भाषा में प्रभावोत्पादक उपमायें, उदाहरण, लोकोक्तियों आदि से जीवन्तता पाई जाती है। संस्कृत टीका का हिन्दी में भी अर्थ दिया गया है।

अनेक श्लोकों और प्रकरणों का भावार्थ तो अत्यंत महत्वपूर्ण है। सच पूछिये, तो यह भावार्थ ही इस ग्रन्थ की आत्मा है। इसका अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि पूज्य पंडित जी आगम-परम्परा पोषक विद्वान हैं और उन्होंने अनेक विसंगतियों का इसी दृष्टि से समाधान भी किया है। संभवतः उनका यह मत है कि आज की जटिल स्थिति व समस्याओं का समाधान प्राचीन एवं आगमतुल्य शास्त्रों के अनुसंधान, निर्देश एवं संकेतों के अनुरूप ही किया जाना चाहिये।

ग्रन्थ के वर्ण्य विषयों पर चर्चा : देव और गुरु की परिभाषा

प्राचीन जैनाचार्यों के संदर्भों के कारण टीका को अधिकाधिक प्रामाणिक बताया गया है। इनके कारण टीकाकार की बहुश्रुतज्ञता भी प्रभावशाली रूप में परिलक्षित हुई है। टीकाकार के अनुसार प्रत्येक पंडितंमन्य सद्गुरु नहीं हो सकता। सद्गुरु वही माना जा सकता है जो (i) अन्तः और बाह्यरूप से निर्ग्रन्थ हो, (ii) कषायवान् एवं विषयाभिलाषी न हो, (iii) ज्ञान, ध्यान और तप में लीन रहे, (iv) परमवीतरागी और पूर्णज्ञानी हो, (v) निस्पृह हो और (vi) परोपकारी हो। इन विशेषणों में चौथा विशेषण तो पंचमकाल में संभव नहीं है, अतः अन्य विशेषणों से युक्त पुरुष को भी सद्गुरु माना जा सकता है। इसके गुरुत्व या उपदेशित तत्व की परीक्षा करनी होगी। यदि वह तत्व वैर-हर, स्नेहकर, समभावोत्पादक है, तो उपदेष्टा सद्गुरु है। वह निन्दात्मक पद्धति को नहीं अपनाता। यह पद्धति नीच गोत्र का बंध करती है। टीकाकार के ये विचार अत्यन्त सामयिक एवं अनुकरणीय हैं। दुर्भाग्य से यह युग ऐसी जटिल गति से चल रहा है कि सद्गुरु के उपदेशों को श्रद्धापूर्वक सुननेवालों के माध्यम से ही उसका गुरुत्व प्रकाशित होने के बदले धूमिल होने लगता है। इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। इन श्रोताओं ने ही पंथ या संप्रदायों को जन्म दिया। यदि ऐसा न होता, तो मानवधर्म के एक होते हुए भी विश्व के विभिन्न भागों में और भारत में अनेक नामांकित धर्म क्यों होते ? समान मानवीय उद्देश्यों के बावजूद भी, उनके अनुयायियों में विवाद और धर्मान्तरण की प्रवृत्ति क्यों होती ? इन सब स्थितियों का उत्तरदायित्व प्रत्यक्ष रूप से साक्षात् भक्तों पर ही जाता है, परोक्ष रूप से किसी पर भी क्यों न जावे ? सद्गुरुत्व की प्रतिष्ठा के लिये अनुयायियों का गुरु के समान गुणधर्मी बनने का प्रयत्न अत्यन्त आवश्यक है। सद्गुरुत्व की परिभाषा में आगम में स्तरिता भी अपेक्षित है। टीका में यह प्रश्न अनुत्तरित तो ही है कि यदि गुरु एवं गुरु भक्तों में विरोध परिलक्षित हो तो समीचीनता का आधार क्या होगा ? हाँ, पत्राचार में अवश्य शास्त्रमत को वरीयता प्रकट की गई है।

श्रावक की चर्चा

आदर्श सद्गुरु की चर्चा में आदर्श भक्त पर कुछ विचार स्वाभाविक है। वस्तुतः भक्त तो श्रावक ही होता है। श्रावक का अर्थ ही सुननेवाला और पालनेवाला होता है। इसी के लिये तो यह ग्रन्थ है। श्रावक की प्रथम कोटि के लिये यज्ञोपवीत, अर्चना (पूजा) और दानरूप कर्त्तव्य बताये गये हैं। टीकाकार ने अर्चना और दान को व्यापक अर्थ में लिया है। पूजा के अन्तर्गत देवपूजा और देव-वाणी का संग्रह, रक्षा एवं स्वाध्याय भी सम्मिलित किया गया है। इसके विस्तार में (i) देव मन्दिर का निर्माण, (ii) मूर्तिस्थापना, (iii) विद्यालय स्थापना, (iv) सरस्वती भंडारों की स्थापना और रक्षा, (v) सद्गुरुओं का आहार, औषध और पुस्तकादि के दान (समर्पण) द्वारा सत्कार, (vi) सद्धर्मोपदेशक (एवं सद्धर्म प्रचारक) पुस्तकों का जनहित में प्रकाशन, एवं (vii) जिनवाणी का उद्धार व प्रकाशन, (viii) विद्या प्रचार के लिये योग्य पुरुषों की धनादि द्वारा सेवा के कार्य समाहित हैं। टीकाकार ने इन कार्यों को विभिन्न प्रकरणों में कम-से-कम ९ स्थानों पर गिनाया है। इससे यह स्पष्ट है कि श्रावक व्यक्तिहित के कार्य तो करता ही है, उसे अनेक सांस्कृतिक, साहित्यिक व प्रभावनात्मक कार्य समाजहित में भी करना चाहिये।

अर्चा के समान टीकाकार ने दान का भी व्यापक अर्थ किया है। दान का अर्थ स्वार्थ-त्याग के अतिरिक्त सेवाधर्मिता से भी लिया गया है। यह सेवाधर्मिता भी धर्म और धार्मिक, समाज, जाति, ग्राम, देश व

राष्ट्र के रूप में व्यापक मानी गई है। टीकाकार ने यह बताया है कि केवल परोपकार निमित्तक दान या सेवा ही प्रशंसनीय है। अल्प स्वार्थी दान या सेवा को आदर्श तो नहीं माना जा सकता, पर वह अमान्य हो, ऐसा भी नहीं है।

श्रावक की दूसरी कोटि के प्रमुख लक्षणों में सात व्यसनों का त्याग तथा अष्ट मूलगुणों का धारण समाहित है। यह आधार उत्तरोत्तर प्रतिमा-श्रेणियों पर आरूढ़ होने के लिये आवश्यक है। यह श्रावक क्रमशः एक से ग्यारह प्रतिमाओं का अभ्यास द्वारा ग्रहण कर उच्चतर आध्यात्मिक विकास के पथ पर आरूढ होता है। श्रावक-धर्मप्रदीप की यह विशेषता है कि इसमें पहली दर्शन प्रतिमा का वर्णन तीन अध्यायों के १४७ श्लोकों में विस्तार से किया गया है। इसके विपर्यास में, अन्य दस प्रतिमाओं का वर्णन पाचवें अध्याय के मात्र ४९ श्लोकों में किया गया है। इससे दर्शन प्रतिमा का महत्व समझ में आ सकता है।

विद्वान् टीकाकार ने आचार्यश्री के मन्तव्यों को परम्परानुसार पुष्ट करते हुए उन्हें आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भी सुविचारित किया है। उदाहरणार्थ, सम्यक्त्व के आठ अंगों में उपगूहन, स्थितिकरण और प्रभावना अंग व्यक्ति की दृष्टि से तो ठीक, पर समाज और परिवेश की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उपगूहन अंग के विषय में कहा गया है कि व्यक्ति में भावधर्मशून्य द्रव्य आचरण से या असमर्थता से शिथिलतायें संभावित हैं जो परोक्षरूप से धर्म की ही निन्दा-पात्र होती हैं। वस्तुतः निन्दा दो तरह से उत्पन्न होती है। धर्म पालकों की गलतियों से तथा निन्दकों की अज्ञानता या दुर्भाव से। टीकाकार ने श्रावकों को इस निन्दा के दूर करने के लिये पाँच उपाय सुझाये हैं जो अनुकरणीय हैं।

स्थितिकरण अंग विषयक चर्चा में साधु को सकाम संयमी एवं श्रावक को देश संयमी कहा गया है। फिर भी, संज्वलन कषाय के अंश के कारण दोनों ओर ही संयम में बाधा आती है। इससे संयम से विचलन संभव है। संयम को तो असिधारा पर चलने की तुलना में कठिन बताया गया है। इसमें शरीर एवं चित्तवृत्ति की साधना की जटिलतायें हैं। रोग, परिषह, बाधा आदि से विचलित होने पर स्थितिकरण स्वाभाविक है। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह प्रक्रिया विवेकपूर्ण हो। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिये कि ऐसी स्थिति में धर्म/आचार का सत्स्वरूप समझा कर धर्म मार्ग की ओर प्रवर्तन करायें। यदि हमारी विवेकपूर्ण प्रक्रिया फलवती न हो और विचलन में सुधार न हो, तो संयमी भेष के त्याग के लिये बाध्यता ही उचित है जिससे अन्य संयमियों पर उसका कुप्रभाव न पड़े। टीकाकार ने यह महत्वपूर्ण बात कही है। इस विषय पर समाचारपत्रों में विवाद भी छिड़ा हुआ है।

प्रभावना अंग के निरूपण में टीकाकार अन्य मतावलंबियों द्वारा प्रलोभन, प्रताड़न, आदि माध्यमों से किये जा रहे धर्मान्तरणों को अनीतिकर निंद्य एवं हेय मानता है। धर्म की उन्नति धार्मिक उपायों से ही होनी चाहिये। चार प्रकार के दानों द्वारा सेवा को भी धर्म प्रचार का उपाय माना गया है। गृहस्थ के लिये तो स्वार्थ त्याग द्वारा उपरोक्त ८ प्रकार का सेवा कार्य ही धर्म प्रचार का सच्चा उपाय है। इसके लिये अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था करना, विभिन्न रूप में ग्रन्थ प्रकाशित कर जिनवाणी का उद्धार एवं प्रकाशन करना तथा चिकित्सालय आदि खोलना सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। टीकाकार ने इस संबंध में अन्य मतावलंबियों द्वारा की जा रही ऐसी ही कुछ प्रवृत्तियों की प्रशंसा भी की है। जैन श्रावक भी इस दिशा में नाम कमायें, इससे उनके धर्म की सर्वतोमुखी प्रभावना होगी।

श्रावकों के आठ गुणों में स्वनिन्दा एवं गर्हा के गुण वर्तमान युग में अत्यन्त ही वांछनीय हैं। टीकाकार ने इन्हें विश्वशान्ति के लिये रसायन और महौषधि बताया है। लोभ और अविश्वास की भावना प्रजातंत्र की घातक सिद्ध हो रही है। संवेगादि गुणों का भावन एवं आचरण इस दुष्प्रवृत्ति को दूर करने का व्यक्तिगत उपाय है।

सप्त-व्यसन

श्रावकों को जुआ आदि सात व्यसन (बुरी आदतें) नहीं अपनाना चाहिये। ये व्यसन हिंसा (शिकार, मांस मधु), चोरी (स्तेन), ब्रह्मचर्य (वेश्या, परस्त्री) तथा परिग्रह (जुआ खेलना) पापों के रूपान्तर ही हैं। ये स्व-पर-अहित-कारी हैं। टीकाकार ने इनके विषय में सुन्दर तर्कों का उपयोग किया है। आजकल शाकाहार-प्रचार के युग में मांस-भक्षण के शास्त्रीय दोषों के साथ यदि कुछ नई खोजें भी समाहित होती, तो और भी अच्छा होता। वैज्ञानिक दृष्टि से पेड़-पौधों या एकेन्द्रिय जीवों के मृत शरीर को अनेक निगोदिया, बेक्टीरिया अपघटित कर कार्बनचक्र को चलाने में सहायक होते हैं। परजीवी तंत्र सदैव मृत जीव शरीरों को अपना पोषक बनाते हैं। मांस में भी ऐसे ही जीव अपघटन करते रहते रहते हैं। इसीलिये यह पंचेन्द्रिय जन्य या अधिकेन्द्रिय जन्य होने से तो अभक्ष्य है ही, असंख्य एकेन्द्रियों का आश्रय होने से भी अभक्ष्य है।

इसी प्रकार, मद्यपान के बाह्य प्रभावों की शास्त्रीय चर्चा (चित्तविकृति, बुद्धिनाश, निर्लज्जता, स्वैराचार आदि) के साथ यहाँ भी नयी वैज्ञानिक खोजों का विवरण महत्वपूर्ण हो सकता था। इससे मद्य त्याग की अधिक प्रेरणा मिल सकती थी। मद्य किण्वन क्रिया से बनाया जाता है। इसमें असंख्य स्थावर एवं त्रसजीव भाग लेते हैं। इसके पीने से शरीर-तंत्र की अनेक जीवित कोशिकायें विकृत हो जाती हैं। चोरी करने के व्यसन के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कही गई है कि जो लोग भाजी खरीदते समय तौल से ज्यादा चार पत्ते भाजी और रख लेते हैं, उनके दान का क्या महत्व माना जा सकता है? ये सभी व्यसन मोह और मिथ्या दृष्टि के प्रतीक हैं। टीकाकार ने व्यसन के प्रकरण से ऊपर उठकर चोरी की व्यापक परिभाषा दी है। उसकी मान्यता है कि जिन कार्यों में पर-द्रव्यापहरण की भावना एवं तदनुकूल कृति होती है, वे सभी कार्य प्रत्यक्षतः चोरी न होते हुए भी धार्मिक दृष्टि से चौर्यलक्षण में समाहित हैं। मिलावट, नाप-तौल में गड़बड़ी, राज-कर-अपवंचन, बिनाटिकिट यात्रा, आदि चौर कर्म ही हैं। इनके निमित्त सुरक्षात्मक प्रयत्न (झूठे बही खाते आदि) भी इसीके अन्तर्गत माने जाते हैं। यह व्यापक परिभाषा व्यापार-प्रधान एवं सेवा-प्रधान श्रावकों के आचार के लिये महत्वपूर्ण है। इस विचारधारा के आधार पर कितने श्रावक अपने को निर्व्यसनी कह सकते हैं। जुआ खेलने के व्यसन को व्यापक अर्थ में लेते हुए टीकाकार का कथन है कि स्वास्थ्यरक्षा, ज्ञानवृद्धि, सदाचार आदि शुभ उद्देश्य से किये जाने वाले होड़ के कार्य दोषाधायक नहीं हैं। इसे परिग्रह का ही एक रूप मानना चाहिये।

पाँच पाप

अच्छे श्रावक को पाँच पापों से स्थूलरूप से बचना चाहिये। जो केवल त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करते है, वे अच्छे गृहस्थ माने जाते हैं क्योंकि वे उद्योगी, आरम्भी एवं विरोधी हिंसा को अनिवार्यरूप से परित्याग नहीं कर सकते। हाँ, वे पापोपहृत वृत्तियाँ स्वीकार न करें, यह ध्यान में रहे। इन हिंसाओं की सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में टीकाकार ने जो व्याख्या दी है, वह मननीय है। संकल्पी हिंसा और अन्य तीन हिंसाओं का अन्तर भी महत्वपूर्ण है। संकल्पी हिंसा की जाती है और अन्य हिंसायें हो जाती हैं। संकल्पी हिंसा के समान अन्य हिंसाओं से बचने का उपाय करते रहना श्रावक की शोभा है।

हिंसा के समान सत्य की संक्षिप्त चर्चा भी महत्वपूर्ण हुई है। धार्मिक दृष्टि से ज्यों का त्यों बोलना भी सत्य है और कहीं पर वह सत्य नहीं भी है। यह अनेकान्ती दृष्टिकोण स्व-पर कल्याण की दृष्टि से अपनाया जाना चाहिये। विपत्तिकर, कलहकर एवं भ्रान्तिकर वचन सत्य होने पर भी शास्त्रीय दृष्टि से निंद्य माने जाते हैं।

परिग्रह का वर्णन अन्य पापों की तुलना में कम किया है, जबकि यह भी आधुनिक व्यक्ति तथा समाज में चर्चा का विषय रहता है। परिग्रह के अन्तर्गत धन-धान्य भी आते हैं। यह स्वाभाविक प्रश्न है कि जब परिग्रह पाप है, तो धनी होना पुण्य का फल क्यों माना जाता है? टीकाकार इसका उत्तर देते हुए बताते हैं कि लौकिक सुख-उत्पादक धन पुण्य का फल है और आकुलता एवं असाता उत्पादक धन पाप का फल है। यहाँ भी अनेकान्त दृष्टि का उपयोग कर दोनों प्रकार की स्थितियों की व्याख्या की गई है। वस्तुत: सुख और दु:ख की अनुभूति अंतरंग पवित्रता पर निर्भर करती है। इसकी पहिचान बड़ी जटिल है। यह स्पष्ट है कि यदि अपवाद छोड़ दें, तो परिग्रह की पुण्यात्मकता अत्यंत विवादग्रस्त है। यही तो व्यक्ति, परिवार, समाज एवं देश में अशान्ति की जन्मदाता है। प्रत्यक्षत: सुखी दिखने वाले व्यक्तियों के वस्तुतः सुखी होने के तथ्य की सत्यता वर्धमान मनोदैहिक एवं काय-मानसिक रोगियों की संख्या से मूल्यांकित की जा सकती है। इसलिये तो परिग्रह परिमाण, श्रावक के लिये व्रत माना गया है।

अष्ट मूलगुण

समन्तभद्र, आशाधर और मध्यवर्ती आचार्यों की तुलना में कुंथुसागर आचार्य अष्ट मूलगुणों की धारणा से भक्ष्याभक्ष्य विचार को व्यक्त करते हैं। वे आठ अभक्ष्य (तीन मकार, पंच उदुंबर फल) पदार्थों के त्याग को मूलगुण कहते हैं। व्याख्या में टीकाकार ने अभक्ष्यता के पाँच आधार बताये हैं। जैन क्रिया कोषों में वर्णित बाइस अभक्ष्यों को इन्हीं आधारों में समाहित किया है : १. त्रस जीव घात, २. बहु-स्थावर घात, ३. मादकता उत्पादन ४. लोक विरुद्धता, तथा ५. रोगोत्पादकता।

अभक्ष्य भक्षण से बुद्धि भ्रष्ट होती है, दया धर्म नष्ट होता है, क्रूरता उत्पन्न होती है, लोभादि कषायों का प्राबल्य होता है। यह मत क्षेत्र, काल एवं देश भेदापेक्षया ही ग्रहण करना चाहिए अन्यथा भारत के अन्य मतावलंबी ऋषिमुनियों की बात तो छोड़िये, सारा पश्चिमी जगत् दुर्गुणी माना जाना चाहिये जिसके बुद्धिकौशल एवं चमत्कारों का हम अन्धानुसरण-जैसा कर रहे हैं। वस्तुतः उपरोक्त आठ अभक्ष्य भारतीय आहार के सामान्य घटक कभी नहीं रहे, ये तो आकस्मिक घटक हैं। इनके न खाने से उपरोक्त दुर्गुणों में निश्चित रूप से कमी देखी गई है। फलतः श्रेयो मार्गियों के लिये इन्हें उत्सर्ग रूप से ही अभक्ष्य माना गया है।

इसी प्रकार अज्ञात फल, तुच्छ फल एवं शुष्कीकृत फल व सब्जी, भ्रमरादि युक्त फल आदि की परीक्षा द्वारा देखभाल कर, शोधित कर ही खाने की बात कही गई है। त्रस जीवघात के निवारण के लिये यह अनिवार्य है। ग्रन्थ में आहार के समय के दर्शन के दस, स्पर्शन के बीस, श्रवण के दस अन्तरायों का भी विस्तार है। इनके आने पर भोजन का त्याग मात्र करना श्रावक का लक्षण नहीं है, उन अन्तरायों का, उपसर्गों का निराकरण उसका प्रथम कर्तव्य है। इस प्रकरण में ग्रन्थान्तरों में वर्णित अन्य अन्तरायों का भी संकेत दिया गया है।

श्रावक की दिनचर्या

प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रावक की आदर्श दिनचर्या का विवरण दिया है। इसमें यह महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि गार्हस्थिक अशुद्धियों के कारण प्रातःकाल उठकर मंगलवाक्यों का उच्चारण नहीं, स्मरण करना चाहिये। संभवतः स्मरण मानसिक, आध्यात्मिक या अन्तःक्रिया है जबकि उच्चारण शारीरिक क्रिया है। शौच, दन्तधावन, तैलमर्दन एवं स्नान के बाद पूजन/दर्शन करना चाहिये। शास्त्रोपदेश सुनना चाहिये। इसके बाद भोजन और फिर नीति-पूर्वक आजीविका के कार्य। सांध्य भोजन, शास्त्रोपदेश और फिर मंगलवाक्यों के स्मरण के साथ रात्रि विश्रान्ति। श्रावकों के आत्मिक विकास के लिये बारह भावनाओं का चिन्तन तथा क्षमा ही दस धर्मों का पालन है। परिश्रम करने का अभ्यास करते रहना चाहिये। ये उत्तरवर्ती साधु जीवन के पोषक हैं। श्रावक के षोडश-संस्कारों की भी

अनिवार्यता बताई गई है, पुरुषार्थों का भी विस्तार है जिनमें उद्यम, उद्योग और उन्नति के प्रयत्न समाहित हैं। ये पुरुषार्थ मानवगति में ही साध्य हैं। यह तो ठीक है, पर वे पूर्णतया पुरुष वर्ग द्वारा ही साध्य हैं (निर्वाण तो केवल पुंवेद से ही मिलता है), इसलिये पुरुषार्थ हैं, इसमें किंचित् पारिभाषिक सुधार वांछनीय है। सामान्यतः पुरुषार्थ प्रयत्न का दूसरा नाम है। यह अपनी योग्यतानुसार सभी कर सकते हैं। श्रावक के अन्य कार्यों में मृतक संस्कार एवं सूतक-अवधि पालन की व्याख्या उत्तम हुई है।

टीकाकार ने 'विलैया दंडवत' की प्रवृत्ति की निन्दा की है और अहिंसाधर्म के प्रचार के लिये पश्चिम यात्रा का समर्थन किया है। उनके अनुसार धर्म प्रभावना से ही मानव जन्म सफल होता है। यद्यपि आगमों में अध्यात्म विद्या को ही मूल विद्या माना गया है, फिर भी यहाँ न्याय, व्याकरणादि उपयोगी विद्याओं या पापश्रुत के अध्ययन को भी कर्त्तव्य बताया गया है। उनका यह कथन मननीय है कि शास्त्र स्वाध्याय को शस्त्र-ग्रहण के समान कषाय पोषण का माध्यम नहीं बनाना चाहिये।

स्वाध्याय के अतिरिक्त मौन, जप और ध्यान के लाभ और अभ्यास का सुझाव श्रावक को दिया गया है। प्राचीन जीवन पद्धति के ये अनिवार्य तत्व थे। इस सदी में पश्चिमी प्रभाव से, इनकी उपेक्षा होने लगी है। वैज्ञानिक शोधों से पुनः इस ओर जागृति उत्पन्न हो रही है।

श्रावकों के व्रत

प्राचीनशास्त्रों में श्रावकों के १२ व्रतों (५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत) का वर्णन है। इनमें कहीं सल्लेखना का समावेश है और कहीं वह पृथक् है। अचार्यश्री ने सल्लेखना को व्रतों के अतिरिक्त मान्यता दी है। पाँच पापों के विपरीत श्रावकों के लिये पंच अणुव्रतों का विधान है। सामान्यतः चौथे व्रत को शास्त्रों में ब्रह्मचर्य कहा गया है पर इस ग्रन्थ में उसे परस्त्रीत्याग, स्वदारसंतोष का नाम दिया गया है। यह श्रावक के लिये उपयुक्त भी है क्योंकि ब्रह्मचर्य का अर्थ अत्यन्त सूक्ष्म और अध्यात्म प्रधान माना जाता है। इस प्रकरण में कामवासना को संसार एवं व्रतभंग का प्रधान कारण बताया गया है। इसका नियंत्रण और नियमन व्यक्ति और समाज की स्वस्थ प्रगति के लिये आवश्यक है। इसी प्रकार, पाँचवें व्रत का नाम ग्रन्थकार ने परिग्रह-परित्याग रखा है पर टीकाकार ने उसे परिग्रह परिमाण के रूप में व्यक्त किया है। इसके लिये आशा और असंतोष रूप में अग्नि को संतोषरूपी अमृत से शान्त करना आवश्यक है। यदि धार्मिक जीवन बिताया जावे, तो परिग्रह परिमाण स्वतः ही हो जाता है। परिग्रह में वृद्धि या असीमता का कारण धार्मिक जीवन हो ही नहीं सकता। टीकाकार का सुझाव है कि यदि किसी कारणवश परिग्रह (धन, संपत्ति) अधिक हो गया है तो उसका सदुपयोग धार्मिक एवं साहित्यिक सेवा में ही करना चाहिये।

यह पाया गया है कि विभिन्न शास्त्रों में भोगोपभोग व्रत के अनेक नाम हैं। इसकी स्थिति भी कहीं गुणव्रतों में है, तो कहीं शिक्षाव्रतों में। इस ग्रन्थ में इसे शिक्षाव्रत माना गया है। इस व्रत के द्वारा परिग्रह-परिमाण को और भी क्षीण करने का प्रयत्न किया जाता है। यद्यपि भोग और उपभोग के अर्थ भिन्न-भिन्न है, पर इस व्रत के अतीचार मुख्यतः आहारों से ही संबंधित है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे उपभोग संबंधी कोई अतीचार ही न हों। सामान्यतः सचित्त का अर्थ सजीव या हरित वनस्पति से लिया जाता है। सचित्ताहार का त्याग पाँचवीं प्रतिमा में होना चाहिये, फिर उसे व्रत प्रतिमा का अतीचार क्यों बताया गया है ? टीकाकार के अनुसार भक्ष्यता की समय-सीमा से बाहर भक्ष्यों को खाना भी सचित्ताहार है। अतः खाद्य पदार्थों को समय-सीमा में ही खाना चाहिये। पाँचवीं प्रतिमा में उनका व्रत या त्याग ही अपेक्षित है, वहाँ समय-सीमा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि यह अतीचार मूलगुणों का होना चाहिए। क्योंकि मूलगुण पाक्षिक श्रावक के सातिचार ही

होते हैं। नैष्ठिक प्रतिमा के निरतिचार होते हैं। मलगुण टीकाकार ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए बताया है कि भोगोपभोग व्रत का सचित्ताहारत्व अतीचार एक विचारणीय प्रश्न है। उनका यह भी सुझाव है कि सचित्त उपलक्षण है, यह भोग के समान उपभोगों के सीमन पर भी लागू होना चाहिए। इस प्रकार प्रतीत होता है कि सचित्ताहार से संकल्पित ग्रहण या सीमाओं का उल्लंघन अर्थ लेना चाहिए। इसमें स्वर्ण, वस्त्र, पुष्पमाल आदि सभी समाहित हो जाते हैं। टीकाकार की यह नवीन व्याख्या उसके मौलिक विचारभाव को प्रकट करती है। टीकाकार ने समंतभद्र के द्वारा दिये गये अतीचारों से भी अपना मन्तव्य सुस्पष्ट किया है। सचित्त की चर्चा अभक्ष्य, अतिथिसंविभाग एवं सचित्त त्याग प्रतिसात्व के संदर्भों में भी की गई है। इस विवरण के बावजूद भी यह स्पष्ट है कि मूलगुण, अभक्ष्य, भोगोपभोग व्रत और सचित्तत्याग प्रतिमा के उद्देश्यों में पुनरावृत्ति तो है ही। अहिंसक वृत्ति की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता के आधार पर ही इसका निराकरण माना जा सकता है।

अतिथि संविभाग व्रत की विशेष व्याख्या के अनुसार यह श्रावक को सुपात्रों (साधु या साधुत्व की ओर प्रवृत्त) को आहार, शास्त्र एवं संयम उपकरण (पीछी, कमंडलु चश्मा) औषध और स्थान (अभय) दान देने की प्रवृत्ति का व्रत है। उन्होंने साधु या श्रावक के लिये छड़ी को संयम एवं स्वाध्याय का साधन न होने से उसको उपकरण दान नहीं माना है। यह मत वर्तमान परिवेश एवं साधु के व्यापक क्रिया कलाप को देखते हुए किंचित् विचारणीय प्रतीत होता है। वैसे तो आजकल उनके द्वारा निरूपित अनेक वस्तुयें साधु-संघ के साथ ही चलती हैं, भले ही वे दान न मानी जावे। संभवतः दाता उन्हें संघ के लिये देता है। इस प्रथा को टीकाकार की दृष्टि से अतीचार ही माना जावेगा। अतिथि शब्द का व्यापक अर्थ लेने पर साधु-संघ, श्रावक-श्राविका एवं अन्य सुयोग्य पात्र भी उसके अंतर्गत आता है। ये धर्म-सधाक दान हैं। कुछ समाज-साधक दानों की भी टीकाकार ने चर्चा की है—करुणा दान, समवृत्ति दान, अन्वयदत्ति दान आदि स्थानांग में भी दस दानों की चर्चा आयी है। इन सभी से प्रत्यक्ष में पात्र सेवा होती है और परोक्ष में पुण्यबंध होता है। टीकाकार ने संसारवर्धक एवं पापोत्पादक पदार्थों के दान को कुदानों में गिनाया है। धर्म-प्रभावना, ज्ञानवर्धक साहित्य प्रचार, रथयात्रा आदि विवेकपूर्ण एवं स्वार्थ-त्यागी दृष्टि से किये गये कार्यों में द्रव्य, समय एवं जीवन का उपयोग करने वाले उत्तम दानी माने गये हैं। आचार्य विनोबा ने ऐसे ही सामाजिक उद्देश्यों के लिये जीवन-दान, धन-दान एवं समय-दान की प्रक्रिया प्रचलित की थी। टीकाकार ने एक सामयिक प्रश्न उपस्थित किया है कि क्या धनी पुरुष ही दान दे सकता है ? उत्तर देते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि धनी का दान तो आवश्यकता से अधिक संग्रह के कारण होता है लेकिन निर्धन का दान न्यूनतम आवश्यकताओं के लिये संग्रहीत धन या सामग्री से होता है। उसमें श्रद्धा, विनय, सेवा एवं सहानुभूति का रस अतिरिक्त रूप से समाहित रहता है। फलतः दान एक मनोवृत्ति है जो किसी में भी सहज या परिस्थितिवश प्रस्फुटित हो सकती है

अतिथि संविभाग के अतीचारों में भी आहार दान संबंधी दो अतीचार हैं। इनमें भी सचित्त शब्द का प्रयोग है।

टीकाकार ने सचित्तता के विषय में एक प्रश्न उठाया है। क्या पेड़ों से टूटे हुए एवं जमीन से खोदे गये फल, फूल, पत्ते आदि सचित्त अतएव अभक्ष्य माने जावें ? कुछ लोगों का इस विषय में भिन्न मत है। यह कहना तो सही नहीं लगता कि फल, फूल, पत्ती, तना आदि वृक्ष या बनस्पतियों के अंग नहीं हैं। यदि ये वृक्षों के अंग नहीं हैं, तो वृक्ष ही किसे कहेंगे ? हाँ, मानव के शरीर-अंगों की तुलना में बनस्पतियों के इन अंगों की अपनी-अपनी विशेषतायें होती हैं। ब्रायोफाइलम तथा बिगोनिया जैसे बनस्पतियों के अंग अलिंगी विधियों से नये सजातीय पुनर्जनन कर सकते हैं लेकिन सभी बनस्पति ऐसा नहीं करते। विकास और पुनर्जनन को सजीवता का चिन्ह माना

जाता है। अधिकांश काम में आनेवाले पत्ते (केला, छेवला, अमरूद) और भाजियों में यह गुण नहीं पाया जाता। वे हरे अवश्य होते हैं। अतः प्रजननी, पुनर्जननी या फिर सड़े गले हरित का सचित्त से व्यवहृत करना चाहिये, अन्य को नहीं। अधिकांश वनस्पति शाकों से संबंधित धारणायें हरित एवं सचित्तता (प्रजननी) के संबंध के अविनाभावी मानने के कारण भ्रामक-सी प्रतीत होती है। इसलिये यह आवश्यक है कि वनस्पतियों की धार्मिक सचित्तता (सजीवता, पुनर्जनन) की दृष्टि से सूची बनाई जावे और तदनुरूप उनकी आहार योग्यता (अतीचारता) निर्धारित की जावे।

श्रावक की प्रतिमायें या आध्यात्मिक विकास की सीढ़ियाँ

प्रत्येक श्रावक अपने आत्मिक विकास के लिये अपने अभ्यास व चारित्र्य की पूर्णता के आधार पर ग्यारह सीढ़ियों को पार करने का लक्ष्य रखता है। इनमें पहली और दूसरी सीढ़ी तो दर्शन और व्रतों के रूप में हुई। इन व्रतों को और भी सूक्ष्मतर दृष्टि से एवं निरतिचार साधने के लिये आगे की प्रतिमायें हैं। टीकाकार के अनुसार उच्चतर प्रतिमाओं को तभी धारण करना चाहिये जब वे आगमोक्त विधि से सध सके। उदाहरणार्थ, सामायिक प्रतिमाधारी के लिये चौबीस घंटे की साठ घड़ियों में छह घड़ी अर्थात् दस प्रतिशत समय बत्तीस दोष रहित सामायिक हेतु आवश्यक है। यह प्रातः, मध्यांतर और सायंकाल २-२ घड़ी का होना चाहिये। यदि ऐसा व्यक्ति लंबी दूरी की यात्रा करना चाहता है, तो उसे सामायिक के समय के लिये यात्रा भंग करनी चाहिये। यदि वह ऐसा नहीं कर पाता, तो उसे व्रत प्रतिमा में ही रहकर सामायिक का अभ्यास करना चाहिये। इस प्रतिमा में सातिचार सामायिक किया जा सकता है। इन प्रतिमाओं में ऐसा नहीं है कि जितना सच, उतना ही अच्छा। ऐसी मनोवृत्ति के लिये उच्च भेष की घोषणा न कर शक्ति अनुसार उच्चतर अभ्यास करना चाहिये।

पोषध प्रतिमा के संबंध में आहार त्याग के साथ कषाय विजय, इंद्रिय-रस-उपेक्षा की वृत्ति आवश्यक है। यही भी पूर्वोक्त शिक्षाव्रत का तीक्ष्ण व सूक्ष्म धार्मिक रूप है।

सचित्त त्याग एवं रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमाओं का विवेचन भी सरस है। इनके विषय में कुछ विद्वानों की मतभिन्नता का संकेत टीकाकार ने किया है। कुछ अर्थ विशेष भी किया है। कुछ लोगों ने यहाँ भी पुनरावृत्ति पाकर इनके स्थान पर अन्य नाम भी सुझाये हैं। यह विसंगति टीकाकार को भी लगी है पर उन्होंने इसके बदले कारित और अनुमोदना से रात्रिभुक्तित्याग का अर्थ लेकर इसी नाम का समर्थन किया है। ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी के आहार, विहार, व्यापार, प्रवृत्ति और क्रियाकलाप की अच्छी सूचनात्मक विवेचना हुई है। उन्होंने बताया है कि जब दिगम्बर वेश कुछ जटिलताओं में आ रहा है, तब उदासीन ब्रह्मचारी ही धर्मसेवक और प्रचारक के उत्तम कार्य कर सकता है। वह संसार से उदासीन है पर धर्मसेवा से नहीं। आरम्भ त्याग की प्रतिमा परीषहजय का अभ्यास है और गृहत्याग एवं व्यापारादि त्याग का प्रारम्भ है। वह निर्जीव सवारी से विहार भी कर सकता है। परिग्रह त्याग में भी न्यूनतम परिग्रह के बंधन को छोड़ गृहत्याग की वृत्ति और बलवती होती है। बाह्य और अन्तरंग (१० + १४) परिग्रह के पूर्णत्याग की वृत्ति विकसित होती है। अनुमतित्याग में परिग्रहत्याग की अपेक्षा और भी न्यूनता आती है। वह भोजन का पूर्व निमंत्रण स्वीकार नहीं करता, पर भोजन के समय बुलाने वाले की विनय स्वीकार कर लेता है। यह व्यक्ति अब भिक्षु न होने पर भी भिक्षुवत् हो जाता है। अन्तिम प्रतिमा में व्यक्ति गृहत्यागी होकर क्षुल्लक-ऐलक वेश ग्रहण कर निर्मोही बनता है तथा आत्म-कल्याण और धर्मसेवा का उत्कृष्ट मार्ग ग्रहण करता है। ऐलक तो निर्ग्रन्थ साधु का लघु भ्राता माना जाता है। वह महाव्रती के समान होता है। वह पीछी रखता है और रात्रि-यात्रा नहीं करता। ऐलक ही उत्तर-सीढ़ी में दिगम्बर वेश धारण कर आत्मकल्याण के आदर्श बनते हैं।

प्रतिमाओं के निरूपण में टीकाकार ने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। अनेक लोग कहते हैं कि संसार में सुख है—विद्या, धन, कुटुम्ब आदि। फिर जैनधर्म में एकान्ततः संसार को दुःखमय क्यों कहा गया है? इसके समाधान में कहा गया है कि सुख-दुःख की अनुभूति हमारी मानसिक कल्पना या ज्ञान से होती है। विभिन्न परिस्थितियों में आत्मा के गुणों में, परनिमित्त से, विकार या परिणति होती है। उसे सुख, दुःख, कर्मफल का भोक्ता मात्र व्यवहार से कहा जाता है। निश्चयनय से तो वह ज्ञान मात्र ही है। इसलिये आत्मिक दृष्टि से सुख-दुःखमयता का विशेष अर्थ नहीं है। दूसरे, संसार के सभी सुख क्षणस्थायी हैं, अतः इन्हें आचार्यों ने सुखरूप न कहकर दुःखरूप ही माना है। स्वात्मोत्थ सुख ही स्थायी एवं वास्तविक सुख है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह कथन समीचीन होते हुए भी इसकी व्यावहारिकता विचारणीय है।

महिलाओं के लिये आचार

टीकाकार के अनुसार, महिलायें भी ग्यारह प्रतिमाओं का पालन कर सकती हैं। उनकी अवस्था के भेद से क्वचित् अन्तर पड़ सकता है। वे आर्यिका के रूप में एकादश प्रतिमाधारी हो सकती हैं। दिगम्बर आगमों के अनुसार स्त्री को क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता, अतः वह निर्वाण प्राप्त तो नहीं कर सकती पर आर्यिका पद उसे संभवतः स्त्री पर्याय से मुक्ति दिलाने में समर्थ हो सकता है।

समाज और श्रावक के अन्योन्य सम्बंध

जैन धर्म के व्यक्तिवाद-प्रमुख आत्मवादी होने से उसके आचारों में व्यक्तिहित के साथ समाजहित के तत्व पर्याप्त मात्रा में हैं। लेकिन समाज या समाज द्वारा स्थापित धार्मिक या अन्य संस्थायें व्यक्ति के विकास में प्रेरक बन सकती है, या नहीं, इस पर कोई चर्चा नहीं है। क्या समाज के भी कोई धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक या प्रभावक कर्त्तव्य हैं? पाक्षिक या नैष्ठिक श्रावक गुरुपूजा, ज्ञान-चारित्र-वृद्ध-सेवा-सम्मान, चातुर्विध दान करे, यह उचित ही है, पर क्या इन श्रावकों के समाहारी समाज या उनकी संस्थाओं का व्यक्तियों के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं है? यदि व्यक्ति समाज के उन्नयन में योगदान कर सकता है तो क्या समाज व्यक्ति के उन्नयन में अभ्यर्थनात्मक योगदान भी नहीं कर सकता? वस्तुतः व्यक्ति और समाज परस्परतः अन्योन्य संबंधित हैं। उन्हें विलगित नहीं किया जा सकता। अतः टीकाकार को इस ओर भी व्यापक दृष्टि से अपने कुष्ठ मन्तव्य प्रकरणानुसार देने थे। इससे टीका और भी युगानुरूप एवं महत्वपूर्ण हो जाती। इन मन्तव्यों से अनेक सामाजिक एवं धार्मिक प्रश्नों के समाधान में मार्गदर्शन भी मिलता है।

●

पंडित जगन्मोहन लाल शास्त्री : लेख-सूची

पंडित जी ने कितने लेख लिखे हैं, इसका उनके पास कोई रिकार्ड नहीं है और स्मरण भी नहीं है। संपादक मंडल को सन् १९५८ से ही उनके लेख प्राप्त हुए हैं। जिन सज्जनों को इसके पूर्व के उनके लेखों आदि जानकारी हो, वे कृपया साधुवाद समिति को सूचित करें। समिति उनकी आभारी होगी। उपलब्ध १६५ लेख को विषयवार वर्गीकृत कर यहाँ दिया जा रहा है।

(क) सामाजिक समस्याओं पर लेख

१-२.	क्या कुदेव पूजा शास्त्र-विहित है ?	(जैन संदेश), ६।१३-६-५८
३.	छात्र और छात्रवृत्तियाँ	१०-७-५८
४.	रात्रि भोजन छोड़िये	२४-७-५८
५.	बालिकाओं का स्तुत्य साहस	४-९-५८
६.	समय रहते सावधान हो जाना हितकर है	२३-१०-५८
७.	जबलपुर कांड पर एक दृष्टि	१९-३-५९
८.	संत विनोबा का नया प्रयोग	१९-५-६०
९.	शास्त्र-भण्डारों को सम्हाल कर रखें	२६-५-६०
१०.	उपगूहन अंग के नाम पर	१६-६-६०
११.	त्यागमार्ग के पथिकों से	३०-६-६०
१२.	दिल्ली का वीर सेवा मन्दिर	११-८-६०
१३.	मुनियों के सेवकों से	६-१०-६०
१४.	जैनों और हिन्दुओं में एकता	१३-१०-६०
१५.	विद्वानों की स्थिति	३-११-६०
१६.	जनगणना के सम्बन्ध में	२४-११-६०
१७.	जातीयता का विष	८-११-६०
१८.	विद्वानों का उत्तरदायित्व	१५-८-६०
१९.	एकता और संगठन की बातें	२९-१२-६०
२०.	जैनों से जैनधर्म छूटता जाता है	१९-१-६१
२१.	सार्वजनिक क्षेत्र में जैनों का रूप कैसा होना चाहिये	२६-१-६१
२२.	रात्रि भोजन बन्द कीजिये	१६-२-६१
२३.	विवाह नहीं, सौदे बाजी	९-३-६१
२४.	शाकाहार के प्रचार की आवश्यकता	६-४-६१
२५.	संस्था और उनके व्यक्ति	६-६-६१
२६.	चौदह वर्ष बीत गये	१७-८-६१
२७.	परवार समाज की कठिन समस्या—दहेज	१-९-६१

२८.	पन्थभेद समाप्त करने का उपाय	९-४-६१
२९.	मंहगाई बनाम भ्रष्टाचार	१-१०-६४
३०.	महासभा का प्रस्ताव	२०-१२-६४
३१.	सच्ची और खरी बातें	१०-११-६०
३२.	त्यागधर्म की कठिनाइयाँ	२०-५-६१
३३.	मूर्तिपूजक होना गर्व की वस्तु	१-२-६१
३४.	आज द्रव्य ही सब कुछ है	२४-४-५८
३५.	दोषी कौन : निंदक या अन्धभक्त	२२-१-५९
३६.	त्यागमार्ग के पथिकों से	३०-६-६०
३७.	पर्व के पश्चात्	१५-९-६०
३८.	वैराग्य या अनुराग	२९-९-६०
३९.	वैवाहिक समस्यायें	२१-६-६२
४०.	जैनमात्र का उत्तरदायित्व	२२-११-६२
४१.	हमें अपना लोक-व्यवहार सुधारना चाहिये	२९-११-६२
४२-४३.	समाज में शिक्षा की उपयोगिता	१९६९
४४.	द्रोणगिरि पर श्री ज्ञानचन्द्र जी का वक्तव्य	
४५.	विद्वानों की परम्परा का भविष्य	वर्णी अभि०

(ख) सैद्धान्तिक लेख

१-३.	मुमुक्षु और अमुमुक्षु	१९६१
४.	पुनर्जन्म के प्रकाश में	(जैन संदेश)
५.	साधु का स्वरूप	१-८-७४
६.	द्रव्य दृष्टि : पर्याय दृष्टि	२२-४-६६
७.	क्या द्रव्यलिंगी और भावलिंगी की पहिचान अशक्य है ?	२-७-६४
८.	भाव एवं द्रव्य	९-७-६४
९.	कषाय और धर्म	१७-९-६४
१०.	चारों अनुयोगों के शास्त्र पठनीय हैं	१९-१०-६४
११.	सम्यक् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि की पहिचान	१४-१-६५
१२.	एकता या अनेकता जैनधर्म का अर्थ	१९-११-६०
१३.	धार्मिक सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान	१४-६-६५
१४-१५.	जैनधर्म बनाम हिन्दूधर्म १, २	२०-५-६१
१६.	आचार्य कुंदकुंद का आम्नाय	५-१-६१
१७.	आचार्य पद	
१८-१९.	जिन भक्ति महात्म्य १, २	१९-६-५८
२०.	वीतराग शासन में भेद का कारण : शिथिलाचार	१८-१२-५८

२१-२२.	जैनधर्म के सम्बन्ध में भ्रान्ति	१९-२-५९
२३.	श्रद्धा बनाम विवेक	९-६-६०
२४.	दश धर्म	१-९-६०
२५.	सम्यक् चारित्र	८-७-६५
२६.	शंका समाधान व रतनचंद्र मुख्तार	९-१२-६५
२७.	पाप और अज्ञान	१९-७-६२
२८.	शिथिलाचार का विरोध और समर्थन	२६-७-६२
२९.	निश्चय और व्यवहार	२०-९-६२
३०-३१.	मूल जैनधर्म १, २	३-१-६३
३२.	राजेन्द्र कुमार जी के वक्तव्य का उत्तर	७-८-६९
३३.	सृष्टि कर्तृत्व मीमांसा तथा जैन सिद्धांत के अनुसार जगत् का स्वरूप	
३४.	शुद्ध जल त्याग और नल का जल	सन्मति संदेश
३५.	क्या चतुर्थ-पंचम गुण स्थानवर्ती पहिरात्मा है ?	,,
३६.	शासन देवता पूजा क्या मिथ्यात्व नहीं है ?	सन्मति संदेश/जैन पथ प्रदर्शक
३७.	मिथ्यात्व की अकिंचित् करता की समाप्ति	
३८.	प्रक्षाल और अभिषेक भिन्न नहीं हैं	जैन सागर
३९.	शास्त्रीय शंका समाधान	
४०.	जेन मत क्या जैन मत है ?	महासभा बुलैटिन
४१.	आत्मधर्म की प्राप्ति ही श्रेष्ठ पुरुषार्थ है	सन्मति वाणी
४२.	आचारों में अचेलकत्व	सन्मति संदेश
४३.	समयसार की राजमल की टीका	
४४.	क्या मिथ्यात्व बंध का कारण नहीं है ?	सन्मति संदेश
४५.	तेरह पंथ का परिचय और उसकी क्रियायें	जैन संदेश '८२
४६.	षडक्रम एवं षगवश्यक कर्म में अचित्त देवपूजा	स० सं० '८२
४७.	तेरह पंथ क्या है ?	
४८.	समयसार का वास्तविक अध्येता कौन ?	
४९.	जैनागमों में आधुनिक वैज्ञानिक संकेत	बंबई गोष्ठी
५०.	शास्त्रों का जल प्रवाह अज्ञानता है	
५१.	मिथ्यात्व आदि पाँचों प्रत्यय बंध के कारण हैं	वीर वाणी
५२.	कुंदकुंद द्वारा प्रतिपादित अमृतकुंभ और विसकुंभ	
५३.	नयातिक्रान्त आत्मतत्व	
५४.	आ० कुंदकुंद द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्व	
५५.	कर्म बंध और उसके कारणों पर विचार	

(ग) व्यक्तिगत

१.	नेताओं के वियोग का वर्ष	१२-५-६०
२.	दानवीर साहू शांतिप्रसाद जी	जैन संदेश, २२-९-६०

३.	वर्णी स्मारक और ईसरी संस्थायें	५-१०-६१
४.	पुरस्कार के अवसर पर वक्तव्य	१५-८-७४
५.	दि० जैन समाज की महती क्षति	१२-५-६०
६.	स्व० बाबू छोटेलाल जी	३-२-६६
७.	स्व० छोटेलाल जी के ग्रन्थ पर मेरा सुझाव	१७-३-६६
८.	बाबू छोटेलाल जी के विविध संस्मरण	२४-३-६६
९.	गांधी जयन्ती	११-१०-६२
१०.	प्रज्ञाचक्षु गोविंदराय जी का स्वर्गवास	११-१०-६२
११.	स्वपरोपकारक मुनिश्री संभलभद्र जी	३१-१-६३
१२.	आदर्श विद्वान् की जीवनगाथा—वौया जी	
१३.	आचार्य कुंथुसागर जी का परिचय	
१४.	सत्-संगति का प्रत्यक्ष अनुपम उदाहरण	
१५.	आ० सन्मति सागर की वीतरागता	जैन गजट
१६.	अनुपम व्यक्तित्व के धनी बाबूभाई	
१७.	स० सि० कन्हैयालाल जी का परिचय	
१८.	गुरु परम्परा का आदर्श (आ० धर्म सागर)	
१९.	दिवाकर जी के कुछ संस्मरण	दि० अ० ग्र० १९७६
२०.	सन्त सरस्वती पुत्र (कैलाशचन्द्र जी)	१९८०
२१.	पं० कैलाशचन्द्र जी की महानता और मेरा साहचर्य	जैन संदेश, १९८७
२२.	इस युग का सर्वश्रेष्ठ विद्वान् उठ गया	वैशाली बुलेटिन
२३.	मेरी स्मृति में सोनी जी	

(घ) विविध

१.	संस्कृत शिक्षालयों पर एक दृष्टि	१८-८-६०
२.	प्राचीन इतिहास की विपुल सामग्री; लखनादौन	जै. सं. ३-२-७२
३.	कुंडलगिरि क्षेत्र पर पंचकल्याणक महोत्सव	१३-२-७५
४.	प्राचीन ग्रंथों की सुरक्षा का अपूर्व अवसर	३०-४-६४
५.	संस्कृत शिक्षा—एक समस्या	१०-५-६४
६.	संस्कृत शिक्षा विकास योजना	२१-१-६५
७.	दीपावली के प्रकाश में	
८.	निर्वाण दीप और दीप निर्वाण	२६-३-६१
९.	भ० महावीर का अनुपम संदेश	
१०.	अतिशय क्षेत्र महावीर जी	१-१२-६०
११.	हमारे तीर्थक्षेत्र	२०-४-६१
१२.	भगवान् और महामानव	१९-३-५८
१३.	धर्म की परख संकट में	२५-८-५८

१४.	सुधार के मूल अणुव्रत	९-१०-५८
१५.	चरित्र निर्माण की आवश्यकता	२७-११-५८
१६.	कुंडलपुर कुंडलगिरि नामक सिद्ध क्षेत्र है	१२-२-५९
१७.	सिनेमा द्वारा धर्म प्रचार	१२-५-६०
१८.	शतशत वंदन (महावीर जयंती)	८-४-६५
१९.	पन्नालाल ऐलक सरस्वती भवन	२२-७-६५
२०.	सरिता के लेख का प्रतिकार	१३-१-६६
२१.	दि. जैन संघ	३-५-६२
२२.	शिक्षा की दशा	२८-६-६२
२३.	शास्त्र भंडार अमूल्य निधि हैं	१४-२-६३
२४.	बाहुबलि प्रतिष्ठा महोत्सव	२१-१२-६३
२५.	पुरुलिया कांड : अत्यन्त दुःखद घटना	९-८-६२
२६.	आदर्श सेवाभावी संस्था का परिचय (आरोग्य भारती)	७-८-६९
२७.	नैनागिर का समोशरण जैन मंदिर	
२८	मध्यप्रदेश में दिगंबरों द्वारा दिगम्बर तीर्थों पर ही विवाद	वीरवाणी
२९.	नैनागिरि की नवीन योजना पर कुछ प्रश्न और सुझाव	जैन संदेश
३०.	षटखंडागम की वाचना की सफलता पर विचार	
३१.	संपादक जैन गजट का साहसपूर्ण कदम	जैनगजट
३२.	हिन्दू किसे कहते हैं, आज का ज्वलंत प्रश्न	जैन संदेश
३३.	जैन तत्त्व मीमांसा का प्राक्कथन	
३४.	सम्यग्ज्ञान शिरोमणि की प्रस्तावना	
३५.	'आत्म प्रबोध' की प्रस्तावना और भाषा टीका	
३६.	अमृत कलश की प्रस्तावना	
३७.	श्रावक धर्म प्रदीप की प्रस्तावना	
३८-४२.	यात्रात्मक विवरण के पाँच लेख	

पंडित जी की कृतित्व सूची

१. श्रावक धर्म प्रदीप : संस्कृत-हिन्दी टीका
२. अध्यात्म अमृत-कलश : भाषा टीका
३. प्रवचन सारोद्धार : भाषा टीका
४. आत्मप्रबोध (कुमार कवि) : भाषा

●

पंडित जी की यात्रायें

पंडित जी ने धार्मिक, सामाजिक तथा शास्त्रीय ज्ञान के संवर्धक उद्देश्यों से भारत के दशाधिक प्रान्तों के शताधिक नगरों की एकाधिक बार यात्रा की। इनमें कानपुर, वाराणसी, आगरा, ललितपुर, नजीबाबाद, चंडीगढ़, दिल्ली, अजमेर, बांसवाडा, व्यावर, जयपुर, अहमदाबाद, कलकत्ता, बंबई, नागपुर, अमरावती, शोलापुर, नांदगाँव, कुंथलगिरि, कारंजा, एलोरा, पारसनाथ, गया, भूमरीतिलैया, पटना, राजगिर तथा मध्य प्रदेश के सभी प्रमुख शहर सम्मिलित हैं। आपने तमिलनाडु एवं कर्नाटक के भी अनेक नगरों की यात्रायें की हैं। इन यात्राओं से उनके कार्य-क्षेत्र की व्यापकता के दर्शन होते हैं।

•

पंडित जी के अभिनंदन

१. जैन समाज, अमरपाटन

२. जैन समाज, अजमेर

३. दि. जैन गजरथ महोत्सव कमेटी, कुंडलपुर

४. कुंदकुंद भारती, दिल्ली

५. जैन समाज, गुना

६. पं० जमोला साधुवाद समिति, रीवा-दमोह जबलपुर
(यह सूची पूरी नहीं प्राप्त हो सकी—सं०)।

•

पंडित जी से संबंधित संस्थायें

१. श्री दि० जैन शिक्षा-संस्था, कटनी, प्रधानाध्यापक, अधिष्ठाता, सदस्य
२. श्री कन्हैयालाल गिरधारीलाल ट्रस्ट, कटनी, मंत्री, सदस्य
३. श्री टोडरमल कन्हैयालाल ट्रस्ट, कटनी, संस्थापक ट्रस्टी
४. श्री राम जानकी मंदिर ट्रस्ट, कटनी, अध्यक्ष
५. श्री मुरलीधर कन्हैयालाल ट्रस्ट, कटनी, ट्रस्टी
६. श्री दिगम्बर जैन गुरुकुल, खुरई, उप-अधिष्ठाता
७. श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल, जबलपुर, अधिष्ठाता
८. श्री दिगम्बर जैन गुरुकुल, ऐलोरा, संस्थापक सदस्य
९. श्री जैन गुरुकुल, मथुरा, सदस्य
१०. श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी, सदस्य कार्यकारिणी
११. श्री वर्णी जैन विद्यालय, सागर, सदस्य एवं ट्रस्टी
१२. दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र, कुंडलपुर, अध्यक्ष, सदस्य
१३. श्री महावीर जैन उदासीन आश्रम, कुंडलपुर (दमोह), अधिष्ठाता, सदस्य
१४. श्री दिगम्बर जैन परवार सभा, जबलपुर, मंत्री, सदस्य
१५. श्री दिगम्बर जैन संघ, मथुरा, प्रधानमंत्री, सदस्य
१६. श्री दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्, दिल्ली, संस्थापक सदस्य
१७. श्री वर्णी शोध संस्थान, काशी, अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, सदस्य
१८. श्री दिगम्बर जैन महासमिति, दिल्ली, सदस्य
१९. श्री भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

•

संपादन

१. जैन संदेश (१९५४-६९)
२. परवार बन्धु (प्रारंभ से अंत तक)
३. वीर सन्देश ,,
४. कांग्रेस बुलैटिन ,, (अल्पकालिक)

पंडित जी के विविध रूप

पंडित जगन्मोहलाल शास्त्री के अनेक रूप हैं जिनके माध्यम से हम उनका परिचय पाते हैं। उनके ज्ञान-तपोधन की महिमा तो उनके प्रशंसकों ने वर्णित की है। पर उनके ऐसे बहुत-से अज्ञात रूप हैं जिनकी भित्ति पर खड़े होकर उन्होंने यह गरिमा पाई है। ये उनके बाल्यकाल या विद्यार्थी जीवन के रूप हैं। ये उनकी डायरी के पन्नों से प्राप्त हुए हैं। बहुत कम लोग यह जानते होंगे कि अपने विद्यार्थी जीवन में वे (१) **कवि, गीतकार एवं भजनकार** रहे होंगे। बहुत लोगों को मालूम न होगा कि (२) वे **कुशल-कृपण** थे और प्रत्येक स्थिति में आय-व्यय का लेखा-जोखा रखते थे। (३) विद्यार्थी जीवन में वे अच्छे **दैनंदिनी-लेखक** थे। उनकी दैनंदिनी में संकलित सूचनायें, विभिन्न विषयों पर व्यक्तिगत विचार और समीक्षा भी रहती थी। (४) वे अच्छे **पत्र-लेखक** भी हैं। पत्र केवल बाहरी कुशल-क्षेम के प्रतीक ही नहीं हैं, वे व्यक्तियों को मानसिक और बौद्धिक दृष्टि से भी मिलाते हैं। पण्डित जी ने अपने जीवन में हजारों ऐसे पत्र लिखे होंगे जिनमें सैद्धान्तिक प्रश्नों के उत्तर, सामाजिक व धार्मिक समस्याओं के सम्बन्ध में विचार पूर्ण समाधान और आकांक्षायें व्यक्त की होंगी। इस संकलनकार को ही उन्होंने अनेक ऐसे पत्र लिखे जो **सैद्धांतिक** दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। (५) वे विचारोत्तेजक एवं सामयिक समस्याओं के समय आधुनिक दृष्टि संपन्न **लेख लिखने** में भी सिद्धहस्त हैं। पत्र-संपादन कला विशारद तो वे हैं ही, बुलेटिन-अनुभवी भी हैं। उनके इन रूपों की बानगी यहाँ प्रस्तुत है।

—संपादक

●

गीत लेखक

स्वदेश भक्ति

सिंह सदृश हो शूरवीर, हम सिंह सदृश हों मानी।
हों स्वदेश की रक्षा के हित, शूरवीर सेनानी।।
देशहितार्थ कष्ट सहने में, करें न आनाकानी।
हम स्वदेश हित पीवें प्रतिदिन, असयोग का पानी।।

६ फरवरी १९२०

श्री बालगंगाधर तिलक की स्मृति में आठ पदों की कविता का अंश

भारत मां के लाल, भाल के सुतिलक प्यारे।
तिलक बिलखती छोर, मात को कहां सिधारे।।
क्या स्वराज्य की शिक्षा देने स्वर्ग पधारे?
नव्य जन्म ले अथवा करने त्राण हमारे।।
या स्वराज्य नरमेध यज्ञ में हा! किया प्रयाण है।
भारत रक्षा के लिये किया आत्म बलिदान है।।

१४ फरवरी १९२०

कैसी कैसी वीर प्रसूता हुई, अहो क्षत्राणी।
नहीं दीखती थीं यद्यपि, वे क्रूर सदृश यमरानी।।
शूरा थी, जननी सपूत थीं, करते जो रिपुहानी।
भारत में जिनकी प्रसिद्ध है, प्राय: सकल कहानी।।
खाने को जिनके गृह में, था नहि दाना पानी।
वे स्वदेश हित देह त्यागते, कथा यथा पुरानी।।

●

कविता लेखक

श्रीमान् विद्वद्-वर पं० गोपाल दास जी बरैया (१८६६—१९१७) के शोक में रचित

जो है[1] हुआ वह था,[2] हमारा, भाग्य आज पलट गया।
जो सूर्य जैन समाज में था, हाय, वह भी खो गया॥
गोपाल दास सुधी सुपंडित, मान्यवर वाचस्पति।
थे न्याय के वाचस्पति, अरु स्याद्वाद–सुवारिधि॥
प्रतिवादियों को जीतने में थे बड़े अतिसाहसी।
जैसे कि हस्ति – समूह को है, दूर करता केशरी॥
वे वारि–दिग्गज केशरी हैं, अब नहीं संसार में।
वे ग्रसित काल–कराल से, हो गये कलिकाल में॥
हम छात्र – वर्गों का नहीं, ऐसा बचा संसार में।
जो कर सके हमको सुशिक्षित, हाय ! इस दुष्काल में॥
हा ! आज जैन समाज के भी भाग्य हैं कैसे फिरे।
हम शोक व्याकुल छात्र-गण, बेमौत के मौतों करे॥
क्या ही भयंकर चैत्र शुक्ला, पंचमी का दिन हुआ।
जिस दिन कि जैन समाज का, इक रत्न कर से खो गया॥
वे थे अभी इस भूमि पर, यह क्या हुआ, हा ! देव रे।
रे, दुष्ट, हा हा दैव ! तूने क्या किया अंधेर ये॥
प्रतिवादियों को जीतने का, काम पड़ता है कभी।
पर याद आती आपकी, पर जोर कुछ चलता नहीं॥
चारों दिशा में देखते है, शून्य दिखता है सभी।
हा ! हे हमारे पूज्यवर, दर्शन न होंगे अब कभी॥
प्रिय पाठको, अति शोक में अब, लेखनी चलती नहीं।
इस शोक रूप समुद्र में, डूबे हुए है हम सभी॥
बीतें हजारों वर्ष पर, यह दुःख भूलेंगे नहीं।
हे पूज्यवर, क्या प्राज्ञवर, हम मिल सकेंगे फिर कभी॥
प्रिंसिपल, सिद्धान्त विद्यालय, मोरैना के वही।
थे, मगर हा, शोक है, वे दृष्टिगोचर हैं नहीं॥
यद्यपि नहीं संसार में, पर नाम उनका ख्याल है।
हे जैन जाति, उठो, सुनो, अब शोक करना व्यर्थ है॥

१., २. जिन पुरुष को कल 'है' कहते थे, उसे आज 'थे' ऐसा कहना पड़ रहा है।

कुशल-कृपण आय-व्यय लेखक

बजट : **१ माह**

१९ दिसम्बर, १९२६,

रविवार, सदस्य संख्या ३

५०)	अनाज
६०)	घी
२५)	कपड़ा
२०)	शाक
५)	तेल
३)	मसाला
५)	शक्कर
८)	लकड़ी
९)	पानी भराई
९)	बच्चों को
२५)	दूध
२०)	सफर
२५)	विविध
३६५)	
२४३)	रिवाइज्ड

इसमें किराया शामिल नहीं है।

ईसरी का हिसाब

मंगलवार, दिनांक २२ फरवरी १९२१

१५॥≡)॥। जमा

।≡)	हुक्का, आती-जाती
।)।	खाना
।)	हुक्का
१।≡)	टिकिट (गया से ईसरी)
≡)	हुक्का
।≡)	खाना
)॥	ककड़ी
≡)	मजूरी
=)।	पान
=)।	चना
=)	रबड़ी
=)॥	खाना
।≡)	हुक्का
॥)	टिकिट
१।≡)	टिकिट गया से ईसरी
=)॥	पोस्टेज
=)	कुली
१॥≡)	गया से बनारस
८।)॥	सिलक बाकी
१५॥≡)॥।	

(३) दैनंदिनी लेखक

जैन उप-जातियों की उत्पत्ति

(अ) **परवार**—जयपुर से प्राप्त ईडर के भट्टारकों की पट्टावली से ज्ञात होता है कि गुप्तिगुप्त भट्टारक विक्रमादित्य के वंशज थे और परवार थे। क्षत्रियों में एक जाति परमार या पमार है, यही शब्द उत्तरकाल में परवार हो गया। यह तथ्य पन्ना के एक क्षत्रिय से भेंट एवं सागार धर्मामृत की पं० लालाराम जी लिखित हिन्दी टीका के उद्धरण से भी पुष्ट होता है। सम्भवतः ये क्षत्रिय किसी जैन मुनि के उपदेश से जैन बन गये होंगे। अहिंसा के पुजारी होने से इन्होंने वैश्यों के व्यवसाय ग्रहण किये। बनारसी विलास में अनेक जातियों के इसी प्रकार निमित्त-वश जैन होने की बात लिखी है। इस प्रकार परवार जाति प(र)मार क्षत्रियों से उत्पन्न है और वह विक्रमादित्य से पूर्व की है, ईसा पूर्वकालीन है।

१२-१-१९२१

(ब) गोलापूर्व—इस जैन उपजाति में पंचविसे आदि गोत्र हैं। कहते हैं—एक गांव में तीन पटी थीं, एक में चार-सौ घर थे, अतः वे **बीस-बिसे** कहलाये, एक में दो सौ घर थे, अतः वे **दसबिसे** कहलाये और तीसरी पटी में कुल सौ घर थे, अतः वे **पंचबिसे** कहलाये। १४-१-१९२१

•

(स) खरौआ और मिठौआ—किसी घर के दो भाइयों में आपसी वैमनस्य बढ़ा और बंटवारा हुआ। एक को वह घर मिला जिसमें कुंआ था। उसका जल मीठा था। दूसरे को जो घर मिला, उसमें कुंआ नहीं था। उसने कुंआ खुदवाया, पर उसका पानी खारा निकला। इस कारण दोनों भाइयों के वंशज क्रमशः मिठौआ और खरौआ कहलाये।

•

(द) दशा हूंमड़ – हूमण जाति आबू (राजस्थान) क्षेत्र की एक हिंसक जाति थी। यह जिनसेन आचार्य के उपदेश से जैन धर्म की अनुयायी बनी। १४-१-१९२१

•

(४) पत्र-कला, विशारद

श्री प्रेमराज जी, अजमेर को लिखे पत्र का अंश, दिनांक ९-१२-१९६६

वर्तमान में आगम के अर्थों में भी खींचातानी चल रही है। पण्डितों व साधुओं में भी गुटबंदी-सी हो गई है। कानजी के प्रति द्वेषभाव पैदा हो गये हैं। इसके दो कारण हैं : **प्रथम** तो यह कि वे लोगों की चालू धारणा-व्यवहारैकान्त को खण्डित करने के लिये निश्चयनय का दृढ़ता से प्रतिपादन कर रहे हैं जो व्यवहारैकान्त-वादियों को निश्चयैकान्त आभासित होता है। **दूसरे** विद्वानों को अपनी विद्वत्ता पर अभिमान है। वे चाहते हैं कि हमें गुरु मानकर कानजी समझें। **दूसरा** कारण यह है कि वर्तमान साधुओं में 'आगमोक्त' मूलगुणों की कमी देखकर वे उनको मुनि नहीं मानते, अतः मुनि भी उनसे नाराज हैं। फलतः उसे समाज में गिराने की भावना सबकी है। सेठ तो······होते हैं, उनको धर्म की समझदारी है ही नहीं। अतः उन्हें 'धर्म डूबा' का नारा लगाकर धर्मभीरु होने से उनको बुद्धू बनाकर अपना मतलब दोनों साध लेते हैं।

हम लोग कुछ मध्यस्थता की बात करते हैं, तो समाज के सामने बदनाम करते हैं कि पण्डित लोग वहाँ से रुपया पाते हैं, अतः उनकी पुष्टि करते हैं। यह है समाज की हालत।

यथार्थ में, मैं अभी प्रत्यक्ष देख या अनुभव करके आया हूँ। वे व्यवहार का निषेध करते हैं निश्चय दृष्टि को सामने रखकर। इससे कि उनके पुराने अनुयायी अपने व्यवहार को छोड़ दें और निश्चय की बात को यथार्थ समझें। इसे समझने पर सम्यक् व्यवहार उनमें आ जायगा। आ भी जाता है। वे पूजा करते हैं, पंच कल्याणक कराते हैं, अपने को शुद्ध दिगम्बर कहते हैं। उनके द्वारा शुद्ध तेरह पंथ की प्रवृत्ति का स्वीकार करना भी बीस पंथियों को खटकता है। यह **तीसरा** कारण भी उनके विरोध का है।

वे प्रतिमाधारी नहीं, पर अत्यन्त शुद्धाचारी ब्रह्मचारी हैं। सभी लोग दि० जैन धर्म के कट्टर अनुयायी हैं। हमसे ज्यादा कट्टर हैं। सदा स्वाध्याय चलता है। एक-एक अक्षर सूक्ष्मता से पढ़ते हैं। न कोई पंथ स्थापना की भावना है, न कोई आगम-विरुद्ध मान्यता है। मंद कषायी हैं, विरोध से क्रोधित भी हैं, पर अपना काम करते हैं।

अन्य शंकाओं के सम्बन्ध में मेरा मत है :

(i) चतुर्थ गुण-स्थान में निश्चय-व्यवहार-दोनों सम्यग्दर्शन है।

(ii) जो सातवें गुण स्थान की बात है, सो जिन शासन ने व्यवहार की व्याख्या की है। भेदरूप वर्णन, सो व्यवहार और अभेदरूप, सो निश्चय। इस व्याख्या के अनुसार, सात तक भेदरूप, रत्नत्रय है, अतः व्यवहार है। और श्रेणी में अभेद् रूप है, सो यहाँ निश्चय है। निश्चय-व्यवहार की व्याख्याओं में अन्तर है, अतः तदनुसार ही फैसला है।

(iii) आचार्य किसी नय से मिथ्या दृष्टि नहीं हो सकते। वे या मात्र व्यवहार सम्यक्त्वी थे या फिर उभय सम्यक्त्वी और उभय चारित्री थे।

•

(५) सामाजिक समस्या पर लेख

ये जिन शासन देव हैं या मिथ्या शासन देव ?

जगन्मोहन लाल जैन शास्त्री, कटनी

परमवीतरागी जिनानुगामी दिगम्बर जैन धर्म का उच्चघोष करने वाली दि० जैन समाज के कुछ नेता वीतरागी प्रभु की पाद सेवा के साथ-साथ कुछ ऐसे सरागी सशस्त्र देवी देवताओं की पूजा आराधना-आरती-मन्त्र-जप आदि का विधान करते है जिनकी आराधना का जिनागम में स्पष्ट निषेध है और जिनकी मान्यता महामिथ्यात्व माना गया है। कुछ दिगम्बर साधुजन भी इस कृत्य का समर्थन करते हैं तथा इसका उपदेश भी देते हैं। इनकी आराधना से कष्ट निवारण की भी बात भक्त को बताते हैं तथा पूजा मंत्र-जप अनुष्ठान की प्रेरणा भी देते हैं।

कहीं कहीं शारदी पूर्णिमा के दिन दूध में प्रतिमा रात भर डुबोकर जप होता है और उस दूध को खाने का भी उपदेश होता है। अभी कुछ दिन पूर्व कलकत्ता के एक विद्वान द्वारा यह भी जानने में आया कि वहाँ शारदपूर्णिमा को मन भर दूध में प्रतिमा जी रात भर रखाई गई और सबेरे वह दूध जनता को बांट कर उसे पीने तथा औंट कर मिठाई बनाकर खा लेने का आदेश एक कथित जैनाचार्य द्वारा दिया गया जिनका वहाँ चातुर्मास हो रहा था।

श्री सम्मेदशिखर जी बीस तीर्थंकरों की निर्वाण भूमि है। जैनों की परमपावन तीर्थ भूमि है। पर्वत राज पर तो तीर्थङ्करों के निर्वाण स्थलों पर चरण चिह्न स्थापित हैं—नीचे तलहटी में भी दि० जैन बीस पंथी कोठी के साथ अनेकानेक मंदिर वेदियाँ हैं। दि० जैन तेरह पंथी कोठी में भी विशाल मंदिर, अनेक वेदियाँ तथा नन्दीश्वर की रचना-मानस्तंभ आदि हैं। पर्वत की उपत्यका पर प्रथम ही विशाल मानस्तंभ, उन्नत बाहुबली भगवान् तथा वर्तमान चौबीसी का मंदिर बना है। वीतराग प्रभु के पूजन-दर्शन आराधना के सर्वोत्तम साधनभूत सहस्रों जिन बिम्ब स्थापित हैं।

वीतरागधर्म के आराधक श्रावकों, सेठों एवं साहूकारों द्वारा उक्त निर्माण उनके हृदय के परम धर्म के परिचायक हैं। यहीं बाहुबली मन्दिर के समीप अभी कुछ वर्ष पूर्व एक मन्दिर बनाया गया है जिसका नाम "समवशरण मन्दिर" रखा गया है। उसमें मूल वेदिका पर तो जिनेन्द्र अवश्य स्थापित हैं पर बाहर-भीतर-ऊपर-नीचे सम्पूर्ण मन्दिर में सैकड़ों सरागी देवी-देवताओं का ही साम्राज्य है। भगवान एक फुट होंगे, तो सरागी देवता

चार-चार फुट ऊँचे हैं। इनकी वेदिकाएँ बाहिर बनी हैं और दर्शनार्थियों को उनका ही प्रथम दर्शन होता है। मूलवेदी की चार जिन प्रतिमाओं के अभाव में उपरोक्त मंदिर की कृतियां अजैन मन्दिर प्रमाणित करेंगी। आश्चर्य यह है कि वह सारी रचना एक दिगम्बर जैन आचार्य की प्रेरणा से है। जहाँ श्रावकों द्वारा वीतराग प्रभु की विशाल रचनाएँ विद्यमान हैं, वहीं "समवशरण मन्दिर" के नाम पर मिथ्या देवों की रचना का जैनाचार्य की प्रेरणाकृत स्वरूप भी है।

एक प्रश्न है कि सम्मेद शिखर पर, तीर्थंकरों की निर्वाण भूमि पर तीर्थंकर विम्ब स्थापना तो सहेतुक है पर इन देवी देवताओं की स्थापना किस हेतु है? इसका प्रतिफल तो इनकी पूजा-अर्चा के प्रसार से मिथ्यात्व का प्रचार ही होगा। यह सर्वथा अनुचित है। संसार में करोड़ो मंदिर देवी देवताओं के हैं जो उनके आराधकों द्वारा संस्थापित हैं, उनका औचित्य माना जा सकता है पर वीतराग के आराधकों द्वारा जैन मंदिर में इनका स्थापन कैसे उचित माना जा सकता है? किसी कृष्ण मंदिर में राम की मूर्ति नहीं है—राम के मन्दिर में कृष्ण की मूर्ति नहीं है—पर यहाँ वीतराग के मन्दिर में सरागी की मूर्तियाँ स्थापित हैं। उनका औचित्य कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

यह तो कहा जाता है कि ये जिन शासन के भक्त हैं, अतः स्थापित हैं। पर यह तर्क इसलिए यथार्थ नहीं है कि ये भक्त भक्ति करने की मुद्रा एवं स्थान पर स्थापित नहीं, स्वयं देवमुद्रा में हैं। यह भी तर्क दिया जाता है कि भगवान् के पुण्य समवशरण में असंख्य देवी देवता थे। यह सही है, पर ये समवशरण की बारह सभाओं में अपने अपने कक्ष की सीमा में हाथ जोड़े दिखाये गये होते, तो कोई आपत्ति न थी। तर्क सही होता। पर ये देवी-देवता अपनी मुद्रा में पूरे मंदिर में छाये है, अतः इनका औचित्य नहीं है। मैं ऐसी स्थापना को जिनागम के विरुद्ध मानता हूँ। भगवान् महावीर के उपदेश से यह क्रिया बहिर्भूत है। इस सम्बन्ध में एक घटना महावीर जयन्ती की है जो इसके अनौचित्य पर प्रकाश डालती है।

महावीर जयन्ती के अवसर पर एक अजैन विद्वान ने भाषण में महावीर परम अहिंसक थे, यह सिद्ध किया। वहीं एक अजैन बंधु ने अपने प्रश्न में कहा कि भगवान् महावीर ने कितने स्लाटर हाउस उस समय बंद कराये थे? कितने कसाई-खाने बन्द कराये? कहाँ-कहाँ इसके लिए सत्याग्रह या अनशन किया? इन प्रश्नों के उत्तर में उस अजैन विद्वान वक्ता के उद्‌गार स्वर्णांकित करने योग्य हैं। उनका कथन था कि भगवान् महावीर ने प्रश्न में कथित कोई कार्य नहीं किये, किन्तु जो किया, वही उनका सर्वोच्च श्रेष्ठतम कार्य अहिंसा प्रचार का था। वह कार्य यह था कि जहाँ "कर्म" कहकर "बलिदान" किया जाता था, वहाँ धर्म के स्थान पर अधर्म-अहिंसा के मन्दिर में हिंसा की प्रतिष्ठा थी। यह विश्वासघात था, धोखा था। डाका डालने की अपेक्षा विश्वासघात से छीनना अधिक पापमय है। भगवान् महावीर ने स्पष्ट घोषित किया है कि धर्म के नामपर किया जाने वाला अधर्म याने हिंसा—हिंसा ही है, अधर्म है। यह पतन का कारण है।

इस तर्क से प्रकाश पड़ता है कि धर्म के स्थान पर अधर्म के बैठ जाने से धर्म का स्थान छिन जाता है। अतः यह उचित नहीं। मैं समझता हूँ कि वीतराग के मन्दिरों को वीतराग के ही मन्दिर रहने दिया जाता और उन सरागी देवताओं का मंदिर सरागी का स्थान ही रहता, तो वीतरागियों को धोखा न होता।

"बनस्पति" नामक तेल शुद्ध वनस्पति तेल के नाम से करोड़ों रुपयों का बिकता है, उसपर कोई कानूनी प्रतिबंध नहीं है। किन्तु शुद्ध घी में बनस्पति तेल मिला कर बेचा जाय, तो कानूनी जुर्म है। इसी तरह वीतराग मंदिर में सरागी मूर्ति रख कर उन्हें वीतराग मंदिर कहना धोखा है। धर्म के नाम पर अधर्म के प्रचार-प्रसार का साधन है, ऐसा मानना ही उपयुक्त है।

इन सरागी देवी देवताओं की उपासना कुछ दि० जैन पण्डित भी करते हैं। पण्डित बुद्धजीवी हैं। उनमें तर्क-वितर्क कुतर्क करने की क्षमता होती हैं। वे अपनी इस क्रिया को तर्क से सिद्ध करते हैं तथा सामान्य जन को बताते हैं कि राजा के साथ राजा के सेवक भी आते हैं। उनका भी आदर करना होता है। यदि न किया जाय, तो राजा को वे अप्रसन्न कर सकते हैं। इसी प्रकार भगवान् के साथ में भगवान् के सेवक हैं, जो जिन शासन के रक्षक हैं, अतः उनका सम्मान भी किया जाता है।

इस तर्क पर विचार करें तो मालूम होगा कि यह धोखा है—कुतर्क है। राजा तो रागी द्वेषी होता है, प्रतिष्ठा-पूजा का भूखा होता है। राजकर्मचारी नाराज हो जाय, उसे सम्मान न मिले, रिश्वत-घूंस न मिले, तो राजा से चुगली भी करके राजा को आपके विरुद्ध कर सकता है। अतः भय से राजकर्मचारी को सम्मान रुपया पैसा भेंट दी जाती है। इसी प्रकार क्या तीर्थंकर प्रभु राजा की तरह पूजा-प्रतिष्ठा के लोभी हैं ? यह प्रश्न है।

दूसरा तर्क है कि ये जिन शासन के रक्षक हैं. किन-किन धर्मात्माओं ने इनकी पूजा आराधना की और किन-किन की सहायता-सेवा-रक्षा इन देवी देवताओं ने की, इसका एक भी उदाहरण जैन पुराणों में नहीं है। जिनकी सहायता की है उनके नाम है : सती सीता, अंजना, द्रौपदी, रयणमंजूषा, मुनियों में अकलंक देव, समंतभद्र आदि और घटनाएं हैं। देखना यह है कि ये सब जीव परम सम्यक् दृष्टि थे। उन्होंने जिनेन्द्र की आराधना-स्मरण किया था। तब देवता सेवा को आये थे। ऐसा कोई उदाहरण नहीं है कि इनकी आराधना की हो और कोई देवता सहायता को आया हो। तब इनकी आराधना का उपदेश क्यों ? जिनेन्द्र की आराधना पर ये स्वयं आये है, तो आयेंगे। यदि आपकी जिनेश आराधना सही पुष्कल होगी, तो अवश्य दौड़े आयेंगे। पर ये सब घटनाएं उन उन जीवों के पुण्योदय पर हैं। अन्यथा जिन के गर्भ-कल्याणक पर देवों ने पन्द्रह माह रतन वरसाये, वे भगवान् आदिनाथ आहार मात्र के लिए बारह माह भटकते रहे, किसी देवता के कान पर भनक भी नहीं पड़ी। अतः ये सब तर्क नहीं, कुतर्क हैं।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा पाठ में उन सब देवी देवताओं के नाम स्थापना आदि हैं, अतः जिनागम में इनका महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। यह भी एक तर्क है। उत्तर यह है कि यह यथार्थ है कि पंचकल्याणक में इनका वर्णन प्रतिष्ठा पाठों में है। उसका हेतु उनका पूजन-अर्चन नहीं है, किन्तु भगवान् के इन कल्याणकों का कार्य सौधर्मेन्द्र तथा उनकी आज्ञा से अन्य देवी देवियों ने सम्पन्न किया है। अतः उस समय के पंचकल्याणकों का यह रूपक है, जो हम करते हैं।

हम भगवान् की मूर्ति बनाते हैं और मूर्ति में पंचकल्याणक की क्रिया का रूपक करते हैं। इसमें देवी-देवताओं के नाम आते हैं। सौधर्मेन्द्र ने प्रतिष्ठा की। अतः यज्ञकर्त्ता में सौधर्म इन्द्र की स्थापना की जाती है। सौधर्मेन्द्र ने देवी देवताओं को आज्ञा दी थी न कि उनकी पूजा की थी। तब यहाँ भी इन्द्र आज्ञा देवे, उसी का यह नियोग है। आज के प्रतिष्ठाचार्य उस स्थापित यज्ञकर्त्ता को सौधर्मेन्द्र स्थापित करके भी उसके द्वारा इन सब छोटे-छोटे सौधर्मेन्द्र की आज्ञा मानने तथा उसके सामने हाथ जोड़कर खड़े रहने वाले देवी देवताओं की पूजा कराते हैं। यह कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है। अतः पंचकल्याणक प्रतिष्ठापाठों में इनकी चर्चा कर इनकी पूजा-अर्चा का विधान भी शास्त्रों का विपरीत अर्थ करके मिथ्यात्व का खरा पोषण ही है।

पद्मावती-ज्वालामालिनी आदि देवियों का स्वरूप, उनकी आराधना आदि जो की जाती है, उसका विधान भैरव पद्मावती कल्प और ज्वालामालिनी जैसी पूजा पुस्तकों में है। ये पुस्तकें दि० जैन पुस्तकालय सूरत से छप चुकी हैं। पद्मावती कल्प वी० सं० २४७९ और २४९६ में दो बार और ज्वालामालिनी कल्प २४९२ में छपी है।

इस तरह इसका प्रचार २५ वर्ष से हो रहा है। इनकी पूजा-आराधना विधि जप मंत्र में गधे के रक्त, कुत्ते के रक्त, काक पत्र, स्मशान हड्डी, मुर्दे के वस्त्र आदि हिंसक घृणित पदार्थों के उपयोग का विधान है। देखिये, ये कैसे जिन शासन देव हैं या जिन शासन के देव कह कर आपको मिथ्यात्व की ओर ही ढकेला जा रहा है। अभी लघुविद्यानुवाद नामक एक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुवा है। उसकी समालोचना भी जैन पत्रों में प्रकाशित की गई है। उसमें भी इसी प्रकार मिथ्या देवों की पूजा-अर्चा आराधना को उपादेय माना गया है।

एक बड़ा प्रश्न है कि द्वादशांग का मूल लोप हो जाने एवं पंचम पूर्व का अंशमात्र ही शेष रहने पर धरसेनाचार्य ने अपने शिष्यों को वाचना दी और उनके शिष्य आचार्य भूतबली-पुष्पदन्त ने षड्खंडागम बनाए। अतः विद्यानुवाद किस आधार पर बना है, उसकी प्रमाणिकता कैसे स्वीकार की जाये ?

फिर जिन बातों का सम्बन्ध जिनागम से विरुद्ध वीतरागी जिन के सिवाय रागी द्वेषी कुदेवों की आराधना एवं हिंसकपूर्ण द्रव्यों से है, तो वह जिनागम कैसे हो सकता है ?

भट्टारक युग के प्रारम्भ में अनेक भट्टारक जिनागम के प्रचारक व प्रभावक रहे। यद्यपि उनका वेष जिनागम में कहीं भी उल्लखित नहीं तथा पीछे-पीछे भट्टारक गद्दियों पर जब जैन नहीं बैठे, तब ब्राह्मण लड़कों को दीक्षा देकर बैठाया गया। उन्होंने जिनागम में अपनी वैदिक मान्यता को समाविष्ट कर उसका विरुद्ध रूपान्तर कर दिया। जिनसेन नामक भट्टारक के शिष्य-प्रशिष्य अपना नाम जिनसेन और आचार्य भी लिखते रहे। इसी प्रकार अन्य गद्दियों की भी नामावली पुराने नामों पर चलती रही। उससे विद्वानों को धोखा हुआ और उन्हें उक्त आचार्यों की कृतियाँ मानकर उसका प्रचार दि० जैन समाज में किया।

स्पष्ट है कि वीतरागी के सिवाय अन्य देव पूज्य नहीं और अहिंसा-मूलक क्रियाओं के सिवाय हिंसापूर्ण क्रियाएँ जिनागम मान्य नहीं। इस तरह शासन देवों के नाम से कुदेव पूजा कभी ग्राह्य नहीं है।

विनोदी सहयोगी का साधुवाद

पंडित फूलचंद्र सिद्धान्त शास्त्री
रुड़की (उ० प्र०)

पंडित जी हमारे सहपाठी और सहयोगी हैं। वे हमलोगों में 'सिरमौर' है। सबसे पहले मैंने उन्हें मोरेना में देखा था। अपने स्वभाव के कारण वे प्रायः हमें आश्चर्य में डालने से नहीं चूकते थे। वे बड़े विनोदप्रिय है। एक बार मैं सो रहा था। वे अपने घर से लौट कर आये और रात में ही उन्होंने सोते समय ही मेरी छाती पर बैठकर हलके से मेरा गला दबा दिया। मैं जब लड़खड़ाती आवाज में चिल्लाने लगा, तो वे हंसे और मुझ छोड़ दिया। इसी प्रकार एक बार मैं एक खेत में मल-विसर्जन कर रहा था। वे पीछे से आये और मेरा पानी भरा लोटा उठाकर दूर खड़े हो गये। गिड़गिड़ाने पर ही मुझे लोटा वापस मिल सका।

वे कुशाग्र बुद्धि है और बात बनाने में अति चतुर हैं। वे दूसरों के छिद्रों के गोपन का भी कर्तव्य निभाते है। उन्होंने अपने पिता के पदचिन्हों पर कब चलना स्वीकार किया, यह बात मोरेना में तो दिखी नहीं। बाद की घटना होनी चाहिये। पर आज वे व्रती श्रावक हैं और व्रतभंग करने में विश्वास नहीं रखते।

वे वक्तव्यकला में भी अतिचतुर हैं। एक बार मैं और वे दोनों खुरई आये हुए थे। मेरे भाषण के बाद उनका भी भाषण हुआ। उन्होंने जिस कलर और कमाल से वह भाषण दिया, उससे मैंने उनसे हार मान ली।

वे सहृदय हैं, जैन मात्र के प्रति उनमें आदर भाव है। वे अच्छे लेखक भी हैं। उनके अध्यात्म अमृत कलश' का प्रकाशन चंद्रप्रभ दि० जैन मंदिर, कटनी से हुआ है। यह एक दिशा बोध है। यदि जैन मंदिर मात्र आय के साधन बढ़ाने के साथ जिनबिंबों की रक्षा के अतिरिक्त जिनवाणी का भी प्रचार-प्रसार करें, तो विश्व में जैनधर्म के प्रचार में चार चाँद लग जावें। ईसाई इस दृष्टि से हमें पाठ सिखाते हैं। धर्म केन्द्रों की आय का कुछ अंश सदैव साहित्य निर्माण और प्रचार कार्य में लगना चाहिये।

कटनी में सिंघई धन्यकुमार जी का घराना पर्याप्त काल से प्रतिष्ठित है। पंडित जी के लिये उनके परिवार ने जो किया, वह शायद ही कोई कर सके। एक बार सिंघई जी की दूकान से एक गरीब जैन भाई को 'मंदिर मरम्मत' के नाम पर बनी झूठी रसीदों पर पंडित जी के रोकने पर भी सहायता दी गई। पंडित जी ने जब पूछ-ताछ की, तब उनसे कहा गया कि समाज का गरीब भाई जान कर उसे चंदा दिया गया है।

"लेकिन उसने तो झूठ का सहारा लिया, फिर भी आपने दिया है?" "यदि वह झूठ न बोलता, तो कोई उसकी सहायता करता?' न धर्मो धार्मिकैं विना' के सिद्धान्त को तो समाज भूल ही गई है।" पंडित जी को वास्तविकता स्वीकार करनी पड़ी। सिंघई परिवार आज भी समाज व धर्म के कार्यों के सहयोगी बना हुआ है। पंडित जी इस पूरे कुटुम्ब के मार्गदर्शक है।

पंडित जी आचार्य कुंदकुंद के उन वचनों के अनुयायी हैं जिनमें कहा गया है कि जो आत्महित में परहित देखता है, वह सन्मार्गी है और अनुकरणीय है।

उनके साधुवाद पर मैं अत्यंत प्रसन्न हूँ।

●

इतिहास के पृष्ठों से

श्रीमान् बाबा गोकुलचन्द्रजी

बाबा गोकुलचन्द्रजी एक अद्वितीय त्यागी थे। आप ही के उद्योग से इन्दौर में उदासीनाश्रम की स्थापना हुई थी। जब आप इन्दौर गये और जनता के समक्ष त्यागियों की वर्तमान दशा का चित्र खींचा, तब श्रीमान् सर सेठ हुकमचन्द्रजी साहब एकदम प्रभावित हो गये और आप तीनों भाइयों ने दस-दस हजार रुपये देकर तीस हजार की रकम से इन्दौर में एक उदासीनाश्रम स्थापित कर दिया। परन्तु आपकी भावना यह थी कि श्रीकुण्डलपुर क्षेत्र पर श्रीमहावीर स्वामी के पादमूल में आश्रम की स्थापना होना चाहिये। अतः आप सिवनी, नागपुर, छिंदवाड़ा, जबलपुर, कटनी, दमोह आदि स्थानों पर गये और अपना मन्तव्य प्रकट किया। जनता आपके मन्तव्य से सहमत हुई और उसने बारह हजार की आय से कुण्डलपुर में एक उदासीनाश्रम की स्थापना कर दी।

आप बहुत ही असाधारण व्यक्ति थे। आपके एक सुपुत्र भी था जो कि आज प्रसिद्ध विद्वानों की गणना में है। उसका नाम श्री पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री है। इनके द्वारा कटनी पाठशाला सानन्द चल रही है तथा बुरई गुरुकुल और वर्णीगुरुकुल जबलपुर के ये अधिष्ठाता हैं।

इनके लिये श्रीसिघई गिरधारीलालजी अपनी दुकान पर कुछ द्रव्य जमा कर गये हैं। उसी के ब्याज से ये अपना निर्वाह करते हैं। ये बहुत ही सन्तोषी और प्रतिभाशाली विद्वान् हैं। व्रती, दयालु और विवेकी भी हैं। यद्यपि सिं० कन्हैयालालजी का स्वर्गवास हो गया है, फिर भी उनकी दुकान के मालिक चि० स० सिं० धन्यकुमार जयकुमार हैं। वे उन्हें अच्छी तरह मानते हैं और उनके पूर्वज पण्डितजी के विषय में जो निर्णय कर गये थे, उसका पूर्णरूप से पालन करते हैं। विद्वानों का स्थितीकरण कैसा करना चाहिये, यह इनके परिवार से सीखा जा सकता है। चि० धन्यकुमार विद्या का प्रेमी ही नहीं, विद्या का व्यसनी भी है। यह आनुषङ्गिक बात आ गई।

मैंने कुण्डलपुर में श्री बाबा गोकुलचन्द्रजी से प्रार्थना की कि 'महाराज ! मुझे सप्तमी प्रतिमा का व्रत दीजिये। मैंने बहुत दिन से नियम कर लिया था कि मैं सप्तमी प्रतिमा का पालन करूँगा और यद्यपि अपने नियम के अनुसार दो वर्ष से उसका पालन भी कर रहा हूँ, तो भी गुरुसाक्षीपूर्वक व्रत लेना उचित है।" मैं जब बनारस था, उस समय भी यही विचार आया कि किसी की साक्षीपूर्वक व्रत लेना अच्छा है, अतः मैंने श्री ब्र० शीतल प्रसाद जी लखनऊ को इस आशय का तार दिया कि आप शीघ्र आवें, मैं सप्तमी प्रतिमा आपकी साक्षी में लेना चाहता हूँ। आप आ गये और बोले—'देखो, हमारा तुम्हारा कई बातों में मतभेद है। यदि कभी विवाद हो गया तो अच्छा नहीं।' हम चुप रह गये। हमारा एक मित्र मोतीलाल ब्रह्मचारी था जो कुछ दिन बाद ईडरका भट्टारक हो गया था। उसने भी कहा—'ठीक है, तुम यहाँ पर यह प्रतिमा न लो। इसी में तुम्हारा कल्याण है'। हमने मित्र की बात स्वीकार कर उनसे व्रत नहीं लिया। अब आप हमारे पूज्य हैं तथा आप में मेरी भक्ति है, अतः व्रत दीजिये।' बाबाजी ने कहा—'अच्छा आज ही व्रत ले लो। प्रथम तो श्री वीरप्रभु की पूजा करो। पश्चात् आओ, व्रत दिया जावेगा।'

मैंने आनन्द से श्री वीरप्रभु की पूजा की। अनन्तर बाबाजी ने विधिपूर्वक मुझे सप्तमी प्रतिमा के व्रत दिये। मैंने अखिल ब्रह्मचारियों से इच्छाकार किया और यह निवेदन किया कि 'मैं अल्पशक्तिवाला क्षुद्र जीव हूँ। आप लोगों के सहवास में इस व्रत का अभ्यास करना चाहता हूँ। आशा है मेरी नम्र प्रार्थना पर आप लोगों की अनुकम्पा होगी। मैं यथाशक्ति आप लोगों की सेवा करने में सन्नद्ध रहूँगा।' सबने हर्ष प्रकट किया और उनके सम्पर्क में आनन्द से काल जाने लगा।

[वर्णी जीवनगाथा—१ से साभार]

समाज की परमोपकारी सचेतन निधि

ब्र० पं० माणिकचन्द्र चवरे

कारंजा, महाराष्ट्र

विगत पचास वर्षों से मैं पंडित जी की बेदाग इंसानियत से अत्यन्त प्रभावित हूँ। मैंने उनमें समीचीन सात्त्विक दृष्टि, कल्याण भावना, ठोस तात्त्विक ज्ञान, अनेकानेक समृद्ध अनुभव और निरामय अमृतोपम धाराबाही रसवती प्रतिपादना का साक्षात्कार पाया है। इस लाभ को देवदुर्लभ कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी। उनकी पीयूषवाणी मुझे अनेक जगह सुनने को मिली। वह वाचा नहीं, उनकी आत्मा है, सहज है। इसका मूल है—निस्पृह कल्याण भावना, तन्मयता और विचारों का जागृत संतुलन। पूज्य गुरुदेव समंतभद्र जी महाराज ने खुरई चातुर्मास के समय उनके दश-धर्म-प्रवचन सुनकर कहा था, "पंडित जी वास्तव में समाज की अद्भुत सचेतन निधि है"। पूज्य गुरुदेव ने इन शब्दों द्वारा अपना हृदय प्रकट किया है। पंडित देवकीनन्दन जी ने भी अपने जीवन के अन्तिम दिनों में ठीक ही आदेश दिया था, "मैं रहूँ या न रहूँ, मेरी जगह पंडित जगन्मोहन लाल जी को समझकर उनकी ही सलाह से निःसंकोच काम करते रहना"। हमारे गुरुकुल की अनेक जटिल समस्यायें उनके ही समुचित मार्गदर्शन से सुलझ सकीं।

मुझे उनका अनन्य साधारण भ्रातृ-वत्सल स्नेह अखंडरूप से प्राप्त है। पंडित जी के व्यक्तित्व की गरिमा के लिये एक उदाहरण काफी होगा। खुरई गुरुकुल के अधिष्ठाता पद के लिये पूज्य समंतभद्र जी महाराज ने पूरी युक्ति-प्रयुक्ति के साथ पंडित जी का नाम सुझाया। परन्तु उन्होंने न केवल इसे अस्वीकृत ही किया, अपितु मेरा ही नाम प्रस्तावित कर दिया। आयु, विद्वत्ता, सेवा, त्याग-तपस्या में पंडित जी की श्रेष्ठता और मेरे निषेध के बावजूद भी अनन्यगतिकता में मुझे अधिष्ठाता बनने के लिये बाध्य होना पड़ा। वे उप-अधिष्ठाता ही बने रहे। सहज ही रामकथा का स्मरण हो आया। भरत ने भी तो राम जी के चरणों को विराजमान कर उन्हीं के नाम से राजकाज किया था। तेल-बत्ती जलती है और नाम दिये का होता है।

पंडित जी की कलम भी वाणी की तरह प्रभावक है। उनके प्रकाशित लेख तथा 'प्राक्कथन' यथार्थ दृष्टिदान करने में समर्थ एवं स्वयं पूर्ण हैं। वे 'गागर में सागर' भरते हैं। उनकी सभी कृतियाँ लोकादरता प्राप्त हैं। आपके 'अध्यात्म अमृत कलश' के पारायण से बाहुबली विद्यापीठ के अध्यक्ष नानासाहब आंदेकर जी एडवोकेट के जीवन में आये परिवर्तन को कहते हुए वे कभी नहीं अघाते।

एक अतृप्त भावना

खुरई गुरुकुल में मानस्तंभ प्रतिष्ठा के समय आपके सुदीर्घ भाषण से मुझे परवार सभा का स्पष्ट इतिहास ज्ञात हुआ। तब से मेरी यह भावना है कि यदि गणेशप्रसाद वर्णी जैसी जीवन गाथा पंडित जी भी लिखें, तो समाज का कितना लाभ होगा? ऐसे सैद्धान्तिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं सार्वजनिक सैकड़ों विषय एवं प्रसंग हैं जिनमें पंडित जी की अलौकिक दृष्टि, प्रतिभा एवं सामयिक सूझबूझ से लोकोत्तम घटनायें हुई हैं। इनमें अनेक प्रसंग तो ऐतिहासिक महत्व के हैं। कुछ प्रकरणों की ओर मैं संकेत देना चाहता हूँ :

(i) खानिया चर्चा के पूर्व अपर पक्ष के विद्वानों से चर्चा।

(ii) सोनगढ़ में आ० कानजी स्वामी से प्रथम भेंट के समय प्राप्त मूलग्राही संकेत।

(iii) आचार्य विद्यासागर जी को समाधि-परान्मुख करने में आगमिक एवं तात्कालिक उपाय।

(iv) आ० शान्तिसागर जी, आ० सूर्यसागर जी, बुधसागर जी, बाबा वर्णी जी, निर्वाणसागर जी व पूज्य समंतभद्र जी महाराज आदि के संपर्कों की कहानी।

(v) पुरातन विद्वद्वर्ग एवं श्रेष्ठि वर्ग का सामाजिक-साहित्यिक योगदान।

(vi) जैन समाज की विभिन्न संस्थाओं का मूल्यांकन और मार्ग निर्देश।

(vii) प्रतिष्ठा महोत्सव, धार्मिक महोत्सव, सामाजिक उत्सवों से सम्बन्धित कड़वे-मीठे संस्मरण और उद्बोधन।

पंडित जी पिछले चार दशक से समाज की चतुर्मुखी प्रवृत्तियों से सम्बन्धित हैं। श्री धन्यकुमार जी सिंघई से मेरा निवेदन है कि वे पंडित जी के साथ एक-दो माह के लिये किसी व्यक्ति को रखकर उनकी सक्रिय जीवनी लेखन का श्रेयस्कर कार्य करावें। इस चित्रण से न केवल जैन समाज का इतिहास सामने आवेगा, अपितु नये कार्यकर्त्ता भी लाभान्वित होंगे।

मेरी कामना है कि आपको चिरायुषता का लाभ हो एवं समाज को उनकी परमोपकारी छत्र-छाया प्राप्त होती रहे।

विराट महामानव

सि० धन्यकुमार जैन
कटनी (म० प्र०)

सरल, सौम्य, संयम और सादगीपूर्ण जीवन के लक्षण पंडित जी में प्रारंभ से ही दृष्टिगत हुए है। इनके जीवन में उसने पिता के धार्मिक संस्कार पग-पग पर प्रतिबिंबित हुए हैं। यही कारण है कि वे विद्वत्ता, धर्म व समाज के क्षेत्र में अपनी प्रतिष्ठा अर्जित कर सके। मैं उनकी जीवन गाथा की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहता, फिर भी उनकी कुछ महत्वपूर्ण प्रकृति को निरूपित करनेवाली घटनायें देना आवश्यक समझता हूँ।

(क) वरैयाजी के तीन वर

शहडोल के कोयला-केन्द्र में जन्मे पंडित जी की श्वेतिमा में जैन विद्वत् एवं साधुजगत को धवलित करने की क्षमता है। उनकी इस श्वेतिमा का आभास हमारे भाई श्री रतनचंद्र को पनागर की प्रतिष्ठा में ही हो गया था, जब वे उन्हें कटनी ले आये, शिक्षित किया और जैन शिक्षा-संस्था में अपने गुरु श्री वरैया जी के निम्न सिद्धान्तों के प्रतिपालन के अनुरूप नियोजित किया :

(१) किसी के यहां नौकरी नहीं करना और न आजीविका के लिये किसी दयनीय वृत्ति को अपनाना।

(२) धर्म-प्रचार, प्रभावना आदि के निमित्त सभाओं में सम्मिलित होने के लिये किसी भी प्रकार का पारिश्रमिक या विदाई भेंट स्वरूप ग्रहण नहीं करना। माल्यार्पण के अतिरिक्त कोई वस्तु न लेना।

(३) उदरपोषणके लिये किसी से भी धन या अन्य वस्तु की याचना नहीं करना। स्वयं देने पर भी कुछ भी स्वीकार नहीं करना।

ये सिद्धान्त ही उनकी जीवन की आधारशिला बने हुए हैं। ये उन्हें वरदान-से सिद्ध हुए है।

(ख) निःस्पृहता की वृत्ति के कुछ उदाहरण

सिवनी-निवासी सेठ गोपालसाह पूरनसाह काशी में पंडित जी की कुशाग्रता से बड़े प्रभावित हुए। वे उन्हें सिवनी आने का निमंत्रण दे गये। जब वे सिवनी गये, उनके आचार-विचार व ज्ञान पर मुग्ध होकर उन्होंने पंडित जी को गोद लेने की सोची। उनके पिताजी ने तो उन्हें साफ लिख दिया कि वे अपने पुत्र को सि० कन्हैयालाल कटनीवालों को पहले ही सौंप चुके हैं। सेठ जी ने कटनी पत्र दिया। जब यह पत्र उन्हें बताया गया, तो उन्होंने निम्न उत्तर दिया "दादा जी, वर्तमान में मैं धर्म-शिक्षा एव सेवाकार्य से पूर्ण सुखी एवं संतुष्ट हूँ। आपका पूर्ण आर्थिक सहयोग है। मुझे लक्ष्मी-पुत्र बनने की आकांक्षा नहीं है।"

इसी प्रकार, स० सि० कन्हैयालाल जी ने भी इन्हें अपनी संपत्ति के उत्तराधिकारी बनाने का आग्रह किया था। विनय और मर्यादा का ध्यान रखते हुए उन्होंने सिंघई जी से निम्न बात कही, "जो कुछ मैं आज हूँ, वह सब आपके आशीर्वाद का सुफल है। मुझे अब आप धन-वैभव के बंधन में न डालिये। मैं जीवनभर पुत्रवत् ही परिवार का मार्गदर्शन एवं संरक्षण करता रहूँगा।"

एक वार साहू शांतिप्रसाद जी ने आर्थिक सहायता देकर इन्हें एक प्रेस खोलने का आग्रह किया था।

किन्तु पंडित जी ने विनम्रतापूर्वक यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया, "धन्यकुमार जी मेरी सब आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। मुझे कुछ आवश्यकता नहीं है। मैं वर्तमान में सुखी और संतुष्ट हूँ।"

पंडित जी की इस निस्पृह वृत्ति ने उनके भक्तों को मोह लिया है। साहू जी तो उनसे अत्यंत ही प्रभावित थे। एकबार उन्होंने गोपालदास वरैया शताब्दि समारोह में दिल्ली में कहा भी था : "पंडित जगन्मोहनलाल जी की धर्म-चर्चा तो हमारी समझ में आती है। अन्य विद्वानों की गूढ़ बातें हमारी समझ में नहीं आती।"

वरैया जी के वर और निःस्पृह वृत्ति का ही यह फल है कि उनके ज्ञान-प्रकाशन की प्रक्रिया अत्यंत प्रभावी है। वे अनेक ग्रन्थों के टीकाकार (अध्यात्म अमृत कलश, श्रावक धर्म प्रदीप, आत्म प्रबोध), अनेक पत्रों के संपादक एवं पत्रकार रहे हैं।

(ग) राष्ट्रीयता के बीज

महात्मा गाँधी का राष्ट्रीय आंदोलन जब चालू होने वाला था (१९२१), वे काशी में भाषण देने आये थे। उनका भाषण सुनने पंडित जी भी गये थे। उन्होंने गांधी जी से पूछा था, "संस्कृत के विद्यार्थियों को तो परीक्षा छोड़ने का प्रश्न ही नहीं है ?"

गांधी जी ने कहा था, "अपने दूध को घर में बैठकर पियो, शराब की कलारी में नहीं। कहीं आपको भी शराब की लत न पड़ जावे।"

इस पर पंडित जी व अन्य विद्यार्थियों ने सरकारी परीक्षाओं का बहिष्कार कर दिया था।

दूसरा प्रश्न उन्होंने खादी के सस्ते-मंहगेपन के विषय में पूछा था। गांधी जी ने कहा था, "यदि बाजार में रोटियाँ या अन्न मंहगा हो जावे और मांस सस्ता हो जावे, तो क्या आप मांस खाना चालू करोगे ?"

इस लाजबाब तर्क ने पंडित जी को स्वदेशी वस्त्र एवं वस्तुओं के उपयोग का व्रत दिलाया। इसे वे आज भी पाल रहे हैं। यहीं से उनका राष्ट्रीय एवं देश-सेवा का व्रत चालू हुआ।

पण्डित जी १९२५ में कटनी कांग्रेस कमेटी के सदस्य बने और उन्होंने राष्ट्र सेवा के अनेक कार्य किये। दमोह कांग्रेस कमेटी की ओर से वे कानपुर कांग्रेस अधिवेशन हेतु प्रतिनिधि के रूप में सक्रिय रूप से सम्मिलित हुए। सन् १९३० में 'जंगल सत्याग्रहियों' के जेल गये परिवारों के घर-घर जाकर पण्डित जी ने अन्न, वस्त्र की सहायता पहुँचाई। उन्होंने उन दिनों कांग्रेस-बुलेटिन भी निकाला। पारिवारिक एवं धार्मिक कारणों से वे कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष न बन सके, लेकिन उनका प्रभाव उससे कहीं अधिक था। उन्होंने अपने समय में गांधी जी की शिक्षा नीति के अनुसार जैन शिक्षा संस्था में राष्ट्रीय हिन्दी पाठ्यक्रम चलाया और चरखा-कताई भी प्रारम्भ की। इससे हमारी संस्था का भी राष्ट्रीय चरित्र बना। आज भी पण्डित जी में राष्ट्रीयता कूट-कूट भरी हुई है।

अपने जीवन के सन्ध्याकाल में भी वे मानसिक रूप से पूर्ण स्वस्थ एवं सजग हैं। वे प्रतिदिन पाँच-सात घन्टे तक लगाकर सिद्धांत ग्रन्थों के स्वाध्याय, चिंतन-मनन, पठन-पाठन एवं अनुशीलन में व्यस्त रहते हैं।

मेरे ऊपर उनका सदैव वरद हस्त रहा है। मेरे पिता जी के स्वर्गवास के समय मेरी उम्र केवल पांच वर्ष की थी। मेरे जीवन के उषा काल से ही मेरी शिक्षा-दीक्षा उनके मार्ग निर्देशन में हुई। जीवन के प्रत्येक सुख-दुःख, आपद-विपद, संघर्ष-उत्कर्ष में सदैव धूप छांव की तरह उनका साथ रहा। सदैव मेरे पिता तुल्य अभिभावक रहे। उनके उपकार से मेरा उऋण होना कठिन है। ऐसे तपःपूत विराट् महामानव के चरणों में शतशत प्रणाम।

पंडित जी के वर्तमान उद्‌गार

१. धर्म

धर्म के सम्बन्ध में मैं आश्वस्त हूँ। धर्म में नये विचारों और सुधारों की कोई गुंजाइश नहीं। हाँ, उसके परिपालन में देश, काल व परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन सम्भव है।

२. शिक्षा

शिक्षा के क्षेत्र में मैंने संस्कृत व धर्मशिक्षा की संस्थायें ही देखी हैं। पर इतना जानता हूँ कि बिना नैतिक शिक्षा के, बिना नैतिक शिक्षकों के जीवन-सुधार सम्भव नहीं। पर दोनों का अभाव है।

समाज को अपने धन, श्रम और समय का विनियोग मिडिल स्कूल, हाईस्कूल या कालेजों की स्थापना में नहीं करना चाहिए। उन्हें धार्मिक शिक्षण संस्थाओं की, छात्रवृत्ति फंडो की, जैन छात्रावास तथा जैन पुस्तकालय-वाचनालयों की स्थापना करनी चाहिए। धर्मविशेष की सुरक्षा एवं संरक्षण उसके अनुयायियों को करना होगा।

३. राजनीति

आजकल इस देश में लूट-कपट, चोरी-घूसखोरी की राजनीति ऊपर से नीचे चल रही है। उसी का प्रभाव जनता पर व नवयुवकों पर पड़ता है। यह अवश्यम्भावी है। नैतिकता प्रेरित राजनीति ही देश का भला कर सकती है।

४. खानपान

मांस, मदिरा का प्रभाव हिंसा, झूठ, ठगौरी आदि को ही बढ़ावा देगा। आतंकवादियों द्वारा भारत की जो वर्तमान दशा की जा रही है, वह इनके उपयोग से और बढ़ेगी। इनके उपयोग से मानस भी तामसिक बनेगा।

इन्हें राष्ट्रीय अभक्ष्य मानना चाहिये।

५. सामाजिक संस्थाएँ

(अ) जो व्यक्ति बार-बार संस्थायें बदलता है, वह अप्रतिष्ठित होता हैं। जो संस्थायें व्यक्तियों को बदलती रहती हैं, वे भी अप्रतिष्ठित होती हैं।

(ब) समाज की संस्थाओं में समाज के लोग ही फूट डालते हैं। यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं। इसके अभाव में ही संस्थायें समाजहित करेंगी।

६. विद्वान्

गुरुवर पंडित देवकीनन्दन जी के अनुभव के आधार पर मैं भी कहता हूँ कि समाज में हमें अनेक अवसरों पर मार्गदर्शन और समझौतों के लिए बुलाया जाता है। यदि हम लोग वैमनस्य तथा समस्या सुलझा भी देते हैं, तो उसकी मान्यता स्थायी नहीं रहती। अतः विद्वान् को समाज का काम तटस्थ और निरपेक्ष भाव से करना चाहिए। समाज विद्वान् की बात न माने, तो भी अपने परिणाम कलुषित नहीं करना चाहिए।

कुण्डलपुर, २०. ८. १९८८

●

खण्ड २

धर्म-दर्शन : नवयुग

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमस्संति, जस्स धम्मे सयामणो ।।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ।।

।। अहमिक्को खलु सुद्धो ।।

सा विद्या या विमुक्तये

युवाचार्य महाप्रज्ञ

शिक्षा जगत का प्रसिद्ध सूत्र है—"सा विद्या या विमुक्तये"—विद्या वही है जिससे मुक्ति सधे। मुक्ति के अर्थ को हमने एक सीमा में बाँध दिया। हमने उसे मोक्ष के अर्थ में देखा। मोक्ष की बात बहुत आगे की है, मरने के बाद की है। जिसको जीते जी मुक्ति नहीं मिलती, उसको मरने के बाद भी मुक्ति नहीं मिल सकती। जब वर्तमान क्षण में मुक्ति मिलती है तो वह आगे भी मिल सकती है। जो वर्तमान क्षण में बंधा रहता है, उसे आगे मुक्ति मिलेगी, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। मुक्ति का एक व्यापक सन्दर्भ है। उसे हमें समझना है। उसे समझ लेने पर हमारा दृष्टिकोण बहुत कार्यकर होगा।

शिक्षा के क्षेत्र में मुक्ति का पहला अर्थ है—अज्ञान से मुक्त होना। अज्ञान बहुत बड़ा बन्धन है। अज्ञान के कारण ही व्यक्ति अनेक अनर्थ करता है। इसे आवरण माना गया है। आवरण बन्धन है। शिक्षा का पहला काम है—इस बन्धन से मुक्ति दिलाना, अज्ञान से मुक्त करना। इस परिप्रेक्ष्य में हम कहेंगे—"सा विद्या या विमुक्तये"—शिक्षा वह है जो अज्ञान से मुक्त करती है।

मुक्ति का दूसरा सन्दर्भ होगा—संवेगों के अतिरेक से मुक्ति। आदमी में संवेग का अतिरेक होता है और वह आदमी को पकड़ लेता है, आसानी से नहीं छूटता। जब तक व्यक्ति वीतराग अवस्था को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक वह संवेगों से पूर्णरूपेण छुटकारा नहीं पा सकता। संवेगों के अतिरेक के कारण आदमी न परिवार में, न समाज में और न गाँव में फिट हो सकता है। वह दूसरों के लिये सिरदर्द बन जाता है। ऐसी स्थिति में यह स्वयं प्राप्त होता है कि शिक्षा उसे संवेगों के अतिरेक से मुक्ति दिलाये। इसका अर्थ है कि मनुष्य में संवेगों पर नियन्त्रण करने की क्षमता बढ़े जिससे कि संवेगों की प्रचुरता न रहे। वे एक सीमा में आ जायें।

मुक्ति का तीसरा सन्दर्भ होगा—संवेदों के अतिरेक से मुक्ति। इन्द्रियों की जो संवेदनाएं हैं, उनका अतिरेक भी समस्याएं पैदा करता है और समाज में अनेक उलझनें उत्पन्न करता है। शिक्षा का यह महत्वपूर्ण कार्य है कि वह संवेदनाओं के अतिरेक से व्यक्ति को मुक्ति दिलाये।

मुक्ति का चौथा संदर्भ होगा—धारणा और संस्कार से मुक्ति। व्यक्ति धारणाओं और अर्जित संस्कारों के कारण दुःख पाता है। शिक्षा का कार्य है कि वह इनसे मुक्ति दिलाए।

मुक्ति का पाँचवा संदर्भ होगा—निषेधात्मक भावों से मुक्ति। व्यक्ति का नेगेटिव एटिट्यूड समस्या पैदा करता है। इससे मुक्त होना भी बहुत आवश्यक है।

इन पाँच संदर्भों में मुक्ति को देखने पर "सा विद्या या विमुक्तये" का सूत्र बहुत स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में विद्या वही होती है जो मुक्ति के लिए होती है, जिससे मुक्ति सधती है। हम कसौटी करें और देखें कि क्या आज की

शिक्षा से ये पाँचों संदर्भ सधते हैं ? क्या वास्तव में अज्ञान आदि से मुक्ति मिलती है ? यदि अज्ञान आदि से मुक्ति मिलती है, तो वह शिक्षा परिपूर्ण है और यदि नहीं मिलती है, तो उसमें कुछ जोड़ना शेष रह जाता है । जीवन-विज्ञान की पूरी कल्पना इन सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में की गई है । जिन-जिन संदर्भों में मुक्ति की बात सोच सकते हैं, वे बातें शिक्षा के द्वारा फलित होनी चाहिये ।

आज शिक्षा के द्वारा अज्ञान की मुक्ति अवश्य ही हो रही है । आज ज्ञान बढ़ रहा है, बौद्धिक विकास हो रहा है । किन्तु संवेग के अतिरेक से मुक्ति आदि की बातें शिक्षा से जुड़ी हुई न हों, ऐसा प्रतीत होता है । लोगों की धारणा यही है कि यह बात धर्म के क्षेत्र की है, शिक्षा के क्षेत्र की नहीं है । यह धारणा अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि धर्म का मूल अर्थ ही है संवेगों पर नियन्त्रण पाना । यह धर्म के मंच का काम होना चाहिये । शिक्षा क्षेत्र का यह कार्य क्यों होना चाहिये ? ऐसा सोचा जा सकता है । पर वर्तमान परिस्थिति में धर्म की भी समस्या है और वह यह है कि धर्म का स्थान मुख्यतः सम्प्रदाय ने ले लिया है । इसलिए साम्प्रदायिक वातावरण में धर्म के द्वारा संवेग-नियन्त्रण की अपेक्षा रखना निराशा की बात है ।

एक स्थिति यह है कि आज का विद्यार्थी जिस परिवार में जन्म लेता है, जहाँ पलता है, उस परिवार में जो धार्मिक संस्कार है, जिस सम्प्रदाय की मान्यता है, उसके सम्पर्क में भी वह बहुत कम रह पाता है । दिन में वह इतना व्यस्त रहता है कि उठते-उठते ही वह विद्यालय जाने की बात सोचता है और वहाँ से लौटने पर गृहकार्य (होम वर्क) में निमग्न हो जाता है । कभी-कभी ऐसा होता है कि एक घर में रहते हुए भी पिता-पुत्र मिल नहीं पाते । आज सामाजिक वातावरण और स्थितियाँ ही ऐसी बन गई हैं । एक व्यक्ति से मैंने पूछा—क्या तुम कभी अपनी सन्तान को शिक्षा देते हो ? वह बोला—'महाराज जी ! मैं सुबह देरी से उठता हूँ, तब तक लड़का स्कूल चला जाता है । जब वह स्कूल से लौट कर आता है, तब तक मैं आफिस में रहता हूँ । जब मैं देरी से घर लौटता हूँ, तब तक वह सो जाता है और सुबह जल्दी उठकर चला जाता है । आमने-सामने होने का कभी अवसर ही नहीं आता । केवल रविवार को मिलते हैं, कुछ बात कर लेते हैं, और समाप्त' ।

ऐसे वातावरण में धर्म के द्वारा बच्चे को कुछ मिल सकेगा, ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती । इस स्थिति में बालक का निर्माण शिक्षा से जुड़ जाता है । अतः हमें सोचना होगा कि शिक्षा के साथ कुछ ऐसे तत्त्व और जुड़ने चाहिए, जिनसे बच्चों के संस्कारों का निर्माण हो और उसे वह मौका भी मिले कि वह अपने संवेगों और संवेदनाओं का परिष्कार भी कर सके । आज दोनों कामों को एक ही मंच से करना होगा । बच्चों का निर्माण भी हो और संस्कार-परिष्कार भी हो । शिक्षा के क्षेत्र से ये दोनों काम हो सकते हैं । इस दृष्टि से शिक्षा जगत् का दायित्व दोहरा हो जाता है । यह बहुत बड़ा दायित्व है । 'फेरो' ने बहुत बड़ी बात कही है—'वर्तमान विद्यालय व्यक्ति को साक्षर बनाते हैं, शिक्षित नहीं बनाते ।' साक्षर बनाना एक बात है और शिक्षित करना दूसरी बात है । आज की साक्षरता भी कुछ ऐसी हो गई है कि उसकी तुलना कम्प्यूटर या टेपरिकार्डर से की जा सकती है । हमने भ्रमवश स्मृति और बुद्धि को एक मान लिया है । स्मृति और बुद्धि एक नहीं है । कम्प्यूटर में इतनी तीव्र स्मृतियाँ नियोजित हैं कि आदमी उसके सामने कुछ भी नहीं है, बहुत छोटा है । आज का युग कम्प्यूटर का होता जा रहा है । सूचनाओं, ज्ञान और आंकड़ों का सम्बन्ध स्मृति से है । टेपरिकार्डर सारी बात दुहरा देता है ।

शिक्षा का काम केवल स्मृति को बढ़ाना ही नहीं; केवल आंकड़ों से मस्तिष्क को भरना ही नहीं है, साक्षरता ला देना ही उसका काम नहीं है, उसका काम भावों का परिष्कार भी है । इसी से व्यक्ति में स्वतन्त्र-निर्णय, स्वतन्त्र-चिन्तन और दायित्व बोध की क्षमता विकसित होती है । यह तभी सम्भव है कि शिक्षा केवल साक्षरताभिमुख न रहे । उसमें कुछ और भी जुड़े ।

संवेग और संवेद —ये दो महत्वपूर्ण तत्त्व हैं, क्योंकि वर्तमान में जो सामयिक समस्याएं हैं, वे सारी इन दो तत्वों के साथ जुड़ी हुई है। जो शिक्षा प्रणाली विद्यार्थी को समाज की वर्तमान समस्याओं के सन्दर्भ में कुछ कार्य करने की प्रेरणा नहीं देती, वह शिक्षा प्रणाली बहुत काम की नहीं होती। "फेरो" ने ठीक ही लिखा—"साक्षर व्यक्ति केवल सरकार का ईंधन बनता है।" आज की शिक्षा ईंधन मात्र तैयार कर रही है, ज्योति तैयार नहीं करती। ज्योति और ईंधन एक बात नहीं है। ईंधन तैयार करना बहुत बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है–ज्योति प्रज्वलित करना।

आज समूचे विश्व में बहुत क्रांतदृष्टि से सोचा जा रहा है कि शिक्षा में क्या परिवर्तन होना चाहिए। जिस शिक्षा से समाज में, व्यवस्थाओं में परिवर्तन नहीं आता, संकट कम नहीं होता, उस शिक्षा को भारतीय दर्शन में अशिक्षा और ज्ञान को अज्ञान माना है। भारत की प्रत्येक धर्म-परम्परा का यह स्वर समानरूप से मिलेगा कि जिससे संयम की शक्ति और त्याग की शक्ति नहीं बढ़ती, वह ज्ञान अज्ञान है। जिसमें त्याग और संयम नहीं है, वह पंडित नहीं, अपंडित है।

जैन ग्रन्थों में 'बाल' और 'पंडित'—ये दो शब्द प्रचलित हैं। बाल तीन प्रकार के होते हैं। एक बाल होता है अवस्था से, दूसरा बाल होता है अज्ञान से और तीसरा बाल होता है असंयम से। जिसमें त्याग की क्षमता नहीं है, वह सत्तर वर्ष का हो जाने पर भी 'बाल' कहा जायेगा। जिसमें त्याग की क्षमता है, अस्वीकार की क्षमता है, बलिदान की क्षमता है, वह चाहे बीस वर्ष का ही हो, फिर भी पंडित कहा जाएगा, बाल नहीं कहा जाएगा। गीता में पंडित उसे कहा है जिसके सारे समारम्भ वर्जित हो गए है। जैन आगम सूत्रकृतांग में एक चर्चा के प्रसंग में प्रश्न रखा गया है कि 'बाल' और 'पंडित' किसे कहा जाए? सूत्रकार ने उत्तर दिया —'अविरइं पडुच्च बालोत्ति आहु, विरइं पडुच्च पंडिएति आहु'—जिसमें अविरति है, अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण करने की क्षमता है, वह पंडित है।

इच्छा प्राणीमात्र का असाधारण गुण है, विशिष्ट गुण है। जिसमें इच्छा नहीं होती, वह प्राणी नहीं होता। यह प्राणी और अप्राणी की भेद-रेखा है। मनुष्य में इच्छा पैदा होती है। इच्छा पैदा होना एक बात है और किस इच्छा को स्वीकार करना, किस इच्छा को अस्वीकार करना, यह कांट-छांट मनुष्य ही कर सकता है। अन्य प्राणी ऐसा नहीं कर सकते। मनुष्य की विवेक चेतना जागृत होती है, इसलिए वह इच्छा की कांट-छांट कर सकता है। वह हर इच्छा को स्वीकार नहीं करता। यदि वह प्रत्येक इच्छा को स्वीकार करता चले, तो सारी व्यवस्था गड़बड़ा जाती है। एक सुन्दर मकान देखा, किसकी इच्छा नहीं होगी कि मैं इस मकान में रहूं? इच्छा हो सकती है। रास्ते में खड़ी सुन्दर कार को देखा, कौन नहीं चाहेगा कि मैं इसमें सवारी करूं। इच्छा हो सकती है। प्रत्येक रमणीय सुन्दर और मनोरम वस्तु के लिए व्यक्ति की इच्छा हो सकती है। पर वह यह सोचकर इच्छा को अमान्य कर देता है कि यह मेरी सीमा की बात नहीं। यह है विवेक-चेतना का काम।

शिक्षा का काम है कि वह मनुष्य मनुष्य में विवेक चेतना को जगाए। इससे संवेग-नियन्त्रण और संवेदनाओं तथा आवेगों पर नियन्त्रण करने की क्षमता पैदा होती है।

जैनधर्म : प्राचीनता का गौरव और नवीनता की आशा

स्वामी सत्यभक्त
सत्याश्रम, वर्धा

संसार में धर्म का उद्देश्य यह है कि मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक सुख बढ़ें और दुख कम हों। पारलौकिक सुख के लिये धर्म नहीं होता। इसकी कल्पना तो इसलिये की जाती है कि इसकी आशा से मनुष्य इसी जीवन को सुखी बनाने के लिये आवश्यक कर्तव्य करता रहे। जैनधर्म का यही उत्कृष्ट ध्येय है। जैन मान्यतानुसार, प्राचीन काल में संसार भोग-भूमि था। दस कल्पवृक्ष उसके जीवन की सारी आवश्यकतायें क्षणमात्र में पूर्ण करते थे। पति-पत्नी जीवन भर आनन्द से रहते थे। उस समय दाम्पत्य प्रेम ही धर्म था। व्रत, उपवास, देवपूजा, गुरुपूजा आदि धार्मिक क्रियायें नहीं थीं। फिर भी, प्रत्येक दम्पति मरकर देवगति में जाता था। इस तथ्य से यह ध्वनित होता है कि यदि किसी को सताया न जावे, संघर्ष न किया जावे, तो प्रेमपूर्ण आनन्दी जीवन बिताने से सद्‌गति प्राप्त होती है। इस स्थिति में धार्मिक क्रियाकाण्ड या साधु-संस्था की आवश्यकता नहीं होती। जब समाज में संघर्ष और दुख बढ़ते हैं, तब ये आवश्यक हो जाते हैं। इन्हें दूर करने के लिये धर्म होता है। इसलिये धर्म मुख्यत: इसी लोक के लिये है। परलोक तो उसका आनुषंगिक फल है। किसान को खेती करने पर अन्न के साथ भूसा भी अनिवार्यत: मिलता है। पर उसका उद्देश्य तो अन्न ही होता है। फिर भी वह भूसा उपयोगी होता है और उसे वह छोड़ता नहीं है। इसी प्रकार धर्म भी इसी जन्म की समस्यायें हल करता है। इससे यदि परलोक का फल भी भूसे की तरह आनुषंगिकत: मिले, तो उसे छोड़ना क्यों चाहिये? धर्म की आवश्यकता कर्मभूमि में ही होती है, भोगभूमि में नहीं।

जैनधर्म का अवतरण कर्मभूमि की अनेक व्यक्तिगत और सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु हुआ था। मानव कल्याण के लिये इसका योगदान असाधारण है, गौरवपूर्ण है। वर्तमान युग में इसका गौरव तभी अक्षुण्ण बना रह सकता है जब इसमें समुचित रूपान्तरण एवं धारणात्मक समन्वयन किया जावे। यह प्रक्रिया ही इसके स्वर्णिम भविष्य की आशा है।

जैनधर्म के प्राचीन गौरव की गाथा

महावीर के युग में हिंसा, पशुवध, यज्ञ और क्रियाकाण्डों का जोर था। उनके पूर्ववर्ती युग में कृषि का समुचित विकास नहीं हो पाया था और पशुओं की बहुलता से कृषि की रक्षा भी एक समस्या थी। मानव ने सम्भवत: अपनी एवं कृषि की रक्षा के लिये पशुवध एवं मांसभक्षण प्रारम्भ किया होगा। इससे पशुओं में कमी होने लगी और कृषि-उत्पादन बढ़ने लगा। फलत; महावीर के युग में अन्नोत्पादन बढ़ने से पशुवध अनावश्यक हो गया और उन्हें अहिंसा के सन्देश के लिये अनुकूल सामाजिक परिस्थिति मिली। महावीर ने इस परिस्थिति का लाभ लेकर अहिंसा का इतनी दृढ़ता, सूक्ष्मता एवं व्यापकता के साथ उपदेश दिया कि विश्व में आज तक उनके समान अहिंसा

का उद्घोषक नहीं हुआ है। आज के युग की बढ़ती शाकाहार प्रवृत्ति और मांसाहार-निवृत्ति की रुचि महावीर के उपदेशों की लोकप्रियता एवं वैज्ञानिकता की प्रतीक है। बुद्ध की अहिंसा महावीर से काफी पीछे थी। लोग महादेव को पशुपतिनाथ कहते हैं। पर सच्चे पशुपति तो महावीर ही है, जिनकी कृपा से हजारों वर्षों से करोड़ों पशुओं को अभय मिला हुआ है। अहिंसा का जीवनव्यापी उपदेश महावीर के असाधारण साहस का परिणाम मानना चाहिये।

अहिंसा के समान अनेकान्त का दार्शनिक दृष्टिकोण भी उनकी एक असाधारण देन है। इससे द्वन्द्वात्मकता दूर कर बौद्धिक समन्वय दृष्टि प्राप्त हुई। वस्तुतः व्यवहार में तो अनेकान्त आदिम काल से ही है, पर व्यवहार की समझ का उपयोग दार्शनिक क्षेत्र में प्रचलित नहीं था। महावीर ने यह कमी दूर कर संसार का अनन्त उपकार किया है।

महावीर ने श्रम, सम और स्वावलम्बन के तीन सकारों का उपदेश देकर बताया कि भक्ति, दोषस्वीकृति या क्रियाकाण्ड से दुख दूर नहीं होता। अपने किये हुए कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। महावीर ने भी अपने त्रिपृष्ठनारायण के भव में किये गये अन्याय का फल अनेक भवों तक भोगा। कर्मफल की यह अनिवार्यता मनुष्य को कर्मपरायणता के लिये प्रेरित करती है। भक्ति आदि से कर्मपरायणता शिथिल हो, यह उन्हें बिलकुल पसन्द नहीं था। इसीलिये वे निरीश्वरवादी बने, प्रकृतिवादी बने। जड़ प्रकृति भक्ति आदि से कैसे प्रसन्न हो सकती है? उनका कर्मवाद मनोवैज्ञानिक रूप से जीवन को समुन्नत करने के लिये आशकिरण प्रमाणित हुआ है। यह भी भारतीय संस्कृति को उनकी असाधारण देन है।

महावीर के युग में आलंकारिक भाषा में कही बातों को लोग अभिधेय अर्थ में मानते थे। हनुमान को बन्दर, रावण आदि को पहाड़ के समान मान्यताओं से जीवन की संगति नहीं बैठती थी। महावीर ने इस असंगति को दूर करने का प्रयत्न किया। हनुमान को वानरवंशी मनुष्य बताया तथा रावणादि को राक्षसवंशी निरूपित किया। उनके शरीरादि अवश्य आज की तुलना में विशाल थे। महावीर की तुलना में भी पर्याप्त विशाल थे। इस पौराणिक असंगति को उन्होंने काल की अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी भेद की मान्यता से तर्कसंगत बनाया। उन्होंने कालचक्र की अनादि-अनंतता प्रस्तुत कर आलंकारिक तत्वों को बोधगम्य बनाने में असाधारण योगदान किया।

महावीर मानव-मात्र की समता के प्रचारक थे। वे जातिभेद एवं ऊँचनीच का भेद नहीं मानते थे। इसीलिये हरिकेशी चांडाल और केशिश्रमण के उदाहरण जैन शास्त्रों में आते हैं। उनके अनुसार, मानव जाति एक है, जन्मना एक है, कर्मणा या देश-कालगत भेद व्यावहारिक हैं। उनके कार्यों में उत्परिवर्तन सदैव संभव है।

महिलाओं का गौरव बढ़ाने में महावीर अग्रणी सिद्ध हुए। जब बुद्ध महिलाओं को साध्वी ही बनाने को तैयार न थे, तब महावीर ने चतुर्विध संघ की स्थापना कर उनको पुरुषों के समकक्ष महत्व दिया। श्वेतांबर परम्परा तो उन्हें अर्हत् पद पर भी प्रतिष्ठित करती है। साध्वियों की वंदनीयता के सम्बन्ध में प्रचलित विचारधारा बुद्धधर्म से अनुप्राणित लगती है। यह महावीर के उपदेशों से मेल नहीं खाती। मेरा सुझाव है कि जैन साधु-संघ को इस मूल में सुधार कर लेना चाहिये।

भारतीय दर्शनों में महावीर युग में ३६३ मतवाद प्रचलित थे। इनमें से अनेकों में स्थान पाने एवं अवस्था परिवर्तन के लिये आकाश एवं काल द्रव्यों की मान्यता रही है। इस आधार पर महावीर के ध्यान में आया कि चलना और स्थिर होना भी पदार्थों के स्वभाव हैं। इन कार्यों के लिये भी पृथक् द्रव्य होने चाहिये। एतदर्थ उन्होंने धर्म और अधर्म द्रव्य की मान्यता प्रस्तुत की। यह उनका अनूठा, गहन दार्शनिक चिन्तन था। यह न्यूटन के युग तक अपूर्व माना जाता रहा। वैज्ञानिक युग में इन्हें पहले जड़ता के सिद्धान्त से सहसम्बन्धित किया गया, फिर ईथर और गुरुत्वशक्ति

से उनकी समकक्षता मानी गई। पर सापेक्षतावाद ने इस पक्ष में पर्याप्त चिन्तन दिशा बदल दी है। फिर भी, तत्कालीन युग में महावीर की यह मान्यता उनकी मौलिक और असाधारण देन थी।

जैन धर्म में सर्वज्ञता की बड़ी मान्यता है। मैंने पाया है कि इस शब्द के चार अर्थ दिये गये हैं :

(१) 'जे एगं जाणइ, ते सव्वं जाणइ' के अनुसार जो आत्मा को जानता है, वह सबको जानता है। आत्मदर्शी सर्वज्ञ होता है। जैन शास्त्रों में ऐसी कथायें हैं कि एक साधारण ज्ञानी भी थोड़े ही समय में अर्हत् हो गया। यहाँ अर्हत् की सर्वज्ञता आत्मज्ञता ही है। वस्तुतः यही व्यापक दृष्टि है।

(२) सोमदेव ने 'लोकव्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञः' कहा है। इसके अनुसार, युग की महत्वपूर्ण समस्याओं के समाधान का स्पष्ट और व्यापक ज्ञान ही सर्वज्ञता है। यह अर्थ वास्तविक, व्यावहारिक एवं युग-प्रचलित है। इन्द्रभूति आदि महावीर से वादविवाद करते समय इन्हीं शब्दों में सोचते हैं कि हम सर्वज्ञ हैं या महावीर? इस दृष्टि से महावीर सचमुच सर्वज्ञ थे।

(३) सर्वज्ञता का एक अन्य अर्थ है। विश्व की किसी भी वस्तु या घटना के ज्ञान की क्षमता। न्याय-वैशेषिक ऐसे ज्ञानी को युंजान योगी कहते हैं। सर्वज्ञता का यह अलौकिक अर्थ है। अधिकांश पौराणिक घटनाओं में यही अर्थ प्रचलित रहा है। ऐसे सर्वज्ञ होने का दावा महावीर को भी कभी-कभी करना पड़ता था। परलोक और पूर्वजन्म पर विश्वास कराने के लिये यह आवश्यक था। एक बार उनसे दीक्षित साधू संघस्थ हो अपने नगर में आया। भिक्षा की अनुमति देते समय महावीर ने उससे कहा, "आज तुम्हें अपने माँ के हाथ से भिक्षा मिलेगी।" पर उसकी माँ तो उसे पहचान तक न सकी, भिक्षा की तो बात ही क्या? मार्ग में एक ग्वालन ने उसे भिक्षा दी। उसका विवरण सुनकर और अपने ऊपर अविश्वास के संकट को देखते हुए महावीर ने उससे कहा, "ग्वालिन पूर्वजन्म में तुम्हारी मां ही थी।" जगत् कल्याण के लिये कभी कभी महावीर को ऐसा असत्य-सत्य कहना पड़ता था। इससे सत्य-व्रत भंग नहीं होता, क्योंकि इसमें असंयम नहीं है। सत्य महाव्रती तो छठे गुणस्थान में हो जाता है। पर असत्य मनोयोग और वचन योग बारहवें (या तेरहवें?) गुणस्थान तक रहते हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि असत्य वचन योग से सत्य महाव्रत भंग नहीं होता।

(४) सर्वज्ञता की चौथी परिभाषा सर्वकाल एवं सर्वलोक की सभी पर्यायों के युगपत् प्रत्यक्ष के रूप में मानी जाती है। यह परम अलौकिक परिभाषा है और मुझे असंभव लगती है। मेरा सुझाव है कि वैज्ञानिक युग के दृष्टिकोण से प्रारम्भ की दो परिभाषायें तथ्यपूर्ण, तर्कसंगत एवं सत्य के रूप में स्वीकार करनी चाहिये।

कुछ जैन मान्यताओं की समीक्षा

जैन ग्रन्थों में वर्णित विश्व रचना आज की आठ हजार मील व्यास की गोल पृथ्वी की मान्यता से असंगत लगती है। इस पृथ्वी पर लाखों करोड़ों मील के द्वीप-समुद्र की बात हास्यास्पद है। जैन लोग इस बात की चर्चा में बगलें झांकने लगते हैं। पर इस असमंजस में रहने की जरूरत नहीं है। हमें निर्ममता से साफ शब्दों में कहना चाहिये कि ये भौतिक विवरण धर्मशास्त्र के अंग नहीं हैं। धर्म तो 'चारित्तं खलु धम्मो' है। विश्व रचना तो केवल कर्मफल बताने के लिये उदाहरण है। तत्वार्थ श्रद्धान सम्यक् दर्शन है। जब विश्व रचना का विवेचन तत्वरूप नहीं है, तो वह क्या सच्चा या क्या झूठा? इस विवरण से धर्म का खंडन नहीं होता। सत्य बोलना तो तब भी धर्म है, जब पृथ्वी चपटी है और तब भी धर्म है, जब पृथ्वी गोल है। दूसरे, भूगोल-खगोल सम्बन्धी मान्यताओं को ऐतिहासिक सन्दर्भ में लेना चाहिये, धार्मिक सन्दर्भ में नहीं। ऐसी स्थिति में आज की मान्यताओं के आलोक में उनकी समीचीनता परखी जा सकती है और वैज्ञानिक प्रगति को मूल्यांकित किया जा सकता है।

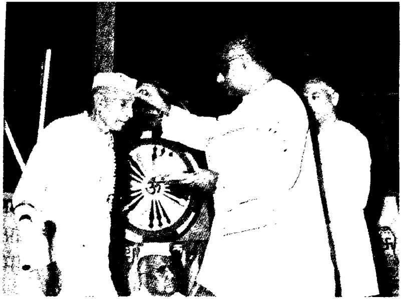

सेठ रिषभकुमार द्वारा सतना में पण्डितजी का स्वागत, १९७४

वीर निर्वाण भारती पुरस्कार के अवसर पर पण्डितजी,
साहू (स्व०) शांति प्रसादजी बैठे हैं

पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन समारोह के अवसर पर पण्डितजी, दिल्ली, १९८०

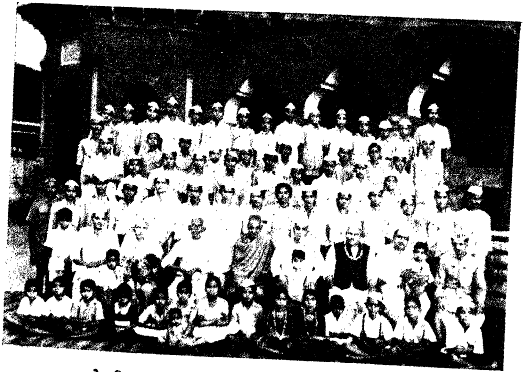

जैन शिक्षा संस्था, कटनी में छात्रों के बीच पण्डितजी (१९५९)

कारंजा गुरुकुल में पण्डितजी

भारत में आर्यों का इतिहास लगभग छः हजार वर्ष का है। अतः लाखों-करोड़ों वर्षों का वर्णन निराधार प्रतीत होता है। चौबीस तीर्थंकरों का इतिहास भी इस दृष्टि से तथ्यपूर्ण नहीं लगता। यह वर्णन इतिहास-ज्ञान के लिये नहीं, जैन धर्म की उपयोगिता बताने के लिये था। जैनधर्म ने महावीर को धर्मंकर नहीं कहा, तीर्थंकर कहा क्योंकि अहिंसा, सत्यादि धर्म कोई नहीं स्थापित करता। एक धर्म में एक ही तीर्थंकर होता है, अन्य अरहंत, जिन, सर्वज्ञ आदि होते हैं। फिर भी, जैनों को चौबीस तीर्थंकर मानने पड़े। इसका उद्देश्य भी ऐतिहासिक न होकर उपयोगिता एवं महत्व प्रदर्शन रहा है।

महावीर से एक श्रद्धालु ने पूछा, "क्या आपके बिना हमारा उद्धार न होगा ?" इस प्रश्न के दोनों प्रकार के उत्तर परेशानी में डालने वाले प्रतीत हुए। अतः उन्हें कहना पड़ा, "हमारे धर्म के बिना तुम्हारा उद्धार न होगा। अभी तक जिनका उद्धार हुआ, वह जैन धर्म से ही हुआ। मैं तो अन्तिम तीर्थंकर हूँ, मेरे पहिले तेईस और हो गये हैं।" वस्तुत यह तथ्य नहीं है, उपयोगितावादी चतुर दृष्टिकोण है।

अमेरिकी लेखक इमरसन मानता है कि प्रत्येक संस्था उसके संस्थापक के जीवन की छाया होती है। जैन धर्म भी महावीर के जीवन की छाया है, उन्होंने जो कहा, उसे जीवन में उतारा। उनकी प्रकृति सहिष्णुता प्रधान थी, वे प्रतिकार की उपेक्षा करते थे। वस्तुतः, राजमार्ग यह है कि यथाशक्य प्रतिकार किया जावे। फिर भी, जो रह जावे, उसे सहन किया जावे। जैन धर्म में प्रतिकार और सहिष्णुता के बीच समन्वय नितान्त आवश्यक है।

आधुनिक युग के लिये जैन धर्म की आशावादी रूपरेखा

जैन धर्म के प्रति विशेष अनुराग होने से मैंने वरसों पूर्व जैन मत को विज्ञान-समन्वित बनाने और उसके कायाकल्प की इच्छा से 'जैन धर्म मीमांसा' नामक ग्रन्थ लिखा था। इसका उद्देश्य था कि जैन धर्म इस युग में भी मानव के लिये अधिकाधिक कल्याणकारी बन सके और उसके अकल्याणकारी अंश दूर किये जावें। जैन धर्म में नवीनता को ग्रहण करने की क्षमता है, क्योंकि वह परीक्षाप्रधानी है। इस दृष्टि से मैं जैन धर्म में निम्न धारणाओं के समाहरण का सुझाव देना चाहता हूँ :

(अ) धर्म का लक्ष्य इसी लोक को अधिकाधिक सुखी बनाने की ओर रहे, परलोक का लक्ष्य गौण माना जावे।

(ब) विश्व रचना तथा द्रव्यवर्णन को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में मानकर उनके प्रयोग एवं विज्ञान सम्मत रूप का समाहरण किया जावे।

(स) सर्वज्ञता की व्यावहारिक एवं वास्तविक परिभाषा मान्य की जावे, अलौकिकता को प्रेरित करने वाली परिभाषा आलंकारिक है।

(द) महावीर ने दिगंबरत्व को साधुता एवं आत्मविकास का उत्तम सोपान बताया था। पर इसे अनिवार्य नहीं मानना चाहिये। पीछी-कमंडलु के समान सचेलता भी साधुता में बाधक नहीं मानी जानी चाहिये।

(य) जैनों के तीनों सम्प्रदायों में समन्वय एवं सुधार होना चाहिये। दिगंबरत्व की अनिवार्यता ने जैन धर्म को बहुत अनुदार बना दिया है। सात्विक अशन-पान, पीछी-कमंडलु, शास्त्र-परिग्रह एवं अल्पचेलता में भी साधुता रह सकती है। संप्रदाय-व्यामोह का त्याग होना चाहिये।

श्वेतांबर मन्दिरों की मूर्तियाँ महावीर के धर्म की विडम्बना हैं। उन्हें दिगम्बर-वेशी रखने में ही गरिमा है। स्थानकवासी या तारणपंथ मुस्लिम सत्ता के प्रभाव की उपज है। अब युग बदल गया है।

मूर्ति पूजा के लिये नहीं, प्रेरणा के लिये होती है। अतः मन्दिरों में, स्थानकों में इस दृष्टिकोण से मूर्तियाँ रखना सामयिक मांग की पूर्ति ही होगी।

(र) साध्वी के अपमान या अवंदनीयता का सिद्धान्त जैन धर्म से मेल नहीं खाता। नरनारी समभाव के आधार पर संघ में अनुशासन रखना चाहिये।

(ल) जन-जन में प्रचार की दृष्टि से पैदल विहार का माध्यम सर्वश्रेष्ठ है, पर आज के गतिशील युग में, विशिष्ट कारण और अवसरों (उपसर्ग की आशंका, धर्म प्रचार आदि) पर शीघ्रगामी वाहनों के उपयोग को स्वीकृति मिलनी चाहिये।

(व) मुक्ति और सिद्धशिला मानें या न मानें, पर मोक्ष पुरुषार्थ की मान्यता अवश्य रहनी चाहिये। महावीर का जीवन इसीलिये महत्त्वपूर्ण है। दुःख की परिस्थिति में भी सुख का स्रोत भीतर से बहाना और सुखानुभूति ही वह मोक्ष पुरुषार्थ है जिसका उपदेश महावीर ने दिया है।

(श) जैन धर्म को अधिक प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। वर्तमान तीर्थ तो महावीर ने प्रवर्तित किया। उसमें पार्श्व धर्म का भी समन्वय किया गया और उन्हें भी तीर्थंकर मान लिया गया। फलतः अब पार्श्व के धर्म का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रहा। वर्तमान जैन धर्म महावीर की ही देन है।

(ष) जैन सम्प्रदाय जातिभेद नहीं मानता। जिनसेनाचार्य के समय से कुछ दिगम्बर ग्रन्थों में इसका समाहरण हुआ है। दक्षिण में मध्ययुग में अनेक जैनेतर संस्कार अपनाने पड़े। अब इनकी आवश्यकता नहीं है। इन्हें अब प्रक्षिप्त मानना चाहिये।

(स) जैन तीर्थंकर को ईश्वर के समान गुणवाला मानकर जैनधर्म का मूल ही विकृत कर दिया गया है। उनके कल्याणकों की अलौकिकता भी प्रभावकता का पोषणमात्र है। ऐतिहासिक दृष्टि से इनका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। निरीश्वरवादी एवं प्रकृतिवादी जैनधर्म में ईश्वरवाद का परोक्ष राज्य वैज्ञानिक युग में उसके गौरव को ही कम करता है। ऐसे विवरणों को उपेक्षणीय मान लेना चाहिये।

(ह) जैनों का मूल सिद्धान्त "युक्तिमत् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः" है। इस आधार पर जैन निष्पक्ष विचारक होता है। उसमें अन्धश्रद्धा का होना एक कलंक है।

इन धारणाओं के समाहरण एवं क्रियान्वयन से जैनों के मानव-कल्याण का क्षेत्र व्यापक होगा और एक नई उदार दृष्टि प्राप्त होगी। असत्य जानते हुए भी पुरानी बातों से चिपके रहना कभी स्वपर-कल्याणकारी नहीं हो सकता। उपरोक्त नई दृष्टि अपनाने से जन्मना जैनधर्म के प्रति अनुराग और बढ़ेगा। उसका पुराना वैभव भी प्रकाशित होता रहेगा और नये युग में वह सम्प्रदायविहीन रूप धारण कर भारतीय संस्कृति की उज्ज्वलता को विश्व में प्रसारित करेगा।

●

श्रमण संस्कृति का विराट् दृष्टिकोण

सौभाग्यमल जैन एडवोकेट
शुजालपुर (म० प्र०)

श्रमण संस्कृति के विराट् दृष्टिकोण पर विचार करने के पूर्व 'संस्कृति' शब्द पर विचार कर लेना जरूरी है। मेरे अल्पमत में धर्म और संस्कृति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कोई संस्कृति धर्म रहित हो या कोई धर्म संस्कृति रहित हो, यह असम्भव है। जब मैं "धर्म" शब्द का प्रयोग करता हूँ, तो मेरा तात्पर्य सार्वकालिक, सार्वभौम, धार्मिक तत्वों से है, जो देशकाल से परे है। कोई धर्म असंस्कृत हो, यह सम्भव नहीं है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने "संस्कृति" शब्द पर कई विद्वानों के मत को उद्धृत कर अपना मत व्यक्त किया था कि "संस्कृति" मन, आचार, रुचियों का परिष्कार या शुद्धि है। यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है। भारत की संस्कृति सामाजिक तथा समन्वयशील रही है।[1] इसी प्रकार "धर्म अने संस्कृति" की प्रस्तावना (सम्पादक की कलम से) में विभिन्न विद्वानों, दार्शनिकों के मत का उल्लेख करके यह निष्कर्ष निकाला गया है कि संस्कृति वही मानी जानी चाहिये, जहाँ धर्म, दर्शन, कला का अस्तित्व हो।[2] आखिर, धर्म भी मनुष्य के मन को परिष्कृत करके उसके आचार तथा रुचि को सुसंस्कृत बनाता है।

भारत में प्राग् ऐतिहासिक काल से दो संस्कृतियों का अस्तित्व रहा है : १. श्रमण संस्कृति और २. ब्राह्मण संस्कृति। "श्रमण" शब्द में श्रम निहित है। ऐसी संस्कृति, जिसमें मानव जीवन के उच्चतम शिखर तक को श्रम के द्वारा प्राप्त किया जा सके, किसी की कृपा के आधार पर या याचना करके नहीं। इसके अतिरिक्त, श्रमण शब्द के गर्भ में १. श्रम, २. सम, ३. शम, भावनाएँ विद्यमान हैं। इन तीनों का दर्शन श्रमण संस्कृति में होता है। ब्राह्मण संस्कृति का नेतृत्व वैदिक ब्राह्मणों के पास था। यह अधिकतर तत्कालीन राजाओं, धनिक वर्ग से राजसूय यज्ञ (हिंसापूर्ण) कराकर देवों की प्रसन्नता प्राप्त करने का मार्ग बताती थी। इस परम्परा में वेद स्वतः प्रमाण थे। वेद को अप्रमाणित कहने वाला नास्तिक माना जाता था। श्रमण संस्कृति परीक्षा प्रधान थी। वेद को स्वतः प्रमाण मानने से इंकार करती थी तथा स्वयं के कृत कर्मों के बल पर ही उसका कल्याण या अकल्याण हो सकता है, यह मानती थी। त्याग, तप आदि पर बल देती थी। श्रमण संस्कृति का नेतृत्व क्षत्रिय लोगों के पास था, जिसका प्रमुख क्षेत्र पूर्वी भारत था। यह पृथक् बात है कि आगे चलकर दोनों संस्कृतियों में सामंजस्य बिठाने का कुछ प्रयत्न समन्वयशील मनीषियों ने किया, जो कुछ सीमा तक आदान-प्रदान के मार्ग पर चला। इस देश की दोनों संस्कृतियों के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर जो मत भिन्नता रही है, उसका कुछ संकेत आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपनी एक पुस्तक की प्रस्तावना में किया है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि "ब्राह्मण संस्कृति" से भिन्न एक संस्कृति प्राग् वैदिककाल से ही विद्यमान थी, जिसमें मुख्यतः अहिंसा मूलक निरामिष आहार, विचार, सहिष्णुता, अनेकान्तवाद एवं मुनि परम्परा का प्राबल्य था।[3]

---

१. संस्कृति के चार अध्याय, दिनकर, पृ० ५–६।

२. धर्म अने संस्कृति, प्रस्तावना, पृ० १०।

३. भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिकधारा), डॉ० मंगलदेव शास्त्री, प्रस्तावना।

वर्तमान में श्रमण संस्कृति के दो महत्त्वपूर्ण घटक माने जाते हैं—१. जैन और २. बौद्ध। इन दोनों के उपास्य तीर्थंकर अथवा अर्हत् क्षात्रकुलोत्पन्न थे। पूर्वी भारत में क्षत्रियों के नेतृत्व वाली संस्कृति अहिंसा तथा विचार सहिष्णुता पर आधारित रही है। जैन परम्परा वर्तमान कालचक्र में तीर्थंकर ऋषभ देव से इस परम्परा का प्रारम्भ मानती है। उनके पश्चात् २३ तीर्थंकर और हुए। २१ वें नमिनाथ, २२ वें अरिष्ट नेमि और २३ वें पार्श्वनाथ तथा २४ वें वर्धमान महावीर थे। तात्पर्य यह है कि पार्श्वनाथ तथा वर्धमान तो उस महत्त्वपूर्ण संस्कृति की अन्तिम कड़ी थे, जो तीर्थंकर ऋषभ देव ने प्रारम्भ की थी। ज्ञात इतिहास ने इन दोनों तीर्थंकरों को ऐतिहासिक माना है। उसके पूर्वकाल तक हमारे इतिहासविद् विद्वानों की पहुँच नहीं हो सकी है। किन्तु केवल इसी कारण उनके अस्तित्व के सम्बन्ध में शंका नहीं की जा सकती। कारण यह है कि हमारे देश के प्राचीन साहित्य में प्रचुर मात्रा में सामग्री मिलती है, जिसपर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है :

१. तीर्थंकर ऋषभदेव अन्तिम कुलकर या मनु "नाभि" के पुत्र थे, जिनका उल्लेख वेदों तथा श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध में अत्यन्त श्रद्धा के साथ किया गया है। उनको परम योगी, परम अवधूत मानकर उनकी प्रशंसा की गयी है।

२. तीर्थंकर ऋषभदेव, अजितनाथ एवं २२ वें तीर्थंकर अरिष्ट नेमि का उल्लेख यजुर्वेद में भी मिलता है।[४]

३. तीर्थंकर अरिष्ट नेमि यादवों की एक शाखा में जन्मे तथा पशु हिंसा के दृश्य से व्याकुल होकर विरक्त हुए तथा तपस्या करके गिरनार पर्वत (उर्जयन्तगिरी) पर निर्वाण को प्राप्त हुए। सौराष्ट्र (जहाँ गिरनार पर्वत है) में गौ तथा पशुशाला (पिंजरापोल) का अस्तित्व अरिष्ट नेमि (नेमिनाथ) की विरक्ति के कारण को ज्योतित करती है।[५]

४. तीर्थंकर अरिष्ट नेमि, वासुदेव कृष्ण के चचेरे भाई थे। वैदिक परम्परा में ऋषि आंगिरस ने कृष्ण को आत्म-यज्ञ की शिक्षा दी। एक मत यह है कि आंगिरस, तीर्थंकर अरिष्ट नेमि का ही अपर नाम था। उपदेश की मूल भावना से अनुमान होता है कि वह एक जैन मुनि का दिया हुआ उपदेश हो।[६]

५. भारतीय साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद (१०.१३.६.२.) में मुनि की एक विशेष शाखा वातरशना तथा उनकी वृत्तियों का जिक्र है। यह विशेषण, अनासक्ति मौन आदि आध्यात्मिक वृत्ति के धनी तपस्वियों का है। वेदोत्तर कालीन वैदिक परम्परा में भी ये मुनि पूर्ववत् सम्मानित थे। तैत्तिरीय आरण्यक (१.२.६.७.), तथा पद्मपुराण (६. २१२) के अनुसार तप का नाम ही श्रेय है। यह ज्ञातव्य है कि वातरशना, जैन परम्परा के लिये परिचित नाम है, जैसा जिनसहस्त्र नाम में उल्लेख आता है।[७]

६. अनुमान है कि तैत्तिरीय आरण्यक काल में, व्यवहार में ऋषि तथा मुनि शब्द पर्यायवाची होते जा रहे थे। कहीं वातरशना श्रमण मुनि के लिए ऋषि तथा वैदिक गृहस्थाश्रमी ऋषि के लिए मुनि शब्द का प्रयोग मिलता है। यह समन्वय बुद्धि का परिणाम ज्ञात होता है। वैदिक परम्परा में भी प्रारम्भिक आश्रम

४. भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन्, भाग–१, पृ० २६४।

५. प्राग्-ऐतिहासिक जैन परम्परा, डॉ० धर्मचन्द जैन, पृ० ५।

६. भारतीय संस्कृति एवं अहिंसा, धर्मानन्द कोसाम्बी, पृ० ६८।

७. प्राग्-ऐतिहासिक जैन परम्परा, डॉ० धर्मचन्द जैन, पृ० ७, ९।

व्यवस्था के बाद वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम को व्यवस्था की गई। परिणाम स्वरूप दोनों शब्दो में एकत्व स्थापित हुआ।[८]

७. जहाँ ऋग्वेद में देवता की स्मृतियाँ हैं, वहीं उपनिषदों में मानव मन के भीतर उठने वाले प्रश्नों पर चर्चा की गई है। ऐसा लगता है कि जब वैदिक परम्परा तथा श्रमण-परम्परा के मनीषी निकट बैठकर चर्चा करते थे, अध्यात्म प्रधान प्रश्नों का समाधान खोजते थे, उस समय का साहित्य उपनिषद् हैं। वेद विहित (हिंसापूर्ण यज्ञों) को उपनिषद काल में आत्म परक बना लिया गया।[९]

८. राजा जनक (विदेह) की सभा में ऋषि, ब्राह्मण कुमार–सब आत्म-विद्या का उपदेश लेने सम्मिलित होते थे। महाराज जनक क्षत्रिय थे। अनुमान तो यह है कि जनक नाम नहीं था। वस्तुतः जनक का शब्दार्थ पिता होता है। जैन आगम उत्तराध्ययन में विदेहराज राजर्षि का उल्लेख है। उसमें जो संवाद ब्राह्मण वेश में उपस्थित इन्द्र तथा नमि में हुआ है, उससे लगता है कि नमि ही जनक था या नमि के वंश में हो जनक था। यह शोध का विषय है।

९. *स्वर्गीय संत विनोबाजी ने अपने द्वारा व्याख्यायित "विष्णु सहस्रनाम" पुस्तक के अन्त में "अविरोध साधक"* शीर्षक से यह प्रतिपादित किया है कि विष्णु के १००० नाम में "वर्धमान महावीर" का नाम भी है (पृष्ठ ३८९) अनुमान है इन १००० नामों में विष्णु का नाम एक "जिन" भी है।

१०. योगवाशिष्ठ (संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली से प्रकाशित) प्रथम खण्ड के "वैराग्य प्रकरण" (१५ वां सर्ग) में एक श्लोक है, जिसका तात्पर्य है कि मैं राम नहीं हूँ, न मेरी कोई इच्छा (वाञ्छा) है। मैं "जिन" की तरह अपनी आत्मा में शान्ति चाहता हूँ।।

नाहं रामो नमे वाञ्छाः न च मे भावेषु मनः।
शांतिमास्थितुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा।। ६।।

तात्पर्य यह है कि श्रमण परम्परा इस देश में प्राग् ऐतिहासिक काल से विद्यमान थी। उनमें विभिन्न युगों में तीर्थंकर अवतरित हुए है जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। पार्श्वनाथ और वर्धमान महावीर की ऐतिहासिकता तो विवाद से परे है। श्रमण परम्परा का जो साहित्य आज उपलब्ध है, उसके लिहाज से यह बिना संकोच कहा जा सकता है कि श्रमण संस्कृति का दृष्टिकोण सदैव विशाल रहा है। तीर्थंकर महावीर के युग में वैदिक परम्परा में संस्कृत का प्राबल्य था। इसे उच्च वर्ग में सीमित कर दिया गया था। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्"–स्त्री तथा शूद्रों को वेद के पठन का अधिकार नहीं है। जहाँ ऐसी स्थिति थी, वहाँ तीर्थंकर महावीर ने तत्कालीन प्रचलित जन भाषा मगध तथा निकटवर्ती स्थानों की जनबोली का मिश्र रूप "अर्द्ध-मागधी" अपना कर, जन सामान्य तक अपने सन्देश को पहुँचाया। इस प्रकार से भाषा के क्षेत्र में एक ऐसी क्रांति हुई जिससे संस्कृत का गर्व समाप्त हो गया। केवल इतना ही नहीं, तीर्थंकर महावीर संघ के द्वार अभिजात्य वर्ग से लेकर निम्न तथा निम्नतम वर्ग के व्यक्ति के लिये खुला था। यही कारण है कि उनके संघ में चांडाल तक मुनि के रूप में दीक्षित हुए। उनको वही उच्च स्थिति प्राप्त थी, जो अभिजात्य वर्ग व्यक्ति के लिये थी। उस समय संघ में समाज का प्रत्येक तबका सम्मिलत होता तथा उनके उपदेशों को आत्मसात्

८. वही, पृ० ९, १०।
९. उपनिषदों की भूमिका, डॉ० राधाकृष्णन, पृ० ४९।

करके अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता था। श्रमण संस्कृति के दृष्टिकोण की विराटता को, इस प्रारम्भिक परिचय के पश्चात्, उदाहरण रूप में निम्नलिखित बिन्दुओं से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि यह संस्कृति देश-काल से परे समस्त प्राणी जगत् की उन्नति के लिये प्रयत्नशील थी। यही कारण है कि उत्तर काल में इस संस्कृति का प्रचार-प्रसार विदेशों में हुआ।

१. जैन परम्परा में "नमस्कार मंत्र" अत्यन्त पवित्र माना जाता है, जिसमें गुणों के आधार पर अरहृत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुजन को नमस्कार किया गया है, किसी व्यक्ति विशेष को नहीं। यही नहीं, अपितु अन्तिम पद "साधु" शब्द में "लोक के समस्त साधुजन" को आराध्य मानकर नमन किया गया है। केवल इस देश के ही नहीं, देश-विदेश (समस्त लोक) के समस्त साधुजन इसमें अभिप्रेत है। साथ ही लिंग, वेश, जाति, देश से परे यह व्यवस्था है, किन्तु उसमें साधुता अनिवार्य है।

२. मानव जाति का अन्तिम लक्ष्य निःश्रेयस की प्राप्ति है। इसके लिये प्रत्येक धर्म के मनीषी, तत्व-चिंतकों ने मानव जाति का पथ प्रदर्शन किया है। उसको किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय का अनुयायी या दीक्षित होना जरूरी नहीं है। इस सार्वभौम सिद्धान्त के अनुसार, जैन धर्म में मान्य सिद्ध अवस्था को (अन्तिम लक्ष्य) प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। पन्द्रह प्रकार से सिद्ध होते हैं, उनमें स्वलिंग (जैन धर्म में मान्य परम्परा), अन्य लिंग (अन्य धर्मों में मान्य परम्परा), तीर्थ सिद्ध (जैन धर्म का अनुयायी), अतीर्थसिद्ध (जिसने जैन धर्म को अंगीकार नहीं किया) उस परम्परा के वेश में भी वह सिद्ध हो सकता है। वस्तुतः जब आत्मा राग-द्वेष से रहित शुद्ध अवस्था पर पहुँच जाती है, तब सिद्ध अवस्था में स्थित हो जाती है।

३. तीर्थंकर महावीर के प्रमुख शिष्य (गणधर) इन्द्रभूति गौतम थे। वे पूर्व में वेद एवं वैदिक साहित्य के मनीषी, मर्मज्ञ प्रकाण्ड विद्वान थे। तीर्थंकर महावीर से शंकाओं का समाधान पाकर वे दीक्षित हो जाते हैं। इन्द्रभूति तीर्थंकर महावीर के विशाल संघ के प्रथम गणधर थे।

४. ऋषिभाषित (रिषिभासियाइं) श्रमण-परम्परा का एक विशिष्ट ग्रन्थ है। इसमें जैन दर्शन के तत्व चिंतक, वैदिक दर्शन के ऋषि, परिव्राजक तथा बौद्ध भिक्षुओं के आध्यात्मिक उपदेश संग्रहीत हैं। यह ग्रन्थ इस देश की त्रिवेणी के रूप में (जैन, बौद्ध, वैदिक धारा) समन्वय का संदेशवाहक तथा साम्प्रदायिक व्यामोह के पाश को तोड़ने के लिए मार्गदर्शन करता है। आध्यात्मिक उपदेश चाहे किसी परम्परा के हों, वरेण्य हैं और आत्मा को उन्नत अवस्था तक के जाने में सहायक होते हैं। यही कारण है कि श्रमण संस्कृति के आदि पुरस्कर्ता ऋषभदेव का अनुयायी अंबड परिव्राजक भी था।[१०] संक्षेप यह है कि श्रमण संस्कृति के मनीषी आचार्यों ने इस दिशा में जैन दर्शन द्वारा मान्य अनेकान्त दृष्टि से भिन्न-भिन्न मतवादों में सामन्जस्य करने का प्रयत्न किया है। नय (सापेक्ष सिद्धान्त) की नींव पर खड़ा अनेकान्त या स्याद्वाद समन्वयशील रहा है। वैसे जितने वचनपथ है, उतने नय है।[११]

इसके लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। महान आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में सांख्य दर्शन तथा उसके प्रणेता कपिल मुनि के सम्बन्ध में कहा था :

---

१०. रिसिभासियाइं सुत्तं, संपादक मनोहरमुनिजी, पृ० १८, १९।

११. षड्दर्शन समुच्चय, सं० श्री विजयजम्बूसूरि, वीर संवत् २४७६।

जिस प्रकार अमूर्त आत्मा के साथ मूर्तयोगों-मन, वचन, काया का, अमूर्त आकाश के साथ मूर्त घट का, अमूर्त ज्ञान के साथ मूर्त मदिरा का सम्बन्ध हो जाता है, उसी प्रकार सांख्य का प्रकृतिवाद घटित हो सकता है। कपिलमुनि दिव्य ज्ञानी थे, अतः वह पूर्णतः असत्य कैसे कहते ?[१२]

"मूर्तयाऽप्यात्मनो योगो घटेन नभसो यथा। उपघातादि भावस्य, ज्ञान स्येव सुरादिना।
एवं प्रकृति वादोऽपि विज्ञेयं सत्य एव हि। कपिलोक्तत्व दचेन दिव्यो हिस महामुनिः॥

यह है–भिन्न विचार के प्रति सहिष्णुता। आवश्यक है कि मनुष्य की चित्तवृत्ति निर्मल, निष्कलुष, कषाय-रहित सम्यक् दृष्टि से सम्पन्न हो, तो वह विरोध में भी अविरोध का दर्शन कर लेता है। इसी कारण उसका दृष्टिकोण विशाल रहा है।

महान योगी आनन्दघनजी ने एक स्पष्ट बात कही है :

राम कहो, रहमान कहो, कोई कान्ह कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोऊ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वमेव री॥
भाजन भेद कहावत विध नाना, एक मृतिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पना आरोपित, आप अखण्ड स्वरूप री॥

किन्तु यह कम आश्चर्य का विषय नहीं है कि इतने उदार तथा समन्वयशील श्री संघ में भगवान महावीर के कुछ शताब्दियों के पश्चात् सचेल तथा अचेल के नाम पर विश्रृंखलता प्रारम्भ हुई। यह तो सर्वमान्य है कि भगवान महावीर निपट दिगम्बर थे। सचेलत्व का पक्षधर श्वेताम्बर सम्प्रदाय अचेलत्व की प्रशंसा करता है, किन्तु अपवादिक स्थिति में वस्त्र के उपयोग (सीमित मात्रा तथा प्रतिकूल परिस्थिति में) को मुनिधर्म के विपरीत नहीं मानता। अचेलत्व के आग्रह के कारण दिगम्बर को स्त्री मुक्ति का निषेध करना पड़ा। सर्वमान्य स्थिति यह है कि कर्मबन्धन तथा उससे मुक्तता का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। आत्मा अपने मूल स्वरूप में न तो पुरुष है, न स्त्री। कर्म से मुक्तता कषाय की अनुपस्थिति पर निर्भर होती है। शरीर पर्याय से उसका सम्बन्ध नहीं है। किसी भव्य जीव के केवल्य प्राप्ति के पश्चात् भी उसकी आत्मा शरीर में रहती है। गुण स्थान के क्रम में (तेरहवाँ गुण स्थान) सयोग केवली कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि उस केवली को मन, वचन, काया का योग प्राप्त है और वह क्रियाशील है किन्तु उसके रागद्वेष, मूलतः नष्ट हो चुके है, अनासक्त भाव से (चरमसीमा) जीवन व्यतीत करता है, इस कारण उसे कर्मबन्धन, नहीं होता। व्यावहारिक तथा विज्ञान की दृष्टि से भी देखें, तो जब तक शरीर है, उसे शरीर निर्वाह के लिये भोजन लेना आवश्यक होता है। यदि हम गहन चिंतन करें तो यह स्पष्ट होगा कि उपरोक्त बिन्दु ऐसे नहीं थे कि जिसके कारण दोनों परम्पराओं में वैचारिक समन्वय नहीं हो सकता था।

यदि हम इतिहास की दृष्टि से देखें, तो ईसा की दूसरी शताब्दी में इस सांप्रदायिक अभिनिवेश में समन्वय के साधक एक संघ का उदय हुआ जिसे "यापनीय संघ" कहा गया। श्वेताम्बर परंपरा की मान्यता से अचेलत्व-सचेलत्व का विवाद वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् (८२ ईसवी में) तथा दिगम्बर परंपरा की मान्यता के अनुसार ई० सं० ७९ में हुआ। दिगम्बर-श्वेताम्बर संघ भेद के ६०-७० वर्ष पश्चात् ही (ई० सं० २४८ में) यापनीय संघ का

१२. "श्रमण" वाराणसी, अगस्त, १९८३, 'सर्वधर्म समभाव और स्याद्वाद', लेखक सुभाषमुनि।

प्रादुर्भाव हुआ।[13] इस संघ का अस्तित्व ईसा की १५ वीं या १६ वीं शताब्दी तक रहा।[14] इस संघ की कुछ मान्यतायें श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य तथा कुछ दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य थीं। यापनीय संघ का साहित्य पर्याप्त है और यह साहित्य इस संघ भेद के मूल का पता लगाने तथा दोनों परम्पराओं को जोड़ने वाला साहित्य है।[15] ऐसा प्रतीत होता है कि ७० वर्ष में ही समन्वयशील मस्तिष्क संघ भेद के कारण व्यथित था तथा खाई को पाटने जैसा विचार उसके मस्तिष्क में हिलोरें ले रहा था, जिसके कारण यापनीय (अपरनाम आपुलीय या गोप्य संघ) संघ अस्तित्व में आ गया। लगभग १६वीं शताब्दी में इस संघ का लोप हो गया। कारणों के सम्बन्ध में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता। इसके पश्चात् का इतिहास तो दोनों परम्पराओं के आंतरिक विद्रोह तथा विश्रृंखलता का इतिहास है। श्वेताम्बर परम्परा में लोकाशाह की परम्परा तथा उसके पश्चात् स्थानकवासी तेरह पंथ का उदय हुआ। दिगम्बर परम्परा भी अछूती नहीं रही। स्व० तारणस्वामी का तारण पंथ स्वर्गीय श्री कानजी स्वामी तथा स्वर्गीय श्री रायचन्द भाई की परम्परा भी चली। तात्पर्य यह है कि जैन संघ की शक्ति का विभाजन होता रहा।

जैन संघ की इस विश्रृंखल प्रधान प्रवृत्ति को देखकर बड़े दुःखी हृदय से महान अध्यात्मयोगी श्री आनन्दघनजी ने एक पद कहा था, जसका अर्थ है कि गच्छ में बहुत भेद प्रभेद अपनी आँख से देखते हुए तत्व चर्चा करते हुए लज्जा नहीं आती ? कलियुग में दुराग्रहों से ग्रस्त होकर अपनी भूख (वैयक्तिक पूजा-प्रतिष्ठा की तृष्णा) मिटाने के लिये प्रयत्नशील है। तात्पर्य यह है कि वैयक्तिक भूख को सैद्धान्तिक जामा पहनाकर श्री संघ में विश्रृंखलता लाई गई है। हमारा जैन समाज जाति, सम्प्रदाय, आदि विभिन्न प्रकार से विश्रृंखलित है। हम अनेकांत तथा स्याद्वाद की प्रशंसा के गीत गाते हुए भी पूरे एकांतवादी हो गये हैं। पूरे जैन समाज में कोई ऐसा प्रामाणिक समन्वयशील, अनेकांतिक विचारधारा का पक्षधर (जिसकी वाणी तथा कर्म में साम्य है) महापुरुष नहीं है जो इस विश्रृंखलित जैन समाज में एकता का वातावरण निर्माण करके सशक्त अखिल जैन समाज को अस्तित्व में लाने की क्षमता से सम्पन्न हो। इस निराशाजनक स्थिति में भी मैं निराश नहीं हूं। मेरा विश्वास है कि काल निरवधि है, पृथ्वी विपुल है। कोई कालजयी महापुरुष अवश्य इस महान कार्य को संपन्न करेगा।

उत्पस्यन्ते तु मां समान धर्मा, कालो निरवधिः विपुला च पृथ्वी ॥

१३. जैन साहित्य तथा इतिहास, ले० स्व० नाथूरामजी प्रेमी, पृ० ५६, १९५६।
१४. वही पृ० ५६४।
१५. वही पृ० ५८।

जैनधर्म में अहिंसा

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव
पटना (बिहार)

अहिंसा जैनधर्म की आधारशिला है। जैन चिन्तकों ने अहिंसा के विषय में जितनी गम्भीर सूक्ष्मेक्षिका से विचार-विश्लेषण किया है, उतनी सूक्ष्म दृष्टि से कदाचित् ही किसी अन्य सम्प्रदाय के विचारकों ने चिन्तन किया हो। जैनों की अहिंसा का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। उनके अनुसार अहिंसा बाह्य और आन्तरिक-दोनों रूपों में सम्भव है। बाह्य रूप से किसी जीव को मन, वचन और शरीर से किसी प्रकार की हानि या पीड़ा नहीं पहुँचाना तथा उसका दिल न दुःखाना अहिंसा है, तो आन्तरिक रूप से राग-द्वेष के परिणामों से निवृत्त होकर साम्यभाव में स्थित होना अहिंसा है। बाह्य अहिंसा व्यावहारिक अहिंसा है, तो आन्तरिक अहिंसा निश्चयात्मक अहिंसा। इस दृष्टि से व्यावहारिक रूप से जीव को आघात पहुँचाना यदि हिंसा है, तो आघात पहुँचाने का मानसिक निश्चय या संकल्प करना भी हिंसा ही है। वस्तुतः अन्तर्मन में राग-द्वेष के परिणामों से निवृत्तिपूर्वक समता की भावना जबतक नहीं आती, तब तक अहिंसा सम्भव नहीं है। इस प्रकार अतिव्यापक रूप में सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि सभी सद्गुण अहिंसा में ही समाहित हैं। कुल मिलाकर अहिंसा ही जैनधर्म की मूलधुरी है और इसीलिए जैन दार्शनिकों ने अहिंसा को परम धर्म कहा है।

व्यावहारिक दृष्टि से यदि देखें, तो जल, स्थल, आकाश आदि में सर्वत्र ही क्षुद्रातिक्षुद्र जीवों की अवस्थिति है, इसलिए बाह्य रूप में पूर्णतः अहिंसा का पालन सम्भव नहीं है; परन्तु अन्तर्मन में समता की भावना रहे और बाह्यरूप में पूर्ण यत्नाचार के पालन में प्रमाद न किया जाय, तो बाह्यजीवों की हिंसा होने पर भी सोद्देश्य हिंसा की मनःस्थिति के अभाव के कारण साधक या श्रावक मनुष्य अहिंसक बना ही रहता है।

इस प्रकार जैनों के "रत्नकरण्डश्रावकाचार", "कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा" आदि आचार ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि अहिंसा मुख्यतः दो प्रकार की है: स्थूल अहिंसा और सूक्ष्म अहिंसा। त्रस जीवों अर्थात् अपनी रक्षा के लिए स्वयं चलने-फिरने वाले (यानी कीट-पतंग और पशु-पक्षी से मनुष्य तक) दो इन्द्रियों से पाँच इन्द्रियों तक के जलचर, थलचर और खेचर जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिये और अकारण एकेन्द्रिय, अर्थात् वनस्पतिकायिक जीवों की भी हिंसा यानी पेड़ों को काटना या उनकी डालियों और पत्तों को तोड़ना आदि कार्य भी नहीं करना चाहिये। यह स्थूल अहिंसाव्रत है। फिर, जो श्रावक मनुष्य जीवों के प्रति दयापूर्ण व्यवहार करता है, सभी जीवों को आत्मवत् मानता है और अपनी निन्दा करता हुआ दूसरे प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाता है तथा मन, वचन और शरीर से त्रस जीवों की न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों से कराता है और न दूसरे के द्वारा की जानेवाली हिंसा का अनुमोदन करता है, वह सूक्ष्म अहिंसा अर्थात् अहिंसाणुव्रत का पालन करने वाला कहा गया है। इस प्रकार सर्वतोभावेन जीवों की रक्षा करना ही अहिंसा-व्रत है।

आद्य जैन चिन्तक आचार्य उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थसूत्र' (७।४) में अहिंसाव्रत के पालन के लिए साधनस्वरूप पाँच भावनाओं का उल्लेख किया है। वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति आदाननिक्षेपण-समिति और आलोकितपान-

भोजन। इन भावनाओं का अर्थ मोटे तौर पर लें, तो हिंसा से बचने के निमित्त वचन के व्यवहार में सतर्क रहना या प्रमाद न करना ही वचनगुप्ति है, मन में हिंसा की भावना या संकल्प को उत्पन्न न होने देना मनोगुप्ति है, चलने-फिरने-उठने-बैठने आदि में जीवहिंसा न हो, यानी जीव को कष्ट न पहुँचे, इसका ध्यान रखना ईर्यासमिति है, किसी वस्तु को उठाने-रखने में जीवहिंसा से बचना आदान-निक्षेपण समिति है और निरीक्षण करके भोजन-पान ग्रहण करना आलोकितपान भोजन है। इससे स्पष्ट है कि राग, द्वेष, प्रमाद आदि से सर्वथा रहित होने की स्थिति ही अहिंसात्मक स्थिति है।

'सर्वार्थसिद्धि' (७/२२/३६३/१०) में कहा गया है कि मन में राग आदि का उत्पन्न होना हिंसा है और न उत्पन्न होना अहिंसा और फिर, 'धवलापुस्तक' (१४/५,६,९३/५/१०) के लेखक ने कहा है—जो प्रमादरहित है, वह अहिंसक है और जो प्रमादयुक्त है, वह सदा के लिए हिंसक है इसलिए धर्म को अहिंसालक्षणात्मक ('परमात्म प्रकाश-टीका', २/६८) कहा गया है और अहिंसा जीवों के शुद्ध भावों के बिना सम्भव नहीं है। आत्मरक्षा की दृष्टि से भी अन्य प्राणियों की अहिंसा के धर्म का पालन अत्यावश्यक है। जो आत्मरक्षक नहीं होता, वह पररक्षक क्या होगा ? 'आत्मौपम्येन भूतेषु दया कुर्वन्ति साधवः' जैसी नीति के समर्थक सर्वजीवदयापरायण भारतीय नीतिकारों की 'आत्मानं सततं रक्षेत्' की अवधारणा इसी अहिंसा-सिद्धान्त पर आश्रित है।

''ज्ञानार्णव'' (८/३२) में अहिंसा जगन्माता की श्रेणी में परिगणित है। इस ग्रन्थ में जगन्माता के विमल व्यक्तित्व से विमण्डित अहिंसा के विषय में कहा गया है :

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः ।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥

अर्थात् अहिंसा ही जगत् की माता है क्योंकि वह समस्त जीवों का परिपालन करती है। अहिंसा ही आनन्द का मार्ग है। अहिंसा ही उत्तमगति है और शाश्वती, यानी कभी क्षय न होने वाली लक्ष्मी है। इस प्रकार, जगत् में जितने उत्तमोत्तम गुण हैं, वे सब इस अहिंसा में समाहित हैं।

इसीलिए तो 'अमितगति श्रावकाचार' (११/ ५) में कहा गया है कि जो एक जीव की रक्षा करता है, उसकी बराबरी पर्वतों सहित स्वर्णमयी पृथ्वी को दान करने वाला भी नहीं कर सकता। 'भावपाहुड' (टी० १३४/२८३) में तो अहिंसा को सर्वार्थदायिनी चिन्तामणि की उपमा दी गई है। चिन्तामणि जिस प्रकार सभी प्रकार के अर्थ की सिद्धि प्रदान करती है, उसी प्रकार जीवदया के द्वारा सकल धार्मिक क्रियाओं के फल की प्राप्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, आयुष्य, सौभाग्य, धन, सुन्दर रूप, कीर्ति आदि सब कुछ एक अहिंसाव्रत के माहात्म्य से ही प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार जैनशास्त्र में अहिंसा की प्रचुर महत्ता का वर्णन उपलब्ध होता है, जिसका सारतत्त्व यही है कि अहिंसाव्रत के पालन के निमित्त भावशुद्धि और आत्मशुद्धि के बिना राग द्वेष और प्रमाद का विनाश सम्भव नहीं है, अथच इन दोनों के विनाश के बिना अहिंसाव्रत का पालन असम्भव है।

जैनशास्त्र में हिंसा के चार प्रकार माने गये हैं-संकल्पी, उद्योगी, आरंम्भी और विरोधी। अकारण संकल्पजन्य प्रमाद से की जाने वाली हिंसा संकल्पी है। भोजन आदि बनाने, घर की सफाई आदि करने जैसे घरेलू कार्यों में होने वाली हिंसा आरम्भी है, जिसकी तुलना ब्राह्मण-परम्परा की स्मृति में वर्णित पंचसूचना दोष से की जा सकती है। अर्थ कमाने के निमित्त किये जाने वाले व्यापार-धन्धे में होने वाली हिंसा उद्योगी है और अपने आश्रितों अथवा देश की रक्षा के लिए युद्ध आदि में की जाने वाली हिंसा विरोधी है। इन चार प्रकार की हिंसाओं में सर्वाधिक खतरनाक संकल्पी

हिंसा है। यही हिंसा शेष तीन प्रकार की हिंसाओं का मूल कारण है। संकल्पी हिंसा का मन में उत्पन्न होना ही भीषण से भीषणतर नरसंहार की घटनाओं का कारण बन जाता है। मनुष्य के मन में जब हिंसा का संकल्प उदित होता है, तब वह निरन्तर अप्रशस्त ध्यान यानी आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान में रहता है। रौद्रध्यानी या आर्त्तध्यानी मनुष्य सदैव असत्य का आश्रय लेता है और असत्य वचन बोलने वाला निश्चित रूप से हिंसक होता है।

जैन शास्त्र में सत्य और असत्य के परिप्रेक्ष्य में हिंसा और अहिंसा पर भी बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया है। जैसा हुआ हो, वैसा ही कहना, अर्थात् यथाकथन ही सत्यकथन का सामान्य लक्षण है। "महाभारत" में व्यासदेव ने कहा है : 'यल्लोकहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति नः श्रुतम्।' इसका तात्पर्य है, जो अधिक से अधिक लोकहित-साधक है, वही सत्य है। स्पष्ट है कि लोक का हित अहिंसा से और उसका अहित हिंसा से जुड़ा हुआ है।

अध्यात्ममार्ग में 'स्व' और 'पर' दोनों के लिए अहिंसा अनिवार्य है। आत्मगत या परगत रूप में अहिंसा-धर्म के पालन के क्रम में सत्यकथन के निमित्त वचनगुप्ति, अर्थात् हित और मितवचन का प्रयोग आवश्यक होता है और यही हित और मितवचन सत्यवचन होता है। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती है कि अहिंसा के लिए 'कथंचित् असत्य' भी बोलना पड़ता है। और, नीतिकारों का कथन है कि 'प्रिय सत्य' बोलना चाहिए, 'अप्रिय सत्य' नहीं। तो, यह एक प्रकार की द्विविधा की स्थिति हो जाती है। किन्तु, जो ज्ञानी या मोहरहित पुरुष होते हैं, वे इस द्विविधा की स्थिति को बड़ी निपुणता से सम्भाल लेते हैं।

एक कहानी है कि एक बार, व्याध के बाण से आहत मृग आत्मरक्षा के लिए किसी मुनि के आश्रम में जाकर छिप गया। व्याध, उसका पीछा करता हुआ आश्रम में पहुँचा और मुनि से उसने पूछा कि आपने मेरे शिकार (मृग) को देखा है। मुनि अपने मन में सोचने लगे : 'यदि मैं सच कह देता हूँ, तो एक निरीह जीव की हिंसा हो जायगी और झूठ बोलता हूँ, तो मिथ्याभाषण का दोषी हो जाऊँगा। अन्त में यथार्थ कथन की एक युक्ति निकाली और व्याध से कहा :

यः पश्यति न स ब्रूते यो ब्रूते स न पश्यति।
अहो व्याध स्वकार्यार्थिन् किं पृच्छसि पुनः पुनः॥

अर्थात्, जो (नेत्र) देखता है, वह बोलता नहीं और जो (मुख) बोलता है, वह देखता नहीं। इसलिए, अपने मतलब साधने वाला व्याध ! तू (मुझसे) बार-बार क्या पूछता है ?

मुनि की बात सुनकर व्याध वहाँ से खिसक गया और इस प्रकार एक प्राणी की हिंसा होते-होते भी नहीं हुई। तो, सत्य और असत्य-भाषण की द्विविधात्मक स्थिति में भी युक्तिपूर्वक सत्य का पालन करना प्रत्येक सुजान व्यक्ति के लिए अपेक्षित है।

प्रसिद्ध जैनाचार ग्रन्थ 'बारसअणुवेक्खा' की गाथा सं० ७४ में लिखा है : 'जो मुनि दूसरे को क्लेश पहुँचानेवाले वचनों का त्याग कर अपने और दूसरे का हित करने वाला वचन बोलता है, वह सत्य धर्म का पालक होता है।'

यों सत्य की परिभाषाएँ अनेक हैं। किन्तु, मोटे तौर पर असत्य के विरुद्ध वाणी के समस्त प्रकार का प्रयोग असत्य है। जैनाचार्य पद्मनन्दिकृत 'पंचविंशतिका' में कहा गया है कि मुनियों को सदैव स्वपरहितकारक परिमित तथा अमृत सदृश सत्यवचन बोलना चाहिए। यदि कदाचित् सत्य वचन बोलने में बाधा प्रतीत हो, तो मौन रह जाना चाहिए। स्थूल सत्यव्रत तो यह है कि राग और द्वेष से विवश होकर असत्य नहीं बोलना चाहिए और सत्य भी हो, लेकिन प्राणिहिंसक हो, तो उसे भी नहीं बोलना चाहिए।

अनेकान्तवादी जैनदार्शनिकों की दृष्टि में विशुद्ध सत्य कुछ भी नहीं होता। अपेक्षया सत्य भी असत्य होता है और अपेक्षया असत्य भी सत्य होता है अर्थात् एक ही वस्तु अपेक्षया सत्य और अपेक्षया असत्य भी हो सकता है।

उदाहरण के लिए, कोई सच्ची किन्तु कड़वी बात किसी से कह दी गई और उससे उसके हृदय को चोट पहुँची, तो उक्त सच्ची बात अपनी यथार्थता की अपेक्षा से सच्ची (अहिंसाकारक) होते हुए भी कहने की अपेक्षा से झूठी (हिंसाकारक) बन गई। शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'पंकज' का सामान्य लोकरूढ़ अर्थ है कमल। किन्तु कमल केवल पंक से ही तो नहीं उत्पन्न होता, अपितु उसके लिए पंचभूत के सम्मिलित प्रभाव की अपेक्षा होती है। इस प्रकार कमल को 'पंकज' कहना लोकरूढ़ि की अपेक्षा से सत्य होते हुए भी पाँचभौतिक प्रभाव की अपेक्षा से असत्य है। इसलिए जैनदृष्टि किसी भी वस्तु को केवल सत्य न मानकर उसे सत्यासत्य या उभयात्मक या अनेकान्तात्मक मानती है। स्पष्ट है कि हिंसा की अपेक्षा से सत्य भी अग्राह्य है और अहिंसा की अपेक्षा से असत्य भी ग्राह्य है। और यहीं तब व्यास की पूर्वोद्धृत उक्ति चरितार्थ होती है कि 'यल्लोकहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति नःश्रुतम् ।' अर्थात्, अधिकाधिक लोकहित ही, चाहे वह जिस किसी प्रकार से हो, सत्य है।

महाभारत-युद्ध में युधिष्ठिर के द्वारा मंद्रस्वर से कही गई उक्ति, 'अश्वत्थामा हतः कुञ्जरो वा नरो वा' असत्यगन्धी होते हुए भी लोकहित की दृष्टि से असत्य नहीं थी। युधिष्ठिर के लिये आत्महित की अपेक्षा से उनकी युक्ति यदि असत्य (हिंसक) थी, तो व्यापक लोकहित की अपेक्षा से सत्य (अहिंसक) थी। अपने पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु-सूचना से, चाहे वह गलत ही थी, द्रोणाचार्य शोकाहत हुए और उनके द्वारा की जाने वाली भीषण विरोधी प्राणिहिंसा में शोक-शैथिल्यवश सहज ही न्यूनता आ गई, जो लोकहित या युद्धशान्ति के प्रयास के रूप में ही मूल्यांकित हुई।

प्राचीन युग में सत्य और अहिंसा के बहुत बड़े प्रवक्ता भगवान् महावीर हुए और अर्वाचीन युग में महात्मा गान्धी ने भगवान् महावीर के सत्य और अहिंसा की प्रासंगिकता को लोकतांत्रिक दृष्टि से अधिक-से-अधिक विकासात्मक व्याख्या की। दोनों ही महात्मा इस बिन्दु पर एकमत दिखाई पड़ते हैं कि अहितकारी सत्य भी असत्य और हितकारी असत्य भी सत्य है। उदाहरण के लिए, अगर किसी रोगी की हालत बिगड़ने लगती है, तो डॉक्टर हितभावना से उसको तसल्ली के लिए, उसके हृदय को मृत्यु के आतंक से बचाने के लिए उसके ठीक हो जाने का झूठा आश्वासन देता है। यह हितकारी होने के कारण असत्य होते हुए भी सत्य ही है। ठीक इसके विपरीत रोग की भीषणता की सत्य बात कहकर रोगी को आतंकित करने वाला व्यक्ति सत्य बोलते हुए भी अहितकारी होने के कारण असत्य या हिंसक वाणी बोलता है। इसी सन्दर्भ में 'लाटीसंहिता' में जिन-वचन का उल्लेख प्राप्त होता है :

> सत्यमपि असत्यतां याति क्वचिद् हिंसानुबन्धतः।
> असत्यं सत्यतां याति क्वचिद् जीवस्य रक्षणात् ॥

अर्थात्, जिस बात से जीवहिंसा सम्भव हो, वह सत्य होकर भी असत्य हो जाता है। इसी प्रकार, क्वचित् जीवों की रक्षा होने से असत्य वचन भी सत्य हो जाता है।

'अनगारधर्मामृत' में इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है :

> सत्यं प्रियं हितं चाहुः सूनृतं सूनृतव्रता।
> तत्सत्यमपि नो सत्यमप्रियं चाहितं च यत् ॥

जो वचन प्रशस्त, कल्याणकारक, आह्लादक तथा उपकारी हो, ऐसे वचन को सत्यव्रत पुरुषों ने सत्य कहा है, किन्तु वह वाणी सत्य होकर भी सत्य नहीं है, जो प्रिय और अहितकर, अर्थात् हिंसक है।

जैनधर्म की अहिंसा की यह व्याख्या अतिशय व्यावहारिक होने के कारण वर्तमान सन्दर्भ में भी अपना ततोऽधिक मूल्य रखती है।

●

Relativism (Syadavad or Anekantavad) and its Practice

Dr. Duli Chandra Jain

Professor of Physics, City University of New York, New York (U. S. A.).

"It takes different strokes to move the world......What might be right for you, may not be right for some." These are the lines from the title song of a television show "Different Strokes". Einstein said, "We can only know the relative truth. The absolute truth is known only to the Universal Observer." The great medieval Hindi poet, Tulsidas said :

हरि अनंत हरि कथा अनंता, कहहिं सुनहिं बहुविधि सब संता।

(God is infinite, the various sages and seers have been heard to depict Him in a variety of ways.)

If we consider the word God to represent truth, then this becomes the relativism of the Jain system. These are a few examples of the practice of the concept of multiplicity of viewpoints.

Let us first establish the need for practicing relativism. It is seen that, in many instances, the practice of any religion leads to superiority complex and intolerance of other's religious views. Vividus, in his book entitled "Jainism", has written, "At various times in history, the (religious) systems have been in authority in various parts of the world and by virtue of such authority, they have forced parts of mankind to accept them as guiding life, but this has added nothing to the sweet content of human civilization. Such enforcements have only left the bitter taste of their unwholesome memories." It is happening even today. This is violence. Our practice of relativism should enable us to avoid such violence. Further, relativism helps us develop a rational outlook towards life which is *Samyaktva*. Thus, relativism promotes the practice of nonviolence-the supreme religion.

Relativism (*Syadavad* or *Anekant*)—The Doctrine of Seven Aspects

According to the doctrine of seven aspects, there are seven angles of vision which are employed in the observation and interpretation of the entities and events of the universe. Further, the result of any observation depends on the viewpoint of the observer. This latter statement is the gist of Einstein's theory of relativity.

The seven aspects are :

1. **The positive aspect (*Syadasti*)**

2. The negative aspect (*Syada-nasti*)
3. The confluence of positive and negative aspects (*Syadastinasti*)
4. The inexpressible aspect (*Syadavaktavya*)
5. The positive inexpressible aspect (*Syadastiavaktavya*)
6. The negative inexpressible aspect (*Syadanastiavaktavya*)
7. The confluence of positive and negative, and inexpressible aspects (*Syadastinasti-avaktavya*)

According to the Jain scriptures, an entity (matter of soul or space or time) is indestructible. This is the positive aspect. However, considering the transformations of the various entities, the various forms of the entities keep on changing and thus they are not indestructible. This is the negative aspect. Obviously, a compromise of the two aspects is in order. From some viewpoint, it may not be possible to state whether a given entity is indestructible or not. This is the inexpressible aspect and so on and so forth.

Relativism And Modern Science

Now let us explore the realm of modern science for a few examples which illustrate the principle of relativism.

Every student of physics knows that a moving electric charge produces a magnetic field while an electric charge at rest does not produce any magnetic field. Consider that there is a charged sphere located in a space shuttle. The charge on the sphere is at rest relative to the astronaut in the space shuttle. Thus, the astronaut will not detect any magnetic field due to the charge on the sphere. However, the charged sphere is in motion relative to the scientists on earth. Thus, they will detect the magnetic field produced by the charged sphere moving along with the space shuttle.[1] Thus the charged sphere is producing a magnetic field (*Syadasti*) and it is not producing a magnetic field (*Syadanasti*).

Another example illustrates the inexpressible aspect of relativism. Light behaves like a train of waves in certain experimental situations while in certain other experimental situations, it manifests particle aspect. Interference and diffraction can be explained on the basis of wave theory of light. Photoelectric effect shows that light consists of a swarm of particles. Can we say whether a beam of light consists of wave motion or of a swarm of particles ? There is no unequivocal answer to this question according to modern science. As light waves behave like a swarm of particles under certain circumstances, particles such as electrons, protons and neutrons[2], behave like waves in certain scientific experiments. These are excellent examples of the doctrine of relativism.

---

1. Cosmology—Old And New, by Prof. G. R. Jain, published by Bharatiya Jnana-Pitha, New Delhi, 2nd Edition, pp. viii-ix, 1975.
2. Electrons, protons and neutrons are constituent particles of atoms.

Professor Prabhakar Machwe, in the article "Jainism and Modern Age", has written, "The second contribution of Mahavira to human intellect is the logic of probability."[3] Let me touch upon this briefly. If we toss a fair coin, will it land heads up ? It is the question of simple probability. Everyone knows that the probability of its landing heads up is one-half. We can also calculate the probability of its turning heads up 40 times in 100 tosses. We can find the probability of getting 5 heads in a row, and so on and so forth. However, we can not be certain of its turning heads up in a given toss, we can not be certain how many heads we will get when we toss the coin 10 times. This illustrates many aspects of relativism. Everyday we have to make decisions which in some ways are like tossing a coin. If we bear relativism in mind, we can have peace of mind regardless of the consequences of our decisions and actions.

Now let us consider the flight of a baseball or football. We can apply the laws of nature to predict the position and momentum[4] of the ball, and our computations will be in perfect agreement with our observations. However, if we apply a similar procedure to study the flight of an electron or a neutron, we will fail miserably, most of the times. We can only compute the probability of detecting the particle at a given position and having a certain momentum. Further, the more accurate the momentum, the less accurate is our estimate of the position of the particle and vice versa. This is known as the Heisenberg uncertainty principle. It is one of the fundamental postulates of wave mechanics or quantum mechanics. It serves as a very powerful tool for modern scientific investigations. Notice the parallel between relativism and modern scientific concepts.

The doctrine of seven aspects is an important contribution of Jain philosophers to the various schools of thought. In some ways, it is parallel to theory of relativity and quantum mechanics of modern science. Now the questions arise : How does relativism relate to our practice of religion ? How can it improve life on earth, in general, and our lives in particular ?

Relativism helps us make decisions in a rational manner. Further, it helps us learn to live with our decisions and with the consequences of our mistakes, as mentioned above. It enables us to develop a rational outlook towards life, and, promotes harmony and peace of mind. Thus, it leads to the three jewels (*Ratnatraya* or *Samyaktva*) of Jainism.

Practice of Relativism

Let us try a few examples. Let us try to answer some questions from different angles of vision. Remember that according to relativism, there are no right or wrong answers. The answers that seem to be correct and proper from one aspect may prove to be wrong and improper from another viewpoint. Much depends on our resources (*Dravya*)

3. Tirthankar (English), Nemichand Jain, editor, Volume 1, Number 1, January 1975, pages 8-12.
4. Momentum = mass × velocity.

situation (*Kshetra*), time (KALA) and intention (*Bhava*). The right or wrong depends on our viewpoint and circumstances. Sometimes mere chance or a turn of events beyond our control may determine the course of events in our lives.

Question : Does religion have a place in our lives ? In society ?

The great Jain poet, Daulatram, in *Chhahadhala* has written, "All living beings of the universe want happiness and they are scared of suffering."[5] Religion is supposed to show us the path to happiness. There are conflicts of interests. There is proverty, discrimination and hatred that lead to dissatisfaction and crime. In many cases, greed and selfishness lead to crime. The legal system and the so-called fight against crime are failing. We keep on putting better and better locks, and, people keep on devising more and more ingenious methods of breaking those locks. There is hunger and disease in the world. There is the threat of nuclear holocaust. Evidently, we can use religion in our lives. On an individual basis, we can keep our cool in the face of all these problems. Further, each one of us can make a contribution towards resolving the conflicts of interests in the society. We can look at the situation from others' viewpoints and help each other. This represents the positive aspect.

Now, let us look at the other side of the coin. Writing about the various religions in his book "Jainism", Vividus has stated, "No one system has commanded universal acceptance, though every system claims this position." This is the story of Jains against Hindus, Moslems against Christians, Sikhs against Hindus, Digambars against Shwetambars, etc. If we say that this is the truth, Mahavir is the only one to follow, Namokar Mantra is the mantra, then we are taking a one-sided view. We are abandoning relativism. We may be hurting other's feelings and committing violence. Most followers of religion take such a one-sided view of religion. Further, in pursuit of their religion, many times they act like greedy businessmen who wish to sell their one-sided view. This is the negative aspect of religious practice.

Does this mean that we should give up all religions ? Lose our identity ? Become atheists or agnostics ? In my view, the answer to these questions is a definite "No". A compromise is the solution. We should respect all religions. We should accept what is good in all religions. This is what relativism means. I think this is what being a Jain entails. This can be taken to be the confluence of positive and negative aspects.

The above discussion indicates that we, on an individual basis, are supposed to adopt the religious practices which we determine to be good for us, for other people and all living beings around us. Now I design a system for myself and follow it. The probability of my succeeding in my efforts can be calculated. However, it is not possible to predict whether I will succeed or fail. This can be taken as the inexpressible aspect. My system could be less than ideal but some favorable circumstances may lead me to success. On the

---

5. जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुख तें भयवन्त ।। (1.1)

other hand, there could be some developments beyond anybody's control and I may fail. However, if I have developed a rational outlook towards life through relativism, I can live with the successes and failures without losing my peace of mind.

The above discussion can be extended to cover the confluence of the positive, negative and inexpressible aspects. In sum, it should be remarked that relativism is the process of rational thinking.

Question : How does the practice of Jainism differ from that of other religions ?

According to the principles of Jainism, the deluding (Mohaniya) karma is the most undesirable type of karma. It is the deluding karma that prevents us from looking at things the way they are. It prevents us from attaining rationalism (*Samyaktva*). Having a rational perception (outlook) and acting in a rational manner are the means to improve our lives. These constitute the religious practice in Jainism. If a religious practice involves any kinds of delusion, it is undesirable. This is the abstract view of religion This is the view of religion obtained from absolute angle of vision *(Nishchaya Naya)*.

Now what about the practices like reading of scriptures, chanting, worshiping, religious observances, celebrating festivals, etc. ? These constitute the practical aspect of religion which is obtained from the practical angle of vision *(Vyavahar Naya)*. However, Jain scriptures have a word of caution about religious practices. In *Purusharthasiddhupaya*, Acharya Amritchandra has written :

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥

(Of the three jewels of Jainism, rational perception is the prime one. It should be religiously acquired and followed because it is the one which makes the knowledge and practice of religion truly meaningful).

It is noteworthy that *Samyakdarshan* which is commonly interpreted as "right belief is not identical with faith. Its authority is neither external nor autocratic. It is reasoned knowledge. One can not doubt its testimony. So long there is doubt, there is no right belief. But doubt must not be suppressed. It must be destroyed.[6]" Looking in the light of Acharya Amritchandra's remark, a given religious practice can be desirable or undesirable depending upon the outlook of the practitioner. However, it can not be expressed with certainty whether it is desirable or not. Thus, we can look at the various religious observances from positive, negative, inexpressible, etc., aspects.

Question : We are facing the conflicts of the Western and Eastern cultures. How do we deal with the problems arising out of these conflicts ?

6. Jainism by S. Radhakrishnan and Charles A. Moore, A Sourcebook In Indian Philosophy, Princeton University Press, Page 252, 1951.

This is an important question which is of practical importance. Our religion and traditions point in one direction. The pace of modern technological society impels us in another direction. Our values in some ways are different from those we observe in our present environment. There are questions of parties, entertainment, dating, parental discretion, personal freedom, marriage, divorce, etc. These problems are facing us, especially the teenagers of Indian background and their parents living outside India. This is, say, the positive aspect ; namely, we are facing the conflicts of the two cultures.

Now, let us look at the problem from another angle of vision. Human nature is basically the same. Human values are basically the same. The ten commandments of the Christian religion and the five vows of Jains—both teach us the way to lead a peaceful life. Parents in the West have the same concern for the wellbeing of their children as do parents in other parts of the world. Thus, we arrive at the negative aspect; namely, there is no conflict of the two cultures.

A confluence of the above two aspects appears to be closer to reality. Suppose we go to a party. The religious system that we have selected for ourselves excludes drinking and nonvegetarian foods. However, social drinking is an accepted custom in the West. Just because of this, do we have to drink at a party ? Do we have to take non-vegetarian food ? The answer to these questions is 'No'. There are Westerners who do not drink. There are people who hold a significant status in society and who are vegetarians. We can follow the examples of such people rather than adopt the practices of social drinking and of non-vegetarianism. In every situation, we can design a compromise without compromising the basic teachings of our religion. This approach may be considered as the confluence of the positive and negative aspects.

Finally, let us discuss this question on the basis of the confluence of positive and negative, inexpressible aspect. Let us assume that a person conducts himself properly and avoids conflicts between the Eastern and the Western cultures. He is well-liked by his family and relatives, friends and peers. Relativism tells us that this does not guarantee that he will be having or not having any future problems.

The above examples illustrate how we can practice relativism. The practice of relativism will help us in avoiding conflicts, violence, anger, aggravation, etc. It will help us develop a rational outlook towards life which is the key to peace and harmony.

•

योगि प्रत्यक्ष और ज्योतिर्ज्ञान

डा० विद्याधर जोहरापुरकर

प्राचार्य, केवलारी, म० प्र०

सामान्य व्यवहार में पाँच इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है। भारत में बहुप्रचलित धारणा है कि इन्द्रियों की सहायता के बिना भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। इसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष या मुख्य प्रत्यक्ष और इसकी तुलना में इन्द्रियप्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है।[१]

प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष के चार प्रकार बताये हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष। जैन परम्परा में भावसेन के प्रमाप्रमेय में यही वर्गीकरण स्वीकृत है। स्पष्ट है कि पूर्व परम्परा के मुख्य प्रत्यक्ष को यहाँ योगिप्रत्यक्ष कहा है।[२]

मुख्य प्रत्यक्ष के तीन प्रकार बताये हैं—अवधि, मनःपर्यय और केवल। ध्यान देने की बात है कि इनमें मनः-पर्यय और केवल तो योगी मुनियों के ही सम्भव माने गये हैं, परन्तु अवधिज्ञान योगी मुनियों के अतिरिक्त देव, नारक और विशिष्ट गृहस्थों को भी होना स्वीकार किया गया है।

योगिप्रत्यक्ष कैसे होता है? पूर्व परम्परा के अनुसार सम्बद्ध ज्ञानावरण कर्म के क्षय या क्षयोपशम से यह ज्ञान प्राप्त होता है। धर्मकीर्ति का कथन है कि योगिप्रत्यक्ष भूतार्थ भावना के प्रकर्ष से होता है। इस प्रकार यहाँ योगिप्रत्यक्ष के लिए अध्ययन और चिन्तन की पृष्ठभूमि आवश्यक मानी गई है।

जैन परम्परा में भी केवलज्ञान के लिए साधनभूत शुक्ल ध्यान की पहली दो अवस्थाएँ पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क जिस योगी के सम्भव होती हैं वह पूर्वविद् होता है। पृथक्त्ववितर्क में शब्दों और अर्थों की विभिन्नता के माध्यम से वस्तु का चिन्तन होता है और एकत्ववितर्क में विभिन्नता पीछे छूट जाती है।[3]

धर्मकीर्ति के व्याख्याकार प्रज्ञाकर ने अध्ययन और चिन्तन की पृष्ठभूमि के साथ योगिप्रत्यक्ष की प्राप्ति का वर्णन किया है।[४] विद्यानन्द की अष्टसहस्री में भी लगभग इन्हीं शब्दों का प्रयोग है।[५]

ज्ञान प्राप्ति की यह प्रक्रिया वैज्ञानिक शोध की प्रक्रिया से बहुत मिलती जुलती है। वैज्ञानिक को अपने विषय के पूर्ववर्ती अध्ययन से परिचित होना आवश्यक है। उस विषय के पृथक्-पृथक् पक्षों का चिन्तन-परीक्षण और उसके बाद निष्पन्न एक सिद्धान्त का प्रतिपादन ही वैज्ञानिक के कार्य को पूर्णता देता है।

---

१. अकलंक विरचित लघीयस्त्रय, श्लो० ४।

२. भावसेन कृत प्रमाप्रमेय, पृ० ४।

३. अकलंक विरचित तत्वार्थवार्तिक, खण्ड २, पृ० ६३२।

४. प्रमाणवार्तिक भाष्य, पृ० ३२७ : श्रुतमयेन ज्ञानेन अर्थात् गृहीत्वा युक्तिचिन्तामयेन व्यवस्थाप्य भावयतां तन्निष्पत्तौ यदविलषविषयं तदेव प्रमाणं तद्युक्ता योगिनः।

५. अष्टसहस्री पृ० २३५ : ते हि श्रुतमयीं चिन्तामयीं च भावनां प्रकर्षपर्यन्तं प्रापयन्तः अतीन्द्रियप्रत्यक्षमात्मसात् कुर्वते।

वैज्ञानिक के निष्कर्ष कई बार गलत भी होते हैं। क्या योगिप्रत्यक्ष भी भ्रान्त हो सकता है? जैन परम्परा में अवधिज्ञान तो भ्रान्त हो सकता है, मनःपर्यय और केवल नहीं। प्रज्ञाकर इस समस्या से परिचित हैं। वे कहते हैं कि अतीन्द्रिय विषयों का वर्णन तो सभी करते हैं किन्तु वह परस्पर विरोधी भी पाया जाता है। ऐसी स्थिति में जो प्रमाण-संवादी हो उसे हम प्रत्यक्ष कहेंगे और शेष को भ्रम।[1]

विद्यानन्द की अष्टसहस्री का उपर्युक्त प्रसंग इस सन्दर्भ में विशेष उपयोगी है। यहाँ प्रश्न उठाया गया है कि प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त आगम की क्या आवश्यकता है। आचार्य कहते हैं कि ज्योतिर्ज्ञान (ग्रह नक्षत्रों की गति आदि का ज्ञान) आगम से ही होता है, केवल प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं। शंका उठाई गई है कि सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष ज्ञान से ही तो ज्योतिर्ज्ञान हो जाता है। उत्तर दिया गया है कि सर्वज्ञ को योगिप्रत्यक्ष की प्राप्ति के पूर्व यदि पूर्ववर्ती उपदेश प्राप्त न हो तो उन्हें योगिप्रत्यक्ष की प्राप्ति नहीं होती।[2] श्रुत और चिन्तन के उत्कर्ष से ही योगिप्रत्यक्ष प्राप्त होता है।

आधुनिक दृष्टि से देखने पर यह स्वाभाविक जान पड़ता है कि ज्योतिर्ज्ञान पूर्व परम्परा से प्राप्त होता है। परन्तु इस परम्परागत उपदेश को प्रत्यक्ष निरीक्षणों के द्वारा निरन्तर जाँचना होता है और उसमें जो अंश प्रमाणसंवादी न हो, उसे भ्रम मानकर छोड़ना भी पड़ता है। विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में ज्योतिर्ज्ञान का विवरण एक-सा नहीं है। यह विभिन्नता यही दिखाती है कि इन विवरणों में यथार्थ के साथ भ्रम का कुछ अंश मिला हुआ है। इस अंश की पहचान आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों से काफी हद तक सम्भव हुई है। ऐसी स्थिति में ज्योतिर्ज्ञान के प्राचीन विवरणों पर आँख मूँद कर विश्वास करना सम्भव नहीं है। ज्योतिर्ज्ञान के परम्परागत अनेक रूप हमारे सामने हैं। उनमें कितना अंश सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा परीक्षित है—यह जानने का कोई साधन नहीं है। अतः अमुक एक विवरण सर्वज्ञोपदिष्ट है, इसलिए उस पर पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए—यह आग्रह करना उचित नहीं होगा।[3]

●

---

१. प्रमाणवार्तिक भाष्य पृ० ३२८ : अतीन्द्रियार्थं हि वचः सर्वेषामेव विद्यते परस्परविरुद्धं च। तथा पृ० ३२७; तत्र प्रमाण-संवादि यत् प्राग् निर्णीतवस्तुनः तद् भावनाजं प्रत्यक्षमिष्टं शेषा उपप्लवाः।

२. अष्टसहस्री पृ० २३५ : न च प्रत्यक्षानुमानाभ्यामन्तरेणोपदेशं ज्योतिर्ज्ञानादिप्रतिपत्तिः। सर्वविदः प्रत्यक्षादेव तत्प्रतिपत्तिः अनुमानविदां पुनरनुमानादपीति चेन्न। सर्वविदामपि योगिप्रत्यक्षात् पूर्वमुपदेशाभावे तदुत्पत्त्ययोगात्।

३. स्व० पं० सुखलालजी ने तत्त्वार्थसूत्र की भूमिका में तीसरे-चौथे अध्याय के विषय में लिखा था कि प्राचीन समय में ये धारणाएँ प्रचलित थीं। इस रूप में इनका अध्ययन करना चाहिए।

जैन धर्म : भारतीयों की दृष्टि में

(अ) भारत की आध्यात्मिक विरासत*

स्वामी प्रभवानंद

(अनु०) डा० करुणा जैन, बम्बई

जैन और जैनधर्म शब्द संस्कृत की 'जि' (जीतना) धातु से व्युत्पन्न हैं। जैन वह है जो अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य प्रदान करने वाली परम विशुद्धता की प्राप्ति में बाधक तत्वों को जीतने में विश्वास करता है। यही तो भारत के अन्य धर्मों की शिक्षा है। यह कहा जाता है कि जैनधर्म वैदिक धर्म के समान ही प्राचीन है। इस युग में वर्धमान महावीर (परम आध्यात्मिक गुरु) का नाम जैनधर्म के साथ एकीकृत हो गया है। लेकिन ये जैनों के चौबीस तीर्थंकरों की श्रेणी के अन्तिम महापुरुष थे। महावीर और बुद्ध की समकालीनता तथा अहिंसा सिद्धान्त के महत्व के कारण प्रारंभ में पाश्चात्य विद्वानों की यह धारणा थी कि जैनधर्म बुद्धधर्म की शाखा है। लेकिन वास्तव में ये दोनों धर्म भिन्न-भिन्न हैं तथा इनका विकास समानान्तर रूप में हुआ है। महावीर इस धर्म के संस्थापक नहीं हैं, वे (वर्तमान) चौबीसी में अंतिम थे। उनके दो सौ वर्ष तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए हैं। ये भी ऐतिहासिक महापुरुष हैं।

परंपरा के अनुसार, जैनधर्म अनादि है। इसके सिद्धान्तों का क्रमिक उद्‌घाटन तीर्थंकरों ने किया था। इसका ब्रह्मांड विज्ञान अन्य भारतीय विचारधाराओं के समानान्तर है क्योंकि वह प्रगति (उत्सर्पिणी) और अवनति (अवसर्पिणी) के ब्रह्मांडी चक्रों की श्रेणी मानता है। वर्तमान युग अवसर्पिणी चक्र में चल रहा है। इस अवसर्पिणी चक्र में चौबीस तीर्थंकर समय-समय पर अवतरित हुए हैं। इनमें भगवान् ऋषभ प्रथम थे और महावीर अंतिम थे।

फलतः इस अवसर्पिणीकाल में ऋषभ जैनधर्म के प्रथम उद्घाटक थे। इनका नाम ऋग्वेद में आता है। इनकी कहानी विष्णु और भागवत पुराणों में कही गई है। इन ग्रन्थों में इन्हें महासन्त बताया गया है।

इनके अन्तिम तीर्थंकर महावीर का जन्म ईसापूर्व छठवीं सदी के उत्तरार्ध में (आधुनिक) पटना से ३२ किमी० दूर वैशाली के पास बसाढ़ गाँव में हुआ था। इनके माता-पिता क्षत्रिय थे। उनका विवाह हुआ था और उनको एक पुत्री थी। बचपन से ही वे जिज्ञासु और विचारमग्न रहते थे। अट्ठाईस वर्ष की उम्र में उन्होंने संसार त्याग दिया। बारह वर्ष कठोर तपस्या और ध्यान के उपरान्त उन्हें पूर्ण ज्ञान (केवल) प्राप्त हुआ। उन्होंने जैन सिद्धान्तों का तीस वर्ष तक प्रचार किया और अन्त में निर्वाण प्राप्त किया।

महावीर की जीवनी बुद्ध के समान है। यह किसी भी धर्म के प्रचार के लिये आवश्यक व्यक्तिवादी तत्व जैन धर्म के लिए भी प्रस्तुत करती है। महावीर ने अहिंसा के सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाया। इससे जैन धर्म के प्रचार में बड़ा योगदान मिला। उन्होंने समाज को गृहस्थ और साधुओं की दो श्रेणियों में विभाजित किया। अन्त में उन्होंने अपने धर्म के द्वार, जाति या लिंग के विचार के बिना, सभी लोगों के लिए खोल दिये।

---

*. स्वामी प्रभवानन्द, स्पिरिचुअल हेरीटेज आव इण्डिया, रामकृष्ण मठ, मद्रास–४, १९७३ पेज १५५।

जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त सभी जैन सम्प्रदायों में समान हैं। ईसवी सदी के प्रारम्भ होते होते जैन दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में बँट गये। इसका कारण साधुओं के जीवन और आचार के नियमों से सम्बन्धित कुछ मतभेद थे। इसमें मुख्य यह है कि दिगम्बर शरीर की चेतना से रहित होकर निर्वस्त्र या नग्न रहते थे जब कि श्वेताम्बर श्वेत वस्त्र पहनते थे।

अंग, पूर्व और प्रकरण ग्रन्थ इनके प्रमुख धर्म ग्रन्थ हैं। उत्तरवर्ती काल में भी संस्कृत और प्राकृत में अनेक धर्म ग्रन्थ लिखे गये। इनमें जैन धर्म और दर्शन की व्याख्यायें हैं। भारत में लगभग पन्द्रह लाख जैन हैं। वे शान्तिप्रिय हैं। उनका हिन्दुओं से कोई टकराव नहीं है। फलतः सामान्यजन उन्हें हिन्दू ही मानते हैं।

जैन धर्म का लक्ष्य

जैन धर्म विश्व के आदि कर्ता को नहीं मानता। यह विश्व के आदि और अन्त को अविचारित और असंगत मानता है। विश्व में विद्यमान चेतन और अचेतन पदार्थ अनादि और अनन्त हैं। ब्रह्माण्ड की प्रकृति की व्याख्या के लिए दैववाद का आश्रय आवश्यक नहीं है। सृष्टि का बाह्य अस्तित्व ही उसकी स्वतन्त्र सत्ता के लिये पर्याप्त है। ईश्वर-कर्तृत्व समर्थक तर्कों में जैनों को अनवस्था दोष दिखता है। जैनों के लिए सृष्टिकर्तृत्व की कोई समस्या ही नहीं है। इसके अध्यात्मवाद में न हो ईश्वर का स्थान है और न ही विश्व के आदिमान होने की कल्पना है। फिर भी, यह प्रत्येक आत्मा की पूर्णता और अनन्त शक्ति में विश्वास करता है। यह पूर्ण आत्मा ही परमात्मा है। इसकी हम पूजा और अर्चा करते हैं। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की क्षमता है। इस मान्यता के कारण ही जैन धर्म अनीश्वरवादी नहीं माना जा सकता। यह आत्मा की अनन्त शक्ति एवं उसको प्राप्त करने की क्षमता में विश्वास करता है।

जैनों का कथन है कि राग-द्वेषादि कषायों को दमित करने से कर्म-बन्ध टूट जाता है। इससे आत्मा में परम पवित्रता आती है। इससे उसमें अनन्त ज्ञान, सुख और वीर्य प्रकट होते हैं और वह परमात्मा हो जाता है। इस क्षमता के कारण भूतकाल में अनेक परमात्मा हो गये हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। एक श्रद्धालु जैन की प्रार्थना निम्न रहती है :

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये॥

इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि जैन मानवी ईश्वर में विश्वास करते हैं। यह धारणा हिन्दुओं के अवतारों या ईसाइयों के ईश्वरपुत्र से काफी भिन्न है। उनकी पूजा का मुख्य उद्देश्य परमात्मा बनना है।

जैनों में जीवों की अनेक कोटियाँ होती हैं। जिन्होंने अनन्त चतुष्टय प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त कर लिया है, वे उच्चतम कोटि के जीव हैं—**सिद्धपरमेष्ठी**। इसके बाद **अर्हंत** आते हैं। इन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया है। ये मानवता की सेवा करना चाहते हैं। दयालु और स्नेही होते हैं। ये निर्वाण प्राप्त करने तक धर्मोपदेश देते हैं। ये विभिन्न युगों में मानव के हित के लिये अवतरित होते है। इनके अतिरिक्त अन्य तीन कोटियों में (आचार्य, उपाध्याय और साधु) शिक्षक या उपदेशक होते हैं। इन्होंने शरीर और आत्मा के भेद ज्ञान का किंचित् अनुभव कर लिया है। जीवों की इन पाँचों ही श्रेणियों का चरम लक्ष्य अनन्त चतुष्टय के विभिन्न चरण प्राप्त करना है।

जीवन का सर्वोत्तम विकास सिद्ध परमेष्ठियों में होता है। वे परम निरपेक्ष, निर्विकार, वीतराग और वीतकर्म होते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से, मोक्ष कर्मबंध तथा पुनर्जन्म से मुक्ति पाने की चरम स्थिति है। अन्य भारतीय विचार-धाराओं के अनुसार, जैन धर्म भी कर्मवाद और पुनर्जन्म मानता है। पर जैन कर्म को भौतिक पदार्थ मानते हैं जो

आत्मा के साथ जुड़ कर उसे सरागी संसार में बाँध देता है। यद्यपि कर्म भौतिक है, पर यह इतना सूक्ष्म है कि इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। इसी कर्म के कारण जीव अनादि भूत से वर्तमान तक संसार में बना हुआ है। फलतः यद्यपि कर्मबन्ध अनादि है, पर इसे समाप्त किया जा सकता है। आत्मा तो मुक्त और शक्तिवान् है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव प्राप्त होते ही कर्म नष्ट हो जाते हैं। वेदान्ती भी अविद्या या अज्ञान को अनादि और सान्त मानते हैं।

आत्मा और कर्म का बन्ध किसी बाह्य कारण से नहीं होता। यह तो कर्म से ही होता है। जब आत्मा बाह्य जगत् के सम्पर्क में आता है, उसमें राग-द्वेष की इच्छाओं के समान अनेक मनोवैज्ञानिक आवेग उत्पन्न होते हैं। ये आत्मा के सहज लक्षणों को ढंक देते हैं और कर्मप्रवाह को प्रेरित करते हैं। बाद में यह उसे परिवेष्ठित कर लेता है। आत्मा में सूक्ष्म कर्मों के प्रवाह को आस्रव कहते हैं। यह जैनों का एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। यह कर्मबन्ध का पहला चरण है। इसका दूसरा चरण कर्मबन्ध स्वतः है, जिसे बन्ध कहते हैं। इसमें कर्म के अणु आत्मा के कार्माण शरीर का निर्माण करते हैं। इससे आत्मा कर्म-पूरित हो जाता है। जीव का भौतिक शरीर मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है, पर कार्माण शरीर बना रहता है। यह कार्माण शरीर हिन्दुओं के सूक्ष्म शरीर का समरूप है। यह भी निर्वाण-प्राप्ति के पूर्व तक रहता है।

संवर या संयम से कर्म से मुक्ति होती है। संयम के अभ्यास से नये कर्मों का आस्रव रुक जाता है। इससे नैतिक तथा आध्यात्मिक अनुशासन को प्रेरणा मिलती है। यह पूर्व कर्मों को निर्झरित करता है। निर्जरा के समय पुनर्जन्म समाप्त हो जाता है और प्राथमिक मुक्ति प्राप्त होती है। पूर्ण मुक्ति के लिये दो चरण बहुत आवश्यक हैं। प्रथम चरण अर्हत् पद की प्राप्ति है। इसमें कर्म-मुक्त ज्ञानी जीव संसार में बना रहता है, वह वीतरागी होकर मानवता की सक्रिय रूप में सेवा करता है। यह हिन्दुओं की जीवन्मुक्त दशा का प्रतिरूप है। द्वितीय चरण में जीव संसार छोड़ देता है। इस दशा में वह अकर्म रहता है, पूर्ण रहता है। इस दशा को सिद्ध दशा कहते हैं। यह अनन्त ज्ञान और शान्ति का निलय है।

मोक्ष-प्राप्ति के उपाय

मोक्ष सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र की त्रिरत्नी से प्राप्त होता है। ईसाइयों की विश्वास, उपदेश एवं प्रवृत्ति की त्रयी इसी का एक रूप है। ये तीनों ही एक इकाई हैं। सम्यक् दर्शन जैनों के उपदेशों में दृढ़ विश्वास का प्रतीक है। सम्यक् ज्ञान जैन सिद्धान्तों का समुचित परिज्ञान है। सम्यक् चारित्र जैन सिद्धान्तों के अनुरूप जीवन यापन की व्यावहारिक विधि है। इनमें सम्यक् दर्शन नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन मूल्यों की आधार शिला है। इसके लिये अज्ञान, अंधविश्वास या मूढ़ताओं से मुक्त होना आवश्यक है। पवित्र नदियों में स्नान करना, काल्पनिक देवताओं की पूजा तथा अनेक प्रकार के यज्ञ यागादि करना आदि इसके उदाहरण हैं। इनके साथ ही, सम्यक् दर्शन के लिये निरभिमानता भी आवश्यक है। सम्यक् दर्शन से सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र स्वतः स्फूर्त होते हैं।

सम्यक् चारित्र में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच व्रत समाहित होते हैं। जब ये सीमारहित होते हैं, तब महाव्रत कहलाते हैं। इनका पालन साधु करते हैं। इस प्रकार जैन धर्म में साधु और सामान्य जन के आचार में अन्तर माना गया है।

अन्य भारतीय पद्धतियों के समान ही, जैन धर्म में भी मनुष्य जन्म को आत्म-पूर्णता का साधन माना गया है। स्वर्ग के देव और देवियों को भी, मोक्ष प्राप्ति के लिये, मनुष्य जन्म लेना अनिवार्य है। इसीलिये मनुष्य योनि में जन्म लेना पुण्याशीर्वाद माना जाता है।

ई० डब्लू० होपकिन्स ने ईश्वर विरोध, मानव पूजन और जीव संरक्षण के जैन सिद्धान्तों पर अपनी पुस्तक में व्यंग्य किया है। इस प्रकार तो किसी भी धर्म के विषय में कहा जा सकता है। जैन धर्म ने पराब्रह्माण्डीय एवं

सर्वव्यापी व्यक्तित्व का निषेध किया है लेकिन यह अमर आत्म एवं परमात्मशक्ति को मानता है। यह पूर्ण दिव्य पुरुषों, सन्तों, महापुरुषों को मान्यता देता है। महात्मा ईसा भी इसी कोटि के सन्त हैं। जैनों का अहिंसा सिद्धान्त सभी जीवों पर लागू होता है। यह ईसा के दश उपदेशों में से एक है। पश्चिम में इसे पर्याप्त अपूर्णता के साथ ही माना जाता है।

सभी भारतीय धर्मों के अनुसार, जैन धर्म भी स्वयं को सर्वोच्च धर्म नहीं मानता। इसके अनुसार, अन्य धर्म वाले भी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। किसी भी एक सिद्धान्त में पूर्णता नहीं आ सकती, अतः हमें एक-दूसरे के मतों के प्रति सहिष्णु बनना चाहिये।

जैन तत्त्व विद्या

जैनों के जीवन से सम्बन्धित दृष्टिकोण में ही जैन तत्त्व विद्या का कठिन विषय समाहित होता है। इसके अनुसार, संसार के वस्तु तत्त्व-द्रव्य अनादि और अनन्त हैं, उनमें उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य की त्रयी युगपत् होती है। यह अविरत जन्म और मृत्यु के दौरान अपना स्थायित्व एवं व्यक्तित्व बनाये रखता है। गुण और पर्यायों के परिवर्तन के दौरान भी उसकी सत्ता अमिट रहती है। सोने के अनेक आभूषण बनते रहते हैं, पर सोना सोना ही बना रहता है। एक पर्याय नष्ट होती है, दूसरी उत्पन्न होती है, पर मूल तत्त्व यथावत् बना रहता है।

पदार्थ और उसके गुण एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। यद्यपि दृष्टा के मन में इनके विषय में विभेदक ज्ञान है, फिर भी ये एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। इसे ही भेद-अभेद वाद कहते हैं। यह न्याय-वैशेषिक मत के विपर्यास में है। यह इनमें भेद मानता है।

जैनों के अनुसार, ब्रह्मांड की संरचना में छह अनादि और अनन्त द्रव्य हैं। जीव, अजीव, धर्म (गति-माध्यम), अधर्म (स्थिति माध्यम) और आकाश नामक प्रथम पाँच द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं। इनके अनेक प्रदेश (अवगाहना) होते हैं। इनमें एक-विमी काल को जोड़ने पर जैनों के जड़-चेतन जगत में छह द्रव्य माने गये हैं। ये द्रव्य दो कोटियों में आते हैं—जीव (चेतन) और अजीव (अचेतन)। इनमें चेतना के अस्तित्व व अभाव के कारण भेद होता है।

जीव जीवन और चेतना से सम्बन्धित है। चेतना भौतिक गुण नहीं है, यह तो आत्मा का स्वलक्षण है। यह पदार्थ-निरपेक्ष गुण है। वस्तुतः आकाश के उस पार आत्मा स्वतन्त्ररूप में रह सकता है। आत्मायें अनन्त हैं, अनादि हैं। संसार में जन्म और मृत्यु आत्मा के गुण नहीं है। ये कर्म-बन्ध की दशा की पर्यायें हैं। इस जड़-चेतन जगत में कर्म-बन्ध के कारण ही जीव शरीर धारण करता है। इस शरीर का माप शरीरधारी के अनुरूप होता है।

इस विश्व में चार प्रकार के जीवात्मा होते हैं—पहले स्वर्गों में रहनेवाले देव होते हैं। विकास के क्रम में ये मानव से उच्चतर होते है। फिर भी, ये स-शरीरी होते हैं। इनका भी जन्म-मरण होता है। स्वर्ग ऐसे स्थान माने गये हैं जहाँ मनुष्य जन्म लेकर अपने शुभ कर्मों के फलों का आनन्द लेते हैं। देवों को निर्वाण प्राप्ति के लिये मनुष्य जन्म लेना ही पड़ता है। जीवों की दूसरी श्रेणी मनुष्यों की है। इसके बाद तिर्यंचों की श्रेणी (पशु और वनस्पति) आती है। चौथी श्रेणी के जीव नारकी कहलाते हैं। ये ब्रह्मांड के निचले भाग में रहते हैं। हम नरक और स्वर्ग की निश्चित स्थिति नहीं बता सकते। लेकिन जैन और हिन्दू यह मानते हैं कि मनुष्य मृत्यु के बाद इन स्थानों में जन्म लेता है। शुभ कर्मी मनुष्य देवगति में तथा अशुभ कर्मी नरक गति मे जन्म लेते हैं। आयु पूर्ण होने पर वे पुनः मर्त्यलोक में आते हैं।

चारों श्रेणियों के जीव अपने वर्तमान या विगत जीवन में किये गये कर्मों के अनुसार सुखी या दुःखी होते हैं। वे अपने सहज स्वभाव के अज्ञान से जन्म और मृत्यु के चक्र में रहते हैं।

कर्म बन्ध से मुक्त होने पर मनुष्य मोक्ष पाता है। जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। वह वीतरागी होकर अनन्त चतुष्टय से परिपूर्ण रहता है। मोक्ष प्राप्त करनेवाले शुद्ध जीव को सिद्ध कहते हैं। इसके विपर्यास में, अन्य सभी जीव संसारी और सशरीरी होते हैं। वे कर्म-सहचरित होते हैं। इनका वर्गीकरण ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर किया जाता है।

निम्नतम स्तर के जीवों में केवल एक ज्ञानेन्द्रिय होती है। ये जीव वृक्ष, पौधे आदि वनस्पतियों के रूप में होते हैं। इनमें स्पर्शन इन्द्रिय होती है। ये सूक्ष्म कोटि के भी होते हैं और वनस्पतियों से कुछ उच्चतर श्रेणी के होते हैं। ये पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु में होते हैं। इन सूक्ष्म जीवों की मान्यता के इस सिद्धान्त की प्रायः सर्वात्मवाद के रूप में मिथ्या व्याख्या की जाती है। इसके अनुसार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु स्वयं सजीव होते हैं। इस मिथ्या व्याख्या के लिये कोई वास्तविक आधार नहीं है। कृमि कुल वनस्पतियों से उच्चतर कोटि का होता है। इनके स्पर्श और रसन— ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। चींटी चौथी श्रेणी को निरूपित करती है। इसमें स्पर्शन, रसन और घ्राण-तीन इन्द्रियाँ होती है। इसी श्रेणी की मधुमक्खी में चार इन्द्रियाँ होती हैं। उच्चतर जीवों में पाँच इन्द्रियाँ होती है। जीवों की सर्वोच्च श्रेणी पर मनुष्य आता है जिसमें पाँच इन्द्रियों के अतिरिक्त मस्तिष्क या मन भी होता है। यह ध्यान में रखना चाहिये कि जीवों की इन्द्रियाँ या शरीर उसके जीव-गुण नहीं हैं। जीवगुण तो केवल चेतना है। निम्न श्रेणी के जीवों में यह गुण सुषुप्त रहता है। उच्चतर श्रेणियों के जीवों में विकसित होते हुए यह शुद्धात्माओं में पूर्ण अभिव्यक्ति पाता है।

यह विश्व जीव और अजीवों का समुदाय है। अजीव अक्रिय एवं अचेतन होता है। मूल अजीव भी अनादि और अनन्त है। यह पुद्गल, धर्म (गति माध्यम), अधर्म (स्थिति माध्यम), आकाश और काल के भेद से पाँच प्रकार का है। इनमें पुद्गल भौतिक है, काल अप्रदेशी है, अन्य सभी अमूर्त हैं।

पुद्गल या पदार्थों में रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द आदि इन्द्रिय गोचर गुण पाये जाते हैं। यह ज्ञाता जीव से स्वतन्त्ररूप में पाया जाता है। यह विश्व का भौतिक आधार है। यह परमाणुओं से बना होता है। परमाणु निरवयवी, आदि-मध्यान्त रहित, अनादि, अनन्त एवं चरम होता है। यह पुद्गल का अल्पतम आधार है, अनाकार है। दो या अधिक परमाणुओं के संयोग को स्कन्ध कहते है। विश्व को महास्कन्ध कहते हैं। प्राथमिक परमाणुओं में कोई भेद नहीं होता, पर अनेक विविध संयोगों से भिन्न-भिन्न पदार्थ बनते हैं। इस आधार पर जैन तत्व विद्या के परमाणु न्याय-वैशेषिकों से भिन्न है। ये उतने परमाणु मानते हैं जितने मूल तत्व होते हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। परमाणुओं के संयोग, वियोग एवं क्रियायें अमूर्त आकाश, धर्म और अधर्म द्रव्यों के उदासीन कारण से होते हैं। आकाश अनन्त है एवं वास्तविक है। यह स्वयं को तथा अन्य द्रव्यों को अवगाहित करता है।

धर्म और अधर्म द्रव्य जैन दर्शन की विशिष्ट मान्यता है। गति और स्थिति जीव और पुद्गलों में ही पाई जाती है। ये दोनों भी, क्षमता होने पर भी, इन द्रव्यों के कारण ही विश्व में व्याप्त रहते हैं। ये द्रव्य उदासीन कारण होते हुए भी गति एवं स्थिति के लिये अनिवार्य है। धर्म के लिये जल में मछली की गति का और अधर्म के लिये पक्षी की स्थिति का उदाहरण दिया जाता है। दोनों ही द्रव्य विश्व के व्यवस्थित संघटन के लिये आवश्यक माने गये हैं।

काल द्रव्य भी एक वास्तविकता है। यह अप्रदेशी है। यह विकास और प्रत्यावर्तन, उत्पाद और विनाश के लिए अनिवार्य है। ये प्रक्रियायें विश्व-जीवन की मूल हैं। काल के बिना इन प्रक्रियाओं के विषय में सोचा भी नहीं जा सकता। जीव और उपरोक्त पाँच अजीव द्रव्य मिलकर जैन तत्व विद्या के छह द्रव्य होते हैं। जैन तत्वों और पदार्थों के वर्गीकरण की समीक्षा आवश्यक है। इस वर्गीकरण में सात तत्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य और दृष्टिकोण तथा उद्देश्य पर आधारित दो अन्य तत्वों (ए० चक्रवर्ती) का समाहरण है। इस जटिल विषय को सारणी के माध्यम से समझने में सरलता होगी।

तत्व (चरम) २ : जीव, अजीव

द्रव्य ६ : जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल (पाँच अजीव), इनमें प्रथम पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते हैं। काल इनसे भिन्न है।

तत्व ७ : जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष

पदार्थ ९ : जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप

जैनों का तर्कशास्त्र एवं ज्ञान का सिद्धान्त

जीव की प्रकृति शुद्ध चेतनरूप है, अतः उसके अनंतज्ञान भी सहज है। लेकिन यह ज्ञान कर्म-जनित अज्ञान से ढंका रहता है। कर्मों के प्रभाव से जीवों में केवल सीमित ज्ञान होता है। जैसे-जैसे कर्म-बन्ध कम होते जाते हैं, अनंत ज्ञान रूप सहज स्वभाव प्रकट होने लगता है। इच्छायें, राग-द्वेष, अहंभाव आदि ज्ञान के बाधक हैं। संयम से सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति के लिये ज्ञान के पांच चरण होते हैं, मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवल। मति सामान्य ज्ञान है। इसमें इन्द्रियज्ञान, स्मृति व अनुमान समाहित हैं। इसमें इन्द्रिय और मन की सहायता से ज्ञान होता है, अतः इसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं। यह पारिभाषिकता पाश्चात्य मनोविज्ञान की धारणा के विपरीत है। इसके अनुसार, इन्द्रियों (तथा मन) के माध्यम से प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता है। श्रुत ज्ञान शास्त्रज्ञान है। यह भी परोक्ष माना जाता है। यह ज्ञान स्वयं प्राप्त नहीं किया गया है। अवधि ज्ञान अतीन्द्रिय दृष्टि एवं श्रवण के मनोवैज्ञानिक सामर्थ्य से प्राप्त ज्ञान को कहते हैं। यह ज्ञान इन्द्रियों के साक्षात् संपर्क पर निर्भर नहीं करता, अतः इसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। मनःपर्यय ज्ञान दूसरों के मन को जानने की प्रक्रिया है। जब मनुष्य अज्ञान से पूर्णतः मुक्त होकर शुद्ध चैतन्यमय हो जाता है, तब जो पूर्णज्ञान होता है, उसे केवल ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान प्रत्यक्ष और तत्काल होता है। यह इन्द्रिय और मन पर निर्भर नहीं करता। यह अनुभवगम्य है। इसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। केवल ज्ञान उपनिषदों के भावातीत ज्ञान एवं बौद्धों के निर्वाण के समकक्ष है।

सामान्य मनुष्य को पाँच ज्ञानों में से प्रथम दो—मति और श्रुत होते हैं। संयमी और ज्ञानियों को चार ज्ञान तक हो सकते हैं। लेकिन केवलज्ञान तो परमविशुद्ध चैतन्ययुक्त जीव के ही संभव है।

जीव और अजीव—दोनों वास्तविक हैं। अपने अस्तित्व के लिये ये एक दूसरे पर निर्भर नहीं हैं। बाह्य पदार्थों का अस्तित्व जीवाधीन नहीं है। इस प्रकार जैनधर्म को बहुत्ववादी धर्म माना जा सकता है। यह जीव और अजीव—दोनों को अनादि, अनंत, स्वाधीन और बहुसंख्यक मानता है।

जैन तत्वविद्या का विवरण जैन न्याय के उस सिद्धान्त के निरूपण के बिना अधूरा ही कहा जायगा जिसको पाश्चात्य भौतिकी के सापेक्षता सिद्धान्त का पूर्वरूप माना जा सकता है। इसके अनुसार, एक ही वस्तु के विषय में सकारात्मक और नकारात्मक निरूपण किये जा सकते हैं। इसे अस्ति-नास्तिवाद कह सकते हैं। इसे सप्तभंगी कहते हैं। इस मत की परीक्षा करने पर इसको आभासी विसंगति में तर्कसंगतता के संकेत मिलते हैं। किसी वस्तु के विषय में सकारात्मक निरूपण के लिये चार दशायें आवश्यक हैं—स्वगत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव (परिणमन)। इसी प्रकार उसके नकारात्मक निरूपण में भी चार दशायें आवश्यक हैं—परद्रव्य, परक्षेत्र, पर-काल, पर-भाव। इसे हम एक दृष्टान्त से समझें। यदि हम सोने के बने आभूषण का वर्णन करना चाहें, तो उसे निम्नरूपों में किया जा सकता है :

(i) द्रव्य — यह आभूषण सोने का बना है।
यह आभूषण किसी अन्य धातु का बना नहीं है।

(ii) क्षेत्र	यह आभूषण बक्स में रखा है।
	यह आभूषण आलमारी में नहीं रखा है।
(iii) काल/स्थिति	यह आभूषण आज बना है।
	यह आभूषण कल नहीं बना था।
(iv) भाव/परिणमन	यह आभूषण गोल है।
	यह आभूषण आयताकार नहीं है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर एक ही वस्तु के विषय में सकारात्मक और नकारात्मक निरूपण किये जा सकते हैं। हाँ, एक ही दृष्टिकोण से ऐसा करना असंगत होगा। यह सिद्धान्त अवास्तविक वस्तु पर लागू नहीं होता। जैनधर्म के अनुसार, किसी भी वस्तु के विषय में निरपेक्ष निरूपण संभव नहीं है। वास्तविकता इसे स्वीकार नहीं करती। यह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है। इसलिए जैनदर्शन अनेकांतवादी माना जाता है—विविधता में एकरूपता। इसी धारणा से बहुवादी विश्व का सामान्य सिद्धान्त विकसित हुआ है।

(ब) खुशवंत सिंह के भारत के विषय में विचार*

डा० के० जैन,
भिंड, म० प्र०

भारत में जैनों और बौद्धों की संख्या अधिक नहीं है। जो है भी, उन्हें हिन्दू ही माना जाता है। इनका केवल ऐतिहासिक महत्त्व है क्योंकि ये ब्राह्मणवादी हिन्दुओं के विरोध में घटित आन्दोलनों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्होंने उत्तरवर्ती हिन्दुओं को प्रभावित किया है।

जैनधर्म

जैन शब्द 'जिन' धातु (जीतना) से व्युत्पन्न हुआ है, अतः जैन वह है जिसने स्वयं (के दोषों) पर विजय पाई हो। जैनों का विश्वास है कि उनके धर्म का विकास चौबीस तीर्थंकरों (नदी का घाट पार करने वाले) ने किया है। इनमें ऋषभनाथ, अजितनाथ तथा अरिष्टनेमि ने इनके सिद्धान्तों को व्यवस्थित किया है। इनके अधिकांश तीर्थंकर चरित्र पौराणिक हैं। लेकिन इनके तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ (८७२-७७२ ई० पू०) और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर (५९९-५२७ ई० पू०) के विषय में विश्वसनीय ऐतिहासिक साक्ष्य पाये जाते हैं। यह विश्वास करने के कारण है कि जैनधर्म का प्रारंभिक विकास ब्राह्मणवादी हिन्दूधर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ। जैनों ने अन्य धर्मों से भी प्रेरणा ग्रहण की। इनमें पारसीधर्म प्रमुख है जो उसी समय ईरान में विकसित हो रहा था। जैन पुराणों का आवर्ती लक्षण यह है कि इन सभी में पीढ़ी-दर-पीढ़ी भलाई और बुराई के बीच लगातार युद्ध दिखाया गया है। कायन और ऐबल (Cain and Abil) के बीच भ्रातृघाती सामन्तप्रथा का द्वन्द्व दिखाया गया है। प्रकाश और अंधकार के बलों के बीच युद्ध बताया गया है। जरथुस्त के उपदेशों का केन्द्र बिन्दु भी अहुर मज्दा और अंगु मेन्यु के बीच युद्ध ही रहा है। पारसी पिशाच को कंधों पर बने हुए सांप के रूप में निरूपित करते हैं। यही बात जैन प्रतिमाओं (पार्श्वनाथ) में भी पाई जाती है। यद्यपि जैन विद्वान् वैदिक युग से ही जैनधर्म की उत्पत्ति मानते है, पर अधिकांश सामान्यजन महावीर को ही इसका संस्थापक मानते हैं।

---

* संपादक राहुल सिंह, आइ० बी० एच० पब्लिशिंग कंपनी, बम्बई, १९८२ पेज ५६-५७।

वर्धमान महावीर का जन्म पटना के उत्तर में स्थित कुंडग्राम में ५९९ ई० पू० में हुआ था। वे एक जागीरदार के द्वितीयपुत्र थे और विलासी वातावरण में इनका लालन-पालन हुआ। जैन परिगणन प्रिय होते हैं। तदनुसार, महावीर का पालन पाँच सेविकायें (नर्सेज) करती थी और वह पाँच प्रकार के सुख भोगते थे। युवावस्था में उनका विवाह हुआ। वे एक पुत्री के पिता बने। लेकिन पुत्री, पत्नी एवं राजकाज में उनका मन नहीं लगता था। माता-पिता की (संभवतः आत्महत्या से) मृत्यु होने पर उसने अपने बड़े भाई से सन्यास लेने की आज्ञा माँगी। इस समय उनकी आयु तीस वर्ष की थी। बारह वर्ष तक उन्होंने ध्यान किया, उपवास किये। ध्यान के समय वे ऐसा आसन लगाते थे जिसमें एड़ी जुड़ी रहें और ऊपर रहे, मस्तिष्क नीचा रहे और सूर्य के सामने रहे। पूर्ण ध्यान की अवस्था में उन्हें केवलज्ञान या सर्वज्ञता प्राप्त हुई। वह निर्ग्रन्थ हो गये।

महावीर ने वस्त्रों का त्याग किया। उन्होंने नग्न होकर तीस वर्ष तक स्थान-स्थान पर विहार किया। वे किसी से बोलते नहीं थे। कहीं भी एक रात से ज्यादा नहीं ठहरते थे। वह कच्चा (या उबाला) भोजन करते थे और छना पानी पीते थे। वे कृमियों को शरीर पर रहने देते थे। वे अपने साथ एक पीछी रखते थे जिससे चलते समय मार्ग में जीवों को हानि न पहुँचे। जनता प्रायः उन पर व्यंग्य कसती थी और उन्हें कष्ट देती थी। लेकिन वे किसी से कुछ नहीं कहते थे। उनका निर्वाण ५२७ ई० पू० में हुआ। जैनों के अनुसार वे बहत्तर वर्ष की उम्र में जन्म, वृद्धावस्था एवं मृत्यु के बंधनों से मुक्त हुए।

अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के समान महावीर ने भी जैन सिद्धान्तों का वर्गीकरण और परिगणन किया है। इस वर्गीकरण की कुछ प्राथमिकतायें यहाँ दी जा रही हैं। नौ प्रकार के पुण्य कार्य होते हैं, अठारह प्रकार की पापक्रियायें होती हैं, पापमय कार्यों के दण्ड के बयासी प्रकार हैं। ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल के भेद से पाँच प्रकार का है। इस सिद्धान्त के विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है। उनका जीव-शक्ति सिद्धान्त धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

महावीर ने बताया कि सभी सजीव एवं निर्जीव पदार्थों में जीव होता है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं वनस्पति सभी में जीवन होता है। किसी का जीवन लेना सर्वाधिक घृणित कार्य है। निर्मम तर्क के आधार पर एक जैन ग्रन्थ में कहा है, "जो बत्ती जलाता है, वह जीवहत्या करता है। जो इसे बुझाता है, वह अग्नि की हत्या करता है।" जैन हाइलोजोइज्म का यह एक चरम उदाहरण है।

जैनों में कर्म या क्रिया के सत्तावन भेद हैं। इनकी प्रकृति कणमय होती है। ये जीव में प्रवाहित होते हैं और उसे भारी बनाते हैं। यह ठीक उसी प्रकार मानना चाहिये जैसे शरीर में संचित यूरिक अम्ल गठिया रोग उत्पन्न करता है और बोरे में बालू भरने से वह भारी हो जाता है। आत्मा या जीव एक बुलबुले या गुब्बारे के समान है जिसमें ऊर्ध्वगामी वृत्ति होती है। कर्म के कारण यह भारी हो जाता है। कर्म न केवल हमारे वर्तमान सांसारिक अस्तित्व या रूप को प्रभावित करता है, अपितु यह हमें जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म के चक्र में भी फँसाये रखता है। मानव जीवन का उद्देश्य संवर के द्वारा कर्मों का आस्रव रोकना तथा तप के द्वारा एकत्र कर्मों की निर्जरा करना है। यह निर्जरा तब पूरी मानी जाती है जब कर्मबीज पूर्णतः नष्ट हो जाता है।

जैन निष्क्रिय धर्म नहीं है। यह ऐसी क्रियाओं की अनुशंसा करता है जिनसे मानव के भूतकालीन कर्म और इच्छायें समाप्त हो जावें। जैन ग्रन्थों में लिखा है, "तुम अपने ही मित्र हो, तुम अपने से भिन्न किसी अन्य मित्र की क्यों खोज रहे हो? जीव स्वयं का निर्माता है। यह सुख-दुःख का कर्ता है, अपने भले-बुरे की दशायें निर्मित करता है, यह नर्क की दुःख-नदी का निर्माण करता है।" इस दृष्टि का ही क्रियावाद का सिद्धान्त कहते हैं।

मुक्ति का मार्ग त्रिरत्नमयी है : सम्यक् दर्शन या श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र। सम्यक्-श्रद्धा में निम्न पाँच सिद्धान्त वर्णित हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

जैन जब साधुवृत्ति ग्रहण करता है, तो निम्न शपथ लेता है "मैं श्रमण बनूंगा। मैं घर, सम्पत्ति, पुत्र, पशु आदि कुछ नहीं रखूंगा। मैं वह खाऊँगा जो दूसरे लोग मुझे देंगे। मैं पाप कार्य नहीं करूंगा।"

इस आधार पर वर्तमान और भावी जीवन कर्म-बन्ध से मुक्त होता है। जीव परमात्मा में विलीन हो जाता है। यह समुद्र में ओस बिन्दुओं का गलन है। जैन प्रयत्नों का सर्वोच्च ध्येय परमात्मा में विलीन होना है। जैनों का स्वर्ग शांत, सुरक्षित तथा सुखी क्षेत्र है। वहाँ बुढ़ापा, दुख, रोग व मृत्यु नहीं होते।

जैन मत में ईश्वर को कोई स्थान नहीं है। इसके विपर्यास में, जैन पूर्ण विकसित मनुष्यों में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार निर्वाण केवल मानव योनि से ही हो सकता है। इसी प्रकार, जैन जाति प्रथा तथा ब्राह्मणवाद के पोषक वेदों को भी मान्यता नहीं देते।

जैन दो वर्गों में विभक्त हो गये हैं : दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर नग्न रहते हैं, आगमों को मान्यता नहीं देते और महिलाओं को साधुपद के अधिकारी नहीं मानते। जलवायु सम्बन्धी प्रत्यक्ष कारणों से श्वेताम्बर उत्तर भारत के शीत क्षेत्रों में और दिगम्बर दक्षिण भारत के उष्ण क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इनका एक सम्प्रदाय और है—स्थानकवासी। ये न मूर्ति पूजते हैं, न प्रार्थना करते हैं। इनके अनुसार, आत्मा सभी जगह मौजूद रहती है।

हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि विभिन्न युगों में जैनों की स्थिति क्या थी? लेकिन इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि उन्होंने अनेक विचारकों को प्रभावित किया है। उत्तर भारत में उन्हें चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्याश्रय मिला। दक्षिण भारत में उन्हें होयसलों का संरक्षण मिला। ये सदैव सापेक्षतः धनी रहे और इन्होंने कलाओं को संरक्षण दिया। इस देश में उनके कुछ मन्दिर सबसे सुन्दर माने जाते हैं। जैन स्थापत्य कला के कुछ सुन्दर उदाहरणों के रूप में बिहार में पारसनाथ पहाड़ी, गिरनार, पालीताना में शत्रुंजय, राणकपुर और आबू पर्वत पर दिलवाड़ा मन्दिर के नाम लिये जा सकते हैं। जैन मूर्तियाँ हिन्दू और बौद्ध मूर्तियों से भिन्न होती हैं। जैनों का कहना है "भक्त के लिए मूर्ति दर्पण के सामने कमल के समान होती है। मानव का मस्तिष्क उसके समक्ष विद्यमान वस्तु से प्रभावित एवं रंजित होता है। इस-लिए जैन प्रतिमाएँ विभावहीन और शान्त होती हैं। जैन साधु कहते हैं," किसी सुन्दर महिला के नग्न शव पर कामुक, कुत्ता एवं संत की प्रतिक्रियाओं पर विचार करो। कामुक उससे भोग करना चाहेगा, कुत्ता उसे खाना चाहेगा और सन्त उसकी आत्मा की सद्गति चाहेगा। इसलिए तुम्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि ध्यान करते समय तुम जो भी देखो, वह ध्यान के उद्देश्यों के अनुरूप होना चाहिये।"

मध्ययुग में हिन्दुओं के पुनर्जागरण एवं शैवों द्वारा अन्य मतावलम्बियों को पीड़ित करने की प्रक्रिया का जैनों पर बहुत प्रभाव पड़ा। इससे जैनों को बड़ी हानि हुई क्योंकि वे हिन्दुओं से सर्वाधिक सम्बन्धित थे। इनका हिन्दुओं में इकतरफा विवाह भी होता था। स्वयं को संगठित कर अस्तित्व बनाये रखने के जैनों के प्रयत्नों को बहुत सफलता नहीं मिली। १८९३ में अखिल भारतीय जैन सम्मेलन का गठन किया गया। इसके छह वर्ष बाद १८९९ में जैन युवा परिषद् गठित की गई जो १९१० में भारत जैन महामण्डल के रूप में परिणत हुई। इसका उद्देश्य है—मैत्री भाव से सबको जीता जा सकता है।

भारत में जैनों का प्रभाव उनकी सापेक्ष सम्पन्नता के कारण है। डालमिया, साराभाई, बालचन्द, कस्तूरभाई लालभाई, साहू जैन आदि भारत के बड़े-बड़े औद्योगिक घराने जैन हैं। इनकी साक्षरता भी उच्च है। महात्मा गांधी जैनों के अहिंसा सिद्धान्त से बड़े प्रभावित हुए थे। उन्होंने इनके नैतिक और व्यक्तिगत सिद्धान्त को राष्ट्रीय एवं राजनीतिक रूप देकर आगे बढ़ाया।

●

वर्तमान न्याय व्यवस्था का आधार धार्मिक आचार संहिता

सोहनराज कोठारी

जिला एवं सेशन न्यायाधीश (सेवा निवृत्त)

व्यक्ति की मूल-भूत भौतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं की संपूर्ति के साधनों की सामूहिक सुरक्षा, संतुलन व विकास को गति देने हेतु सामुहिक शक्ति के रूप में "समाज" का अभ्युदय हुआ और समाज ने अपने सदस्यों के हितों में सामंजस्य बिठाने के लिये नैतिकता के आधार पर आचार संहिता का निर्माण किया। नैतिकता का मूल 'धर्म' या 'अध्यात्म' है और धर्म या अध्यात्म का फूल नैतिकता है, नैतिकता विहीन धर्म की कल्पना नहीं की जा सकती और धर्म विहीन नैतिकता का कोई आकार ही नहीं बन पाता। ऐसी स्थिति में समाज द्वारा संरचित एवं प्रवर्तित आचार संहिता, जिसे हम "कानून" की संज्ञा दे सकते हैं, उसका उद्गम वस्तुतः धर्म ही रहा है, इसलिये धर्माचरण के नियमोपनियम व 'कानून' के अनुसार समाज व्यवस्था सूत्र लगभग समान रहे हैं। दोनों व्यवस्थाओं में अंतर केवल इतना ही है कि समाज द्वारा स्थापित न्याय व्यवस्था के आधार व "कानून" की परिपालना आवश्यक तौर से समाज की बाह्य शक्ति—"प्रशासन" व्यक्ति को विवश करके करवाता है और परिपालना न करने पर व्यक्ति को दंडित किया जा सकता है, पर धर्माचरण के नियमोपनियम, जिन्हें "व्रत" कहा जाता है, उसकी परिपालना व्यक्ति को स्वेच्छा से, अपने आत्मानुशासन से प्रेरित होकर ही करनी होती है व उसमें दबाव, भय या प्रताड़ना को कोई स्थान नहीं है। समाज के अधिकांश व्यक्तियों के विवेक एवं अंतर-भावना इतने जागृत नहीं होते कि वे स्वेच्छा से अपने हितों की रक्षा में दूसरों के हितों पर उतना ही ध्यान रख सकें, अतः व्यक्ति के स्वयं के हितों की रक्षा के प्रयास में दूसरों के हितों का अतिक्रमण न हो, इस हेतु प्रशासन के एक विशिष्ट अंग "न्याय व्यवस्था" की प्रस्थापना हुई। इसके अंतर्गत समाज की सामुहिक आचार संहिता "कानून" की परिपालना न करने वालों को दंडित एवं प्रताड़ित करने का प्रावधान किया गया ताकि समाज व्यवस्था संतुलित एवं सुचारुरूप से रह सके एवं समाज का प्रत्येक सदस्य अपने व्यक्तित्व, संपत्ति, भावनाओं व वृत्तियों को सुरक्षित रखकर अन्य लोगों के साथ सामंजस्य पूर्वक रह सके व समाज में शांति व सुख बना रहे।

भारत में अनेक धर्मसंस्थाएं हैं व उन्होंने अपने अलग-अलग धर्माचरण के नियमोपनियम बना रखे हैं; हालांकि सबका आधार अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि ही हैं, पर उन सबका विवेचन करना इस निबंध में संभव नहीं है। इस निबंध में मैं केवल जैन धर्म द्वारा प्रणीत आचार संहिता एवं कानून की धाराओं का समानांतर अध्ययन कर यह बताने का प्रयास करूंगा कि उनमें अद्भुत एकरूपता एवं साम्य है व हर स्थिति में वे एक दूसरे के पूरक अवश्य हैं। जैन धर्माचरण का वर्तमान स्वरूप भगवान महावीर की अनुभूत एवं शाश्वत सत्य से प्रेरित वाणी है, जो विगत पच्चीस सौ वर्षों से जन-चेतना को जागृत करती रही है। जैन धर्म के सभी संप्रदायों में सामाजिक लोगों की आचारसंहिता का स्वरूप एक ही प्रकार का है व सुस्थिर है। भगवान महावीर ने व्यक्ति एवं समाज के परिष्कार हेतु अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह के आधार पर कुछ मूलभूत नियमों का प्रणयन किया। भगवान् ने, उन लोगों के लिये जो संसार की सारी प्रवृत्तियों से विरत होकर मात्र आत्मलक्षी बनाना चाहते हों, "अनागार धर्म" का विधान किया, जिसमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की मन, वचन व शरीर से सर्वांश परिपालना करने का निर्देश दिया गया

पर यह धर्म सारे समाज के लिये न तो उपयोगी है और न प्रासंगिक ही, अतः उसकी यहाँ चर्चा करना आवश्यक नहीं है। भगवान महावीर ने उन लोगों के लिये, जो गृहस्थ या समाज में रहकर, अपनी जीविकोपार्जन करते हो, व सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हों, 'आगार धर्म' का विधान किया, जिसमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का लघुरूप में या आंशिक परिपालना का निर्देश दिया। 'अनागार धर्म' का आधार "महाव्रत" व आगार धर्म का आधार "अणुव्रत" कहलाया। इस निबंध का विषय सामाजिक जीवन से संबंधित होने के कारण, हमारी सारी चर्चा का विषय "अणुव्रत" होगा। भगवान महावीर के गृहस्थ अनुयायी जो उनकी वाणी का श्रवण करके, अपने जीवन को कारक या सफल बनाते थे, "श्रावक" कहलाते थे, और "अणुव्रत" का विधान श्रावक जीवन की ही आचार संहिता है। न्याय व्यवस्था में सामाजिक लोगों से सुनागरिक बनने की अपेक्षा की जाती है और नागरिकता को विकृत करने या भ्रष्ट करने की प्रवृत्तियों को अपराध माना जाता है और इसी आधार पर दंड व्यवस्था की संरचना की गई है। दंड व्यवस्था का विशद् एवं निश्चित आकार "भारतीय दंड संहिता" में सन्निहित है एवं व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकारों की रक्षा का विशद् विवेचन "भारतीय संविदा अधिनियम" आदि व्यवहार प्रक्रियाओं में सन्निहित है। किसी को अपराधी ठहराने या संविदा की वैधता या उसकी परिपालना का निर्देश देने के पूर्व प्रमाण जुटाये जाने की सारी प्रक्रिया "भारतीय साक्ष्य अधिनियम" में समाविष्ट की गई है। "भारतीय दण्ड संहिता", "संविदा अधिनियम", "साक्ष्य अधिनियम" का इस देश की न्याय व्यवस्था में गत दो शताब्दियों से निरंतर प्रयोग किया जाता रहा है और समय की दीर्घ अवधि व परिवर्तित परिस्थितियों के उपरांत भी, इन संविदाओं में अब तक कोई सारभूत परिवर्तन या संशोधन नहीं हुआ है, जिससे लगता है कि इनमें उल्लेखित आचार संहिता के प्रावधानों का स्थायी महत्व है। जैन धर्म में सामाजिक जीवन में रत "श्रावक" की आचार संहिता एवं इन अधिनियमों व संहिताओं में वर्णित आचार संहिता का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ऐसा स्पष्ट विदित होता है, कि दोनों में अपूर्व साम्य व एकरूपता है जो निम्नलिखित सारणी से उजागर हो सकती है :

सारणी १. जैन आचार एवं दण्ड-संहिता

श्रावक के व्रत व अतिचार	दंड संहिता के अंतर्गत दंडनीय अपराध
१. प्रथम अहिंसा अणुव्रत (स्थूल प्राणातिपात का त्याग) **ए—व्रत** शरीर में पीड़ाकारी, अपराधी तथा सापेक्ष निरपराधी के सिवाय शेष, द्वीन्द्रिय आदि चलते-फिरते जीवों की संकल्प पूर्वक हिंसा करने का त्याग. **बी—अतिचार** १. जीवों को बंधन में लेना, २. जीवों का वध करना, ३. जीवों के अंग उपांग का छेदन भेदन करना, ४. जीवों पर अतिभार लादना, ५. अपने आश्रित जीवों को आहार पानी से वंचित रखना,	१. किसी व्यक्ति का सदोष अपराध या परिरोध करना (धारा ३४१ से ३४८) २. अभित्रास पहुँचाना (धारा ५०६, ५०७) ३. परिरोध के लिये व्यपहरण या अपहरण (धारा ३६३ से ३६५) ४. सोद्देश्य हत्या या मानव वध (धारा ३०२–३०४) ५. आत्म हत्या या हत्या का प्रयास (धारा ३०९–३०७), ६. गर्भपात कारित, करना या भ्रूण हत्या (धारा ३१२–३१८), ७. स्वेच्छा से तीक्ष्ण या मोटे हथियार से साधारण या गंभीर चोट कारित, करना या अंगोपांग का छेदन करना (धारा ३२३ से ३२६, ३३७ से ३३८),

८. हमला या अपराधिक बल प्रयोग करना (धारा ३५२ से ३५८),
९. जन शांतिभंग करना—(दंगा, वर्ग संघर्ष, विधि विरुद्ध जमाव आदि) (धारा १४३–१५०),
१०. रिष्टी कारित करना (धारा ४२७–४४०)
११. विधि विरुद्ध अनिवार्य श्रम (धारा ३७४),
१२. दास के रूप में किसी व्यक्ति को खरीदना या व्यय हरण (धारा ३७०–७१) ।

२. द्वितीय सत्य अणुव्रत

(स्थूल मृषावाद का त्याग)

ए—व्रत

१. कन्या के विषय में असत्य भाषण का त्याग,
२. पशु के विषय में असत्य भाषण का त्याग,
३. भूमि के विषय में असत्य भाषण का त्याग,
४. धरोहर दबाना या उस विषय में असत्य भाषण का त्याग,
५. असत्य साक्षी का त्याग।

बी—अतिचार

१. बिना विचार किये किसी पर मिथ्या आरोप लगाना,
२. एकान्त में मंत्रणा करते हुए व्यक्तियों पर मिथ्या आरोप लगाना,
३. विश्वास करने वाले स्त्री या मित्र आदि की गुप्त मन्त्रणा प्रकाशित करना,
४. बिना विचारे या अनुपयोग से दूसरों को असत्य उपदेश देना,
५. कूट लेख की रचना करना।

१. मिथ्या घोषणा, मिथ्या प्रमाणपत्र, साक्ष्य विलोपन, मिथ्या सूचना, मिथ्या दात्रा, मिथ्या आरोप (धारा १९७–२१२),
२. न्यायिक कार्यवाही में मिथ्या साक्ष्य देना और गढ़ना (धारा १९३–१९६),
३. कूट रचना या मिथ्या लेखा करण (लेख्य पत्र, मुद्रा, पट्टा आदि का) (धारा ४७५–४७७),
४. छल कपट (धारा ४१७–२४)
५. न्यास भंग (धारा ४०६–४०९),
६. मानहानि (धारा ५००–५०२),
७. किसी वर्ग के धर्म या धार्मिक विश्वास का अपमान (धारा २९५–२९८),
८. जंगम सम्पत्ति या अन्य सम्पत्ति का दुर्विनियोग (धारा ४०३ से ४०५),
९. अपराधी या लुटेरे, डाकू को प्रश्रय देना (धारा २१२ से २१६),

३. तृतीय अचौर्य अणुव्रत

(स्थूल अदत्तादान का त्याग)

ए-व्रत

१. खात खनना,
२. गाँठ खोल कर चीज निकालना,

१. चोरी (धारा ३७९ से ३८२),
२. अतिचार, गृह अतिचार, प्रच्छन्न गृह अतिचार, गृह भेदन, रात्रि गृहभेदन (धारा ४४७ से ४६२),

३. जेब काटना,
४. दूसरों के ताले को बिना स्वामी की आज्ञा के तोड़ना या खोलना,
५. मार्ग में चलते हुए को लूटना,
६. स्वामी का पता होते हुए किसी की पड़ी वस्तु लेने का त्याग।

बी-अतिचार

१. चोर की चुराई वस्तु को लेना,
२. चोर को चोरी के लिये प्रेरणा देना, उपकरण देना या बेचना या चोर की सहायता करना,
३. राज्य निषिद्ध वस्तु का व्यापार या उस हेतु दूसरे राज्य में प्रवेश,
४. कूट तोल माप,
५. अपमिश्रण—सरस में नीरस या असली में नकली वस्तु का मिश्रण।

३. उद्दापन (धारा ४८४ से ३८९),
४. लूट या लूट का प्रयास (धारा ३९२ से ३९४),
५. डकैती या उसका प्रयास (धारा ३९२ से ३९७),
६. चुराई हुई सम्पत्ति को जानते हुए प्राप्त करना (धारा ४११ से ४१४),
७. खोटे बांट या माप का कपट पूर्वक प्रयोग करना या बनाना (धारा २६४ से २६७),
८. विक्रय के लिये आयातित तेल, खाद्य, औषध, भेषज, या पेय का अपमिश्रण (धारा २७२ से २७६),
९. लोक-जल-स्रोत या जलाशय का जल कलुषित करना या वायु मण्डल को अपायकर बनाना (धारा २७७ से २७८)।

विशेष—भारतीय खाद्य अपमिश्रण अधिनियम में विशेष कठोर दण्ड देने का प्रावधान है।

४. चतुर्थ ब्रह्मचर्य अणुव्रत

ए-व्रत

१. स्व-स्त्री के साथ संभोग की मर्यादा,
२. परस्त्री, वेश्या, तिर्यंच, देवी, देवता के साथ संभोग का त्याग।

बी-अतिचार

१. कुछ समय के लिये अधीन की हुई स्त्री से गमन करना या अल्प वय वाली अपनी पत्नी से गमन करना या उस हेतु आलाप संलाप करना,
२. विवाहित पत्नी के सिवाय शेष स्त्रियों—वेश्या, अनाथ कन्या, विधवा, कुलवधु, परस्त्री आदि अपरिगृहीता के साथ आलाप संलाप करना या मैथुन करना,
३. अप्राकृतिक मैथुन,
४. पराये विवाह कराना,
५. काम भोग तीव्र अभिलाषा से करना।

१. किसी स्त्री को विवाह करने के लिये विवश करने या भ्रष्ट करने के लिये अपहरण (धारा ३६६),
२. अल्प वयस्क लड़की का उपापन (३६७),
३. विदेश से लड़कियों का आयात निर्यात (३६६क),
४. बलात्कार
   ए—१२ वर्ष से कम आयु की अपनी पत्नी के साथ संयोग,
   बी—अन्य किसी स्त्री के साथ उसकी बिना इच्छा व सहमति के संभोग (धारा ३७६),
५. प्रकृतिविरुद्ध मैथुन (धारा ३७७),
६. प्रवंचना पूर्वक विवाह (धारा ४७३),
७. पति या पत्नी के जीवन काल में दूसरा विवाह (धारा ४९४),
८. जार कर्म या व्यभिचार (धारा ४९७, ४९८),
९. स्त्री की लज्जा भंग करने के लिये बल प्रयोग (धारा ३५४),

१०. स्त्री की लज्जा का अनादर करने के आशय से अपशब्द कहना या अंग विक्षेप करना (धारा ५०९),

११. अश्लील पुस्तकों व वस्तुओं का क्रय या अश्लील संगान (धारा २९२ से २९४)।

५. पाँचवा अपरिग्रह अणुव्रत

ए-व्रत

क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद, धन, धान्य, गृह सामग्री आदि नव प्रकार के परिग्रह की मर्यादा करना।

बी-अतिचार

क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद, धन, धान्य, गृह सामग्री की मर्यादा का अतिक्रमण।

इस दिशा में कानून में अभी कोई प्रावधान नहीं है "भू सीलिंग अधिनियम से भूमि की सीमा की जा रही है—कालांतर में शहरी सम्पत्ति की सीमा करने का कानूनो प्रावधान करने की चर्चा है।

१. लोक सेवक द्वारा भ्रष्ट व अवैध साधनों से परितोष प्राप्त करना या लेना अपराध है (धारा १६१ से १७१),

२. भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम में इसके लिये कठोर दण्ड का प्रावधान है,

व्रत परिपालन या अतिचार सेवन की सीमा

श्रावक अपने व्रतों का पालन मन, वचन व शरीर से करता है व कराने तक, व्रत पालन की सीमा है। अतिचारों के सेवन से भी वह करने-कराने की सीमा तक बचता है। अनुमोदन करना उसके लिये अपवाद स्वरूप है व उससे व्रत भंग या अतिचार सेवन नहीं होता।

अपराध की सीमा

अपराध ही दण्डनीय नहीं है पर उसकी प्रेरणा आदि भी दण्डनीय है, जिसके प्रावधान इस प्रकार है :

१. दुष्प्रेरणा (धारा १०९ से ११७),
२. अपराध करने की परिकल्पना को छिपाना (धारा ११८ से १२०),
३. अपराध करने की सद्भावना (धारा ३४),
४. अपराध करने का सह-उद्देश्य (धारा ४९),
५. षड्यंत्र (धारा १२० बी, १२१ से १३०)।

इस प्रसंग में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि जिस तरह धर्माचरण की प्रेरणा का मूल आधार आत्मा की पवित्रता व नैतिक शक्ति में विश्वास है, उसी तरह अपराधों की दण्ड व्यवस्था का आधार भी क्रमशः उसी दिशा में गतिमान हुआ है। धर्माचरण में तो प्रारम्भ से ही दुराचरणों को छोड़ने की प्रेरणा दी गई है, पर उसके परिपालन के पीछे बाह्य शक्ति-प्रयोग की कमी होने से सारे समाज पर उसका तत्काल प्रभाव नहीं पड़ पाया। अतः न्याय प्रक्रिया में दण्ड व्यवस्था के जरिये सदाचरणों की संहिता के उल्लंघन करने वाले कार्यों को प्रशासन के जरिये दण्डनीय बनाया गया। प्रारम्भ में चोरी करने वाले के हाथ काट दिये जाते थे, कुदृष्टि का दण्ड आँख फोड़ना था, अंगोपांग छेदन करने वाले को वैसा ही दण्ड दिया जाता, हत्या या मानव वध करने वाले को खुले आम शूली, फाँसी या बोटी बोटी काट कर कुत्तों, कागों से नुचवाना, आदि थे, पर ज्यों ज्यों सभ्यता व संस्कृति का विकास हुआ व सामूहिक करुणा व समता का विस्तार हुआ, त्यों त्यों इस प्रकार के निर्मम एवं दुष्टतापूर्ण दण्डों को समाप्त कर दिया गया। वर्तमान सारी दण्ड व्यवस्था मात्र सीमित कारावास या अर्थदण्ड पर ही आधारित है ताकि उसमें अपराधी की भावना का मूल्यांकन हो सके व उसके हृदय परिवर्तन या सुधार का अवकाश रहे। इतना ही नहीं अब तो कारावास के बन्द आवास-स्थल अनेक स्थानों पर

खुले कर दिये गये हैं व कारावास में अपराधी को शिक्षित करने, उसके लिए रोजगार जुटाने व उसके सदाचरण को प्रोत्साहित करने के विविध उपक्रम प्रशासन द्वारा चलाये जा रहे हैं। सद्व्यवहार व सदाचरण के आधार पर कारावास की अवधि घटाई भी जा सकती है। भारतीय परिवीक्षा अधिनियम की धारा ३, ४, ६ के अनुसार व दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा ३६० के अनुसार यह अनिवार्य कर दिया गया है कि आजीवन कारावास व मृत्यु दण्ड से दण्डित अपराधों के सिवाय सभी प्रथम अपराधों में यदि अपराधी पश्चाताप करे, तो उसे मात्र प्रताड़ना देकर या किसी सम्भ्रांत व्यक्ति के उसके सदाचरण के लिए प्रतिबद्ध होने पर उसे छोड़ दिया जाये व सुधारने का अवसर दिया जाये। जघन्य से जघन्य हत्या में भी कई देशों में मृत्यु दण्ड को समाप्त कर दिया गया है, और हमारे देश में भी यह दण्ड मात्र अपवाद स्वरूप ही रह गया है। मेरे विचार में ऐसा लगता है कि धीरे धीरे न्याय प्रक्रिया व दण्ड व्यवस्था भी विशुद्ध धर्माचरण की ओर गतिशील है। यहाँ यह कहना भी अनुपयुक्त नहीं होगा कि प्रारम्भ में जहाँ धर्माचरण के नियम प्राणीमात्र के प्रति करुणाभाव से प्रेरित थे, वहाँ कानून की परिपालना केवल मनुष्य जाति तक सीमित थी, पर अब कानून भी प्राणीमात्र के प्रति दया से प्रेरित हो रहा है। "भारतीय पशु क्रूरता निवारण अधिनियम" "वन्य जीव संरक्षण अधिनियम" "वृक्षावली संरक्षण अधिनियम", "गो वध अधिनियम" आदि कानून इस बात के स्पष्ट संकेत हैं कि न्याय व्यवस्था समूचे प्राणि जगत के कल्याण के प्रति निरन्तर सजग बन रही हैं। कहीं कहीं तो वर्तमान न्याय व्यवस्था के नियम धर्माचरण के सिद्धान्तों से भी आगे चरण बढ़ा रहे हैं। श्रावक की आचारसंहिता में एक से अधिक विवाह करने, लज्जाभंग का प्रयास ये करने, अश्लील साहित्य या वस्तु का प्रदर्शन करने, विदेश से लड़कियों का आयात-निर्यात करने, लोक जलाशय या वायुमण्डल को प्रदूषित करने आदि अनेक कार्यकलापों को पाप की कोटि में नहीं लिया गया है, पर वर्तमान न्याय व्यवस्था में इन सबको अपराध की कोटि में लिया गया है। हो सकता है कि श्रावक की आचार संहिता का निर्माण करते समय ये कार्य किये जाते ही नहीं हों या उनकी व्यापकता न बढ़ी हो। चाहे जो हो, यह निश्चित है कि वर्तमान न्याय व्यवस्था धर्माचरण की दिशा में प्रगति करने के लिये निरन्तर गतिशील व जागरूक है।

इसी क्रम में यह कहना भी प्रासंगिक होगा कि मात्र दण्ड व्यवस्था ही नहीं, बल्कि व्यवहार प्रक्रिया में भी धर्माचरण के सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव रहा है। न्याय व्यवस्था में किसी को दोषी ठहराने के लिये पूर्व व्यक्ति के अभिकथनों के आधार पर ही निष्कर्ष निकाले जाते हैं व ऐसे अभिकथन न्यायालय के समक्ष सशपथ दिये जाते हैं। शपथ की शब्दावली, जो विधि सम्मत है, इस प्रकार है :

"मैं जो कुछ कहूँगा, सत्य कहूँगा, सत्य के सिवाय कुछ नहीं कहूँगा, ईश्वर मेरी सहायता करे"

मात्र इस शब्दावली से ही स्पष्ट हो जाता है कि न्याय व्यवस्था ने धर्म की तरह ही सत्य भाषण को पूरा महत्व दिया है, व असत्य कथन को निरर्थक माना है व साथ में यह भी माना है कि सत्य भाषण करने वाले का ईश्वर सहायक होता है। मेरे विचार में मात्र यह एक तथ्य ही इस बात को उजागर करने के लिए पर्याप्त है कि न्याय व्यवस्था व धर्माचरण मूलतः एक है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम के सारे प्रावधान केवल सत्य-भाषण की महत्ता व प्रामाणिकता का संस्पर्श किये हुये है। इसी प्रकार 'संविदा अधिनयम' के प्रावधान भी धर्माचरण के परिपार्श्व में ही परिक्रमा करते हुए प्रतीत होते हैं। धार्मिक आचार संहिता को स्वीकार करने या उसके पालन करने वाले गृहस्थ या श्रावक के लिये यह आवश्यक है कि वह शुद्ध मन से विवेकपूर्वक त्याग या व्रत का सही अर्थों में महत्व समझ कर स्वेच्छा से बिना किसी दबाव या प्रलोभन के मात्र आत्मा की सिद्धि प्राप्त करने के लक्ष्य को लेकर उसकी सम्यक् पालन या आराधना करे। इसी प्रकार समाज में दो व्यक्ति या समूह के बीच संविदा को स्वीकार करने या पालन करने वाले व्यक्ति या समूह के लिये यह आवश्यक है, कि वे स्वस्थ चित्त व व्यसक अवस्थामें संविदा स्वीकार करे व उसके लिये दोनों पक्षों की स्वतन्त्र सम्मति हो व जिसमें उत्पीडन, अनुचित प्रभाव, कपट, मिथ्या व्यसन, भूल का प्रयोग न हुआ हो और जिसका प्रतिफल या उद्देश्य सम्यक् व विधिसम्मत हो। मेरे विचार में धर्माचरण में जो मानसिक अनुबन्ध होता है, वही संविदा की

प्रक्रिया में व्यावहारिक अनुबन्ध का रूप ले लेता है। संविदा अधिनियम में एक ऐसा विलक्षण प्रावधान है जो चिर-कालिक सामाजिक बुराई जुआ, सट्टा या बाजी लगाने पर बड़ा कठोर प्रहार करता है और इस विषय में की गई संविदा को निष्प्रभावी व शून्य मानता है। मेरे विचार में इस अधिनियम की एक ही धारा धर्माचरण की दृष्टि से अपूर्व सामाजिक उपलब्धि है। संविदा अधिनियम के अनेक ऐसे प्रावधान हैं जो इस बात को स्पष्टता से प्रकट करते हैं कि धर्माचरण के सिद्धान्तों को व्यवहार की प्रक्रिया में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान मिला है, जितना कि उनका धर्म साधना के जगत् में स्थान है।

उपरोक्त विवेचन के प्रकाश में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान न्याय व्यवस्था व धार्मिक आचार संहिता—दोनों व्यक्ति व समाज के परिष्कार का एक ही लक्ष्य लेकर निर्मित हुए हैं, अतः दोनों में पर्याप्त मात्रा में एकरूपता है। पर जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ, दोनों की परिपालना में एक महत्वपूर्ण अन्तर है। धर्म संहिता की पालना व्यक्ति स्वेच्छा से मात्र अपनी आत्मा की साक्षी के सहारे जीवन को समुज्जवल बनाने के उद्देश्य से करता है, अतः व्यक्ति या समाज सुधार का यह रास्ता स्थायी होते हुये भी लम्बा व दुर्गम है, जिसमें कभी कभी फिसलने की आशंका बन सकती है। न्याय व्यवस्था में कानून की परिपालना प्रशासन की शक्ति के सहारे व्यक्ति से अनिवार्यतः कराई जाती है, अतः व्यक्ति या समाज सुधार का यह रास्ता अस्थायी होते हुये भी त्वरित फलदायक होता है पर इसमें शक्ति प्रयोग के कारण कभी कभी विद्रोह व उत्पीडन की आशंका निरन्तर बनी रहती है। सच तो यह है कि न्याय व्यवस्था व धार्मिक आचार संहिता जहाँ कई बिन्दुओं पर एक रूप हो गई है वहाँ अन्य बिन्दुओं पर एक दूसरे की पूरक है। आवश्यकता इस बात की है कि दोनों में सन्तुलन बना रहे, व्यक्ति और समाज को धार्मिक आचारसंहिता के प्रति स्वेच्छा से आकृष्ट होने के लिये शिक्षा व अन्य माध्यमों के जरिये प्रोत्साहित किया जाये व समाज में व्यक्ति के सम्मान का मूल्यांकन मानवीय गुणों के आधार पर किया जाये। साथ ही जो व्यक्ति नैतिकता विहीन आचरण के लिये उद्यत हो और समाज व अन्य व्यक्तियों के हितों की उपेक्षा या अवमानना करने पर तुले हुए हों व जिनका एकमात्र लक्ष्य भय और आतंक फैलाना बन गया हो, उन्हें न्याय प्रक्रिया के अनुसार दण्डित कर सुधारने के लिये विवश किया जाये। दोनों व्यवस्थाओं को बलशाली बनाया जा कर परिस्थिति के अनुरूप प्रयोग किया जाये तो मेरा निश्चित विश्वास है कि समाज में सुख और शान्ति का वातावरण अवश्य बनेगा।

अन्त में मैं यह भी कहना चाहूँगा कि न्याय व्यवस्था कितनी ही सुनिश्चित व प्रभावी हो या धार्मिक आचार-संहिता कितनी ही शुद्ध व प्रामाणिक हो, जब तक उसकी परिपालना कराने वालों या करने वालों का चरित्र उज्जवल एवं निष्कलंक नहीं होगा, तब तक इन दोनों से किसी को लाभ नहीं हो सकता। धर्माचरण की प्रेरणा देने वाले धर्माचार्य या धर्माधिकारी का चरित्र, यदि वास्तव में किसी प्रकार के दौर्बल्य से ग्रस्त नहीं हो, तो उनसे सारा समाज स्वतः प्रेरणा पाकर सही रास्ते पर चल पड़ेगा और यदि परिपालना करने वाले अपने चरित्र को उज्जवल बनाने को संकल्पशील है, व अभय और असंग बन कर अपने कार्यों का निष्पादन करते हैं, तो समाज की प्रगति को कोई नहीं रोक सकता। इसी प्रकार न्याय व्यवस्था के संचालक या न्यायाधिकारी का चरित्र यदि उत्कृष्ट है तो न्याय व्यवस्था के सारे श्रेय तत्वों को वह प्रभावी बना सकेगा, और इस व्यवस्था को हर स्थिति में विशुद्ध रखने के लिये यदि समाज में साहस, संकल्प और सहयोग करने की भावना का बल है तो समाज में स्वतन्त्रता, समता एवं भ्रातृत्व का स्रोत अपने आप फूट पड़ेगा। हर अच्छी व्यवस्था अच्छे व्यक्ति के हाथों में निखर उठती है और बुरे व्यक्ति के हाथों में प्रदूषित हो जाती है। इसलिये दोनों व्यवस्थाओं को सफल बनाने की दिशा में उसको प्रभावित करने वाला मनुष्य या व्यक्ति चरित्रवान बने। यह प्राथमिक व प्रमुख अपेक्षा है। मैं धार्मिक आचार संहिता को वर्तमान न्याय व्यवस्था का आधार मानता हूँ और न्याय व्यवस्था को उस संहिता का सुफल मानता हूँ। अपेक्षा है कि आधार सन्तुष्ट और सुखद फल देने की सम्भावना वाला हो और फल सरस, सुस्वादु व स्वस्थ हो ताकि आधार का सही मूल्यांकन हो सके।

●

An Analysis and Evaluation of Eastern and Western Philosophical Approaches

DONALD H. BISHOP

Philosophy Department, Washington State University, Pullman, Washington, U. S. A.

One of the values of modern technology is that it has made the world into a global village, a place in which interaction between people is taking place on a scale hitherto unknown. Such a characterization must be qualified, however, for, if the world has become such a village in a physical sense, it has not to nearly the same degree psychologically. We still remain behind mental and cultural walls. There is a time lag in our understanding of how others perceive the world. This essay is but one attempt to level the walls or overcome the time lag.

I shall compare and evaluate Eastern and Western perspectives in regard to two areas especially, epistemology and metaphysics. A note of caution should be interjected at the beginning. Such comparisons necessitate a great deal of generalization, which is always hazardous. And it means that many perspectives within each tradition must be overlooked. Despite the inherent difficulties, however, comparative analysis of this type remains a commendable and fruitful one.

In actual experience, epistemology and metaphysics are not separate. How we think may well, determine what we assert reality is like. I shall discuss them separately, however, in part because it is more manageable to do so. Let us consider, first of all, some characteristics of the epistemological tradition which has dominated the West, especially in the Modern Period, i. e. 1500 to the present.

A major one is the tendency to think dualistically, that is, to see reality as consisting of pairs or sets of twos. Our language belies this. We use such terms as up-down, here-there, soft-hard, heavy-light, black-white, right-wrong, good-bad, friend-enemy. As such terms demonstrate, we think dualistically not only in regard to the material world or the world of nature, but the world of persons as well.

Moreover, we think dialectically as well as dualistically. For if we were to repeat the terms above, or some of them at least, we would see that the connective in each case is the term "or", up or down, here or there, soft or hard, right or wrong, good or bad, friend or enemy. What we see happening is the introduction of the principle or law

of the excluded middle, the placing of an entity or person into one category to the exclusion of all others. This methodology, as a student of Western philosophy knows, goes back at least to the Greek philosoper Aristotle. Thus it has been a part of the Western tradition for centuries.

Thinking dualistically is the basis of the two-value Western logical system (P_v.P). It is at the root of our language structure, the subject/predicate/object-type sentence. The process of categorization is grounded in it, for we place an entity into one category to the exclusion of any other. One value of dualistic thinking is that, put loosely, it provides us a ready way to get a handle on the world. That is to say, it facilitates a utilitarian attitude toward nature, since any entity which exists can be put into one category or another, or can be analyzed or interacted with in terms of projected categories.

It should be emphasized again that there is a connection between thinking dualistically and the method categorization. In dealing with reality, and this goes back to Aristotle the scientist, we set up categories and then locate all entities we experience into a category. That object is in the category of tree, this a horse, that a person, this a male person. And again, neatly categorizing or compartmentalizing the world makes it easier to handle.

There is another important aspects of dualistic and dialectical thinking, namely, the idea of opposition. We describe one end of the room as being the opposite of the other, and similarly with the floor and ceiling. When we extend this way of thinking to the human realm, we find ourselves thinking of one person as a friend in contrast to another as an enemy. We see, then, a process of extension going from different, to opposite, to enemy.

We notice in this last statement another factor which has been brought in, namely, distinction. Dualistic, dialectical thinking is grounded in or involves the process of making distinctions or separating into categories on the basis of differences. A horse is not like a blade of grass; that is why they are designated differently. A horse and blade of grass are different from a person; thus a third term is employed to indicate a further distinction or difference. One might call this the method of particularization or individuation also, inasmuch as every existent is placed in a particular category.

To sum up what has been said thus far, Western thinking, beginning with Greeks such as Aristotle, has been dualistic and dialectical. It has incorporated the principles of exclusion and opposition. It has involved the processes of differentiation, categorization, particularization and opposition. Interestingly, the epistemological process described is one in which the viewer or knower is assumed to be separate and different from the known. Thus we have the basic subject-object, perceiver-perceived, or knower-known dualism. Among other things, this separation of knower and known reinforces the utilitarian attitude toward that which is known, since we are much less prone to exploit or use for our own ends the known, if it is different from rather than similar to us.

I turn now to another characteristic of Western epistemology as it has evolved in the modern period especially, and that is the emphasis on sense knowledge or knowing through the senses. Empiricism is an inevitable concomitant of epistemological dualism. For if the known and knower are separate, the only way it can be known is through the senses. The object, existing separately from us, is inert and is an entity which we see, touch, smell, etc. What this means is that all we can know about the known is what is externally verifiable about it. The known can be known only in terms of its external attributes, characteristics or form. We cannot know it in terms of its essence or that which transcends or underpins the attributes. Indeed, from an empiricist's perspective, there is no essence; the known has no "isness". The known is characterized by and is known only in terms of its attributes. Thus all a thing is in its attributes.

This leads one back again to the suggestion that we have still another reinforcement for the utilitarian-exploitation view or attitude toward reality or nature. Its components have no essence either to be violated or to be respected and considered inviolable. Whatever exists, exists as an object, known externally or in terms of its attributes and subject to the will and usefulness of the knower.

Another characteristic of the Western epistemological tradition is its emphasis upon reason or rationalism. We must, however, define rationalism or indicate what we are referring to when we talk about Western rationalism.

If we define rationalism as analysis, then analysis is the process of breaking up reality or dividing it into parts in order to understand and thus better manage, use or manipulate it. In that case not only is the purpose of knowing morally questionable, the method is a dubious one since it assumes that the nature of reality is not distorted or violated as it is broken down into parts to be analyzed.

If reasoning is the inductive process of going from the particular to the universal or inferring from particulars to universals, we are no further ahead because the nature of the universal is determined by the nature of what it started with, namely the particulars; or the rational process is limited by its starting point, the observed particular or the particular as known through the senses; or the universal one ends with is an artificial construct since it is an assemblage of observed particulars.

Thirdly, if rationalism or reasoning is the process of drawing conclusions from premises, we are in a circulatory bind because the content of the premises is derived from empirical observation, or it consists of data gotten through the senses. Finally, we may conceive of reasoning or logical thinking as the determining of the consistencies or inconsistencies between things or between assertions. In that case, however, all we can know is consistency or inconsistency—reasoning does not help us to know thing-in-itself, to use Kant's terminology.

If we mean by rationalism one or the other of the above, and I believe that is what it means in the Modern period in the West, then rationalism only reinforces rather than transcending or becoming an alternative to the empiricism dominating modern Western epistemology. Rationalism is simply a handmaiden to empiricism and is of no or little help in our efforts to know reality in itself, untouched or altered by us, or to determine how to morally use it. One is reminded of the Buddha's observation that, "Neither is there any room for truth in rationality. Rationality is a two-edged sword and serves the purpose of love equally as well as the purpose of hatred. Rationality is the platform on which the truth standeth. No truth is atainable without reason. Nevertheless, in mere rationality there is no room for truth, though it be the instrument that masters the things of the world."

As I indicated at the beginning, epistemology and metaphysics are inseparable and this makes it easier to describe Western metaphysical views, once some of the epistemological ones have been indicated. An obvious one to begin with is the perception of nature or reality as dualistic and dialectical, made up of entities exclusive of and antagonistic toward each other. When one adds to this the view that nature is categorizable, the evoltutionary theory or view is a natural one. We see in nature various categories of beings, conflicts between categories as well as within members of each category, and change or progress as resulting from classes between the species, or the failure or success of a species to adapt to its environment.

The metaphysical correlate of epistemological empiricism is the view that reality is material in nature, that only physical objects exist, that the material is the only reality and is known through the senses. The world is a world of objects, with attributes but without essence, existing in time and space.

In terms of relationships, the tendency in the Modern period is to attribute a mechanical, direct, cause-effect type relationship to reality. Events are explained in terms of causality, and causality is sequential or linear. Event Y is caused by a preceeding event X. The result is like the cause, and the cause is at least as great as the effect. Causality, then, exhibits the principles of identity and equivalence.

It is interesting to note that in this kind of causation there is no room for doubt or uncertainty. Absolute predictability is possible and control, therefore, is as well. This brings us again to the Western utilitarian attitude toward nature. Since nature is a fixed constant, it can be mastered, dominated or subjugated to man's ends, will, or desires. Three assumptions might be noted at this point. The first is that reality is categorizable. Nature is such that its manifold entities can be put into categories. Usually dismissed rather cursorily is the question of the validity of categories. While they may have use or instrumental value, do they have truth value as well ? Are not categories something that the mind creates when it sets about understanding reality ? If so, they are artificial constructs which are useful in utilizing reality, but they are unable to tell us anything about the inherent nature of reality.

The second assumption is that reality is knowable, that our minds are such that there is a direct or one-to-one correlation between the knowing mind and that which the mind knows. One may point out that man has always assumed this. A difference is the assertion today that everything is knowable. One hears scientists making that claim. Give us time, they say, and we can uncover any secret in the universe. Joining them is the technocrat who claims that, given time and resources, we can do or build anything we deem to. If one views the universe as a huge machine and man's mind as being able to know fully the workings of the machine, then one must admit that the claims of the scientist and technocrat do follow. How valid is the "If", is, of course, the basic question.

The third assumption is a correlate of the first two. If reality is knowable, it is categorizable. If it is knowable and categorizable, it is describable. Nothing exists which is not knowable, categorizable and describable. Thus modern man's confidence is in his language, or in the ability of words to describe whatever exists, and his belief that, if it cannot be described, it does not exist.

The arrogance of modern man which follows from these three assumptions is reinforced by a tenet of Western religion which long preceded the modern period. If we take the Bible and the Pentatuch as the central documents for Christianity and Judiasm, we find stated therein that in the beginning God made man as the highest form of creation and that God gave man dominion over all the earth. Such is the traditional Western homocentric view of the universe, a view susceptible to that which is universal in man, his self-centeredness. And the heliocentric view of the universe established by Copernicus has had little impact on changing this egoistic view of man and his relationship to that little portion of the universe of which he is a part—the earth.

Before moving on to Eastern epistemologies and metaphysics, let me sum up what has been asserted regarding Western perspectives. While not the only, the dominant epistemology of the West is a combination of empiricism and rationalism which has been attenuated in the Modern period. Coexisting with it is the mechanistic view of the universe as matter existing in time and space, operating on discernable and explicable laws, and subject to the will and dictates of man in its center.

In evaluating that worldview there are those who find that such an epistemology provides us no way of knowing reality in a profound sense. The Western metaphysics offers us only attributes and existence without essence. Western epistemology and metaphysics have provided us the tools, science, and technology, which have made us masters of the world which we assert exists and we know. But these have themselves brought us to a state in which man has lost his soul and his constructs have become a monster which could destroy him. We have become the victim of our homocentricity, the possible victims of our own creations.

In discussing Eastern, as contrasted with Western, epistemology and metaphysics it should be noted that the East is even more diverse than the West. We cannot, therefore, speak of a single Eastern epistemology or metaphysics. We have to speak in the plural in both cases.

An example which comes to mind immediately is the metaphysical dualism found in the Chinese tradition. Early Chinese thinkers posited two basic forces at work in the universe, the yang and the yin, through whose cooperative interaction everything occurs. What is the relationship of the two entities, the yang and the yin ? The question is answered by the question itself in which the connective of the two terms is the word "and". It is not a matter of yang and yin being contraries and in opposition to each other. Rather they are correlates, supplementing and acting in unison with each other. They are characterized by mutuality, interdependence and interpenetration, by cooperation, not conflict. What we have, then, is not a dialectical dualism, but one in which the connective is of an inclusionist not exclusionist type.

Moreover the categories themselves are not conceived of as fixed or static, as in the Western tradition. Instead they are fluid, elastic, open or flexible. A particular entity is not forced into an either/or but a both/and context. Two examples will illustrate this. Wood, one of the five basic elements, overcomes or changes water into wood insomuch as a growing tree absorbs water itself. But wood in turn is overcome by or changed into fire, a third basic element, when the tree is burned. This process of mutual overcoming or changing incorporates all five elements so that the metaphysical view is that nature is in a state of constant change or a process of coming into being and going out of existence, without a loss of existence but only a change in the form existence takes.

The second example is in the realm of persons. A thirty-year old man is yang to his five-year old son, that is, he is in a position of superiority in relation to his son. But he is at the same time yin to his sixty-year old father in that he is the inferior in that relationship. Thus the thirty-year old man is not either yang or yin; he is both, and what he is at any particular time depends on the context or relationship he is in at that moment. In this view of reality, then, categories themselves are not rigid or inflexible and reality as a whole may be viewed as relational or consisting of sets or networks of relationships.

As we have seen, the Chinese way is to not assert a two term logic based on the principle of the excluded middle. This leads to another characterization of Eastern thought which might be called multiple predication. Hinduism and Buddhism offer numerous illustrations of this. The Hindu, for example, asserts there are many, not just one, ways to worship God or Brahman. Moreover, there is more than one way to achieve union with Brahman, and, in addition, Brahman as the Absolute manifests Himself in not a single, but many, forms, manifestations, incarnations, or, if you will, gods. In Buddhism, if we substitute the concept of Truth for the Absolute, an oft-repeated statement is that there are many paths to Truth, just as there are many paths to the top of the mountain.

Jainism offers us the best example of an epistemology different from the Western one described above. The Jain admits that, in terms of a dualistic, either/or logical system, absolute judgments are possible. But the Jain rejects that possibility. He insists instead that every judgment we make holds good only for the particular aspect of the object judged and only from the point of view from which the judgment is made. Jains call this view syadvada and from it follows the saptabhanginaya or the seven forms of judgment or types of predication. Jain epistemology, then, insists on a seven predicate rather than two predicate logical system.

The story of the blind man and the elephant is often used to illustrate this epistemology. When asked what the elephant was like, each answered in terms of the part of the elephant touched. Since each touched a different part, they could not agree on what the elephant was like and they began to argue violently among themselves. Such disagreement could have been avoided had each accepted the *syadvada* theory of knowledge. And this points to one of the values of such view, namely that it makes for a much more catholic outlook and the avoidance of strife and factionalism.

I would like to suggest another epistemological difference between East and West The Western way I have already described may be called knowing objectively. The known is conceived of as an object or entity separate from the known. The knower-known relationship is a subject-object one. Another way of knowing found in the East is what might be called knowing empathetically. According to it, knowing requires or involves being empathetic toward, having sympathy for, identifying or becoming one with the known. The relationship between knower and the known is a monistic or unitive, not a dualistic, separatist or detached one. It involves the knower 'getting inside of' the knowu or knowing from the inside, not outside.

An example is this. Knowing an animal such as a horse requires that I view the horse, not as an object, but as a form of life, a life form externally different from myself, of course, but a life form or center of consciousness nevertheless. Thus, if the horse suffers a broken leg, I can be acutely conscious of it. I can emphathize with the horse and feel its suffering as if it were my own. Conversely, if it gallops joyfully over a field, I can likewise feel its elation.

An epistemology of empathy has as its metaphysical correlate monism, or, as the Hindu Vedantist would say, non-dualism. It might be described by saying that, from such a perspective, there is only one category in reality, namely consciousness. And differences are not ones of kind but of degree. One type of existence such as a stone exhibits a low-level of consciousness, a plant a higher, a horse still higher, and a person the highest.

The starement above reminds us of two important aspects of Jainism. One is the Ananta-dharmakamvastu view which assests that every object known by us has many and

not just a few characteristics. If this is so, reality cannot be neatly classified into various categories, as Aristotle tried to do. Reality is too complex, as is every part of it, for man to do so. This means, further, that man cannot have absolute knowledge, either now or in the future. All he can have is sufficiency or enough knowledge of reality to muddle through in his present existence.

The second aspect of Jainism is its metaphysical position which is quite like what I described above as monism. To repeat, there is only one category, consciousness, and we find in nature many examples of different degree, types and levels of consciousness. The Jain speaks of the jiva or soul whose essence is consciousness. The perfect soul is one which has overcome all karmas and attained omniscience or the highest level of consciousness. At the other end of the spectrum are those imperfect souls which inhabit such elements as earth, fire, and water. To the Westerner the earth is inert and lifeless. It is not to the Jain, however. It too exhibits some degree of consciousness or has a low level of sensuousness.

It is important to note the ultimate outcome or signicance of an empathetic epistemology and a monistic metaphysics. If I know the horse empathetically as an entity in the realm of consciousness, of which I am also a member or part, I will not view the horse as an object to be exploited for my own interest or benefit but as a form of life to be nurtured and cared for in the very best way I can, even though I recognize at the same time the utilitarian value of the horse. But the motive for my treating the horse well is related to the essence of the horse es a being and not the horse's use value.

The example of the horse leads us to the question of the purpose of knowing. I would suggest two answers, knowing in order to appreciate and knowing in order to use, or in its extreme form, to exploit. Knowing in order to appreciate has monism or non-dualism as its metaphysical correlate, knowing empathetically as its methodology and altruism as its ethical coorrelate. Knowing in order to use has dialectical dualisim as its metaphysical correlate, knowing empirically and objectively or rationally as its methodology and egoism as its ethical correlate.

A metaphysical monism and an epistemology of empathy are two facets of a complex, a third aspect of which involves the relationship of man to nature. It has already been suggested that a dualistic metaphysics and an objectivist epistemology are two facets of a complex, a third aspect of which assumes man as separate from, different from, and master of nature. It now becomes clear that the other metaphysical and epistemological approach has as its correlate the view of man as a part of nature and akin with all other aspects of nature. His task is to bring himself into a state of harmony with nature, rather than dominating it and making it over into what he demands it to be.

The different reactions of two mountain climbers may illustrate this. One, having reached the top by a circuitous and tortuous route, is filled with exultation at having

conquered the mountain. Viewing the panorama from its peak, he declares himself the master of all he surveys. The other, once having ascended the same peak, bows in gratitude to the mountain for having allowed him to reach its height.

The Chinese landscape paintings of the Sung dynasty are a classical example of the man in nature philosophy. In them nature, not man, is the dominant element. While there, he is found unobtrusively in the landscape, sitting under a tree, or offshore in a small boat. He is not the central focus of the painting; in fact, there is no single center but a number of them, such as a range of mountains or forest of trees. The effect created is that of a totality, an organic whole made up of a number of separate yet interdependent entities, each an integral part of the whole but subservient to it and blending into the whole.

The Sung paintings represent a Chinese metaphysical tradition in which nature is conceived of as an organic totality permeated by the life force Ch'i. It does not consist of sets of twos antithetical or alien to each other. Rather it is like a complex organism such as the body which is made up of many parts or organs working harmoniously together for the well being of each and the whole. As is projected in the painting, so in natue, distinctions are not sharp or radical, an effect created by the artist through the use of curved rather than straight lines. The different elements of fhe painting, the trees, water, mountains and empty space are continuum. They seem to coalesce with and supplement each other rather than the opposite.

This view of nature as an organized whole and man as an integral part of it is expressed beautifully by the philosopher Chang Tsai and his Western inscription—

> "Heaven is my father and Earth is my mother, and even such a small creature as I finds an intimate place in their midst. Therefore that which fills the universe I regard as my body and that which directs the universe I consider as my nature. All people are my brothers and sisters, and all things are my companions."

One effect of the man-in-nature outlook is that it may lead man to take a more modest view of himself. The same effect may come from viewing the landscape painting. It may come also from another view found in the East which stresses the ineffability or the ultimnate unknowability of nature. The Hindu and Buddhist says there is something about nature or reality which will remain hidden from us, at least in this life. We are unable to reach it It is beyond our grasp and control. It cannot be categorized, manipulated or mastered. The Taoist would assert we cannot even describe it, for "The Tao that can be named is not the eternal Tao; the name that can be named is not the eternal name. The nameless is the origin of heaven and earth. The named is the mother of all things." Such a view is in contrast to the Western one regarding knowing and doing, already discussed, with its insistence that, given time, there is nothing we cannot know or do.

Held up to the light of Taoism, the Western view seems a childish and arrogant one. It may be an example of man's unwillingness to admit his finiteness. On the other hand, to acknowledge that the Tao which can be named is not the Tao is to admit our finiteness.

Perhaps this is a good point at which to draw this essay to a close. It began by noting that we live in a global village wherein cultural exchange is occuring on a scale greater than ever before. The result is, or can be, fuller understanding of both each other and ourselves. We can not only see others as they are but see ourselves as others see us.

As we look toward the future, a basic question confronting us is the kind of world we will opt and work for. Will it be a monolithic or pluralistic one, one in which everyone is alike or one in which there is multiplicity ? Two tendencies we find in ourselves are the tendency to insist on conformity and the willingness to accept variety. The first is much more conducive to strife and war, the second to harmony and peace. For despite those dualists who would insist so, differences need not necessarily lead to conflict; they may result, instead, in a more creative and interesting world.

•

THE OUTCOME OF MEDITATION

If I have painted a formidable picture of the meditative way of life, let me summarize some of the tangible benefits that arise as the result of consistent effort :

—A heightened awareness of the Overself which, if needed, provides a protective armour against the accumulation of unnecessary karma.

—A marked acuteness of the senses accompanied by greater awareness of daily behaviour and habitual responses to life and to people.

—A therapeutic effect upon the mind and body arising from the occult law that "A mind imbued with Truth will keep the body in health."

—The development of a "one-pointed" mind resulting in a reduction of unnecessary worldly thoughts and an increase in the flow of thought towards the Higher Self.

—The cultivation of serenity from which arises those cherished moments when the "Higher nature touches the lower, and soul qualities of love, compassion and a kinship with all things springs forth."

—Spasmodic inner experiences which serve to assure the meditator that he is moving in the right direction.

—Gordon Limbrick

मानवीय मूल्यों के ह्रास का यक्ष-प्रश्न : मानव

डॉ० रामजी सिंह

अध्यक्ष, गांधी विचार विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर–७

मानवीय मूल्यों के ह्रास को लेकर भारत ही नहीं, विश्व में आज जितनी चिन्ता प्रकट की जा रही है और उन्हें सुदृढ़ करने के लिए जागतिक स्तर पर "नैतिक अभ्युत्थान" M. R. A., के नाम पर जितने तरह के प्रकट एवं प्रच्छन्न प्रयत्न हो रहे हैं, उनमें अधिकांश समस्याओं के मूल में जाने का साहस नहीं करते। नैतिकता हो या नैतिक मूल्य, शून्य से उद्भूत नहीं होते। वे सब समाज की राजनीति, समाज-व्यवस्था, संस्कृति आदि की उपज होते हैं। व्यक्ति सामाजिक जीव है और वह शिक्षा, संस्कार जीवन मूल्य आदि सब समाज से ही प्राप्त करता है। चिन्तन सब समाज सापेक्ष होता है, तभी उसमें यथार्थता भी होती है, अन्यथा तो वह मात्र बुद्धि-विलास एवं तात्त्विक गगन विहार हो जाता है। अफलातूं का प्रत्ययवाद, तात्त्विक चिन्तन का चाहे जितना भी प्रकृष्ट उदाहरण हो, शंकर का "मायावाद" एवं ब्रैडले का "आभासवाद" तत्त्वमीमांसा का जितना भी सर्वोत्कृष्ट प्रतिरूप हो, वास्तविक जीवन को वह दिशानिर्देश नहीं दे सकता। इसी तरह भारतीय तर्क में जाति, जल्प कौशल तथा आधुनिक भाषा विश्लेषण से भले ही विचार एवं चिन्तन में स्पष्टता मिलती हो, इसे हम दर्शन के वर्ग में नहीं रख सकते। भाषा के व्याकरण का महत्त्व है, लेकिन वह सृजनात्मक एवं सार्थक चिन्तन का ध्येय नहीं बन सकता। अतः इन विद्वानों द्वारा मानवीय मूल्य को समाज से जोड़ने के प्रयास को मैं अत्यन्त शुभ मानता हूँ।

लेकिन मानवीय मूल्य और समाज में अन्तःसम्बन्ध के विषय में चर्चा करने के पूर्व हमें मानव और समाज के सम्बन्धों पर एक दृष्टि स्थिर करनी ही होगी। लेकिन वह तभी स्पष्ट हो सकती है, जब हम मानव के स्वरूप को समझ लें। मानव कोई चेतना शून्य जड़ तत्त्व नहीं है, वह चेतन गतिशील एवं प्रतिक्रिया प्रस्तुत करने वाला प्राणी है। वह किसी मांस बेचने वाले की दूकान में पड़े हाड़-मांस का निर्जीव लोथड़ा नहीं, उसमें संवेदन, संवेग आदि भरे पड़े हैं। जड़ तत्त्व की भाँति उसकी प्रतिक्रिया बिलकुल यान्त्रिक नहीं होती, वह तो कभी अपने भाव और संवेग का दास दीखता है, कभी उसका नियामक एवं नियन्ता। यह ठीक है कि रोटी के बिना वह जी नहीं सकता, लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि केवल रोटी से ही वह नहीं जीता है, कभी तो वह विश्वामित्र के उच्चासन पर जाकर भी भूख को ज्वाला को शान्त करने के लिये धर्म-अधर्म को ताक पर रखकर चाण्डाल के यहाँ जाकर निषिद्ध प्राणी का अभक्ष्य मांस खाकर अपनी प्राण रक्षा करता है, लेकिन कभी रन्तिदेव की तरह भूख से अत्यधिक पीड़ित रहकर भी अपने आगे की थाल अतिथि को बढ़ा देता है, दधीचि बनकर परहित के लिये सहर्ष अपना अस्थिदान और कर्ण बनकर शरीर-चर्मयुक्त कवच भी दे देता है। आधुनिक समय में भी वह मार्क्स बनकर पीड़ित एवं पददलित मानवता के लिये अपना सुख एवं सौभाग्य भूलकर भगवान बुद्ध की तरह "बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय" यज्ञ में अपने को अभ्यर्पित कर देता है। संक्षेप में, मानव-जीवन की केवल आर्थिक और भौतिक व्याख्या करना अनैतिहासिक तो है ही, अ-मनोवैज्ञानिक

की है : मनुष्य को स्वभाव से स्वार्थी और दुष्ट मान लेने में निखिल मानव जाति का अपमान तो है ही, निराशावाद भी इसमें कमाल का है। विशुद्ध तत्वज्ञान की दृष्टि से भी, यदि मानव में अन्तर्निहित शुभ तत्वों को हम अस्वीकार करते हैं, तो फिर शिक्षण-प्रशिक्षण द्वारा संस्कार-परिष्कार के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो जायेंगे। यहीं तो सत्कार्यवाद का मूल है जिसके अनुसार जिसमें जो तत्व अन्तर्निहित रूप से भी विद्यमान नहीं होंगे, उससे वह प्रकट भी नहीं हो सकता। "नहि नीलसहस्रेण शिल्पि पीतं कर्तुं शक्यते। सतः सत् जायते।" मानवीय सभ्यता का विकास भी बर्बरता से सभ्यता और स्वार्थ से परार्थ तथा परमार्थ की ओर इंगित करता है। यदि मनोविज्ञान के जीर्ण शीर्ण मूल प्रवृत्ति मूलक सिद्धान्त का भी मूल्यांकन करे, तो उसमें यदि "दुष्टता की प्रवृत्ति" का उल्लेख है तो सहयोग की वृत्ति भी है। यदि विनाश वृत्ति है तो सृजन वृत्ति भी है। शायद इसीलिये तो कहा गया है— "सुमति कुमति सबके उर रहही"। यथार्थ हमारा आदर्श नहीं बन सकता। जीवन संग्राम में योग्यतमकी रक्षा होती है, लेकिन "योग्यतम की रक्षा का नियम मानव जीवन का आदर्श बन जाय, तो फिर मानव की मानवीयता— करुणा, सहानुभूति, परोपकार ही नहीं, समाज परिवर्तन के लिये सारे उपक्रम के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहेगी। अतः मानव को हम भले ही भगवान न माने (तत्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि), लेकिन उसमें देवता या दिव्यता का अंश मानना ही पड़ेगा। वह ईश्वर का अंश है या नहीं (ईश्वर अंश जीव अविनाशी), यह दार्शनिक विवाद का विषय हो सकता है, लेकिन उसमें भी कई ईश्वरीय गुण हैं, हम इसे कैसे अस्वीकार कर सकते हैं। "आदम खुदा नहीं, लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।" यह ठीक है कि मानव में दिव्यता के साथ दुष्टता के भी तत्व हैं, मैत्री और करुणा के साथ नृशंसता और निष्ठुरता भी उसकी वृत्ति में देखने को मिलती है। लेकिन मानव की अपूर्णता ही पशुता है और उसकी पूर्णता ही काल्पनिक देवत्व है। मानव में विकास की अनन्त सम्भावनायें हैं। वह साधु और सन्त ही नहीं, अर्हत् और सिद्ध भी बन सकता है। अतः जब हम मानव और समाज या मानवीय मूल्य एवं समाज के अन्तः सम्बन्ध पर विचार करें तो हमें मानव के स्वरूप को दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिये। मानव और समाज में भी मूल्य एवं महत्व व्यक्ति का ही होना चाहिये। आखिर व्यक्ति ही तो परम पुरुषार्थ है एवं व्यक्ति के द्वारा ही समाज का निर्माण होता है। समाज की सम्पूर्ण-व्यूह रचना व्यक्ति के समग्र विकास के लिये है। जो विचारक व्यक्ति की अपेक्षा समाज को महत्व देते हैं, उनके मानस में भी व्यक्ति का कल्याण ही रहता है। व्यक्ति ही मूर्त और शाश्वत साध्य है, समाज तो साधन है, चाहे वह कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो ? समाज के शिष्टाचार, मर्यादा आदि का महत्व है, लेकिन ये सब विधान व्यक्ति के विकास को ध्यान में रखकर ही बनाये जाते हैं। समाज का वह नियम व्यर्थ एवं अस्वीकार्य हो जाता है जिससे मानव-जीवन के उदात्त मूल्य लांछित और कलंकित होते हैं। समाज एवं धर्म की रूढ़ियाँ इन्हीं कारणों से तोड़ी जाती हैं। समाज के मूल्य भी मानवीय जीवन मूल्यों के आधार पर ही पुष्पित एवं पल्लवित होते हैं। सामाजिकता (Sociability) भी एक मानवीय जीवन मूल्य है। इसी के आधार पर सहानुभूति, सद्भाव एवं परोपकार की भावना अधिष्ठित होती है। समाज अनिवार्य संस्था अवश्य है, लेकिन व्यक्ति जैसा नैसर्गिक एवं प्राकृतिक नहीं। यही कारण है कि देश-काल के अनुसार समाज की संरचना, राजनीतिक व्यवस्था, विधि-व्यवस्था आदि बदले जाते हैं। परिवार, सम्पत्ति एवं राज्य जैसी महत्वपूर्ण संस्थाओं के अस्तित्व पर भी प्रश्न उठाये जाते हैं। यही नहीं, इन्हें मानवीय विकास में बाधक मानकर इनके निर्मूलन के लिये भी प्रयास होते हैं। दूसरी ओर इनके संशोधन एवं परिष्कार होते हैं। इन बातों से यही सिद्ध होता है कि मानव ही सबसे बड़ा मूल्य है— नहि श्रेष्ठतरं किंचित् मानुषात्। सबार ऊपर मानव सत्य, ताहार ऊपर नाई। (Man is the measure of all things)"। समाज-समाज के लिये नहीं व्यक्ति के लिये होता है। जो समाज व्यक्ति के विकास में बाधक बनने लग जाता है, उसी के परिवर्तन के निमित्त सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक क्रांतियाँ हुआ करती हैं। अतः क्रांति का

अधिष्ठाता-देवता मानव ही होता है। मानव-निरपेक्ष क्रान्ति, नृशंसता का शिकार बनकर मानवीय मूल्यों का निर्दलन करने लग जाती है। इसी से प्रतिहिंसा एवं प्रतिक्रियाओं का अन्तहीन क्रम बंध जाता है और मानवता कराहती रहती है। मानवीय जीवन मूल्य और मानव के मूल्य के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जो मानव की स्वायत्तता और प्रतिष्ठा का ख्याल नहीं करेंगे, वे मानवीय मूल्य के अधः पतन पर चाहे जितनी भी चिन्ता करेंगे, व्यर्थ है। इसलिये "मानव" ही मानवीय जीवन मूल्य का यक्ष—प्रश्न है।

मानव की सबसे बड़ी अभीप्सा है—मुक्ति। वह अनेक प्रकार के बन्धनों में पड़ा हुआ है, इसलिये मुक्ति उसकी बड़ी चाह है। अभाव, अज्ञान और अन्याय के बन्धनों में पड़ा मानव हमेशा मुक्ति के लिये छटपटाता रहता है। अभाव उसकी प्रतिभाओं को कुंठित करता है। अज्ञान उसे अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों का गुलाम बना देता है। अन्याय उसे भयग्रस्त करके उसकी सृजन शक्ति को दबा देता है। लेकिन यह तो भौतिक मुक्ति की बात हुई। उसकी मानसिक मुक्ति भी कम महत्व की नहीं। राग और द्वेष, चिन्ता और अभिनिवेश, क्रोध एवं लोभ आदि से वह कितना अधिक परेशान रहता है, इसका तो हम हृदय द्रावक दृश्य बढ़ती हुई मानसिक व्याधियों में देख सकते हैं। मनुष्य की भौतिक सुख-समृद्धि भले ही बढ़ी हो, लेकिन उसका मानसिक सुख एवं उसकी शान्ति भी बढ़ी है, यह नहीं कहा जा सकता है। शायद उपनिषद् की बात ही सही है—"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो।" इसीलिये तो मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से विनम्रता पूर्वक निवेदन किया था—"येनाहं नामृतास्यां, किमहं तेन कुर्याम् ?" कांचन, कामिनी एवं कीर्ति—तीनों से परिपूर्ण गौतम ने किसी आर्थिक या भौतिक कारण से गृह-त्याग नहीं किया था। इसका अर्थ है कि मानव के लिये कुछ समय तक तो भौतिक अभाव, शाब्दिक एवं शास्त्रीय अज्ञान एवं सामाजिक, राजनैतिक अन्याय के बन्धन रहते हैं, और फिर मानसिक असन्तोष, असन्तुलन और अशान्ति से भी वह छुटकारा चाहता है। अतः मुक्ति ही प्रकारान्तर से मानव की सबसे बड़ी अभीप्सा है। कभी वह भाग्य द्वारा छला जाता है, कभी प्रकृति उसे धोखा दे डालती है, फिर उसके माथे के ऊपर अनिवार्य मृत्यु की लटकती तलवार भी उसे न सुख से जीने देती है, न शान्ति से मरने ही देती है। यही नहीं, भारतीय चिन्तन परम्परा में इसी जीवन में उसके सम्पूर्ण दु.ख निःशेष नहीं हो जाते। बार-बार उसे कर्मफल के अनुसार जन्म लेना पड़ता है और मरना पड़ता है—"पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे करणं।" ऐसी स्थिति में यदि वह इस जन्म-मरण के बन्धन से ही छुटकारा चाहता है, तो न यह अस्वाभाविक है, न अव्यावहारिक। मुक्ति की चाह कोई स्वप्न-विहार नहीं, कोई भावा-विश्लेषण नहीं, बल्कि मानव प्रकृति की अनिवार्य माँग है।

तत्व मीमांसा की भाषा में जिसे हम मुक्ति कहते हैं, समाजशास्त्र के संदर्भ में उसे ही हम मानव की स्वायत्ता या स्वतन्त्रता कह सकते हैं। मानव तो क्या, पशु-पक्षी भी स्वतन्त्रता ही चाहते हैं। मुक्त आकाश में विचरण करता हुआ पक्षी सोने के पिंजड़ों में कैद होने के लिये कभी नहीं तरसता है। खूंटे में बँधा पशु हमेशा मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरण करना चाहेगा। इसीलिये मानव का सर्वोत्कृष्ट जीवन-मूल्य है—स्वतन्त्रता। संभवतः इसीलिये फ्रांस की क्रान्ति का मन्त्र "स्वतन्त्रता" के साथ समता एवं भ्रातृत्व है। भारत में भी स्वतन्त्रता के इसी जीवन-मूल्य को तिलक और गाँधी ने "स्वराज्य" की संज्ञा दी जिसका महत्व वैदिक-वाङ्मय में भी वर्णित है। स्वतन्त्रता की भावना मानव की स्वायत्ता को अभिव्यक्त करती है। इसलिये इसके साथ किसी दूसरे जीवन मूल्य के साथ लेन-देन का बनियाशाही हिसाब नहीं किया जा सकता। यह स्वतन्त्रता ही जनतान्त्रिक जीवन-मूल्य का आधार है। लेकिन पश्चिम की पूँजीवादी वाणिज्य वृत्ति की सभ्यता ने इस स्वतन्त्रता के साथ भी कुत्सित और गर्हित सौदेबाजी करके जनतन्त्र के सच्चे स्वरूप को विकृत कर दिया। निहित स्वार्थ ने आर्थिक समता की बात भुलाकर लोकतन्त्र को इतना नग्न कर दिया कि करोड़ों भूखी जनता के लिये वह निरर्थक एवं अप्रासांगिक बन गया है। यही कारण था कि रूसों ने "स्वतन्त्रता" के

साथ ही "समता" को जोड़ा था। आर्थिक लोकतन्त्र के बिना राजनैतिक लोकतन्त्र मात्र औपचारिक बन गया और यही कारण है कि कैरो से लेकर जकार्त्ता तक विकासशील देशों में लोकतन्त्र आकर भी अदृश्य हो गया। दो तिहाई जनसंख्या को गरीबी रेखा के नीचे रखकर तथा प्रायः उतने ही लोगों को निरक्षर रखकर भारतीय लोकतन्त्र भी कितने दिनों तक जी सकेगा—कहा नहीं जा सकता है। आज जिस प्रकार संसद् एवं विधायिका का अंकुश क्षीण होता जा रहा है, जिस प्रकार न्यायपालिका भी कार्यपालिका के समक्ष हतप्रभ होकर समपर्ण की मुद्रा में आ गयी है, जिस प्रकार संचार के साधनों पर सत्ता एवं पूँजीपतियों का सम्मिलित आधिपत्य है, जिस प्रकार लोकतन्त्र के स्तम्भ एक पर एक टूट रहे हैं, तथा कार्यपालिका के भी अधिकार सिमटकर वर्गतन्त्र एवं एकतन्त्र को जा रहे हैं, उस संदर्भ में हमारी स्वतन्त्रता भी मानो गिरवी रक्खी जा चुकी है। लेकिन लोकतन्त्र का विकल्प कभी भी अधिनायक तन्त्र नहीं हो सकता चाहे वह रूस-चीन में सर्वहारा या साम्यवाद के नाम पर हो या पाकिस्तान-ईरान में इस्लाम के नाम पर। विकृत लोकतन्त्र का विकल्प, परिष्कृत लोकतन्त्र ही होगा। कारण के लिये पुनः मूल में जाना होगा कि लोकतन्त्र के अन्तर्निहित स्वतन्त्रता का जीवन-मूल्य मानव-मुक्ति के साथ जुड़ा हुआ है। मुक्त-मन और मुक्त-मानव से ही सृजन संभव है, वही व्यवस्था में परिवर्त्तन और परिष्कार भी कर सकता है। पशु की तरह बँधा मानव विश्व को न कोई अवदान दे सकता है, न वह सुख-शान्ति से जीवन ही व्यतीत कर सकता है। आज अधिनायकवादी व्यवस्था तन्त्र में भी मानवीय स्वतन्त्रता की भूख और प्यास प्रकट हो रही है। युगोस्लाविया ने रूसी प्रभाव से अपनी राष्ट्रीय अस्मिता एवं स्वायत्तता को अक्षुण्ण रखने के लिए जो किया है, वह स्पष्ट है। पुनः उसी युगोस्लाविया के अन्दर वहाँ के संगठन के शीर्ष में रहे, श्री मिलवन जिलास ने मानवीय एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता लिए न जाने कितनी यन्त्रणाएँ सही। इटली आदि कई यूरोपीय देशों में यूरो-कम्यूनिज्म के नाम से साम्यवाद के जीवन-मूल्य के साथ मानवीय स्वतन्त्रता के मूल्य को साथ करके देखा जा रहा है एवं जहाँ मार्क्स-एंजेल्स को स्वीकार किया जाता है, वहाँ लेनिनवाद का परित्याग करके नृशंस साम्यवाद के बदले अमानवीय साम्यवाद की कल्पना की जा रही है। स्वयं रूस में पेस्टर नाइक, सोलजिन्सटीन और आज सोखोरोव दम्पति सौम्य ढंग से ही, सही स्वतन्त्रता के जीवन-मूल्य के लिये जूझ रहे हैं। पोलैंड में ९० लाख से अधिक मजदूर वेलेशा के नेतृत्व में स्वतन्त्र श्रमिक आन्दोलन के लिये संघर्षशील हैं। चीन में भी माओ के बाद उदारवाद का एक उतार आया ही था। स्टालिन के बाद रूस में भी क्रुश्चेव के समय साम्यवादी शासन में कुछ उदारता आयी थी। असल में स्वतन्त्रता मानव का शाश्वत जीवन-मूल्य है, उसके बिना उसे संतोष एवं शान्ति नहीं मिलती। यही है कि मुक्ति की चाह। असल में साम्यवाद ने मानव को एक वस्तु मानकर उसके साथ यांत्रिक दृष्टि से व्यवहार करना चाहा। उसने उसके भौतिक पक्ष को जितनी गहराई से समझा, उसके बौद्धिक एवं आध्यात्मिक पक्ष को नहीं। इसीलिये साम्यवाद मानव मुक्ति की घोषणा तो करता है, लेकिन वह उसे मुक्ति दे नहीं पाता।

यह ठीक है कि मानवीय-मूल्य या उसकी स्वतन्त्रता शून्य से न उद्भूत होती है और न शून्य में अवस्थित रहती है। इसलिये मानव-मूल्यों के उन्नयन के लिये मानव के आर्थिक-सामाजिक-राजनैतिक संदर्भों को भी समुन्नत करना होगा। इसी को बापू "स्वराज" कहते थे। यही उनकी "जड़मूल से क्रान्ति", डा० लोहिया की "सप्तक्रान्ति" और जे० पी० की "सम्पूर्ण क्रान्ति" है। मानव-मूल्यों का अभ्युत्थान यदि नाम और जप, पूजा और प्रार्थना से ही हो जाता, तो गाँधी हिमालय की गुफाओं में जाकर साधना करते। लेकिन वे तो आजीवन गलत समाज-व्यवस्था, गलत राजनीति, गलत शिक्षा आदि से संघर्ष करते रहे। हृदय परिवर्तन और विचार परिवर्तन के साथ उन्होंने व्यवस्था परिवर्तन को अत्यधिक महत्व दिया। उन्होंने "ईश्वर अल्ला तेरे नाम" की प्रार्थना ही नहीं की, बल्कि हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए नोआखाली और बिहार में घूमते हुए उसके लिए अपनी शहादत दी। उन्होंने "अछूतों", को केवल

हरिजन ही नहीं बनाया बल्कि कठोर सत्याग्रह के द्वारा उनके लिए मन्दिरों के द्वार भी खुलवाये और उन्हें हिन्दूजाति से अलग करने के दुश्चक्र को विफल कर देने के लिए आमरण अनशन के द्वारा अपने प्राणों की बाजी भी लगा दी। केन्द्रित अर्थव्यवस्था या केन्द्रित राजव्यवस्था में मानव की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कुठाराघात देखकर उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में खादी-ग्रामोद्योग की विकेन्द्रित व्यवस्था एवं राजनैतिक क्षेत्र में ग्राम-स्वराज्य या पंचायती व्यवस्था आदि की नींव डाली और स्वयंसेवी संस्थाओं का जाल बिछा डाला। वे शान्ति के मन्त्रदाता ही नहीं बने, पुलिस के विकल्प में शान्ति-सेना का संगठन बनाया। पूँजीवाद और साम्यवाद के विकल्प के रूप में ट्रस्टीशिप का विचार तथा शोषण एवं उत्पीड़न के लिये असहयोग एवं अवज्ञा की रणनीति भी रक्खी। शिक्षा के क्षेत्र में एक ऐसी शिक्षा की योजना रक्खी जिसमें मानव की समग्रता सुरक्षित रहे और मानव को मुक्ति मिल सके—"सा विद्या या विमुक्तये।" संक्षेप में, गाँधी ने मानवीय-मूल्यों के अभ्युत्थान के लिये मानव की स्वतन्त्रता के अनुरूप समाज-व्यवस्था की संरचना की। गाँधी मानव-मुक्ति के मन्त्र-द्रष्टा और स्वयं द्रष्टा ही नहीं बने, बल्कि ऐसी समाज-व्यवस्था के आचार्य भी बने जिसमें मानव स्वतन्त्रता की सांस ले सके। उसका मस्तक ऊँचा रहे, मस्तिष्क उन्मुक्त रहे एवं हृदय उदात्त एवं उदार रहे।

यही कारण था कि गाँधी निष्ठावान हिन्दू होते हुए भी हिन्दुत्व की संकीर्णताओं से मुक्त रहे, प्रबल देशभक्त होते हुए भी संकुचित देशाभिमानी नहीं बने, हरिजनों के परम मित्र होकर भी सवर्णों के प्रति विद्वेष नहीं रक्खा और अंगरेजी शासन से सदैव संघर्ष करते हुए भी अंगरेजों से कभी घृणा नहीं की। गाँधी ने बुराई से संघर्ष किया, बुरे आदमी के लिये दुर्भावना नहीं रक्खी। असल में उसे मानव की अन्तर्निहित साधुता में अखण्ड विश्वास था। उसके अनुसार, मानवों के बीच प्रेम नैसर्गिक एवं स्वाभाविक है। हाँ, झंझट-झगड़े की वजहें हुआ करती हैं। यदि हम एक ऐसी मानवीय समाज-व्यवस्था का निर्माण कर विग्रह के कारणों को दूरकर सकें, तो मानव मूल्यों का ह्रास अवश्य रुक जायगा। आध्यात्मिक और नैतिक अभ्युत्थान के अलग से बड़े-बड़े साइन बोर्ड लगाने एवं उसके आन्दोलन खड़े करने से मानव-मूल्यों का ह्रास नहीं रुक सकता, जैसा मैंने प्रारम्भ में निवेदन किया था कि आज साम्यवाद से लड़ने का भी अमरीकी सी० आई० ए० द्वारा चालित शिखंडीनुमा तरीका (एम० आर० ए०) प्रतिक्रियोत्पादक (रिएक्शनरी) होगा। दुर्भाग्य से जनतंत्र का सबसे बड़ा भौगोलिक क्षेत्र संयुक्त राज्य अमरीका विश्व में अधिनायकवादी सत्ता का ही पृष्ठ पोषण करता रहा है, चाहे वह भारत-पाक के बीच पाकिस्तान को मदद देने का हो, या जेरेन्डा, एल सल्वाडोर, ब्राजिल आदि देशों की जनवादी सरकारों के खिलाफ उन सरकारों को उलटने का सवाल हो। उसी तरह आनन्द मार्ग, जयगुरुदेव, साईं-बाबा, ब्रह्म कुमारी, गायत्री यज्ञ तथा अन्य धार्मिक पुरातनवादी संस्थाओं के द्वारा नैतिक-आध्यात्मिक उन्नयन के कामों के विषय में गंभीरता पूर्वक चिंतन करना होगा कि समाज के ज्वलन्त आर्थिक-राजनैतिक-सामाजिक समस्याओं के समाधान के बिना नैतिक उन्नयन का विचार एक दिवास्वप्न रहेगा। आधुनिक भारत में अध्यात्म के नाम पर मन्त्रवाद और नैतिकता के नाम पर मात्र धार्मिक एवं नैतिक प्रवचन का ज्वार उठ रहा है। लेकिन इस तथा कथित नैतिक-आध्यात्मिक-धार्मिक घटाटोप से सामाजिक क्रान्ति की धार कुंद करने का दुश्चक्र वृथा होगा। आग पर राख डाल देने से आग नहीं बुझती है, वह दब जाती है। अतः नैतिक मूल्यों के ह्रास को रोकने के लिये राजनीति का कायाकल्प सोचना होगा। भ्रष्ट से भ्रष्ट राजनेता इन नैतिक गुरुओं से आशीर्वाद ले जाय, इससे नैतिकता का राजनीतिकरण होता है, राजनीति का अध्यात्मीकरण नहीं। राजनीति कोई अस्पृश्य वस्तु नहीं जिसे हम छुएँ नहीं। याद रक्खें—"सर्वे धर्मा राजधर्मे निमग्नाः।" यह आवश्यक नहीं कि राजनीति के पद पर हम जाय ही, लेकिन राजनीति एवं राजनेताओं पर यदि नैतिक एवं धार्मिक नेता अपनी कड़ी निगाह एवं कठोर अनुशासन नहीं रक्खेंगे तो राजनीति उनका भी शोषण करने से नहीं चूकेगी। राजनैतिक भ्रष्टाचार, सिद्धान्तहीन

राजनीति में उत्पन्न दल-बदल की व्याधि, सम्प्रदाय एवं जाति तथा पैसे की थैली एवं बन्दूकों की नोंक पर वोट प्राप्ति के खिलाफ जबतक जेहाद नहीं बोला जायगा, नैतिक मूल्यों के उन्नयन की बात मृग-मरीचिका ही रहेगी। इसी प्रकार आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूढ़ियों पर कठोर से कठोर प्रहार करने पड़ेंगे। नैतिक उत्थान के आन्दोलन एवं आर्थिक क्षेत्र में, मिलावट, जमाखोरी, चोर-बाजारी साथ-साथ नहीं चल सकते, दहेज, शराब, अस्पृश्यता एवं साम्प्रदायिक विद्वेष के साथ धर्म की बातें नहीं हो सकती।

नैतिक उन्नयन के लिये कोई शार्ट कट नहीं है। इसके लिये समाज का समग्र-परिवर्तन परमावश्यक है। समाज-परिवर्तन को दर किनार रखकर हम नैतिक अभ्युत्थान की चर्चा कर स्वयं अपने को धोखा देंगे। मानवीय मूल्य और समाज में अन्तः सम्बन्ध को हम जितनी दूर तक अपने विचार एवं आचार में स्वीकार कर सकेंगे, उसी मात्रा में मानवीय मूल्य की प्रतिष्ठा होगी।

●

अष्टादश दोष विमुक्त धर्म

आधुनिक युग में सच्चा धर्म वह है जिसमें कुन्दकुन्दोक्त सद्गुरु के अठारह दोषों के समान निम्न अठारह दोष न हों :

१. क्षमाशील ईश्वर की मान्यता
२. जातिपाँति, उच्च-नीच की मान्यता
३. नर-नारी विषमता
४. पलायनवादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन
५. संसार की दुखमयता की मान्यता
६. पूर्ण ज्ञानित्व की मान्यता
७. पशु बलि की स्वीकृति
८. शास्त्र/आगम की प्रकांड प्रामाणिकता
९. अवनतिशील संसार की मान्यता
१०. बाह्यलिंग की मान्यता
११. परंपरामोह का प्रश्रय
१२. अनर्थक कष्टों की पूज्यता
१३. दिग्विजयादि की पुण्यात्मकता
१४. विषमताओं का प्रश्रय
१५. क्रियाकांड की मुख्यता
१६. सद्गुणों की भी पापमयता
१७. काल्पनिक सृष्टि-रचना
१८. चमत्कारिकता

—'संगम'

आधुनिक युग और धर्म

डॉ० वशिष्ठ नारायण सिन्हा
दर्शन विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी–२

आधुनिक युग को प्रायः हम इन नामों से सम्बोधित करते हैं—'विज्ञान का युग', 'समाजवाद का युग' तथा "गाँधीवाद का युग"। इस युग में विज्ञान के विविध चमत्कार देखे जाते हैं। सर्वत्र हमें विज्ञान का प्रकाश ही दिखाई देता है। अतः इस युग को विज्ञान के साथ सम्बन्धित करना अच्छा लगता है। कार्ल मार्क्स ने पूँजीवाद का विरोध करके समाजवाद को प्रतिष्ठित किया। तब से आज तक समाजवाद को विभिन्न रूपों में विकसित हम पाते हैं और इसका वर्तमान युग पर गहरा प्रभाव है। फिर तो क्यों नहीं हम इस युग को समाजवादी युग कहें? महात्मागाँधी जो आज के युग पुरुष माने जाते हैं, ने भारतवर्ष को तो स्वतन्त्रता दिलाई ही, विश्व के सभी गरीब और गुलाम लोगों को समुचित मार्ग प्रदर्शन करने की कोशिश की। अतः विश्व में गाँधीजी के सिद्धान्तों के प्रभाव देखे जाते हैं और हम भारतवासी तो 'गाँधीवाद' को ही अपना 'श्रेय' समझकर चल रहे हैं। यद्यपि यह बात कुछ और है कि हम इस सिद्धान्त को सही रूप में अपनाने में कहाँ तक सफल हो रहे हैं?

अब सर्व प्रथम हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि धर्म क्या है? धर्म हमारे जीवन के लिए कितना महत्त्वपूर्ण है? तभी हम यह निर्णय कर सकेंगे कि आधुनिक युग के जो तीन रूप हैं उनसे धर्म बिलकुल अलग है अथवा इसका भी उनमें किसी न किसी रूप में समावेश है।

धर्म

पाश्चात्य विचारक गैलवे ने धर्म को परिभाषित करते हुए कहा है—"धर्म वह है जिसमें अपने से परे किसी शक्ति के प्रति मानव श्रद्धा के द्वारा अपनी संवेगात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करके जीवन में स्थिरता प्राप्त करता है और जिस स्थिरता को वह उपासना और सेवा में अभिव्यक्त करता है।"[1]

इस परिभाषा के अनुसार धर्म जिन तथ्यों से सम्बन्धित होता है, वे इस प्रकार हैं :

(क) अपने से परे कोई शक्ति
(ख) मानव की श्रद्धा
(ग) संवेगात्मक आवश्यकताएँ

---

1. Religion is a man's faith in a power beyond himself whereby he seeks to satisfy emotional needs and gains stability of life, and which he expresses in aets of worship and service". —G. Gallowey, The Philosphy of Religion, P, 184

(घ) जीवन की स्थिरता

(ङ) जीवन की स्थिरता की अभिव्यक्ति-उपासना और सेवा के रूपों में।

इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है—'जीवन की स्थिरता'। व्यक्ति इसकी ही उपलब्धि करता है और इसे ही अभिव्यक्ति प्रदान करता है। जीवन की स्थिरता तब प्राप्त होती है जब मनुष्य की संवेगात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। संवेगात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति तब होती है जब व्यक्ति के मन में श्रद्धा होती है। श्रद्धा किसी उस शक्ति के प्रति होती है जो अपने से परे है। जीवन की स्थिरता का मतलब है जीवन की व्यवस्था जिससे सुख-शान्ति प्राप्त होती है। संवेगात्मक आवश्यकताएँ व्यक्ति के स्वभाव से सम्बन्धित होती है। अपने से परे किसी शक्ति के प्रति श्रद्धा होनी चाहिए, इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वह शक्ति कौन सी है? वह परे शक्ति ईश्वर के रूप में अथवा अन्य किसी रूप में भी श्रद्धेय हो सकती है। इस प्रकार धर्म जीवन की स्थिरता को लक्ष्य बनाकर परे शक्ति के प्रति श्रद्धा के माध्यम से मानव के संवेगों की पूर्ति करता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि धर्म मानवीय स्वभाव से सम्बद्ध है, तथा ईश्वरीय परिधि के भीतर अथवा बाहर रहने के लिए स्वतन्त्र है। कोई भी धर्मानुयायी इसके लिए बिलकुल स्वतन्त्र है कि वह ईश्वर को परे शक्ति के रूप में ग्रहण करे अथवा नहीं।

मसीह साहब ने धर्म की एक परिभाषा प्रस्तुत की है जिसमें उन्होंने विलियम केनिक (Kennick) एरिख फ्रॉम (Erich Fromm) एवं विलियम ब्लैकस्टोन (Bloekstone) के विचारों को समाहित करने का प्रयास किया है :

"धार्मिक विश्वास यह है जो किसी निष्ठा (Devotion) के विषय के प्रति सम्पूर्ण आत्मबन्धन (Commitment) के आधार पर जीवन की समस्याओं की ओर सर्वव्यापक रीति से व्यक्ति को अभिमुख (Oriented) करें।"[२]

यह परिभाषा समकालीन चिन्तकों की चिन्तन पद्धतियों के आधार पर बनाई गई है। इसमें जिन पक्षों पर बल दिया गया है, वे इस प्रकार हैं :

(क) निष्ठा, (ख) निष्ठा का विषय, (ग) आत्मबन्धन, (घ) जीवन की समस्याएँ, (ङ) व्यापक रीति।

धार्मिक व्यक्ति में किसी के प्रति निष्ठा होनी चाहिए। उसमें सम्पूर्ण आत्म बन्धन होना चाहिए यानी निष्ठा आत्म बन्धन से परिपुष्ट होनी चाहिए और उसके आधार पर जीवन की समस्याओं का समाधान होना चाहिए। किन्तु समस्या समाधान करने की पद्धति को संकुचित नहीं बल्कि सर्वव्यापी होना चाहिए। इस परिभाषा में जीवन की समस्याओं के समाधान को प्रमुखता दी गई है। किन्तु इसमें भी यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि निष्ठा किसके प्रति होनी चाहिए।

भारतीय परम्परा में यह माना गया है कि 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है—'धारण करना'। अतः धर्म को इस रूप में परिभाषित किया जाता है—"धारयति इति धर्मः" अर्थात् जो हमें धारण करता है वही हमारा धर्म होता है। धारण करने से मतलब है—'जीवन को धारण करना'। जिस पर हमारा जीवन आधारित होता है वही हमारा धर्म होता है। जिससे हमारा जीवन व्यवस्थित होता है, वही धर्म है।

2. Religious beliefs provide an all pervasive frame of reference or a focal attitude of orientation to life and induce a total commitment to an object of devotion.
—सामान्य धर्म दर्शन—पृ० २३।

भारतीय परम्परा में मानव जीवन की उपलब्धियाँ दो प्रकार की मानी गई हैं—लौकिक तथा पारलौकिक। लोक यानी समाज में रहते हुए सुख शान्ति प्राप्त करना लौकिक उपलब्धियाँ मानी जाती हैं तथा सांसारिक जीवन के बाद अर्थात् मृत्यु हो जाने पर स्वर्ग प्राप्त करना, मोक्ष पाना पारलौकिक उपलब्धियाँ समझी जाती हैं। धर्म लौकिक जीवन में तो सहायक होता ही है, पारलौकिक जीवन के लिए भी सहायता प्रदान करता है। इसलिए हमारे यहाँ पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को महत्त्व दिया गया है। इनके माध्यम से व्यक्ति अपने लौकिक जीवन की तो समुचित व्यवस्था कर ही लेता है, साथ ही पारलौकिक जीवन के लिए भी साधना कर लेता है।

धर्म विश्वास है, आस्था है। इसमें तर्क-वितर्क को कम महत्त्व दिया जाता है। धार्मिक व्यक्ति गुरु के वचनों को सुनता है अथवा शास्त्रों में पढ़ता है और उन्हें सत्यरूप में ग्रहण कर लेता है। प्रमाण के क्षेत्र में इसे शब्द-प्रमाण अथवा श्रुतज्ञान के रूप में स्थान मिला है।

देश और काल के अनुसार धर्म में परिवर्तन देखे जाते हैं। चूँकि धर्म व्यक्ति के जीवन को धारण करता है, इसलिए ठण्ड तथा गर्म प्रदेशों में रहने वाले लोगों के धर्म बिलकुल एक ही हों, ऐसा नहीं हो सकता। गर्म प्रदेश के वासियों के धर्माचार में नित्य स्नान करके अर्चना-वन्दना करने का विधान देखा जाता है। किन्तु यही आचार यदि ठण्डे प्रदेश के रहने वालों के लिए भी निर्धारित हो, तब तो यह धर्माचार जीवन का पोषक नहीं, बल्कि नाशक साबित होगा। अहिंसा को परम धर्म मानते हुए मांसभक्षण का विरोध किया जाता है, किन्तु जंगल में रहने वालों के लिए यदि यही धर्म-व्यवस्था हो, तब तो वे भूखे मर जायेंगे और धर्म उनके लिए घातक सिद्ध होगा।

प्राचीन काल में भारतीय समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था थी। चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में बैठने-उठने, खान-पान, शादी आदि के बहुत ही कठिन नियम थे, जिन्हें न मानने पर समाज व्यक्ति को कठोर दण्ड देता था। आज भी वर्णों के विविध रूप देखे जाते हैं, किन्तु प्राचीन नियमों को लेकर चलने वाला व्यक्ति आज के समाज में रह नहीं सकता। इसी तरह समयानुसार नियमों के अपवादों या परिवर्तनों के कारण ही जैनधर्म में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर, बौद्धधर्म में हीनयान तथा महायान, ईसाई धर्म में कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट, इस्लाम धर्म में शिया और सुन्नी शाखाएँ बनीं। काल के अनुसार यदि धर्म में परिवर्तन न हो तो धर्म हमें क्या धारण करेगा, हम ही उसे धारण करने में असमर्थ हो जायेंगे।

धर्म के मूल्य

सत्यं, शिवं तथा सुन्दरं सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वमान्य मूल्य हैं। इन्हें हम धर्म के मूल्य कहें अथवा मानव जीवन के मूल्य कहें। इनसे अलग होकर मानव जीवन, मानव जीवन नहीं रह जाता और न कोई धर्म धर्म बन पाता है। ये तीन मूल्य एक दूसरे के पूरक हैं। जो सत्य होता है, वह शिव यानी कल्याण रूप तथा सुन्दर होता है। जो कल्याणकारी होता है, वह सत्य होता है, सुन्दर होता है तथा जो सुन्दर होता है, वही कल्याणकारी और सत्य होता है। कभी-कभी सामान्य जीवन में इनके कुछ अपवाद भी देखे जाते हैं, किन्तु यदि सही अर्थ में मूल्य के रूप में इन्हें समझने की कोशिश करेंगे, तो अवश्य ही इन्हें एक दूसरे के पूरक के रूप में पायेंगे। चूंकि ये ही परम मूल्य हैं, इसलिए जहाँ कहीं भी ये होते हैं, वहीं पर धर्म होता है। धर्म की सुदृढ़ता इन्हीं पर निर्भर करती है।

विज्ञान और धर्म

आज के वैज्ञानिक चमत्कारों को देखकर धार्मिक आस्थाएँ डगमगाने लग जाती हैं और धार्मिक व्यक्ति किंकर्तव्य विमूढ़-सा हो जाता है। चाँद जिसे वैदिक परम्परा ही नहीं, बल्कि इस्लाम परम्परा में भी महत्त्व दिया गया है, साहित्य

जिसकी सुन्दरता का बखान करते नहीं थकता, उस चाँद पर आज के वैज्ञानिक छलांगें लगा रहे हैं। जन्म और मृत्यु जिनसे जीवन की सीमाएँ निर्धारित होती हैं, उन्हें भी आज का विज्ञान नियन्त्रित करने पर लगा है। जन्म और मृत्यु की दरें घटायी जा रही हैं। अब तो जन्म के लिए माँ का गर्भ आवश्यक नहीं रह गया है, उसके लिए तो परखनली ही पर्याप्त है। वैज्ञानिकों ने अपने ही जैसा मनुष्य (रोबोट) भी तैयार कर लिया है, जो प्रायः सभी मानवीय कार्यों को कुशलतापूर्वक कर लेता है। आत्मा या चेतना जिसे किसी इन्द्रिय से जान पाना मुश्किल है, उसे भी वैज्ञानिकों ने शीशे में बन्द करने का प्रयास किया है। सूखा और बाढ़ की स्थितियों में ईश्वर की दुहाई दी जाती थी, किन्तु अब इनके लिए भी ईश्वर की जरूरत नहीं होगी। विज्ञान सभी मानव क्षेत्रों में पहुँच चुका है। धर्म में प्रधानता पाने वाला ईश्वर महत्त्वहीन सा जान पड़ता है। ऐसे तो निरीश्वरवादी धर्मों ने पहले ही ईश्वर को अनावश्यक घोषित कर दिया है, परन्तु विज्ञान ने तो ईश्वर की स्थिति को और नाजुक बना दिया है। बी० एन० हेफर ने लिखा है :

"ईश्वर मानव के लिये अनावश्यक और लुप्तप्राय हो गया है।"[3]

इसमें कोई शक नहीं कि आज का मानव अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों को देखकर इतरा रहा है और उसे अपनी गरिमा के सामने ईश्वर तथा धर्म तुच्छ दिखाई पड़ रहे हैं। किन्तु जिस परमाणु शक्ति की खोज ने उसे विकास की चोटी पर पहुँचा दिया है उसी में मानव का सर्वनाश भी निहित है। विज्ञान आकाश में अपना विश्राम स्थल बना सकता है पर वह स्थायी रूप लेने के बजाय ध्वस्त भी हो सकता है और मानव के लिये विश्राम दाता न बनकर प्राणघातक भी सिद्ध हो सकता है। फिर तो आज का विज्ञान क्या बता सकता है कि वह किधर जा रहा है—आकाश की ओर या मृत्यु की ओर ? मानव जीवन के दो पक्ष हैं—बुद्धि तथा पशुता। विज्ञान तरह-तरह के प्रयोगों के आधार पर मानवीय बुद्धि को विकसित कर रहा है जिससे मानव जीवन एकांगी होता जा रहा है। मानव में छिपी हुई पशुता आज के विज्ञान के कारण बलवती होती जा रही है। जिस तरह एक पशु दूसरे पशु के खाद्य को बलात् खा जाना चाहता है उसी तरह आज का मानव अपना विकास और दूसरे का विनाश चाह रहा है जिसके लिए वह युद्ध के नए-नए उपकरणों के निर्माण एवं संकल्प में लगा है। उसकी पशुता बढ़ती जा रही है और मानवता घटती जा रही है। मनुष्य को पशु से मानव यदि कोई बना सकता है, तो वह धर्म ही है। धर्म में कोई प्रयोग या परीक्षण नहीं होता। इसका सम्बन्ध जीवन के आन्तरिक पक्ष से है। आन्तरिक पक्ष ही विकसित होकर जीवन को समग्रता प्रदान करता है। विज्ञान की उपलब्धियां मानव जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध होती हैं किन्तु उनके दुरुपयोग भी उनके साथ होते हैं। जब तक मनुष्य में धर्म की उदारता नहीं आती है, तब तक वह अपने को विज्ञान के दुरुपयोग से नहीं बचा सकता है। अतः यद्यपि विज्ञान और धर्म के अलग-अलग क्षेत्र हैं, पर दोनों एक दूसरे के सहयोगी हो सकते हैं, पूरक हो सकते हैं। और आज का मानव सिर्फ विज्ञान को ही न अपनाए बल्कि धर्म का भी अनुगमन करे तो उसके लिए श्रेयस्कर है।

समाजवाद और धर्म

पाश्चात्य विचारक रोशन ने कहा है—"समाजवाद उन प्रवृत्तियों का समर्थक है जो सार्वजनिक कल्याण पर जोर देती हैं।"[४] यह सिद्धान्त समाज में एक स्तर तथा समानता लाने का प्रयास करता है। किन्तु समाजवाद के

3. God has been edged out from every human sphere of life and he has become obsolete.
—सामान्य धर्म दर्शन—पृ० ४६।

४. समाजदर्शन की भूमिका—डॉ० जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० २७८।

समर्थकों में दो प्रकार के विचारक देखे जाते हैं। कुछ समाजवादी विचारकों की यह मान्यता है कि समाजवाद को हिंसात्मक तरीके से ही लाया जा सकता है। कुछ दूसरे प्रकार के विचारक यह मानते हैं कि हिंसात्मक ढंग से लाया हुआ समाजवाद उतना अच्छा नहीं होता जितना कि अहिंसात्मक ढंग से लाया हुआ समाजवाद होता है। अतः अहिंसात्मक पद्धति से ही समाजवाद की स्थापना होनी चाहिए। जर्मनी के एक विचारक न्यूक्नर ने कहा था— "झोपड़ियों में सुख-शान्ति हो और राज-प्रासादों का विकास हो।"[५] स्वयं कार्ल मार्क्स ने भी हिंसात्मक पद्धति का ही समर्थन किया है। धर्म को तो उन्होंने जहर कहा है। जिस प्रकार जहर प्राणघातक होता है, उसी प्रकार धर्म भी समाज के लिए विनाशक है। समाज के एक पक्ष का नाश करके दूसरे पक्ष का विकास करना निश्चित ही सामाजिकता को कमजोर करने की बात है। समाजवाद तो समानता लाना चाहता है। यदि किसी एक पक्ष को नष्ट कर दिया जाता है, तो समाजवाद की मान्यता ही समाप्त हो जाती है। कार्ल मार्क्स ने यदि धर्म को जहर कहा है, तो इससे ऐसा समझना चाहिए कि संभवतः उसकी दृष्टि धार्मिक रूढ़ियों की ओर थी, जिनसे धर्म या समाज का विकास नहीं बल्कि ह्रास होता है। क्योंकि धर्म तो एक व्यवस्था है, एक पद्धति है जिससे अलग नहीं हुआ जा सकता।

भारतीय परम्परा में सामाजिक व्यवस्था का आधार तो धर्म ही है। ऋग्वेद में समाज को एक शरीर के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसके चार अंग माने गए हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ये वर्ण एक दूसरे के पूरक समझे गए हैं और इनके सहयोग से समाज की सम्पूर्णता विकसित होती है। भारतीय परम्परा में कहीं भी ऐसा विधान नहीं हुआ है कि एक का नाश करके दूसरे का विकास हो। आज के भारतीय समाजवादी—आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण आदि अहिंसावादी समाजवाद के समर्थक हैं। जहाँ अहिंसा है, वहाँ धर्म है। प्रसिद्ध उक्ति है—'अहिंसा परमोधर्मः' अर्थात् अहिंसा ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है। धर्म और समाज के महत्वों को देखते हुए पं० दीनदयाल उपाध्याय ने कहा है:

"हमें धर्मराज्य, लोकतन्त्र, सामाजिक समानता और आर्थिक विकेन्द्रीकरण को अपना लक्ष्य बनाना होगा। इन सबका सम्मिलित निष्कर्ष ही हमें एक ऐसा जीवन-दर्शन उपलब्ध करा सकेगा जो आज के समस्त झंझावातों से हमें सुरक्षा प्रदान कर सके। आप इसे किसी भी नाम से पुकारिये—हिन्दुत्ववाद, मानवतावाद अथवा अन्य कोई नयावाद, किन्तु यही एकमेव मार्ग भारत की आत्मा के अनुरूप होगा और जनता में नवीन उत्साह संचारित कर सकेगा।"

गाँधीवाद और धर्म

गाँधीजी सत्य और अहिंसा के पुजारी थे। उनके अनुसार सत्य ईश्वर है या ईश्वर सत्य है और अहिंसा के मार्ग पर चलकर ही ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है। गाँधीजी पर जैन साधक श्रीमद्राजचन्द्र, पाश्चात्य विचारक थोरियो (Thoreau), रस्किन (Ruskin) तथा टॉल्सटॉय (Tolstoy) के प्रभाव थे। धर्म तो उनकी चिन्तनपद्धति का आधार स्तम्भ है। किन्तु धर्म का प्रयोग उन्होंने कभी भी किसी संकुचित अर्थ में नहीं किया। उन्होंने कहा है— "धर्म से मेरा तात्पर्य किसी औपचारिक या व्यावहारिक धर्म से नहीं है, वरन् उस धर्म से है जो सभी धर्मों का मूल है और जो हमें स्रष्टा का साक्षात्कार कराता है"[७]। उनका विश्वास धार्मिक सहिष्णुता तथा धर्मनिरपेक्षता में था। गाँधीजी

---

५. वही पृ० २७८।

६. पं० दीनदयाल उपाध्याय, राष्ट्र चिंतन पृ० ७४।
समाजदर्शन की भूमिका—पृ० २८४।

७. वही पृ० ३६७।

के मन में सभी धर्मों के प्रति आदर का भाव था। इसीलिए उन्होंने कहा है—"मैं वेदों के एकमात्र ईश्वर में विश्वास नहीं करता। मेरा विश्वास है कि बाइबिल, कुरान और जेन्द-अवस्ता में उतनी ही ईश्वरीय प्रेरणा है जितनी कि वेदों में पायी जाती है।"[८] उनकी प्रार्थनासभा में प्रायः सभी धर्मों की प्रार्थनाएँ होती थी। धर्म के सम्बन्ध में उनका यह विश्वास था कि यदि कोई व्यक्ति किसी एक धर्म को अच्छी तरह से समझकर उसका अनुगमन करता है तो उसे उसके मन में अन्य धर्मों के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव नहीं उत्पन्न हो सकता है। इसलिए उन्होंने कहा है कि यदि हिन्दू को अपने धर्म से असन्तोष है, तो वह उसका अध्ययन करके एक अच्छा हिन्दू बने। वे अपने विषय में कहा करते थे कि मैं एक कट्टर हिन्दू हूँ, इसीलिए एक ईसाई भी हूँ, एक मुसलमान भी हूँ, एक जैन और बौद्ध भी हूँ।

गाँधीजी की धर्मनिरपेक्षता का कुछ नासमझ लोगों ने यह भी अर्थ लगाया है—धर्म की अपेक्षा नहीं या धर्म की कोई आवश्यकता नहीं। भला, सत्य और अहिंसा का अनुयायी धर्म से अपने को विमुख रखेगा ? पर कुछ लोग अपनी भूल को छुपाने के लिए गाँधीजी के कथनों के अर्थ न प्रस्तुत करके अनर्थ ही प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में, गाँधीजी एक धार्मिक व्यक्ति थे और धर्म को अपने विचारों में उन्होंने सच्चा और सार्थक रूप दिया है।

इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिक युग धर्म से अपने को अलग करके अपना कल्याण नहीं कर सकता। यह युग चाहे विज्ञान को अपनाये अथवा समाजवाद को या गाँधीवाद को या अन्य किसी वाद को, परन्तु धर्म तो इसके साथ रहेगा। क्योंकि धर्म एक आस्था है, एक व्यवस्था है, जीवन का आधार है। जो भी हमारे जीवन को व्यवस्था करता है, जिसपर हमारा जीवन आधारित है, वही हमारा धर्म है। जीवन की व्यवस्था यदि गाँधीवाद से होती है तो गाँधीवाद धर्म है, यदि जीवन की व्यवस्था समाजवाद या साम्यवाद से होती है, वही धर्म है। हाँ, इतनी बात जरूर है कि धर्म को काल के अनुसार अपने में परिवर्तन लाना होगा। प्राचीनकाल में प्रतिपादित धर्म को हम यदि आधुनिक युग में बिना किसी परिवर्तन के लाना चाहेंगे तो, धर्मानुगमन असम्भव नहीं तो मुश्किल अवश्य होगा। जैनों का अनेकांतवाद इस दिशा में हमारा परम मार्ग-दर्शक होगा।

•

वर्तमान जीवन के लिये,
प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिये,
जन्म, मरण और मोचन के लिये,
दुःख प्रतिकार के लिये,
कोई साधक विविध काय के जीवों की हिंसा
करता है, करवाता है या अनुमोदन करता है,
वह उसके लिये अहित और
अबोधि के लिये होती है।

—आचारांग, शास्त्र परिज्ञा

---

८. वही पृ० ३६८।

धार्मिक परिप्रेक्ष्य में—आज का श्रावक

डॉ० सुभाष कोठारी

शोध अधिकारी, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसे समाज, परिवार, राष्ट्र से जुड़े होने के कारण प्रत्येक क्षेत्र में अपने कार्य व्यवहार को करना पड़ता है और करता है। २५०० वर्ष प्राचीन महावीर समाज की तुलना वर्तमान समाज से करें, तो हम पाते हैं कि महावीर के प्रचलित सिद्धान्त व उपदेश दोनों ही समयों में युगानुकूल थे व है, आवश्यकता सिर्फ उसे अन्तःस्पर्शित कर समझने की है। हाँ, यह अवश्य है कि देश काल की परिस्थितियों से आज का मानव तार्किक व वक्र हो गया है जब कि महावीर युगीन मानव मद्र व सरल प्रकृति का था।

विभिन्न धर्म ग्रन्थों में साधना की मुख्य रूप से दो ही विधियाँ प्रचलित है—प्रथम गृहस्थावस्था का त्याग कर संन्यासी, योगी, मुनि व भिक्षु बनना व द्वितीय ग्रहस्थावस्था में रहकर श्रावक, उपासक, अनुयायी व गृही बनना। दोनों ही के पालन करने योग्य कुछ नियम पूर्वाचार्यों ने धर्मग्रन्थों में प्रतिपादित किये है। यह एक अलग बात है कि वे नियम कहाँ तक पालन होते हैं। जैन आचार ग्रन्थों में श्रावक व उसके पालन करने के नियमों का विस्तार वर्णित है।

श्रावक

जैनागम ग्रन्थों में उपासक, श्रमणोपासक, गिही, अगार व श्रावक शब्द ग्रहस्थ के लिये प्रयुक्त हुए है। पं० आशाधर ने सागारधर्मामृत में पंच परमेष्ठी का भक्त, दान व पूजन करने वाला, मूलगुण व उत्तरगुण का पालन करने वाला श्रावक होता है, यह कहा है।[१] एक श्रावक शब्द "श्रु" धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है सुनने वाला। अर्थात् जो प्रतिदिन साधुओं से सम्यक दर्शन आदि सामाचारी को सुनता हो, वह परम श्रावक है।[२]

श्रावकाचार की पूर्वपीठिका

एक ग्रहस्थ को श्रावक कहलाने की स्थिति तक पहुँचने के लिये कुछ विशिष्ट गुणों को अपने अन्तः चेतन में स्थान देना आवश्यक होता है। वैसे इनका कोई आगमिक उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि यह मानकर चला जाता है कि एक सद्ग्रहस्थ में ये गुण तो होगें ही। उत्तरवर्ती आचार्यों, जिनमें हरिभद्र-धर्म-बिन्दु प्रकरण[३]

१. सागार धर्मामृत १, १५।

२. श्रावक प्रज्ञप्ति, गाथा २।

३. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि : जैन आचार : सिद्धान्त व स्वरूप, पृष्ठ २३७।

४. हेमचन्द्र, योगशास्त्र : ११४७–५६।

हेमचन्द्र-योगशास्त्र,[४] पं० आशाधर-सागार धर्मामृत[५] ने इन सद्गुणों का उल्लेख किया है। योगशास्त्र में इन्हें मार्गानुसारी के गुण कहकर निम्न प्रकार नामांकित किया है :

१. न्याय-नीति से धन का उपार्जन करना।
२. शिष्ट पुरुषों के आचार की प्रशंसा करना।
३. अपने कुल व शील के समान स्तर वालों से परिणय सम्बन्ध करना।
४. पापों से भय।
५. प्रसिद्ध देशाचार का पालन करना।
६. परनिन्दा नहीं करना।
७. एकदम खुले व बन्द स्थान पर घर का निर्माण नहीं करना।
८. घर के बाहर जाने के द्वार अनेक नहीं हो।
९. सदाचारी पुरुषों की संगति करना।
१०. माता-पिता की सेवा भक्ति करना।
११. चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले स्थान से दूर रहना।
१२. निन्दनीय काम में प्रवृत्ति नहीं करना।
१३. आय के अनुसार व्यय करना।
१४. आर्थिक स्थिति के अनुसार कपड़े पहनना।
१५. बुद्धि के आठ गुणों से युक्त होकर धर्म श्रवण करना।
१६. अजीर्ण होने पर भोजन नहीं करना।
१७. नियत समय पर संतोष से भोजन करें।
१८. चार पुरुषार्थों का सेवन करना।
१९. अतिथि--आदि का सत्कार करना।
२०. कभी दुराग्रह के वशीभूत नहीं हो।
२१. गुणों का पक्षपाती हो।
२२. देश व काल के प्रतिकूल आचरण नहीं करना।
२३. अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम करें।
२४. सदाचारी का आदर करें।
२५. अपने आश्रितों का पालन पोषण करें।
२६. दीर्घदर्शी हो।
२७. अपने हित-अहित को समझें।
२८. कृतज्ञ हो।
२९. सदाचार व सेवा द्वारा जनता का प्रेम सम्पादित करें।
३०. लज्जाशील हो।
३१. दयावान हो।

५. सागार धर्मामृत–अध्याय–एक।

३२. सौम्य हो।
३३. परोपकार करने में उद्यत हो।
३४. काम क्रोधादि के त्याग में उद्यत हो।
३५. इन्द्रियों को वश में रखे।

यद्यपि इन गुणों की संख्या भी विभिन्न आचार्यों ने अलग-अलग बताई है. फिर भी इन पैंतीस गुणों में उन सबका समावेश हो जाता है। इन गुणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन आचार के नियम पूर्णतः व्यावहारिक व सामाजिक है। इन गुणों पर व्यक्ति के स्वयं, परिवार, व समाज का विकास निर्भर है। इन व्यावहारिक नियमों के बाद सैद्धान्तिक नियमों को लें, तो अणुव्रत, गुणव्रत व शिक्षाव्रतों का पालन महत्त्वपूर्ण होता है।

अणुव्रत

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह का स्थूल रूप से पालन करना अणुव्रत कहलाता है। हिंसा के दो भेद किये जा सकते हैं—सूक्ष्म व स्थूल। पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि व वनस्पति की हिंसा सूक्ष्म व त्रस प्राणियों की हिंसा स्थूल हिंसा कही जाती है। श्रावक गृहस्थावस्था में रहकर सूक्ष्म हिंसा से नहीं बच पाता है और सामाजिक कार्यों में स्थूल हिंसा होती है। अतः वह सिर्फ "मैं इसे मारूँ" इस प्रकार की संकल्पी हिंसा का त्याग करता है। आज के व्यावहारिक जगत में भी सभ्य व्यक्ति अनावश्यक त्रस जीवों की हिंसा का विरोध करेगा ही।

द्वितीय असत्य भाषण नहीं करने की बात है। इसमें लोक विरुद्ध, राज्य-विरुद्ध, धर्म विरुद्ध झूठ नहीं बोलने का विधान है। दूसरों की निन्दा करना, गुप्त बातों को प्रकट करना, झूठा उपदेश देना, झूठे लेख लिखना—इनमें दोष माने गये हैं।

स्थूल रूप से चोरी नही करना, किसी को चोरी के लिए नहीं भेजना, चोरी की वस्तु नहीं लेना, राज्यनियमों का उल्लघंन नही करना अस्तेय अणुव्रत है। सामान्यतया यह सामाजिक व आर्थिक अपराध भी है।

अपनी पत्नी की मर्यादा रखकर अन्य सभी स्त्रियों को माता-बहिन के सदृश्य समझना ब्रह्मचर्य सिद्धान्त है। किसी वैश्या आदि के साथ रहना, अश्लील काम क्रीडाएँ करना, दूसरों का विवाह कराना, कामभोग की तीव्र अभिलाषा करना दोष है। इनसे बचने का निर्देश है। आज भी बलात्कार, वैश्यावृत्ति, हेय दृष्टि से देखे जाते है।

अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तु का उपयोग नहीं करना, उसे दूसरों को बाँट देना अपरिग्रह है। साथ ही अपने उपयोग में आने वाली वस्तुओं की मर्यादा निश्चित ले जिससे उससे अधिक परिग्रह से मुक्त रह सके।

तीन गुणव्रत

इनमें दिशाव्रत, उपभोग परिमाण व्रत व अनर्थ दण्ड आते है। ये अणुव्रतों के विकास में सहायक होते हैं। दिशाव्रत दिशाओं की सीमा निर्धारण करता है, उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम आदि में गमनागमन एवं व्यापार करने पर रोक लगाता है। अनर्थ दण्ड हरी वनस्पति काटना आदि अनर्थकारी हिंसा के त्याग का उपदेश देता है।

चार शिक्षाव्रत

इनमें सामायिक देशावकाशिक, औषध व अतिथि संविभाग व्रत सम्मिलित है। ये मानव की अन्तः चेतना से जाग्रत संस्कार है। इनसे आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर हुआ जाता है। इनसे व्यक्ति सहिष्णु व आत्मजयी बनता

है, विकारों व पापों का प्रायश्चित करता है व मुक्ति की ओर अग्रसर होने के लिए कदम बढ़ाता है, यद्यपि जैन आचार के ग्रन्थों में गुणव्रतों व शिक्षाव्रतों के नामों में भेद है फिर भी अर्थ व विवेचना की दृष्टि से सभी एक समान है।

वर्तमान परिस्थितियाँ

उपर्युक्त श्रावकाचार के व्यावहारिक व सैद्धान्तिक नियमों को जब आज के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, तो ग्लानि महसूस होती है। अपवाद की बात नहीं करता, परन्तु साधु के लिए भी "अम्मा पिया" की उपाधि से अलंकृत श्रावक आज अपना अस्तित्व भूलाए बैठे है। आज अहिंसक होने के स्थान पर दूसरों पर दोषारोपण, बाह्य आडम्बर पूर्ण वैभव प्रदर्शन व आयोजन, धर्म व सम्प्रदाय के नाम पर समाज टुकड़े-टुकड़े कर देने वाला अहिंसा का पुजारी महावीर का अनुयायी वही श्रावक है ?

अपना दोष दूसरों पर आरोपित कर सम्यकत्वी कहलाने वाला श्रावक स्वधर्मी बन्धु की आलोचना करता-फिरता है। डॉ० दयानन्द भार्गव ने एक सभा में ठीक ही कहा था कि "घर में पहले दिया जला लें, मन्दिर में बाद में"। स्वयं के दोषों को पहले देख लें, बाद में अन्य की आलोचना करें। धर्म व सिद्धान्त की बात करते हुए हम अपने अन्दर में हिंसा, स्वार्थ व आसक्ति के तत्व छिपाये घूम रहे है। सच तो यह है कि ऐसे दिखावटी श्रावकों का ही बोलबाला रहता है। साधु वर्ग सभी को धर्म, सदाचार व नैतिकता का पाठ पढ़ाते हैं और उनकी निगाहों के नीचे वह सब होता है जो नहीं होना चाहिये। लाखों का दान देने वाला व्यक्ति समाज का नेता, सुधारक, धर्मनिष्ठ, उपासक, उपाधियों से अलंकृत होता है। यह कैसा श्रावक ? व कहाँ का धर्मनिष्ठ ? अगर सच पूछा जाय तो एक माह में एक घण्टा भी श्रावकाचार का पालन नहीं होता होगा।

आज श्रावक स्वयं के आचार से भी पूर्ण रूप से परिचित नहीं है, तो पालन करने की बात ही क्या है ? कहाँ है वह श्रमण भगवान महावीर के अनुयायियों की परम्परा जहाँ एक और आनन्द व कामदेव जैसे श्रावक थे—जयन्ती, शिवानन्दा, अग्निमित्रा जैसी श्राविकाएँ थी, जो साधुओं से भी उत्कृष्ट कोटि की साधना में रत थे, जो स्वयं के आचार-विचार के ज्ञाता होने के साथ साथ साध्वाचार के भी पूर्ण ज्ञाता थे। जहाँ स्वयं के आचार में शिथिलता आती उसका प्रायश्चित करते थे, साथ ही मुनि आचार में शिथिलता दृष्टिगोचर होती, तो उन्हें भी कर्तव्य बोध कराते थे। परन्तु आज इस दायित्व को संभालने वाला श्रावक वर्ग कहाँ है ? कहाँ है वह लोकाशाह जो समाज में क्रान्ति का अग्रदूत बन सके ?

श्रावक का पहला कदम सम्यकत्व होता है अर्थात् सुगुरु, सुदेव व सुधर्म पर श्रद्धा, परन्तु आज हमारे धर्माचार्य सम्यकत्व के नाम पर अपनी अपनी टीमें बना रहे हैं, वे अलग-अलग गुरुओं से अलग-अलग सम्यकत्व ग्रहण कराने पर जोर देते है। श्रावक आचार के नियमों को सुयुगानुकूल परिस्थितियों में कहीं भी बदलने की आवश्यकता नहीं है[१]। क्या महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त सप्त कुव्यसन का त्याग, मार्गानुसारी के गुण; बारह व्रतों की उपयोगिता तब थी, अब नहीं है और उनमें परिवर्तन की गुंजाइश है ? नहीं ! ये तो जीवन के शाश्वत मूल्य है, जिनमें वर्षों क्या, शताब्दियों तक परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है।

श्रावकाचार का आशय सिर्फ यही है कि श्रावक अपनी अस्मिता को पहचाने, अपने आचरण व व्यवहार में एकरूपता रखे। अपने कर्तव्यों व दायित्वों को पहचानने से ही समाज का अस्तित्व बना रह पायेगा।

●

---

१. श्रावक धर्म की प्रासंगिकता का प्रश्न—डॉ० सागरमल जैन।

जैन साधु और बीसवीं सदी

निर्मल आजाद

जबलपुर

इतिहास साक्षी है कि विभिन्न युगों मे विश्व के विभिन्न भागों में सभ्यता और संस्कृति के उन्नयन में राजसत्ता और धर्मसत्ता ने कभी मिलकर और कभी स्वतन्त्ररूप से योगदान किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान के समान भूतकाल में भी मानव को राजभय की अपेक्षा धर्म-भय ने सदा झकझोरा है, उसे धर्मप्राण बनाये रक्खा है। राजसत्ता सदैव बदलती रही है, उसके विकराल रूपों को मानव ने कभी नहीं सराहा। इसके विपर्यास में, धर्म के सिद्धान्तों ने सदैव मानव को शान्ति एवं सुख की ओर अग्रसर किया है, उसके नैतिक सिद्धान्त स्थिर रहें हैं और आज भी उनके मूल्य यथावत् हैं। धर्म ने मानव को मनोवैज्ञानिकतः प्रभावित किया है। इसीलिये वह राजनीति की तुलना में धर्म से अधिक अनुप्राणित पाया जाता है। वह उसे धर्म की कसौटी पर कसता है। उसे लगता है—धर्म से अनुप्राणित राजनीति ही मानव का भला कर सकती है, उसकी स्वच्छन्द और महत्वाकांक्षी मनोवृत्ति पर नियमन कर सकती है। इसका संस्मरण कराने, संस्कार करने के लिए 'संभवामि युगे युगे' महापुरुष जन्म लेते रहते हैं। इस युग में बिहार भूमि में जन्मे महावीर ऐसे ही एक त्रिकालजयी महापुरुष थे।

उन्होंने युग के अनुरूप, पार्श्वपरम्परा में, सामयिक परिवर्तन किये, चतुर्याम को पंचयाम बनाया, सचेल-अचेल के मध्य दिगंबरत्व को साधना का प्रकृष्ट मार्ग कहा, नये तीर्थ का प्रवर्तन कर साधु-साध्वी, श्रावक, श्राविका के चतुर्विध संघ की स्थापना की।[1] संघ जैन संस्कृति एवं परम्परा का वाहक रहा है। अपने ज्ञान, त्याग, चारित्र एवं अन्य गुणों की गरिमा से संघ, प्रमुख साधुओं ने महावीर की परम्परा को जीवन्त बनाये रखने का श्रेय पाया है। ये साधु व्यक्ति नहीं हैं, संस्था हैं। इन पर संघ और समाज का उत्तरदायित्व है। इस संस्था का गौरवशाली इतिहास है। यह हमारी नैतिक संस्कृति को प्रेरक और मार्गदर्शक रही है। बीसवीं सदी के अनेक झंझावातों के बावजूद भी इसकी उपयोगिता एवं सामर्थ्य पर कोई प्रश्न चिह्न नहीं लग सका है।[2] विभिन्न युग की आवश्यकताओं एवं परिस्थिति-जन्य जटिलताओं ने इस संस्था में अनेक परिवर्तन या विकृतियाँ उत्पन्न की है। इनका उद्देश्य आत्मरक्षा, धर्मरक्षा एवं धर्मप्रचार प्रमुख रहा है। ये परिवर्तन प्रायः बहिर्मुखी हैं, ये हमारे अनेकान्ती जीवन पद्धति के ज्वलन्त प्रमाण हैं। आचार्य भद्रबाहु, आचार्य कालक, आचार्य समंतभद्र, भट्ट अकलंक, आचार्य मानतुंग तथा अन्य आचार्यों के जीवन चरित्र आज भी हमारी प्रेरणा के स्रोत हैं। इनकी साधुता के आदर्श एवं व्यवहार हमारा मार्गदर्शन करते हैं।

साधु के शास्त्रीय लक्षण

व्यावहारिक दृष्टि से जैन परम्परा निवृत्तिमार्गी मानी जाती है। अतः इस परम्परा में जीवन का चरम उद्देश्य दुखमय संसार से सुखमय जीवन की ओर जाना माना गया है। इस प्रक्रिया के लिये साधना अपेक्षित है, सरलता

अपेक्षित है। साधु शब्द के ये दोनों ही विहित अर्थ हैं। साधना का अर्थ संसार में मान्य तथाकथित भौतिक एवं मानसिक सुखों की ओर निरपेक्षता की प्रवृत्ति को विकसित करना है। इसके लिये उत्तराध्ययन[3] में साधु के प्रायः २५ गुणों की चर्चा की गई है। ये गुण साधु के मन-वचन-शरीर को सांसारिक विकृतियों से नियन्त्रित करते हैं और रत्नत्रय की प्राप्ति में सहायक होते हैं। समवायांग और आवश्यक निर्युक्ति[4] में पांच महाव्रत, पंचेन्द्रिय निग्रह, कषायनिग्रह, मन-वचन-काय द्वारा शुभ प्रवृत्ति, वेदना सहना, मरणान्त कष्टसहना आदि साधु के २७ मूल गुणों की चर्चा है। मूलाचार[5] में पांच महाव्रत, पंचेन्द्रिय जय, पांच समिति, छह आवश्यक तथा केशलोंच, अस्नान आदि सात गुणों को मिलाकर २८ मूल गुणों की चर्चा है। इनमें ही आचारवत्ता, श्रुतज्ञता, प्रायश्चित, एवं आसनादि की क्षमता, आशापायदर्शिता, उत्पीलकता, अस्राविता एवं सुखकारिता के आठ गुण मिलने पर उत्तम साधु के ३६ गुण हो जाते हैं। कुंदकुंद[6] साधु के चारित्र प्रधान केवल १८ गुण (५ महाव्रत, ५ इन्द्रियनिग्रह, ५ समिति एवं ३ गुप्ति) मानते हैं। इसके उपरान्त अनेक आचार्यों ने भिन्न भिन्न रूप से ३६ गुणों का निरूपण किया है (सारणी।)। बीसवीं सदी में आचार्य विद्यानन्द[7] १२ तप, १० धर्म, पंचाचार, छह आवश्यक और तीन गुप्तियों के रूप में ३६ गुणों को मान्यता देते हैं। इनमें कुछ पुनरुक्तियां प्रतीत होती हैं। तप चारित्र का ही एक अंग है, फिर तपाचार और चारित्राचार को पृथक् से गिराने की आवश्यकता नहीं है। दश धर्म मन-वचन-काम के ही नियंत्रक हैं, फिर गुप्तियों की क्या पृथक् से आवश्यकता है ? संभवतः समितियों के मूल गुणों में आ जाने से गुप्तियों को इन उत्तर-गुणों में लिया गया हो। स्थिति कल्प भी प्रायः मूल गुणों में आ जाते हैं। अतः साधु के मूल गुण और उत्तरगुण-दोनों ही २८ से अधिक समुचित नहीं प्रतीत होते। जब १८ से ३६ की परम्परा बनी, तब परिवर्तन तो हुआ ही, पुनरावर्तन भी हुआ। वस्तुतः अनेक पुनरावर्तन भी शिथिलता के प्रेरक होते हैं। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं। इन्हें ध्यान

मूल गुण	उत्तरगुणों में पुनरावर्तन
१. छह आवश्यक	छह आवश्यक
(अ) प्रतिक्रमण	क्रियायुक्त, प्रतिक्रमी (स्थितिकल्प)
२. पंच महाव्रत	व्रती, सद्गुणी (स्थिति कल्प) आचारवत्व
३. आचेलक्य	दिगम्बरत्व
४. क्षितिशयन	शय्याम्यासन

में रख कर पुनरावर्तनों को दूर करना चाहिये। साथ ही अर्थगर्भी गुणों की संख्या न्यूनतम की जानी चाहिये। इस पुनरावर्तन के कारण मूलगुण और उत्तरगुणों का भेद ही समाप्त हो जाता है। फलतः साधु के आवश्यक गुणों का पुनरीक्षित निरूपण आवश्यक है। ये गुण साधु के लिये आदर्श है। श्रावकों को इनमें प्रेरणा मिलती है। धवला[8] में भी सोलह प्राकृतिक उपमानों से साधु के गुणों को लक्षित किया गया है।

साधु और आचार्य

यह निश्चित नहीं है कि जैनों में बहुप्रचलित णमोकार मंत्र कब आविर्भूत हुआ, पर उसकी त्रैकालिक भावना सर्वतोभद्र रही है। उसमें श्रावक धर्म के साधक से आगे की श्रेणियों की पूज्यता का विवरण है। पूज्यों एवं नमस्कार्यों की आधारशिला साधु-श्रेणी है। साधना एवं सरलता की इस कोटि से आगे उपाध्याय और आचार्यों की कोटि है। ऐसा माना जाता है कि साधु आचार प्रमुख होता है और अन्य कोटियां आचार प्रमुखता के साथ दर्शन-ज्ञान बहुल भी होती है। इस लिये उनकी कोटि उच्चतर होती है। कोटि की उच्चता उनके कर्तव्यों, उत्तरदायित्वों को बढ़ाती है और इसके फलस्वरूप उन्हें कुछ अधिकार भी देती है। दिगम्बर परम्परा में उपाध्याय नगण्य ही हुए हैं, पर

श्वेताम्बर परम्परा में इनकी संख्या पर्याप्त है। फिर भी संघ के संचालन, संवर्धन एवं मार्गदर्शन में आचार्य का ही नाम आता है। सामान्यतः पुरुष साधु ही आचार्य बनाये जाते रहे हैं, पर उपाध्याय अमरमुनि[3] ने साध्वीश्री चंदना जी को आचार्यत्व पद प्रदान कर साध्वियों के लिए नई परम्परा का श्री गणेश कर नयी ज्योति विकिरित की है।

साधु संघस्थ होता है और आचार्य संघनायक होता है। वह साधुजनों की शिक्षा, दीक्षा, अनुशासन, प्रायश्चित्त, संघरक्षा आदि का वेत्ता और मार्गदर्शी होता है। इसलिये सामान्य साधु की तुलना में उसमें कुछ गुणविशेष होने चाहिये। इन गुणों का कर्षण तो उसने स्वयं की साधु अवस्था में किया है, इनका अभ्यास और विकास उसमें ऐसी शक्ति उत्पन्न करना है जो उसे संघनायक बनाती है। महावीर के युग में साधु-संघ के कुछ नियम विकसित किये गये थे :

(i) साधु-संघ पर्वत, उद्यान या चैत्यों पर बने स्थानों पर आवास करे। ये स्थान सुदूर होते थे और जनाकीर्ण नहीं रहते थे। इस कारण साधु जन-सम्पर्क में कम-से-कम आ पाते थे। फलतः वे आदर्श साधना पथ पर आरूढ़ रहते थे।

(ii) साधु उपासरा, देवकुल, स्थानक, धर्मशाला आदि साधु-आवास बनवाने वाले व्यवस्थापकों या श्रेष्ठिवर्ग के घर अशन-पान नहीं करे। यही नहीं, साधु क्षिति-शयन या काष्ठ-पर पर सोवे।

(iii) साधु को राजाओं का आदर या मित्रता नहीं करनी चाहिये। उन्हें उनके यहाँ या उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों और अधिकारियों के यहाँ आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये।

(iv) साधु को स्नान नहीं करना चाहिये, दंतधावन नहीं करना चाहिये। साधु को उत्तम, मध्यम या जघन्य कोटि कोटि का केशलुंचन करना चाहिये। साधु को यान-वाहन का उपयोग नहीं करना चाहिये। पदयात्रा ही उसका आवागमन-साधन है।

(v) आवश्यकता पड़ने पर ग्राम में एक दिन तथा नगर में पाँच दिन से अधिक आवास नहीं करना चाहिये।

(vi) साधु का आहार आगमिक उद्देश्यों की पूर्ति तथा अचित्तता पर आधारित खाद्यों पर निर्भर रहना चाहिये।

(vii) साधु की अन्य चर्या नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास की होनी चाहिये। इसमें स्वाध्याय, ध्यान आदि का अधिकाधिक महत्त्व रहता है।

साधु का आवास

महावीर का युग ग्राम और नगर गण-राज्यों का था। उन दिनों बीसवीं सदी के समान लाखों का आबादी वाले नगर नहीं थे, शहरी संस्कृति की जटिलतायें नहीं थीं। यातायात के साधन तथा धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति करने वाले आवास भवन नगण्य थे। उन दिनों मनुष्य प्राकृतिक जीवन का अभ्यस्त था। फलतः उपरोक्त अनेक नियम समयानुकूल थे। आज ग्रामीण संस्कृति गाँवों में भी समाप्त प्राय दिखती है, शहरों की तो बात क्या? इसलिये आवास हेतु प्राकृतिक स्थलों की समस्या स्पष्ट है, जनाकीर्णता की बात भी जटिल हो गई है। महावीर के पंचयाम में ब्रह्मचर्य के समाहित होने पर भी जनसंख्या में लगातार वृद्धि होते रहना भी अनेक आधुनिक समस्याओं का मूल है। आवास सम्बन्धी स्थिति की जटिलता का अनुभव छठवीं-सातवीं सदी में हो होने लगा था। इसीलिये आवास और आहार के सम्बन्ध में उपरोक्त नियम (i–iii) महत्त्वपूर्ण हो गये थे। साधुओं के आवास गाँवों एवं नगरों के मन्दिर, चैत्य एवं धर्मशालाओं में होने लगे थे और वे सभी प्रकार के लोगों के अधिकाधिक संपर्क में आने लगे थे। इस सम्पर्क से, अन्य धर्मों के समान जैनश्रमणों में भी धर्म-प्रचार की भावना ने उत्कट रूप लिया। यह मानसिकता तब, सम्भवतः और उग्र हुई

सारणी : साधु के गुण :

अनगार के २७ गुण (हरिभद्र)	अनगार के २७ गुण, (समवायांग)	अनगार के २८ मूलगुण, (मूलाचार)
(१) पंच महाव्रत	१–५. महाव्रत	१–५. पांच महाव्रत
१. अहिंसा		
२. सत्य		
३. अस्तेय		
४. ब्रह्मचर्य		
५. अपरिग्रह		
(२) पंचेन्द्रिय जय	६–१०. पंचेन्द्रिय जय	६–१०. पंचेन्द्रिय निरोध
६. स्पर्शन जय		११–१५. पांच समिति
७. रसना जय		ईर्या
८. घ्राण जय		भाषा
९. दृष्टि जय		ऐषणा
१०. श्रवण जय		आदान-निक्षेपण
		व्युत्सर्ग
(३) ११. रात्रि भोजन त्याग	११–१४. क्रोध, मान, माया, लोभ त्याग	१६–२१. छह आवश्यक
(४) १२. भाव सत्य	१५. भाव सत्य	सामायिक
(५) १३. करण सत्य	१६. करण सत्य	चतुर्विंशतिस्तव
(६) १४. क्षमा : क्रोध जय	१७. क्षमा	वंदना
(७) १५. विरागता—लोभ जय	१८. विरागता	प्रतिक्रमण
(८) १६-१८. मन, वचन, काय, शुभवृत्ति	१९–२१. मन, वचन, काय निरोध	प्रत्याख्यान
		कायोत्सर्ग
(९) १९-२४. छह काय के जीवों की रक्षा	२२–२४. रत्नत्रयसंपन्नता	२२. केश लोंच
(१०) २५. संयम	२५. योग सत्य	२३. आचेलक्य
(११) २६. वेदना सहता	२६. वेदना सहता	२४. अस्नान
(१२) २७. मारणांतिक कष्टसहता	२७. मरणांत कष्टसहता	२५. क्षितिशयन
(१३) २८. —	—	२६. अदन्त धावन
		२७. स्थिति भोजन
		२८. एक भक्त

मूलगुण और उत्तर गुण

साधु के ३६ गुण (दिगंबर)	साधु के ३६ गुण (श्वेतांबर)	साधु के ३६ गुण (आशाधर । श्रुतसागर)
१–१२. तप	१–५. पांच महाव्रत	१–१२. तप
१–६. बाह्य तप		१३–२०.
७–१२. अंतरंग तप		आचारवत्व
१३–२२. दश धर्म		श्रुताधार
२३–२७. पांच आचार	६–१०. पांच आचार	प्रायश्चित्तदाता
दर्शनाचार	११–१५. पांच समिति	निर्यापक
ज्ञानाचार		आयापायज्ञ
तपाचार		दोषाभापक
चारित्राचार		अपरिस्रावी
वीर्याचार		संतोषकारी
२८–३३. छह आवश्यक	१६–२०. पंचेन्द्रिय जय	२१–२६. छह आवश्यक
	२१–२४. चार कषाय मुक्ति	
		२७–३६. दश स्थितिकल्प
		१. दिगंबरत्व, २. अनु० भोजी,
३४–३६. तीन गुप्ति	२५–२७. तीन गुप्ति	३. अशय्यासन, ४. अराजभुक्
	२८–३६. ९ वाड़युक्त	५. क्रियायुक्त, ६. व्रती,
	ब्रह्मचर्य पालन	७. सद्गुणी, ८. प्रतिक्रमी,
		९. षण्मासयोगी, १०. वर्षावास

होगी, जब राज्याश्रय को धर्म प्रचार का एक महत्त्वपूर्ण घटक माना गया ।[1] विचारकों एवं सन्तों को इस प्रश्न ने सदैव आन्दोलित किया है कि धर्म राजाश्रित हो या राज्य धर्माश्रित हो ? जैनों ने यह अनुभव किया कि जब देश-काल का संक्रमण चल रहा हो और धर्म का अस्तित्व अग्नि परीक्षा में हो, तब सुरक्षा का एक मात्र सहारा राज्याश्रय ही है । दक्षिण में पल्लव राजाओं के युग में महेन्द्रवर्मा—। के धर्म-परिवर्तन ने जैनों की स्थिति पर तीक्ष्ण प्रभाव उत्पन्न किये । इसके अनुरूप अन्य क्षेत्रों में भी जैनों की दशा बिगड़ी । आत्म-लक्ष्यी साधु इस स्थिति से विचलित न होते—यह क्या सम्भव था ? वे संघ संचालक एवं समाज के मार्गदर्शी जो हैं । उन्हें मूल सिद्धान्तों में अपवाद मार्ग का आश्रय लेना पड़ा । उपरोक्त नियम (ii–iii) में संशोधन हुआ । तब से आज तक राज्याश्रय एवं श्रेष्ठि-आश्रय की प्रवृत्ति बनी हुई है । यह अपवाद के बदले उत्सर्ग मार्ग का रूप ले चुकी है । एक परम्परा बदली, दूसरी परम्परा आई । परम्परायें स्थायी नहीं होतीं, अतः जो लोग परम्परावाद को धर्म का मूल मानते हैं, उन्हें इतिहास का अवलोकन करना चाहिये । साधु या संघनायक अच्छी परम्पराओं के पोषी होते हैं पर वे नयी परम्पराओं के प्रतिष्ठापक भी होते हैं ।

साधु-संस्था के प्रति आदरभाव रखने के बावजूद भी, आज का प्रबुद्ध वर्ग वर्तमान साधु-समाज की उपरोक्त दोनों प्रवृत्तियों पर काफी क्षुब्ध है । ऐसा प्रतीत होता है कि जैन परम्परा के वर्तमान साधुओं में इन प्रवृत्तियों से पूर्णतः विरत संघनायक आचार्य विरला ही होगा । यह तो अच्छा ही है कि भारत धर्मनिरपेक्ष गणराज्य है, अतः यह सभी धर्मों की प्रगति के प्रति उदारवृत्ति रखता है । अतः इस वृत्ति का लाभ अन्यों के समान जैन संघनायक भी लें

और धार्मिक प्रगति के श्रेयोभागी बनें, यह क्षोभ-जैसी बात तो नहीं होनी चाहिये। विभिन्न पंचकल्याणक महोत्सव, गोम्मटगिरि-जैसे तीर्थ स्थल निर्माण, गोम्मटेश्वर सहस्राब्दि समारोह, पच्चीस सौवाँ महावीर निर्वाणोत्सव के समान अगणित धर्म-प्रभावक कार्यों के लिये शासन की उदारता एवं सहयोग इसी प्रवृत्ति के प्रतिफल है। इन्हें मात्र क्षुद्र-स्वार्थ या झूठी शोहरत नहीं मानना चाहिये।[९] हाँ, यदि संघनायकों में यही प्रवृत्ति प्रमुख हो जावे, तो समाज के प्रबुद्ध श्रावक वर्ग को इसका नियमन करने में हिचक नहीं होनी चाहिये। सम्भवतः अभी आलोचना का युग ही आया है। आवश्यकता नियमन के युग की है।

राज्य, राजा, श्रेष्ठी आदि समाज हितैषी बनें, इस दृष्टि से संघनायक का उनसे संपर्क-सहयोग ठीक है। इसी आधार पर साधु, अनुद्दिष्ट रूप में, उनके यहाँ नियमानुकूल अशन-पान करे, यह भी औत्सर्गिक रूप में लेना चाहिये। वे भी पूरी समाज के ही एक अंग हैं। साधु-आचार के नियम उन पर भी लागू होते हैं।

साधु के आवास के सम्बन्ध में ग्राम या नगर में निवास की जो समय सीमा है, वह अब विचारणीय हो गई है। यदि भारतीय आंकड़ों का समुचित अवलोकन किया जावे, तो पता चलता है कि भारत के औसत ८० प्रतिशत गाँवों की आबादी आज भी ५०० से १००० के बीच आती है। इस आधार पर भारत के कुछ नगर निम्न आवास सीमा में आयेंगे (गाँव की अबादी १०००)। एक लाख की आबादी वाले नगरों में भी साधु २-३ वर्ष तक एक-साथ

नगर	औसत जनसंख्या	ग्राम-समकक्षता	आवास-सीमा
दिल्ली	६० लाख	६०००	१७ वर्ष
इन्दौर	२० लाख	२०००	६ वर्ष
कलकत्ता	९० लाख	९०००	२७ वर्ष
बम्बई	८० लाख	८०००	२० वर्ष
मद्रास	२० लाख	२०००	६ वर्ष

आवास कर सकता है। यह परिकलन अतिरंजित लगता है पर आज सम्भव नहीं कि दिल्ली जैसे नगर को पाँच दिन के धर्म लाभ की सीमा में बाँध दिया जावे। वर्तमान संघनायकों को इस विषय में नई दिशा का निर्देश देना चाहिये।

क्षेत्रों या गाँवों के आवासकाल में नित्य क्रियाओं के लिये विशेष जटिलता नहीं आती, पर नगरों में एक समस्या बन गई है। दिगम्बर साधुओं में इस प्रश्न पर चर्चा कम है पर श्वेतांबर संप्रादाय में अभी भी यह प्रश्न ज्वलत बना हुआ है कि फ्लश सिस्टम का उपयोग किया जाय या नहीं? अभी पूना में हुए सम्मेलन में इस विषय में स्व-विवेक के उपयोग से निर्दोष स्थिति का अनुसरण का ग्याहरवाँ प्रस्ताव पास किया गया है[११]। इसमें स्व-विवेक शब्द संघनायकों की अस्पष्ट दिशा का सूचक है। फ्लश लैंटरीन के उपयोग की परोक्ष स्वीकृति स्वविवेक में है, पर प्रत्यक्ष स्वीकृति देने में हानि क्या है? नगरीय आवासों में साधु के लिए इस सुविधा की सार्वजनिक स्वीकृति होनी चाहिये। इससे अनेक साधु-आवासों की जो अशुचिता समाचार पत्रों का विषय बन रही है, वह दूर हो जावेगी। जीवनरक्षी कार्यों में हिंसा-अहिंसा का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाना चाहिये।

साधु का आहार

जैन परंपरा में साधु दो प्रकार से आहार ग्रहण करता है। (i) पाणिपात्र (ii) अ-पाणिपात्र या भिक्षापात्र। एक परंपरा में साधु घर-घर भिक्षा ग्रहण कर अपने आवास में आहार ग्रहण करता है। अन्य परम्परा में विशेष प्रक्रिया के पूर्ण होने पर एक ही घर में आहार-ग्रहण करता है। यद्यपि साधु को अनुद्दिष्ट भोजी होना चाहिये, पर यह शब्द आदर्श ही है, व्यवहार नहीं। जिन श्रावकों के मन में साधु के आहार- दान की रुचि होती है, वह पहले से उसी के अनुरूप तयारी करता है। अतः वर्तमान साधु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उद्दिष्ट भोजी ही रहता

है। हाँ, भिक्षा-पात्री परम्परा में यह दोष कुछ कम है क्योंकि न जाने साधु कब किस श्रावक के घर भिक्षाहेतु पहुँच जावे। यह जानते हुए भी इस आदर्श के बने रहने में कोई विशेष आपत्ति नहीं है।

साधु के आहार के लिये अनेक दोष और अन्तरायों के निराकरण का विधान है। ये सब उद्दिष्ट भोजन की प्रक्रिया के प्ररूप है। इस विरोधाभास को दूर करने का यत्न होना चाहिये। साधु के लिये मूलाचार[11] और आचारांग में एक स्वर से कच्चे फल, शाक, कन्दमूल आदि खाने का निषेध करते हुए पके या अग्निपक्व तथा अ-चित्तीकृत खाद्यों के आहार का उल्लेख है। पर समय के परिवर्तन एवं अनेक नये खाद्य और उनसे संबंधित ज्ञान के कारण उपरोक्त आगमिक संकेतों में काफी संकोच हुआ है। इनपर श्री अमर मुनि[12] अनिल कुमार जैन, मुनि नंदिघोष विजय, ललवानी[9] तथा अन्य विद्वान् लेखकों ने चर्चा की है। वैज्ञानिक मतानुसार बेक्टीरिया-जनित सभी पदार्थ अभक्ष्य होने चाहिये—दही, तक्र, सिरका, जलेबी आदि सभी अभक्ष्य हैं। पर अठपहरा घी, अमुक समय-सीमा का दही आदि को भक्ष्यता का कुछ लोग समर्थन करते हैं। जब और कुछ नहीं बनता, तो स्वास्थ्य विज्ञान की भी चर्चा करते हैं। चलितरस के साथ कन्दमूल का प्रश्न भी अनन्त कायिक जीव-धारणा के आधार पर आया है। अनेक विद्वान् कन्दमूल की अभक्ष्यता स्वीकार नहीं करते, हमारे लेह्य और स्वाद्य घटक का अधिकांश कन्दमूल ही है। बहुबीजक की परिभाषा स्वैच्छिक है। आहार का प्रश्न जीवन और उसके चारित्र या प्रवृत्ति से संबंधित है। मध्ययुगीन छद्मस्थों ने अपने अज्ञान को हमारे विवेक पर हावी कर दिया। इस विषय को वैज्ञानिक आधार देकर स्पष्ट संकेत आज की आवश्यकता है। साधु-संस्था के अनेक आलोचकों ने इस विषय में मौन रखा है, क्योंकि इस प्रत्यक्ष विषय में नई परम्परा को प्रतिष्ठा अनिवार्य बन गई है। इसके बावजूद भी, इस तथ्य से कोई इन्कार न करेगा कि साधु का आहार सात्विक एवं जीवनपोषी होना चाहिये।

साधु के अन्य कर्तव्य

आवास एवं आहार की मूलभूत एवं जीवनधारक क्रियाओं के अतिरिक्त साधु का प्रमुख कर्तव्य स्वाध्याय द्वारा ज्ञान-प्रवाह को अनवरत बनाये रखना तथा ध्यान के विविध रूपों द्वारा अन्तःशक्ति का चरम विकास करना है। साधु का अधिकांश जागृत समय इन्हीं या इनसे सम्बन्धित क्रियाओं में बीतता है।

साधु क्या, स्वाध्याय तो सभी के लिये आवश्यक है। इससे प्राचीन ज्ञान का प्रवाह चलता है, प्रज्ञा जागती है, अन्तःक्षमता बढ़ती है। महावीर के युग में स्वाध्याय आत्मदर्शन का नाम था, व्यक्तिगत अध्ययन की प्रक्रिया थी, संघ के जागरित रहने का प्रक्रम था। इस युग में गुरु-शिष्य परंपरा से ही स्वाध्याय के माध्यम से स्मरणशक्ति की तीक्ष्णता एवं द्वादशांगी की अविरतता संभव थी। बारह अंग और चौदह पूर्वों का ज्ञान स्मृतिधारा से प्रवाहित होता था। आचार्य का महत्व आचारवत्ता से तो था ही, जिन वाणी के महार्णव के रूप में भी था। उस समय लिखित शास्त्र नहीं थे, ग्रन्थ नहीं थे। आचार्यों और साधुओं का उत्तम संहनन, विद्या, बल और बुद्धि ही सारे आगमों के स्रोत थे।

समय बदला, मनुष्यों के संहनन, बल और बुद्धि में कमी आयी। शास्त्र लिपिबद्ध किये गये। किसी ने कम किये, किसी ने ज्यादा, किसी ने अपनी स्मरणशक्ति पर ही भरोसा रखा, पर अचानक ही विस्मृति होती रही। अब स्वाध्याय स्मृति या परंपरा पर कम, शास्त्रों पर अधिक आधारित हो गया। शास्त्र स्वाध्याय के अभिन्न अंग बन गये। इसलिये स्वाध्याय से शास्त्र या आगम के समान प्रामाणिक ग्रन्थों के अध्ययन का अर्थ स्वयमेव स्वीकृत हो गया। ध्यान के प्रभाव से स्मृति तीव्रता का गुण अपेक्षित था, पर वह भी नहीं रहा। फलतः स्वाध्याय के लिये शास्त्र आवश्यक हो गये। संघ के साथ शास्त्र-परिग्रह जुड़ा। यदि शास्त्रीय चर्चा के सन्दर्भ में कहा जावे, तो द्वादशांगी के पदों का प्रमाण एक अरब तेइस करोड़ से अधिक होता है। इस आधार पर आज के ३०० अक्षर प्रति पेज के हिसाब से लगभग

५०० पेज की तीन-सौ पुस्तकों के समकक्ष अकेली द्वादशांगी बैठती है। आज उपलब्ध एकादशांगी तो इसका मात्र ३.३% ही बैठती है। इतना शास्त्र परिग्रह संघ में रहे, तो आपत्तिजनक नहीं माना जाना चाहिये। हाँ, जहाँ संघ लंबे समय तक के लिये रुकने वाला हो, वहाँ उसके स्वाध्याय के लिये अच्छा पुस्तकालय अवश्य होना चाहिये।

स्वाध्याय का एक लक्ष्य जहाँ अपनी प्रज्ञा को विकसित करना है, वहीं शिष्यों और श्रावकों को भी प्रज्ञावान् बनाना है। उनकी प्रज्ञा का संवर्धन जनभाषा से ही हो सकता है। महावीर ने अपने युग में भी ऐसा ही किया था। इसलिये शास्त्रों के स्वाध्याय की प्रवृत्ति को पल्लवित करने के लिये साधुओं को स्वयं एवं विद्वानों के सहयोग से जनभाषान्तरण एवं ज्ञान के नये क्षितिजों के समाहरण का कार्य भी करना आवश्यक हो गया है। प्राचीन युग में या मध्यकाल में इस कार्य का महत्त्व उतना न भी आंका गया हो, पर आज यह अनिवार्य है। इस कार्य हेतु समुचित सुविधाओं का सुयोग साधुत्व को बढ़ाने में ही सहायक होगा। शास्त्र एवं सुविधा का यह परिग्रह परंपरावादियों के लिये परेशान करता है, पर समयज्ञों के लिये यह अनिवार्य-सा प्रतीत होता है। क्या हम नहीं चाहते कि हमारा संघनायक परा और अपरा विद्याओं में निष्णात न हो? क्या हम नहीं चाहते कि हमारा साधु विद्यानुवाद, प्राणावाय, (आयुर्वेद, मन्त्र-तन्त्र विद्यादि), लोकबिन्दुसार (गणित विद्या), क्रियाविशाल (काव्य एवं आजीविका के योग्य कलायें), प्रथमानुयोग, आत्म एवं कर्मप्रवाद आदि का सम्यग् ज्ञाता हो? शास्त्रों का आदेश है कि इन विद्याओं का उपयोग स्वयं के आहार पाने या आजीविका के लिये न किया जावे, पर लोकोपकार के लिये ऐसा करना कहाँ वर्जित है? मध्यकाल की जटिल परिस्थितियों को देखते हुए जैन आचार्यों ने अनेक लौकिक विधियों का अपने आचार-विचार में समाहरण किया। इसी से वे महावीर तीर्थ की रक्षा कर सके। मानतुंग, समन्तभद्र या अकलंक को धर्मप्रभावना हेतु ही अपनी विद्यायें प्रदर्शित करनी पड़ी। यह सचमुच ही खेद की बात होगी यदि बीसवीं सदी के आचार्य अपनी इन स्वाध्याय-प्राप्त विद्याओं एवं अन्तःशक्ति का उपयोग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्वयं के भौतिक हित में करें। ऐसे संसक्त साधुओं से साधु-संस्था गरिमाहीन हो जावेगी। सत्चारित्री श्रावक ही साधु-संस्था को ऐसे दोषों से उबार सकता है। इन दोषों से साधु अयथार्थ होता है, अप्रतिष्ठित हो सकता है।

प्राचीन जैन शास्त्रों के स्वाध्याय से ज्ञात होता है कि जैन पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि शासन-देवताओं को आशाधर तक के युग में, पूजनीय नहीं मानते थे। इसी प्रकार, भट्टारक पद भी, जो प्रारंभ में धर्मसंरक्षण हेतु अस्तित्व में आया, तेरहवीं सदी में सम्मानित नहीं माना गया,[18] आज आचार्य पालित हो रहा है। कुछ भट्टारकों के दर्शन भी सामान्य अवस्था में दुर्लभ है। इन दोनों परंपराओं की मान्यता आज पुनः वर्धमान है। सैद्धान्तिकतः यह सही नहीं है, पर इस विषय में मतभेद भी इतने हैं कि हमारे संघनायक भी इस विषय में मौन है। यदि स्वाध्याय हमें मूल सिद्धान्तों की रक्षा का बल नहीं देता, तो इसे अचरज ही माना जाना चाहिये।

साधु और बीसवीं सदी

बीसवीं सदी का उत्तरार्ध जैन साधुओं की प्रतिष्ठा के लिये कठोर परीक्षा का समय प्रमाणित हो रहा है। हमने पिछले कुछ प्रकरणों में बीसवीं सदी के अनेक समस्यात्मक प्रकरणों से साधु-संस्था के प्रभावित होने की चर्चा की है। इन प्रकरणों का सामयिक निर्देशक समाधान प्रबुद्ध वर्ग की दृष्टि में साधुओं के प्रति सम्मान लायेगा। लेकिन कुछ ऐसे भी प्रकरण भी हैं जिन्हें नियंत्रित करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। इनकी ओर अनेक विद्वानों एवं पत्रकारों[9] ने ध्यान आकृष्ट किया है। हमारी आशा है कि हमारा संघनायक वर्ग इन समस्याओं का सही समाधान कर साधु-संस्था के प्रति वर्धमान अनास्था को दूर करने में सहायक होगा।

विभिन्न स्रोतों से बीसवीं सदी की साधु संस्था में निम्न समस्यायें सामने आई हैं :

(i) साधुओं की तथा आचार्यों की संख्या दिनों दिन बढ़ रही है। यह अच्छी बात थी, यदि इनकी साधुता, प्रज्ञा एवं आचारवत्ता आदर्श होती। पर देखा गया है कि इनके बिना भी आज साधुत्व एवं आचार्यत्व मिल रहा है। अनुशासन एवं मूलभूत तत्वों की उपेक्षा हो रही है। ईर्ष्या एवं प्रतिभावत्ता नये-नये संघों को जन्म दे रहे हैं। साधना एवं आत्म-विकास के पथ में राजनीतिक सिद्धान्तों का पल्लवन हो रहा है। बाल-दीक्षायें दी जा रही है। इस स्थिति पर पूर्णतः अंकुश लगना चाहिये। प्रौढ़ अथवा बुद्धि-अनुभव परिपक्वता दीक्षा की अनिवार्य शर्त होना चाहिये। आगमिक और आधुनिक अध्ययन एवं आचार का गहन अभ्यास भी आवश्यक माना जाना चाहिये।

(ii) साधु एवं आचार्य नित नई संस्थायें बनाते जा रहे हैं। इसका उद्देश्य धर्म और नैतिकता का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक धरातल से प्रसारण माना जाता है। इन संस्थाओं के क्रियाकलाप, कुछ अपवादों को छोड़कर, उद्देश्यों के पूरक सिद्ध नहीं होते। ये स्वावलम्बी बनने के पूर्व ही सिमटने लगती हैं और टिमटिमाने के सिवा इनका प्रकाश विकिरित नहीं हो पाता। दिगम्बर समाज में अनेक संस्थायें प्रारम्भ हुई पर उनमें कोई जीवन्त है, ऐसा नहीं लगता। हाँ, विद्वानों के द्वारा स्थापित कुछ संस्थायें अवश्य कभी-कभी अपनी चमक दिखाती हैं। श्वेताम्बर परम्परा में साधु-जन स्थापित अनेक संस्थायें जीवन्त काम कर रही हैं। ये दिगम्बरों के लिये प्रेरक बन सकती हैं। यह सामान्य सिद्धान्त होना चाहिये कि केवल स्वावलम्बन पर आधारित संस्थायें ही खोली जावें और उनमें कम-से-कम एक योग्य एवं जीवनदानी के समान पूर्णकालिक विद्वान् या व्यवस्थापक अवश्य रखा जावे। आज क्रियाशील संस्थाओं की आवश्यकता है। यह और भी अच्छा है कि विद्यमान संस्थाओं को ही सक्रिय जीवनदान दिया जावे।

(iii) साधु एवं आचार्यों के अध्ययन-अध्यापन के लिये, लेखन तथा प्रकाशन कार्यों के लिये वेतनभोगी कर्मचारी रखे जाते हैं। बीसवीं सदी में इसे आपत्ति या समस्या नहीं मानना चाहिये और न इसे परिग्रह या संसक्ति का रूप मानना चाहिये। स्वाध्याय एवं ज्ञान-प्रसार साधु का अनिवार्य कर्तव्य है। साधु न केवल आत्मधर्मी ही होता है, वह संघ-धर्मी एवं समाजधर्मी भी होता है। नैतिक विकास की उदात्त धाराओं का प्रकाशन और प्रसारण, एतदर्थ, महत्त्वपूर्ण होता है।

(iv) साधु एवं संघनायक सामयिक सामाजिक एवं धार्मिक समस्याओं के समाधान की दिशा में उपेक्षाभाव रखते हैं। उदाहरणार्थ, वर्तमान जटिल परिस्थितियों में तथा धर्म प्रचार हेतु पदयात्रा के साथ-साथ शीघ्रगामी वाहनों का उपयोग एक ज्वलन्त प्रश्न है। कुछ जैन साधुओं ने इस दिशा में नेतृत्व दिया है पर साधु-संघ का बहुभाग इस प्रश्न पर मौन है। कहीं साधु और श्रावकों के मध्यवर्ती एक नयी साधक श्रेणी का गठन हो रहा है जो यानों का उपयोग कर सकती है। इस विषय में कुछ छेद-मार्ग निर्दिष्ट होने चाहिये। जैन शास्त्रों एवं ग्रन्थों के भौतिक जगत् सम्बन्धी अनेक कथन वैज्ञानिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में असंगत प्रतीत होने लगे हैं। उन्हें सुसंगत बनाना भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य दिखा है। वस्तुतः अमर मुनि[१४] ने तो यह सुझाव ही दिया है कि धार्मिक मानक ग्रन्थों में आत्म-विकास की प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य चर्चाओं को स्थान नहीं है। अतएव इन ग्रन्थों के संशोधन की आवश्यकता है। जिन तत्वों में विसंवाद की संभावना भी हो, वे आत्म शास्त्र के अंग नहीं माने जा सकते। इस मत पर साधु-संघों को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये।

(v) ऐसा प्रतीत होता है कि बीसवीं सदी का साधु वर्ग महावीर युग के आदर्शवाद और बीसवीं सदी के वैज्ञानिक उदारवाद के मध्य बौद्धिक दृष्टि से आन्दोलित है। वह अनेकान्त का उपयोग कर दोनों पक्षों के गुण-दोषों पर विचार कर तथा ऐतिहासिक मूल्यांकन से कुछ निर्णय नहीं लेता दिखता। मधु सेन[1] ने मध्यकाल की जटिल स्थितियों में निशीथ चूर्णिकारों के द्वारा मूल सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए जो सामयिक संशोधन एवं समाहरण किये हैं, इनका विवरण दिया है। इसे एक हजार वर्ष से अधिक हो चुके हैं। समय के निकष पर जैन साधु के व्यवहारों व आचारों को कसने का अवसर पुनः उपस्थित है। साधुवर्ग से मार्ग निर्देशन की तीव्र अपेक्षा है।

•

निर्देश

१. मधु, सेन; ए कल्चरल स्टडी आव निशीथ चूर्णि, पार्श्व० विद्याश्रम, काशी, १९७५, पेज २७७–२९०।
२. मुनि, आदर्श ऋषि; बदलते हुए युग में साधु समाज, अमर भारती, २४, ६, १९८७ पेज ३२।
३. साध्वी, चंदनाश्री (अनु०); उत्तराध्ययन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७२, पेज १४५।
४. वही, पेज ४६७।
५. आचार्य वट्टकेर; मूलाचार–१, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८४, पेज ५।
६. आचार्य कुंदकुंद; अष्ट पाहुड-चारित्र प्राभृत, महावीर जैन संस्थान, महावीर जी, १९६७ पेज ७७।
७. आचार्य विद्यानंद; तीर्थंकर, १७,३–४, १९८७ पेज १९।
८. सौभाग्यमल जैन; अमर भारती, २४, ६, १९८७ पेज ७२।
९. देखिये निर्देश, ७ पेज ६।
१०. उपाध्याय, अमर मुनि; अमर भारती, २४, ९, १९८७ पेज ८।
११. आचार्य वट्टकेर; मूलाचार–२, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८६ पेज ६८।
१२. उपाध्याय अमर मुनि; 'पण्णा समिक्खए धम्मं–२', वीरायतन, राजगिर, १९८७ पेज १००।
१३. पंडित आशाधर; अनगार धर्मामृत, भा० ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७७, मू० पेज ३६।
१४. देखिये निर्देश १२ पेज १६।

सिद्ध पुरुष पुरातत्वज्ञ के समान होता है जो युगों-युगों से धूलि-धूसरित पुराने धर्म-कूप की कर्म-धूलि को दूर कर लेता है। इसके विपर्यास में, अवतार, अर्हत या तीर्थंकर एक इंजीनियर के समान होता है जो जहाँ पहले धर्मकूप नहीं था, वहाँ नया कूप खोदता है।

संतपुरुष उन्हें ही मुक्तिपथ प्रदर्शित करते हैं, जिनमें करुणा प्रच्छन्न होती है पर अर्हत उन्हें भी मुक्तिपथ प्रदर्शित करते हैं जिनका हृदय रेगिस्तान के समान सूखा एवं स्नेहविहीन होता है।

—रोबर्ट क्रोस्बी

विदेशों में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार

डॉ० डी० के० जैन
भिंड (म० प्र०)

राजनीतिज्ञों ने सदैव अनुयायियों की संख्या के आधार पर समुदाय विशेष के महत्त्व और अधिकारों पर विचार किया है, पर अन्य क्षेत्रज्ञ इस आधार को मान्यता नहीं देते। उनके लिये समुदाय विशेष के महत्व का आधार यह है कि उसके आचार-विचारों ने मानव जाति के इतिहास, संस्कृति तथा सभ्यता को किस रूप में तथा कितना प्रभावित किया है। इस दृष्टि से उसकी क्षमता कितनी है ? यही कारण है कि भारत की जनसंख्या में ०.६ प्रतिशत की अल्पसंख्या होते हुए भी जैन समुदाय ने भारतीय दर्शन, विज्ञान, कला, पुरातत्व, साहित्य एवं राजनीतिक क्षेत्र में विविध युगों में महत्वपूर्ण योगदान किया है। यही नहीं, उसके अहिंसा सिद्धान्त को भारत तथा विश्व के अनेक देशों ने सत्याग्रह के रूप में प्रयोग कर स्वातन्त्र्य अर्जित किया और उसकी व्यापकता बढ़ाई।

देश-विदेशों में जैन विद्याओं के महत्व का भान जैनों के माध्यम से नहीं, मुख्यतः जैनेतर पाश्चात्यों के माध्यम से ही हुआ है। जैन तो अपने शास्त्रों को भंडारों में रखकर उनके दर्शन कर ही पुण्य लाभ लेने के आदी बने रहे। यह तो कुछ उदार व्यक्तियों की उत्साहपूर्ण प्रेरणा, कुछ अध्ययनशील साधुवर्ग, तथा शोधक विद्वानों के प्रयत्नों से यह सांस्कृतिक धरोहर यत्र-तत्र विकिरित हो सकी। इस विकिरण को स्रोतस्विनी के रूप में प्रभासित करने में देश-विदेश के अनेक महानुभावों ने हाथ बटाया है। अन्य तत्वों के अलावा, इस साहित्यिक सामग्री ने जैनधर्म की प्रभावना में चार चाँद लगाये हैं। आज यह धारणा बलवती हो रही है कि इस विद्या का जितना प्रसार किया जावे, उतना ही प्रभावक होगा।

जैन धर्म का प्रचार-प्रसार : एक सिंहावलोकन

जैनधर्म आत्मधर्म है और व्यक्तिनिष्ठ है। अतः सैद्धान्तिक रूप से इसके प्रचार-प्रसार का कोई महत्त्व नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कैसे प्रभावित कर सकता है ? फिर भी, जैन इतिहास के अवलोकन से लगता है कि विभिन्न सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिवेशों में जैनों ने प्रभावना या प्रचार-प्रसार की व्यावहारिक महत्ता स्वीकार की। जैन ग्रन्थों में इस हेतु प्रयुक्त अनेक विधायें वर्णित हैं।

इस हेतु जैन समाज में अनेक प्रकार के धार्मिक उत्सवों को सार्वजनिक रूप में मनाने की परम्परा रही है। पर्यूषण, अष्टाह्निका, अभिषेक एवं रथयात्राओं के उत्सव सम्राट् संप्रति के समय से चालू हैं। इसके अतिरिक्त, वेदी प्रतिष्ठा, पंचकल्याणक एवं गजरथ महोत्सव, विभिन्न तीर्थंकरों के जन्मोत्सव व अन्य उत्सव भी जोड़े गये हैं। यह रूप धर्म की प्रतिष्ठा, प्रचार एवं प्रभावना में सदा सहायक रहा है। समंतभद्र के अनुसार यह अज्ञान का नाश करने वाला है। इसी प्रकार, राज्याश्रय पाना भी धर्मप्रचार और उसके महत्व का उत्तम साधन रहा है। भारत के अनेक

क्षेत्रों में अनेक समयों में चन्द्रगुप्त, श्रेणिक, खारवेल, सिद्धराज, अमोघवर्ष आदि राजाओं ने जैनधर्म को प्रभासित करने में अप्रतिम योगदान किया है। समंतभद्र, अकलंक और मानतुंग-जैसे आचार्यों ने चमत्कारिक घटनाओं से धर्म प्रभावना बढ़ाई है। कालकाचार्य, वस्तुपाल, हेमचन्द्र, जिनचन्द्र सूरि, धर्मघोष आदि ने राजनीति में धार्मिक तत्वों को, इसी विधि से, प्रतिष्ठित कराकर धर्मप्रभावना की है। मध्य युग में शास्त्रार्थ भी धर्मप्रभावक होते थे। लोहाचार्य ने धर्मान्तरण द्वारा काष्ठासंघ स्थापित कर सवा लाख जैन बनाये। सैद्धान्तिक दृष्टि से इन कार्यों का भले ही समर्थन न किया जा सके, पर इन इतिहास प्रसिद्ध विधाओं को नकारा नहीं जा सकता। यही नहीं, यह स्पष्ट है कि उत्तर-मध्य युग तक साधु एवं आचार्य ही इन प्रवृत्तियों का नेतृत्व करते थे और उन्हें हम पूज्य भी मानते हैं। वर्तमान में लोक कल्याण हेतु भी राज्याश्रय, चमत्कार या विद्यानुवाद द्वारा प्रभावना की पद्धति अपनाने वाले साधुवृन्दों पर शिथिलाचार का आरोप लग जाता है। साधुओं की संस्थावर्धन प्रवृत्ति, साहित्य-सर्जन प्रवृत्ति, साधनापथ को वैज्ञानिक एवं लोकप्रिय बनाने की प्रवृत्ति आदि की 'यथाजातरूपधरता' के बावजूद भी पर्याप्त उद्वेलन सामने आ रहे हैं। निश्चित रूप से, इन प्रवृत्तियों के लिए शास्त्रीय आधार पर की गई चर्चायें समाधेय हैं।

बीसवीं सदी में शोध, संगोष्ठी, भाषान्तरण आदि के माध्यम से तथा उपयोगी एवं लोकप्रिय साहित्य के प्रकाशन एवं वितरण की विधा भी प्रचार-प्रसार का स्थायी माध्यम बनती जा रही है।

व्यापारी–सबसे बड़े प्रचारक

जैनधर्म के विकास के युग में भारत के व्यापारी एशिया के अनेक द्वीपों में व्यापार हेतु जाते थे। ये अपने धर्म और संस्कृति के भी प्रचारक होते थे। शास्त्रों में इनके व्यापार क्षेत्रों के अन्तर्गत २५½ आर्य क्षेत्र तथा ५५ म्लेच्छ क्षेत्रों के नाम आते हैं। इनमें सिंहल, पारस (ईरान) गांधार, ल्हासा (तिब्बत), मलय, मालव, चिलात, तमिल, क्रौंच (आंध्र) कोंकण आदि भारत के दक्षिण पश्चिमी भाग व पड़ोसी देश समाहित हैं। सामान्यतः शिष्ट जन-सम्मत व्यवहार न करने वाले को अनार्य तथा हेयोपादेय-ज्ञान पूर्वक व्यवहार करने वाले को आर्य कहा गया है। इस प्रकार २५½ क्षेत्रों के अतिरिक्त अधिकांश समाज अनार्य ही माना गया है। जात्यार्यों के निरूपण से पता चलता है कि प्राचीन काल में अन्तर्जातीय विवाहों की मान्यता रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन क्षेत्र-विशेषों में जैन पाये जाते थे, वे आर्य माने गये। यद्यपि कुंद कुंद, पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानंद आदि दक्षिणी विद्वानों ने भी जैन दर्शन की प्रतिष्ठा में बड़ा योग-दान किया है, पर ये आगमकाल में सुज्ञात नहीं हो पाये होंगे। उस युग में आज के पश्चिमी देश तो अज्ञात ही थे। ये भी अनार्य ही माने जावेंगे। इस प्रकार, जैन शास्त्रों की दृष्टि से विश्व का अधिकांश भाग अनार्य मनुष्यों से भरा हुआ है। कभी समय रहा होगा जब अनार्य शिष्ट-जन-सम्मत व्यवहार नहीं करते होंगे। पर वर्तमान स्थिति में भारत वासी उन्हें ही शिष्ट-जन मानते हैं, उनकी भाषा, शिष्टाचार और ज्ञान-विज्ञान आदि को श्रेष्ठ मानकर अपने को हीन भावना से ग्रसित किये हुए हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से यह व्यावहारिक मनोदशा चिन्तनीय है। यह आर्य-अनार्य शब्दों को पुनः परिभाषित करने की प्रेरणा देती है। जैनागमों में निंदित (मांसाहार) और गर्हित (व्यभिचार) आचारवान् का कर्मणा ही अनार्य माना है, जन्मना नहीं। इस आधार पर आर्य-अनार्यों में सदैव उत्परिवर्तन होता रहता है। इन क्षेत्रों में धर्म-प्रसार या प्रभावना के प्रयत्नों के अ–व्यापारिक उल्लेख विरले ही मिलते हैं।

सामान्यतः यह पाया जाता है कि पश्चिमी धर्म संस्थाओं की तुलना में जैन प्रचार-प्रचार की दिशा में बहुत दुर्बल प्रमाणित हुए हैं। यही कारण है कि महावीर के छह-सौ एवं बारह सौ वर्ष बाद संस्थापित धर्मों के अनुयायियों की संख्या उनकी तुलना में सौ-गुने से भी अधिक हो गई है। इसका मूल कारण संभवतः यह धारणा रही है कि जैन धर्म मुख्यतः आत्मनिष्ठ एवं व्यक्तिनिष्ठ रहा है। अतः अपने व्यक्तित्व के विकास के सिवा जगत् के अन्य लोगों को

सम्यक्त्व के प्रति आकृष्ट करना सैद्धान्तिक दृष्टि से तो धार्मिक नहीं ही माना गया। अतः, अपवादों को छोड़कर, इसके प्रसार प्रचार की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। इसके दो परिणाम तो स्पष्ट ही लक्षित हुए :

(i) अधिकांश जैन स्वयं अपने विषय में जानकारी रखने एवं प्राप्त करने के प्रति उपेक्षाभाव रखने लगे। संस्कारित जीवन के प्रति भी वे परंपरावादी बने रह गये।

(ii) स्वयं के अज्ञान ने जैनेतरों में जैनधर्म और संस्कृति के विषय में अनेक धारणायें उत्पन्न हुईं। यह स्थिति आज भी सहज ही ध्यान में आने लगती है।

प्रचार-प्रसार युग

औद्योगिक क्रान्ति के बाद विश्व के चारों कोनों में आर्थिक, साहित्यिक, राजनीतिक एवं यातायात की दिशाओं में बड़ा विस्तार हुआ है। बीसवीं सदी के आठवें दशक में अपने बुद्धिबल से साधन जुटाने वाला मानव स्वयं संसाधन-मात्र बन गया है। उसे और उसके प्रत्येक विचार जिसमें धर्म और दर्शन भी समाहित है, को सामान्य सामग्री की भाँति प्रबंधन और विक्रय कला के विज्ञान से नियन्त्रित होना पड़ रहा है। जिस समुदाय ने यह सामयिकता जितने ही रूप और मात्रा में अपनाई, वही आज संख्या और महत्व की दृष्टि से विकसित होता दिख रहा है।

वर्तमान युग प्रचार-प्रसार का युग ही है। पूर्ववर्ती युगों में आत्मधर्मिता के आधार पर इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। यद्यपि मध्य युग तक साहित्यिक एवं शारीरिक संचरण के साधन आज के समान सुलभ नहीं थे, फिर भी समय-समय पर पूर्वोक्त विधाओं का उपयोग कर अनेक प्रभावक आचार्य, साधु, संत, श्रावक श्रेष्ठियों ने इस धर्म की ऐतिहासिक प्रभावना की। इससे जैनेतरों में जैनधर्म और संस्कृति की गहरी छाप पड़ी। ये प्रभावक कार्य आपातकालीन या आकस्मिक ही रहे हैं। लोक कल्याण एवं प्रभावना इनके लक्ष्य रहे हैं। प्रभावना के कार्य स्थायी प्रवृत्ति के रूप में मान्य नहीं हुए। इन्हें अपवाद मार्ग मानकर कभी कभी प्रायश्चित भी करना पड़ता था।

नये युग का जैनों पर भी प्रभाव पड़ा है। अनेक नव-शिक्षित व्यक्तियों ने अनुभव किया कि जैन धर्म और संस्कृति की व्यापकता एवं वैज्ञानिकता के कारण इसे देश-विदेश में सार्वजनिक रूप से प्रसारित करना चाहिये। दूरदर्शी दृष्टि से इस कार्य के तीन रूप प्रकट हुए :

(i) स्व-देश में जैनेतरों में प्रसार
(ii) विदेशों में जैनेतरों द्वारा प्रचार
(iii) भारतेतर क्षेत्रों में जैन और जैनेतरों में प्रचार-प्रसार

इस सदी के प्रारम्भ से ही इन तीनों दिशाओं में अनेक उत्साही बन्धुओं ने कार्य प्रारम्भ किया। हम यहाँ केवल (ii) व (iii) पर चर्चा करेंगे। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही कर्नल मैकेन्जी, डॉ० बुकेनन, प्रो० कोलब्रुक, वीवर, जेकोबी, पिशल, ग्युरिनाॅ, जिमेर, आल्सडोर्फ, बाशम, ग्लेजनाप तथा अन्य विद्वानों ने पश्चिम में जैन विद्याओं के महत्त्व को समझने में बड़ा श्रम किया है। उनके श्रम से ही हम स्वयं को अनेक रूपों में समझने में सफल हो सके हैं। इन पाश्चात्य विद्वानों ने भारत विद्या, जैन विद्या, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं को अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में समाहित कराया। इन्हीं के प्रयत्नों का फल है कि आज भारतेतर विश्व के लगभग शताधिक ज्ञान केन्द्रों पर जैन-विद्यायें विशेष रूप से पढ़ाई जा रही हैं। विद्वत्-जगत में धर्म और संस्कृति के प्रचार का स्थायी महत्त्व होता है क्योंकि विद्वान् 'दीप से दीप जले' के वर्धमान संस्कृति-प्रवाह का प्रतीक होता है।

पाश्चात्य विद्वानों के अतिरिक्त इस सदी के प्रारम्भ में ख्यातनाम वकील की चम्पतराय जी तथा श्री जुगमन्दिरलाल जी ने जैनधर्म का समुचित अध्ययन कर विदेशों की यात्रा की। उन्होंने अनुभव किया कि जब तक हमारा मूल साहित्य विदेशियों की भाषा में न होगा, हम उनके लिये लोकप्रिय साहित्य का निर्माण एवं वितरण न करेंगे, हमारे धर्म की प्रसार-प्रभावना नहीं हो सकती। लोकप्रिय व्याख्यान तो रुचि मात्र उत्पन्न करते हैं। एतदर्थ उन्होंने अंग्रेजी में अनेक पुस्तकें (की आव नोलेज आदि) लिखीं, अनेक ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित कराये, अंग्रेजी में 'जैन गजट' जैसी पत्रिकायें प्रकाशित कीं। लन्दन में 'रिषभ जैन लाइब्रेरी' स्थापित की, भारत में भी इसी हेतु 'जैन एकेडेमी आव विजडम और कल्चर' की स्थापना की। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने ट्रस्टों का भी निर्माण कराया। श्री चंपतराय जी के जीवनकाल में उत्साही नव-शिक्षित अधिकारियों का एक दल ही विकसित हुआ जिसके सदस्यों— जे० एल जैनी, बाबू कामता प्रसाद जी, ब्र० शीतल प्रसाद जी और अजित प्रसाद जैन आदि ने सुविचारित रूप से इस प्रचार-योजना को चलाया। समुचित साहित्य निर्मित किया, लघु पुस्तिकायें प्रकाशित की और विश्व के अनेक भागों में इनका वितरण किया। "विश्व जैन मिशन" नामक संस्था के माध्यम से बाबू कामता प्रसाद जी ने इस दिशा में दुर्धर कार्य किया। उन्होंने 'वायस आव अहिंसा' पत्रिका द्वारा विश्व में जैन संस्कृति को उद्घोषित किया। ब्र० शीतल प्रसाद जी भी इसी हेतु कुछ एशियाई देशों में गये थे।

चंपतराम- युग के मूर्धन्य बाबू जी ने १९२४–६४ के बीच लगभग १०१ पुस्तकें लिखीं एवं अनुदित कीं। इन्होंने जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि के अनेक विद्वानों को जैन विद्याओं के अध्ययन हेतु प्रेरित किया। उन्होंने रिषभ जैन लाइब्रेरी, लंदन तथा बडगोंडेसवर्ग, (जर्मनी) के राजकीय पुस्तकालय में अमूल्य जैन साहित्य की पूर्ति की और उन्हें जीवनदान देने का प्रयत्न किया। उन्हें अपने अन्तिम समय तक इस बात का दुख रहा कि दिगंबर समुदाय इस दिशा में न तो रुचि ही ले रहा है और न ही इस क्षेत्र में कार्य करने वालों को समुचित सहयोग ही कर रहा है। इसका अनुभव मेरे एक संबंधी को भी हुआ। स्व० बाबू जी ने १९६१ में उन्हें उनकी विदेश-अध्ययन यात्रा के दौरान उक्त दोनों केन्द्रों को पुनर्जीवित करने हेतु उपाय सुझाने के लिये संकेत दिये थे। उन्होंने इन दोनों केन्द्रों को देखा। लन्दन की रिषभ जैन लाइब्रेरी इसलिये बन्द पड़ी थी कि उसके कार्यकर्ता के लिये वेतन की व्यवस्था नहीं थी। उसका एक ट्रस्ट था, पर उसमें इतनी अल्प राशि थी कि उससे कुछ ही समय में संस्था बन्द हो गई। उसकी बकाया राशि का भुगतान उन्होंने ही श्री के० पी० जैन, दिल्ली को करवाया। आ० बाबू जी ने अनेक लोगों से इस पुस्तकालय को चलाने हेतु आर्थिक सहयोग (उस समय लगभग २०० रु० माह अर्थात् प्रायः २५,००० रु० का ध्रौव्यफंड) के लिये कहा पर····। इसी प्रकार बडगोडेसबर्ग के राजकीय पुस्तकालय में जैन साहित्य के कोई ५०० ग्रन्थ थे, पर आलमारी एक ही थी। वहाँ के पुस्तकालयाध्यक्ष ने उनसे कहा कि आप हमें इस साहित्य हेतु १–२ आलमारियाँ और दिला दें, आपकी समाज तो धनिक है। इस विषय में भी बाबू जी के प्रयत्न सफल नहीं हुए। बाबू जी ने अपना तन-मन-धन न्यौछावर कर यह काम प्रारम्भ किया था, पर अन्तिम दिनों में समाज की उपेक्षा एवं असहयोग से वे बड़े निराश रहे। उनकी मृत्यु के बाद उनके कार्य को डा० ज्योति प्रसाद जैन, डा० महेन्द्र प्रचण्डिया और श्री ताराचंद्र बख्शी जी चला रहे हैं, पर स्वप्न द्रष्टा का स्वप्न अभी भी अनाकार है —आत्मधर्मी दिगम्बरों को संभवतः यह बात पसन्द न आई हो कि समुन्दर पार के तथाकथित अनार्य उनकी संस्कृति को जानें-समझें।

इस युग में विदेशों में धर्मप्रचार के कार्य का बीड़ा उच्चशिक्षित जैन व्यवसायी व अधिकारी वर्ग ने उठाया था। इसमें दिगंबर समुदाय प्रमुख रहा। पर, जिस उत्साह से यह कार्य शुरू हुआ था, वह अनवरत न रह सका। ६०-७० के दशक में 'जैनमिशन' के कार्य को छोड़कर अन्य कोई उल्लेखनीय प्रवृत्ति इस दिशा में नजर नहीं आई। हाँ, कुछ

अध्ययनरत व्यक्तियों ने अवश्य अपने भाषणों एवं संपर्कों द्वारा अमरीका, ब्रिटेन एवं जर्मनी में जैन विद्याओं को आगे बढ़ाया। इनमें श्री चेतन जैन, लीड्स (ब्रिटेन), डॉ० बी० रायनाडे (जर्मनी) और श्री एन० एल० जैन (ब्रिटेन, जर्मनी और अमरीका) के योगदान मुख्य है। श्री जैन ने तो अन्तर्राष्ट्रीय पशु-क्रूरता विरोधी सम्मेलन में जैन मिशन का प्रतिनिधित्व भी किया। बाबू कामता प्रसादजी की योजना थी कि जैन विद्वानों का एक मण्डल विश्व के विभिन्न देशों में समय-समय पर प्रचार यात्रायें करे। अमरीका से सम्बन्धित एक योजना उन दिनों बनाई भी गई थी। पर जैन समाज ने इसे प्रोत्साहित नहीं किया। हाँ, वेगन सोसाइटी के जय दिनशा अवश्य इसमें रुचि लेते रहे। इस दशक में जैन सेन्टर आव अमरीका नामक एक संस्था भी न्यूयार्क में स्थापित की गई जो अब 'जैन असोसियेशन आव इन्डियन्स आव नार्थ अमेरिका' नामक केन्द्रीय संस्था का अंग है। अब अमेरिका और कनाडा में तीन दर्जन से भी अधिक जैनसंघ काम कर रहे हैं इनमें से अधिकांश का उद्देश्य अपने क्षेत्र में जैन-संस्कृति का संरक्षण एवं परिवर्धन है। डॉ० पी० एस० जैनी, डॉ० डी० सी० जैन तथा अन्य अमेरिका में अध्यापनरत विद्वानों ने भी इस प्रवृत्ति मे हाथ बंटाया।

साधु-समण-समणी युग

भ० महावीर के पच्चीससौवें निर्वाण महोत्सव की योजना ने सत्तर के दशक में विदेशों में धर्म प्रचार की दिशा में एक नया उत्साह उत्पन्न किया। इस बार दिगंबर समुदाय काफी पीछे रहा, वह पूरे वर्ष में योजना के बावजूद भी किसी भी विद्वान् को विदेशों मे भेजने के लिये न स्वयं को समर्थ कर सका और न किसी को सहयोग ही दे सका। ऐसा प्रतीत हुआ कि जिन संस्थाओं, व्यक्तियों एवं विद्वानों को सामाजिक नेतृत्व प्राप्त रहा है, उन्हें स्वयं तो भाषा (अतएव अभिव्यक्ति) संबन्धी कठिनाई थी और नयी पीढ़ी पर उनका विश्वास नहीं था। साथ ही यह कार्य व्यय-साध्य तो था ही, इसका कहीं पत्थर पर स्थायी अभिलेखन भी नहीं होना था, अतः इस ओर दिगम्बर समाज का नेतृत्व उपेक्षा रखे, यह अप्रत्याशित् नहीं था। पर, इन्हीं दिनों भारतीय ज्ञानपीठ के श्री एल० सी० जैन एवं प्रो० ए० एन० उपाध्ये की यात्रायें अवश्य हुईं, डॉ० लोखण्डे ने अपनी आर्थिक असमर्थता के बावजूद इस ओर उत्साह दिखाया और अन्यों के सहयोग से वे भाषण देने अमरीका गये थे, पर दिगम्बर संस्थाओं ने उन्हें अन्त-अन्त तक असमंजस में रखा। डॉ० विमल प्रकाश भी अनेक बार धर्म-इतिहास के अन्तर्राष्ट्रीय संघ के समान कुछ जैनेतर संस्थाओं के सहयोग से तथा कुछ स्वयं के प्रयत्नों से अनेक देशों (इसराइल, स्वीडन, इंगलैंड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, अमरीका) में गये। उन्होंने प्रभावना का स्तुत्य कार्य किया। डॉ० राजकृष्ण जैन चैरिटेबिल ट्रस्ट से विदेशों में कुछ साहित्य अवश्य भेजा गया। इसका पूर्ण विवरण तो प्राप्त नहीं है, पर यह कार्य प्रशंसनीय है।

दिगम्बरों के विपर्यास में, इस महोत्सव का उपयोग श्वेताम्बर समुदाय ने अनेक रूप में किया। उन्होंने आगम ग्रन्थों के आलोचनात्मक अध्ययन एवं अनुवाद प्रकाशित किये और विदेशों में उन्हें वितरित कराया। साधु चित्रभानु जी साधु-आचार का अतिक्रमण कर लोक-कल्याणार्थ अमरीका एवं कनाडा गये। वहाँ १९७४ में उन्होंने 'जैन मेडीटेशन इन्टर-नेशनल सेन्टर' की स्थापना की। वे आज भी अनेक देशों की यात्रायें कर रहे हैं और जैन संस्कृति को योग के माध्यम से प्रसारित कर रहे हैं। इसी समय मुनि श्री सुशील की प्रगतिशील एवं सामयिक विचारधारा सामने आई। वे भी अमरीका गये और उन्होंने १९७७ में 'इन्टर नेशनल महावीर मिशन' की स्थापना की। वे 'णमोकार मन्त्र' के माध्यम से जैन सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। वे जैन योग का भी अभ्यास कराते हैं। उनका अमरीका तथा अन्य देशों में अच्छा प्रभाव पड़ा है। अभी उन्होंने सभी जैन समुदायों के प्रतीक 'सिद्धाचलं' नामक जैन मन्दिर की स्थापना कराई है और 'अन्तर्राष्ट्रीय जैन कान्फरेन्स' की योजना भी चालू की है। इसमें उनके अनेक विदेशी शिष्य भी भाग लेते हैं। यह कान्फ्रेन्स दो बार (१९८५, १९८७) दिल्ली में हुई है। श्री सुशील मुनि के कारण अमरीका में बसे जैनों में भी जागृति आई

है। इस प्रकार, इस दशक में जैन साधु भी धर्म प्रसार और लोककल्याण की भावना से भारतेतर देशों में गये। प्रारम्भ में, परम्परावादियों की ओर से कुछ आपत्तियाँ भी आई पर उन्होंने अपना व्यापक उद्देश्य बनाकर कार्य किया। आज वे आदर के साथ चर्चित होते हैं।

संगोष्ठी और सम्मेलन युग

विदेशों में धर्म-प्रसार के लिये इस सदी का आठवाँ दशक सम्मेलन और संगोष्ठी का दशक माना जा सकता है। इनका आयोजन अनेक संस्थायें एवं विश्व-विद्यालय करते हैं। पिछले कुछ वर्षों में इण्टरनेशनल रिलीजियस फाउण्डेशन, न्यूयार्क के अन्तर्राष्ट्रीय धर्म सम्मेलन में डॉ० सागरमल जैन, डॉ० प्रेमसुमन जैन तथा डॉ० भागचन्द्र भास्कर ने भाग लिया। डॉ० गोकुलचन्द्र जैन ने कोरिया की कान्फरेंस में भाग लिया। इनका आर्थिक पक्ष आयोजक संस्थाओं ने सम्हाला। भट्टारक श्री चारुकीर्ति जी मूडबिद्री तथा भट्टारक श्री देवेन्द्र कीर्ति जी भी अनेक सम्मेलनों में विदेश हो आये हैं। ये स्वयं समर्थ संस्थाओं के संचालक हैं। डा० एम० आर० गेलडा भी दो बार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में जर्मनी गये हैं। डा० कोलंडे भी इस दशक में एकाधिक बार बाहर गये हैं। डा० नथमल राटया तो लगभग प्रतिवर्ष किसी न किसी सम्मेलन में विदेश जाते हैं। अनुपम जैन भी अभी जापान के अन्ताराष्ट्रीय गणित सम्मेलन से लौटे हैं। भारत में भी अन्तर्राष्ट्रीय जैन विद्या सम्मेलनों की चर्चा रहती है, पर वास्तविक रूप से अब तक एक भी नामसार्थी सम्मेलन नहीं हो पाया है। नामतः हस्तिनापुर, लाडनूं और दिल्ली में ऐसे सम्मेलन हुए हैं जिनमें दो-तीन से अधिक भारतेतर देशों के विद्वान नहीं आये। आगन्तुकों में फ्रांस की मैडोम कोले कोले, जर्मनी के (अ० स्व०) ग्लासडोर्फ, जापान के योशीमासा मिशिवाकी तथा नाइजीरिया के प्रो० एस० डी० वाजपेयी प्रमुख हैं। एक बार अहिंसा पर शोध करने वाले फिनलैंड के प्रो० टाहिटनेन भी काशी और इलाहाबाद आये थे।

ये सम्मेलन और संगोष्ठियाँ साहित्यिक एवं शैक्षिक स्तर पर महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं। इनमें भाग लेने वाले विद्वान् परस्पर सम्पर्क एवं स्वाध्ययन के माध्मम से पुरानी जिज्ञासाओं को सन्तुष्ट तथा नई जिज्ञासाओं के प्रसव का कार्य करते हैं। इनका कार्य कुछ समय बाद ही सामान्य जन के सामने आता है। ये संगोष्ठियाँ संस्कृति के संरक्षण एवं अभिवर्धन में स्थायी महत्त्व के काम करती हैं। आधुनिक युग में ये बहुव्यय साध्य हैं। सामान्य श्रावक को इनका तत्काल कोई फल भी नजर नहीं आता। लेकिन उन्हे कौन समझाये कि जैन संस्कृति का इतिहास और महत्त्व ऐसे ही परोक्ष प्रयासों से प्रकाशित होता रहा है।

विदेशों में बसे जैनों में जैन धर्म-प्रचार

इधर कुछ वर्षों से जैन धर्म प्रसार की एक नई दिशा उभरी है। इस ओर अभी तक ध्यान ही नहीं गया था। यह पाया गया है कि अकेले अमरीका और कनाडा में ही कोई चालीस हजार जैन बन्धु रहते हैं। अन्य देशों में भी पर्याप्त जैन रहते हैं। इनकी संख्या चार लाख तक आँकी जाती है। ये अपने व्यापार एवं आजीविका के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत हैं। अनेकों को एक पीढ़ी से भी ऊपर वहाँ रहते हो रहा है : अनेकों की नयी पीढ़ी सामने आ रही है। इन जैनों में अच्छे संस्कार बने रहें, बने और पनपें, इस आत्म संरक्षण की वृत्ति को सक्रिय रूप देने की ओर अनेक सामाजिक तथा अन्य क्षेत्रों में काम करने वाले जैनों का ध्यान गया है। श्री कान जी स्वामी ने इस दिशा में सर्व प्रथम १९८१ में कदम उठाया। वे नैरोबी में निर्मित जैन मन्दिर की प्रतिष्ठा एवं पंचकल्याणक महोत्सव में लगभग पाँच सौ जैनों के साथ गये। उन्होंने धर्म प्रभावना एवं स्थितिकरण का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया।

आचार्य तुलसी ने भी कुछ समय पूर्व अपनी कुछ समणियों (एक नया संघ जो धर्म प्रचार एवं लोककल्याण के कार्य कर सकता है) को इस उद्देश्य से लन्दन भेजा था। उनका अनुभव बड़ा उत्साहवर्धक रहा। आ० तुलसीजी ने तो अभी एक विदेशी महिला को समणी बनाया है। श्री बदर दम्पत्ति के आर्थिक सहयोग से डा० हुकमचन्द भारिल्ल भी गत चार वर्षों से दस-बारह सप्ताह के ब्रिटेन, अमरीका तथा कनाडा के दौरों पर जा रहे हैं। वे जैनों में अध्यात्म एवं नैतिकता के प्रवाह को अविरत करते हुए भाषण, शिविर, स्वाध्याय एवं पाठशालाओं को माध्यम बनाने में अग्रणी बन रहे हैं। उनके द्वारा हिन्दी में निर्मित साहित्य की अनेकों पुस्तकें अंग्रेजी में अनुदित होकर हजारों की संख्या में विदेशों में जैन और जैनेतरों में वितरित को जा रही है। लन्दन के श्री कचराभाई नामक सज्जन ने साहित्य प्रसारार्थ अभी एक लाख रुपये भी दिये हैं। यह एक नयी दिशा है जो स्थायित्व चाहती है। इसके लिये यह आवश्यक है कि 'सिद्धाचलं' जैसे स्थान पर कुछ मनोयोगी विद्वानों को रखा जाय जो सदैव प्रेरणायें देते रहने का काम करें। योग-विद्या का प्रसार करने वाली अनेक अन्तर्राष्ट्रीय स्वावलम्बी संस्थायें इस दिशा में हमारा मार्गदर्शन कर सकती हैं।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि विदेशों में जैन धर्म एवं संस्कृति का प्रसार कुछ प्रगत पाश्चात्य देशों में बसे जैन और जैनेतरों में सीमित है। पड़ोसी एशियाई देशों की ओर ध्यान नगण्य है। भारत के अनेक पड़ोसी देशों में ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर की संस्कृति का प्रभाव रहा है पर इसके अभिवर्धन की ओर किसी भी जैन व्यक्ति और संस्था का ध्यान नहीं गया। वस्तुतः हमारा यह कर्तव्य है कि हम एशिया हो नहीं, विश्व के सभी महाद्वीपों में अन्य धर्मों के समान जैनधर्म का प्रसार कर दुनिया का मिथ्यात्व मिटावें। टोकियो, न्यूयार्क, सिडनी, लंदन और नैरोबी में एक-एक स्थायी केन्द्र स्थापित करने की आवश्यकता है। इन केन्द्रों की स्थापना का आधार इनका स्वावलंबन होना चाहिये। इनका भवन ऐसा हो जो इसके उद्देश्यों की पूर्ति के सामान्य व्यय की व्यवस्था में सहायक हो। जिन क्षेत्रों में ऐसे केन्द्र बनें, वहाँ के जैन प्रवासी भाई भी इस कार्य में पर्याप्त सहायक हो सकते हैं। लेकिन भवन ही उद्देश्य पूरक नहीं होंगे, हमें ऐसे शास्त्रज्ञ एवं बहुभाषाविद् साधु, ब्रह्मचारी या सेवा निवृत्त विद्वत् वर्ग भी चाहिये जो इस कार्य को मिशनरी-भावना से कर सकें। समय-समय पर भारत से विश्व के प्रमुख केन्द्रों में जैन विद्या मर्मज्ञ विद्वन्मंडलों की व्याख्यान यात्राओं का आयोजन भी किया जाना चाहिये।

आजकल दूरदर्शन और रेडियो की विज्ञापन प्रसारण सेवा भी प्रचार-प्रभावना का महत्त्वपूर्ण साधन हो गया है। शाकाहार प्रचार हेतु हमने अनेक व्यक्तियों एवं संस्थाओं को सुझाव दिया कि अंडा-व्यवसायी संगठन के समान शाकाहारी संगठनों को भी दूरदर्शन और रेडियो पर अपना प्रचार करना चाहिये। ईसाई-धर्म के समान जैन कथाओं, जीवनों व उपदेशों का विशेषतः प्रसारण कराया जाना चाहिये। प्रसार के इन बीसवीं सदी के माध्यमों का सदुपयोग बहुव्यय साध्य है। संभवतः व्यक्तिवादित अपरिग्रह का सिद्धान्त हमें इस प्रकार के व्ययों के प्रति उपेक्षित बनाये हुए है। लेखक को विश्वास है कि जैन समुदाय प्रभावना के इस रूप का महत्व समझेगा, और भूतकाल के समान वर्तमान युग में भी समुचित यश अर्जित कर सकेगा।*

●

* प्रभावना की दृष्टि से १९८८ का वर्ष बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। इस वर्ष लीचेस्टर (यू० के०) में जैन मंदिर निर्माण एवं पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई। इसका आयोजन उस देश के इतिहास में भव्यतम उत्सव के रूप में गिना जायगा। आचार्य श्री चंदना जी की धर्मप्रचार यात्रा पर्याप्त आकर्षक एवं प्रभावी रही है। जैन विश्वभारती में भी एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में 'प्रेक्षा इन्टरनेशनल' का संगठन किया गया यह जैन ध्यान पद्धति का अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार-प्रसार करेगा।

विदेशों में धार्मिक आस्था

डॉ० महेन्द्र राजा जैन

इंडियन एक्सप्रेस, नई दिल्ली

पच्चीस वर्षों से अधिक समय तक विदेशों में रहकर अब जब मैं भारत लौटा हूँ, तो यहाँ रहते हुए मेरे ध्यान में बराबर एक बात आती है। धर्म के विषय में हम लोग संकीर्ण क्यों हैं? मैं या मेरे समान अन्य अगणित जन्मजात जैन अन्य धर्मों की बात तो दूर, स्वयं अपने ही धर्म के विषय में कितना जानते हैं? बचपन में मेरी शिक्षा वर्णी विद्यालय, सागर, बड़वानी तथा वाराणसी के स्याद्वाद महाविद्यालय में हुई। इन तीनों ही जगह प्रायः एकही पद्धति से जैनधर्म सम्बन्धी जो बातें मुझे बताई, सिखाई गई, वे अभी भी मुझे अच्छी तरह याद हैं। परम्परागत शास्त्रीय पद्धति से सिखाई गई उन बातों के सामाजिक, सांस्कृतिक और सार्वदेशिक स्वरूप को हमें कभी नहीं समझाया गया। हमें केवल यही बताया गया कि जैन शास्त्रों और धर्मग्रन्थों में जो लिखा है, वही पढ़कर परीक्षा पास करना है। उन बातों के सम्बन्ध में शंका-संदेह हमें अधार्मिक एवं अजैन की पात्रता देगा। हमें यह तो बताया गया कि अमुक धर्मानुयायी मांसाहारी हैं, म्लेच्छ हैं, वे पर्वों के दिन हिंसा करते हैं, अतः हमें उनसे दूर रहना चाहिये। पर हमें यह कभी नहीं बताया गया कि पुरान-जैन धर्मग्रन्थों में क्या लिखा है? हिन्दू और जैन अन्य पश्चिमी धर्मों को भी म्लेच्छ और भ्रष्ट मानते हैं। पर हमने कभी यह जानने का यत्न नहीं किया कि उनके धर्मग्रन्थों में क्या लिखा है? आज जैन समाज में अगणित पण्डित और धर्माचार्य प्रतिदिन अपने भाषणों में अन्य धर्मों की निन्दा करते देखे जाते हैं। पर कितनों ने उनके धर्म ग्रन्थों को पढ़ा है? गीता, कुरान, बाइबिल, जिन्द अवेस्ता आदि धर्मग्रन्थों का अध्ययन कर कितनों ने उनके मूलतत्वों को जानने की कोशिश की है? जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है—घृणा पापो से नहीं, पाप से करना चाहिये। पर आज ही क्या, हम तो प्रारम्भ से ही व्यक्ति से घृणा करते आ रहे हैं। हमें बचपन से सिखाया ही यही गया है। अन्यथा क्या कारण है कि अन्य धर्मों का नाम सुनते ही हम मुंह फेर लेते हैं?

संभवतः यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि ब्रिटेन के मूल निवासियों में प्रायः ९९.९९ प्रतिशत ईसाई हैं। इनमें भी अपने यहाँ के हिन्दुओं और जैनों के समान अलग-अलग वर्ग बन गये हैं—कैथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट, बैप्टिस्ट, प्रेस्बीटेरियन, सेवन्थ डे एडवेन्टिस्ट, क्रिस्टियन साइंन्टिस्ट आदि। मूलतः ये सभी ईसाई हैं। लन्दन में पहले ही दिन मैं जिस परिवार में 'पेइंग गेस्ट' के रूप में ठहरा, उस परिवार की महिला ने मेरा धर्म, जाति आदि पूछे बिना ही सहर्ष कुछ समय के लिये अपना एक कमरा किराये पर दे दिया। किराये में सुबह का नाश्ता भी शामिल था। मैं मैडम सी होम के यहाँ शाम को पहुँचा था। उन्होंने सुबह नाश्ते के विषय में पूछा, "आप क्या लेना पसन्द करेंगे?"

"जो आप सामान्यतः लेते हैं, वही मैं ले लूंगा। पर मैं शाकाहारी हूँ। अंडा, मांस, मछली आदि कुछ भी नहीं लूंगा।"

कमरे में सामान रख चुकने के बाद जब मैं हाथ-मुंह धोकर तैयार हुआ, तो उन्होंने मुझे अपने ही 'ड्राइंग रूम' में बुला लिया और बिस्किट-काफी देने के बाद मुझसे मेरे विषय में पूछने लगीं। मैंने उन्हें बताया, "मैं जैन धर्म मानता हूँ", तो उनकी समझ में कुछ नहीं आया। उन्हें यह तो पता था कि मैं नाम से जैन हूँ, पर धर्म से भी मैं जैन हूँ, यह उन्हें कुछ बेतुका-सा लग रहा था। बाद में जब मैंने उन्हें जैन धर्म के विषय में कुछ बातें बताई, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने और भी जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा, "वे कल पब्लिक लाइब्रेरी आकर जैनधर्म सम्बन्धी कुछ पुस्तकें लाकर पढ़ेंगी।"

लगभग १९६८–६९ की बात है। तब मैं सपरिवार लंदन के बालहम क्षेत्र में रह रहा था। हमारे घर से कुछ ही दूर एक अंग्रेज पादरी रहते थे। उन्हें जब मेरे विषय में पता चला, तो एक दिन उन्होंने मुझे अपने घर पर चाय के लिये आमन्त्रित किया। मैं जब उनके घर गया, तो उन्होंने भारत और जैनधर्म पर बहुत देर तक बातें कीं। वे जैनधर्म के सम्बन्ध में पहले से भी काफी जानते थे, यह जानकर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ। ईसाई होते हुए भी उन्हें केवल जैनधर्म ही नहीं, अन्य धर्मों के विषय में भी जानकारी थी। वे सदा अन्य धर्मावलम्बियों को अपने घर बुलाया करते थे। उनका उद्देश्य कभी यह नहीं रहा, जैसी कि भारत में पादरियों के सम्बन्ध में धारणा है, कि किसी से परिचय-मैत्री कर धीरे-धीरे उसका धर्मपरिवर्तन करने की चेष्टा करें। उनके चर्च की ओर से प्रतिवर्ष ग्रीष्म काल में 'गार्डेन पार्टी' होती थी। उसमें वे अन्य देशों के लोगों को ही नहीं, अपने परिचित-अपरिचित अन्य धर्मावलम्बियों को भी बुलाते थे। उनका व्यवहार सभी के साथ शिष्ट और समभावी था। वे जब तक बालहम चर्च में रहे, उनसे हमारा अच्छा संपर्क रहा। वे हमारे यहाँ अनेक बार खाना खाने भी आये। व्यक्तियों की बात तो दूर, 'ब्रिटिश काउन्सिल' जैसी संस्थायें भी इसी उद्देश्य से काम करती हैं, परिचय, जिज्ञासा शान्ति और ज्ञानवृद्धि।

इंग्लैंड, आयरलैंड तथा अफ्रीका के देशों में मैं जहाँ जहाँ रहा, मैंने कभी यह अनुभव नहीं किया कि मुझसे धर्म के कारण किसी ने अन्यथा भाव से व्यवहार किया हो। मुझे सदैव अच्छे पड़ोसी मिले, परिचित मिले, मैं बराबर उनके यहाँ भोज और पार्टियों के आमंत्रण पर जाता था। जब उन्हें हमारे शाकाहारी होने का पता चलता था, तो इस बात का प्रयत्न करते थे कि हमारे भोजन में गल्ती से ऐसी चीज न चली जावे, जो शाकाहार में शामिल न हो। पहले वे यही समझते थे कि मैं जैन होने के कारण शाकाहारी हूँ। पर बाद में मैंने उन्हें स्पष्ट किया, "प्रारंभ में जन्मजात जैन होने से मैं संस्कारवश शाकाहारी रहा, पर अब वयस्क होने पर हम स्वयं सोचने लगे हैं कि हमें शाकाहारी रहना चाहिये।" मुझे यूरोप में अनेक ऐसे ईसाई मिले जो मुझसे भी कट्टर शाकाहारी थे। वे दूध, दूध से बनी चीजें-मक्खन, पनीर आदि भी नहीं खाते थे।

भारत में धर्म के प्रति लोगों की आस्था क्रमशः घटती जा रही है, पर हमारे अपने अनुभव में, इग्लैण्ड में इसके विपरीत धार्मिक आस्था बढ़ रही है। हमारे यहाँ भले ही नये नये मन्दिर बन रहे हैं, पंच कल्याणक प्रतिष्ठायें हो रही हैं, गजरथ निकल रहे हैं, पर इग्लैण्ड में भले ही नये गिरजाघर न बन रहे हों, पर पहले से बने गिरजाघरों की मरम्मत देखभाल आदि पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता है। अपने लम्बे प्रवास काल में मुझे कभी यह सुनने को नहीं मिला कि अमुक जगह कोई नया गिरिजाघर बनने वाला है। उसके लिये चन्दा एकत्र किया जा रहा है।

अपने विदेश प्रवास में मुझे अनेक बार पूर्वी और पश्चिमी यूरोप जाने के अवसर मिले। प्रायः सभी जगह मैंने वहाँ के गिरजाघर भी देखे। वहाँ जो शान्ति का अनुभव होता है, वह बिना उनमें जाये, अकल्पनीय ही है।

भारत में एक ही शहर में कई मन्दिर होते हैं और कुछ लोगों के अपने रुचि के अनुकूल खास-खास मन्दिर बन जाते हैं। वे उसी में विशेष रूप से जाना पसन्द करते हैं। यही स्थिति विदेशों में भी है। यह जरूरी नहीं कि

कोई व्यक्ति अपने निकट के गिरजाघर में जावे। सभी गिरजाघरों में प्रार्थना का एक निश्चित समय रहता है। रविवार का प्रातः का समय-सप्ताह में केवल एक दिन। इस दिन सभी सदस्य समय पर गिरजाघर पर पहुँचते हैं, सामूहिक प्रार्थना करते हैं, धर्मगुरु का प्रवचन सुनते हैं। इस कार्यक्रम को ईसाइयों की भाषा में 'सर्विस' कहा जाता है। यह प्रायः ९० मिनट की होती है। धर्मगुरु पहले से ही यह तय करता है कि किस हफ्ते बाइबिल का कौन-सा अंश पढ़ा जायेगा या कौन-सी प्रार्थना होगी। वहाँ पर्याप्त संख्या में बाइबिल और प्रार्थना पुस्तकें रहती हैं। हम जब भी वहाँ गये, हमें, सदैव ये पुस्तकें मिलीं। कुछ लोग अपनी निजी पुस्तकें भी लाते हैं। 'सर्विस' के समय गिरजाघर प्रायः पूरा भर जाता है, पर यह कभी नहीं देखा गया कि लोग अनियन्त्रित हों, शोरगुल करें या आपसी बातें करने लगें। 'सर्विस' के समय चर्च-संगीत या पादरी की आवाज के सिवा कोई आवाज सुनाई नहीं पड़ती। लोग अपने-अपने स्थानों पर बैठे रहते हैं। हमने वहाँ कभी यह नहीं देखा कि किसी व्यक्ति विशेष के आने पर किसी अन्य व्यक्ति ने अपना स्थान छोड़ा हो या किसी से कोई स्थान-विशेष खाली करने के लिये कहा गया हो। 'सर्विस' के समय 'आरती' से इतना दान प्राप्त हो जाता है कि इससे चर्च का व्यवस्था व्यय, धर्मगुरु की आजीविका राशि तो पूरी होती ही है, इसका कुछ अंश सदैव धर्म प्रचार एवं साहित्य प्रणयन के लिये रखा जाता है।

पुस्तकालय-विज्ञानी होने के कारण, प्रकाशित पुस्तकों के सम्बन्ध में अपने अनुभव से मैं यह कह सकता हूँ कि वहाँ धार्मिक विषयों पर जितनी पुस्तकें छपती व बिकती हैं, उतनी कहीं नहीं। प्रत्येक पुस्तक के कम-से-कम १०-११ हजार प्रतियों से कम के संस्करण नहीं निकलते। बाइबिल का तो प्रत्येक संस्करण १-१ लाख प्रतियों का होता है। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात शायद आपको यह लगे कि आजकल ही नहीं, प्रारम्भ से ही बाइबिल शायद दुनिया की सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तक रही है। इसका प्रतिवर्ष कोई-न-कोई संस्करण प्रकाशित होता ही रहता है और ईसाई धर्म के सम्बन्ध में आलोचना, प्रत्यालोचना और विवेचना की पुस्तकें भी मुद्रित होती रहती हैं। धार्मिक पुस्तकों के सम्बन्ध में हमने एक बात यह भी देखी कि वहाँ केवल ईसाई धर्म सम्बन्धी पुस्तकें ही नहीं, अन्य धर्मों के सम्बन्ध में भी पुस्तकें प्रकाशित होती हैं और इन पुस्तकों के लेखक और प्रकाशक प्रायः ईसाई ही होते हैं। यह बात भी कुछ अटपटी लग सकती है कि जैन धर्म या अन्य धर्मों के सम्बन्ध में जितनी विस्तृत जानकारी मुझे अपने विदेश-प्रवास के दौरान इन विदेशी पुस्तकों से मिली, उतनी अपने जीवन के प्रारम्भिक पच्चीस वर्षों में भारत में अपने घर में, संस्थाओं में या जैन परिवारों के बीच रहने पर भी नहीं हुई। इन पुस्तकों से मुझे धर्मों के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि से सोचने की दृष्टि मिली और यह भी जानने की इच्छा हुई कि अन्य धर्मों की क्या विशेषतायें हैं? विदेशों में मुझे जितने अधिक विविध धर्मावलम्बियोंसे मिलने और उनके साथ रहने का अवसर मिला, उससे मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि अन्य धर्मों के सम्बन्ध में मेरी पूर्वाग्रह या संकुचित दृष्टि लगभग दूर-सी हो गई। सम्भवतः यही कारण है कि भारत लौटने पर जिस कार्यालय में मेरी नियुक्ति हुई, वहाँ सबमें पहली नियुक्ति मैंने एक अन्य धर्मावलम्बी की ही कराई।

इंग्लैंड में रहते हुए मैंने एक अन्य तथ्य भी देखा कि वहाँ की पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रायः धार्मिक विषयों पर विवादास्पद लेख प्रकाशित होते रहते हैं। ये लेख प्रायः ऐसे होते हैं जिनकी चर्चा काफी समय तक होती रहती है। इनके विषय में लम्बे समय तक प्रतिक्रियायें छपती रहती हैं। इन लेखों में प्रायः धर्म सम्बन्धी किसी नई बात या व्याख्या को उठाया जाता है पर यह आवश्यक नहीं कि ये लेख केवल ईसाई जगत से ही सम्बन्धित हों। दैनिक-साप्ताहिक पत्रों में अन्य धर्मों के सम्बन्ध में भी लेख प्रकाशित होते हैं और लोग उन्हें शौक से पढ़ते हैं।

●

जैन विद्याओं के कतिपय उपाधि-निरपेक्ष शोधकर्ता

संकलित

पश्चिमी विद्वानों ने जैन विद्याओं के सम्बन्ध में उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही अपने शोधपूर्ण अध्ययन प्रारम्भ कर दिये थे। भारत में यह कार्य बीसवीं सदी से प्रारम्भ हुआ। इस शोध में जैन विद्याओं के धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन के साथ अध्यात्मेतर विषयों पर भी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं विकास की दृष्टि से पर्याप्त वर्णनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन हुआ है। जैन[1] एवं जैन[2] के द्वारा प्रकाशित जैन विद्या शोध विवरणों से ज्ञात होता है कि १९७३–८३ के बीच इस क्षेत्र में शोधकर्ताओं की संख्या में एक सौ दस प्रतिशत की वृद्धि हुई है। यही नहीं, यह भी पाया गया है कि इन शोधकर्ताओं में जैनेतरों का प्रतिशत लगभग ७९.५ है। इससे ज्ञात होता है कि जैन विद्या का अध्ययन नये शोधकर्ताओं में आकर्षण उत्पन्न कर रहा है। इस समय जैन विद्या के शोधों के अन्तर्गत ललित साहित्य, न्याय-दर्शन, आगम एवं सिद्धान्त, व्यक्तित्व-कृतित्व, भाषा एवं भाषा विज्ञान, आधुनिक विषय (इतिहास, शिक्षा, अर्थशास्त्र, राजनीति, पुरातत्व आदि आठ विषय) तुलनात्मक अध्ययन और वैज्ञानिक तथ्यों का समीक्षण समाहित है।

जैन विद्याओं में अनुसन्धान के मुख्य दो रूप पाये जाते हैं—(१) उपाधि प्राप्ति के हेतु अनुसन्धान (२) उपाधि-निरपेक्ष, उपाधि-उत्तर एवं समय-निरपेक्ष अनुसन्धान। अनेक शोधकर्ता उपाधि-प्राप्ति हेतु निर्देशक के मार्गदर्शन में विशिष्ट विषय पर नियत समय से कार्य करते हैं। इस कार्य से और समुचित आजीविका-क्षेत्र मिलने पर इनमें से अनेक रूचि पूर्वक आगे भी इसी दिशा में शोध एवं लेखन कार्य को चालू रखते हैं। उपाधि-प्राप्ति के उपरान्त किये जाने वाले शोधकार्य को 'उपाध्युत्तर शोध' की श्रेणी में लिया जाता है। इसके विपर्यास में, जैन विद्याओं में प्रारम्भिक शोध उपाधि-निरपेक्ष रहा है। इसके कर्णधार प्राचीन पद्धति में शिक्षित विद्वान् रहे हैं। अनेक मौलिक शोधकर्ता (नाथूराम प्रेमी, जुगलकिशोर मुख्तार आदि) तो आजीविका काल में ही स्वयं की रुचि से जैन धर्म के अध्ययन की ओर मुड़े और उन्होंने उत्तरवर्ती जैन शोध को प्रेरित किया। इन्होंने स्वान्तः सुखाय एवं जैन संस्कृति के प्रसार हेतु शोध कार्य किया। यह प्रवृत्ति लेखन को भी जन्म देती है। इसलिए इन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में लेख व अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखे। ऐसे शोधकर्ता उपाधि-निरपेक्ष (अतः निर्देशक-निरपेक्ष) एवं समय-निरपेक्ष शोध की कोटि में आते हैं। जैन विद्याओं में हो रहे अनुसन्धानों के सम्बन्ध में प्रकाशित विवरणिकाओं में केवल उपाधि-निमित्तक शोधों का ही विवरण रहता है। इनमें उपाधि-निरपेक्ष और उपाधि-उत्तर शोधों की सूचनायें नहीं रहती। इससे ये विवरणिकायें शोध की वर्तमान स्थिति की तथ्यपरक सूचना नहीं करतीं। इन दोनों ही कोटियों में आने वाले शोधकर्ताओं की संख्या पर्याप्त है। इन शोधों का विवरण संकलित करने पर ही जैन विद्या शोध की सही स्थिति ज्ञात हो सकती है।

उपाधि-निरपेक्ष शोधकर्ताओं में ऐसे अनेक विद्वान् हैं जिन्होंने जैन विद्याओं का गौरव बढ़ाया है। यद्यपि इस कोटि के प्रारम्भिक शोधकर्ता आंग्ल भाषाविद् नहीं थे, फिर भी उन्होंने जो काम किया, उसकी जानकारी के लिए आंग्ल भाषाविदों को समुचित भारतीय भाषाओं का ज्ञान करना पड़ा। ऐसे विद्वानों में श्री नाथूराम प्रेमी, पं० जुगलकिशोर मुख्तार, पं० सुखलाल संघवी, पं० दलसुख मालवणिया, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं० फूलचन्द्र शास्त्री आदि के नाम आदरपूर्वक लिये जा सकते हैं। ये सभी प्रायः समाज-सेवी एवं समाज-जीवी रहे हैं। इन सभी ने जैन सिद्धान्त ग्रन्थों के सम्पादन-अनुवाद कार्य के समय जैन संस्कृति के विकास एवं जैनाचार्यों के इतिहास एवं योगदान पर तुलनात्मक समीक्षण लिखकर अपनी गहन शोध-कला का परिचय दिया है। अनेक विषयों पर इनके भाषण व शोध-लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनकी सेवाओं के प्रति आदर-भाव व्यक्त करने के लिये जैन समाज की अनेक संस्थाओं द्वारा उनके अभिनन्दन ग्रन्थों

(कुछ प्रकाशित हो गये हैं और कुछ प्रकाशित हो रहे हैं) के माध्यम से उनके शोध/लेखन कार्यों की जानकारी दी गयी है। पर यह पूर्ण है, इसमें सन्देह है, क्योंकि केवल एक ग्रन्थ को छोड़कर अन्य ग्रन्थों में लेख/शोध-लेख/कृतियों सम्बन्धी विस्तृत सूची नहीं मिलती। तत्तत् प्रकाशन संस्थाओं से अनुरोध है कि वे सम्बन्धित विद्वानों के लेख/शोध-लेख/मौलिक/सम्पादन/अनुवाद कार्यों की विषयवार सूची प्रकाशित कर उससे सम्बन्धित जानकारी को पूर्ण करने की दिशा में अग्रणी बनें।

इस लेख में हम यहाँ इस सदी के आठवें दशक में काम करने वाले कुछ शोधकर्ताओं का संक्षिप्त विवरण देना चाहते हैं। इनकी विशेषज्ञता प्रायः जैनेतर विषयों (विज्ञान, गणित, इतिहास आदि) में रही है। इनकी आजीविका का क्षेत्र भी, इसलिये, जैन संस्थाओं और समाज से भिन्न रहा है। फिर भी, उन्होंने जैन धर्म एवं संस्कृति के प्रति रूचि होने से इसके साहित्य में विद्यमान वैज्ञानिक, गणित, ज्योतिष, पुरातत्व आदि भौतिक पक्षों को तुलनात्मक दृष्टि से उद्घाटित करने में महान् भूमिका निभाई है। इसमें मध्य प्रदेशवासियों को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह विवरण उपाधि-निरपेक्ष शोध के निरूपण का प्रारम्भ है। मुझे आशा है कि अन्य विद्वज्जन और संस्थाएँ इस प्रकार की शोधों का पूर्ण विवरण प्राप्त करने का यत्न करेंगी और उसे उपाधि निमित्तक शोध-प्रकाशनों के समान सुलभ करेंगी।

(अ) उपाधि निरपेक्ष शोधकर्ता

१. श्री बालचंद्र जैन (१९२४–) : आप छतरपुर जिले के गोरखपुरा ग्राम के वासी हैं और शिक्षा-दीक्षा एवं आजीविका के दौरान कटनी, बनारस, रायपुर, भोपाल और जबलपुर में रहकर आजकल सेवा निवृत्ति के बाद जबलपुर को अपना निवास बनाये हुए हैं। इन्होंने जैनधर्म में शास्त्री, साहित्य में शास्त्री एवं प्राचीन भारतीय इतिहास व संस्कृति में एम० ए० किया हैं। इन्होंने विदर्भ और महाकोशल के सिक्कों पर अध्ययन हेतु शोध प्रारंभ की थी पर उसे पूरी नहीं कर सके। इनका अधिकांश सेवाकाल पुरातत्व विभाग में बीता है। इन्होंने तीन दर्जन से अधिक शोधपत्र लिखे हैं। एक दर्जन से अधिक निर्देशिकायें लिखी हैं। 'जैन प्रतिमा विज्ञान' पर एक मानक पुस्तक भी लिखी हैं। आप सिक्का-विज्ञान एवं मूर्तिकला के सुज्ञात विशेषज्ञ हैं। उनके शोधपत्रों में राजपालदेव, नन्नराज, प्रवरराज, दलपतशाह, भोजदेव, त्रैलोक्यवर्मा, व्याघ्रराज, शिवदेव, क्रमादित्य, महेन्द्रादित्य एवं विजयसिंह आदि राजाओं के समय के सिक्कों एवं इतिहास पर नई रोशनी डाली है। इन्होंने रतनपुर, पचराई, गूडर (म० भारत), कुहद, कारीतालाई, जटाशंकर आदि को जैन तथा जैनेतर कलाओं पर तथा गोंड, कलचुरी और नागवंशों के इतिहास पर काफी काम किया है। आपने विंध्य-महाकोशल के अनेक ऐतिहासिक जैन कलाकेन्द्रों का पता लगाया तथा उन पर अध्ययन किया। सेवानिवृत्त होने पर भी आप अपने शोधकार्यों में लगे हुए हैं। आजकल आप अस्वस्थ हैं।

२. श्री नीरज जैन (१९२६–) : रीठी (सागर) ग्राम जैन विद्वानों एवं समाज-सेवियों की खान कहा जा सकता है। शिक्षा-दीक्षा, आजीविका तथा समाजसेवी प्रवृत्तियों के बीच आप मुख्यतः सागर और सतना में रहे हैं। अध्ययन के प्रति रुचि ऐसी कि आपने ४५ वर्ष की वय के बाद बी०ए० और एम०ए० किया। प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी के सम्पर्क एवं शिष्यत्व ने इन्हें काव्य-रस से पुरातत्व-रस की ओर मोड़ा। उपलब्ध सूचनाओं के अनुसार, आपने बुन्देलखण्ड के ज्ञात-अज्ञात तीर्थ क्षेत्रों पर अनेक शोध-लेख तथा लोकप्रिय लेख लिखे हैं। पतयानदाई, नवागढ़, चित्तौड़, बजरगगढ़, मड़ई, राजघाट, अजयगढ़, ग्वालियर आदि की अल्पज्ञात जैन-कलाओं पर आपके अनेक महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं। काव्य-रस से ओतप्रोत आपकी दो ऐतिहासिक पुस्तकें भी (गोमटेश गाथा, सहस्राब्दि समारोह) अभी प्रकाशित हुई हैं। आप अभी भी जैन स्थापत्य, मूर्ति एवं पुरातत्व के क्षेत्र में काम कर रहे हैं तथा अनेक अखिल भारतीय संस्थाओं से सम्बद्ध हैं।

३. श्री एल० सी० जैन (१९२६–) : सागर में जन्मे अध्यापक पुत्र श्री जैन बचपन से ही प्रतिभा के धनी रहे हैं। सागर और जबलपुर की शिक्षा-दीक्षा के बाद आपने स्वाध्यायी छात्र के रूप में गणित में एम० ए० किया।

अपने ३४ वर्ष के अध्यापन-सेवा-काल में आपने **जैन विद्याओं में गणित विषयक सामग्री की कोटि की ओर** अनेक शोध पत्रों, संपादकीयों तथा पुस्तिकाओं।(बेसिक मैथेमेटिक्स-१, २, जयपुर) के माध्यम से भारत तथा विश्व के गणितज्ञों का ध्यान आकृष्ट किया है। आपने जैन गणित के लौकिक एवं लोकोत्तर रूपों को पृथक्-पृथक् रूप में वर्णित किया और वर्तमान 'समुच्चय सिद्धान्त' के बीज जैन शास्त्रों में पाये। आप कर्म सिद्धान्त को गणितीय रूप देने के प्रयास में हैं और उससे सम्बन्धित उपयुक्त पारिभाषिक शब्दावली आपने बनाई है। उपलब्ध सूचनाओं के अनुसार आपने जैन गणित सम्बन्धी लगभग ५० शोध लेख लिखे हैं। इनमें से कुछ विदेशी पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुए हैं। इस विषय से सम्बन्धित लोकप्रिय लेखों की श्रेणी अलग है। अभी आप 'त्रिलोकसार' पर काम कर रहे हैं। आप ने अनेक गोष्ठियों में भाग लिया है। आप जैनोलोजिकल रिसर्च सोसाइटी, त्रिलोक शोध-संस्थान, मदर इस्टीट्यूट, विद्यासागर शोध-संस्थान आदि अनेक संस्थाओं में सम्बद्ध रहे हैं।

४. **श्री कुन्दनलाल जैन** (१९२५–) : बोना के अत्यन्त निर्धन परिवार में जन्मे श्री जैन की जैन विद्याओं के सम्वर्धन में प्रारम्भ से ही रुचि रही है। उनकी शिक्षा-दीक्षा बरुआसागर, सागर और वाराणसी में हुई। इसके बाद का आंग्ल पद्धतिक अध्ययन स्वाध्यायी रूप में हुआ। आजीविका काल में आप दिल्ली, मथुरा, बासौदा तथा अन्तिम तीस वर्ष दिल्ली में रहे। आपने 'त्रिषष्ठि शलाकापुरुष' पर काफी शोधकार्य किया पर अनेक नियमापनियम उसको उपाधि हेतु संप्रेषण में बाधक बन गये। पांडुलिपियों की खोज और वर्गीकरण पर आपने काम किया है और दिल्ली के ग्रन्थ भण्डरों में उपलब्ध ग्रन्थों का 'दिल्ली जिन ग्रन्थ रत्नावली' के रूप में अनेक भागों में विवरण प्रस्तुत किया है। इसका एक भाग भारतीय ज्ञानपीठ ने प्रकाशित किया है। आपने अनेक अल्पज्ञात जैन कवियों और उनकी रचनाओं की खोज कर लगभग ७० शोध लेख लिखे हैं। वैसे आपके सभी प्रकार के लेखों की संख्या २०० की सीमा पार कर गई है। आपने वादिराज, पुष्पराज, ब्र० ज्ञानसागर, ब्र० उडू, अर्जिका पल्हण, देवीदास भाय जी, भ० सकल कीर्ति, भ० विश्व-भूषण, बुलाकीदास, छुन्नूलाल, बारेलाल, बिहारीदास, राय प्रवीण, शिरोमणिदास आदि की कृतियों का परिचय दिया है। आपने पुरातत्व व मूर्तिकला के क्षेत्र मे तारातम्बूल, गंजबासौदा, बडौत, नरवरगढ़, नरवर, मुरार, जैसलमेर, जोइणीपुर आदि पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। आपके शोधलेख अनेक जैन-जैनेतर पत्रिकाओं में मुद्रित हुए हैं। आप अनेक संस्थाओं से सम्बद्ध हैं। आपने अनेक राष्ट्रीय गोष्ठियों (जैन विद्याओं की) में भाग लिया है। रेडियो और दूरदर्शन को भी आपने अनेक बार अपनी चर्चाओं का माध्यम बनाया है। आजकल आप हस्तिनापुर गुरुकुल में सेवानिवृत्युत्तर समाज-सेवा कर रहे हैं।

५. **डा० नन्दलाल जैन** (१९२८–) : छतरपुर जिले के बड़ा शाहगढ़ ग्राम के मूल निवासी भारत के अनेक महा नगरों में व्यापार एवं व्यवसाय करते हुए पाये जाते हैं। गोंडवाने के इस ग्राम में जन्मे श्री जैन शिक्षा-दीक्षा, आजीविका एवं शोधकार्यों के दौरान झूमरीतिलैया, काशी, टीकमगढ़, छतरपुर, रायपुर, बालाघाट, जबलपुर एवं रीवा में रहे हैं। इन्होंने जैन धर्म एवं सर्वदर्शन का अध्ययन करते हुए रसायन विज्ञान में ब्रिटेन तथा अमरीका में विशेषज्ञता प्राप्त की और यही आपका अध्ययन-विषय रहा। पर वंशानुग धार्मिक संस्कारों एवं व्यक्तिगत रुचि के कारण उन्होंने जैन दर्शन के वैज्ञानिक मूल्यांकन एवं उसमें वर्णित वैज्ञानिक तथ्यों के विवेचन पर काफी कार्य किया है। भौतिकी, रसायन, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र एवं आहार विज्ञान के विविध पक्षों पर आपके लगभग पांच दर्जन शोधपत्र प्रकाशित हुए हैं। अब वे अपनी शोध को एक पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करने में व्यस्त है। उनकी यह धारणा है कि जैन विद्याओं के विविध साहित्य में वर्णित वैज्ञानिक तथ्यों का आकलन ऐतिहासिक दृष्टि से ही समीचीनता पूर्वक किया जा सकता है। जैन दर्शन को भौतिक जगत सम्बन्धी अनेक मान्यतायें सैद्धान्तिक दृष्टि से आज भी जैनाचार्यों की कीर्ति को गाथा गा रही हैं। आपने दो दर्जन से अधिक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जैन विद्या संगोष्ठियों सम्मेलनों में भाग लेकर अपनी

शोधदिशा को प्रसारित किया है। आप बाल साहित्य एवं अनुदित साहित्य के पुरस्कृत लेखक है और जैन-संस्कृति के सिद्धान्तों के सार्वजनिक प्रसार में रुचि रखते हैं। आप अनेक शोध एवं धर्म प्रचार संस्थाओं से सम्बद्ध हैं। इस समय आप विश्वविद्यालय अनु० आयोग की योजना में सेवानिवृत्युत्तर कार्यरत है। आप दि० जैन साहित्य के एक आगम ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद भी कर रहे हैं।

मुनिश्री महेन्द्रकुमार (१९३८–) : बीसवीं सदी की जैन विद्या शोधों में साधु वर्ग का महत्त्वपूर्ण योगदान है। बम्बई से बी० एस० सी० (आनर्स) करते समय ही मुनिश्री जी के मन में जैन धर्म और विज्ञान की मान्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति जगी थी। सन् १९५८ से लेकर आजतक वे इसी के अनुरूप कार्य कर रहे हैं। उपलब्ध सूचनाओं के अनुसार १९८५ तक उन्होंने ७ पुस्तकें, १५ लेख, २१ अनुवाद तथा २४ सम्पादन कार्य किये हैं। ये कार्य हिन्दी और अंग्रेजी—दोनों भाषाओं में है। इनमें से बहुतेरे कार्य प्रेक्षा ध्यान पद्धति के वैज्ञानिक पहलुओं पर हैं। प्रारम्भ में उन्होंने विश्व के स्वरूप, आकाश-काल की स्वरूप व्याख्या, पुनर्जन्म, परमाणुवाद एवं भौतिक जगत् के जैन-दार्शनिक एवं वैज्ञानिक स्वरूपों का अध्ययन कर वैज्ञानिक जगत् को एक नया चिन्तन दिया। आजकल आप प्रेक्षाध्यान पर विशेष प्रयोग और कार्य कर रहे है। 'जैन धर्म का विश्वकोष' भी आपके सम्पादन में आने वाला है।

(ब) उपाध्युत्तर शोधकर्ता

(१) **डा. जे. सी. सिकन्दर** (१९२४-): श्री सिकन्दर ने जैन विद्याओं में बिहार तथा जबलपुर विश्वविद्यालय से पी. एच-डी. एवं डी-लिट उपाधि प्राप्त की है। सम्भवतः ये जैन विद्याओं में दो उच्चतम शोध-उपाधिधारियों में सर्वप्रथम है। (कुछ दिन पूर्व बिजनौर के डा० रमेशचन्द्र जी को द्वितीय शोध उपाधि मिली है।) इन्होंने भगवती सूत्र एवं जैनों के परमाणुवाद पर शोध की है। इस शोध को विस्तृत कर इन्होंने एल० डी० इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद में शोधाधिकारी के पद पर रहकर उत्तरकाल में रसायन, भौतिकी, जीव-विज्ञान के विषय भी समाहित किये। उपलब्ध सूची के अनुसार इन्होंने १९६० से अब तक लगभग दो दर्जन शोध-लेख लिखे हैं। इन्हें सम्पादित कर प्रकाशित करना अत्यन्त उपयोगी होगा। इनके समय में अनेक जैन और जैनेतर विद्वानों ने जैनदर्शन का वैज्ञानिक मान्यताओं पर शोध की है और नये-नये तुलनात्मक तथ्य उद्घाटित किये हैं। पार्श्वनाथ विद्याश्रम से इनका शोध निबंध – जैन कन्सेप्ट आव मैटर—अभी प्रकाशित हुआ है।

(२) **डा० एस० एस० लिश्क** (१९४२–) : पंजाब में जन्मे डा० लिश्क ने कुरुक्षेत्र से गणित में एम० ए० (१९७१) तथा चंडीगढ़ से गणित ज्योतिष में ससम्मान पी० एच-डी० (१९७८) किया है। वे छह भाषाओं के जानकार है। एम० ए० करने के बाद ही जैन ज्योतिष और गणित की कुछ विशेषताओं ने उन्हें आकृष्ट किया। तब से अब तक उनके ४३ शोध-पत्र प्रकाशित हुए हैं। इनमें जैन ग्रन्थों–भगवती सूत्र, सूर्य प्रज्ञप्ति, भद्रबाहु संहिता आदि–में विद्यमान लम्बाई एवं समय की इकाइयाँ, चपटी-पृथ्वी, सूर्य-चन्द्र ग्रहण, मेरु-पर्वत और जम्बू द्वीप तथा जैन ज्योतिष की अनेकों तुलनात्मक विशेषताओं पर उन्होंने विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। अनेक लेखों में इन्होंने आधुनिक मान्यताओं के साथ अनेक प्रकार की विसंगतियाँ तो बतायी हैं, पर उन्हें सुसंगत करने का उपाय नहीं सुझाया। इनका 'जैन एस्ट्रोनोमी' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ अभी प्रकाशित हुआ है। इनसे जैन समाज को बड़ी आशाएँ हैं। श्री एल० सी० जैन इनके प्रेरकों में से एक हैं। ये अनेक जैन गणित एवं ज्योतिष के ग्रन्थों का समालोचनात्मक अध्ययन करना चाहते हैं। मुझे लगता है कि यदि इन्हें समुचित सुविधाएँ प्रदान की जावें, तो ये जैनों की वैज्ञानिक मान्यताओं के क्षेत्र में स्मरणीय काम कर सकते है। इन्होंने देश-विदेश के अनेक सम्मेलनों में अपने विषय पर शोध-पत्र प्रस्तुत कर जैन विद्याओं का सम्मान बढ़ाया है।

आगम-तुल्य ग्रन्थों की प्रामाणिकता का मूल्यांकन

डॉ० एन० एल० जैन

रीवा, म० प्र०

वर्तमान वैज्ञानिक युग की यह विशेषता है कि इसमें विभिन्न भौतिक व आध्यात्मिक तथ्यों और घटनाओं को बौद्धिक परीक्षा के साथ प्रायोगिक साक्ष्य के आधार पर भी व्याख्या करने का प्रयत्न होता है। दोनों प्रकार के संपोषण से आस्था बलवती होती है। वैज्ञानिक मस्तिष्क दार्शनिक या सन्त की स्वानुभूति, दिव्यदृष्टि या मात्र बौद्धिक व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं होता। इसी लिये वह प्राचीन शास्त्रों, शब्द या वेद की प्रमाणता की धारणा की भी परीक्षा करता है। जैन शास्त्रों में प्राचीन श्रुत को प्रमाणता के दो कारण दिये हैं: (१) सर्वज्ञ, गणधर, उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा रचना और (२) शास्त्र वर्णित तथ्यों के लिये बाधक प्रमाणों का अभाव।[1] इस आधार पर जब अनेक शास्त्रीय विवरणों का आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है, तब मुनिश्री नन्दिघोष विजय[2] के अनुसार भी स्पष्ट भिन्नतायें दिखाई पड़ती हैं। अनेक साधु, विद्वान्, परम्परापोषक और प्रबुद्धजन इन भिन्नताओं के समाधान में दो प्रकार के दृष्टिकोण अपनाते हैं :

(अ) **वैज्ञानिक दृष्टिकोण** के अनुसार ज्ञान का प्रवाह वर्धमान होता है। फलतः प्राचीन वर्णनों में भिन्नता ज्ञान के विकास-पथ को निरूपित करती है। वे प्राचीन शास्त्रों को इस विकासपथ के एक मील का पत्थर मानकर इन्हें ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में स्वीकृत करते हैं। इससे वे अपनी बौद्धिक प्रगति का मूल्यांकन भी करते हैं।

(ब) **परम्परापोषक दृष्टिकोण** के अनुसार समस्त ज्ञान सर्वज्ञ, गणधरों एवं आरातीय आचार्यों के शास्त्रों में निरूपित है। वह शाश्वत माना जाता है। इस दृष्टिकोण में ज्ञान को प्रवाहरूपता एवं विकास प्रक्रिया को स्थान प्राप्त नहीं है। इसलिये जब विभिन्न विवरणों, तथ्यों और उनकी व्याख्याओं में आधुनिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भिन्नता परिलक्षित होती है, तब इस कोटि के अनुसर्ता विज्ञान की निरन्तर परिवर्तनीयता एवं शास्त्रीय अपरिवर्तनीयता की चर्चा उठाकर परम्परा-पोषण को ही महत्व देते हैं। यह प्रयत्न अवश्य किया जाता है कि इन व्याख्याओं से अधिकाधिक संगतता आवे चाहे इसके लिये कुछ खींचतान ही क्यों न करनी पड़े। अनेक विद्वानों की यह धारणा संभवतः उन्हें अरुचिकर प्रतीत होगी कि अंग-साहित्य का विषय युगानुसार परिवर्तित होता रहता है। सत्य ही, पोषण का अर्थ केवल संरक्षण ही नहीं, संवर्धन भी होता है। जैन शास्त्रों के काकदृष्टीय अध्ययन से ज्ञात होता है कि शास्त्रीय आचार-विचार की मान्यतायें नवमी-दशमी सदी तक विकसित होती रही हैं। इसके बाद इन्हें स्थिर एवं अपरिवर्तनीय क्यों मानलिया गया, यह शोधनीय है। शास्त्री[3] का मत है कि परम्परापोषक वृत्ति का कारण संभवतः प्रतिमा की कमी तथा राजनीतिक अस्थिरता माना जा सकता है। पापभीरुता[4] भी इसका एक संभावित कारण हो सकती है। इस स्थिति ने समग्र भारतीय परिवेश को प्रभावित किया है।

शास्त्री[5] ने आरातीय आचार्यों को श्रुतधर, सारस्वत, प्रबुद्ध, परम्परापोषक एवं आचार्यतुल्य कोटियों में वर्गीकृत किया है। इनमें प्रथम तीन कोटियों के प्रमुख आचार्यों के ग्रन्थों का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि प्रत्येक आचार्य

ने अपने युग में परम्परागत मान्यताओं में युगानुरूप नाम, भेद, अर्थ और व्याख्याओं में परिवर्धन, संशोधन तथा विलोपन कर स्वतंत्र चिन्तन का परिचय दिया है। इनके समय में ज्ञानप्रवाह गतिमान् रहा है। इस गतिमत्ता ने ही हमें आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं राजनीतिक दृष्टि से गरिमा प्रदान की है। हम चाहते हैं कि इसी का आलंबन लेकर नया युग और भी गरिमा प्राप्त करे। इसके लिये मात्र परंपरापोषण की दृष्टि से हमें ऊपर उठना होगा। आचार्यों की प्रथम तीन कोटियों की प्रवृत्ति का अनुसरण करना होगा। उपाध्याय अमर मुनि[६] ने भी इस समस्या पर मन्थन कर ऐसी ही धारणा प्रस्तुत की है। हम इस लेख में कुछ शास्त्रीय मन्तव्य प्रकाशित कर रहे हैं जिनसे यही मन्तव्य सिद्ध होता है।

आचार्यों और ग्रन्थों की प्रामाणिकता

हमने जिनसेन के 'सर्वज्ञोक्त्यनुवादिनः' के रूप में आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों की प्रामाणिकता की धारणा स्थिर की है।[७] पर जब विद्वज्जन इनका समुचित और सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं, तो इस धारणा में सन्देह उत्पन्न होता है एवं सन्देह निवारक धारणाओं के लिये प्रेरणा मिलती है।

सर्वप्रथम हम महावीर की आचार्य परम्परा पर ही विचार करें। हमें विभिन्न स्रोतों से महावीर निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्षों की आचार्य परम्परा प्राप्त होती है।[८] इसमें कम-से-कम चार विसंगतियां पाई जाती हैं। दो का समाधान जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति से होता है, पर अन्य दो यथावत् बनी हुई हैं :

(i) महावीर के प्रमुख उत्तराधिकारी गौतम गणधर हुए। उसके बाद और जंबू स्वामी के बीच में लोहार्य और सुधर्मा स्वामी के नाम भी आते हैं। यह तो अच्छा रहा कि जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में स्पष्ट रूप से सुधर्मा स्वामी और लोहार्य को अभिन्न बनाकर यह विसंगति दूर की और तीन ही केवली रहे।

(ii) पांच श्रुतकेवलियों के नामों में भी अन्तर है। पहले ही श्रुतकेवली कहीं 'नन्दी' हैं तो कहीं 'विष्णु' कहे गये हैं। इन्हें विष्णुनंदि मानकर समाधान किया गया है।

(iii) धवला में सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु एवं लोहाचार्य को केवल एक आचारांगधारी माना है जबकि प्राकृत पट्टावली में इन्हें क्रमशः १०, ९, ८ अंगधारी माना है। इस प्रकार इन चार आचार्यों की योग्यता विवादग्रस्त है।

(iv) ६८३ वर्ष की महावीर परम्परा में एकांगधारी पुष्पदंत-भूतबलि सहित पाच आचार्यों (११८ वर्ष) को समाहित किया गया है और कहीं उन्हें छोड़कर ही ६८३ वर्ष की परम्परा दी गई है जैसा सारणी १ से स्पष्ट है। एक सूची में १०, ९, ८ अंगधारियों के नाम ही नहीं हैं।

फलतः आचार्यों की परम्परा में ही नाम, योग्यता और कार्यकाल में भिन्नता है। यह परम्परा महावीर-उत्तर कालीन है। महावीर ने विभिन्न युग के आचार्यों के लिये भिन्न-भिन्न परम्परा के लेखन की दिव्यध्वनि विकीर्ण न की होगी। आधुनिक दृष्टि से इन विसंगतियों के दो कारण संभव हैं :

(अ) प्राचीन समय के विभिन्न आचार्यों और उनके साहित्य के समुचित संवरण एवं प्रसारण की व्यवस्था और प्रक्रिया का अभाव।

(ब) उपलब्ध प्रत्यक्ष, अपूर्ण या परोक्ष सूचनाओं के आधार पर परम्परापोषण का प्रयत्न।

नये युग में ये ही कारण प्रामाणिकता में प्रश्नचिह्न लगाते हैं। फिर, यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि कौन-सी सूची प्रमाण है?

सारणी १. धवला और प्राकृत पट्टावली की ६८३ वर्ष-परम्परा

	धवला परम्परा	प्राकृत पट्टावली परम्परा
३. केवली	६२ वर्ष	६२ वर्ष
५. श्रुतकेवली	१०० ,,	१०० ,,
११. दशपूर्वधारी	१८३ ,,	१८३ ,,
५. एकादशांगधारी	२२० ,,	१२३ ,,
४. १०, ९, ८ अंगधारी	—	९७ ,,
४. एकांगधारी	११८	११८ ,, (पांच एकांगधारी)
	६८३	६८३

मूलाचार[८] के अनुसार, आचार्य शिष्यानुग्रह, धर्म एवं मर्यादाओं का उपदेश, संघ-प्रवर्तन एवं गण-परिरक्षण का कार्य करते हैं। अन्तिम दो कार्यों के लिये एतिहासिक एवं जीवन परम्परा का ग्रथन आवश्यक है। पर प्रारम्भ के प्रायः सभी प्रमुख आचार्यों का जीवनवृत्त अनुमानतः ही निष्कर्षित है। आत्म-हितैषियों के लिये इसका महत्व न भी माना जावे, तो भी परम्परा या ज्ञानविकास की क्रमिकधारा और उसके तुलनात्मक अध्ययन के लिये यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्राचीन भारतीय संस्कृति की इस इतिहास-निरपेक्षता की वृत्ति को गुण माना जाय या दोष-यह विचारणीय है। एक ओर हमें 'अज्ञातकुलशीलस्य, वासो देयो न कस्यचित्' की सूक्ति पढाई जाती है, दूसरी ओर हमें ऐसे ही सभी आचार्यों को प्रमाण मानने की धारणा दी जाती है। यह और ऐसी ही अन्य परस्पर-विरोधी मान्यताओं ने हमारी बहुत हानि की है। उदाहरणार्थ, शास्त्री[९] द्वारा समीक्षित विभिन्न आचार्यों के काल-विचार के आधार पर प्रायः सभी प्राचीन आचार्य समसामयिक सिद्ध होते हैं :

१. गुणधर	११४ ई० पू०	—	—
२. धरसेन	५०–१०० ई०	प्रथम सदी	सौराष्ट्र, महाराष्ट्र
३. पुष्पदंत	६०–१०६ ई०	,,	आंध्र, महाराष्ट्र
४. भूतबलि	७६–११६ ई०	१–२ सदी	आंध्र
५. कुंदकुंद	८१–१६५ ई०	१–२ सदी	तामिलनाडु
६. उमास्वाति	१००–१८० ई०	२ सदी	,,
७. वट्टकेर	—	प्रथम सदी	,,
८. शिवार्य	—	प्रथम सदी	मथुरा
९. स्वामिकुमार (कार्तिकेय)	—	२–३ री सदी	गुजरात

इनमें गुणधर, धरसेन, पुष्पदंत और भूतबलि का पूर्वापर्य और समय तो पर्याप्त यथार्थता से अनुमानित होता है। पर कुंदकुंद और उमास्वाति के समय पर पर्याप्त चर्चायें मिलती हैं। यदि इन्हें महावीर के ६८३ वर्ष बाद ही मानें,

तो इनमें से कोई भी आचार्य दूसरी सदी का पूर्ववर्ती नहीं हो सकता (६८३–५२७ = १५६ ई०)। इन्हें गुरु-शिष्य मानने में भी अनेक बाधक तर्क हैं :

(i) उमास्वाति की बारह भावनाओं के नाम व क्रम कुंदकुंद से भिन्न हैं।

(ii) उमास्वाति ने वट्टकेर के पंचाचार और शिवार्य के चतुराचार को सम्यक् रत्नत्रय में परिवर्धित किया। उन्होंने तप और वीर्य को चारित्र में ही अन्तर्भूत माना।

(iii) कुंदकुंद के एकार्थी पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्व और नौ पदार्थों की विविधा को दूर कर उन्होंने सात तत्वों की मान्यता को प्रतिष्ठित किया।

(iv) उमास्वाति ने अद्वैतवाद या निश्चय-व्यवहार दृष्टियों की वरीयता पर माध्यस्थ भाव रखा।

(v) उमास्वाति ने ज्ञान को प्रमाण बताकर जैन विद्याओं में सर्वप्रथम प्रमाणवाद का समावेश किया।

(vi) उमास्वाति ने श्रावकाचार के अन्तर्गत ग्यारह प्रतिमाओं पर मौन रखा। संभवतः इसमें उन्हें पुनरावृत्ति लगी हो।

(vii) उन्होंने सल्लेखना को श्रावक के द्वादश व्रतों से पृथक् माना।

(viii) उन्होंने सप्त तत्वों में बंध-मोक्ष का कुंद-कुंद-स्वीकृत क्रम अमान्य कर बंध को चौथा और मोक्ष को सातवां स्थान दिया।

शिष्यता से मार्गानुसारिता अपेक्षित है। परन्तु लगता है कि उमास्वाति प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने तत्कालीन समग्र साहित्य में व्याप्त चर्चाओं की विविधता देखकर अपना स्वयं का मत बनाया था। यही दृष्टिकोण वर्तमान में अपेक्षित है।

उमास्वाति के समान अन्य आचार्यों ने भी सामयिक समस्याओं के समाधान की दृष्टि से परंपरागत मान्यताओं में संयोजन एवं परिवर्धन आदि किये हैं। इसलिये धार्मिक ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्त, चर्यायें या मान्यतायें अपरिवर्तनी हैं, ऐसी मान्यता तर्कसंगत नहीं लगती। विभिन्न युगों के ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि अहिंसादि पाँच नोतिगत सिद्धान्तों की परंपरा भी महावीर-युग से ही चली है। इसके पूर्व भगवान् रिषभ की त्रियाम (समत्व, सत्य, स्वायत्तता) एवं पार्श्वनाथ को चतुर्याम परंपरा थी।[१०] महावीर ने ही अचेलकत्व को प्रतिष्ठित किया। महावीर ने युग के अनुरूप अनेक परिवर्धन कर परंपरा को व्यापक बनाया। व्यापकीकरण की प्रक्रिया को भी परंपरापोषण ही माना जाना चाहिये। यद्यपि आज के अनेक विद्वान् इस निष्कर्ष से सहमत नहीं प्रतीत होते पर परंपरायें तो परिवर्धित और विकसित होकर ही जीवन्त रहती हैं। वस्तुतः देखा जाय, तो जो लोग मूल आम्नाय जैसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं, उसका विद्वत् जगत के लिए कोई अर्थ ही नहीं है। बीसवीं सदी में इस शब्द की सही परिभाषा देना ही कठिन है। भ० रिषभ को मूल माना जाय या भ० महावीर को ? इस शब्द की व्युत्पत्ति स्वयं यह प्रदर्शित करती है कि यह व्यापकीकरण की प्रक्रिया के प्रति अनुदार है। हाँ, बीसवीं सदी के कुछ लेखक[११] समन्वय की थोड़ी-बहुत संभावना को अवश्य स्वीकार करने लगे हैं।

सैद्धान्तिक मान्यताओं में संशोधन और उनकी स्वीकृति

उपरोक्त तथा अन्य अनेक तथ्यों से यह पता चलता है कि समय-समय पर हमने अपनी पूर्वगत अनेक सैद्धान्तिक मान्यताओं के संशोधनों को स्वीकृत किया है जिनमें कुछ निम्न हैं :

(i) हमने विभिन्न तीर्थंकरों के युग में प्रचलित त्रियाम, चतुर्याम और पंचयाम धर्म के परिवर्धन को स्वीकृत किया।

(ii) हमने विभिन्न आचार्यों के पंचाचार, चतुराचार एवं रत्नत्रय के क्रमशः न्यूनीकरण को स्वीकृत किया।

(iii) हमने प्रवाह्यमान (परंपरागत) और अप्रवाह्यमान (संवर्धित) उपदेशों को भी मान्यता दी।[12]

(iv) अकलंक और अनुयोग द्वार सूत्र ने लौकिक संगति बैठाने के लिये प्रत्यक्ष के दो भेद कर दिये जिनके विरोधी अर्थ हैं : लौकिक और पारमार्थिक। इन्हें भी हमने स्वीकृत किया और यह अब सिद्धान्त है।[13]

(v) न्याय विद्या में प्रमाण शब्द महत्वपूर्ण है। इसकी चर्चा के बदले उमास्वातिपूर्व साहित्य में ज्ञान और उसके सम्यक्त्व या मिथ्यात्व की ही चर्चा है। प्रमाण शब्द की परिभाषा भी 'ज्ञानं प्रमाणं' से लेकर अनेक बार परिवर्धित हुई है। इसका विवरण द्विवेदी ने दिया है।[14]

(vi) हमने अर्धपालक और यापनीय आचार्यों को अपने गर्भ में समाहित किया जिनके सिद्धान्त तथाकथित मूल परंपरा से अनेक बातों में भिन्न पाये जाते हैं।

ये तो सैद्धान्तिक परिवर्धनों की सूचनायें हैं। ये हमारे धर्म के आधारभूत तथ्य रहे हैं। इन परिवर्धनों के परिप्रेक्ष्य में हमारी शास्त्रीय मान्यताओं की अपरिवर्तनीयता का तर्क कितना संगत है, यह विचारणीय है। मुनिश्री[६] ने इस समस्या के समाधान के लिये शास्त्र और ग्रन्थ की स्पष्ट परिभाषा बताई है। उनके अनुसार केवल अध्यात्म विद्या ही शास्त्र है जो अपरिवर्तनीय है, उनमें विद्यमान अन्य वर्णन ग्रन्थ की सीमा में आते हैं और वे परिवर्धनीय हो सकते हैं।

शास्त्रों में पूर्वापर विरोध

शास्त्रों की प्रमाणता के लिये पूर्वापर-विरोध का अभाव भी एक प्रमुख बौद्धिक कारण माना जाता है। पर यह देखा गया है कि अनेक शास्त्रों के अनेक सैद्धान्तिक विवरणों में परस्पर विरोध तो है ही, एक ही शास्त्र के विवरणों में भी विसंगतियां पाई जाती हैं। परंपरापोषी टीकाकारों ने ऐसे विरोधी उपदेशों को भी ग्राह्य बताया है। यह तो उन्होंने स्वीकृत किया है कि विरोधी या भिन्न मतों में से एक ही सत्य होगा, पर वीरसेन, वसुनन्दि जैसे टीकाकार और छद्मस्थों में सत्यासत्य निर्णय की विवेक क्षमता कहाँ ?[15] इन विरोधी विवरणों की ओर अनेक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है।

सबसे पहले हम मूल ग्रन्थों के विषय में ही सोचें। सारणी २ से ज्ञात होता है कि कषाय प्राभृत, मूलाचार एवं कुंदकुंद साहित्य के भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने तत्तत् ग्रन्थों में सूत्र या गाथा की संख्याओं में एकरूपता ही नहीं पाई। इसके अनेक रूप में समाधान दिये जाते हैं। इस भिन्नता का सद्भाव ही इनकी प्रामाणिकता की जांच के लिये प्रेरित करता है। ये अतिरिक्त गाथायें कैसे आईं ? क्यों हमने इनको भी प्रामाणिक मान लिया ? यही नहीं, इन ग्रन्थों में अनेक गाथाओं का पुनरावर्तन है जो ग्रन्थ निर्माण प्रक्रिया से पूर्व परंपरागत मानी जाती हैं। ये संघभेद से पूर्व की होने के कारण अनेक श्वेतांबर ग्रन्थों में भी पाई जाती हैं। गाथाओं का यह अन्तर अन्योन्य विरोध तो माना ही जावेगा। कुंदकुंद-साहित्य के विषय में तो यह और भी अचरजकारी है कि दोनों टीकाकार लगभग १०० वर्ष के अन्तराल में ही उत्पन्न हुए।

सारणी : २ : कुछ मूल ग्रन्थों की गाथा । सूत्र संख्या[१४]

ग्रन्थ	गाथा संख्या, प्रथम टीकाकार	गाथा संख्या, द्वितीय टीकाकार
१. कषाय पाहुड़	१८०	२३३ (जय धवला)
२. कषाय पाहुड़चूर्णि	८००० श्लोक (ति० प०)	७००० ,,
३. सत्प्ररूपणा सूत्र	१७७	१००
४. मूलाचार	१२५२ (वसुनंदि)	१४०९ (मेघचंद्र)
५. समयसार	४१५ (अमृतचंद्र)	४४५ (जयसेन)
६. पंचास्तिकाय	१७३ ,,	१९१ ,,
७. प्रवचनसार	२७५ ,,	३१७ ,,
८. रयणसार	१५५ —	१६७ —

शास्त्रों में सैद्धान्तिक चर्चाओं के विरोधी विवरण

यह विवरण दो शीर्षकों में दिया जा रहा है :

(i) **एक ही ग्रन्थ में असंगत चर्चा**—मूलाचार के पर्याप्ति अधिकार की गाथा ७९–८० परस्पर असंगत हैं[१५] :

	गाथा ७९	गाथा ८०
सौधर्म स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु	५ पल्य	५ प.
ईशान स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु	७ पल्य	५ प.
सानत्कुमार स्वर्ग में देवियों की उत्कृष्ट आयु	९ प.	१७ प.

धवला के दो प्रकरण[१६]—(i) खुद्दक बन्धके अल्प बहुत्व अनुयोग द्वार में वनस्पति कायिक जीवों का प्रमाण सूत्र ७४ के अनुसार सूक्ष्म वनस्पति कायिक जीवों से विशेष अधिक होता है जब कि सूत्र ७५ के अनुसार सूक्ष्म वनस्पति कायिक जीवों का प्रमाण वनस्पति कायिक जीवों से विशेष अधिक होता है। दोनों कथन परस्पर विरोधी हैं। यही नहीं, सूक्ष्म वनस्पति कायिक जीव और सूक्ष्म निगोद जीव वस्तुतः एक ही हैं, पर इनका निर्देश पृथक्-पृथक् है।

(i) भागाभागानुगम अनुयोग द्वार के सूत्र ३४ की व्याख्या में विसंगतियों के लिये वीरसेन ने सुझाया है कि सत्यासत्य का निर्णय आगम निपुण लोग ही कर सकते हैं।

(ii) **भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में असंगत चर्चायें**—(i) तीन वातवलयों का विस्तार यतिवृषभ और सिंह सूर्य ने अलग-अलग दिया है :

(अ) त्रिलोक प्रज्ञप्ति में क्रमशः $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{6}$ व ११$\frac{1}{3}$ कोश विस्तार है।

(ब) लोक विभाग में क्रमशः २, १ कोश, एवं १५७५ धनुष विस्तार है।

इसी प्रकार सासादन गुणस्थानवर्ती जीव के पुनर्जन्म के प्रकरण में यतिवृषभ नियम से उसे देवगति ही प्रदान करते हैं जब कि कुछ आचार्य उसे एकेन्द्रियादि जीवों की तिर्यंच गति प्रदान करते हैं। उच्चारणाचार्य और यतिवृषभ के

विषय के निरूपण के अन्तरों को वीरसेन ने जयधवला में नयविवक्षा के आधार पर सुलझाने का प्रयत्न किया है।[१७] इसी प्रकार, उच्चारणाचार्य का यह मत कि बाईस प्राकृतिक विभक्ति के स्वामी चतुर्गतिक जीव होते हैं—यतिवृषभ के केवल मनुष्य-स्वामित्व से मेल नहीं खाता। भगवती आराधना में साधुओं के २८ व ३६ मूलगुणों की चर्चा के समय कहा है, "प्राकृत टीकायां तु अष्टाविंशति गुणाः। आचारवत्वायश्चाष्टौ—इति षट्त्रिंशत्।" इसी ग्रन्थ में १७ मरण बताये हैं पर अन्य ग्रन्थों में इतनी संख्या नहीं बताई गई है।[१८]

शास्त्री[१९] ने बताया है कि 'षट्खंडागम' और कषायप्राभृत' में अनेक तथ्यों में मतभेद पाया जाता है। इसका उल्लेख 'तन्त्रान्तर' शब्द से किया गया है। उन्होंने धवला, जयधवला एवं त्रिलोकप्रज्ञप्ति के अनेक मान्यता भेदों का भी संकेत दिया है। इन मान्यता भेदों के रहते इनकी प्रामाणिकता का आधार केवल इनका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य ही माना जावेगा।

आचार-विवरण संबंधी विसंगतियाँ

शास्त्रों में सैद्धान्तिक चर्चाओं के समान आचार-विवरण में भी विसंगतियाँ पाई जाती हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

श्रावक के आठ मूलगुण—श्रावकों के मूलगुणों की परंपरा बारह व्रतों से अर्वाचीन है। फिर भी, इसे समन्तभद्र से तो प्रारम्भ माना ही जा सकता है। इनकी आठ की संख्या में किस प्रकार समय-समय पर परिवर्धन एवं समाहरण हुआ है; यह देखिये :[१९]

१. समन्तभद्र	तीन मकार त्याग	पंचाणु व्रत पालन
२. आशाधर	तीन मकार त्याग	पंचोदुम्बर त्याग
३. अन्य	तीन मकार त्याग	पंचोदुम्बर त्याग, रात्रि भोजन त्याग, देवपूजा, जीवदया, छना जलपान

समयानुकूल स्वैच्छिक परिवर्तनों को तेरहवीं सदी के पण्डित आशाधर तक ने मान्य किया है। यहाँ शास्त्री[२०] समन्तभद्र की मूलगुण-गाथा को प्रक्षिप्त मानते हैं।

बाईस अभक्ष्य—सामान्य जैन श्रावक तथा साधुओं के आहार से सम्बन्धित भक्ष्याभक्ष्य विवरण में दसवीं सदी तक बाईस अभक्ष्यों का उल्लेख नहीं मिलता। मूलाचार एवं आचारांग के अनुसार, अचित किये गये कन्दमूल, बहुबीजक (निर्बीजित) आदि की भक्ष्यता साधुओं के लिये वर्णित है।[२१] पर उन्हें गृहस्थों के लिये भक्ष्य नहीं माना जाता। वस्तुतः गृहस्थ ही अपनी विशिष्ट चर्या से साधुपद की ओर बढ़ता है, इस दृष्टि से यह विरोधाभास ही कहना चाहिये। सोमदेव आदि ने भी गृहस्थों के लिये प्रासुक-अप्रासुक की सीमा नहीं रखी। संभवतः नेमिचंद्र सूरि के प्रवचन सारोद्धार[२७] में और बाद में मान विजय गणि के धर्मसंग्रह[२८] में दसवीं सदी और उसके बाद सर्वप्रथम बाइस अभक्ष्यों का उल्लेख मिलता है। दिगंबर ग्रन्थों में दौलतराम के समय ही ५३ क्रियाओं में अभक्ष्यों की संख्या बाईस बताई गई है। फलतः भक्ष्याभक्ष्य विचार विकसित होते-होते दसवीं सदी के बाद ही रूढ़ हो सका है।

आहार के घटक—भक्ष्य आहार के घटकों में भी अन्तर पाया जाता है। मूलाचार की गाथा ८२२ में आहार के छह घटक बताये गये हैं जबकि गाथा ८२६ में चार घटक ही बताये हैं। ऐसे ही अनेक तथ्यों के आधार पर मूलाचार का संग्रह ग्रन्थ मानने की बात कही जाती है।[२९]

श्रावक के व्रत—कुन्दकुन्द और उमास्वाति के युग से श्रावक के बारह व्रतों की परम्परा चली आ रही है। कुन्दकुन्द ने सल्लेखना को इनमें स्थान दिया है पर उमास्वाति, समन्तभद्र और आशाधर इसे पृथक् कृत्य के रूप में मानते हैं। इससे बारह व्रतों के नामों में अन्तर पड़ गया है। इनमें पाँच अणुव्रत तो सभी में समान हैं, पर अन्य सात शीलों के नामों के अन्तर है :

(अ) गुण व्रत

कुन्दकुन्द	दिशा-विदिशा प्रमाण	अनर्थ दण्ड व्रत	भोगोपभोग परिमाण
उमास्वाति	दिग्व्रत	अनर्थ दण्ड व्रत	देशव्रत
आशाधर, समन्तभद्र	दिग्व्रत	अनर्थ दण्ड व्रत	भोगोपभोग परिमाण

(ब) शिक्षा व्रत

कुन्दकुन्द	सामायिक	प्रोषधोपवास	अतिथि पूज्यता	सल्लेखना
समन्तभद्र, आशाधर	सामायिक	प्रोषधोपवास	वैयावृत्य	देशावकाशिक
उमास्वाति	सामायिक	प्रोषधोपवास	अतिथि संविभाग	उपभोग परिभोग परिमाण
सोमदेव	सामायिक	प्रोषधोपवास	वैयावृत्य	भोग-परिभोग परिमाण

यहाँ कुन्दकुन्द और उमास्वाति की परम्परा स्पष्ट द्रष्टव्य है। अधिकांश उत्तरवर्ती आचार्यों ने उमास्वाति का मत माना है। साथ ही, भोगोपभोग परिमाण व्रत के अनेक नाम होने से उपभोग शब्द की परिभाषा भी भ्रामक हो गई है :

	एकबार सेव्य	बारबार सेव्य
समन्तभद्र	भोग	उपभोग
पूज्यपाद	उपभोग	परिभोग
सोमदेव	भोग	परिभोग

श्रावक की प्रतिमायें—श्रावक से साधुत्व की ओर बढ़ने के लिये ग्यारह प्रतिमाओं की परम्परा कुन्दकुन्द युग से ही है। संख्या की एकरूपता के बावजूद भी अनेक के नामों और अर्थों में अन्तर है। सबसे ज्यादा मतभेद छठी प्रतिमा के नाम को लेकर है। इसके रात्रिभुक्ति त्याग (कुन्दकुन्द, समन्तभद्र) एवं दिवामैथुन त्याग (जिनसेन, आशाधर) नाम मिलते हैं। रात्रिभुक्तित्याग तो पुनरावृत्ति लगती है, यह मूल गुण है, आलोकित पान-भोजन का दूसरा रूप है। अतः परवर्ती दूसरा नाम अधिक सार्थक है। सोमदेव ने अनेक प्रतिमाओं के नये नाम दिये हैं। उन्होंने १ मूलव्रत (दर्शन), २ अर्चा (सामायिक), ४ पर्व कर्म (प्रोषध), ५ कृषिकर्म त्याग (सचित्त त्याग), ८ सचित्त त्याग (परिग्रह त्याग) के नाम दिये हैं। हेमचन्द्र ने भी इनमें पर्वकर्म, प्रासुक आहार, समारम्भ त्याग, साधु निस्सङ्गता का समाहार किया है।[२२] सम्भवतः इन दोनों आचार्यों ने प्रतिमा, व्रत व मूल गुणों के नामों की पुनरावृत्ति दूर करने के लिये विशिष्टार्थक नामकरण किया है। यह सराहनीय है। परम्परापोषी युग की बात भी है। बीसवीं सदी में मुनि क्षीरसागर ने भी पुनरावृत्ति दोष का अनुभव कर अपनी •रत्नकरश्रावकाचार की हिन्दी टीका में ३ पूजन ४ स्वाध्याय ७ प्रतिक्रमण एवं ११ भिक्षाहार नामक प्रतिमाओं का समाहार किया है।[२३] पर इन नये नामों को मान्यता नहीं मिली है।

व्रतों के अतीचार—श्रावकों के व्रतों के अनेक अतीचारों में भी भिन्नता पाई गई है।

जाति एवं वर्ण की मान्यता—शिद्धान्तशास्त्री ने बताया है कि आचार्य जिनसेन की जैनों के ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया उसके पूर्ववर्ती आगम साहित्य से समर्थित नहीं होती। उसके शिष्य गुणभद्र एवं वसुनन्दि आदि उत्तरवर्ती आचार्य भी उसका समर्थन नहीं करते।[२६]

भौतिक जगत के वर्णन में विसंगतियाँ : वर्तमान काल

भौतिक जगत के अन्तर्गत जीवादि छह द्रव्यों का वर्णन समाहित है। उमास्वाति ने "उपयोगो लक्षणं" कहकर जीव को परिभाषित किया है। पर शास्त्रों के अनुसार, उपयोग की परिभाषा में ज्ञान, दर्शन के साथ-साथ सुख और वीर्य का भी उत्तरकाल में समावेश किया गया। अनेक ग्रन्थों में उपयोग और चेतना शब्दों को पृथक्-पृथक् भी बताया गया है। इसका समाधान क्षमता एवं क्रियात्मक रूप से किया जाता है।[२४] इसी प्रकार, जीवोत्पत्ति के विषय में भी विकलेन्द्रिय जीवों तक की सम्मूर्च्छनता विचारणीय है जब कि भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वधर ने कल्पसूत्र में मक्खी, मकड़ी, पिपीलिका, खटमल आदि को अण्डज बताया है। निश्चय-व्यवहार की चर्चा से यह प्रयोग-सापेक्ष प्रश्न समाधेय नहीं दिखता।[२]

अजीव को पुद्गल शब्द से अभिलक्षणित करने की सूक्ष्मता के वावजूद भी उसके भेद-प्रभेदों का चक्षु की स्थूलग्राह्यता तथा अन्य इन्द्रियों की सूक्ष्म ग्राहिता के आधार पर वर्णन आज की दृष्टि से कुछ असंगत-सा लगता है। पदार्थ के अणु-स्कन्ध रूपों की या वर्गणाओं की चर्चा कुंदकुंद युग से पूर्व की है। पर कुंदकुंद ने सर्वप्रथम चक्षु-दृश्यता के आधार पर स्कंधों के छह भेद किये हैं। उन्होंने आकार की स्थूलता को दृश्य माना और चक्षुषा-अदृश्य पदार्थों को सूक्ष्म माना। इस प्रकार ऊष्मा, प्रकाश आदि ऊर्जायें तृतीय कोटि (स्थूल-सूक्ष्म) और वायु आदि गैस, गन्ध व रसवान् पदार्थ (सूक्ष्म-स्थूल) चतुर्थ कोटि (सूक्ष्मतर) में आ गये। दुर्भाग्य से ध्वनि ऊर्जा कर्ण-गोचर होने से प्रकाश-आदि से सूक्ष्मतर हो गई।

धवला-वर्णित वर्गणा-क्रम वर्धमान स्थूलता पर आधारित लगता है पर उसका क्रम अणु-आहार-तैजस-भाषा-मन-कार्मण शरीर-प्रत्येक शरीर-बादर निगोद-सूक्ष्म निगोद-वर्गणाओं का क्रम विसंगत लगता है। तैजस शरीर से कार्मण शरीर सूक्ष्मतर बताया गया है, तैजस (ऊर्जायें) एवं ध्वनि आहार-अणुओं से सूक्ष्मतर होती हैं, सूक्ष्म निगोद बादर निगोद से सूक्ष्मतर होना चाहिये तथा मन, यदि द्रव्यमन (मस्तिष्क) है, तो वह प्रत्येक शरीर से भी स्थूलतर होता है।

जैनों का परमाणुओं के बन्ध संबंधी नियमों का विद्युत् गुणों के आधार पर विवरण अभूतपूर्व है। पर यह विवरण अक्रिय गैसों के यौगिकों के निर्माण, उपसह-संयोजी यौगिकों तथा संकुल लवणों के संभवन से संशोधनीय हो गया है। शास्त्री[२५] ने इन नियमों की शास्त्रीय व्याख्या में भी टीकाकार-कृत अन्तर बताया है। जैन, मुनि विजय आदि अनेक विद्वान् विभिन्न व्याख्याओं से इन शास्त्रीय मान्यताओं को ही सत्य प्रमाणित करने का यत्न करते हैं। परन्तु उन्हें तैजस वर्गणा और नभो वर्गणा के आकारों की स्थूलता के अन्तर को मानसिक नहीं बनाना चाहिये। उन्हें गर्भज (सलिंगी) प्रजनन को अलिंगी-सम्मूर्च्छन प्रजनन के समकक्ष भी नहीं मानना चाहिये।

उपसंहार

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि षट्खंडागम, कषायपाहुड, कुंदकुंद, उमास्वाति तथा उत्तरवर्ती चूर्णि-टीकाकारों के ग्रन्थों के सामान्य अन्तः परीक्षण के कुछ उपरोक्त उदाहरणों से निम्न तथ्य भली भाँति स्पष्ट होते हैं :

(i) इन ग्रन्थों का निर्माण ईसापूर्व प्रथम सदी से तेरहवीं सदी के बीच हुआ है। इनके लेखक न सर्वज्ञ थे, न गणधर ही, वे आरातीय थे।

(ii) इन ग्रन्थों के आगम-तुल्य अतएव प्रामाणिक माने जाने के जो दो शास्त्रीय आधार हैं, वे इन पर पूर्णतया लागू नहीं होते।

(iii) आचार्य कुंदकुंद का अध्यात्मवादी साहित्य अमृतचन्द्र एवं जयसेन (१०–१२ वीं सदी) के पूर्व प्रभावशाली नहीं बन सका। फिर भी, इसकी ऐतिहासिक महत्ता मानी गई। इसी से उन्हें स्वाध्याय के मंगल में गौतम गणधर के बाद स्थान मिला। यह मंगल श्लोक कब प्रचलन में आया, इसका उल्लेख नहीं मिलता, पर इसमें भद्रबाहु जैसे अंग-पूर्व धारियों तक को अनदेखा किया गया है, यह अचरजकारी बात अवश्य है। पर इससे भी अचरज की बात यह है कि अधिकांश उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनके बदले उमास्वाति की मान्यताओं को उपयोगी माना। यही कारण है कि जब सोलहवीं सदी में पुन: बनारसीदास ने इसे प्रतिष्ठा दी, तब पंथभेद हुआ। अब बीसवीं सदी में भी ऐसी ही संभावना दिखती है।

(iv) इन ग्रन्थों में वर्णित अनेक विचार और मान्यतायें उत्तरकाल में विकसित, संशोधित और परिवर्धित हुई हैं।

(v) इनमें वर्णित अनेक आचार-परक विवरणों का भी उत्तरोत्तर विकास और संशोधन हुआ है।

(vi) अनेक ग्रन्थों में स्वयं एवं परस्पर विसंगत वर्णन पाये जाते हैं। इनके समाधान की "द्वावपि उपदेशौ ग्राह्यौ" की पद्धति तर्कसंगत नहीं है।

(vii) इनके भौतिक जगत संबंधी अनेक विवरणों में वर्तमान की दृष्टि से प्रयोग-प्रमाण-बाधकता प्रतीत होती है।

(viii) आशाधर के उत्तरवर्ती आचार्यों ने अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं को अपनी रुचि के अनुसार अपने ग्रन्थों में स्वीकृत किया है। पापभीरुता, प्रतिभा की कमी तथा राजनीतिक अस्थिरता ने इन्हें स्थिर और रूढ़ मान लिया गया।

(ix) प्राचीन आचार्यों ने एवं टीकाकारों ने अपने अपने समय में आचार एवं विचार पक्षों की अनेक पूर्व मान्यताओं का संरक्षण, पोषण व विकास किया है। अतः सभी शास्त्रीय मान्यताओं की अपरिवर्तनीयता की धारणा ठोस तथ्यों पर आधारित नहीं है।

(x) इस अपरिवर्तनीयता की धारणा के आधार पर प्रयोगसिद्ध वैज्ञानिक तथ्यों की उपेक्षा या काट की प्रवृत्ति हमारे ज्ञान प्रवाह की गरिमा के अनुरूप नहीं है।

अतः हमें अपने शास्त्रीय वर्णनों, विचारों की परीक्षा कर उनकी प्रामाणिकता का अंकन करना चाहिये जैसा वैज्ञानिक करते हैं। इस परीक्षण विधि का सूत्रपात आचार्य समंतभद्र, अकलंक आदि ने सदियों पूर्व किया था। वर्तमान बुद्धिवादी युग परीक्षण जन्य समीचीनता के आधार पर ही आस्थावान् बन सकेगा। आचार्य कुंदकुंद भी यह निदिष्ट करते हैं।

संदर्भ

१. मालवणिया, दलसुख; पं० कं० चं० शास्त्री अभि० ग्रन्थ, १९८०, पेज १३८
२. मुनि नंदिघोष; तीर्थंकर, १७, ३–४, १९८७, पेज ६३
३. ज्योतिषाचार्य नेमिचन्द्र;' तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा–३, विद्वत् परिषद्, दिल्ली, १९७४, पे० २९६
४. आर्यिका ज्ञानमती जी; मूलाचार का आद्य उपोद्घात—१, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८४, पेज १८

५. ज्योतिषाचार्य, नेमिचन्द्र; महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—२, पूर्वोक्त, १९७४, पेज २५।

६. उपाध्याय, अमर मुनि; पण्णा समिक्खए धम्मं—२, वीरायतन, राजगिर, १९८७।

७. देखिये निर्देश ५ पेज ८, पेज १९।

८. आचार्य वट्टकेर; मूलाचार—१, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८४, पेज १३२।

९. देखिये निर्देश ५ पेज २८–१६९।

१०. संन्यासी राम; 'श्रमण' पार्श्वनाथ विद्याश्रम, काशी, ३८, ६, १९८७ पेज २७; ३८, ६, १९८७, पेज २७।

११. नीरज जैन; 'जैन गजट' (साप्ताहिक), ९२, ४१-४२, १९८७, पेज १०।

१२. देखिये निर्देश ५ पेज ७७।

१३. न्यायाचार्य, महेन्द्रकुमार; जैन दर्शन, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १९६६, पेज २६८।

१४. द्विवेदी, आर० सी०; कन्ट्रीब्यूशन ऑव जैनिज्म टू इण्डियन कल्चर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७५, पेज १५६।

१५. देखिये निर्देश ४ पेज १७।

१६. देखिये निर्देश ५ पेज ३२७–२८, ८४–८५, ८७।

१७. आचार्य पुष्पदन्त; सत्प्ररूपणा सूत्र, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १९७१, पेज ११५।

१८. शिवार्य, आचार्य; भगवती आराधना—१, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९७८, पेज १२६।

१९. आशाधर, पंडित; सागार धर्मामृत, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७८, पेज ४३,६३।

२०. देखिये निर्देश ५ पेज १९३।

२१. आचार्य वट्टकेर; मूलाचार—२, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८६, पेज ६६–९८।

२२. देखिये निर्देश १९ पेज ३३।

२३. मुनि क्षीरसागर; रत्नकरंड-श्रावकाचार, हिन्दी टीका, एस० एल० ट्रस्ट, विदिशा, १९५१।

२४. जैन, एस० सी०; द स्ट्रक्चर एण्ड फंक्शन ऑव सोल इन जैनिज्म, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७४।

२५. सिद्धान्तशास्त्री, फूलचन्द्र (टीकाकार); तत्त्वार्थसूत्र, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १९४९, पेज २६२।

२६. सिद्धान्तशास्त्री, फूलचन्द्र; वर्ण, जाति और धर्म, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६३, पेज १७८।

२७. नेमिचंद्र सूरि; प्रवचन सारोद्धार, जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बंबई, १९२२, पेज ५८।

२८. मानविजय गणि; धर्मसंग्रह, अमृतलाल जयसिंह भाई, अहमदाबाद, १९५५, पेज १९९।

पं॰ माणिकचंद्र शिवलाल शहा, कुंभोज रचित सपादशतकद्वय परमात्मस्तोत्र

ब्र॰ माणिकचंद्र चवरे,
जैन गुरुकुल, कारंजा (महाराष्ट्र)

"समय-प्राभृत" आचार्य शिरोमणि प्रातःस्मरणीय कुंदकुंद भगवान् के ग्रंथरत्नों में प्रभापुंज मेरुमणि है जिसमें स्वरूप-सुन्दर चिद्घन रूप आत्मतत्व की लोकोत्तम प्रभा का पूर्णरूप से साक्षात्कार होता है, दृष्टिसंपन्न मुमुक्षुओं को आत्मकला में परिपूर्ण यथावत् आत्मदर्शन होता है। इसमें भगवान् परंपरा से प्राप्त उपदेश स्वयंपूर्ण मणिरूप गाथागाथा में यथावत् अंकित है। इसी कारण यह प्राभृत विषयप्रामाण्य के शुद्धरस से स्वयं अत्यंत समृद्ध है। ग्रन्थान्तर्गत विषय जीवन के लिए अत्यावश्यक श्वासोच्छ्वास से भी अधिक मात्रा में अपनी महत्ता रखता है। इस कलिकाल में मोक्षमार्ग के प्रामाणिक साधकों का यह एकमात्र परमभाग्य है कि उनके लिए यह दुर्लभ चिंतामणि रत्न का अखण्ड प्रकाश आज भी उपलब्ध है।

आचार्यप्रवर अमृतचंद्रजी का समयप्राभृत पर स्वनामधन्य "आत्मख्याति" भाष्य भी गाथारत्नों के लिए रत्नखचित सु-वर्ण का सुन्दरतम कुन्दन बन गया है। गूढ़ विषय सर्वत्र स्पष्ट प्रतिभासित होता है। आचार्य का जैसा भावों के ऊपर निर्बाध अधिकार है, उसी प्रकार आचार्यश्री की स्वभावसुन्दर सालंकार भाषा भी सर्वत्र भावपूजा के लिए सावधान समर्पित है। यह विषय के साथ आदि से अन्त तक एकरस एकनिष्ठ है मानो चिदानन्द प्रभु को अमृतरस से पूर्ण अमृतकुंभों के द्वारा अभिषेक करती है। सुस्वर ध्वनि से गान करती हो, उसे कहीं किंचित् भी थकान नहीं है। पद-पद पर भाषा-देवता ने शब्दरत्नों के द्वारा भावरत्न की जो अलौकिक पूजा की, गद्य-पद्य में आत्मप्रभु का जो लोकोत्तम गुणगान किया, वह भी तालबद्ध नृत्य के साथ सुमधुर होने से अतीव मनोहारी हो गया है। संक्षेप में यही कह सकते हैं कि यहाँ शब्दब्रह्म का परब्रह्म के साथ अटूट गाढ़ आलिंगन है। ऐसा लगता है कि समर्पित शब्दब्रह्म परब्रह्म के स्पर्श से सजीव हो गया है और निराकार परब्रह्म साकार हो गया है, अमूर्तिक टंकोत्कीर्ण मूर्तिमान् हो गया है।

ऋद्धिप्राप्त इन्द्र भगवान् के दर्शन के लिए हजार नेत्र बनाता है, तब संतोष को प्राप्त होता है। परन्तु आचार्य अमृतचन्द्र की असाधारण प्रतिभा शब्दसागर का मंथन करके प्राप्त भावग्राही, अर्थवाही हजारों शब्दों के द्वारा निरन्तर भावपूर्ण आत्मदर्शन कराती हुई अघाती नहीं। "एक" शब्द का सातसौ से अधिकबार साहस में निर्द्वन्द्व होकर यथार्थ अर्थ में प्रयोग करके भगवान् की ॐकार ध्वनि के साथ जो क्रीड़ा हुई, वह शब्दशक्ति का अपूर्व विकास मानना होगा।

आचार्य अमृतचन्द्र का अध्यात्म साहित्य परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार कराने में समर्थ हजारों शब्दरत्नों का शान्तरस से भरापूरा गम्भीर रत्नाकर ही है। दसवां कलश देखिये :

आत्मस्वभावं परभाव-भिन्नमापूर्णमाद्यन्त-विमुक्तमेकम् ।
विलीन-संकल्प-विकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥ १० ॥

इसमें समागत प्रत्येक पद आत्मा के शुद्ध स्वरूप को दिखाने में समर्थ है, वह विशेषण हो अथवा विशेष्य हो। क्रियावाचक पद भी शुद्धस्वरूप का दर्शक हो गया है। इसी प्रकार, समयप्राभृत की तिहत्तरवीं गाथा का अद्भुत भाष्य केवल नव पंक्ति का है, जो परमात्मवाचक पैंतालीस शब्दरत्नों से कलापूर्णतः खचित है। प्रथम पंक्ति का तो प्रत्येक शब्द सानिध्य अर्थवाही है। भाष्य की रचना षट्कारक रूप से, साध्यसाधक-दोनों रूप से, दृष्टान्त रूप से भी शुद्धात्मदर्शी यत्रतत्र सर्वत्र शब्द ब्रह्म का सहज रूप धारण करती हुई दृष्टिप्राप्त को परब्रह्म का साक्षात्कार कराने में समर्थ हो गयी है।

शब्दसागर के शब्दरत्नों का पुण्यस्मरण करके ब्र० पं० माणिकचन्द शिवलाल शहा ने २२५ शब्दों का "सपादशतकद्वय-परमात्मस्तोत्र" बनाया है उसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

सपादशतक-द्वय परमात्मस्तोत्र

अनुष्टुप् छंद

यस्य तीर्थे वयं सर्वे, निवसामोऽत्र भारते ।
तं वन्दे श्री महावीरं, केवलज्ञान-लोचनम् ॥ १ ॥
आचार्य-कुन्दकुन्दाद्यैर्, रचितेषु विशेषतः ।
समये वाऽन्यग्रन्थेषु, परमात्म-निदर्शकाः ॥ २ ॥
दृश्यन्ते विविधाः शब्दा, भावपूर्णाश्च मंगलाः ।
आत्मबोधक धन्यास्तान्, वक्ष्येऽहं सुसमासतः ॥ युग्मम् ॥
परमात्माऽन्तरात्माऽसौ, सर्वोपम-विलक्षणः ।
सिद्धः साध्यो ध्रुवो नित्यः, स्वभावो विभवोऽनवः ॥ ४ ॥
अनादिनिधनो शुद्धश्चामन्द संविदात्मकः ।
स्वभावभावभूतः सन्नमन्दानन्दनिर्भरः ॥ ५ ॥
निलीनज्ञानतत्त्वः स, सर्वराग-प्रहायकः ।
नित्यद्योतः स्वतः सिद्धो, ज्ञायकः श्रुतकेवली ॥ ६ ॥
चैतन्यश्चेतनो धर्मी, निःप्रकम्प प्रकाशकः ।
शान्तमोहः परंज्योतिः, साध्य-साधकरूपकः ॥ ७ ॥
विविक्तो निर्मलो भूतो, विज्ञानी केवली मुनिः ।
निस्तरंग चैतन्य उपायोपेय-भावकः ॥ ८ ॥

अकम्प—भूमिकालाभः, यतिः परमनिःस्पृहः ।
आत्मतृप्तोऽनपायी यो, जितमोहो जितेन्द्रियः ॥ ९ ॥

ज्ञानवैराग्यसम्पन्नः, स्वयंवेद्योऽति निश्चलः ।
संयतो ज्ञायको मुक्तो, धीरः संवेदकः पुमान् ॥ १० ॥

द्रव्यत्वेनाभिसम्बद्धो, हानोपदानशून्यकः ।
लब्धवर्णः स्वतः सिद्धो, विश्वज्ञेय-प्रकाशकः ॥ ११ ॥

ज्ञानभूतो जगत्साक्षी, भेदविज्ञान-मूलकः ।
प्रतिबुद्धः स्वयंबुद्धः, क्षीणममोहश्च शाश्वतः ॥ १२ ॥

अनेकान्तमयी-मूर्तिभिन्न-धाम्नो विवेचकः ।
सर्वभावान्तरध्वंसी, विमुक्तः समयः शिवः ॥ १३ ॥

भूतार्थदर्शी भूतार्थः, सम्यग्दृष्टि रखण्डितः ।
अवबोधघनो व्यक्तश्चिदुच्छल-निर्भरः ॥ १४ ॥

नीरूपो भगवान्देवः, शुद्ध-चिद्घनसागरः ।
विज्ञाता निर्ममो द्रष्टा, ज्ञानोद्योतश्चिदन्वयः ॥ १५ ॥

सार्वः शुद्धनयायत्तः, प्रत्यग्ज्योतिरनाकुलः ।
नित्योद्योत उपादेयोऽसाधारणलक्षणः ॥ १६ ॥

सर्वभावान्तरध्वंसी, ज्ञेयज्ञायक उत्तमः ।
ज्ञानात्मा ज्ञानभूतश्च, कर्ममोक्षनिमित्तकः ॥ १७ ॥

ज्ञानोद्योतः स प्रत्यक्षो, भेदभाव-विनाशकः ।
अतिनिर्मलचिन्मात्रो, ज्ञानदर्शन लक्षणः ॥ १८ ॥

अमोघज्ञानसामर्थ्यः, संवेद्यः परमेश्वरः ।
समस्तसंग-निर्मुक्तः, पुराणो निर्विकल्पकः ॥ १९ ॥

भावको ज्ञान-निर्वृत्तो, निश्चलत्वमुपागतः ।
भाव्यो ज्ञानमयीभूतस्तत्त्ववेदी निरास्रवः ॥ २० ॥

आदिमध्यान्त-निर्मुक्तः, स्वभावोद्भासकः कृती ।
उदात्तचित्त आपूर्णश्चिन्मात्रश्चेतको विभुः ॥ २१ ॥

अनन्तो नियतोऽनन्तः पृथग्-नित्यव्यवस्थितः ।
त्रिस्वभावोऽनुभूत्यात्मा ज्ञानज्योतिरमेचकः ॥ २२ ॥

स्वात्मारामः परात्मा च निजबोध-कलाबलः ।
सम्यग्दृगात्मशक्तिर्यो, नित्यव्यक्तोऽति निस्तुषः ॥ २३ ॥

वृत्त-आर्या

आत्मस्वभावभूतः, समस्तभावान्तर-परिग्रह-रहितः ।
शुद्धनयो निरवद्यो, ज्ञानघनो पुद्गलास्पृश्यः ॥ २४ ॥
भूतार्थेनाभिगतः सततविविक्तो निरस्तसम्मोहः ।
शुद्धस्वभाव-नियतः स्वकर्मफलचेतनाशून्यः ॥ २५ ॥
आदानोज्झनशून्यो, विश्रान्त-समस्त-विकल्प-व्यापारः ।
सकलनयपक्षाक्षुण्णः सर्वनयपक्ष-परिहीनः ॥ २६ ॥
अगुरुलघुगुणपरिणामो, विलीनमोहः स्वभावनियतश्च ।
सप्तभयविप्रमुक्तश्चेतयिता रागरस-रिक्तः ॥ २७ ॥
सम्यक्-स्वपरविवेकः, सम्भव-परिवर्जितः परिच्छेत्ता ।
अस्खलित-विमल-भावोऽकम्पप्रवृत्त-निर्मलाऽलोकः ॥ २८ ॥
सकलपुरुषार्थसारः, परानपेक्षः सर्वलोकपति-महितः ।
चितपरिणमन-स्वभावः प्रौढविवेको जगच्चक्षुः ॥ २९ ॥
निश्चितस्वपरविवेकः, स्वपरपरिच्छेदकः परंज्योतिः ।
परमः परमविशुद्धष्टंकोत्कीर्णो विविक्तात्मा ॥ ३० ॥
दुर्नयपक्षाक्षुण्णश्चात्मानुभवानुभाव-विवशश्च ।
शुद्धस्वभाव-महिमा, प्रशमरसश्चित्-प्रकाशरूपश्च ॥ ३१ ॥
यो नियतवृत्तिरूपो, धीरोदात्तः स्वरूपविश्रान्तः ।
अर्थक्रियासमर्थो, निखिलरसान्तर-विविक्तश्च ॥ ३२ ॥
चैतन्य चमत्कारः, प्रतिभासमयो विशुद्ध-परिणामः ।
स्वरसाभिषिक्त-भुवनः, सर्व-विशुद्धश्च निष्कांक्षः ॥ ३३ ॥
अन्तः-प्रकाशमानः, परिचित-तत्त्वः स्वरसरभस कृष्टः ।
अतिसूक्ष्म-चित्-स्वभावः, सकलव्यक्तः स्वतंत्रश्च ॥ ३४ ॥
पर्यायाऽसंकीर्णो, भंगविहीनः स्वरूप-निष्ठश्च ।
परद्रव्याऽसंपृक्तो विचित्रभावस्वभावश्च ॥ ३५ ॥

वृत्त-शार्दूलविक्रीडितम्

चिन्मुद्रांकित-निर्विभागमहिमा, दृग्ज्ञप्तिरूपः प्रभुः ।
चैतन्यामृतपूरपूर्ण-महिमा, चैतन्य-रत्नाकरः ॥
नैष्कर्म्य-प्रनिबद्धमुद्धत-रसो प्रस्यद्विशेषोदयः ।
निर्भेदोदित वेद्यवेदकबलं चिन्मात्रशक्तिः परः ॥ ३६ ॥

अंग्रेजी निबन्धों का हिन्दी सार

१. अपेक्षावाद और उसका व्यावहारिक स्वरूप

डा० डी० सी० जैन, न्यूयार्क, यू० एस० ए०

सापेक्षतावाद विविध प्रकार के दृष्टिकोणों के प्रति सहिष्णुता, समन्वय, तर्कसंगति एवं अहिंसक भावना का प्रेरक है। यह व्यावहारिक जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने का यत्न है। यह हमें विभिन्न जटिल अवसरों पर तर्कसंगत निर्णय लेने की क्षमता प्रदान करता है। इसके सात रूप हैं। ये विभिन्न वास्तविकताओं के परस्पर विरोधी-से गुण-पर्यायों की समुचित व्याख्या करते हैं। यह विरोध प्रतीति दृष्टिकोण सापेक्ष है।

लेखक ने विद्युत आवेश द्वारा चुम्बकीय क्षेत्र की उत्पत्ति, प्रकाश ऊर्जा के तरंकणी रूप, प्रायिकता की धारणा, सूक्ष्म कणों के गुणों का अनिश्चायक निरूपण आदि के समान जटिल प्राकृतिक पर वैज्ञानिकतः निरीक्षित परिणामों की सापेक्षतावाद के आधार पर व्याख्या करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि यह हमारे धार्मिक जीवन में किस प्रकार उपयोगी है। इसके आधार पर उन्होंने नई पीढ़ी के समक्ष प्रस्तुत कुछ प्रारूपिक समस्याओं के समाधान भी दिये हैं।

वर्तमान संघर्षशील जगत में धर्म दोनों ओर से पिट रहा है। इस पर आस्था रखने के लिये समन्वय एवं विरोधि-समागम मूलक अपेक्षावाद की आज महती आवश्यकता है। अन्य धर्मों की तुलना में जैन-धर्म की मोह-कर्म दूर कर सद्दृष्टि के लिये प्रयत्नशील बनाने की विशेषता इसकी व्यावहारिकता की प्रेरणा है। यह पूर्व-पश्चिम की प्रवृत्तियों के आभासी विरोध को तर्कसंगत रूप से शमन कर तदनुरूप प्रवृत्ति में भी सहायक है।

२. पूर्व और पश्चिम के दार्शनिक दृष्टिकोणों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन

डा० डोनाल्ड एच० विशप, पुलमैन, यू० एस० ए०

पाश्चात्य दार्शनिक दृष्टिकोण के मूलभूत आधार द्वंद्वात्मकता, द्वैतरूपता, इन्द्रियज्ञान एवं तर्कसंगति हैं। ये वर्गीकरण, विभेदन, विरुद्धत्व एवं विशेषत्व की धारणाओं को प्रतिफलित करते हैं। इन आधारों पर पश्चिमी दर्शन सभी वस्तुओं को भौतिक, यांत्रिक एवं इन्द्रिय या यन्त्रगम्य मानता है। ये ज्ञेय हैं, वर्गीकृत्य हैं और फलतः सकारात्मकतः वर्णनीय हैं। इससे विश्व की भौतिक जागृति हुई है। पर इन धारणाओं से मनुष्य ने अपनी आत्मा लुप्त कर दी है, ये मानव का सत्यानाश भी कर सकती हैं।

इसके विपर्यास में, पूर्वी दर्शनों में विविधता अधिक है। चीनी दर्शन के यांग और यिन अपवर्जना-रहित हैं, लोचदार हैं। अन्य दर्शन भी बहुविचारवादी हैं। इनमें जैन दर्शन सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। वह बहुत्ववादी है पर उसका यह स्पष्ट मत है कि परिवेश की विविधता से वास्तविकता के विषय में निरपेक्ष धारणा असंभव है। अनेक पूर्वी दर्शनों में समवेदिता की धारणा भी है जिसका एक रूप अद्वैतवाद है। एक ओर जैनों का अनेकान्तवाद निरपेक्ष ज्ञान की सम्भावना को निरस्त करता है, वहीं वह सर्वचैतन्यवाद की प्रस्थापना करता है। यह पश्चिम के उपयोगितावादी दृष्टिकोण के विपरीत है।

पूर्वी दर्शनों में मानव और प्रकृति के सम्बन्ध भी, पाश्चात्यों से, विपरीत हैं। जहाँ पश्चिम मानव को प्रकृति का स्वामी मानता है, वहीं पूर्वी दर्शन स्वयं को प्रकृति का एक घटक मानता है। वह प्रकृति को असीम अतः पूर्णतः ज्ञेय नहीं मान पाता। फलतः वह उसके प्रति सहृदय बना हुआ है। इन आभासी विरोधों के बावजूद भी आज का दर्शन विविधता अतएव शान्ति की बहु-सम्भाव्यता की स्वीकृति की ओर उन्मुख है।

खंड ३

ध्यान और योग : विविधा

सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते॥

समणसुत्तं, 484

इतश्च स्वाध्यायादहरहरविश्रांतविहितात्।
परिश्रांतोऽत्यंतं यदि भवति विश्राम्यतु तदा॥

बहिर्जल्पं मुक्त्वा शमसलिलनिष्पंदशिशिरं।
मुनिर्ध्यानं धारागृहमिव सुखाय प्रविशतु॥

कुमार कवि

ध्यान का शास्त्रीय निरूपण

एन० एल० जैन
जैन केन्द्र, रीवा, म० प्र०

प्रस्तावना

तुलनात्मक अध्ययन के वैज्ञानिक युग में समान विचारों, धाराओं एवं पद्धतियों की पारभाषिक शब्दावली की विविधता जिज्ञासुओं के अध्ययन के समय एक व्यवधान के रूप में सामने आती हैं। सत्रहवीं-अठारहवीं सदी में यह पाया गया कि ज्ञान के विकास की समग्र प्रगति की दर इससे पर्याप्त रूप में प्रभावित होती है। वैज्ञानिकों ने तो पारिभाषिक शब्दावली की एकरूपता का विकास कर अपनी प्रगति में चार चाँद लगाये हैं, पर दार्शनिकों एवं पूर्वी विद्वानों की बात निराली है। उन्हें विविध रूपता में ही एकरूता के दर्शन होते हैं चाहे वह सामान्य जन के लिये कितनी ही अबोध-गम्य क्यों न प्रतीत होती हों। यही कारण है कि जहाँ वैज्ञानिक जगत् विश्व मंच पर विकसित हो रहा है, वहो दार्शनिक मंच यथास्थिति में पड़ा है। इसीलिये भारतीय धर्म और दर्शन ऐतिहासिक अधिक होते जा रहे हैं। यह तथ्य ध्यान के निरूपण से भी भलीभाँति प्रकट होता है। यह प्रसन्नता की बात है कि बीसवीं सदी में इस दिशा में विचारात्मक एवं प्रक्रियात्मक विकास के कुछ लक्षण दिखाई दे रहे हैं।

यह सुज्ञात है कि हिन्दू, जैन और बौद्ध विचार धारा में आध्यात्मिक विकास, चरम सुख की प्राप्ति या निर्वाण के लिये ध्यान एक आवश्यक प्रक्रिया है। यह व्यक्ति की बहिर्मुखी दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाता है। उसे उदासीन दृष्टा बनाकर सुखानुभूति का मार्ग प्रशस्त करता है। पर प्रारम्भिक जैन शास्त्रों में इसे लोक विपश्यना (शरीर दर्शन या शोधन) या संप्रेक्षा के नाम से बताया गया है। बौद्धों ने इसे विपश्यना या समाधि कहा है। योगशास्त्र इसे ध्यान योग का नाम देता है। यद्यपि सामान्य जन को योग, ध्यान एवं समाधि जैसे शब्द समानार्थक से लगते हैं, पर शास्त्रों में इनके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। सिद्ध सेन गणि ने योग के छह पर्यायवाची बताये हैं जिनमें ध्यान और समाधि भी समाहित हैं। सामान्यतः ध्यान योग का एक अंग है और उससे समाधि या स्थितप्रज्ञता आती है। फलतः योग ध्यान और समाधि को समाहित करता है।

योग शब्द का अर्थ

योग शब्द का पारिभाषिक अर्थ प्रत्येक विचार धारा में भिन्न है। जैन इसे मन, वचन व शरीर की क्रियाओं, प्रवृत्तियों के या आस्रव के रूप में बताते हैं। इसके ठीक विपरीत, योगशास्त्र इसे चित्त की वृत्तियों के निरोध या केन्द्रण के रूप में व्यक्त करते हैं। बौद्ध मन, वचन, काय के सु-स्थिर होने से प्राप्त बोध को योग कहते हैं। यही नहीं, जैनों के प्राचीन ग्रन्थों में भी इस शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। शिवार्य के टीकाकार ने इसका अर्थ कायक्लेश, तप और ध्यान किया है। सूत्र कृतांग,समवायांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन व आवश्यक सूत्र में भी अनेक अर्थों में इसका उपयोग है। अर्थापत्ति से ही हम इसका सही अर्थ मान सकते हैं।

व्याकरण के अनुसार भी, 'युजिर' और 'युज्' धातु से बननेवाले योग शब्द के दो अर्थ होते हैं—इनमें से एक अर्थ तो समाधि होता है। पर सामान्य व्यवहार में योग शब्द जोड़, मिलन, बन्धन, संयोग आदि की भौतिक क्रियाओं का निरूपक है। इस दृष्टि से जैन-सम्मत अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। योग का एक अन्य अर्थ जोतना भी है जिसके बिना अच्छी आध्यात्मिक प्रगति न हो सके। सारणी में विभिन्न भारतीय पद्धतियों में योग शब्द के अर्थ दिये गये हैं। इससे प्रकट होता है कि योग शब्द की अर्थयात्रा आध्यात्मिक विचार धारा के विकास के साथ भौतिक क्रियाओं से प्रारम्भ होकर आध्यात्मिक विकास की प्रक्रियाओं में विलीन होती है। इसीलिये जैनों ने प्रत्येक तत्त्व को भौतिक (द्रव्य) और आध्यात्मिक (भाव) रूप में वर्गीकृत कर विवरण दिये हैं। सारणी 1 से स्पष्ट है कि अन्य पद्धतियों में,

सारणी १ : योग शब्द के अर्थ

पद्धति	अर्थ	समकक्ष पारिभाषिक शब्द
वेद	जोड़ना, इन्द्रिय वृत्ति, इन्द्रिय नियन्त्रण	—
उपनिषद्	ब्रह्म से साक्षात्कार कराने वाली क्रिया	योग
गीता	कर्म करने की कुशलता	योग, कर्मयोग
योग दर्शन	चित्त वृत्ति निरोध	योग
बौद्ध	बोधि प्राप्ति	समाधि
जैन	(i) मन, वचन, शरीर की प्रवृत्ति	योग, आस्रव
	(ii) आत्मशक्तिविकासी क्रिया (हरिभद्र)	योग, समाधि, ध्यान
व्याकरण	जोड़ना, समाधि, जोतना	

योग शब्द का अर्थ जैनों की मूल मान्यता से भिन्न है। उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने अर्थ-समकक्षता प्रदान की है। सामान्य जन में भी यही अर्थ रूढ़ है। इसके मूल अर्थ का अध्यात्मीकरण हो गया है और इसे आत्मा-परमात्मा के मिलन के रूप में तक प्रकट किया जाता है। यह स्वाभाविक है कि योग का ऋणात्मक (विभेदात्मक) अर्थ भी पाया जावे। इसलिये बहिर्मुखी दृष्टि के निरोध और अन्तर्मुखी दृष्टि की जागृति के रूप में इसे व्यक्त किया जाता है। वस्तुतः योग-अभ्यास से शरीर, वचन एवं मन के दूषित मल बाहर हो जाते हैं और अन्तर्मुखी ऊर्जा प्रकट होती है। इसके विपर्यास में, योगी शब्द का अर्थ प्रायः सभी पद्धतियों में एकसा ही माना जाता है। यह एक विशेष प्रकार के अ-सामान्य एवं आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न व्यक्तित्व का निरूपक है।

योग के समान ही **संयम** शब्द भी है। योग दर्शन में इसका अर्थ धारणा, ध्यान एवं समाधि की त्रयी से लिया जाता है। जैन दर्शन में सम्यक् प्रकार से व्रतादि के पालन के लिये इन्द्रिय एवं प्राणियों की पीड़ा के परिहार के प्रयत्न से लिया जाता है। बौद्ध के यहाँ यह 'शील' हो जाता है। फिर भी, यह सभी जानते हैं कि संयम और योग परस्पर सम्बन्धित हैं।

ध्यान भी इसी प्रकार का एक महत्वपूर्ण शब्द है। बौद्ध दर्शन में शील, समाधि एवं प्रज्ञा की त्रयी में ध्यान और समाधि समानार्थक ठहरते हैं। योग दर्शन में ध्यान समग्र अष्टांग योग का एक उच्च स्तरीय घटक है। जैन दर्शन में यह संवर एवं निर्जरा का एक घटक है। ध्यान की एकालम्बनी चित्त वृत्ति या चित्त वृत्ति की एकतानता की परिभाषा से पतंजल योग तथा जैन संवर-निर्जरा प्रायः समानार्थी लगते हैं। पर इनके अनेक विवरणों में भिन्नता पाई जाती है। इस भिन्नता के बावजूद भी दोनों के परिणाम एक समान होते हैं।

योग के समान ध्यान के भी अनेक पर्यायवाची शब्द हैं जिनमें साम्यभाव, समरसीभाव, बुद्धि-रोध, अन्तः सल्लीनता, सबीजता, समाधि, स्वान्त निग्रह आदि प्रमुख हैं। इन नामों से स्पष्ट है कि इनमें अधिकांश ध्यान के फल ही है।

जैनाचार एवं प्रवृत्ति क्षेत्र में, प्रारम्भिक ग्रन्थ में योग शब्द स्वतन्त्र रूप से नहीं पाया जाता। वहाँ ध्यान के ही स्फुट विवरण मिलते हैं। इसे साधु धर्म का शीर्ष कहा गया है। उत्तर वर्ती समय में योग की परिवर्द्धित एवं समकक्ष परिभाषा के अनुसार उस पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। आज स्थिति यह है कि ध्यान के सात ग्रन्थों की तुलना में योग पर १६–२६ ग्रन्थों की सूची टाटिया और दिगे ने दी है। अनेक ग्रन्थों में ध्यान और योग दोनों को मिलाकर ध्यान योग का वर्णन मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरवर्ती आचार्यों पर पतंजल योग की महत्ता और व्यापकता का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने ध्यान के बदले योग पर ही ग्रन्थ लिखे जिनमें ध्यान का भी वर्णन मिलता है। इसका कारण यह रहा कि दोनों परम्पराओं में इन दोनों शब्दों की परिभाषा समानार्थी हो गई। फिर, जैनों ने सदैव देश, काल व क्षेत्र की परम्पराओं को उदारता पूर्वक समाहित किया है। यह तथ्य 'प्रत्यक्ष' शब्द की परिवर्धित परिभाषा तथा 'प्रमाण' शब्द की समय-समय पर संशोधित परिभाषाओं से स्पष्ट होता है। यही कारण है कि जैन ग्रन्थों में भी पतंजल के अष्टांग योगों के आधार पर विवरण पाये जाते हैं। अनेक विवरण विकसित रूप में भी हैं। पर ये विवरण ७–८वीं सदी और उसके बाद के ही हैं।

ध्यान सम्बन्धी प्रारम्भिक विवरण हमें आचारांग, स्थानांग एवं भगवती सूत्र में भगवान महावीर के 'संपक्खिए अप्पगमप्पयेण' के सिद्धान्त पर आधारित कायोत्सर्ग मुद्रा, नासाग्र दृष्टि एवं उकडूं आसन आदि के रूप में मिलता है। ये सभी प्रक्रियायें योग दर्शन में भी हैं। जैन ध्यान साहित्य के लेखक आचार्यों में कुंदकुंद, शिवार्य, पूज्यपाद, हरिभद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र, यशोविजय गणि आदि प्रमुख हैं। इस विषय में वर्तमान युग में उपाध्याय अमर मुनि, आचार्य तुलसी, युवाचार्य महाप्रज्ञ और उनके सहयोगी साधुवृन्द, आचार्य हस्तीमल एवं कुछ शोधकर्ताओं ने अच्छा साहित्य प्रस्तुत किया है। तुलसी जी और हस्तीमल जी ने क्रमशः प्रेक्षा ध्यान एवं समीक्षण-ध्यान के नाम से ध्यान को प्रतिष्ठित कर इसे व्यक्तिगत या मात्र साधु-जीवन की प्रक्रिया के बदले सामूहिक प्रक्रिया के रूप में विकसित कर इसकी व्यापकता एवं उपयोगिता को ही नहीं, अपितु इसकी वैज्ञानिकता को भी परिपुष्ट किया है। इससे धर्म की मात्र व्यक्ति-विकासिनी विचार-धारा को समूह-विकासिनी वृत्ति के रूप में परिणत होने का अवसर मिला है।

ध्यान की शास्त्रीय परिभाषा

ध्यान शब्द 'ध्यै' संप्रसारणे, प्रवाहे या ध्याने धातु का ल्युट्-प्रत्ययी रूप है। इससे शरीर और मन की वृत्तियों के समुचित दिशा में प्रसारण, प्रवाह या अवस्थान के प्रक्रम को ध्यान माना जा सकता है। इसे आध्यात्मिक अर्थों में सांख्य ने 'ध्यानं निर्विषयं मनः' माना है। पातंजल इससे अधिक व्यावहारिक है। उसने निर्विषयता के स्थान पर 'तत्र-एक तानता ध्यानं' कह कर लक्ष्य प्राप्ति की ओर इंगित कर दिया। इससे विपर्यास में, जैन आगमों में शरीर प्रेक्षा और सम्प्रेक्षा (अंतरंग प्रेक्षा) को ध्यान का रूप बताया है। आगमिक आचार्य ध्यान को शारीरिक एवं मानसिक नियंत्रण एवं सन्तुलन का साधन मानते हैं। इसीलिये वे कायोत्सर्ग और विपश्यना के अन्तर्गत सूक्ष्म आनप्राण लब्धि तथा महा-प्राण ध्यान का भी उल्लेख करते हैं। वस्तुतः आगम युग में यह मान्यता रही होगी कि मनोवृत्तियों की एकाग्रता बिना शरीर शोधन के नहीं हो सकती। शिवार्य भी आगम युग की मान्यताओं के समर्थक प्रतीत होते हैं।

आगमिक धारणाओं के विपर्यास में, कुंद-कुंद अपने प्रवचनसार और नियमसार में वचनों एवं चित्तवृत्तियों का निरोध कर पूर्ण अन्तर्मुखी होने की प्रक्रिया को ध्यान मानते हैं। यह प्रतिक्रमण का सर्वोत्तम साधन है। जीवन-शोधक है। ध्यान से समवृत्तिता उत्पन्न होती है। यह योगकर्म के अभाव में ही सम्भव है। प्रवचनसार में दर्शन और ज्ञान के विकास की प्रक्रिया को ही ध्यान कहा गया है।

कुन्दकुन्द की परम्परा का अनुसरण करते हुए उमास्वाति ने जैन परम्परागत ध्यान की परिभाषा को सर्वाधिक स्पष्ट रूप से कहा है। उनके अनुसार, ध्यान संवर तत्व (सात में से पाँचवाँ, सम्—अच्छी वृत्तियों की ओर वर-गति करने की वृत्ति) के छह मुख्य घटकों के सत्तावन भेदों में तप नामक धर्म के अन्तरंग छह भेदों में अन्तिम प्रकार है : संवर→तप→अन्तरंग तप→ध्यान। इनकी परिभाषा योगसूत्र के अति निकट आती है। उन्होंने 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं' कहा है। अकलंक ने अन्तःकरण या चित्तवृत्ति को चिन्ता माना है, स्थिरीकरण या अवस्थान को निरोध माना है। अग्र शब्द से दिशा, पदार्थ, चैतन्य, आत्मा या लक्ष्य का ग्रहण किया है। इस प्रकार, चित्त की वृत्ति को एक दिशा, पदार्थ या आत्मा में स्थिरतापूर्वक अवस्थित करने की प्रक्रिया को ध्यान कहा जाता है। यहाँ 'अग्र' योग के देश शब्द का तथा बन्ध या 'एकतानता' को चिन्तानिरोध का समकक्ष मानना चाहिये। पूज्यपाद ने निश्चलरूप से अवभासमान ज्ञान को ध्यान कहा है। यह उमास्वामि के मत का फलितार्थ ही है। वस्तुतः सामान्य ज्ञान सदैव अनिश्चित होता है। इससे हम ज्ञान और ध्यान में अन्तर कर सकते हैं। समन्तभद्र भी ध्यान की अन्तर्मुखी परिभाषा को ही मान्यता देते हैं। रामसेन ने भी आत्मतत्व को षट्कारकमय मानकर ध्येय में स्थिर होने की वृत्ति को ध्यान कहा है। अभयदेव सूरि ने दृढ़ अध्यवसाय को ध्यान कहा है। शुभचन्द्र ध्यान को अन्तःकरण शोधक एवं विवेक जागृत करने वाला मानते हैं। लेकिन उन्होंने योग के अष्टांग को स्वीकृत करते हुए उसका विवरण दिया है। उनका अनुसरण हेमचन्द्र ने भी किया है। ध्यान को इस रूप में वर्णित करने की परम्परा वस्तुतः हरिभद्र ने प्रारम्भ की थी। इनके पूर्ववर्ती सिद्धसेन दिवाकर भी शरीर, प्राण एवं मन को सन्तुलित करने की क्रिया से प्राप्त एकाग्रता को ध्यान मानते हैं। परन्तु अकलंक प्राणापाननिरोध और उसके परिगणन को ध्यान का रूप नहीं मानते।

वस्तुतः यह सभी मानते हैं कि मन, बुद्धि, चित्त बड़ा चंचल और क्षण-क्षण परिवर्ती होता है। उसकी इस वृत्ति का कारण ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, परिवेश, संस्कार एवं भावनाएँ आदि हैं। यह परिवर्तिता व्यक्ति को अनेक प्रकार से प्रभावित करती है। यह उस सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है जहाँ यह माना जाता है कि एक द्रव्य दूसरे को प्रभावित नहीं करता। इससे उसकी आन्तरिक शक्ति का अपव्यय होता है। इस परिवर्तिता को एकमुखी तथा स्थिरता प्रदान करने से न केवल ऊर्जा का अपव्यय बचता है, अपितु वह संचित होकर अनेक लाभकारी परिणाम भी प्रकट करता है। चित्त की यह एकाग्रता आलम्बन या निरालम्बन ध्यान के अभ्यास से आती है।

जैन शास्त्रों में कालक्रम से वर्णित ध्यान की उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि आगमिक काल की ध्यान की शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक वृत्तियों की एकाग्रता की परिभाषा कुन्दकुन्द युग से लगभग पाँच सौ वर्ष तक मात्र मानसिक एकाग्रता की विचारधारा के रूप में चली। प्रायः ७-८वीं सदी में यह परिभाषा पुनः विस्तृत हुई और आगमिक मान्यता के अनुसार व्यापक बनी। यही परिभाषा अब प्रचलित है। इससे ध्यान के क्षेत्र की व्यापकता और लोकप्रियता में वृद्धि हुई है। फलतः अब हम ध्यान को शरीर, मन एवं चित्त की वृत्तियों के नियन्त्रण, स्थिरीकरण के प्रयत्नों के रूप में मान सकते हैं।

सामान्य जन के मन में ध्यान और उसकी प्रक्रिया को गूढ़ता ही बसी हुई है। फलतः वे इसे अपने वश की बात न मान कर इसे समझने का प्रयास ही नहीं करना चाहते। इसलिये भगवती आराधना और ज्ञानार्णव के आचार्यों ने ध्यान को सहज रूप में समझने के लिये अनेक उपमानों द्वारा उसका विवेचन किया है। ये सारणी २ में दिये गये हैं। इन उपमानों से ध्यान के उद्देश्य व साध्यों का अच्छा ज्ञान होता है और आध्यात्मिक विकास में उसकी महत्ता सिद्ध होती है। इन उपमानों के आधार पर ध्यान इन्द्रिय, कषाय, पाप, कर्म, मोह, राग आदि अशुभ प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण कर साम्यभाव प्राप्ति में सहायक होता है। यह व्यक्ति एवं उसके परिवेशी संसार को सुखमय बनाता है।

सारणी २ : ध्यान के उपमान

उपमान	कार्य	संदर्भ
१. कोड़ा	इन्द्रिय कषाय घोड़ों पर नियन्त्रण	(i) भगवती आराधना
२. शक्ति	इन्द्रिय-बाणों का वारण	गाथा ८४१-४३
३. अग्नि	जीव-लौह शुद्ध होता है, कर्म-घृत जलता है, पाप-वन नष्ट होता है, कषाय शीत शांत होता है	गाथा १३९२, ९७ गाथा १८८६-९६
४. वज्र	पाप वृक्ष को काटता है	(ii) समयसार : २३३
५. कवच	कषाय-योद्धा से रक्षा करता है	(iii) ज्ञानार्णव : १/२३,
६-७. आयुध, खड्ग	कषाय योद्धा/मोह शत्रु को नष्ट करता है	१३/३, ५, ६/२८।
८. सूर्य	रागादि अन्धकार को दूर करता है	(iv) आत्मप्रबोध : ३९, ४९
९. जहाज	संसार-सागर को पार करता है	
१०. अमृत	मोह निद्रा नाश, समत्व लक्ष्मी प्राप्ति	
११. यष्टि	कषाय-शत्रु से रक्षा	
१२. बल	कषाय सेना को जीतता है	
१३. छाया	कषाय धूप का शमन	
१४. सरोवर	कषाय-दाह का शमन	
१५. गर्भगृह	कषाय-वायु का अवरोध	
१६. औषधि	कषाय-रोग शमन	
१७. दुग्धपान	कषाय-रोग नाश	
१८. अन्न	विषय भूख का शमन	
१९. नौका	अविद्या नदी को पार करना	
२०. शीतल जलधारा	आत्मशांति लाता है।	

ध्यान का विशिष्ट विवरण

ध्यान की परिभाषा के साथ ही, अनेक ग्रन्थों में उसका अनेक शीर्षकों के अन्तर्गत विस्तृत विवरण पाया जाता है। ध्यान का अधिकारी कौन है (ध्याता)? ध्यान का ध्येय (आलम्बन, लक्ष्य) क्या है? ध्यान के प्रकार (भेद) और प्रक्रिया क्या है? ध्यान का फल क्या है? ध्यान काल क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर ही ध्याता, ध्यान, ध्येय, ध्यान-फल एवं काल शीर्षकों के अन्तर्गत दिया जाता है। कहीं-कहीं इन शीर्षकों की संख्या आठ तक दी गई है। हम अपना निरूपण पाँच शीर्षकों में करेंगे।

(अ) ध्यान का अधिकारी, ध्याता : (१) प्रवृत्तियों का आधार

जैन शास्त्रों में ध्याता संबंधी चर्चा मनोवृत्ति, संहनन एवं गुणस्थानों के आधार पर की गई है। प्राचीन शास्त्रीय मान्यता के अनुसार, ध्यान वही कर सकता है जो मुमुक्षु हो, संयमी हो, जिसके शरीर के अस्थिबंध (संहनन) उत्तम हों, वासना से निर्लिप्त, जितेन्द्रिय, धीर और मनोवशी हो। संक्षेप में, जो शुभ प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख है, वह ध्यान कर सकता है। ऐसा माना जाता है कि आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से चौथे से चौदहवें चरण का व्यक्ति ध्यान का अधिकारी है। यह भी सामान्य धारणा है कि ऐसा विकास साधुचर्या से ही संभव है। अतः सामान्यतः साधुमार्गी ही

ध्यान के अधिकारी हैं। कुन्द-कुन्द ने कहा है कि योगी ही ध्यान कर सकते है। इसका कारण उनके आत्मिक विकास की क्षमता एवं कोटि ही है। शुभचन्द्र के अनुसार ध्याता उत्तम, मध्यम और जघन्य कोटि के हो सकते हैं।

सामान्यतः ध्याता को ज्ञानी भी होना चाहिये। प्राचीनकाल में दशपूर्वधरों एवं बीजबुद्धि धारकों को परम-ध्यानी माना जाता था। वर्तमानकाल में पाँच समिति व तीन गुप्ति वाले केवल तीसरे ध्यान के अधिकारी हैं।

सामान्य गृहस्थ, मिथ्यादृष्टि, अस्थिरमति मुनि, अठारह विक्रियाओं के अभ्यासी तथा कंदर्पी आदि पंच भावनाओं की मनोवृत्ति के लोग ध्यान के अधिकारी नहीं होते। यह तो पता नहीं कि आगमकाल की ईसापूर्व सदियों में ऐसे प्रतिबंध थे या नहीं, पर वर्तमान में इन प्रतिबंधों पर पुनर्विचार आवश्यक है। सभी कोटियों के व्यक्ति अनशन-आदि बाह्य तप तो करते ही हैं जो अन्तरंग तप एवं ध्यान के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। वस्तुतः तप और ध्यान की प्रक्रिया उन लोगों के लिए आवश्यक प्रशिक्षण का कार्य करेगी जिनका चित्त एवं क्रियाएँ बहुमुखतः चलायमान रहती हैं। उन्हें ही संसार की दुःखमयता को वृत्ति को सुखमयता की ओर परिवर्तित करना है। वस्तुतः इस विषय में गृहस्थ की भर्त्सना अनुचित ही कही जायेगी। यह कथन धर्म और शुक्ल ध्यान की दृष्टि से मानने पर भी द्रव्य संग्रह में तो गृहस्थ को अपवादरूपेण धर्म ध्यान स्वीकृत किया ही गया है। फिर गृहस्थ तो साधुओं का पालक, रक्षक, संवर्धक और नियन्त्रक है। वही तो आगे चलकर साधु होने वाला है। आर्त-रौद्र ध्यानी गृहस्थ के लिए साधुओं के प्रति ये कर्तव्य कैसे सम्भव हैं? क्या वह साधुओं को समध्यानी नहीं बनायेगा जैसा आज हो रहा है। उमास्वामी ने सम्यक् दृष्टि, श्रावक एवं व्रती की निर्जरा का संकेत दिया है। यह निर्जरा बिना तप और ध्यान के कैसे होगी? यह माना जाता है कि अकाम निर्जरा सभी को हो सकती है, पर सकाम निर्जरा (कर्मक्षय हेतुक) साधु को ही होती है। अकाम निर्जरा के अन्तर्गत इहलौकिक, पारलौकिक, यश-कीर्ति प्रेरित उद्देश्यों से किये गये तप और ध्यान आते हैं। यह मिथ्या दृष्टि-सहित सभी को हो सकती है। अतः वह भी ध्यान का अधिकारी है। प्रेक्षाध्यान या योग की दृष्टि से तो आजकाल तप के विभिन्न रूपों के अभ्यास द्वारा अपराधियों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन, बालकों में नैतिकता व सक्रियता का विकास, सेवा निवृत्ति, सामान्य या जीवन से निराश व्यक्तियों में जीवन के प्रति उत्साह एवं लक्ष्य के प्रति जागरूकता आती है। अतः उपरोक्त प्रतिबन्धों में किंचित् सुधार की आवश्यकता है। यह अवश्य है कि सभी लोग ध्यान के उच्चतर चरणों को अभ्यास से ही पा सकते हैं।

इस प्रतिबन्ध के विषय में यह कहा जा सकता है कि ये मात्र धर्म और शुक्ल ध्यान के क्षेत्र में लागू होते हैं, आर्त एवं रौद्र ध्यान पर नहीं। पर द्रव्य संग्रह के टीकाकार के समान ज्ञानार्णव के टीकाकार ने भी गृहस्थों के धर्म ध्यान उत्सर्गतः ही माना है। वस्तुतः ध्यान कोई भी हो, उसकी प्रक्रिया तो वही है। ये दोनों ध्यान ऐहिक उद्देश्यों के लिये किये जाते हैं। संभवतः इन ध्यानों के दुरूपयोग के कारण उपरोक्त प्रतिबन्ध लगाये गये हों। लेकिन इन प्रतिबन्धों से साधना मार्ग कुंठित हो गया और आज उसके पुनरुद्धार की आवश्यकता आ पड़ी है। इसीलिये शास्त्री ने उमास्वामी की ध्यान-परिभाषा के सूत्र की उपयुक्तता पर प्रश्न चिह्न लगाया है। इन प्रतिबन्धों के निराकरण से समाज, शायद, अधिक लाभान्वित हो सके।

(ii) स्वस्थता या संहनन का आधार

यह सुज्ञात है कि ध्यान के लिये विशिष्ट आसन, समय तथा मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है। आसन की स्थिर-सुखी परिभाषा के बावजूद भी सामान्य आसन ध्यान मुद्रा का प्रेरक नहीं। इसके लिये कुछ विशिष्ट आसन आवश्यक हैं। इन आसनों को विशिष्ट समय तक ग्रहण करने का अभ्यास चाहिये। यह अभ्यास केवल वे ही कर सकते हैं जिन्हें समुचित वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम है। इन आसनों के लिये शरीर स्वस्थ और बलवान् होना चाहिये। इसीलिये शास्त्रों में उसी को ध्यान का अधिकारी बताया गया है जिनके शरीर के अस्थिबन्ध, स्नायुबन्ध, एवं नाडीबन्ध

(संहनन) उत्तम हों। दिगम्बर आचार्यों के अनुसार, छह संहननों में से प्रथम तीन और श्वेताम्बर मतानुसार प्रथम चार उत्तम माने गये हैं। लेकिन चरम आध्यात्मिक विकास की दशा केवल असामान्य बलशाली शरीर से ही प्राप्त होती है। वर्तमान पञ्चम काल, छठा काल एवं भावी उत्सर्पिणी के छठे एवं पाँचवें काल में आत्मिक चरम विकास (निर्वाण) या अवनति (सप्तम नरक) की शास्त्रीय सम्भावना न होने से अगले ८०-८१ हजार वर्षों में ऐसा बली शरीर किसी को प्राप्त नहीं होगा।

सामान्य मनुष्य के संहनन पाँचवीं एवं छठी श्रेणी के होते हैं। आसन एवं प्राणायाम के अभ्यास से इनमें परिवर्तन संभव होता है क्योंकि इनसे शरीर की अन्तरंग ऊर्जा बढ़ जाती है। इससे वे चौथी या तीसरी संहनन कोटि में पहुँचकर ध्यान के अधिकारी हो सकते हैं। संहनन की उत्तमता के मानदण्ड से यह स्पष्ट है कि दिगम्बर ध्यान की प्रक्रिया को अधिक कठोर मानते हैं। दूसरी ओर, यह भी स्पष्ट है कि श्वेताम्बर ध्यान की प्रक्रिया को अधिक व्यापक और प्रभावशाली बनाने की ओर अग्रसर रहे हैं।

(iii) गुणस्थानों का आधार

संहनन की विशेषता के अतिरिक्त आत्मिक विकास के चरणों (गुणस्थानों) के आधार पर भी शास्त्रों में ध्याता को अभिलक्षणित किया गया है। इसे सारणी ३ में दिया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि तीसरे गुणस्थान तक

सारणी ३. ध्यान के अधिकारी गुणस्थान का आधार

ध्यान	गुणस्थान
१. आर्त ध्यान	४–६ गुणस्थान
२. रौद्र ध्यान	४–५ ,,
३. धर्म ध्यान	४–१२ ,,
४. शुक्ल ध्यान	१०–१४ ,,

व्यक्ति में ध्यान की क्षमता नहीं आती। यह मान्यता उपरोक्त चर्चा की दृष्टि से पुनर्विचारणीय प्रतीत होती है। कुमार कवि ने आरंभक, ध्याननिष्ठ एवं निष्पन्नयोगी के रूप में ध्याताओं की तीन कोटियां बताई हैं।

इस प्रकार ध्यान के अधिकारी ऐसे सभी सामान्य एवं साधु धर्मी व्यक्ति हो सकते हैं जिनका शरीर पुष्ट एवं बलवान् हो एवं जो राजसी एवं सात्विक वृत्तियों की ओर उन्मुख हों। शरीर की बलशालिता एवं मनोवृत्तियों की कोटि ध्यान की कोटि एवं योग्यता के मापदण्ड हैं। प्रेक्षा और समीक्षा ध्यान की पद्धति का विकास और प्रभाव इसी मान्यता पर आधारित हैं।

(ब) ध्यान के प्रकार

भगवती, स्थानांग, तत्वार्थ सूत्र, ज्ञानार्णव और अन्य ध्यान-साहित्य में ध्यान के मुख्यतः चार भेद बताये गये हैं—(i) आर्त (ii) रौद्र (iii) धर्म या धर्म्य एवं (iv) शुक्ल। सभी उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसे माना है। फिर भी विवेचन की दृष्टि से ज्ञानार्णव में इन्हें तीन कोटियों में वर्गीकृत किया गया है :

(i) अप्रशस्त	:	आर्त, रौद्र	अशुभाशय, अशुभ लेश्या, पापबन्ध, दुर्गति।
(ii) प्रशस्त	:	धर्म्य, शुक्ल	पुण्याशय, शुभ लेश्या, पुण्यबन्ध, स्वर्ग।
(iii) शुद्ध	:	शुक्ल (अन्तिम पद)	आत्मोपलब्धि, स्वर्ग, मुक्ति।

अप्रशस्त ध्यान लौकिक तथा व्यक्तिगत रागद्वेष-प्रेरित होते हैं। अतः उन्हें हेय ही माना जाता है। प्रशस्त ध्यान शरीर एवं मन को शुद्ध कर साम्य, समरसता एवं अन्तर्मुखता उत्पन्न करते हैं, अतः वे उपादेय हैं। पूर्वोक्त शास्त्रीय मान्यता के परिप्रेक्ष्य में केवल धर्म ध्यान ही हमारे लिये, वर्तमान में, उपादेय बचता है।

ध्यान के भेदों के विषय में दिगे ते नमस्कार स्वाध्याय के आधार पर एक अपवाद बताया है। इसमें ध्यान के २४ भेद बताये गये हैं। ये ध्यान के सामान्य एवं परमभेद के रूप में शुन्य, कला, ज्योति, विन्दु, नाद, तारा, लय, लव, मात्रा, पद, सिद्धि के रूप में चौबीस भेद हैं। वस्तुतः गाथा के अनुसार ये बाईस (११ × २) भेद ही होते हैं। इस गाथा से चौबीस भेद निरूपित करने के लिये उसका मूल खोजना होगा। ध्यान के इन भेदों को वह मान्यता प्राप्त नहीं है, जो चार भेद की परम्परा को है। इन चारों ध्यानों का विवरण सारणी ४ में दिया गया है।

सारणी ४–जैन शास्त्रों में ध्यान के भेदों का विवरण

नाम	प्रकार	लक्षण	आलंबन	अनुप्रेक्षा	गति	लेश्या	स्थिति
१. आर्तध्यान	१. इष्ट वियोग २. अनिष्ट संयोग ३. वेदना, रोगचिंता ४. निदान, भोगार्त्त	क्रंदन, चिन्ता, दीनता, अश्रुपात, क्लेश चर्चा	—	—	तिर्यंच	अशुभ तीन	४–६ गुणस्थान
२. रौद्र ध्यान	१. हिंसानंद २. मृपानंद ३. चौर्यानंद ४. संरक्षणानंद	आसन्न दोष, बहुल दोष, अज्ञान दोष, आमरणांत दोष	—	—	तिर्यंच	अशुभ	४–५ गुणस्थान
३. धर्म/धर्म्यध्यान	१. आज्ञा विचय २. अपायविचय ३. विपाकविचय ४. संस्थानविचय	(१) आज्ञा रुचि निसर्ग रुचि, उपदेश रुचि, सूत्र रुचि, (२) वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, धर्मकथा, अनुप्रेक्षा, सामयिक	(१) पिंड, पद, रूप, रूपातीत (२) आर्जव, लघुता, मार्दव, उपदेश, जिनागम रुचि	अनित्य, अशरण, एकत्व, संसार	मनुष्य, देव	पीत, पद्म, शुक्ल	४–१२ गुणस्थान
४. शुक्ल ध्यान	१. सविचार पृथक्त्ववितर्क २. अविचार पृथक्त्ववितर्क ३. सूक्ष्मक्रिया प्रतिपत्ति ४. व्युपरतक्रिया निवृत्ति	विवेक, व्युत्सर्ग अव्यथा, असंमोह	क्षान्ति, क्षमा, मुक्ति, आर्जव, मार्दव, रूपातीत	अपाय, अशुभ, अनंतवृत्तिता विपरिणाम	मनुष्य, देव, निर्वाण	तीन शुभ लेश्यायें	१०–१३ गुणस्थान १३–१४, केवली

इससे स्पष्ट है कि प्रशस्त ध्यानों की अपेक्षा अप्रशस्त ध्यानों के विषय में शास्त्रीय विवरण काफी कम है। सम्भवतः इनकी बहिर्मुखता ही इनकी अप्रशस्तता का कारण है। तत्वार्थ सूत्र में ५ सूत्रों में आर्तध्यान, एक सूत्र में रौद्र-ध्यान, दो सूत्रों में धर्म-ध्यान तथा सात सूत्रों में शुक्ल-ध्यान का विवरण मिलता है। इसमें उनके भेद, परिभाषा तथा अधिकारी बताये गये हैं। ज्ञानार्णव में, अवश्य, इन पर स्वतन्त्र अध्याय दिये गये हैं। ये मानव को उत्तरोत्तर आध्यात्मिक प्रगति को निरूपित करते हैं। इस विवरण की एक विचार योग्य विशेषता यह है कि जहाँ आर्तध्यान के अधिकारी ४–६ गुणस्थानी होते हैं, वहीं रौद्र-ध्यान के अधिकारी ४–५ गुणस्थानी ही होते हैं। चतुर्भेदी आर्त-ध्यान नितान्त व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति या पीड़ा को दूर करने के लिये होता है। इसमें कषाय, दुःख व प्रमाद अधिक होता है। इसके विपर्यास में, चतुर्भेदी रौद्र-ध्यान में कुटिलता, पापाचार एवं क्रूरकर्म सम्भावित हैं। रौद्रता क्रोध, उत्तेजना एवं आवेश का प्रतीक है। यह व्यक्तिगत भी हो सकता है और व्यक्ति भिन्न भी हो सकता है। इसे भी ४–६ गुणस्थानी माना जाना चाहिए, पर पूज्यपाद और अकलंक ने व्याख्या दी है कि संयमी (चाहे वह प्रमत्त ही क्यों न हो) के रुद्रता नहीं हो सकती। इस स्थिति में मुझे लगता है कि गुणस्थान के आधार पर रौद्र-ध्यान को प्रथम ध्यान मानना चाहिए। दिगे ने इस चर्चा पर मौन रखा है।

धर्म ध्यान आन्तरिक विकास की प्रथम सराहनीय सीढ़ी है। इसमें ध्यान की प्रक्रिया पूर्व ध्यानों के अनुसार होती है, पर इसमें एकाग्रता के लक्ष्य, ध्येय भिन्न होते हैं। इसके आलम्बन सात्विक होते हैं। इनके विवरण सारणी ४ में दिये गये हैं। इस ध्यान में गुरुवाणी में श्रद्धा, कुत्सित विचारों या अवस्थाओं के नाश के प्रति व्यग्रता, अशुभ प्रवृत्तियों या कर्मों के प्रति निरुद्धता और संसार के विशिष्ट आकारों के प्रति विचारणा की वृत्ति जागृत होती है। धर्म-ध्यानी में मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षाभाव की मनोवृत्ति का जागरण आवश्यक है। इसमें अन्दर-बाहर की प्रेक्षाएँ की जाती हैं। इसमें पिण्ड (शरीर), पद (अक्षर), रूप एवं रूपातीत ध्येयों पर मन को स्थिर करने का अभ्यास किया जाता है। इससे आत्म-शक्ति का संकेन्द्रण होता है। वर्तमान में भावों की शुद्धि के लिये प्रचलित लेश्या, रंग या वर्ण-संकेन्द्रित ध्यान की प्रक्रिया रूपात्मक ध्यान के अन्तर्गत ही माननी चाहिए। शास्त्रों में इस प्रक्रिया का विशेष विवरण नहीं है। इस ध्यान में क्रमशः स्थूल ध्येयों से सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर ध्येयों पर एकाग्रता का अभ्यास करने से व्यक्ति अन्तर्मुखी होकर आनन्दानुभूति करने लगता है। यह ध्यान शुभ होता है, शुभतर शुक्ल ध्यान की ओर प्रेरित करता है।

शुक्ल ध्यान आन्तरिक शुद्धि एवं निर्मलता का प्रतीक है। यह नितान्त अन्तर्मुखी और आन्तरिक प्रक्रिया है। यह अन्तःशक्ति के अनन्त-रूप का दर्शन कराता है और साधना के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने की अन्तिम सीढ़ी है। इसके अन्तर्गत मन, वचन व शरीर की सभी वृत्तियाँ निरुद्ध होकर रूपातीत ध्येय पर एकाग्रता उत्पन्न होती है। इससे अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य की अनायास उपलब्धि होती है। इसके ध्येय के रूप में धर्म के विविध रूपों की निराकार वृत्तियाँ होती हैं। यह ध्यान श्रेष्ठतम बलशाली शरीर तथा ज्ञान के धनी ही कर सकते हैं। यह प्रायः निरालम्बन होता है। इसके चार भेदों में से दो का अभ्यास छद्मस्थ ज्ञानी (१२वें गुणस्थान तक) भी कर सकते हैं, पर अन्तिम दो भेदों का अभ्यास केवली ही कर सकते हैं। इसमें वितर्क और वीचार (विचारणा और अक्षर ध्यान)—दोनों क्रमशः समाप्त हो जाते हैं और अन्त में सभी प्रकार की क्रियाओं से मुक्ति होकर चरम सुख की अनुभूति होती है।

शुक्ल ध्यान के समान धर्म-ध्यान के भी चार भेद माने गये हैं। इन्हें विस्तृत कर दस भी माना जाता है। इन्हें संक्षिप्त करने पर बाह्य और आध्यात्मिक अथवा व्यवहार और निश्चय के रूप में दो भेद माने जाते हैं। परावलम्बी, शरीर एवं वचन की क्रियाएँ बाह्य एवं व्यावहारिक होती हैं और मानसिक चिन्तन या एकाग्रता आध्यात्मिक या निश्चय-मुखी होती हैं। इस ध्यान की सिद्धि के लिये गुरु-उपदेश, श्रद्धा, अभ्यास तथा मन की स्थिरता अत्यन्त आवश्यक है।

(स) ध्यान की प्रक्रिया

ध्यान की विविध प्रक्रियाओं के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में स्फुट उल्लेख ही मिलते हैं। सम्भवतः उनका समन्वयात्मक निरूपण ज्ञानार्णव में हुआ है। इसमें बताया गया है कि ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान, आसन, प्राणायाम तथा ध्यानविधि का ज्ञान आवश्यक है।

उपयुक्त स्थान : सामान्यतः यह माना जाता है कि सिद्ध योगी को साधना के लिये कोई भी स्थान उपयुक्त है। पर सामान्य अभ्यासी के लिये पवित्र और एकान्त स्थान आवश्यक है। यह सिद्ध क्षेत्र, अतिशय क्षेत्र, नदी-समुद्र तट, नदी-संगम, पर्वत, गुफा, वृक्ष कोटर, भू-गर्भ, मन्दिर, शून्य-गृह, केलावृक्षों से निर्मित गृह, उपवन-वेदिका, चैत्यवृक्ष के समान कोलाहल-विहीन एवं मनोमोदी कोई भी स्थान हो सकता है। समुचित स्थान पर, लकड़ी के पटिये पर, शिलापट पर, बालुका पर्वत पर विशिष्ट आसन ग्रहण कर ध्यान किया जाता है।

ध्यान के लिए आसन : ध्यान के लिए आसन का चुनाव भी महत्वपूर्ण है। स्थिरसुखी आसन की परिभाषा के बावजूद भी जिन आसनों की शास्त्रों में चर्चा है, उनमें अभ्यास के बाद ही सुख मिलता है। आगम तथा अन्य ग्रन्थों में प्रायः १९ आसनों का उल्लेख है : उकड़ूँ या गोदोहासन, बज्रासन, वीरासन, पल्यंकासन, अर्धपल्यंकासन, कायोत्सर्गासन, मकरासन, हस्तिशुंडासन, दंडासन, संकोच-शरीरासन, शवासन, गवासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, आम्रकुब्जासन, क्रौंचासन, हंसासन, गजासन। यद्यपि जैन परम्परा में ध्यान हेतु विशेष आसन का नियम नहीं है, फिर भी, ज्ञानार्णव में बताया गया है कि कलिकाल में इनमें से केवल दो आसन ही महत्वपूर्ण हैं : पर्यंकासन या पद्मासन एवं कायोत्सर्गासन या खड्गासन। इनमें अन्य आसनों की तुलना में शक्ति कम लगती है। ये सरल होते हैं और मन को स्थिर करने में सहायक होते हैं।

ध्यान के लिये आसन लगाते समय मुख पूर्व या उत्तर की ओर होना चाहिये। दृष्टि नासाग्रमुखी होना चाहिये। शरीर के अन्य अंग निश्चल एवं स्थिर रहने चाहिये।

शुभचन्द्र ने बताया है कि आसन के समुचित अभ्यास न होने से (i) शरीर स्थिर नहीं रह पाता (ii) शरीर की अस्थिरता से मन स्थिर नहीं किया जा सकता (iii) शरीर और मन की अस्थिरता से समाधिदशा सहज नहीं हो पाती एवं (iv) समुचित परीषह सहता विकसित नहीं हो पाती। इसके विपर्यास में, पद्मासन से स्थिरता, प्रसन्नता, शान्ति एवं स्पंदनरहितता आती है। इससे अन्तःशक्ति और विवेक जागृत होते हैं। आज की शारीरिक शिक्षा में जो अनेक प्रकार के व्यायाम कराये जाते हैं, वे केवल शरीर को शुद्ध कर पुष्ट एवं बलशाली बनाते हैं। पर आसन न केवल शरीर को, अपितु मन को भी बली बनाते हैं। अतः आसनों का प्रभाव मनोदैहिक एवं काय-मानसिक-दोनों प्रकार का होता है। ये ही ध्यानमुद्रा को प्रेरित करते है।

ध्यान के लिए प्राणायाम : मन बड़ा चंचल है। उसमें हाथी के समान बल, दैत्य के समान पीड़ाकारी वृत्ति, बन्दर के समान चंचलता और सर्प के समान दंशन-वृत्ति होती है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ उसकी प्रमुख सहायक हैं। हेमचन्द्र के अनुसार, यह विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और तुलीन नामक चार वृत्तियों को धारण करता है। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण का राजा है। उसे समुचित रूप से नियन्त्रित करने के लिए आसन के साथ प्राणायाम-अभ्यास भी आवश्यक है। यह सामान्यतः श्वासोच्छ्वास के अन्तर्गमन, बहिर्गमन एवं अन्तःस्थापन के नियन्त्रण की प्रक्रिया है। प्रारम्भ में शुभचन्द्र ने अन्तःकरण की शुद्धि तथा ध्यान-ज्ञान की सफलता के लिये इसे अनुशंसित किया है। पर हेमचन्द्र को इसमें श्रम एवं चित्त-संक्लेशभाव प्रतीत हुआ, अतः ध्यान-साधना में इसे विरोधी कहा है। बाद में, शुभचन्द्र ने भी प्रत्याहार की अनुशंसा करते हुए ध्यान के लिये इसकी हीनता बताई है। उनका यह मत तर्कसंगत नहीं लगता क्योंकि दीर्घ या

मन्द श्वासोच्छ्वास तथा उसके अल्पकालिक अन्तःस्थापन से शरीरतन्त्र के आन्तरिक घटकों एवं प्रक्रमों में सजगता, अप्रमाद, पूर्णता एवं शक्तिसम्पन्नता आती है। यह नीरोगता भी प्रदान करता है। अतः यह ध्यान के लिए उत्प्रेरक है। प्राणायाम से शरीर का अन्तर्ज्ञान भी होता है। इससे यह भी पता चलता है कि नासिका रंध्र में पार्थिव, वारुण, वायवीय एवं आग्नेय नामक सूक्ष्म एवं संवेद्य चार मंडल होते हैं। इन मण्डलों में पुरन्दर, वरुण, पवन, व ज्वलन वायु संचारित होती हैं। शुभचन्द्र ने इस विषय में विस्तृत विवरण दिया है। प्रेक्षा ध्यान पद्धति में भी प्राणायाम को श्वास एवं शरीर प्रेक्षा के रूप में स्वीकृत किया गया है।

पतन्जल का अनुसरण करते हुए शुभचन्द्र ने प्राणायाम के पूरक, रेचक एवं कुंभक (अन्तःस्थापन)—तीन भेद किए हैं। वहाँ परमेश्वर नामक एक अन्य भेद भी वर्णित है जो ब्रह्मरंध्र में विश्रान्त होता है। हेमचन्द्र ने प्रत्याहार, शांत, उत्तर और अधर के रूप में चार भेद किये हैं। इनमें प्रायः श्वास को अन्तंग्रहण कर उसे शरीर यन्त्र में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में ले जाना एवं उसके बहिर्गमन के समय का नियन्त्रण करना समाहित है।

यह कहा जाता है कि ६० घड़ी के दिन-रात में श्वास वायु सोलह बार नासिका छिद्र बदलती है अर्थात् एक छिद्र से एक बार में एक घण्टे वायु अन्तंगमित होती है। इसी प्रकार, एक मिनट में प्रायः पन्द्रह बार श्वासोच्छ्वास चलता है।

प्राणायाम के अभ्यास से ध्यान की दिशा में आगे बढ़ने के लिये बहिर्दृष्टि त्यागनी पड़ती है। इससे ही अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। इस अन्तर्मुखी वृत्ति को जगाने का उपाय है—प्रत्याहार और धारणा। इस प्रक्रिया में साधक मन और इन्द्रिय-विषयों के सम्बन्ध को तोड़ने का प्रयत्न करता है। इसके लिये वह इच्छानुसार आलम्बनों पर, ध्येयों पर मन को स्थिर करता है। जब यह स्थिरीकरण ४८ मिनट तक बना रहता है, तब उसे ध्यान की परिपूर्णता का चरण माना जाता है। यही समाधि की स्थिति मानी जाती है। इस स्थिति में मन की चंचलता दूर हो जाती है, वह एकतान होकर शक्ति-केन्द्र बन जाता है। इससे व्यक्ति में सात्विक गुण प्रस्फुटित होने लगते हैं।

(व) ध्यान के ध्येय या आलम्बन

ध्यान का ध्येय वह आधार या वस्तु है, जिस पर चित्त को एकाग्र किया जाता है। यह ध्येय दो प्रकार का है—सरूपी और रूपातीत, सचेतन या अचेतन। इस आधार पर ध्यान भी दो प्रकार का होता है। सरूपी पदार्थ मूर्त और दृश्य होते हैं, स्थूल और सूक्ष्म होते हैं, ये बहिर्जगत के भी हो सकते हैं, अन्तजगत के भी हो सकते हैं। ध्यान की कोटि के विकास के साथ ये ध्येय क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म होते जाते हैं, जब तक रूपातीत या निरालम्बन ध्यान की स्थिति न आ जावे एवं ज्ञाननेत्र पूर्णतः उद्घाटित न हो पावें। निरालम्बन ध्यान में परम आत्मा का ही ध्यान किया जाता है।

ये ध्येय शुभ और अशुभ परिणामों के कारण होते हैं। ये शब्द, अर्थ एवं ज्ञानात्मक होते हैं। ये नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव के रूप से चार प्रकार के होते हैं। धर्म ध्यान के चार भेद भी ध्येय के ही रूप हैं। शुभचन्द्र ने सालम्बन ध्यान के लिये शरीर तन्त्र के दस अवयवों—ललाट, नेत्र, कर्ण, नासिकाग्र; मस्तक, मुख, नाभि, हृदय, तालु एवं भ्रकुटि का नामोल्लेख किया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से, शरीर तन्त्र तो बहिर्जगत ही है, फिर भी इससे भिन्न एवं पृथक् स्थूल ध्येयों पर भी मन केन्द्रित किया जा सकता है। यह कोई भी इच्छित या अनिच्छित वस्तु हो सकती है। जिन-मूर्ति, गुरु-मूर्ति, संस्कारित स्त्री या पुरुष, सात्विक चित्र, प्राकृतिक दृश्य, पशु-पक्षी, पवित्र पर्वत, लोकाकृति आदि पर भी ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। वस्तुओं के अतिरिक्त, गुणों पर भी केन्द्रण हो सकता है।

शास्त्रों में आर्त एवं रौद्र ध्यानों के आलम्बनों का उल्लेख नहीं है, पर उनके भेदों के आधार पर ही उनके विविध आलम्बनों का अनुमान लगाया जा सकता है। धर्म-ध्यान के आलम्बनों में आज्ञा, निसर्ग, सूत्र और अवगाढ़ रूचियों

के अनुसार वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्म-कथा, सामायिक एवं सद्धर्मतत्व समाहित होते हैं। इनसे अन्तर्मुखी दृष्टि जागृत होती है। ज्ञानार्णव में चार अपूर्व ध्येय भी बताये गये हैं—पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत। इनका विस्तृत वर्णन भी है। इनमें शरीर, वर्ण (मंत्र, मुद्रा, मंडल आदि), आत्मा, जिन, मुक्ति, सिद्ध के लौकिक-अलौकिक रूपों का ध्यान समाहित है। इनके माध्यम से आत्मतत्व या अन्तर्मुखी ध्येय ही ध्यान के विषय होते हैं। इन पर चित्त को स्थिर करने से समदृष्टि, आनन्दमयता एवं अन्तःशक्ति सम्पन्नता आती है, जो हमारे शरीर के चारों ओर विद्यमान आभा-मण्डल को परिवर्तित कर जीवन को सुखमय बनाती है।

(ग) ध्यान का फल

ध्यान के अभ्यास से व्यक्ति स्वयं में अव्यक्त रूप से विद्यमान अनेक सात्विक गुणों का विकास करता है। कुछ ही समय के अभ्यास से यह अनुभव होने लगता है कि व्यक्ति में परमात्मा के समान ही शक्ति का विशाल भंडार है। यह शक्ति ही सुखानुभूति कराती है। यही अन्तःशक्ति है। इसके कारण ही व्यक्ति में अनेक प्रकार के लौकिक/अलौकिक कार्य करने की क्षमता आती है। यह शक्ति ही उसमें विरागता, समदृष्टि, अशुभ प्रवृत्तियों की उपेक्षा आदि मानव-जाति के नैतिक दृष्टि से बढ़ाने वाले गुणों की प्रतीक है। सैद्धान्तिक दृष्टि से ध्यान पूर्वकृत कर्मों को नष्ट कर व्यक्ति को अकर्मता की ओर ले जाता है और उसे संसार को सुन्दरतम बनाने की ओर प्रेरित करता है। वस्तुतः ध्यान व्यक्ति को समष्टि में विलीन करता है और मुक्तिमार्ग प्रशस्त करता है। ध्यान से नियमित शरीर, स्थिर नेत्र, शुद्ध अन्तःकरण, निर्मोहिता एवं तेजस्विता प्राप्त होती है। ये सभी गुण उत्कृष्ट आनन्द के साधन हैं। मन्त्र एवं वर्णों के ध्यान से रोग-विजय एवं वचन-माहात्म्य प्रकट होता है।

(र) ध्यान की कालावधि

जैन शास्त्रों में ध्यान का उत्तम काल एक अन्तर्मुहूर्त या ४८ मिनट बताया गया है। साधारण छद्मस्थ एक ध्येय पर इससे अधिक समय तक ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकते। यदि वे ऐसा करते हैं, तो या तो ध्येय रूपान्तरित हो जावेगा या ध्यानान्तर हो जावेगा। इससे इन्द्रियों का उपघात भी सम्भव है। योग-दर्शन में ध्यानाभ्यास के लिये इस प्रकार की कोई कालावधि नहीं है। फिर भी, सत्यानन्द सरस्वती गृहस्थों के लिये १० मिनट का न्यूनतम ध्यान-समय मानते हैं। वस्तुतः यह समय-सीमा ध्यानाभ्यास की कोटि एवं ध्याता की श्रेणी पर निर्भर करती है।

विभिन्न पद्धतियों में ध्यान का तुलनात्मक निरूपण

प्रायः सभी भारतीय पद्धतियों में ध्यान के द्वारा अन्तर्मुखी विकास माना गया है। प्राचीन ग्रन्थों (वेद, गीता, उपनिषद्, ब्रह्म सूत्र, विसुद्धि मग्गो, भगवती आदि) में इस सम्बन्ध में स्फुट विवरण प्राप्त होते हैं। धीरे-धीरे इस पद्धति का पूर्ण विकास हुआ और उत्तरवर्ती समय में ध्यान पर विशिष्ट ग्रन्थ लिखे गये। इनसे पता चलता है कि जैन और बौद्ध पद्धतियाँ योग-दर्शन से पर्याप्त प्रभावित हुई हैं। उन्होंने कालान्तर में योग के अष्टांगों को किसी-न-किसी रूप में समाहित तो किया ही है, उसके पारिभाषिक शब्दों को भी स्वीकार किया है। सारणी ५ में इन तीनों परम्पराओं की मुख्य मान्यताओं का तुलनात्मक संक्षेपण किया गया है। इससे स्पष्ट है कि जैन पद्धति की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, जो अन्य पद्धतियों में निरूपित नहीं हैं, यद्यपि वे आनुषंगिकतः मान्य होनी चाहिए:

(i) ध्यान शुभ और अशुभ—दोनों प्रकार के हो सकते हैं। अन्य पद्धतियों में ध्यान का अर्थ शुभरूप में ही लिया जाता है।

सारणी ५ : विभिन्न पद्धतियों में ध्यान

	योग दर्शन	जैन दर्शन	बौद्ध दर्शन
१. सामान्य नाम	(i) योग	(i) संवर, योग	(i) समाधि, ध्यान
	(ii) ध्यान	ध्यान	विपश्यना
२. घटकता	अष्टांग योग का सातवाँ घटक	सत्तावन प्रकार के संवर के अन्तरंग तप का घटक	अष्टांगमार्गका ७-८वाँ घटक
४. भेद निरूपण एवं समकक्षता	१. यम ५	दशधर्म १०	
	अहिंसा	उत्तम क्षमा, मृदुता, ऋजुता, शौच	सम्यक् दृष्टि, संकल्प
	सत्य	उत्तम सत्य	सम्यक् वचन
	अस्तेय	उत्तम संयम, तप, त्याग	सम्यक् कर्म
	ब्रह्मचर्य	उत्तम ब्रह्मचर्य	सम्यक् व्यायाम, कर्म
	अपरिग्रह	उत्तम अकिंचनता	सम्यक् जीविका
	२. नियम ५		
	शौच	धर्म का चौथा अंग	सम्यक् कर्म
	संतोष	धर्म का चौथा अंग	सम्यक् कर्म
	तप	धर्म का सातवाँ अंग–१२	सम्यक् कर्म
	स्वाध्याय	अंतरंग तप का चौथा रूप	—
	ईश्वर प्रणिधान	—	—
	३. आसन	कायक्लेश, तप का छठा अंग	—
	४. प्राणायाम	कायोत्सर्ग	—
	५. प्रत्याहार	तीन गुप्ति, पाँच समिति, ८	सम्यक् कर्म, सम्यक् स्मृति
	६. धारणा } संयम	ध्यान का रूप	
	७. ध्यान } संयम	ध्यान के ४ भेद	
	८. समाधि } संयम	ध्यान फल, शुक्ल ध्यान	समाधि, बोधि
	(सबीज, निर्बीज)	(अवितर्क, सविचार आदि ४ भेद)	(स-उपाधि, अनुपाधि)
		परीषह जय २२	सम्यक् प्रयत्न
		अनुप्रेक्षा १२	सम्यक् विचार
		सम्यक् चारित्र ५	सम्यक् कर्म
५. ध्याता	सभी व्यक्ति	व्यक्तियों के शरीर, मनोवृत्ति एवं क्षमता पर निर्भर	सभी व्यक्ति
६. ध्येय, आलम्बन	रूपी, रूपातीत	सरूपी, रूपातीत, आंतर, बाह्य	रूपी, रूपातीत
७. कालावधि	अनिर्दिष्ट	गृहस्थों के लिये ४८ मिनट	—
८. ध्यान फल	समाधि, चरम आत्मिकविकास	चरम सुख, विकास	बोधि प्राप्ति

(ii) बुद्ध और पतंजल की तुलना में, जैन ध्यान प्रक्रिया का अभ्यास अधिक कठोर प्रतीत होता है। परीषह-सहन, बारह भावनाओं का अभ्यास, कठिन चारित्र, मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों के नियंत्रण का प्रारम्भ से ही अभ्यास तथा अन्य बातें अन्य पद्धतियों में उतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं।

(iii) अन्य पद्धतियों की तुलना में जैनों के ध्यान-वर्गीकरण की पद्धति अधिक सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण है। यही कारण है कि अष्टांग योग ने सत्तावनी संवर का रूप ले लिया।

(iv) जैन ध्यान पद्धति (प्रशस्त) विश्लेषणात्मक अधिक है। यह बुद्ध की विपश्यना पद्धति से अधिक संगति रखती है।

(v) जैन ध्यान पद्धति आन्तरिक विकास के विभिन्न चरणों पर आधारित है। अन्य पद्धतियों में इन चरणों का कोई संकेत नहीं है।

(vi) आध्यात्मिक दृष्टि से, जैन ध्यान पद्धति कर्मवाद की धारणा पर आधारित है। जैसे-जैसे ध्यान की कोटि उग्र, तीक्ष्ण या सूक्ष्मतर होती जाती है, वैसे ही कर्म-बंध क्षीण होते जाते हैं। इससे शैलेशी तथा अकर्मता की स्थिति प्राप्त होती है। अन्य पद्धतियों में यह आधार भी नहीं है।

ध्यान : लौकिक और अलौकिक सिद्धियाँ

ध्यान की अनेक चरणी प्रक्रिया को अपनाने वाले साधकों का अनुभव है कि जैसे ही वे आसन और प्राणायाम को साध लेते हैं, उन्हें अपने अन्दर असीम शक्ति-सम्पन्नता का अनुभव होता है। ध्येय के प्रति चित्त की स्थिरता के अभ्यास के समय अनेक ऐसी स्थितियाँ आती हैं, जो ध्यान से विचलित करने वाली होती हैं। इन स्थितियों से पार पाकर जब साधक स्थिर ध्यानी हो जाता है, तो उसकी अन्तःशक्ति की वृद्धि से साधक में अनेक लक्षण प्रकट होते हैं, जो असामान्य या अति-मानवीय प्रतीत होते हैं। ये लक्षण ही लब्धि, सिद्धि, ऋद्धि या विभूति कहलाते हैं। ये ध्यान से संचित अन्तः-शक्ति के व्यक्त प्रकटन मात्र हैं, जो उसके माहात्म्य को प्रकट करते हैं। आतिशी शीशे से सूर्य-किरणों की ऊर्जा के कागज पर संकेन्द्रण से जैसे कागज जल जाता है, उसी प्रकार इस आत्मिक शक्ति के विभिन्न उद्देश्यों हेतु संकेन्द्रण करने पर अनेक अनुरूपी प्रभाव उत्पन्न होते हैं।

योग और ध्यान की सभी पद्धतियों में साधक के ऐसे अनेक लक्षणों का उल्लेख है। जैन शास्त्रों में भी इन लक्षणों की विविधता एवं वर्गीकरण पाया जाता है। इसीलिये जहाँ भगवती सूत्र में केवल दस लब्धियाँ (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, इन्द्रिय और चारित्रा-चारित्र) बताई गई हैं, वहीं त्रिलोक प्रज्ञप्ति में आठ कोटि की ६४ लब्धियाँ बताई गई हैं। विद्यानुवाद तो ४८ लब्धियों का ही निरूपण करता है। इनका वर्णन धवला भाग ४ (४४), मंत्रराज रहस्य (५०), आवश्यक निर्युक्ति (२८) तथा प्रवचनसारोद्धार (२८) में भी है। भगवती आराधना में भी इनका कुछ वर्णन है। ज्ञानार्णव में वायुजय से परकाया प्रवेश के साथ मंत्र-जप-ध्यान से अतीन्द्रिय ज्ञान, विक्रिया लब्धि, ज्योतिर्मयता, देववशित्व, श्रुतज्ञता, बोधिज्ञान आदि लब्धियों का उल्लेख है। इन सभी ऋद्धियों के विषय में जैनों की यही मान्यता है कि "ते समाधौ उपसर्गाः, व्युत्थाने सिद्धयः।" अतः आत्मिक विकास की दृष्टि से ये ध्यान के आनुषंगिक फल हैं, मुख्य नहीं। ये फल माहात्म्य की दृष्टि से एवं कुतूहल की दृष्टि से प्रकट किये जाते हैं। यह ठीक उसी प्रकार समझना चाहिये जैसे गेहूँ की मुख्य फसल के साथ आनुषंगिक रूप से प्याल भी मिलता है। प्याल के समान सिद्धियाँ भी ऐहिक जीवन के लिये उपयोगी हैं। इनसे यह पता चलता है कि ध्यान ठीक दिशा में चल रहा है। जैन शास्त्र यह मानते हैं कि उत्तम ध्यानावस्था हेतु ये सिद्धियाँ उपेक्षणीय हैं। इसीलिये सिद्धि मात्र के लिये किया जाने वाला ध्यान, सैद्धान्तिक दृष्टि से दुर्ध्यान कहा जाता है।

त्रिलोक प्रज्ञप्ति में ध्यान से प्राप्त होने वाली आठ कोटि की ६४ लब्धियों का संक्षेपण निम्न है :

१. बुद्धि/ज्ञान लब्धि	१८	अवधि ज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान, केवल ज्ञान, दश-चतुर्दश पूर्वित्व, बीज बुद्धि, कोष्ठ बुद्धि, पदानुसारिणी (प्रतिसारणी व उभय सारणी) बुद्धि, संभिन्न श्रोतृत्व, दूरास्वादित्व, दूरस्पर्शित्व, दूरदर्शित्व, दूर-श्रवणत्व, दूरघ्राणत्व, निमित्त (नभ निमित्त, भौम निमित्त, अंग विद्या—स्वर, व्यंजन, लक्षण, चिह्न, स्वप्न विद्यायें), प्रज्ञाश्रमण, प्रत्येक बुद्धि, वाद विद्या।
२. विक्रिया लब्धि	१०	अणिमा, महिमा, गरिमा, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्ध्यान, कामरूपित्व, लघिमा।
३. क्रिया लब्धि	१० + ३	आकाश गामिनी क्रिया, जल-वायु-मेघ-ज्योति आदि चारण क्रियायें (१२)।
४. तप लब्धि	७	उग्र, दीप्त, तप्त, महा, घोर, घोर पराक्रम, अघोर ब्रह्मचारित्व।
५. बल लब्धि	३	मनोबल, वचन बल, कायबल।
६. क्षेत्र लब्धि	२	अक्षीण महानसिक, अक्षीण महालय।
७. रस लब्धि	६	आशी विष, दृष्टि विष, क्षीरस्रवी, मधुस्रवी, अमृतस्रवी, सर्पिस्रवी।
८. औषध लब्धि	८	आमर्श, क्षेल, जल्ल, मल, विडौषधि, सर्वौषधि, मुखनिर्विष, दृष्टिनिर्विष।
	६४	

अन्य ग्रन्थों में इन्हीं कोटियों का संक्षेपण या विस्तार मात्र है। योग दर्शन में भी विभिन्न प्राणायामों एवं संयमों से अनेक लब्धियों का उल्लेख है। पर जैनों के विवरण की तुलना में यह बहुत कम है। फिर भी, संक्षेप में वहाँ सिद्धियों के पाँच स्रोत बताये गये हैं—जन्म (संस्कार), औषध, मन्त्र, तप और समाधि। बौद्धों ने भी लौकिक-लोकोत्तर लब्धियों के कुछ नाम दिये हैं।

उपसंहार

ध्यान-सम्बन्धी शास्त्रीय विवरण के तुलनात्मक संक्षेपण से यह स्पष्ट है कि जहाँ आगमकाल में यह शारीरिक एवं मानसिक तत्वों को प्रभावित करनेवाला माना जाता था, वहीं ईसोत्तर सदियों में यह केवल मानसिक एवं आत्म-परक हो गया। समय के प्रभाव से इस विवरण में योग के तत्व पुनः समाहित हुए जिससे यह पुनः त्रिरूपात्मक हो गया। इससे इसकी व्यापकता बढ़ी है। यद्यपि सभी पद्धतियाँ ध्यान का चरम लक्ष्य एक ही मानती हैं, पर इह-जीवन से सम्बन्धित लक्ष्यों में विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं में विविधता पाई जाती है।

ध्यान के शारीरिक एवं मानसिक प्रभावों के विषय में आचार्यों ने अनेक अनुभव और निरीक्षण व्यक्त किये हैं। इन पर अब भारत और विश्व के अनेक देशों में वैज्ञानिक शोध की जा रही है। यह प्रसन्नता की बात है कि अधिकांश लौकिक शास्त्रीय विवरण इस पद्धति से न केवल पुष्ट ही हुए है अपितु शरीर विज्ञान, रसायन, मनोविज्ञान एवं चिकित्सा विज्ञान के अध्येताओं ने इन विवरणों की अपने निरीक्षणों द्वारा सफल एवं प्रयोगसिद्ध व्याख्या की है। यही नहीं, अनेक निरीक्षणों से हमारे ध्यान-सम्बन्धी प्रक्रियाओं के ज्ञान में और भी तीक्ष्णता, यथार्थता और सूक्ष्मता आई है। यही कारण है कि इस युग में योग और ध्यान की प्रक्रिया हेतु अधिकारियों पर लगे प्रतिबन्ध शनैः शनैः स्वयं समाप्त होते जा रहे हैं और यह प्रत्येक व्यक्ति के दैनंदिन जीवन का एक अंग बनता जा रहा है। इससे ध्यान के कुछ अलौकिक प्रभावों पर भी आस्था बढ़ रही है।

निर्देश ग्रन्थ

१. टाटिया, डा० नथमल : **जैन मेडिटेशन, चित्त समाधि,** जैन विश्वभारती, लाडनूं, १९८६
२. दिगे, डा० ए० बी० : **जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन,** पा० वि०, काशी, १९८१
३. क्षु० जैनेन्द्र वर्णी : **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष**-२, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८६
४. आचार्य, यतिवृषभ : **त्रिलोक प्रज्ञप्ति–१,** जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९५६
५. पतंजल ऋषि : **पातंजल योग सूत्र,** भारतीय विद्या प्रकाशन, काशी, १९७९
६. नेमीचन्द्र जैन (सं०) : **तीर्थंकर, साधुमार्ग विशेषांक,** १७, ५-६ १९८७
७. आ० उमास्वामि : **तत्वार्थ सूत्र,** वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १९५५
८. आ० पूज्यपाद : **सर्वार्थसिद्धि,** भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७१
९. भट्ट अकलंक : **तत्त्वार्थ राजवार्तिक**--२, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९५७
१०. आचार्य, शुभचन्द्र : **ज्ञानार्णव,** जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९७७
११. आचार्य, शिवार्य : **भगवती आराधना,** वही, शोलापुर, १९७८
१२. आचार्य, वट्टकेर : **मूलाचार,** माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२२
१३. स्वामी, सुधर्मा : **भगवती सूत्र,** श्वे० स्था० शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६१
१४. आचार्य, कुन्दकुन्द : **प्रवचनसार**, पाटनी ग्रन्थमाला, मारोठ; १९५०
१५. आचार्य, कुन्दकुन्द : (१) **नियमसार** (२) **समयसार,** अजिताश्रम, लखनऊ, १९३०–३१
१६. आचार्य, भीखण जी : **नवपदार्थ,** श्वे० ते० महा सभा, कलकत्ता, १९६१
१७. युवाचार्य, महाप्रज्ञ : **प्रेक्षाध्यान का यात्रा-पथ,** जैन विश्व भारती, लाडनूं, १९८४
१८. समणी, स्मित प्रज्ञा : **तुलसी प्रज्ञा,** ११, ५, १९८५
१९. — **उत्तराध्ययन,** सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७२
२०. सुधर्मा स्वामी : **आचारांग,** आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०
२१. सुधर्मा स्वामी : **सूत्रकृतांग,** वही,
२२. सुधर्मा स्वामी : **स्थानांग,** वही,
२३. सत्यानन्द सरस्वती (सं०) : **योग विद्या** के अनेक अंक
२४. आचार्य, शय्यंभव : **दशवैकालिक,** जैन विश्वभारती, लाडनूं, १९८४
२५. सुधर्मा, स्वामी : **समवायांग,** आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८३
२६. सेन, मधु, डा० : **कल्चरल स्टडी आव निशीथ चूर्णि,** पा०, वि०, काशी, १९७५
२७. समन्तभद्र, आचार्य : **स्वयम्भू स्तोत्र,** निर्देश, १ पेज १३
२८. रामसेन, आचार्य : **तत्त्वानुशासन,** वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९६३
२९. आचार्य हेमचन्द्र : **योगशास्त्र,** ऋषि० एस० जैन ग्रन्थमाला, सूरत, १९३८
३०. बुद्ध घोष : **विसुद्धि मग्ग,** भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४०
३१. कुमार कवि **आत्मप्रबोध**, सिंघई धन्यकुमार, कटनी, १९८८

●

ध्यान का वैज्ञानिक विवेचन

डा० ए० कुमार, एम० डी० (मेडीसिन)

मंडला, (म० प्र०)

भारतीय पद्धति में ध्यान आध्यात्मिक विकास की एक सर्वमान्य प्रक्रिया है। विभिन्न दर्शनों में इसे विविध नाम-रूपों से निरूपित किया गया है। "ध्यै" संप्रसारण या प्रवाह से यह प्रकट होता है कि इसका एक ध्येय तो शरीर-तन्त्र में प्राणों के, वायु के, प्राणशक्ति के प्रवाह की तीक्ष्णता एवं एकतानता है। इसके अनेक लाभ शास्त्रों में वर्णित हैं। ये मानसिक एवं आध्यात्मिक कोटि के माने जाते हैं। वस्तुतः मन या मस्तिष्क, (जिसे जैन द्रव्यमन कहते हैं) शरीर का ही एक घटक है। यह सुज्ञात है कि शरीर तथा मन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अतः शरीर प्रभावी प्रक्रियाएँ मन को स्वतः प्रभावित कर उसकी वृत्तियों में परिवर्तन उत्पन्न करती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने मानसिक वृत्तियों के कारण, उन्हें विकसित करने या सुधारने के उपाय तथा मानसिक विकृतियों को दूर करने की प्रक्रियाएँ विकसित की हैं। फिर भी, प्राच्य योगी यही मानते हैं कि ध्यान योग वहीं से प्रारम्भ होता है, जहां मनोविज्ञान का अन्त होता है। यह ठीक वैसे ही है, जैसे धार्मिक जन यह मानते हैं कि धर्म वहीं से प्रारम्भ होता है, जहां विज्ञान के क्षेत्र का अन्त होता है। विज्ञान एवं मनोविज्ञान के लाभों को स्वीकार करते हुए भी इन दोनों के क्षेत्रान्त एवं धर्म-क्षेत्र/ध्यान-क्षेत्र के प्रारम्भ के बीच इनको सम्पर्कित करने वाली कोई कड़ी होती है, ऐसा नहीं लगता। दोनों का उद्देश्य परिवर्तित हो जाता है—लौकिक से लोकोत्तर, दृश्य से अदृश्य और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर। अतः, सम्भवतः, सम्पर्क कड़ी का प्रश्न ही नहीं उठता।

वर्तमान युग में भारतीय योगियों की यह मान्यता है कि ध्यान की एकाग्रता मनोवृत्तियों के नियंत्रण, रूपान्तरण एवं समभाव के लिये अधिक उपयोगी है। उनके अनुसार, ध्यान केवल मानसिक या आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया मात्र नहीं है, यह शरीर-तंत्र के शोधन एवं मार्गान्तरीकरण की प्रक्रिया भी है। अतः ध्यान शरीर, मन और भावनाएँ तथा अध्यात्म-तीनों दिशाओं में लाभकारी है। इसका प्रभाव शरीर से प्रारम्भ होता है और आत्म-विजय तक जाता है। अतः आज का योगी केवल वानप्रस्थों, संन्यासियों, साधुओं या साधकों को ही ध्यान का अधिकारी नहीं मानता, वह तो बच्चों से लेकर बुजुर्गों तक के लिये ध्यान के अभ्यास की प्रेरणा देता है। उसका तो यह भी कथन है कि अस्सी वर्ष से अधिक उम्र वालों के लिये ध्यान ही एकमात्र औषध है। वह ध्यान को हलुवे में चीनी, सब्जी में नमक एवं छोले में मसाले के समान जीवन को परिपूर्ण एवं सुखी बनाने का उत्तम उपाय मानता है। वह मानता है कि बीसवीं सदी की निरन्तर तनावपूर्णता से त्राण पाने एवं नीतिपूर्ण जीवन बिताने के लिये ध्यान-योग ही एक उपाय है। जो काम औषधियाँ नहीं कर सकतीं, वह ध्यान करता है।

ध्यान की यह उपयोगिता उसकी व्यापक परिभाषा पर निर्भर है। इसके अन्तर्गत आसन, प्राणायाम तथा एकाग्रता के अभ्यास समाहित हैं। जैनों ने आसनों को तो महत्व दिया है, पर प्राणायाम को गौण माना है। इस मत में संशोधन होना चाहिये। विभिन्न प्राणायाम शारीरिक होते हुए भी शरीर-शुद्धि एवं मस्तिष्क-शुद्धि कर उसे ध्यानाभिमुखी बनाते हैं। यही अन्तःशक्ति के प्रस्फुटन का स्रोत है।

ध्यान के शास्त्रीय लाभों को सामान्य-जन तक पहुँचाने के लिये अनेक सन्यासियों एवं संस्थाओं द्वारा प्रयास किये जा रहे हैं। भारत में अनेक स्थानों पर (बम्बई, लोनावला, मुंगेर आदि) ध्यान की प्रक्रिया और प्रभावों पर

आधुनिक दृष्टि से अनुसंधान किये जा रहे हैं। ब्रिटेन, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, फ्रांस, जर्मनी आदि अनेक पाश्चात्य देश भी इस दिशा में भारतीयों के सहयोग से काम कर रहे हैं। लोनावला के करमबेलकर और घारोटे, मुंगेर के स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, मेनिंजर संस्थान, अमेरिका के स्वामी राम, सत्यानन्द आश्रम, गोस्फोर्ड (आस्ट्रेलिया) के चिकित्सा-शास्त्री सन्यासी स्वामी शंकरदेवानन्द और कर्मानन्द सरस्वती तथा आचार्य तुलसी व उनके शिष्य साधु-साध्वीगण इस क्षेत्र में महनीय कार्य कर रहे हैं। महर्षि महेश योगी, स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती, आचार्य रजनीश तथा ब्रह्म-कुमारियों ने भी ध्यान के विशिष्ट रूपों को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। इन सभी के कार्यों से भारत के साथ विश्व के अनेक भागों में ध्यान के प्रति जागरुकता बढ़ी है। यह मन्तव्य इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि अकेले स्वामी सत्यानन्द द्वारा संचालित योग-प्रचार-कार्य में सत्तर हजार से अधिक वेतनभोगी योग-शिक्षक विश्व के कोने-कोने में लगे हुए हैं। इनकी योग प्रक्रिया का लाभ जेल के कैदियों, स्कूलों के बच्चों, अपराधियों तथा तनावपूर्ण वातावरण के कारण उत्पन्न रोगों के शिकार अनेक व्यक्तियों को मिल रहा है। इस कार्य में विदेशियों का योगदान सर्वाधिक है। स्वामी सत्यानन्द को इस बात का कष्ट है कि जो भारत ध्यान-विद्या का जन्मदाता माना जाता है, वह इस कार्य में बहुत पीछे है। यही नहीं, स्विट्जरलैंड, इटली तथा फ्रांस आदि देशों में ध्यान-योग को स्कूलों के नियमित पाठ्यक्रम में समाहित किया जा रहा है। भारत में भी कुछ योग-शिक्षण केन्द्र खुले हैं, पर वे इतने लोकप्रिय नहीं हो पा रहे हैं। इसका एक ताजा उदाहरण शारीरिक शिक्षा संस्थान, ग्वालियर का है, जहाँ योग शिक्षकों को शरीर शिक्षा के क्षेत्र में मान्यता तो क्या, प्रशिक्षण तक देना खतरनाक माना जाता है। आचार्य तुलसी भी प्रेक्षा-ध्यान के माध्यम से कैदियों, विद्यार्थियों एवं जन-साधारण को इस दिशा में प्रेरित कर रहे हैं। देश में ध्यान-शिविरों की वर्तमान संख्या भारत में इसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता का प्रतीक है।

वर्तमान में ध्यान-योग का प्रचार भारत की लुप्त या प्रसुप्त संस्कृति का प्रतीक है। महाप्रज्ञ ने बताया है कि कुछ आचार्यों ने काल और परिस्थिति का नाम लेकर ध्यान से लौकिक और अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति का निषेध कर दिया (ये सिद्धियाँ वैसे भी आनुषंगिक मानी जाती हैं) और अनेक विच्छेद बताकर ध्यानमार्ग में अवरोध उत्पन्न कर दिया। इससे सदियों तक ध्यान-मार्ग कुण्ठित हो गया। लोग अध्याम मार्ग के बदले व्यवहार मार्ग और लोकसंग्रह की ओर मुड़ गये। लगता है, अब युग परिवर्तित हो रहा है। यह शुभ लक्षण है।

ध्यान की आधुनिक परिभाषा

योगियों ने ध्यान के विषय में कुछ भी कहा हो, पर ध्यान के वस्तुतः तीन आयाम हैं—शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। ये तीनों ही धर्म, भाषा और राजनीति से परे हैं। ध्यान का प्रथम प्रभाव शरीर-तन्त्र पर पड़ता है, रक्तचाप, हृदय, ग्रन्थियों और भावनाओं पर पड़ता है। यह उत्तरोत्तर शरीर, मन और अन्तश्चेतना को ऊर्ध्वमुखी बनाता है। अन्य शारीरिक क्रियाओं के समान ध्यान से भी मस्तिष्क की तरंगों में परिवर्तन होता है। ध्यान के अभ्यास से इन तरंगों की प्रकृति, परिमाण एवं तीव्रता में परिवर्तन होता है। अतः यह मन को विश्रान्त एवं स्थिर करने की प्रक्रिया है। इससे इन्द्रियाँ भी स्वतः नियन्त्रित हो जाती हैं। ध्यान के अभ्यास से शरीरस्थ अनेक चक्र और मेरुदण्ड में जागरण होता है। इससे हमारी अन्तःशक्ति में वृद्धि होती है। ध्यानयोग व्यक्तित्व के निर्माण की विद्या है। यह एटम-बम के समान विनाश नहीं करती। यह आत्म-बम है, यह शक्ति-संचय की विद्या है। यह तामसिक वृत्ति को नष्ट कर राजसिक एवं सात्विक वृत्ति को उत्तरोत्तर विकसित करती है।

ध्यान शरीर और मन—दोनों को शक्तिशाली बनाता है। हमारी बीमारी की उत्पत्ति प्रथमतः हमारे मन में होती है। ध्यान मन की वासनाओं, अवरोधों व संस्कारों को दूर कर चेतना जागृत करता है। इससे व्यक्ति में रोगप्रतीकार क्षमता बढ़ती है। ध्यान और प्राण विद्या शरीर में उच्च ऊर्जा स्तर बनाने में सहायक होते हैं। हमारे

भौतिक शरीर के लिये विश्राम, उत्सर्जन, आहार, सफाई एवं नियंत्रण की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार मन के लिये भी संस्कार, उथल-पुथल एवं तनाव आदि को निकालने की आवश्यकता होती है। ध्यान मन का प्रक्षालन करता है। यह मन के लिये जुलाब का काम करता है। तत्पश्चात् यह मन की सुप्त क्षमताओं की जागृत करता है।

ध्यान केवल बाह्य विषयों, दृश्यों से मन को हटाने की प्रक्रिया मात्र नहीं है। यह इष्ट या लक्ष्य के प्रति जागृति एवं आन्तरिक सम्बन्ध बढ़ाने की भी साधना है। जब मन किसी वस्तु पर केन्द्रित होता है, तब ध्यान प्रारम्भ होता है। वस्तुतः जब हम कोई भी काम करते हैं—नौकरी, अध्ययन, समाजसेवा आदि, उस समय काम पर ही चित्त केन्द्रित रहता है। यह ध्यान का ही लौकिक रूप है। एक ईमानदार कर्मचारी अच्छा ध्यानयोगी माना जा सकता है। यह केन्द्रीकरण अभ्यास से ही सम्भव है, उतावलेपन से नहीं।

ध्यानयोग से मनःशुद्धि होने पर हमारी अन्तश्चेतना का रूपान्तरण और विकास होता है। यह बाहर से उतना प्रत्यक्ष नहीं हो पाता जितना अन्दर से अनुभव में आता है। दूध के दही में रूपान्तरित होने के समान विचार, भावनाएँ, इच्छाएँ, आवेग, उत्कण्ठा आदि ध्यान से रूपान्तरित होकर अन्तःशक्ति उत्पन्न करते हैं। वस्तुतः हमारा मन शैतान का ही घर नहीं है, शक्ति का भण्डार भी है। ध्यानयोग से मन की शक्ति के सार्थक उपयोग की दिशा मिलती है और जीवन आनन्दित होता है।

ध्यान का वैज्ञानिक अध्ययन

भारतीय मनीषियों ने हमें ध्यन के सम्बन्ध में दो प्रकार की जानकारी दी है: (१) ध्यान क्या है और कैसे किया जाता है? (२) इससे क्या लाभ होता है? प्रथम जानकारी विज्ञान की त्रि-चरणी (प्रयोग, निरीक्षण, निष्कर्ष) पद्धति में प्रथम चरण है। द्वितीय जानकारी निरीक्षण और निष्कर्ष का सम्मिलित रूप है। इस जानकारी में अनुभूति की सूक्ष्मता तो है, लेकिन प्रायोगिक परिणामों पर आधारित निष्कर्षों की व्याख्यापरक सूक्ष्मता और तीक्ष्णता नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण 'अचरजकारी क्यों' पर आधारित है। प्राचीन सन्तों ने आज के जिज्ञासु मस्तिष्क के लिये ध्यान का 'क्यों' समझने के लिये सामग्री नहीं दी है। यह उस समय सम्भव भी नहीं थी क्योंकि शरीर-तन्त्र एवं मस्तिष्क के अन्तर्दर्शन, क्रियाविधि-ज्ञान, भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तन एवं रूपान्तरणों का आन्तरिक ज्ञान आज जैसा प्रयोग-सुलभ नहीं था। सब कुछ अनुभूति-गम्य था। उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के वैज्ञानिक यन्त्रों व प्रविधियों के आविष्कारों ने हमें शरीर रचना, शरीरान्तः-क्रिया विज्ञान एवं मस्तिष्क के विषय में पर्याप्त जानकारी दी है। इससे ध्यान की रहस्यमयता की धारणा का स्पष्टीकरण हो जाता है और उसके व्यापक प्रचार के लिये समर्थन एवं प्रेरणा भी मिलती है।

ध्यान करनेवाले व्यक्तियों के शरीर की अन्तःक्रियाओं एवं घटकों पर होने वाले प्रभावों एवं परिवर्तनों के वैज्ञानिक निरीक्षण एवं व्याख्या हमें उस कड़ी की ओर संकेत देते हैं जो हमारे शास्त्रों में नहीं है। यह कड़ी ध्यान के निरीक्षित लाभों की व्याख्या करती है और आज के जिज्ञासु शिक्षित का शंका-समाधान करती है। ये परिणाम उन्हें ध्यानी बनने के लिये प्रेरक भी हैं।

ध्यान से सम्बन्धित अनुसन्धानों में अनेक उपकरण एवं रासायनिक विधियों का उपयोग किया जाता है। इनमें से निम्न मुख्य है:

(i) तौलने वाली मशीन : ध्याता के भार में परिवर्तन।
(ii) इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम तथा एक्स-किरण द्वारा हृदय का परीक्षण।
(iii) रक्तचापमापी या दाबमापी यन्त्र से रक्तचाप का मापन।
(iv) किरिलियन फोटोग्राफी से शरीर-परिवेशी आभामण्डल का अध्ययन।

(v) त्वचावरोधमापी से त्वचावरोध मापना।

(vi) बायो-फीड-बैक यन्त्र से परीक्षण।

(vii) इलेक्ट्रो-एन्सेफिलोग्राफ द्वारा परीक्षण।

(viii) मैग्नेटिक-रेजोनेन्स-इमेज उपकरण।

(ix) मल, मूत्र एवं रक्त का रासायनिक विश्लेषण।

इन उपकरणों की विविधता से यह स्पष्ट है कि ध्यान-सम्बन्धी शोध एक सामूहिक उपक्रम है।

भारत में ध्यान-शोध का प्रारम्भ १९१० में हुआ था। डा० आनन्द, डा० गोपाल (पाण्डुचेरी), डा० लक्ष्मीकान्तन (मद्रास), स्वामी कैवल्यानन्द (पुणे) आदि इस शोध के अग्रणी थे। अब तो अनेक केन्द्रों पर अगणित व्यक्ति इस दिशा में शोध कर रहे हैं।

शरीर-तन्त्र की रचना

ध्यान शरीर तथा मन-दोनों को प्रभावित करता है। अतः यह आवश्यक है कि हम इन दोनों घटकों के विषय में संक्षिप्त जानकारी रखें। भारतीय शास्त्रों में शरीर-तन्त्र को अष्टांगी (२ पैर, २ हाथ, वक्ष, पेट, पीठ और शिर) बताया गया है। ये सभी दृश्य अवयव हैं। इन अंगों के भीतरी रूपों को भी अस्थि, स्नायु, शिरा, मांसपेशी, त्वचा, आंत्र, मल, गर्भस्थान, नख, दन्त तथा मस्तिष्क के माध्यम से नामांकित किया गया है। यही नहीं, वहाँ वात, पित्त, कफ, मस्तिष्क, मेद, मल, मूत्र, वीर्य एवं वसा के परिमाणों को भी बताया गया है। आधुनिक शरीर-विज्ञानियों ने भी शरीर के वाह्याभ्यंतर संरचन का सूक्ष्म अध्ययन किया है। तुलना की दृष्टि से, अस्थियों एवं नाड़ियों की संख्या के शास्त्रीय विवरण इनके वर्णनों से मेल नहीं खाते। साथ ही, रक्त, वीर्यादि शरीर स्रावों की शास्त्रीय परिमाणात्मकता भी पर्याप्त भिन्न है। फिर भी, इनके विषय में निरीक्षण और परिमाणात्मकता की चर्चा हमारे आचार्यों की विचार एवं मेधाशक्ति की ओर तो संकेत करती ही है।

आधुनिक शरीर-शास्त्री सम्पूर्ण शरीर-तन्त्र को दो आधारों पर विभाजित करते हैं—(i) स्थूल और (ii) शरीर-क्रियाएँ। स्थूल शरीर तो ये भी प्रायः अष्टांगी ही मानते हैं। शरीर-क्रियात्मक दृष्टि से, वे इसे नौ तन्त्रों में विभाजित करते हैं। इसके अन्तर्गत (i) अस्थि तन्त्र (ii) श्वसन तन्त्र (iii) उत्सर्जन तन्त्र और (iv) प्रजनन तन्त्र बाह्य रूप से निरीक्षित किये जा सकते हैं। पर (v) पेशीय (vi) पाचन (vii) रक्तपरिसञ्चरण (viii) स्नायविक तथा (ix) ग्रन्थि तन्त्र अन्तःशरीर में ही दृष्टिगोचर होते हैं। इस विभाजन का मूल आधार शरीर में होने वाली विभिन्न प्रकार की भौतिक या रासायनिक क्रियाएँ हैं। इन्हें समग्रतः जीव रासायनिक क्रियायें कहा जाता है।

मानव जीवन को स्वस्थ व सुखी बनाने के लिये सामान्यतः शरीर के सभी तन्त्र एक-समान उपयोगी होते हैं। वे आदर्श प्रजातन्त्रीय रूप से एक-दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप किये बिना अविरत रूप से अन्य तन्त्रों का सहयोग देते रहते हैं। आत्मशक्ति के विकास में स्नायुतन्त्र तथा ग्रन्थितन्त्र महत्वपूर्ण हैं। ये दोनों ही तन्त्र मस्तिष्क में मुख्यतः और शरीर के अन्य अवयवों में सामान्यतः होते हैं।

स्नायविक तन्त्र दो प्रकार का होता है—स्वायत्त और केन्द्रीय। स्वायत्त स्नायुतन्त्र बहिर्वाही न्यूरानों का बना होता है जो आमाशय, आँत, हृदय, मूत्राशय एवं रक्तवाहिकाओं को पेशियाँ प्रदान करते हैं। ये यकृत एवं अग्न्याशय को भी प्रेरित करते हैं। यह अनुकम्पी एवं परानुकंपी कोटि का तन्त्र होता है और जीवन मशीन चलाने के लिए एक्सेलरेटर और ब्रेक का काम करता है। इनका कार्य उत्तेजना और शिथिलीकरण है। इनके इस कार्य से तन्त्र में संतुलन बना रहता है।

शरीर-तन्त्र में दो प्रकार की ग्रन्थियाँ होती हैं—अन्तःस्रावी और बहिःस्रावी। अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ शरीर के विभिन्न स्थानों पर होती है और उनके स्राव भोजन से प्राप्त पदार्थों से बनते हैं और सीधे ही रक्त में मिलकर शरीर तन्त्र में पहुंचते हैं। यह स्पष्ट है कि इन स्रावों का उचित मात्रा में निर्माण हमारे भोजन की पोषकता पर निर्भर करता है। कुछ अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के नाम कार्य व स्राव सारणी १ में दिये जा रहे हैं। प्रयोगों से यह पाया गया है कि यदि इन ग्रन्थियों को तन्त्र से काटकर अलग कर दिया जावे, तो उनसे सम्बन्धित क्रियाओं में मंदता एवं अवरोध आ जाता है।

सारणी १ : अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के विवरण

ग्रन्थि	स्थान	कार्य	स्राव
१. पीनियल पीयूषिका	मस्तिष्क	बाल्यावस्था को नियन्त्रित करना।	—
२. पिट्यूटरी, पीयूष	मस्तिष्क	सभी ग्रन्थियों का नियन्त्रण, आवेग या भावनात्मक नियन्त्रण, स्वायत्त स्नायु-तन्त्र।	छह होर्मोन स्रवित होते हैं : वृद्धि होर्मोन, एफ० एस० एच०, गोनड होर्मोन, ऑक्सीटोसिन, थायरो ट्रोपिक, एड्रीनोकोर्टिकोट्रोपिक।
३. ऐड्रीनल	वृक्क/किडनी	क्रोध, भय, उत्तेजना एवं स्वायत्त स्नायु तन्त्र का नियन्त्रण।	एड्रेनलीन, नोर-एडेनलीन, यौन होर्मोन।
४. थायरॉयड	गर्दन	चयापचय प्रेरक।	थायरोक्सीन, पेराथायरोक्सीन।
५. पेराथायरॉयड ग्रन्थि	,,	उत्तेजनशीलता, कैल्सियम नियंत्रक।	इंस्युलिन।
६. अग्न्याशय ग्रन्थियाँ	उदर	पाचन, कार्बोहाइड्रेटादि चयापचय।	बहिःस्रावी अग्न्याशयी रस।
७. प्रजनन ग्रन्थियाँ	जनन तन्त्र	शुक्राणु निर्माण, अंडाणु निर्माण।	(i) टेस्टोस्टेरोन। (ii) ऐस्ट्रोजन, प्रोजेस्टेरोन।

सामान्यतः ग्रन्थियों के स्रावों की मात्रा स्वयं नियन्त्रित होती रहती है। फिर भी, इन स्रावों को रासायनिक उद्दीपकों की सहायता से न्यूनाधिक किया जा सकता है। ये उद्दीपक भी प्रायः अंतःस्रावी होते हैं।

ये अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ वाहिनीहीन कहलाती हैं। इनके विपर्यास में लार, अश्रु, यकृत आदि कुछ ग्रन्थियाँ होती हैं जिनके स्राव विभिन्न वाहिनियों द्वारा शरीर-तन्त्र में पहुँचते है। ध्यान प्रक्रिया में इन ग्रन्थियों का उतना महत्व नहीं होता जितना सारणी १ में दी गई ग्रन्थियों का होता है। यह पाया गया है कि शरीर तन्त्र की शरीर-क्रियाओं एवं मस्तिष्क यथा भावनात्मक प्रक्रियाओं के समवेत रूप में सम्पन्न होने के लिये इन स्रावों का समुचित मात्रा में उत्पन्न होते रहना तथा स्नायु तन्त्र का सामान्य बने रहना अत्यावश्यक है।

मानव-मस्तिष्क का आधुनिक विवरण

मस्तिष्क प्राणियों की बुद्धि, व्यवहार, क्रियाओं एवं प्रतिभाओं का संचालन एवं नियन्त्रण करता है। मानव मस्तिष्क प्राणियों में सर्वाधिक विकसित होता है। जैन शास्त्रों में शरीर के अंगों के रूप में सिर तथा उसके अन्तर्घटक के रूप में मस्तिष्क का नामोल्लेख मात्र आता है। उसमें विकृति के कारण मूर्च्छा, पागलपन आदि रोग होते हैं। उसकी निर्मलता से जाति स्मरण और अन्तः प्रतिभा प्रसूत होती है। इसका प्रमाण एक अंजुलि (दोनों हथेलियों को मिलाने से बनने वाला संपुट, जिसमें लगभग १२५ ग्राम जल आता है) बताया गया है। इस विवरण को तुलना में आज के शरीर-

शास्त्री के मस्तिष्क का विवरण अत्यन्त विस्तृत एवं सूक्ष्म है। मस्तिष्क की रचना और उसके घटकों के विशिष्ट कार्यों के अध्ययन में रंजन तकनीक, इलैक्ट्रान माइक्रोस्कोप तथा जीव-रासायनिक पद्धतियों से बड़ी सहायता मिली है। इससे हमें मस्तिष्क के अंगरंग का पूर्णतः तो नहीं, पर पर्याप्त ज्ञान हुआ है। इस ज्ञान से हम अनेक निरीक्षणों की तर्कसंगत व्याख्या कर सकते हैं।

शरीर तन्त्र में मस्तिष्क और मेरुदण्ड (सुषुम्ना) केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र के महत्वपूर्ण घटक हैं। ये मकान के बिजली के स्विचबोर्ड के समान हमारे तन्त्र को समन्वित, संचालित, नियन्त्रित एवं विकसित करते हैं। शास्त्रों में मन के तीन भेद बताये गये हैं—चेतन (विचार, क्रिया), अर्धचेतन (स्वप्नादि) और अचेतन या आन्तरिक (शून्यता)। ये भेद उसके सूक्ष्मतर रूपों को व्यक्त करते हैं। शरीर-शास्त्री केवल चेतन मन की बात करता है।

सामान्यतः मस्तिष्क हमारे कपालकोटर में भ्रकुटी के पीछे से सिर के पिछले भाग तक फैला रहता है। यह एक जटिलतम तन्त्र है। इसका भार १२–१५०० ग्राम होता है और आयतन १.२–१.५ लीटर होता है। सामान्यतः मस्तिष्क के पाँच भाग होते हैं जिनमें प्रमस्तिष्क (मुख्य भाग), अनुमस्तिष्क व मध्यमस्तिष्क मुख्य होते हैं। प्रत्येक भाग में सतन्तुक न्यूरान कोशिकायें और उनके गुच्छक-स्नायु या तन्त्रिकायें होती हैं। इसकी कोशिकाओं की कुल संख्या १३० करोड़ से अधिक होती है। इनका विस्तार एक सेमी० के दस हजारवें भाग $१०^{-४}$ के बराबर होता है। प्रत्येक कोशिका लगभग पाँच लाख सम्पर्क स्थापित कर सकती है। प्रत्येक कोशिका में संवेदन या उत्तेजन के आने एवं उनके प्रेषण-नियन्त्रण की पृथक्-पृथक् व्यवस्था रहती है। अनुमस्तिष्क या मध्यमस्तिष्क तो मस्तिष्क के मुख्य भाग के कार्य में सहायक होते हैं। मस्तिष्क में सारणी १ के अनुसार ग्रन्थियाँ भी होती हैं जिनके स्रावों से मन और शरीर पुष्ट और नियन्त्रित होता है। (चित्र : १)।

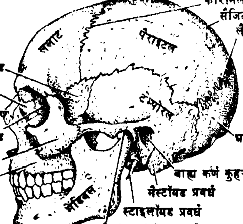

मस्तिष्क का मुख्य भाग दूर से देखने पर धूसर दिखता है और इसके अन्दर श्वेत द्रव्य रहता है। इसके दो भाग या गोलार्ध होते हैं। दाहिना गोलार्ध रचनात्मकता, सजनशीलता, अन्तः प्रज्ञा, प्रतिभा, इन्द्रियातीत क्षमता तथा आकाशीय चाक्षुषीकरण क्षमता एवं चित्त शक्ति का प्रतीक है। यह परानुकम्पी तन्त्रिका-तन्त्र एवं सहज क्रियाओं का

संचालन करता है। इसके विपर्यास में, बाँया गोलार्ध बुद्धि, विचार, तर्क, निर्णय, संगठन, व्यवस्था तथा प्राणशक्ति का प्रतीक है। यह केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र एवं अनुकम्पी नाड़ी संस्थान या ऐच्छिक क्रियाओं का संचालन करता है।

ये दोनों गोलार्ध महासंयोजक (कोरपस कैलोसम) के द्वारा परस्पर में जुड़े रहते हैं। इन गोलार्धों की कोशिकायें भी सूक्ष्म तन्तुओं एवं सेरीटोनिन नामक चिपकावक पदार्थ के माध्यम से एक-दूसरे से जुड़ी रहती हैं। ये १२० मीटर/सेकेण्ड की दर से ज्ञानवाही एवं क्रियावाही सूचनाओं का आदान-प्रदान करती हैं। ये गोलार्ध और उसकी तन्त्रिकायें अनुमस्तिष्क और अन्य लघु घटकों के माध्यम से मेरुदण्ड एवं सुषुम्ना के सम्पर्क में रहते हैं। सुषुम्ना का दूसरा सिरा मेरुदण्ड के नीचे रहता है जो मस्तिष्क के संवेदनों के संचार पथ का काम करता है।

मस्तिष्क की कोशिकाओं और उनसे बनी तन्त्रिकाओं के दो विशिष्ट लक्षण पाये गये हैं—(१) दीर्घ जीविता एवं परिवेश-संवेदन तथा (२) उच्च चयापचयी सक्रियता। अनुसन्धानों से यह पाया गया है कि

(i) श्वासोच्छ्वास के अन्तर्गमित वायु का पंचमांश केवल मस्तिष्कीय कोशिकाओं को ही अपनी सक्रियता बनाये रखने में सहायक होता है।

(ii) मस्तिष्क का दाँया गोलार्ध हमारे बाँये शरीरांगों को प्रभावित करता है। इसी प्रकार बाँया भाग दक्षिणांगों को प्रभावित करता है।

(iii) पश्चिमी लोगों के मस्तिष्क का बाँया भाग अधिक सक्रिय होता है। पूर्वी क्षेत्र के व्यक्तियों का दाहिना गोलार्ध अधिक सक्रिय होता है।

(iv) मानव अपने मस्तिष्क की क्षमता का केवल दश प्रतिशत ही उपयोग कर पाता है।

मस्तिष्क की क्रिया-विधि की व्याख्या रासायनिक एवं विद्युत आधारों पर की जाने लगी है। इसकी कोशिका एवं स्नायुओं का औसत प्रतिशत संघटन निम्न पाया गया है:

(i) जल	८०	—
(ii) लिपिड	१०–१२	कोलस्टेरोल, कुछ फास्फोलिपिड, ऐमीनो लिपिड।
(iii) प्रोटीन	७– ८	ग्लोबुलिन, न्यूक्लियो प्रोटीन, न्यूरोकेरेटीन।
(iv) सोडियम—पोटेशियम के लवण	< १	

मस्तिष्क की सजीव कोशिकाओं को सक्रिय बनाये रखने के लिये रक्त के माध्यम से ग्लूकोज और श्वासों के माध्यम से ऑक्सीजन की समुचित मात्रा मिलना अनिवार्य है। यह अनेक कारणों से असंतुलित हो सकती है—(i) भोजन की विविधता (ii) परिवेश (iii) भावनात्मक स्थिति और (iv) होर्मोन-स्रावों में अव्यवस्था आदि। फलतः इनकी सक्रियता एक रासायनिक प्रक्रम है जिसमें सदैव ऊर्जा उत्पन्न होती है। इसे ही शास्त्रों में प्राण या मनःशक्ति कहा गया है।

इसी प्रकार स्नायुओं के द्वारा संवेदनों का संचार भी प्रमुखतः एक जटिल रासायनिक प्रक्रिया है। इसके अनुसार, जब किसी न्यूरान के संकेत उसके एक्सान तन्तुओं द्वारा दूसरे न्यूरानों को संचारित होते हैं, तब प्रेषक न्यूरान-तंत्रिका के सीमान्त पर कुछ न्यूरोहोर्मोन उत्पन्न होते हैं। इनमें ऐसीटिलकोलीन, ऐड्रैनलीन, वैसोप्रेसीन तथा ऑक्सीटोसिन आदि प्रमुख हैं। अन्य तंत्रों में भी डोपैमीन, ग्लूटैमिक अम्ल, इन्स्युलिन, गामा-ऐमिनो ब्यूटिरिक अम्ल, सैरीटोनिन तथा कुछ ऐन्जाइम उत्पन्न होते हैं। ये न्यूरोहोर्मोन अन्तराकोशिकीय क्षेत्र में विसरित होकर संवेदनों या उत्तेजनों को दूसरी कोशिकाओं पर संचारित करते हैं।

इन रसायनों द्वारा संवेदन-संचरण की प्रक्रिया में कुछ भौतिक परिवर्तन भी होते हैं। इनके कारण कुछ तत्वों की कोशिकीय झिल्ली की प्रवेशन क्षमता में वृद्धि हो जाती है। इस कारण झिल्ली के दोनों ओर विश्रान्ति अवस्था में विद्यमान विद्युत्-शक्ति की वोल्टता में परिवर्तन होता है। यह वोल्टता-परिवर्तन भी संवेदन-संचरण को प्रेरित करता है। यह पाया गया है कि विश्रान्तिकाल में झिल्ली के आर-पार की वोल्टता–०.४५ मिलीवोल्ट होती है। यह संवेदन-संचरणकाल में, परिस्थितियों के अनुसार, न्यूनाधिक हो जाती है। रासायनिक पदार्थों के द्वारा न्यूरानों की विद्युत वोल्टता में होने वाले परिवर्तन से संवेग-संचरण की प्रेरित प्रक्रिया मस्तिष्क क्रिया विधि की विद्युत आधारित व्याख्या है। यह स्पष्ट है कि यदि संचरण की प्रक्रिया में भाग लेने वाले न्यूरोहार्मोन समुचित मात्रा में उत्पन्न न हों अथवा विद्युत-वोल्टता में उपयुक्त परिवर्तन न हो, तो मस्तिष्क को क्रियाविधि में व्यवधान या अप/अव सामान्यता सम्भव हो सकती है।

शरीर और मस्तिष्क पर ध्यान के प्रभावों का वैज्ञानिक अध्ययन

प्राचीन योगियों की ध्यान के प्रभावों के अनुभूतिगम्य होने की धारणा अब वैज्ञानिक प्रक्रियाओं एवं उपकरणों के माध्यम से उनकी प्रयोग-गम्यता में परिणत हो गयी है। ध्यान के दो प्रकार के प्रभाव होते हैं—दृश्य और अदृश्य। वैज्ञानिकों की अनुसंधान सीमा में दोनों प्रभावों का अध्ययन समाहित होता है।

ध्यान से शरीर-तंत्र की विविध प्रणालियों पर तीक्ष्ण प्रभाव पड़ता है। इन प्रभावों को शारीरिक और मानसिक कोटियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इनका संक्षेपण नीचे दिया जा रहा है।

ध्यान के शारीरिक प्रभाव

(i) **सहज निद्रा :** यह माना जाता है कि आधुनिक समस्याग्रस्त जीवन में हमारा अनुकंपी नाड़ी संस्थान सदा उत्तेजित रहता है। इससे शनैः शनैः अनेक मनोविकार और रोग जन्म लेते हैं। इच्छाओं का दमन भी इन्हें प्रेरित करता है। औषधियाँ इनका तात्कालिक उपाय ही करती हैं। वे बाह्य दोष का निवारण करती हैं, पर मूल कारण यथावत् रहते हैं। यही नहीं, ये औषधियाँ कालान्तर में सहज निद्रा में भी व्यवधान बनती हैं। इस दिशा में ध्यान उत्तम प्रभाव उत्पन्न करता है। इससे प्राप्त होने वाली शारीरिक और मानसिक विश्रान्ति सहज निद्रा से भी सुखकर कोटि की होती है।

(ii) **चयापचय की दर में कमी :** ध्यानाभ्यास से चयापचयी क्रियाकलापों की दर में कमी हो जाती है। इसका कारण विविध दिशाओं की ओर से वृत्तियों को हटाकर एकदिशो प्रवर्तन है। अनेक दिशी वृत्तियों से सक्रियता या ऊर्जा व्यय अधिक होता है। एक दिशो वृत्ति में ऊर्जा व्यय कम होने से ऊर्जा-उत्पादक चयापचय की दर भी कम हो जाती है।

(iii) **कार्बन-डाइ-ऑक्साइड एवं ऑक्सीजन के उपभोग की मात्रा में कमी :** ध्यानावस्था में विश्रान्ति अवस्था की ओर वृत्ति होने से चयापचयी दर में कमी होती है। इस क्रिया में श्वासोच्छ्वास की वायु एवं कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का गमनागमन में उपयोग होता है। यह पाया गया है कि निद्रावस्था की तुलना में ध्यान की अवस्था में ऑक्सीजन के उपभोग में दस प्रतिशत की अपेक्षा बीस प्रतिशत की कमी होती है।

(iv) **अन्य तंत्रों पर प्रभाव**

(अ) फेफड़े कम मात्रा में ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं।
(ब) श्वासोच्छ्वास की गति पचास प्रतिशत तक कम हो जाती है।
(स) वायु के अन्तः प्रवेश की गति बीस प्रतिशत तक कम हो जाती है।
(द) हृदय से रक्त निष्कासन की दर तथा धड़कन कम हो जाती है।
(य) चयापचयी दर की कमी से कोशिकाओं को कम रक्त की आवश्यकता होती है। इससे उन्हें विश्राम मिलता है और उनमें ऊर्जा संचय हो जाता है।

(र) ध्यानावस्था में गैल्वेनिक त्वचावरोध २५ से ५० प्रतिशत तक बढ़ जाता है ।
(ल) ध्यान के समय ब्लड लेक्टेट के निर्माण की दर कम हो जाती है ।
(व) ध्यानाभ्यास धमनियों से रक्तप्रवाह की दर बढ़ा देता है । इससे निरुपयोगी पदार्थों का निष्कासन अधिक होने लगता है ।

(v) **रोगोपचार :** ध्यान से शिथिलीकरण होता है । इससे दुर्बल एवं रुग्ण ऊतकों को शक्ति एवं सक्रियता प्राप्त होती है । इससे रक्तचाप सामान्य बना रहता है । ध्यान रक्तचाप की उत्तम औषधि है ।

ध्यान स्वचालित तंत्रिका तंत्र की सक्रियता को स्थिरता देता है । इससे तनावों के प्रति प्रतिरोध क्षमता बढ़ जाती है । इससे तनाव-जन्य ऊर्जा की क्षतिपूर्ति की दर कई गुनी बढ़ जाती है ।

योग और ध्यान के अभ्यास से डा० श्रीनिवास ने हृदय रोग को शान्त करने में काफी सफलता पायी है । इससे गठिया रोग में भी लाभ होता है । ध्यान से दमा, मिर्गी/उन्माद में भी लाभ पाया गया है ।

ध्यानासन की क्रियाओं से जापानवासियों की लम्बाई में वृद्धि देखी गई है । डा० पासे ने पूना के स्कूली बच्चों पर ध्यान का प्रयोग कर उनकी लम्बाई में २.६ सेमी० प्रतिमाह की वृद्धि प्राप्त की ।

ध्यानिक क्रियाओं से अस्थि रोग, अतिअम्लता, अनेक चर्म रोग, गठिया रोग, सिर दर्द, सिर में चक्कर आना, मितली आना, लकवा (अतिनिम्न रक्तचाप), स्पोंडिलाइटिस, एलर्जी (प्राण शक्ति की कमी), अतिनिद्रा (निम्न रक्त-चाप), कब्ज आदि अनेक सामान्य व जटिल शारीरिक व्याधियाँ दूर की गई हैं । अब योग या ध्यान चिकित्सा चिकित्सा विज्ञान की एक नई शाखा के रूप में विकसित हो रही है ।

मस्तिष्क तन्त्र पर ध्यान के प्रभाव

ध्यान के समग्र मानसिक प्रभावों में निम्न प्रमुख हैं :

(१) दैनिक जीवन में तनाव-प्रतीकार क्षमता में आशातीत वृद्धि ।
(२) दैनिक अनुभवों के प्रति अधिक सजगता एवं चेतनता ।
(३) शरीर और मस्तिष्क में परस्पर समुचित समन्वय एवं सामन्जस्य ।
(४) क्रियावाही तन्त्र को संवेदना और सजगता में वृद्धि ।
(५) बौद्धिक संवेदनशीलता, समझदारी तथा स्मरण शक्ति में वृद्धि ।
(६) बुद्धिपूर्वक निर्णय लेने की क्षमता में वृद्धि ।
(७) मानसिक शक्ति में वृद्धि ।
(८) प्राणियों में सृजनात्मक शक्ति की क्षमता का विकास ।
(९) लक्ष्य, उद्देश्य या कार्य के प्रति रुचि में तीक्ष्णतापूर्ण वृद्धि जिससे आनन्द और सन्तोष की अनुभूति होती है ।
(१०) शरीर की आभा और प्रभा में वृद्धि ।
(११) पीयूषिका ग्रन्थि का जागरण और सक्रियण ।
(१२) मस्तिष्क के दायें एवं बायें भाग (चेतन, सक्रिय) भाग में अधिक सन्तुलन ।
(१३) मस्तिष्क की क्षमता की उपयोगिता का प्रतिशत १०% से अधिक होने लगता है ।
(१४) कैंसर मुख्यतः निराशावादी दृष्टिकोण की उपज है । ध्यान के अभ्यास से इसके उपचार में काफी सफलता देखी गई है ।
(१५) मानसिक उद्वेग मधुमेह के भी मुख्य कारण हैं । इस विषय में भी ध्यान बहुत सहायक सिद्ध हुआ है । इस विषय पर प्रमुख अन्वेषण भारत में ही हो रहे हैं ।

(१६) स्वामी राम ने अमेरिका में ध्यानाभ्यास से अपनी इच्छा-शक्ति को तीव्र एवं नियन्त्रित करने में सफलता पाई है। इससे वे अनेक सिद्धियाँ प्रदर्शित करते हैं।

(१७) ध्यान अभ्यास से सीजोफेनिया (अन्तराबंध) के समान अनेक मानसिक बीमारियाँ दूर हो जाती हैं। मन्त्र जपन से शिथिलता एवं एकाग्रता प्राप्त होती है। यह ध्यान की अन्य विधाओं से भी सम्भव है।

(१८) ध्यान के समय प्रारम्भ में मनुष्य के वातावरण में ऐल्फा-तरंगों (८-१५ हर्ट्ज) की मात्रा बढ़ जाती है। ये मस्तिष्क की शक्ति एवं शांति की प्रतीक हैं। बाद में ये तरंगें ४०-४५ साइकल प्रति सेकेण्ड की तीव्रगामी तरंगों में परिणत हो जाती हैं।

ध्यान के विविध प्रभावों की वैज्ञानिक व्याख्या

हमारी सजीवता के संचालन के मुख्य स्रोत आहार और श्वासोच्छ्वास हैं। यद्यपि उदर हमारे दृश्य आहार का प्रमुख केन्द्र है, पर आवेग, संवेग और विचार भी तो हमारे मस्तिष्क में आते-जाते हैं। इस तरह हमारा उदर तीन प्रकार का होता है—जिसमें आहार जावे, जिसमें विचार जावें और जिसमें भावनायें आवें। ये आहार ही श्वासोच्छ्वास तथा शरीर तन्त्र में विद्यमान अनेक स्रावों, ऐन्जाइमों और पाचक रसों की सहायता से होने वाली चयापचयी क्रियाओं के माध्यम से हमें जीवन शक्ति प्रदान करता रहता है। हमारे शरीर की अगणित कोशिकायें इन्हीं क्रियाओं से जीवनशक्ति प्राप्त करती हैं। यदि इन्हें नियमित रूप से और समुचित मात्रा में ऊर्जा न मिले, तो इनके कार्य एवं सामञ्जस्य में बाधा आ सकती है। एक स्थल की बाधा सम्पूर्ण तन्त्र को प्रभावित करती है। यद्यपि शरीर-तन्त्र पर सभी प्रकार के सहज संचालन का दायित्व है, पर तन्त्र की जटिलता को देखते हुए इसमें समय-समय पर, स्थान-स्थान पर, परिवेश एवं विद्युत लघुपथों के कारण असन्तुलन, अवरोध, अपक्षय आदि सम्भावित हैं। ध्यान के विविध रूपों के अभ्यास से ये बाधाएँ दूर होती हैं और तन्त्र शक्तिशाली, स्थिर एवं नियमित बना रहता है।

ध्यान की एक सौ बारह प्रक्रियाओं में प्रमुख आसन और प्राणायाम के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं—(i) शरीर के विभिन्न तन्त्रों को लचीला एवं क्रियाशील बनाये रखना तथा (ii) श्वासोच्छ्वास के द्वारा सम्पूर्ण शरीर और उसके विविध अंगों में वायु या ऑक्सीजन पहुँचाना। प्रारम्भ में यह श्वासोच्छ्वास ही 'प्राण' माना जाता था, इसी से प्राणी नाम है। इससे फेफड़ों एवं रक्त के माध्यम से सम्पूर्ण शरीर तन्त्र के कार्यकारी घटकों में ऑक्सीजन पहुँचाया जाता है। इसके समुचित अभ्यास से चयापचयी क्रिया की पूर्णता से पूर्वोक्त अनेक बाधायें दूर होती हैं और दीर्घजीविता आती है। यह देखा गया है कि अधिकांश प्राणियों में यह आदर्श स्थिति नहीं होती। अनेक कारक इस असन्तुलित स्थिति को जन्म देते हैं। प्राणायाम की श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया की तीव्रता, मन्दता या स्तम्भन शरीर तन्त्र में अधिक वायु प्रदान करता है। इससे उपरोक्त कारणों से दमित या मन्दित चयापचयी क्रियाओं एवं अवरोधों में समाप्ति की दशा बनती है। इससे कोशिकीय विकास सहज गति से होता रहता है।

शरीर की अन्तःऊर्जा कोशिकाओं की सक्रियता एवं चयापचयी क्रियाओं की पूर्णता पर निर्भर करती है। ध्यान द्वारा ये दोनों ही लक्ष्य प्राप्त होते हैं। फलतः शरीर में ऊर्जा की मात्रा संतुलित और वर्धमान होती है। चयापचयी क्रियाओं में उत्पन्न ऊर्जा ही प्राणशक्ति कहलाती है। निश्चित रूप से यह पांच प्रकार के प्राणों से सूक्ष्मतर है। सामान्यतः प्राण अणु होते हैं, क्रिया के समय वे परमाणुरूप हो जाते हैं और उपयोगिता के समय वे शक्तिरूप में व्यक्त होते हैं। इस प्रकार प्राण उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर होते जाते हैं। यह पाया गया है कि ध्यान इस शक्ति में वृद्धि करता है। यह शक्ति और इसका संकेन्द्रण ही ध्यान के अतिरिक्त उसके विविध सहयोगी रूप—मंत्र, जप आदि से होने वाले शिथिलीकरण एवं

विश्रान्ति के कारण भी बढती है। इसकी प्रबलता ही स्पर्श-चिकित्सा के प्रभाव का मूल कारण है। यह पाया गया है कि प्रबल प्राणशक्ति के स्पर्श से रोगी के रक्त में हीमोग्लोबिन की मात्रा बढ जाती है।

ध्यान का एक अन्य उद्देश्य भी है जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उपरोक्त प्रक्रिया में प्राणशक्ति की वृद्धि एवं संचय मात्र हुआ है। यही हमारे जीवन की, मन, वचन और शरीर की संचालक शक्ति है। जीवन की विविध दिशाओं में इतनी भिन्नता है कि कभी-कभी तो समुचित संतुलन हेतु शरीर में विद्यमान प्राणशक्ति को कमी का अनुभव होने लगता है। ध्यान इस कमी को दूर करता है। वह प्रवृत्तियों की विविधताओं पर नियंत्रण करता है और एक विशिष्ट दिशा देता है। इससे अनावश्यक शक्ति के व्यय में बहुत कमी हो जाती है और हमारा जीवन सदैव शक्ति संपन्न बना रहता है। यह माना जाता है कि हमारा मस्तिष्क शरीर का दो प्रतिशत भाग ही है, पर वह अपनी विविध क्रियायें संपन्न करने में शरीर की समग्र ऊर्जा का बीस प्रतिशत तक व्यय करता है। ध्यान के अभ्यास से विचारों की विविधता समाप्त होकर एकलक्ष्यी निर्विचारता आती है। इस स्थिति में शक्ति का व्यय कम होता है। इस प्रकार शक्ति-संवर्धन तथा शक्ति-व्यय में अप्रत्याशित कमी से प्राणी में अद्‌भुत अवस्था विकसित होती है। उमास्वाति का 'लब्धि प्रत्ययं च' सूत्र संभवतः इसी शक्ति-संपन्नता की अभिव्यक्ति को व्यक्त करता है।

प्राण शक्ति और तैजस शरीर

जैनों ने पांच शरीर माने हैं—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण। इनमें तैजस और कार्मण शरीर सूक्ष्म और अदृश्य होते है। निर्वाण प्राप्ति के पूर्व ये सदैव जीव-संबद्ध रहते हैं। शरीरों का यह नाम क्रम उत्तरोत्तर सूक्ष्मता के आधार पर यह माना जाता है। यह क्रम प्रथम तीन शरीरों के लिये तो ठीक है, पर अन्तिम दो सूक्ष्म शरीरों के लिये विचारणीय लगता है। तैजस शरीर को सही रूप में समझने के लिये शास्त्रों ने भी कुछ प्रश्न लगाये हैं। यह माना जाता है कि यह तेजोरूप है, ज्वाला (ऊर्जा) रूप है, परमाणु प्रचयित (कणिकामय) होने पर सूक्ष्मतर है। कार्मण शरीर इससे भी अनंतगुना सूक्ष्मतर है। शास्त्रों में प्रायः सर्वत्र ही कार्मण शरीर को परमाणु-प्रचय रूप ही माना है। महाप्रज्ञ और अन्यों ने तैजस शरीर की ऊर्जात्मक रूप में ही व्याख्या की है। यह ऊर्जा ऊष्मा, प्रकाश या विद्युत्-किसी भी रूप में हो सकती है। इसके विपर्यास में कार्मण शरीर का तेजोरूप नहीं माना जाता। आइन्स्टीन के समीकरण (ऊर्जा = द्रव्यमान×प्रकाशवेग का वर्ग = mc^2) के अनुसार, विभिन्न ऊर्जाओं का द्रव्यमान, औसत तरंग-दैर्घ्य के आधार पर इलैक्ट्रान-जैसे सूक्ष्म कण से अल्पतर ($10^{-28}-10^{-35}$g) परिकलित होता है। फलतः द्रव्यमान के आधार पर विभिन्न ऊर्जायें या तैजसरूप सूक्ष्मतर होती हैं। ये परमाणु के सूक्ष्मतर मौलिक अवयवों-फोटानों के रूप है। विस्तार के आधार पर भी ये कणिकायें इलेक्ट्रान कणों से सूक्ष्मतर होते हैं। प्रकाश, ऊष्मा और ध्वनि की तुलना मे कार्मण शरीर की कणिकायें वृहत्तर होनी चाहिए। अन्यथा ये तैजसरूप में ही समाहित हो जाती। फलतः तैजस और कार्मण शरीर की शास्त्रीय सूक्ष्मता का आधार द्रव्यमान है या विस्तार, यह स्पष्ट नहीं है। आधुनिक भौतिक दृष्टि से तैजस ऊर्जायें कार्मण से सूक्ष्मतर मानी जाती हैं।

यह प्रश्न उठता है कि पहले कार्मण शरीर होता है या तैजस शरीर? वस्तुतः ये दोनों अन्योन्याश्रित है। एक-दूसरे के प्रेरक और जन्मदाता हैं। ध्यानी कहते हैं कि तैजस शरीर प्राणशक्ति या शारीरिक अन्तःक्रियाओं मे उत्पन्न होने वाली ऊर्जाशक्ति है। अतः जबतक शारीरिक अन्तःक्रियायें नहीं होतीं, प्राणशक्ति का उत्पादन या विकास नहीं हो सकता। अतः लगता है कि कार्मण शरीर तैजस शरीर का पूर्ववर्ती होना चाहिये। यह मान्यता, फलतः सही लगती है कि पर्याप्ति प्राण का कारण है। पर्याप्तियों को कार्मण शरीर के समकक्ष मानना चाहिये। पर्याप्ति स्वयं शक्तिरूप नहीं, अपितु प्राणशक्ति की जन्मदात्री है।

ध्यानाभ्यास की दृष्टि से, शरीर की यह अन्तःशक्ति या प्राणशक्ति शास्त्रीय तैजस शरीर का एक रूप है। यही शरीर और मस्तिष्क को अनेक प्रकार से प्रभावित कर उसकी क्षमता में वृद्धि करती है। जब मस्तिष्क प्राणवान् होता है, तब मनःशक्ति का अनुभव होता है। जब शरीर प्राणवान् होता है, तब प्राणशक्ति अभिव्यक्त होती है। इन दोनों के सम्पर्क में आने से सांद्रण सेल (मस्तिष्क में आक्सीजन की अधिकता, अन्य तन्त्रों में इसकी सामान्य मात्रा) बनता है। इससे विद्युत् ऊर्जा उत्पन्न होती है। इसे ही शरीर-विद्युत कहते हैं। इसे शरीर के किन्हीं दो भिन्न और विशिष्ट केन्द्रों में इलेक्ट्रोड लगाकर यन्त्रों द्वारा सम्पर्कित कर परखा जा सकता है। इस सम्पर्क को इडा-पिंगला नाड़ियों के सम्पर्क के रूप में अनेक शास्त्रों में वर्णित किया गया है। इस विद्युत के कारण शरीर में किंचित् चुम्बकीय गुण भी आ जाते हैं। शरीर तन्त्र में व्यक्त होने वाली इन विभिन्न शक्तियों (प्राण, मन, विद्युत आदि) का समवेत रूप ही आधुनिक दृष्टि से चेतना शक्ति के समकक्ष माना जा सकता है। इसे शास्त्रीय जन शायद ही स्वीकार करें। ध्यान इसी चेतना शक्ति का संवर्धन एवं केन्द्रण करता है। मन और शरीर की असामान्य उत्तेजन या भावनात्मक दशाओं में तन्त्र के इन विद्युत और चुम्बकीय गुणों में न्यूनाधिकता होती रहती है। ध्यान इसे भी नियन्त्रित करता है।

वैज्ञानिक परीक्षणों का निष्कर्ष और ध्यान की उपयोगिता

ध्यान पर विभिन्न दशाओं में किये गये प्रयोग स्पष्ट करते हैं कि यह शरीर-तन्त्र का शोधन कर उसकी सक्रियता बढ़ाता है। वह मानव में असामान्य ऊर्जा की वृद्धि करता है। ध्यान के समय सामान्य कर्म, प्रवृत्ति, प्रयत्न शान्त होते हैं, विश्रान्ति रहती है पर विशिष्ट कर्म करने की क्षमता में आशातीत वृद्धि होती है।

हमारे शास्त्र और आचार्य ध्यान का लक्ष्य परा-इन्द्रिय बोध एवं अध्यात्म ही प्रमुख मानते हैं। वैज्ञानिक विचारधारा के अनुसार ये अनुभूतियाँ या लब्धियाँ शारीरिक या मानसिक विकास के ही ऊर्ध्वमुखी रूप हैं। इसीलिये उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने शारीरिक और मानसिक ऊर्जाओं को ऊर्ध्वमुख करने वाले सभी प्रक्रमों को ध्यान में समाहित किया है। ध्यान के अनेक लाभ इन प्रक्रमों के आनुषंगिक फल हैं। इस प्रकार, शास्त्रीय विवरण ध्यान के जिन तत्वों को प्रमुख मानता है वैज्ञानिक उन्हें आनुषंगिक मानकर और भी अधिक लाभान्वित होता है।

पठनीय सामग्री

१ **योग विद्या** (१९७८-८३); बिहार योग विद्यालय, मुंगेर (बिहार)।

२. **हिन्दुस्तान टाइम्स**, ५ जुलाई १९८७।

३. युवाचार्य महाप्रज्ञ : **प्रेक्षा ध्यान का यात्रापथ** : जैन विश्व भारती, लाडनूं, १९८४।

४. उग्रादित्याचार्य : **कल्याणकारक**, सखाराम नेमचन्द्र ग्रंथमाला, शोलापुर, १९४०।

५. युवाचार्य महाप्रज्ञ : **आभा मंडल**, जैन विश्व भारती, लाडनूं, १९८४।

६. सी० एच० बेस्ट एंण्ड एन० बी० टेलर; **दी फिजियोलोजिकल बेसिस आव मेडिकल प्रेक्टिस,** साइंटिफिक बुक एजेन्सी, कलकत्ता, १९६७।

७. आचार्य रजनीश; **रजनीश ध्यान योग,** रजनीश धाम, पूना, १९८७।

८. पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री; जैन शास्त्रों में वैज्ञानिक संकेत, (इसी ग्रंथ का विज्ञान खंड)।

Preksha Meditation : Perception of Psychic Centres

MUNI-SHRI MAHENDRA KUMAR
Anuvrat Vihar, New Delhi.

Philosophy teaches us to realise that our existence is functioning in duality, i.e. there is a spiritual self within a physical body. Science is also proving that life's processes for man lie almost wholly within himself and are amenable to control. The control has to be exercised by the power of the spiritual self, and that inherent potency can be developed by knowing how to live properly, which includes eating, drinking and breathing properly as well as thinking properly.

What is Preksa-Dhyana ?

Preksa-dhyana is a technique of meditation for attitudinal change, behavioural modification and integrated development of personality. It is based on the wisdom of ancient philosophy and has been formulated in terms of modern scientific concepts. This synthesis of the ancient wisdom and the modern scientific knowledge would help in achieving the blissful aim of establishing amity, peace and happiness in the world by eradicating the beastal urges such as cruelty, retaliation and hate.

The different methods of preksa (i.e. perception) are methods of ultimate transformation in inner consciousness. Here, there is no need to sermonize for adopting virtues and giving up evils. When one starts practising perception, one experiences himself that he is changing, that anger and fear are pacifying, that one is getting transformed into a 'righteous' person.

In this essay perception of psychic centres is discussed in detail. Every man wishes to develop his personality and become a good man. But the question is—What is the process by which one can develop an integrated personality ? The answer is —perception of psychic centres. It is a process of harmonizing products of one's endocrine system and thereby achieving the development of integrated personality.

There are certain portions in our body where psychic energy is more concentrated than the other parts. These, therefore, are psychic centres. Preception of psychic centres means "focusing of full attention on these centres, and meditation of these centres with concentration." These centres are associated with ductless glands which are situated at these places and are called "endocrines." The endocrines exert profound influence on mental states and behaviour of an individual.

One of the main purposes of meditation is to eradicate evil from the way of life, behaviour and attitude of a person. The question is : Why do the attitude and behaviour get vitiated in the first place ? What controls these personality factors ? What are the regulators and how do they regulate ? It has now been established by scientific research

that every mental and emotional event is linked to hormones and neurohormones produced by the specialised nerves, hypothalamus and the endocrines. A whole new nervous system based on chemical substances is being mapped out in laboratories all over the world. Systematic meditation prescribing concentration on psychic centres, i.e. concentrated perception of endocrine glands and certain controlling of the brain, gives the average person a safe means of controlling his moods and altering behaviour too. It could teach practical methods of treating emotional disorders and drug addictions. For a lasting change of attitude and behaviour, one must transmute the synthesization of the hormones. Same is the case for a permanent control of one's moods and altering one's way of life-transmutation of hormonal synthesization. Perception of psychic centres is a safe, practical, easy-to-learn technique for obtaining these results.

Today eminent doctors, specialists and general practitioners alike, have realised that meditation is a powerful tool, both for healing and maintaining good health. Irrefutable scientific proofs now available show that meditation and consciously achieved total relaxation can cure and prevent any number of diseases which are caused by tension and stress. Scientific investigations have provided evidence that regular practice of meditation positively influences the control mechanism which is ultimately responsible for the homeostasis in the body. It produces a more balanced equilibrium between the sympathetic and the para-sympathetic components of the autonomic nervous system. The benefits of meditational practice are measurable and can be obtained by anybody who cares to learn the technique and practise it regularly.

Improvement of physical health and cure (and prevention) of serious illnesses without injurious drugs, though valuable contribution, is not the only or even the chief objective of meditation. It is, in reality, the apparatus for controlling one's irrational instincts of anger, aggression, cruelty, vindictiveness and fear. It is a tool for awakening and developing one's conscious reasoning and thereby modifying one's attitude and behaviour to be truly worthy of a human being. It is a "process of remedying inner discord" as aptly stated by Willaim James. The main objective of meditation is, thus, not to acquire physical goodness but to acquire total psychical goodness by eradicating all evil from one's thoughts, speech and action.

We now know that the irrational instincts and impulses emanate from the endocrines, and not from the brain. They not only generate feelings but also demand appropriate action to satisfy the need. All the impelling forces are produced by the endocrine secretions called hormones. Hormones have profound influence upon the mental states and tendencies, behavioural patterns as well as emotions of an individual. Frequent emotional stresses result in psychological distortions and irrational behaviour. It follows from this that for rational development of various personality factors, it is necessary to transmute the synthesization of the chemical messengers-hormones and neuro-hormones. It has been established by the use of the bio-feedback and other scientific measuring equipments that meditation has the power to alter the electrical activity of the nervous system as well as transmute the synthesization of the chemical messengers. The endocrines are the associates of the

psychic centres. Regular practice of perception of these psychic centres. will (a) immensely strengthen the power of the unique human attribute—rational thinking and conscious reasoning, and (b) weaken the forces of irrational impulses and primal drives. The cumulative effect of this two-fold transformation would ultimately eradicate the psychological distortions and irrational behaviour.

Raison D'etre

Though every man does possess a reasoning mind, it is not capable of just and fair reasoning until properly developed. Till then man's response to the insistence of his impulses is based on his intelligence and a priori logic. His judgement is then devoid of conscious reasoning. In fact, the logic is often so tinged by the intense impulses that they overwhelm the supposed reasoning. At such times reasoning seeks proofs to justify the action demanded by the instincts. Thus, it is essential to develop and evolve the reasoning mind in order to master the impelling forces of the primal urges.

Development of Reasoning Mind (Viveka-cetana)

Powerful development of conscious reasoning and rational judgement alone can control and destroy the dominance of animal impulses, savage traditions, superstitions and numerous traditional and conventional beliefs. Dangerous impulsive forces would then either be creatively utilised or eliminated. What is necessary, then, is the development of that unique attribute of mankind which is called reasoning mind and rational thinking and ultimately establish control of conscious reasoning over all the activities-physical, mental and emotional.

Hormony of the Endocrine System

The endocrines are the tuning keys that tighten up or lighten up the driving forces of the organism. They are, therefore, the psychic centres. They form a system and cannot perform or function separately. Each influences the rest in the chain. The system is inter-related by chemical processes and inter-locked with the brain and the nervous system. Our thoughts affect the endocrines as the latter also influence our brain and mind. Imbalance or discordance in the endocrine system will vitiate the thought and produce psychological distortions e.g. over-activity of the gonads will cause the mind to dwell on matters sexual, cause peevishness or irrational fear.

Practice of the perception of psychic centres has the capacity to restore equilibrium in tne endocrine system to strengthen the power of reasoning mind and weaken the forces of primal urges.

Incompleteness of the Surgical Remedy

Meditation is a process of integrated development of personality. It changes habits, refines attitude and behaviour and transforms the entire personality of the practitioner. The result of meditational practice can be observed, defined and interpreted scientifically. Modern science has proved that life's processes lie almost wholly within

oneself and are amenable to transformation. It has been established by the use of the feedback equipments that meditation changes the electrical activity as well as transmutes the synthesization of hormones.

RNA (Ribonucleic acid) is a product of the internal cellular activities. It is believed that this chemical substance plays an important role in the personality of an individual, It follows that tranformation of this factor can help in changing one's personality. Old habits can be changed to new ones.

Our organisation has three different stages of conscious activities. The first is the centre where most subtle conscious radiations are generated as waves. The second is the medium through which it is propagated and transformed into crude power and the third is the area where it manifests itself as a physical activity. All these take place in the organism through the internal organisation. For fnstance, take anger : it starts, as an impulsive reaction to some aggressive situation, in the form of a wave-radiation from the innermost recesses of consciousness (stage no. 1). It reaches and reacts with brain and nerves (stage no. 2) and finally manifests itself in various parts of the body (stage no. 3).

Modern science would describe the same sequence thus :

Anger starts as an impulsive reaction to some aggressive situation in the form of a wave-radiation from the consciousness. It reaches the brain and activates the pituitary through hypothalamus. Pituitary-hormone (ACTH) reaches and reacts with the adrenal gland and stimulates it to release adrenaline in the blood stream which reaches the motor area in the brain via the neuro-transmitters. Finally it manifests itself by producing certain physiological conditions making the body ready for aggression. Thus, science is aware of the centre of impulses and the paths of their transmission to the brain. If the transmission line is surgically destroyed, the instinct cannot generate feeling and is incapable of commending action. By stimulating or inhibiting certain portions of the brain, particularly hypothalamus, anger, fear, sexual excitement and other urges can be neutralized. The field that manifests them remains passive because fhe transmission is cut off. It must, however, he remembered that in such operation, only the transmission of the impulsive agitation is cut off but the generation is not stopped and continues. The manifestation in the final field does not occur but the primary centre of agitation remains active. This means that by blocking the transmission, a temporary transformation of the behaviour is achieved, but origin of the agitation remains as active as before. In other words, a mask is used to hide the hediousness of the face while the face continues to remain as hedious as before. The change is external, superfluous, not internal and intrinsic.

Thus, the surgical treatment of controlling the impulsive forces can be looked upon as an expedient and not a permanent solution of the problem. The permanent remedy is to achieve a state of blissful, nonchalant tranquillity in which the impelling force of the urge fails to generate the wave. Frequent repeatitions strengthen the agitational forces of impulsive drives such as anger, fear etc. Anger, for example, grows if it is fed with anger. If no nourishment is fed to anger, it will wither and die down. Psychic science (adhyatma)

is based on the doctrine of equanimity and its technique is self-awareness. Self-awareness is the foundation of tranquil (waveless) consciousness. When one reaches this state, there is neither like nor dislike, neither attachment nor aversion. In this state of consciousness the wave of anger is not suppressed, but the factor which generates the wave of anger is eradicated. Whereas the surgical implement or medicinal remedies strike at the brain, spinal cord or neuves i. e. the instruments of transmission, the self-awareness and transmission system but the prime mover that drives the generation of impulses. It is a process of extermination from the roots and that is why the solution is permanent and everlasting. The technique of realising the tranquil (waveless) state is the perception of physic centres. Thus the perception of psychic centres is not merely an important means of self-realisation, it is the only means.

Contact with the Subconscious Mind

All the (endocrine) glands in our body are components of the sub-conscious self. Because they affect the brain, they are more powerful and important than the brain. If they are properly harmonised by proper and efficient meditation, one becomes free from fear; and freedom from fear means freedom from all hurdles. Endocrinology—science of endocrines—does not specify the proper method of harmonising the system. Only the psychic science can show the way in this regard. And the method shown by it is regular practice of meditation. Meditation (concentrated perception) of psychic centres (fields of neuronal endocrine action) removes distortion and discordance from the system. The more profound the concentration, the more harmonised will the system become. And this will result in freedom from fear, cruelty and other psychological distortion. A new personality will be evolved with regenerated, revitalised and rejuvenated conscious mind. The psychic centre of *intuition* (associated with pituitary) is the centre of intuitive insight. It is also the centre of internal vision and right vision. When one meditates on this psychic centre, one is able to reach and communicate with the 'inner super-consciousness. The capacity of our conscious mind is limited in the field of personality development. While it is adequately capable (if developled by proper education) of coping up with arguments, hypothesis, critical evaluation and creative imagination on the fields of science, art and literature etc, it is not always capable of controlling behavioural patterns of the individual. Indeed, by far the greater part of one's behaviour is not controlled by conscious decisions. It follows, therfore, that this faculty cannot bring about changes in the attitude and behaviour of a person, let alone realising a tranquil (waveless-bereft of agitation and excitation) state. However, when one practises perception of the psychic centre of *intuition*, one's will and determination can transcend the conscious mind and reach the sub-conscious mind. It can even penetrate further and reach the fields of 'lesya' and 'adhyavasaya' i.e. the subtle most inner conscious levels. Then the blissful tranquil state is realised, and attitude and behaviour drastically changed.

Tour of the Psychic Centres by Conscious Mind

Mind is ever wandering. It takes a tour of the body from head to foot. Sometimes it wanders about in the upper region and sometimes in the other region. Sometimes

it dips into the memory story and is suddenly filled with violence or hatred or intense dislike; on the other hand sometimes it is filled with benevolent thoughts and at times it is mentally prepared to renounce to world. Why does this happen ? Why do the sentiments change ? Who opens the door or window of the memory store ? It is none else but our own conscious mind. Whenever and wherever our attention is fixed on whichever organ or gland or psychic centre or a particular part of the body, the attention is concentrated or focussed on that part and the organ or centre is stimulated. Once, this simple rule is known, it becomes easy for a 'sadhaka' to choose the centre of concentration. For integrated development of personality, it is necessary to meditate on those centres which are responsible for and control our attitude, behaviour and personality factors. These are : (1) centre of purity (visuddhi kendra), (2) centre of intuition (darsana kendra), (3) centre of enlightsnment (jyoti kendra), (4) centre of peace (santi kendra), and (5) centre of wisdom (jnana kendra); these five psychic centres regulate and control our personality factors and, therefore, our behaviour. Perception of these centres purges out distortions from our thoughts and deeds, changes negative attitudes to positive ones and aesthetices our character and behaviour.

It is true that environmental conditions influence our emotional nature. But environment is not the material cause or primary reason. The main cause is the synthesization of hormonal secretions by our endocrines. This then, is the material cause, while the environmental conditions are the immediate cause. We have to modify the material cause as well as the immediate one. However, primary importance must be given to the former, while the environmental circumstances can be given the second place. The impelling forces of the emotional drives are derived from the translation of the intangible past recorded in the inner subtle body (karmasarira). The endocrine system is the inter-communicating computer or transformer between the subtle and the gross bodies. Hormones produced by the endocrines act as chemical messengers and integrate the organism. Once the wise sadhaka learns this truth and its implications, he will not be bogged down in the superfluous outer bodily functions, but delve deeper inside. Ultimately, he will come face to face with the inner subtle body and the intangible code of the recorded past. This, in reality, is the main purpose of the spiritual exercises—to delve deeper and deeper, till one reaches the subtle body, decode and interpret the imperceptible forces of Karma, which is the primemover of the endocrine activity. Nay, he should go still further and realise his own real self, the psyche or the soul, who is the real master, activating the subtle as well as the gross bodies.

The psychic action is ceaseless i.e. the flow of spiritual energy is constant. When the flow is directed towards upper psychic centres, the result is goodness or godliness, but when the flow is directed towards the nether centres which are the generators of passions and urges, the result is evil and distorted thought and deed. When the flow of psychic energy activates nether centres i.e. adrenals and gonads which, by synthesization of their produces, incite the passionate urges like anger and aggerssion, and which provide the impelling force to the primal drives, the result will be irrational behaviour and impulsive action.

It follows from the above that once the rules and regulations governing the flow of psychic energy are learnt i.e. which flow produces evil and which produces good, we can remain in complete command of our urges and impulses, eradicate evil from our behaviour and achieve total goodness.

There are several psychic centres in different parts of the body. Focussing our psychic attention on these centres—concentrated perception of these centres—would open doors and windows through which the super-consciousness would give us a sense of wisdom and subdue our animal impulses.

हिन्दी सारांश

प्रेक्षाध्यान : चैतन्यकेन्द्रों का दर्शन

मुनिश्री महेन्द्रकुमार
अणुव्रत विहार, दिल्ली

ध्यान का उद्देश्य हमारे व्यवहार, मनोवृत्ति, व्यक्तित्व एवं परिवेश का प्रशस्त रुपांतरण है। यह तरंगातीत शांत स्थिति, अतः सिद्ध दशा लाता है। पूर्वाचार्यों के ज्ञान तथा आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों के संश्लेषण से प्रेक्षा-ध्यान की प्रक्रिया विकसित की गई है। इससे मनुष्य की पशुवृत्तियाँ नष्ट होती हैं एवं शांति, सुख एवं सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ध्यान द्वारा रुपांतरण के लिये उपदेशों की नहीं, अभ्यास की आवश्यकता है।

प्रेक्षाध्यान में विभिन्न चैतन्य केन्द्रों की प्रेक्षा की जाती है। ये मुख्यतः पांच हैं—विशुद्धि, दर्शन, ज्ञान, ज्योति एवं शांति केन्द्र। ये केन्द्र शरीर के वाहिनीहीन ग्रन्थितंत्र से सहचरित होते हैं जो हमारे मस्तिष्क और नाड़ी संस्थान को प्रभावित करता है और विशिष्ट प्रकार के हार्मोनों के उत्पाद पर नियंत्रण कर हमारे मन और भावों को भी नियंत्रित करता है। यह ग्रथितंत्र स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के बीच सेतु का काम करता है। डाक्टरों ने पाया है कि यह ध्यान अनेक गंभीर रोगों को शांत करता है। किन्तु शारीरिक स्वास्थ्य ही ध्यान का कार्य नहीं है, उसका कार्य तो अन्तर्चेतना का प्रशस्तीकरण है। प्रेक्षाध्यान निमित्त और उपादान—दोनों को प्रभावित करना है।

●

Lesya Dhyana

YUVACHARYA MAHAPRAJNA

Jain Vishwabharti, Ladnun (Rajasthan)

Colour and Psychology

Our entire life is profoundly influenced by colours. Today psychologists and scientists have discovered that colour is the most important of the environmental factors which affect the conscious, subconscious and unconscious mind of a person. Colour profoundly affects our entire personality.

Light and colour profoundly affect the health and behaviour of living beings. Importance of sunlight to the vegetable kingdom is universally accepted. Ancient as well as modern science have been keenly interested in the studies of the effect of different colours on the physical, mental and emotional states and behavioural patterns of human beings as well as other animals. Colour-healers of 19th century claimed to cure everything from constipation to meningitis with coloured glass filters. Inevitably it was discredited. However it has been rejuvenated under the new names of photobiology and colour-therapy. Richard J. Wurtman, nutritionist at the Massachusetts Institute of Technology, says. "It seems clear that light is the most important environmental input after food, in controlling bodily functions." Several experiments have shown that different colours affect blood-pressure, pulse and respiration-rate as well as brain-activity and bio-rhythms. As a result, colours are now used in the treatment of a viriety of diseases.

Perception of Psychic Colours

Lesya-dhyana is perception of psychic colours in conjunction with psychic centres. It is the most important exercise in the system of Preksha meditation. In this exercise, the practitioner concentrates his full attention on a particular psychic centre and then visualises a specific colour on that centre. However, it is necessary for him to be proficient in practising relaxation, perception of breath, perception of body and perception of psychic centres, before he practises perception of psychic colours. A mountaineer who wants to climb the Everest, must first establish a base-camp and then plan his ascent in stages to reach the peak. The climbing process has its own order. Nobody can ignore the order and jump up on the peak. In the same way, one is not competent enough to practice Lesya dhyana until

(1) One is thoroughly conversant with numerous physical and mental Functions;

(2) One has experienced the subtle vibration, produced by the flow of vital energy, which is concomitant with these functions;

(3) One has developed full competency to grasp and perceive with equanimity the above-mentioned vibrations;

(4) One has attained, by sustained conscious effort, the insight to interpret the functions of various psychic centres and their secretions (hormones).

Arrangement and Synthesization of Colours

It has been shown that colour has profound influence on our body, mind, emotions, passions etc, Physical health or sickness, mental equilibrium or upset, stimulation or inhibition of impulses-all these depend upon our adjustment of various colours i. e. replenishment of deficient colour with specific centre. For instance, deficiency of 'blue' colour in our body results in being short-tempered. Meditation of blue colour rsmoves the deficiency and the habit subsides. Deficiency of white colour produces agitation, that of red colour stimulates laziness and indecision, and that of yellow colour enervates the nervous system. Daily practice of visualization and perception of white colour on Jyotikendra, red colour (rising sun) on darsana kendra and yellow colour on jnana kendra for 8-10 minutes will result in tranquillity, activencess and revitalization of nervous system respectively. When you are facing a serious problem with no apparent solution, try this simple experiment :

Quietly sit down and relax; breathe slowly; keep your body motionless and limp; close the eyes softly, perceive golden yellow colour (padma lesya) on caksus kendra or ananda kendra for ten minutes. A solution of the problem will present itself.

Technique of Perception of Psychic Colours

Lesya dhyana is perception of psychic colours. In this practice, we perceive a specific colour on a specific psychic centre. Since, for a successful meditational session, actual appearance of the desired colour is assential, it is necessary to know fully about the quality of various colours. First of all, all colours are divided in two categories: (I) bright or shining colours which emit or reflect most of the light falling on it, and (II) dark and gloomy colours which do not emit, do not reflect much, but absorb most of the light. Dull and gloomy black, blue and grey are inauspicious, but bright black etc. are not so. Similarly bright red, yellow and white are auspicious, but dark and dull red, etc. are not so. In Leśya dhyana we visualize bright colours and not gloomy ones.[1] In lesya dhyana, the

1. Luminous objects—sun, moon, stars, lighted bulb or tubeligt etc. emit lights of different colours, e. g. a rising sun first emits red, then orange and then white light. All these are bright colours. Other objects can be seen when light falls upon them. Brightness or dullness of their colours will depend upon how much of the falling light is reflected and how much is absorbed. Thus, colour of a polished surface will be bright, because most of the light is reflected, e. g. moonlight itself or sunlight reflected by snow is bright white. On the other hand, a dark or gloomy colour would be seen in a dull surface, e. g. colour of ash in gloomy grey.

Red yellow and white are auspicious colours only when they are bright The colour of most flowers is bright when they are fresh but becomes gloomy when the same flower is withhered or dried.

following five bright colours are visualised :

1. Green colour as of emerald.
2. Blus colour as of peacok's neck.
3. Red colour as of rising sun.
4. Yellow colour as of sun-flower or gold.
5. White colour as of full moon or snow.

To bring about the actual appearance of desired colour, it is essential to concentrate and actually see the colour mentally. Visualization is the key to this technique. Once it is sustained and intensified, the mind will project the colour and there would be actual appearance. Visual aids in the form of coloured bulbs or coloured cellophene paper wrapped on the lighted bulbs are useful. When one looks at a source of coloured light with open and unwinking eyes for a few moments, he will visualize it with closed eyes.

For actual appearance of colour, steadiness and conncentration of mind is essential. Concentration here means intensified and sustained visualization of a single colour. As mental steadiness increases and visulization is intensified, the desired colour is produced by the subtle taijasa body and the mental picture actually projects itself. At this stage the experience is real and not imaginary.

As already stated at the outset, practice of lesya dhyana is comparable to reaching the peak of a mountain. Success is likely to vary widely from person to person. Some may achieve a significant success in very short time, while another may take a long time and will have to practise it patiently for deriving measurable benefits. No one need, however, be disappointed, because with presistent efforts everybody will ultimately be adequately benefitted. Every practitioner is endowed with infinite potential capability, but he is not aware of this. What is needed is self-reliance and patient development of the potential capability into active competence.

Frequently, instead of the desired colour, some other colour appears. This should not discourage the practitioner. In fact, appearance of any colour is a proof that the teachnique is well in hand, and is, therefore, a good sign. Appearance of a colour is the result of the steadiness of mind and concentration. Though this cannot be considered as a remarkable achievement, yet it has its own importance, because it strengthens reverence and belief of the practitioner. In the absence of any experience it looks as if the meditational practice is not proving fruitful. Experience-small or big serves a lot of purpose.

Auto-suggestion and Intense Willing

One of the important points in the technique of lesya dhyana is the actual experience of various results and changes accruing from the effect of perceiving different colours. To strengthen the result of meditational practice, an important exercise is auto-suggestion. A new therapy called 'autogenic therapy' is being developed in the western countries recently. The basic principle of this therapy is self-hypnosis or auto-suggestion.

One visualizes a state or a condition, intensifies it, and then experiences it. This exercise is called exercise of bhavana (intense willing) in philosophy. By its practice, one can change one's own self as well as the environment, i. e. one can achieve internal as well as external change. For instance, when one practises perception of bright white colour (as that of a fullmoon) on Jyoti Kendra, first he visualizes that white luminescence is spreading all round his body and envelops him, next, he, by auto-suggestion, visualizes that his aura is completely permeated with white radiance; after that he intensely wills, "My anger is subsiding, my agitation and excitation are being pacified, my urges and impulses are abating", and finally experiences growing peace and tranquility.

Technique of Meditation

Premeditation Exercise No-1 : Relaxation (*Kayotsarga*)—This is an essential pre-condition of meditational practice, resulting in steadiness of the body. The whole body is mentally divided into several convenient parts and full attention is concentrated on each part, By the process of auto-suggestion, each part is relaxed and the relaxation experienced. The relaxed and motionless state of the body is maintained throughout the meditation session. Simultaneously, there should be a keen awareness of the spiritual self. This exercise will take 7 to 10 minutes.

Premeditation Exercise No-2 : *Internal Trip* (*Antaryatra*)—Full attention is to be concentrated on the bottom of the spine called sakti Kendra. It is then directed to travel upwards along the spinal cord to the top of the head jnana kendra. When the top is reached, direct the attention to move downwards taking the same path until it reaches Sakti Kendra again. Repeat the exercise for about 5 to 7 minutes. All the time, the consciousness is confined in the path of the trip (i.e, the spinal cord), and the sensations therein, caused by the subtle vibrations of the flow of the vital energy, are carefully perceived.

Meditation Perception of Psychic Colours (Lesya Dhyana)

The first step is to visualize that everything around, including the air itself, is coloured bright green as if reflected by an emerald. The respiration is to be slowed down and with every inhalation green air is breathed in. This is to be continued for 2 to 3 minutes. Full attention is to be focussed on Ananda Kendra (psychic centre of bliss, located near the heart), and by sustained and intensified visualization, bright green colour is to be perceived. After 2 or 3 minutes, visualize that this colour is radiating from the centre and spreads all around the body permeating the entire aura, which becomes bright green. Finally by intense willing, FREEDOM FROM PSYCHOLOGICAL FAULTS AND NEGATIVE ATTITUDES is to be experienced, (for 2 to 3 minutes). Adopting the same technique, perceive bright blue colour (as of the neck of a peacock) on visuddhi Kendra; bright red colour (as of the rising sun) on darshana Kendra; bright yellow colour (as of polished gold) on jnana Kendra or chaksus Kendra; and bright white colour (as of full moon) on jyoti kendra.

The following table shows the psychic centres, colours to be visualized and what is to be experienced by intense willing :

	Psychic Centres	Position	Colours to be visualized	Intense willing and experience
1.	Centre of bliss (Ananda Kendra)	Heart	Emerald Green	Freedom from psychological faults and Negative attitudes.
2.	Centre of Purity (visuddhi Kendra)	—	Peacock-neck Blue	Self-control of Urges and Impules.
3.	Centre of intuition (darsana kendra)	Pineal gland	Rising sun red	Awakenning of intuition-bliss.
4.	Centre of wisdom (jnana kendra) or centre of vision (chaksus kendra)	Head cortex	Golden Yellow	Acuity of perception-clarity of thought.
5.	Centre of enlighten-ment (jyotikendra)	Pituitary gland	Full moon white	Tranquillity, subsidence of anger and other state of agitation and excitation.

Benefits : (i) Mental Happiness

Numerous benefits accrue from the practice of perception of psychic colours. Some benefits pertain to the internal functions and some to the external ones : some are physical and some mental. One of the immediate benefits is mental happiness. As one becomes more accomplished, mental happiness increases. The feeling is not of joy or pleasure, but of happiness. There is much difference between the two. Wherever there is joy, there is bound to be sorrow, they are inseparable. What one achieves as a benefit is happiness, and not joy. An internal benefit is refinement of one's aura. A regular practitioner of systematic meditation has a refined aura, purified lesya and undistorted emotions.

(ii) Evidence of Religiosity : One may desire to protect himself from the miseries accruing from sin, by seeking refuge in religion. That is, one wants to escape the consequences of sinful life. At the same time, one wishes to get that which is not obtainable from it. Bad habits, vicious mentality, anxiety, agitation and mental tension-all these result from a sinful life, but one wants to get rid of them. He wants peace, harmony, freedom from tension, sympathy and friendship. That is why one desires to take refuge in religiousness. Even after accepting the religion, if one does not change, there is something wrong somewhere, i. e. either he failed to follow the religious path or he made a wrong choice.

One adopts a religion or a creed and adheres to it for the whole life. But at the time of death, one strikes a balance sheet and finds that the result is zero, that there has been no change in his behaviour, and that there is no evidence of religiosity in his way of

life. In that case, it would not be a sacrilege if one concludes that religion is just a pleasant pastime, or that it makes one learned; but it has no potency to change one's personality. But such a conclusion would be true for a superficial or pseudo-religiousness, but not for real religion. It would be true for the 'shell' of the religion but not its 'spirit.'

The problem is that now-a-days (so-called) religious leaders have devalued the moral principles and have tried to establish ritualistic traditionalism as religion. The true religion, which should not be dogmatic or doctrinaire but practical and dynamic, has unfortunetely been shorn off practical side. Beneficial factors, which could be obtained only by actual experience and practice, are not available because it lacks the practical side. The creed, which is merely doctrinaire, which does not seek fresh knowledge, which is not dynamic enough to search and advance its knowledge and wisdom, is reduced to traditionalism, and is no longer qualified to be called 'religion'. In course of time, like static pool water, it would become foul. The creed which does not care to expand its own wisdom by research and practice but teaches ils adherents, wholly by exhortations and traditions with their attendant myths, legends and supertitions, cannot hope to be of any significant benefit to them.

In reality, experimental research and actual experience is the spirit of religion. The proof of potency and truth of such a religion is that its followers can positively change for the better. That inspite of accepting the protection of religion—and adopting a religious way of life, one does not change for the better, is improbable. The basic principle of being religious (i.e. adopting a virtuous way to life) is to commence treading the path of change-pilgrimage towards transmutation. Virtuous traits and religious characteristics become evident in the attitude and behaviour of a truly religious person. When the pilgrimage starts, characteristics of taijas, padma and sukla lesyas begin to appear in the person's feelings, attitude and behaviour. Transmutation of lesya is the only means to become truly religious. In other words, the malevolent trinity-krasna, nila and kapota—is replaced by the benevolent trinity-taijasa, padma and sukla.

It must be remembered that the change in synthesization of the outpouring of hormones from the endocrine system results in the attitudinal change. When the transmutation is established, the compulsive impetus to the bad habits vanishes. Krsna lesya, the extreme malevolent lesya is modified to nila lesya and that in turn is modified to kapota. Now the transmutation of lesya commences and taijas lesya the weakest of the benevolent trinity-replaces the kapota lesya.

The frequency of the waves of krsna lesya is high and the wave-length is short. In nila lesya the wave-length increases and frequency is reduced. This change continues and culminates in sukla lesya where the frequency is practically zero and wave-length is infinite. The transmutation is total.

(iii) **Purification of Character-Strengthening of Will-power :** When a practitioner of the perception of psychic colours crosses the border of gross physical body and enters the domain of subtle body, he will know where and when the bright white, red and blue

colours appear. He will also know how tranquillity, bliss and happiness are produced. A question may be raised : why do the colours appear ? The appearance of colours is an auspicious sign. It corroborates that attention is not wandering, concentration is substantial and lesya is changing. Change in lesya results in purification of the aura which, in turn, leads to purity of character. Thus, purity of character is proportional to purification of lesya and aura.

We are contsantly invaded by aggressive radiations, colours etc., from the external environment. They affect our aura, but the aura of a sadhaka, whose character is untainted, whose emotions and lesya are purified, is powerful enough to withstand their onslaught. Its electro-magnetic radiatious are very powerful. It is impenetrable, and so whatever hits it, is repelled and sent back without entering it. Even if some-one curses a person with virtuous character, it will not have any ill-effect on him (or her). Moreover, the radiations from such an aura are so graceful and enchanting that people are attracted towards him. The will-power of a person with pure character is very strong and successful. Consequently, all the wishes of such a person are fulfilled.

हिन्दी सारांश

लेश्या ध्यान

युवाचार्य महाप्रज्ञ
जैन विश्वभारती, लाडनूं

हमारे जीवन में रंगों का पर्याप्त महत्व है। ये हमारे मन, परिवेश, व्यक्तित्व, आवेग, उद्वेग, कषाय एवं स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। हमारे शरीर में नीले रंग की कमी से उतावलापन आने लगता है। श्वेत रंग की कमी से उद्वेग, लाल रंग की कमी से आलस्य और अनिर्णय, पीले रंग की कमी से नाड़ी-तंत्र में अस्वस्थता आती है। इन रंगों पर विभिन्न चैतन्य केन्द्रों पर ध्यान करने से ये कमी दूर होती हैं, अनेक रोग शांत होते हैं और आत्मिक विशुद्धि भी प्राप्त होती है।

जैनों की लेश्या की धारणा रंगों से संबंधित है। यह अपूर्व है। यह आंतरिक भावों को विविध-वर्णी और अब चित्रणीय आभामंडल के रूप में प्रकट करती है। चैतन्य केन्द्रों पर प्रशस्त वर्णों के ध्यान से, इसे अतएव मनोभावों की कालिमा धवलता में रूपांतरित की जा सकती है। इस विविधवर्णी चित्त केन्द्रण को लेश्याध्यान कहा जाता है। यह प्रेक्षाध्यान का महत्वपूर्ण सहचारी घटक है। विभिन्न केन्द्रों पर नीले, लाल, पीले या श्वेत रंग के ध्यान करने पर विशिष्ट प्रकार की अनुभूतियाँ एवं प्रशान्त परिणाम प्राप्त होते हैं। इस ध्यान से मानसिक सुख, धार्मिक वृत्ति, संकल्पशक्ति की सबलता और तरंगातीत अवस्था तक रूपांतरण की प्राप्ति होती है। इस ध्यान के लिये प्रबल अभ्यास आवश्यक है।

लेश्या द्वारा व्यक्तित्व रूपान्तरण

मुमुक्षु शांता जैन

जैन विश्व भारती, लाडनूं, (राजस्थान)

मनुष्य जीवन का विश्लेषण हम जहाँ से भी शुरू करें, आगम सूक्त की अनुप्रेक्षा के साथ पहला प्रश्न उभरेगा—"अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे" मनुष्य अनेक चित्त वाला है।[1] वह बदलता हुआ इन्द्रधनुषी व्यक्तित्व है। विविध स्वभावों से घिरे मनुष्य को किस बिन्दु पर विश्लेषित किया जाए कि वह अच्छा है या बुरा ? देश, काल व परिस्थिति के साथ बदलता हुआ मनुष्य कभी ईर्ष्यालु, छिद्रान्वेषी, स्वार्थी, हिंसक, प्रवंचक, मिथ्यादृष्टि के रूप में सामने आता है, तो कभी विनम्र, गुणग्राही, निःस्वार्थी, अहिंसक, उदार, जितेन्द्रिय और तपस्वी के रूप में। आखिर इस वैविध्य का तत्व कहां है ? ऐसा कौन-सा प्रेरक बिन्दु है जो न चाहते हुए भी व्यक्ति द्वारा बुरे कार्य करवा देता है ? ऐसा कौन-सा आधार है जिसके बल पर एक संन्यासी बिना भौतिक सम्पदा के आनन्द के अक्षय स्रोत तक पहुँच जाता है और दूसरा भौतिक सम्पदा से घिरा होकर भी प्रतिक्षण अशान्त, बेचैन, कुण्ठित और दुःखाक्रान्त होकर जीता है ? ऐसे प्रश्नों का समाधान हम व्यवहार के स्तर पर नहीं पा सकते। जैन दर्शन ने चित्त के बदलते भूगोल को सम्यक् जानने के लिये और मनुष्य के बाह्य और आन्तरिक चेतना के स्तर पर घटित होने वाले व्यवहार को समझने के लिये लेश्या का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

लेश्या का निरूपण: परिभाषा

जैनों का लेश्या-निरूपण आजीवक, पूरण कश्यप, बुद्ध और महाभारत के व्यास के अचेलकत्व, जन्म, कर्म एवं अभिजातियों के विभिन्न दृष्टिकोणों पर आधारित विवरण से भिन्न हैं। जैनों की लेश्या का सम्बन्ध एक-एक व्यक्ति से है, समूह या जाति से नहीं। जैनों ने वर्ण के साथ अन्तर्भाव या आत्म-भाव का भी समन्वय किया है। इस सिद्धांत की हठयोग के छः चक्रों से समकक्षता है।

वैचारिक धारणाओं और अमूर्त तत्वों को दृष्टिगोचर उपमानों के माध्यम से व्यक्त करने की परम्परा पर्याप्त प्राचीन है। वर्ण अथवा रंग की दृश्यता एवं प्रभाव ने भारतीय चिन्तकों को सदा मोहित किया है। इसीलिये उन्होंने

सारणी १. वर्णों द्वारा विभिन्न तत्वों का निरूपण

गति (कृष्ण)	धर्म (बुद्ध)	कर्म (पंतजलि)	प्रकृति (श्वेता०)	प्रकृति	अन्तर्भाव (जैन)	प्राणिवर्ण (महाभारत)	अभिजाति (पूरण कश्यप)
कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	पीत पृथ्वी	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण
शुक्ल	शुक्ल	शुक्ल	शुक्ल	श्वेत, बेंगनी जल	नील कापोत	धूम्र	—
		शुक्ल-कृष्ण	लोहित	लाल तेजस	तेजस	नील	नील
				नील वायु	पद्म	रक्त	लोहित
		अशुक्ल-अकृष्ण		कृष्ण नीलम आकाश	शुक्ल	शुक्ल	शुक्ल
						हरित	हरित
						धूम्र	पूर्णशुक्ल

धर्म, कर्म, गति, प्राणि, प्रकृति आदि को विशिष्ट वर्णों के रूप में व्यक्त कर वर्णित किया है।[२] सारणी १ से स्पष्ट है कि महाभारत और जैनों का प्राणियों एवं अन्तर्भावों का विभाजन समान-सा लगता है क्योंकि इन्हें सुख, दुःख और सहिष्णुता से सम्बन्धित किया गया है। फिर भी, जैनाचार्यों का अन्तर्भावों का लेश्या पर आधारित निरूपण तीक्ष्ण एवं गहन विचारणा का निरूपण है। इसमें वर्ण का केवल भौतिक रूप (द्रव्य लेश्या) ही नहीं लिया गया है, उसका भावात्मक चरित्र भी प्रकट किया गया है। जैन शास्त्रों के अवलोकन से पता चलता है कि 'लेश्या' शब्द के अर्थ का भौतिक रूप से लेकर आध्यात्मिक रूप तक संभवतः क्रमिक विकास हुआ है। यह सारणी २ से स्पष्ट होता है। संभवतः रूप-रसादि में वर्ण के सर्वाधिक दृश्य एवं प्रभावकारी होने से ही जीवों के बहिरंग एवं अन्तर-रूपों को मनोवैज्ञानिक रूप से प्रकट करने के लिये उसे चुना गया। मानव के अन्तर-रूप को उसकी बहिरंग बहुरंगी आभा प्रकट रूप से व्यक्त करती है। यह बहिरंग रूप का आभा द्रव्य लेश्या कहलाती है, यह भौतिक है, पौद्गलिक है। देवेन्द्र मुनि के अनुसार, इसके

सारण २. लेश्या शब्द के अर्थ

१.	वर्ण, प्रभा, रंग	प्रज्ञापना, जीवाभिगम आदि
१.	आणविक आभा, कान्ति, प्रभा, छाया	उत्तराध्ययन वृत्ति
२.	मनोयोग, विचार, प्रशस्त वृत्ति	आचारांग
३.	छाया पुद्गलों से प्रभावित होने वाले जीव परिणाम	भगवती आराधना
४.	आत्मा और कर्म का लेपक या आत्मीकरण माध्यम	गोम्मटसार जीवकांड
५.	वर्ण और आणविक आभा	,,
६.	आत्मा और कर्म का सम्बन्ध करने वाली प्रवृत्ति	वीरसेन
७.	कषायों के उदय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति	पूज्यपाद, अकलंक, नेमचन्द्र
८.	पौद्गलिक पर्यावरण, पुद्गल समूह	देवेन्द्र मुनि

पुद्गल कषाय, मन और भाषा से स्थूल एवं वैक्रियक शरीर, शब्द, रूप, रस, गंध आदि से सूक्ष्म हैं। यह मन्तव्य पुनर्विचार के योग्य है क्योंकि रस, गंध और मन के पुद्गलों की कोटि अणुमय होती है। इनका विस्तार $१०^{-८}$ सेमी० के लगभग माना जा सकता है। इसके विपर्यास में रूप, कषाय, शब्द या भाषा ऊर्जारूप होते हैं। इनका विस्तार अणुओं से पर्याप्त अल्पतर होता है। इसलिये विचार एवं प्रवृत्तियों के पुद्गल उपरोक्त दोनों कोटियों से सूक्ष्मतर होते हैं। इसके द्रव्यमन से स्थूलतर होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह सही है कि द्रव्यलेश्या के पुद्गल भावलेश्या से स्थूल होते हैं। फिर भी ये कर्म पुद्गलों से सूक्ष्मतर होते हैं। भगवती सूत्र[३] में भी बताया गया है कि कार्मणशरीर, मनयोग एवं वचनयोग चतुस्पर्शी (ऊर्जात्मक) होते हैं और औदारिक वैक्रियक, आहारक एवं तैजस शरीर अष्टस्पर्शी होते हैं।

लेश्याओं के विवरण के विविधरूप और महत्वपूर्ण विवरण

जैन शास्त्रों में लेश्याओं का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। उत्तराध्ययन[४] में इन्हें ग्यारह प्रकार से, अकलंक[५] और नेमचंद्र ने सोलह प्रकार से और प्रज्ञापना[६] में इसे पन्द्रह अधिकारों के रूप में वर्णित किया गया है। इनमें अनेक प्रकार समान हैं (सारणी ३) पर कुछ विशेष भी हैं। इन पर चर्चा करना इस लेख का अभीष्ट नहीं है। फिर भी, कुछ शास्त्रीय विवरण सारणी ४ में दिये गये हैं। इनमें वर्णों से सम्बन्धित आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के निष्कर्ष भी दिये गये हैं। इससे वर्णों के मन, शरीर एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रभावों का सहज ही मान हो जाता है। ये प्रभाव ही लेश्याध्यान के बीज हैं।

सारणी ३. लेश्या-वर्णन के विविध प्रकार या अनुयोगद्वार

१. उत्तराध्ययन	२. प्रज्ञापना	३. अकलंक और नेमचन्द्र
नाम	—	निर्देश
वर्ण	वर्ण	वर्ण
रस	रस	—
गंध	गंध	—
स्पर्श	स्पर्श	स्पर्शन
परिणाम	परिणाम	परिणाम
लक्षण	—	लक्षण
गति	गति	गति
आयुष्य	—	काल
स्थिति	—	अन्तर
स्थान	स्थान	—
	अल्पबहुत्व	अल्पबहुत्व
	प्रदेश	—
	वर्गणा	—
	अवगाह	क्षेत्र
	उत्पाद	संख्या
	उद्वर्तना	संक्रमण
	ज्ञान	कर्म
	दर्शन	—
	(१–४ प्रशस्तादि चार	स्वामित्व
	विकल्प)	साधन
		(औदयिक) भाव

सारणी ४ से अनेक प्रकार की सूचनायें प्राप्त होती हैं। तेजस और पद्म लेश्या के वर्ण के विषय में श्वेतांबर और दिगम्बर परम्पराओं में भिन्नता है। जहाँ आगम इन्हें क्रमशः लाल (बालसूर्य) और पीला (हल्दी) रंग का मानते हैं, वहाँ अकलंक आदि आचार्य इन्हें क्रमशः स्वर्ण (पीला) एवं पद्म (लाल) मानते हैं। यह मान्यता आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से, वर्ण के तरंग-दैर्घ्य के आधार पर भी उचित है। गेलड़ा[२] ने इसे तर्कसंगत रूप में ही प्रस्तुत किया है। अतः इन लेश्याओं से सम्बन्धित विवरणों को इसी रूप में लेना चाहिये। वस्तुतः इन विवरणों में मात्र प्रभावों की कोटि में ही विशेषता है। पीतिमा एवं लालिमा, रितुओं के परिवर्तन के समय, जगत में वासन्ती क्रान्ति एवं विकास की प्रतीक है।[१०] सामान्य जन के लिये ये वर्ण प्राणशक्ति, जीवनशक्ति, एवं संसार के उद्भव व विकास की कामना एवं प्रवृत्ति के प्रेरक हैं। ये भौतिक जीवन की नवता के प्रतीक हैं। परन्तु, जैसे ये वर्ण भौतिक क्रान्ति के प्रतीक हैं, उसी प्रकार ये आध्यात्मिक क्रान्ति के भी प्रतीक माने गये हैं। बौद्ध भिक्षुओं के एवं सन्यासियों के पीत एवं गैरिक वस्त्रों की परम्परा उनके उत्कृष्ट अध्यात्म विकास की प्रेरणा मानी गई है। वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय दृष्टि से पीला रंग त्रिकोणी मणिपुर चक्र, अग्नितत्व और मानसिक स्थिरता एवं प्राणशक्ति का प्रतीक है, वहाँ लाल रंग दृढ़ता, स्थिरता एवं उत्साह का

सारणी ४. वर्णों या लेश्याओं का शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विवरण

	कृष्ण	नील	कापोत	पीत, तैजस	पद्म	शुक्ल
१. वर्ण समकक्षता (वैज्ञानिक)	कृष्ण	नील	आकाश-नील	पीला	लाल	सफेद
२. लक्षण	क्रूर, हिंसक	ईर्ष्यालु, स्वार्थी, क्षुद्र, लोलुपी	वक्र, मायावी	नम्र, पापभीरु	उपशांत अल्पकषायी	शांत, जितेन्द्रिय, ध्यानी
३. वर्ण (श्वेतांबर मान्यता)	अंजन, खंजन आदि १७ काले पदार्थों के समान काला	वैडूर्य, अशोक आदि १९ प्रकार के नीले पदार्थों के समान नीला	अलसी-पुष्प, कोयल पंख आदि ९ प्रकार के पदार्थों के समान भूरा (काला + लाल)	गेरू, तरुणसूर्य आदि २४ प्रकार के पदार्थों के समान लाल	हरताल, हल्दी आदि २३ प्रकार के पदार्थों के समान पीला	दुग्धधारा, शंख आदि ५ पदार्थों के समान श्वेत
४. वर्ण (दिग० मान्यता)[५]	भ्रमर के समान काला	मयूर कंठ-सा नीला	कबूतर के समान	स्वर्ण-सा पीला	पद्म-सा लाल	शंख-सा श्वेत
५. रस	बज्र कटु	चिरायते के समान तीखा	कषायला	खटमीठा	मधु मिष्ट	गुड़ के समान मीठा
६. गंध	दुर्गंध	दुर्गंध	दुर्गंध	सुगंध	सुगंध	सुगंध
७. स्पर्श	शीत, रूक्ष	शीत, रूक्ष	शीत, रूक्ष	उष्ण, स्निग्ध	उष्ण, स्निग्ध	उष्ण, स्निग्ध
८. तत्व	आकाश	वायु	आकाश	पृथ्वी	तैजस	जल
९. प्रकृति	क्रोधभावना	—	भक्तिभावना	तर्कभावना	कामवासना	शान्ति
१०. मन पर प्रभाव	मोह, असंयम, क्रूरता की वृत्ति	ईर्ष्या, असहिष्णुता की वृत्ति	वक्रता, कुटिलता की वृत्ति	कषायनाशन वृत्ति	सरलता, विनम्रता	शांति, जितेन्द्रियता
११. शरीर पर प्रभाव	— —	स्नायु-दौर्बल्य नाश, आमाशय रोग नाश	— —	मस्तिष्कशक्ति, रोग नाशन	स्नायुमंडल में स्फूर्ति	गाढ़निद्रा
१२. प्रकृति पर प्रभाव	अस्वस्थता	शीतलता-संचार	शीतलता	अल्प ऊष्मावर्धक	ऊष्मावर्धक	समप्रकृति

१३. शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक प्रकृति[७]	—	(१) षोडशदलीय विशुद्धिचक्र, स्फूर्ति, निद्रा एवं आकाश का प्रतीक, सतोगुण की प्रवृत्ति	—	(१) दशदलीय मणिपुर चक्र, अग्नि-तत्व, मनस्थिरता, प्राणशक्ति का प्रतीक, रजोगुण की प्रवृत्ति	(१) चतुष्फलकीय मूलाधार चक्र का प्रतीक, पृथ्वी एवं स्थूलशक्ति का प्रतीक, तमोगुणी	(१) शुद्धता, पूर्णता एवं सहस्रार चक्र का प्रतीक, सतोगुणी प्रवृत्ति
	—	(२) अस्थिनिर्मायक एवं जीवाणु-प्रतिरक्षी	—	(२) क्षार-गुणोत्पादी	(२) विटामिन बी. एवं ई. का प्रभाव	(२) जीवनीशक्ति प्रदायक
	—	(३) शांति, ज्ञान, बुद्धि, अन्तःप्रज्ञा, उच्चतर चेतना का विकासी	—	—	(३) क्रोध, दृढ़ता, स्थिरता, संकल्प, शक्ति, उत्साह प्रदान करता है, टानिक बनाता है	(३) शान्ति का प्रतीक
	—	(४) जामुन, अखरोट, बादाम, अंगूर आदि उपयोगी	—	(४) सेव, केला, नीबू, ककड़ी आदि उपयोगी	(४) टमाटर, तरबूज, गाजर, सोयाबीन, आदि उपयोगी	(४) आलू, दूध, आदि उपयोगी
१४. आवृत्ति	—	$१०^{-५}$–$१०^{-६}$A	—	$१०^{-५}$A	$१०^{-४}$A	$१०^{-१०}$A
१५. भाव	अशुद्ध, अशुभ, अधर्म, अप्रशस्त	अशुद्ध, अशुभ, अधर्म, अप्रशस्त	अशुद्ध	शुद्ध, शुभ, धर्म, प्रशस्त	शुद्ध, शुभ, धर्म, प्रशस्त	प्रशस्त
१६. आयुष्य, जघन्य	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
उत्कृष्ट	३३ सागर + १ अन्त०	१० सागर + पल्य/असं०	३ सागर + पल्य/असं०	२ सागर + पल्य/असं०	१० सागर + १ मुहूर्त	३३ सागर + १ मुहूर्त

प्रतीक है। इसके विपर्यास में, गैरिक वर्ण उदासीन एवं उच्चतम चेतना का उत्प्रेरक माना गया है। फलतः पीतवर्ण से गैरिक एवं रक्तवर्ण अधिक अध्यात्मप्रमुख है। इस प्रकार वर्ण या रंग अपेक्षा दृष्टि से भौतिक एवं आध्यात्मिक-दोनों प्रकार के प्रभावों को प्रदर्शित करते हैं। भौतिक स्तर पर पीले और लाल रंगों को तमोगुणी या रजोगुणी कहा जा सकता है, पर आध्यात्मिक स्तर पर तो इन्हें सतोगुणी ही कहना चाहिये। इसीलिये इनको ऊष्मावर्धक, कषायनाशक, सरलताकारी माना गया है। वस्तुतः सभी वर्णों के भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रभाव होते हैं और सापेक्षतः भौतिक एवं मानसिक परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के विपरीत प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। इसीलिये शास्त्रों में इन्हें उभय प्रकार का बताया गया है।

लेश्या का धार्मिक महत्व

जैन दर्शन में लेश्या का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कर्मशास्त्रीय भाषा में लेश्या हमारे कर्म-बन्धन और मुक्ति का कारण है। यद्यपि जीवात्मा स्फटिक मणि के समान निर्मल और पारदर्शी है, पर लेश्या के माध्यम से आत्मा का कर्मों के साथ श्लेष या चिपकाव होता है।[८] इसी के द्वारा आत्मा पुण्य और पाप से लिप्त होती है।[९] कषाय द्वारा अनुरंजित योग-प्रवृत्ति के द्वारा होने वाले भिन्न-भिन्न परिणामों को, जो कृष्णादि अनेक रंग वाले पुद्गल विशेष के प्रभाव होते हैं, लेश्या कहा जाता है। कर्म-बन्धन के दो कारण हैं—कषाय और योग। कषाय होने पर लेश्या में चारों प्रकार के बन्ध होते हैं। प्रकृति और प्रदेश बन्ध योग से होते हैं। स्थिति तथा अनुभाग बन्ध कषाय से होते हैं।[१०]

कर्मशास्त्रीय भाषा में लेश्या आस्रव और संवर से जुड़ी है। आस्रव का अर्थ कर्मों को भीतर आने देने का मार्ग है। जब तक व्यक्ति का मिथ्या दृष्टिकोण रहेगा, मन-वचन-शरीर पर नियन्त्रण नहीं होगा, राग-द्वेष की भावना से मुक्त नहीं बन पायगा, तब तक वह प्रतिक्षण कर्म-संस्कारों का संचय करता रहेगा। आगमों में लेश्या के लिये एक शब्द आया है—"कर्म निर्झर"।[११] लेश्या कर्म का प्रवाह है। कर्म का अनुभाव-विपाक होता रहता है। इसलिये जब तक आश्रव नहीं रुकेगा, लेश्याएं शुद्ध नहीं होंगी। लेश्या शुद्ध नहीं होगी तो हमारे भाव, संस्कार, विचार और आचरण भी शुद्ध नहीं होंगे। इसलिये संवर की जरूरत है। संवर भीतर आते हुए दोष प्रवाह को रोक देता है। बाहर से अशुभ पुद्गलों का ग्रहण जब भीतर नहीं जाएगा, राग-द्वेष नहीं उभरेंगे, तब कषाय की तीव्रता मन्द होगी, कर्म बन्ध की प्रक्रिया रुक जाएगी।

लेश्या का आधुनिक विवेचन

हम दो व्यक्तित्वों से जुड़े है: १. स्थूल व्यक्तित्व २. सूक्ष्म व्यक्तित्व। इस भौतिक शरीर से जो हमारा सम्बन्ध है, वह स्थूल व्यक्तित्व है। इसको जानने के साधन हैं—इन्द्रियां, मन और बुद्धि। पर सूक्ष्म व्यक्ति को इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता। जैन दर्शन में स्थूल शरीर को औदारिक और सूक्ष्म शरीर को तैजस तथा कार्मण शरीर कहा है। आधुनिक योग साहित्य में स्थूल शरीर को फिजिकल बॉडी (Physical body) और सूक्ष्म शरीर को ऐथरीक बॉडी (Etheric body), तेजस शरीर को ऐस्ट्रल बॉडी (Astral body) कार्मण शरीर को कार्मिक बॉडी (Karmic body) कहा है। लेश्या दोनों शरीर के बीच सेतु का काम करती है। यही वह तत्व है जिसके आधार पर व्यक्तित्व का रूपान्तरण, वृत्तियों का परिशोधन और रासायनिक परिवर्तन होता है।

लेश्या को जानने के लिये सम्पूर्ण जीवन का विकास क्रम जानना भी जरूरी है। हमारा जीवन कैसे प्रवृत्ति करता है? अच्छे, बुरे संस्कारों का संकलन कैसे और कहाँ से होता है? भाव, विचार, आचरण कैसे बनते हैं? क्या हम अपने आपको बदल सकते हैं? इन सबके लिये हमें सूक्ष्म शरीर तक पहुँचना होगा।

आगम साहित्य में सूक्ष्म व्यक्तित्व से स्थूल व्यक्तित्व तक आने के कई पड़ाव है। इनमें सबसे पहला है—चैतन्य (मूल आत्मा), उसके बाद कषाय का तन्त्र, फिर अध्यवसाय का तन्त्र। यहाँ तक स्थूल शरीर का कोई सम्बन्ध नहीं है। ये केवल तेजस शरीर और कर्म शरीर से ही सम्बन्धित हैं। अध्यवसाय के स्पन्दन जब आगे बढ़ते हैं, तब वे चित्त पर उतरते हैं, भावधारा बनती है, जिसे लेश्या कहते हैं। लेश्या के माध्यम से भीतरी कर्म रस का विपाक बाहर आता है, तब पहला साधन बनता है, अन्तःस्रावी ग्रन्थि तंत्र। इनके जो स्राव है, वे कर्मों के स्राव से प्रभावित होकर आते हैं। भीतरी स्राव से जो रसायन बनकर आता है, उसे लेश्या अध्यवसाय से लेकर हमारे सारे स्थूल तन्त्र तक यानी अन्तःस्रावी ग्रन्थियों और मस्तिष्क तक पहुँचा देती है। ग्रन्थियों के हार्मोन्स रक्त-संचार तन्त्र के माध्यम से नाड़ी तन्त्र के सहयोग से अन्तंभाव, चिन्तन, वाणी, आचार और व्यवहार को संचालित और नियन्त्रित करते हैं। इस प्रकार चेतना के तीन स्तर बन गए :

१. अध्यवसाय का स्तर : जो अति सूक्ष्म शरीर के साथ काम करता है।

२. लेश्या का स्तर : जो विद्युत शरीर-तेजस शरीर के साथ काम करता है।

३. स्थूल चेतना का स्तर : जो स्थूल शरीर के साथ काम करता है।[१२]

सूक्ष्म जगत में सम्पूर्ण ज्ञान का साधन अध्यवसाय है। स्थूल जगत में ज्ञान का साधन मन और मस्तिष्क है। मन मनुष्य में होता है, विकसित प्राणियों में होता है, जिनके सुषुम्ना है, मस्तिष्क है; यह प्राण की ऊर्जा से आत्मप्रतिष्ठित होता है। पर अध्यवसाय सब प्राणियों में होता है। वनस्पति जीव में भी होता है। कर्मबन्ध का कारण अध्यवसाय है। असंज्ञी जीव मनशून्य, वचन शून्य और क्रियाशून्य होते है, फिर भी उनके अठारह पापों का बन्ध सतत होता रहता है, क्योंकि उनके भीतर अविरति है, अध्यवसाय है।[१३] लेश्या बिना स्नायविक योग के क्रियाशील रहती है। इसलिये लेश्या का बाहरी और भीतरी दोनों स्वरूप समझकर व्यक्तित्व का रूपान्तरण करना होता है।

लेश्या के दो भेद हैं—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। पहली पुद्गलात्मक होती है और भाव लेश्या आत्मा का परिणाम विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है। मन के परिणाम शुद्ध-अशुद्ध दोनों होते हैं और उनके निमित्त भी शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। निमित्त को द्रव्य लेश्या और मन के परिणाम को भावलेश्या कहा है। इसीलिये लेश्या के भी दो कारण बतलाए हैं— निमित्त कारण और उपादान कारण। उपादान कारण है—कषाय की तीव्रता और मन्दता। निमित्त कारण है—पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण। दूसरे शब्दों में लेश्या का बाहरी पक्ष है योग, भीतरी पक्ष है कषाय। मन, वचन, काया की प्रवृत्ति द्वारा पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण होता है। इनमें वर्ण, गन्ध,रस, स्पर्श सभी होते हैं। वर्ण/रंग का मन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। रंगों की विविधता के आधार पर मनुष्य के भाव, विचार और कर्म सम्पादित होते हैं। इसलिये रंग के आधार पर लेश्या के छः प्रकार बतलाए हैं जिनका विवरण सारणी ४ में दिया जा चुका है।

रंग का निरूपण

रंग की न केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही व्याख्या की गई है, अपि तु आज विज्ञान की सभी शाखाओं में इसके महत्व पर प्रकाश डाला जा रहा है। भौतिकीविदों, तंत्र-मन्त्र शास्त्रियों, शरीर-शास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों ने अपने स्वतंत्र अध्ययनों से बताया है कि रंग चेतना के सभी स्तरों पर जीवन में प्रवेश करता है। रंग को जीवन का पर्याय माना गया है। वैज्ञानिकों ने स्पेक्ट्रम के माध्यम से सात रंगों की व्याख्या की है। उनके अनुसार प्रकाश तरंग के रूप में होता है और प्रकाश का रंग उसके तरंग दैर्घ्य पर आधारित है। तरंगदैर्घ्य और कम्पन की आवृत्ति परस्पर विलोमतः सम्बन्धित है। तरंग दैर्घ्य के बढ़ने के साथ कम्पन की आवृत्ति कम होती है और उसके घटने के साथ

बढ़ती है। सूर्य का प्रकाश प्रिज्म में से गुजरने पर विक्षेपण के कारण सात रंगों में विभक्त दिखाई देता है। उस रंग-पंक्ति को स्पेक्ट्रम कहते हैं। इसके सात रंग हैं—लाल, नारंगी, पीला, हरा, नीला, जामुनी और बैंगनी। इनमें लाल रंग की तरंग-दैर्ध्य सबसे अधिक होती है, बैंगनी की सबसे कम। दूसरे शब्दों में लाल रंग की कम्पन आवृत्ति सबसे कम और बैंगनी रंग को सबसे अधिक होती है। दृश्य प्रकाश में जो विभिन्न रंग दिखाई देते हैं, वे विभिन्न कम्पनों की आवृत्ति या तरंग दैर्ध्य के आधार पर होते हैं। रंग और प्रकाश दो नहीं। प्रकाश का ४९वां प्रकम्पन रंग है। इसका महासागर सूर्य से निकलता है, वह शक्ति और ऊर्जा का महास्रोत होता है। रहस्यवादियों की दृष्टि में रंग का एकरूपता, जो हम सृष्टि में चारों ओर देखते हैं, वह दैवी मस्तिष्क की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। यह प्रकाश तरंगों के रूप में एकमेव जीवन-तत्व की ब्रह्माण्डीय प्रस्तुति है।[१४]

तन्त्र या रहस्यवादियों ने सात रंगों के आधार पर सात किरणें मानी है, जिन्हें वे जीवन विकास के आरोहण क्रम में स्वीकार करते हैं। प्रत्येक किरण को विकासवादी युग का प्रतीक माना है। सात किरणें सृष्टि के सात युगों को दर्शाती हैं। आध्यात्मिक ज्ञान, जिसे प्रकाश का प्रभु माना जाता है और जो विकास का मार्गदर्शन करता है, को सात किरणों की आत्मायें भी कहा जाता है। उनकी मान्यता है कि किरणें अनन्त शक्ति और उद्देश्य की पूर्णता है जो मूलस्रोत से निकलती है और जिन्हें सर्वशक्तिमान प्रज्ञा द्वारा निर्देशन मिलता है। सात ब्रह्माण्डीय किरणों में प्रथम तीन किरणों-लाल, नारंगी और पीली से संबंधित प्रथम तीन युग बीत गए है। अब हम चौथे युग यानी हरे रंग में जी रहे हैं, जो बीच का रंग है। या यूं कहें कि एक ओर संघर्ष, कटु अनुभव का निम्नयुग और दूसरी ओर आत्मिक विकास तथा गुणों का श्रेष्ठ युग; इसके बीचोंबीच हरा रंग है। इससे आगे भावी दृष्टिकोण नीली किरणों के उच्च प्रकम्पनों की ओर आगे बढ़ा है और यह विकास अधिकाधिक श्रेष्ठ स्थिति में नील और बैंगनी तरंगों तक विकसित होता जाएगा, जब तक हम सप्तमुखी किरण विभाजन के अन्त तक नहीं पहुँच जाएंगे।[१५]

रंगों के आधार पर मनुष्य की जाति, गुण, स्वभाव, रूचि, आदर्श आदि की व्याख्या करने की भी एक परम्परा चली। महाभारत में चारों वर्णों के रंग भिन्न-भिन्न बतलाये हैं। ब्राह्मणों का श्वेत, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीला और शूद्रों का काला।[१६] जैन साहित्य में चौबीस तीर्थंकरों के भिन्न-भिन्न रंग बतलाये गये हैं। पद्मप्रभु और वासुपूज्य का रंग लाल, चन्द्रप्रभु और पुष्पदन्त का श्वेत, मुनिसुव्रत और अरिष्टनेमि का रंग कृष्ण, मल्लि और पार्श्वनाथ का रंग नीला और शेष सोलह तीर्थंकरों का रंग सुनहरा पीला माना गया है। ज्योतिष विद्या के अनुसार ग्रह मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। उनका विपरीत दशा में सांसारिक और आध्यात्मिक अभ्युदय में विविध अवरोध उत्पन्न होते हैं। इन अवरोधों को निष्क्रिय बनाने के लिये ज्योतिष शास्त्री अमुक ग्रह को प्रभावित करने वाले अमुक रंग के ध्यान का प्रावधान बताते हैं, विभिन्न रंगों के रत्न व नगों के प्रयोग के लिये कहते हैं।

शरीरशास्त्री मानते हैं कि रंग हमारे जीवन की आन्तरिक व्याख्या है। अनेक प्रयोगों द्वारा यह ज्ञात किया जा चुका है कि रंगों का व्यक्ति के रक्तचाप, नाड़ी और श्वसन गति एवं मस्तिष्क के क्रियाकलापों पर तथा अन्य जैविकी क्रियाओं पर विभिन्न प्रभाव पड़ता है। प्रो० एलेक्जेन्डर रॉस का मानना है कि रंग को विद्युत-चुम्बकीय ऊर्जा किसी अज्ञात रूप में हमारी पिट्यूटरी और पीनियल ग्रंथियों तथा मस्तिष्क की गहराई में विद्यमान हायपोथेलेमस को प्रभावित करती है। वैज्ञानिकों के अनुसार हमारे शरीर के ये अवयव अन्तःस्रावी ग्रंथि तन्त्र का नियमन करते हैं जो स्वयं शरीर के अनेक मूलभूत प्रतिक्रियाओं का नियन्त्रण करते हैं। रंग हमारे शरीर, मन, विचार और आचरण से जुड़ा है। सूर्य किरण या रंग चिकित्सा के अनुसार शरीर रंगों का पिण्ड है। हमारे शरीर के प्रत्येक अवयव का अलग-अलग रंग है। सूक्ष्म कोशिकाएँ भी रंगीन है। वाणी, विचार, भावना सभी कुछ रंगीन है। इसीलिये जब कभी शरीर में रंगों के प्रकम्पनों का सन्तुलन बिगड़ जाता है, तो व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। रंग चिकित्सा पुनः रंगों का सामंजस्य स्थापित करके स्वस्थता प्रदान करती है।[१८]

आज के मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि व्यक्ति के अन्तर मन को, अवचेतन मन को और मस्तिष्क को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्व है— रंग। रंग स्वभाव को बतलाने का सही मार्गदर्शक है। मनोविज्ञान ने रंगों के आधार पर व्यक्तित्व का विश्लेषण किया है। मुख्यतः व्यक्तित्व के दो प्रकार हैं। १. बहिर्मुखी, २. अन्तर्मुखी। रंग विशेषज्ञ एन्थोनी एल्डर का कहना है कि बहिर्मुखी जीवन लालिमा प्रधान होता है। अन्तर्मुखी जीवन में नीलाकाश जैसी उदास मनः स्थिति होती है। पीले रंग को कर्मठता, तत्परता और उत्तरदायित्व निर्वाह की भाव चेतना का प्रतीक माना है। हरे रंग को बुद्धिमता और स्थिरता का प्रतिनिधि माना है। एल्डर कहते हैं कि स्वभावगत विशेषताओं को घटाने-बढ़ाने के लिये उन रंगों का उपयोग करना चाहिये, जिनमें अभीष्ट विशेषताओं का समावेश है।

एस० जी० जे० ओसले के अनुसार—रंग के सात पहलू बताए गए हैं रंग—१. शक्ति देता है, २. चेतनाशील होता है, ३. चिकित्सा करता है, ४. प्रकाशित करता है, ५. आपूर्ति करता है, ६. प्रेरणा देता है तथा ७. पूर्णता प्रदान करता है।[१९] हेल्थ रिसर्च पब्लिकेशन, कैलिफोर्निया द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट में यह सिद्ध किया है कि बहिर्मुखी लोग गर्म रंग पसन्द करते हैं। अन्तर्मुखी लोग ठण्डे रंग पसन्द करते हैं क्योंकि उनको बाहरी उत्तेजकों की आवश्यकता नहीं होती हैं। भावना प्रधान व्यक्ति रंग के प्रति मुक्तरूप से प्रतिक्रिया करते हैं। भावनाहीन व्यक्ति को प्रायः रंग से आघात पहुँचता है। ये कठोर व्यक्तित्व वाले होते हैं और रंग के श्रेष्ठ व सूक्ष्म प्रकम्पनों से अप्रभावित रहते हैं।

कौन-सा रंग हमारे व्यक्तित्व पर कैसा प्रभाव डालता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि रंग किस प्रकार का है ? भावों को समझने के लिये भगवान् महावीर ने लेश्या को शुभ-अशुभ, रूक्ष-स्निग्ध, ठण्डी-गर्म, प्रशस्त-अप्रशस्त बतलाया है।[२०] आज के रंग विज्ञान में भी लेश्या का संवादी सूत्र उपलब्ध होता है। रंग के दो प्रकार बतलाए हैं—चमकदार-धुंधले, अन्धकारमय-प्रकाशमय, गर्म-ठण्डे। लेश्या की प्रकृति व्यक्तित्व की व्याख्या करती है। कृष्ण, नील व कापोत वर्ण यदि प्रशस्त है, चमकदार है, तो वे शुभ माने जाएंगे और पीला, लाल और सफेद रंग यदि अप्रशस्त, धुंधले होंगे तो वे अशुभ माने जाएंगे। शुभता और अशुभता रंगों की चमक पर निर्भर है।

नमस्कार मन्त्र के जप के साथ जिन रंगों की कल्पना की जाती है, उनसे भी यही तथ्य सामने आता है। जैसे—णमो अरिहन्ताणं श्वेत रंग, णमोसिद्धाणं-लाल, णमो आयरियाणं-पीला, णमो उवज्झायाणं-हरा, णमो लोए सव्व साहूणं-काला। लेश्या के सन्दर्भ में कृष्ण लेश्या को सर्वाधिक निकृष्ट माना गया है पर मुनि धर्म के साथ जुड़ा कृष्ण वर्ण प्रशस्त रंग का वाचक है। वैदिक साधना पद्धति में ब्रह्मा की उपासना लाल रंग से की जाती है क्योंकि लाल रंग निर्माता का रंग है। विष्णु की उपासना काले रंग से की जाती है क्योंकि काला रंग संरक्षण का माना गया है। महेश की श्वेत रंग से क्योंकि श्वेत रंग संहार करने वाला है। इसीलिये ध्यान करते समय रंग-श्वास में चमकदार रंगों का श्वास लेने और उनसे अपने आपको भावित करने की बात कही जाती है।

लेश्या शुद्धि या लेश्या ध्यान

जैन आगमों में लेश्या शुद्धि के लिये कई साधन बतलाए हैं। उनमें ध्यान विशेष उल्लेखनीय है। प्रेक्षाध्यान पद्धति में भाव परिवर्तन के लिये, चेतना के जागरण के लिये रंगों का ध्यान महत्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि रंग का हमारे पूरे जीवन पर प्रभाव पड़ता है। प्रेक्षाध्यान साधना पद्धति आधुनिक ध्यान पद्धतियों में एक है। उसमें युवाचार्य महाप्रज्ञ ने लेश्याध्यान को एक महत्वपूर्ण अंग माना है। इस ध्यान में साधक चैतन्य केन्द्रों पर चित्त को एकाग्र कर वहाँ निश्चित रंगों का ध्यान करता है। ध्यान की पृष्ठभूमि में वह कायोत्सर्ग, अन्तर्यात्रा, दीर्घश्वास, शरीर-प्रेक्षा, चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा आदि को भी अच्छी तरह से साध लेता है।

चैतन्य केन्द्र हमारी चेतना और शक्ति की अभिव्यक्ति के स्रोत हैं। ये जब तक नहीं जागते, तब तक कृष्ण, नील, कपोत—तीन अप्रशस्त लेश्याएँ काम करती रहती हैं। व्यक्तित्व बदलाव के लिये हमें इन लेश्याओं का शुद्धिकरण

करना होगा। रंग ध्यान द्वारा चैतन्य केन्द्रों को जगाना होगा क्योंकि केन्द्र (चक्र) रंग शक्ति के विशिष्ट स्रोत हैं। प्रत्येक चक्र भौतिक वातावरण और चेतना के उच्च स्तरों में से अपनी विशिष्ट रंग-किरणों के माध्यम से प्राण ऊर्जा की विशिष्ट तरंग को शोषित करता है। लेश्या ध्यान में आनन्द केन्द्र पर हरे रंग का, विशुद्धि केन्द्र पर नीले रंग का, दर्शन केन्द्र पर अरुण रंग का, ज्ञान केन्द्र पर पीले रंग का तथा ज्योति केन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान किया जाता है।[२१] कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएं अशुभ हैं। इसलिये उन्हीं केन्द्रों पर विशेष रूप से ध्यान किया जाता है जिनसे तेजस, पद्म और शुक्ल लेश्याएं जागती हैं। इसलिये तीन शुभ लेश्याओं का दर्शन केन्द्र, ज्ञान केन्द्र और ज्योति केन्द्र पर क्रमशः लाल, पीला और सफेद रंग का ध्यान किया जाता है। इन तीनों को प्रशस्त रंगों के रूप में स्वीकार किया गया है।[२२]

तेजोलेश्या ध्यान : जब तेजोलेश्या का ध्यान किया जाता है तो हम दर्शन केन्द्र पर बाल सूर्य जैसे लाल रंग का ध्यान करते हैं। लाल रंग अग्नि तत्त्व से सम्बन्धित है जो कि ऊर्जा का सार है। यह हमारी सारी सक्रियता, तेजस्विता, दीप्ति, प्रवृत्ति का स्रोत है। दर्शन केन्द्र पिट्यूटरी ग्लैंड का क्षेत्र है, जिसे महाग्रन्थि कहा जाता हैं, जो अनेक ग्रन्थियों पर नियन्त्रण करती है। पिट्यूटरी ग्लैंड सक्रिय होने पर एड्रीनल ग्रन्थि नियन्त्रित हो जाती है, जिसके कारण उभरने वाले काम वासना, उत्तेजना, आवेग आदि अनुशासित हो जाते हैं। दर्शन केन्द्र पर अरुण रंग के ध्यान करने से तेजस लेश्या के स्पन्दनों की अनुभूति से अन्तर्जगत की यात्रा प्रारम्भ होती है। आदतों में परिवर्तन शुरू होता है। मनोविज्ञान बताता है कि लाल रंग से आत्मदर्शन की यात्रा शुरू होती है। आगम कहता है—अध्यात्म की यात्रा तेजोलेश्या से शुरू होती है। इससे पहले कृष्ण, नील व कापोत तीन अशुभ लेश्याएं काम करती हैं, इसलिये व्यक्ति अन्तर्मुखी नहीं बन पाता।

तेजस लेश्या/तेजस शरीर जब जगता है, तब अनिर्वचनीय आनन्दानुभूति होती है। पदार्थ प्रतिबद्धता छूटती है। मन शक्तिशाली बनता है। ऊर्जा का उर्ध्वगमन होता होता है। आदमी में अनुग्रह विग्रह (वरदान और अभिशाप) की क्षमता पैदा होती है। सहज आनन्द की स्थिति उपलब्ध होती है। इसलिये इस अवस्था को "सुखासिका" कहा गया है। आगमों में लिखा है कि विशिष्ट ध्यान योग की साधना करने वाला एक वर्ष में इतनी तेजोलेश्या को उपलब्ध होता है जिससे उत्कृष्टतम भौतिक सुखों की अनुभूति अतिक्रान्त हो जाती है। उस आनन्द की तुलना किसी भी भौतिक पदार्थ से प्राप्त नहीं हो सकती।[२३] तैजोलेश्या और अतीन्द्रिय ज्ञान का भी गहरा सम्बन्ध है। तेजोलेश्या की विद्युत धारा से चैतन्य केन्द्र जागृत होते हैं और इन्हीं में अवधि ज्ञान अभिव्यक्त होता हैं।

पद्मलेश्या-ध्यान

पद्मलेश्या का रंग पीला है। पीला रंग न केवल चिन्तन, बौद्धिकता व मानसिक एकाग्रता का प्रतीक है, बल्कि धार्मिक कृत्यों में की जाने वाली भावनाओं से भी सम्बन्धित है। पीला रंग मानसिक प्रसन्नता का प्रतीक है। भारतीय योगियों ने इसे जीवन का रंग माना है। सामान्य रंग के रूप में यह आशा-वादिता, आनन्द और जीवन के प्रति संतुलित दृष्टिकोण को बढ़ाता है। मनोविज्ञान मानता है कि पीले रंग से चित्त की प्रसन्नता प्रकट होता है और दर्शन शक्ति का विकास होता है। दर्शन का अर्थ है—साक्षात्कार। लेश्याध्यान में पीले रंग का ध्यान ज्ञान केन्द्र पर किया जाता है। ज्ञान केन्द्र शरीर-शास्त्रीय भाषा में बृहद् मस्तिष्क का क्षेत्र है। इसे हठयोग में सहस्रार चक्र कहा जाता है। जब हम चमकते हुए पीले रंग का ध्यान करते है, तब जितेन्द्रिय होने की स्थिति निर्मित होती है। कृष्ण और नील लेश्या में व्यक्ति अजितेन्द्रिय होता है। पद्मलेश्या के परमाणु ठीक इसके विपरीत हैं। पद्मलेश्या ऊर्जा के उत्क्रमण की प्रक्रिया है। इसके जागने पर कषाय चेतना सिमटती है। आत्म नियन्त्रण पैदा होता है।

शुक्ल लेश्या ध्यान

शुक्ल लेश्या का ध्यान ज्योति केन्द्र पर पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसे श्वेत रंग में किया जाता है। श्वेत रंग पवित्रता, शान्ति, सादगी और निर्वाण का द्योतक है। शुक्ल लेश्या उत्तेजना, आवेग, चिन्ता, तनाव, वासना, कषाय, क्रोध आदि को शान्त करती है। लेश्या ध्यान का लक्ष्य है—आत्मसाक्षात्कार। शुक्ल लेश्या द्वारा इस लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। यहाँ से भौतिक और आध्यात्मिक जगत का अन्तर समझ में आने लग जाता है। आगम के अनुसार शुक्ल ध्यान की फलश्रुति है—अव्यय चेतना, अमूढ़ चेतना, विवेक चेतना और व्युत्सर्ग चेतना।[२४]

शरीरशास्त्रीय दृष्टि से ज्योति केन्द्र का स्थान पिनियल ग्रन्थि है। मनोविज्ञान का मानना है कि हमारे कषाय, कामवासना, असंयम, आसक्ति आदि संज्ञाओं के उत्तेजन और उपशमन का कार्य अवचेतन मस्तिष्क, हायोपेथेलेमस से होता है। उसके साथ इन दोनों केन्द्रों का गहरा सम्बन्ध है। हाइपोथेलेमेस का सीधा सम्बन्ध पिट्यूटरी और पिनियल के साथ है। विज्ञान बताता है कि १२–१३ वर्ष की उम्र के बाद पिनियल ग्लेण्ड का निष्क्रिय होना शुरू हो जाता है जिसके कारण क्रोध, काम, भय आदि संज्ञाएं उच्छृंखल बन जाती हैं। अपराधी मनोवृत्ति जागती है। जब ध्यान द्वारा इस ग्रन्थि को सक्रिय किया जाता है तो एक सन्तुलित व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

शुक्ल लेश्या का ध्यान शुभ मनोवृत्ति की सर्वोच्च भूमिका है। प्राणी उपशान्त, प्रसन्नचित्त और जितेन्द्रिय बन जाता है। मन, वचन और कर्मरूपता सध जाती है। प्राणी सदैव स्वधर्म और स्व-स्वरूप में लीन रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लेश्या ध्यान से रासायनिक परिवर्तन होते है, पूरा भाव संस्थान बदलता है। उसके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श सभी कुछ बदलते हैं। व्यक्ति जब तक मूर्च्छा में जीता है, तब तक उसे बुरे भाव, अप्रिय रंग, असह्य गन्ध, कड़वा रस, तीखा स्पर्श बाधा नहीं डालता, पर जब मूर्च्छा टूटती है, विवेक जागता है तब वह अशुभ वर्ण, स्पर्श से विरक्त होता है, उन्हें शुभ में बदलता है। यद्यपि लेश्या ध्यान हमारी मंजिल नहीं। हमारा अन्तिम उद्देश्य तो लेश्यातीत बनना है, पर इस तक पहुँचने के लिये हमें अशुभ से शुभ लेश्याओं में प्रवेश करना होगा, जिसके लिये लेश्याध्यान आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण पड़ाव है। ध्यान की एकाग्रता, तन्मयता और ध्येय-ध्याता में अभिन्नता प्राप्त हो जाने पर ही आत्मविकास की दिशाएं खुल सकती है।

सन्दर्भ सूची

१. गणधर सुधर्मा स्वामी; आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध (सं० मधुकर मुनि), आगमोदय प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०, ३,२,११८, पेज १०१

२. देवेन्द्र मुनि शास्त्री; लेश्या : एक विश्लेषण (बी० एल० नाहटा अभि० ग्रन्थ), नाहटा अभि० समिति, कलकत्ता, १९८६, पेज २/३६

३. सुधर्मा स्वामी; भगवती सूत्र भाग ४, सा० सं० रक्षक संघ, सैलाना, १९६८, पेज २०५६

४. — उत्तराध्ययन (सं० आ० चंदनाश्री), सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७२, पेज ३६२

५. अकलंक भट्ट; तत्त्वार्थराजवार्तिक—१, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९५३, पेज २३८

६. आर्य, श्याम; प्रज्ञापना सूत्र—२, आ० प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८४, पेज २३९–८८

७. स्वामी शिवपूजनानंद सरस्वती; रंगों की सूक्ष्मता और हम, योगविद्या, बिहार योग विद्यालय, मुंगेर, २१,११, १९८३, पेज २७

८. सुधर्मा स्वामी; सूत्रकृतांग प्र० श्रु०, जैन विश्व-भारती, लाडनूं, १९८३, ४|१७

९. देखिये, निर्देश ३, पेज २०६१

१०. नेमचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती; गोम्मटसार जीवकांड, परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, १९७२, पेज २२५

११. देखिये, निर्देश ४, अध्ययन ३४, पेज ६५०

१२. युवाचार्य महाप्रज्ञ; आभामंडल, तुलसी अध्यात्म नीडं, लाडनूं, १९८४, पेज १३, ४१

१३. देखिये, निर्देश ८, सूत्रकृतांग, ४/१७

१४. एस० जी० जे० ओसले; द पावर आव दी रेज, पेज ४३

१५. वही ; कलर मेडीटेशन, पेज १५

१६. महर्षि व्यास महाभारत, शान्ति पर्व, २८८/५

१८. जे० डोडसन हैस; कलर इन दी ट्रीटमेंट आव डिजीज, पेज ६१

१९. देखिये, निर्देश १५, पेज १७

२०. देखिये निर्देश ६ पेज २३९-८८

२१. युवाचार्य महाप्रज्ञ, लेश्या ध्यान, तुलसी अध्यात्म नीडं, लाडनूं, १९८४, पेज ५३

२२. देखिये, निर्देश १२, पेज ८५

२३. सुधर्मा स्वामी, भगवती सूत्र ५, सा० सं० रक्षक संघ, सैलाना, १९७०, पेज २३६?

२४. देखिये निर्देश १३, पेज ४/७०

●

जैसे कांटा चुभने पर सारे शरीर में पीड़ा होती है,
जैसे कांटे के निकल जाने पर शरीर निःशल्य हो जाता है।
वैसे ही अपने दोषों को न प्रकट करने वाला मायावी दुःखी होता है,
वैसे ही गुरु के समक्ष दोष प्रकट कर सुविशुद्ध सुखी हो जाता है।।

—समणसुत्तं

बच्चों के लिये ध्यान योग का शिक्षण

डॉ० स्वामी शंकर देवानन्द सरस्वती

सत्यानन्दाश्रम, रोजवे, नीउ साउथ वेल्स, आस्ट्रेलिया

शिक्षा के क्षेत्र में नवीन एवं सार्थक विधियों की खोज युगों से चल रही है। लगता है कि इस युग में योग और उसके उपयोगों के ज्ञान से इस क्षेत्र में परिवर्तन आनेवाला है। मानव के मस्तिष्क के विभिन्न पार्श्वों के कार्यों से सम्बन्धित अनुसंधानों से योगविद्या के प्रसार एवं चेतना की जागृति की संभावनाओं के कारण ध्यान-योग को जीवन पद्धति के रूप में स्वीकृत करने की आवश्यकता अनुभव में आई है।

हमारा मस्तिष्क दो प्रमस्तिष्कीय गोलार्धों में विभाजित है। वैज्ञानिक अनुसंधानों से प्रतीत होता है कि प्रत्येक गोलार्ध का कार्य स्वतन्त्र तथा भिन्न-भिन्न है। दक्षिणी गोलार्ध हमारे जीवन की प्रतिमा एवं स्थानिक (spatial) रूपों को निर्धारित करता है। बायां गोलार्ध वैश्लेषिक तथा रेखीय क्षमताओं से सहचरित होता है। अभी तक हमारी शिक्षा मुख्यत: बायें गोलार्ध की ओर ही केन्द्रित रही है, जिसमें अध्ययन, लेखन और गणित के समान सरल, वैज्ञानिक एवं तार्किक विषयों को ही महत्व दिया जाता है। इसमें कला, नृत्य तथा अन्य रचनात्मक प्रवृत्तियों एवं गुणात्मक प्रतिमाओं की ओर नगण्य ध्यान दिया गया है। अब शिक्षाशास्त्रियों की यह मान्यता है कि इस स्थिति में हमारा ज्ञान एकांकी रहता है और हमारी शिक्षा पूर्ण नहीं मानी जा सकती। इससे जीवन में अरुचिकर प्रभाव भी हो सकते हैं। अमरीका के इन्डियाना विश्वविद्यालय के शिक्षाशास्त्री जेरी स्मिथ के अनुसार आज शिक्षक जीवन के रहस्य से अपरिचित हैं और उन्होंने शिक्षा को एक कठोर पाठ्यक्रमों की परिधि में बांध दिया है। वे हमें मानव के पवित्र उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक नहीं बनाते। शिक्षा-महाविद्यालय के बुलेटिन में कहा गया है कि अब समय आ गया है कि शिक्षकों को आध्यात्मिक, कलात्मक, प्रतिमात्मक, परामौतिक एवं प्रेरणात्मक विकास की दिशाओं की ओर शिक्षा में ध्यान देना चाहिये। व्याख्यान, पाठ्यपुस्तकें, परीक्षा और मूल्यांकन की सुरक्षित पद्धति का हमने बहुत समय तक उपयोग कर लिया है।

मस्तिष्क का एकीकरण

विवियन शेरमान ने बताया है कि वर्तमान शिक्षापद्धति मस्तिष्क के दोनों गोलार्धों के एकीकरण में सबसे बड़ी बाधा है। केवल बायें गोलार्ध को विकसित करनेवाली शिक्षापद्धति अशुद्ध और अवास्तविक धारणाओं पर आधारित है। न्यूटन और आइन्स्टीन के समान वैज्ञानिकों की महान् खोजें प्रतिमात्मक स्फुरण (फ्लैश), समग्र विश्व की प्रकृति की अन्तर्दृष्टि तथा भौतिक विश्व के आधारभूत सम्बन्धों के अन्तर्ज्ञान के कारण ही संभव हो सकी हैं। इन्हें फिर उन्होंने बौद्धिक रूप से विकसित किया।

मस्तिष्क के दोनों भागों के एकीकरण की प्रक्रिया में शोधकर्ताओं ने ध्यान, योग, आसन, प्राणायाम, बायो-फीड-बैक आदि के प्रभावों का अध्ययन किया है। वे यह प्रयत्न कर रहे हैं कि मस्तिष्क के कार्य करने की प्रक्रिया

क्या है और उसे प्रभावित करने के लिये हम क्या कर सकते हैं। इस शोध के कुछ अचरजकारी परिणाम प्राप्त हुए हैं। केकवेड ने बताया है कि क्रिया योग के अभ्यास से मस्तिष्क का एकीकरण होता है और वह ऐसी अव्यवस्थित अवस्था में नहीं रहता है, जैसा अनेक लोग प्रायः अनुभव करते हैं। बहुतेरों का अनुभव है कि क्रियायोग करने से उनकी अन्तः ऊर्जा का विकास होता है और उनमें रचनात्मक वृत्ति विकसित होती है। उनमें विश्व के ज्ञान के प्रति रुचि होने लगती है। वे अन्तर्मन का ज्ञान कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में अभी अच्छा सूचनात्मक साहित्य प्रकाशित हुआ है। यह सब तभी संभव है जब मस्तिष्क के दोनों भाग एकीकृत होकर काम करें।

योग-निद्रा से शिक्षा

योग की शब्दावली में मस्तिष्क के गोलार्धों के एकीकरण की प्रक्रिया को सुषुम्ना नाडी का जागरण करते हैं। यह प्राण-प्रवाह का मार्ग है जो मेरुदंड तक जाता है। मस्तिष्क का बौद्धिक एवं बहिर्मुखी वायां गोलार्ध पिंगलानाडी के अनुरूप है (जो शरीर के दाहिने पार्श्व में रहती है)। इसका दांया गोलार्ध इडा-नाडी के अनुरूप है जो मस्तिष्क एवं निराकार ऊर्जा का अन्तर्हृदय है। आज के शोधकर्ता प्राचीन योगशास्त्र में वर्णित अनेक तथ्यों की व्याख्या अपने अनुसंधानों से प्राप्त कर रहे हैं।

वर्तमान शिक्षा पद्धति में सुधार लाने के लिये ध्यान, विज्ञान और शिक्षण को समन्वित किया जा रहा है। बलगेरिया के गोर्गी लुशानोव ने ऐसी पद्धति विकसित की है जो ज्ञान एवं सूचनाओं को अवचेतन मस्तिष्क और मन में प्रविष्ट कराती है और शिक्षण के समय में कमी करती है। यह शिक्षण प्रक्रिया में तीव्रता एवं शीघ्रता लाती है। यह विधि योगशास्त्रीय योग-निद्रा-विधि के समान है। इसमें शिक्षा के बौद्धिक पक्ष को पश्चान्तरित कर दिया जाता है और इसे काल-दुष्ट सिद्ध किया जाता है। शिक्षण की यह सूक्ष्म विधि अत्यन्त लोकप्रिय हो रही है। आयोवा राज्य विश्वविद्यालय के डॉ॰ डॉन शुस्टर ने बताया है कि योगनिद्रा या सम्मोहन के समान विधियों से कमजोर विद्यार्थियों ने आठ माह के पाठ्यक्रम को चार माह में ही पूरा कर लिया। अमरीका में इस विधि का समीक्षण कैलिफोर्निया राज्य विश्व-विद्यालय में मई १९७८ में आयोजित सम्मेलन में किया गया था। इसमें बच्चों में कल्पनाशक्ति, स्वप्न, मनोकायिक एवं मनोवैज्ञानिक विकास के लिये लाक्षणिक विचार-धारणाओं, बायोफीडबैक तथा ध्यान की उपयोगिता पर कर्मशालायें आयोजित की गई थीं। इस पद्धति में जो सकारात्मक अन्तर-अनुभूति होती है, उसे परा-व्यक्तिगत मनोविज्ञान का नाम दिया गया है।

प्रतिभा: तर्क की सहायक

इस सम्मेलन से यह प्रतीत होता है कि भविष्य में ध्यान द्वारा प्राप्त होने वाली आध्यात्मिक या रहस्यात्मक अनुभव प्रभावी, प्रज्ञात्मक एवं मनोवाही शिक्षा के लिये पूरक मान लिये जावेंगे। स्कूलों में ध्यान और उच्च स्तर को प्राप्त करने की शिक्षा केवल शरीर व मन के शिथिलीकरण और व्यक्तित्व के विकास के लिये ही नहीं, अपि तु मस्तिष्क के दक्षिण गोलार्ध को अनावृत करने तथा प्रज्ञा और अनुभव के नये क्षितिजों को खोलने के लिये भी दी जावेगी। इससे हमारी शिक्षा समृद्ध होगी। इसमें योग, शिक्षकों और विद्यार्थियों-दोनों के लिये उच्चतर जागरूकता प्राप्त करने में सरणी का काम करेगा। अपनी प्रतिभात्मक क्षमताओं के विकास से हम अपने परिवेश के विविध तत्वों को समन्वित कर सकते हैं। इससे हमारी दृष्टि की समग्रता बढ़ने लगती है। हमारे परिवेश एवं अन्तर्वेश के संबंधों एवं संबंधी कारकों को हम ऐसे रूप में जानने लगते हैं जो हमें विश्व को एक अनंत विकास-चक्र के रूप में समझने मे सहायक होता है।

प्रतिभात्मक विकास हमें बौद्धिक दृष्टि की समृद्धि में भी सहायक होता है। मानस प्रत्यक्षीकरण से हमें अपने पाठ्य विषय अच्छी तरह समझ में आने लगते हैं। अमरीका के यूजन, औरेगॉन के एक स्कूल में खेल और कलाओं

के द्वारा पढ़ना-लिखना सिखाया जाता है। नृत्य के द्वारा गणित तथा संगीत के माध्यम से विज्ञान सिखाया जाता है। इस विधि से अध्ययन कर इस स्कूल के बच्चों ने जिले के तीस स्कूलों में पढ़ने में पहली तथा गणित में पांचवी वरीयता प्राप्त की। मन और मस्तिष्क के विकास को संबंधित करने, मानव प्रकृति के द्विविध पक्षों—मन एवं मस्तिष्क, अन्तः एवं बाह्य, दायां और बायां, प्रतिमा एवं तर्क में सन्तुलन लाकर अधिक व्यावहारिक बनने, जीवन के लिये आदर्श लक्ष्य निर्धारित करने, व्यक्तित्व-संक्रमण की दुर्घटना को निरस्त करने एवं जीवन की दिशा प्रशस्ति के लिये शिक्षक और विद्यार्थियों के लिये योग शिक्षा ही एक उत्तम साधन सिद्ध हो रही है।

स्कूली बच्चों के लिये शिथिलीकरण

समाज के विकास के लिये शिक्षा प्रथम वरीयता है। इसलिये शिक्षण के लिये उत्तम सामग्री और उत्तम विधि का निर्णय अत्यावश्यक है। अभी तक हमारी शिक्षा का उद्देश्य हमें बौद्धिक एवं व्यावसायिक बनाना रहा है। पर यह विधि हमें उच्चस्तर का या अच्छा मानव नहीं बना पाती। यह काम संरक्षकों एवं धर्म-संस्थाओं का मान लिया गया। इस मान्यता में भी पर्याप्त सुधार अपेक्षित हैं। आधुनिक शिक्षापद्धति की इस कमी को दूर करने के लिये योग शिक्षा बहुत उपयोगी है। इससे न केवल हम अच्छे मनुष्य बनेगें, अपि तु इससे हमारे शिक्षण की गति तीव्र होगी। शिथिलीकरण के अभ्यास से मस्तिष्क का केन्द्रीकरण उत्तम होता है। मनोविज्ञानी हार्लेम के अनुसंधान विवरण हमारे मत का समर्थन करते हैं।

हार्लेम ने शिथिलीकरण की यौगिक विधि का उपयोग किया है। यह आधुनिक बायोफीड-बैक पद्धति का प्राचीन अनुरूप है। उसने दस मिनट के शिथिलीकरण अभ्यास के बाद दस दिन तक विद्यार्थियों को पढ़ाया। जब दो सप्ताह बाद इनके मनोवैज्ञानिक परीक्षण किये गये, तब यह पाया गया कि इनकी जागरूकता, एकाग्रता, स्मरणशक्ति एवं प्रज्ञा में सामान्य विद्यार्थियों की तुलना में पर्याप्त सकारात्मक वृद्धि हुई। इलेक्ट्रोमाइलोग्राफ के निरीक्षण बताते हैं कि ये विद्यार्थी शारीरिक दृष्टि से भी पर्याप्त शिथिलीकृत थे। इसका तात्पर्य यह है कि ये मानसिक रूप से भी शिथिलीकृत थे। यह शिथिलीकरण पर्याप्त समय तक बना रहा। पर्याप्त स्मरणशक्ति और एकाग्रता का महत्व वे सभी जानते हैं जिन्होंने अपनी स्कूल-शिक्षण एवं वार्षिक परीक्षाओं के कष्ट सहन किये हैं। काश, हमें उस समय शिथिलीकरण की विधि का ज्ञान होता।*

•

पंचपरमेष्ठी वाचक मन्त्र चित्त शुद्धि के लिये आवश्यक हैं। लेकिन कामना के लिए मन्त्र जाप उचित नहीं है। भले ही मन्त्र जापी जीव अपने पाप क्षय और पुण्य बन्ध से लाभान्वित हो, पर उसे मन्त्र का फल मान लिया जाता है। ऐसा व्यक्ति लाभ नहीं पाता, तो उसकी उस मन्त्र में अश्रद्धा हो जाती है और वह मिथ्या मन्त्रों की ओर भी झुक जाता है। विद्यानुवाद नामक दसवाँ पूर्व है। उसमें मन्त्रादि वर्णन है। तथापि णमोकार मन्त्र अनादि है। भले ही शब्द प्राकृत भाषा के न रहें, वह किसी भी भाषा में हो, पंचपरमेष्ठी की पूज्यता सदा रही है। अतः वह मन्त्र अनादि ही है।

—जगन्मोहनलाल शास्त्री

---

* 'बिहार स्कूल आव योग' द्वारा प्रकाशित 'योग' नामक अंग्रेजी पत्रिका से सानुमति रूपान्तरित।

सुख-शान्ति की प्राप्ति का उपाय : सहज राजयोग

ब्रह्माकुमारी सुनीता बहन,

ब्रह्माकुमारी ई० विश्वविद्यालय केन्द्र, रीवाँ, म० प्र०

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में स्थायी सुख-शान्ति चाहता है। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिये मानव सारे यत्न करता है। क्या मनुष्य संसार के विषयों और पदार्थों को प्राप्त कर लेने पर स्थायी सुखशान्ति प्राप्त कर सकता है ? मुझे लगता है नहीं, क्योंकि सुख पदार्थों में नहीं है, वह तो मन को एकाग्रता द्वारा स्वरूप-स्थिति में है। हम देखते हैं कि यदि किसी मनुष्य के सामने सुस्वादु भोजन रखा हो और उसका मन अशान्त हो, तो वह उसे नहीं रुचता। साथ ही, पदार्थों को भोगते-भोगते मनुष्य स्वयं भोगा जाता है और अन्त में भोग-साधन इन्द्रियाँ भी शिथिल हो जाती है, शक्ति क्षीण हो जाती हैं, तन निर्बल हो जाता है और मनुष्य शारीरिक जर्जरता मोल ले लेता है। एक ही पदार्थ कुछ को प्रिय और कुछ को अप्रिय क्यों लगता है ? इससे विदित होता है कि सुख विषयों में नहीं, वह तो मनुष्य के अपने मन पर ही निर्भर करता है।

संसार के पदार्थ परिवर्तनशील हैं। उनकी अवस्थायें बदलती रहती हैं। जो स्वयं क्षणभंगुर हो, वह स्थायी सुख-शान्ति कैसे दे सकता है ? विषयों को प्राप्त करने, उनका संग्रह करने, उन्हें सेवन योग्य बनाने और फिर उन्हें भोगने में ही मनुष्य का सारा जीवन खप जाता है। इस पर भी यदि पूर्व कर्मों के उदय से यह विषय छिन जावे, तो मनुष्य के लिये यह दारुण दुःख का कारण बन जाता है।

इससे यह अभिप्राय नहीं लेना चाहिये कि हम विषयों का संग्रह और उपभोग छोड़ दें। सजीव शरीर के लिये भोजन, वस्त्र व स्थान आदि तो अनिवार्य ही होते हैं। यदि ये प्राप्त न हों, तो मनुष्य का जीवन नहीं चल सकता और उसका मन विक्षुब्ध रहता है। अकर्मण्यता तथा आलस्य—दोनों ही विकार हैं। मेरा अर्थ यही है कि ये विषय सर्वांगीण स्थायी सुख शान्ति के स्रोत नहीं हैं। सुख केवल धन, उत्पादन और पदार्थों की उपलब्धि का ही नाम नहीं है, उसके लिये उत्तम स्वास्थ्य, मन की शान्ति तथा मित्रों, सम्बन्धियों एवं पड़ोस से अच्छे सम्बन्ध भी आवश्यक हैं। यातायात, मनोरंजन, ज्ञानवर्धन एवं वैज्ञानिक प्रगति ने हमारे भौतिक सुख में पर्याप्त वृद्धि की है।

विकर्मों को दग्ध करने, कर्मों को श्रेष्ठ करने तथा संस्कार शुद्ध करने का उपाय : योग

उपरोक्त अनेकविध सुख हमारे कर्मों पर ही निर्भर हैं। संसार में सभी लोग मानते हैं कि जैसा कर्म वैसा फल। यह कर्म-सिद्धान्त नास्तिकों को भी मानना चाहिये। आज का वैज्ञानिक भी क्रिया-प्रतिक्रिया या कार्य कारणवाद को मानता है। कर्म सिद्धान्त इसी नियम का आध्यात्मिक पक्ष है। कर्म अविनाशी है, मनुष्य को अपने किये का फल अवश्य भोगना पड़ता है। साधु हो या महात्मा, दुष्ट हो या पापात्मा, कर्म-फल किसी को नहीं छोड़ता। मनुष्य को चर्म चक्षुओं से दिखाई दे या न दे, परन्तु प्रत्येक के साथ न्याय होता है। देर है, पर अन्धेर नहीं। दुःख देने वाला व्यक्ति यदि इस जन्म में नहीं, तो अगले जन्म में दुःख अवश्य पाता है। विकार और विकर्म, संस्कार और संचित कर्म ही दुःखों का कारण है। इनका मूल मन में उगता है और पलता है।

मन को निर्मल बनाने, निर्विकार करने तथा विकारों को निर्बीज करने के उपाय का नाम ही योग है। योग ऐसी सूक्ष्मतम अग्नि है जिससे मनुष्य के विकर्म दग्ध होते हैं। योग संस्कारों के परिवर्तन का भी एक अमोघ उपाय है। पुरानी आदतें छोड़ने के लिये योग साधन से ही आध्यात्मिक शक्ति मिलती है और मनोबल मिलता है। आत्मशक्ति द्वारा शान्ति और आनन्द का ऐसा फुब्बारा-सा मनुष्य के मन पर पड़ता है जो उसका सारा मैल धो डालता है और चाँदनी के समान उसे शीतल और रसमय बना देता है। इस आनन्द की विशेष अनुभूति का ही नाम योग है। योग एक उत्तम विज्ञान है जो सभी प्रकार के सुख सहज एवं निःशुल्क ही प्रदान करता है।

योग के प्रकार और लक्षण

आनन्ददायी योग विद्या के लिये भारत प्राचीन काल से ही सुज्ञात है। आधुनिक जीवन में योग की सर्वाधिक आवश्यकता है क्योंकि मानव विविध प्रकार की विषमता, अनियमितता तथा अनुपयुक्तता के वातावरण में रह कर मानसिक तनावों से घुट रहा है। ये तनाव व्यावसायिक, साझेदारी, सेवावृत्ति, औद्योगिक, आर्थिक, उपभोक्ता—उत्पादक, पड़ोसी-विदेशी, धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, भाषा, जाति आदि के समान विविध सम्बन्धों में समुचित सामंजस्य के अभाव में होते हैं। अज्ञान, अपवित्र संस्कार, पुरुषार्थ-विघ्न एवं पूर्वकृत अशुभ कर्म इन तनावों को और भी दुखमय बनाते हैं। इस तनाव से मुक्ति और आनन्द प्राप्ति ही योग का प्रमुख लक्ष्य है। इस दृष्टि से योग एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। पश्चिमी देशों का यह अनुभव है कि स्थायी सुख-शान्ति मात्र भौतिक साधनों से प्राप्त नहीं हो सकती। ये मानसिक तनाव को शान्त नहीं कर पाते। इसीलिये वहाँ अनेक बीमारियाँ बढ़ रही हैं। योग से ही मानसिक तनाव दूर होता है, मन को शान्ति मिलती है तथा शरीर और मस्तिष्क शक्तिशाली होता है। इसीलिये अनेक पश्चिमी लोग भारत में योग सीखने आते हैं।

भारत में योग के चार प्रकार प्रचलित हैं : भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग और राजयोग। इनमें क्रमशः समर्पण, आत्मनिरीक्षण, अनासक्ति एवं मनोनियंत्रण का प्राधान्य रहता है। इनमें राजयोग सबसे सहज माना जाता है। पतंजल का योग भी राजयोग माना जाता है। ब्रह्माकुमारियों का योग भी राजयोग माना जाता है। वस्तुतः योग के वे सभी रूप राजयोग माने जाते हैं जो सहज हों, जिसे सामान्य जन और राजजन भी कर सके, एवं जिसमें आसान एवं हठक्रियाओं का बाहुल्य एवं प्राधान्य न हो। राजयोग में 'मन जीते जगत् जीते' की उक्ति चरितार्थ होती है। इस योग के अभ्यास से उत्तर जन्म में राज एवं देव पद प्राप्त होता है। मानव तन्त्र में बुद्धि को राजा कहते हैं। वह मन रूपी मंत्री व कर्मेन्द्रिय रूपी प्रजा को नियंत्रित करती है, अतः इसे बुद्धियोग भी कहते है। गीता में कृष्ण ने कहा है कि उन्होंने यही योग ब्रह्मा को सिखाया। ब्रह्मा ने इसे मनु को सिखाया और मनु ने इक्ष्वाकुवंशियों को सिखाया। इस प्रकार राजयोग अत्यंत ही महत्पूर्ण तंत्र है जो मानव को सुखी बनाने में सहायक है। वस्तुतः मुझे यह खेद की बात लगती है कि वर्तमान में भारत के अधिकांश योगाश्रमों में अनेक प्रकार के हठयोग अधिक सिखाये जाते हैं। इससे शरीर को तो अवश्य लाभ होता है, परन्तु इनसे उच्चतर आत्मिक शक्तियों को जगाने में पूर्ण सफलता नहीं मिलती। आधुनिक चिकित्सकों का भी कहना है कि मनुष्य के अस्सी प्रतिशत रोग मानसिक तनाव के कारण होते हैं। जब तक हमारा मन नहीं ठीक होता, तब तक हमारा शरीर भी स्वस्थ नहीं रह सकता। अतः मन को स्वस्थ और निर्विकार बनाने के लिये राजयोग ही सर्वोत्तम माना जाता है। बुद्धियोग, सन्यासयोग, समत्वयोग तथा पुरुषोत्तम योग आदि विविध नाम इसी पद्धति के विविध पहलू हैं। अन्तर-रहस्यों, आत्म-परमात्म रहस्यों के भेदक होने से इसे रहस्ययोग भी कहा जाता है।

योग के सभी प्रकारों में 'योग' शब्द महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ जोड़ना, मिलन, मिलाना या मिलाप होता है। आध्यात्मिक अर्थ में योग शब्द से आत्मा और परमात्मा के मिलन का बोध होता है। शरीर तंत्र के चक्रों के अर्थ में

मूलाधार और आज्ञा चक्र का मिलन एवं समायोजन इसका अर्थ है। नाड़ियों के रूप में इड़ा, पिंङ्गला और पिंगला नाड़ियों का सन्तुलित समायोजन इसका अर्थ है। जो लोग चित्तवृत्ति निरोध को योग मानते हैं (पतंजल), उन्हें चित्त की वृत्तियों को चंचलता को रोक कर उन्हें परमात्मा की ओर एकाग्र करने की प्रक्रिया को अपनी योग परिभाषा में सम्मिलित करना चाहिये। अतः इस मान्यता के आधार पर योग के निम्न सोद्देश्य अर्थ हो जाते हैं :

(i) आत्मा और परमात्मा के विषय में ज्ञान और चेतना के माध्यम से एकाग्रता का अभ्यास करना।
(ii) परमात्मा की लगन लगाकर एकाग्रता का अभ्यास करना।
(iii) परमात्मा के प्रति समर्पण भाव या तन्मयता जगाना।
(iv) मन, वचन एवं शरीर को आत्मिक शक्ति संपन्न बनाना।
(v) परमात्मा के उपदेशों पर ध्यान करना व शक्तियों का विकास करना।

इन लक्षणों से राजयोग का एक अति सरल अर्थ भी प्रतिफलित किया गया है। मिलन की मधुरता स्मृतिपूर्वक होती है। स्मृति मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य सदैव किसी न किसी वस्तु, व्यक्ति या परमात्मा के बारे में सोचता रहता है। यह स्पष्ट है जिसके विषय में सोचा जा रहा है, उसकी स्मृति आती है। यह मिलन का ही एक रूप है। जब परमात्मा की स्मृति (या उसके विषय में चेतना जागती है) आती है, तब वह योग का रूप लेती है।

सामान्यतः स्मृति तीन प्रकार की होती हैं—आने वाली, करने वाली और सताने वाली। आने वाली स्मृति विशेष गुणों या कर्तव्यों के आधार पर आती है। उदाहरणार्थ, किसी ने हमारे ऊपर उपकार किया या कोई गुणी व्यक्ति है तो गुण या उपकार की चर्चा पर उसकी स्मृति आयेगी ही। करने वाली स्मृति स्वार्थ विशेष के आधार पर होती है। उदाहरणार्थ किसी को कोई कार्य अच्छी तरह करना आता है। यदि हमें कार्य करना हो तो उसकी सहायता पाने के लिये उसकी स्मृति आती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि अमुक व्यक्ति न होगा, तो कार्य ठीक से न हो पायेगा। सताने वाली स्मृति निकट संबंधियों, हितैषियों या मित्रों के कारण होती है। बच्चे की मृत्यु पर मां-बाप को दुख होना स्वाभाविक है. पर समय-समय पर उसकी याद एक विशिष्ट अनुभूति के रूप में सताया करती है। ये सब सांसारिक स्मृतियां हैं। योग आध्यात्मिक स्मृति का नाम है। उस स्मृति को समाने वाली स्मृति कहते हैं। उसके स्मरण से समताभाव जागृत होता है। जिस प्रकार बिजली के दो तारों को जब आपस में जोड़ा जाता है, तब उसके ऊपरी रबर-कोट को दूर कर जोड़ने पर ही विद्युत शक्ति प्रवाहित होती है, उसी प्रकार देह रूप रबर को दूर या विस्मृत किये बिना हमें आत्मशक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। आत्मा या परमात्मा से संपर्क करने के लिये स्थूल तार की आवश्यकता नहीं होती, समता का अदृश्य तार ही इसके लिये आवश्यक है। ऊंच-नीच की भावना योग प्रक्रिया के विरुद्ध है।

राजयोग की प्रक्रिया

राजयोग में मन को एकाग्र कर परमात्मा को ओर अभिमुख किया जाता है। इसमें यह माना जाता है कि यह संसार परमपिता परमात्मा ने बनाया है, वह अणु ज्योतिर्मय बिन्दु रूप है, ब्रह्मलोकवासी है। उसी का मनन और प्रणिधान करने से आनन्द की प्राप्ति होती है। इसके लिये प्रारम्भिक अभ्यास के रूप में यह निश्चित रूप से स्वीकार करना होता है कि हमारा शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है। शरीर की ओर अनासक्तता तथा आत्मा भिमुखता या ज्योतिर्बिन्दु आत्माभिमुखता का अभ्यास ही राजयोग है। योगाभ्यास के लिये संकल्प शक्ति या दृढ़ इच्छाशक्ति अनिवार्य है। इसके बिना चित्तवृत्तियों का निरोध और अन्तर्मुखता नहीं आ सकती। सर्वप्रथम निम्न छह बातों का निश्चय और मनन योगाभ्यास के लिये परम आवश्यक है :

(१) सच्चा सुख विषय-विकारों वाले सांसारिक जीवन में नहीं होता। इसलिये भोगी जीवन को छोड़ने के लिये पुरुषार्थ करना है।

(२) देह-अभिमान के स्थान पर आत्म-अभिमान की प्रमुखता है। नास्तिक लोग परमात्मा को नहीं मानते, अतः उन्हें योग से पूर्ण लाभ नहीं मिल पाता।

(३) हमारी आत्मा का धर्म पवित्रता और शान्ति है। इससे मनुष्य को इन दैवी गुणों को प्राप्ति का पुरुषार्थ करना है। इसके लिये परमात्मा की भक्ति, बल एवं समर्पित भावना का अभ्यास किया जाता है।

(४) संसार में परमात्मा को कल्याणकारी स्वरूप का प्रतिनिधि मानकर उसकी ओर ध्यान लगाने में ही जीवन की सार्थकता है।

(५) कर्मवाद और पुनर्जन्मवाद सत्य हैं। इनमें आस्था अनिवार्य है। इस आधार पर संसार को नाटक के परिवर्तनशील दृश्यों के समान मानना चाहिये। योगी होने के लिये यह नियतिवादी और परमात्माभिमुखी वृत्ति लाभकारी होती है।

(६) संसार की परिवर्तनीयता एवं क्षणभंगुरता में अटूट विश्वास होना चाहिये। यह परमात्मा के प्रति अभिमुखता को प्रेरित करता है। निश्चयात्मक वृत्ति के विकसित होने पर (१) अनासक्त वृत्ति या समर्पणमयता (२) बुद्धि संतुलन एवं परमात्म-गुण-संस्मरण (३) आहार शुद्धि (४) सरलता एवं समान बुद्धि एवं (५) ब्रह्मचर्य का अभ्यास, योग प्रक्रिया और उसके लाभों को सबल बनाता है। वस्तुतः इन वृत्तियों के बिना योगाभ्यास सम्भव ही नहीं है। इन गुणों के विकास के लिये सत्संग या गुरु-संग बड़ा सहायक होता है।

राजयोग के अभ्यास के लिये कोई कठिन क्रिया, आसन या प्राणायामादि करने की आवश्यकता नहीं है। इसके लिये तो परमात्मा का स्मरण, उसके प्रति भक्तिभाव और उसके गुणों का चिन्तन ही आवश्यक है। इसके लिये लोकोत्तर स्थिति के प्रति मन को लगाना पड़ेगा। दिन-रात में सात बार तक १५-१५ मिनट के लिये मंत्र, माला या जप आदि का अभ्यास कर साधना करनी पड़ती है। 'मरजीवा' वृत्ति (देहाभिमान छोड़कर आत्मवृत्ति) तथा अतीत को भुलाने का अभ्यास करना पड़ता है।

योगभ्यास के लिये सुखदायी आसन होना चाहिये। किंचित् एकान्त स्थान होना चाहिये। यह वन या बसति—कहीं भी हो सकता है। अभ्यास के समय नेत्र बन्द रहें या खुले रहें, कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसके बाद आत्मा या परमात्मा के गुणों का मनन या विचार करना चाहिये। इन विचारों से तन्मयता, स्मृति की एकतानता तथा तल्लीनता उत्पन्न होगी। इस अभ्यास के समय वर्तमान चंचल मनोदशाओं के कारण अनेक संकल्प विकल्प भी मन में आते रहते हैं। अपनी संकल्पशक्ति से इनकी उपेक्षा करनी चाहिये। देह के प्रति अनासक्ति भाव जागृत होने पर ही योगशक्ति प्रकट होती है। योगाभ्यास से अशुद्ध संकल्प दूर होते हैं, दिनचर्या सुधर जाती हैं। इससे आठ प्रकार की शक्तियां प्राप्त होती हैं :—(i) निर्णय शक्ति (ii) परीक्षा शक्ति (iii) समेटने की शक्ति (iv) सामना करने की शक्ति (v) सहनशक्ति (vi) संकोच-विस्तार शक्ति (vii) समत्व शक्ति तथा (viii) समन्वय एवं सहयोग शक्ति। इन शक्तियों को ही सिद्धि, क्षमता या योग्यता कहते हैं। ये शक्तियां मनुष्य की महानता की सूचक हैं। ये ही आत्मा के पूर्णविकास की सूचक हैं। इनका रूप भौतिक एवं आध्यात्मिक-दोनों प्रकार का होता है। ये शक्तियाँ संसार को सुखशान्तिमय बनाने के लिये आवश्यक हैं। प्रारम्भिक योगाभ्यास लक्ष्य केन्द्रित (नासिकाग्र, नाभिकमल) होता है पर अन्तर्मुखता बढ़ने पर वह आत्म-केन्द्रित हो जाता है। तब ये वाह्य शरीर केन्द्र अनुपयोगी हो जाते हैं। योगाभ्यास की प्रगति के साथ व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं में उत्तरोत्तर परिवर्तन होता है। इन अवस्थाओं के नाम क्रमशः—(i) लग्न या व्युत्थान, (ii) मनन या

समाधि प्रारम्भ, (iii) मग्न, ऋतंभरा बुद्धि या एकाग्र, (iv) बिन्दुकित या निरोध हैं। ये अवस्थायें पतंजल योग के समान ही होती हैं। इन अवस्थाओं के अभ्यास से अन्तः प्रकाश और अन्तः शक्ति जागृत होती है।

पतंजल योग और सहज राजयोग

जब भी योग का नाम लेते हैं, तो सामान्यतः इससे प्राचीन पतंजल योग का ही अर्थ लिया जाता है। यह राजयोग है। ब्रह्माकुमारियों की योग पद्धति भी राजयोग है, पर इसे सहज या सरल राजयोग कहते हैं। यह पतंजल के अष्टांगी योग की तुलना में सरल है। पतंजल योग में उद्गम, केन्द्र बिन्दु, प्रेरणास्रोत एवं प्राप्य ईश्वर या परमात्मा नहीं है, उसमें ईश्वर को गौण स्थान प्राप्त है : इसके विपर्यास में, सहज राजयोग तो परमात्म-केन्द्रित ही है। इसमें भक्तिभाव की प्रधानता है। सहज राजयोग पतंजल के अष्टांग योग से सरल है। इसमें आसन और प्राणायामादि शरीर क्रियाओं का (जिन्हें दुर्बल या व्यस्त लोग नहीं कर सकते) महत्त्व नगण्य है। इसमें यम, नियम, परमात्म स्मृति एवं आत्मस्थिति, धारणा, ध्यान एवं समाधि प्रमुख हैं। सहज राजयोग के अनुसार, आसन और प्राणायाम आदि क्रियायें चित्तवृत्ति को शरीराभिमुखी बनाती हैं। अभ्यास और वैराग्य की दशा में जब ये वृत्तियाँ नियन्त्रित हो सकती है, तब इन आसनादि की उपयोगिता स्वयं अस्पष्ट हो जाती है। वैसे भी आसनादि योग के बहिरंग साधन है। सहज राजयोग की मग्नावस्था पतंजल योग की समाधि अवस्था से भिन्न प्रतीत होती है क्योंकि उसका उद्देश्य चित्तवृत्ति निरोध से प्राप्त स्वरूप शून्यता एवं मुक्ति है, पर यहाँ चित्तवृत्ति निरोध के माध्यम से परमात्मास्मृति एवं संयोग ही योग का मुख्य लक्ष्य है। पतंजल योग में स्मृति भी एक चित्तवृत्ति है, उसका भी निरोध आवश्यक है। वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता समाधियों में आनन्द का तीसरा और गौण स्थान है, स्वरूपशून्यता की स्थिति में उसके प्रति भी वैराग्यवृत्ति होती है। सहज राजयोग की मान्यता इसके भिन्न है। उसका लक्ष्य ही परमात्म स्मृति एवं आनन्दानुभूति है। पतंजल की समाधि मानसिक अवधान की पराकाष्ठा है जब कि सहज राजयोग परमात्म स्वरूप के प्रति तादात्म्य है। पतंजल की चारों प्रकार की समाधियों के लक्षण राजयोग के उद्देश्य से मेल नहीं खाते। ये मानसिक अन्तर्मुखता को अधिक महत्त्व देती हैं जब कि सहज राजयोग ईश्वर-प्रणिधान मात्र पर महत्व देता है। सहज राजयोगी इसके बिना योग का कोई अन्य प्रयोजन नहीं मानता।

●

श्वास अध्यात्म का यात्रापथ है

श्वास वह यात्री है जो बाहर की यात्रा भी करता है और भीतर की यात्रा भी करता है। यह वह दीप है जो बाहर भी प्रकाशित करता है और भीतर को भी प्रकाशित करता है। यदि हम भीतर की यात्रा करना चाहें, तो हमारे पास एकमात्र उपाय है कि हम मन को श्वास के रथ पर चढ़ा दें और उसके साथ भीतर चले जावें। हमारी अन्तर्यात्रा प्रारम्भ हो जावेगी, हम आध्यात्मिक बन जावेंगे। हमारा मन अचंचल हो जावेगा।

श्वास का सम्बन्ध है प्राण से, प्राण का सम्बन्ध है पर्याप्ति से अर्थात् सूक्ष्म प्राण से और पर्याप्ति का सम्बन्ध है कर्मशरीर से। अतः कर्मशरीर श्वास की जड़ है। यह प्राण हमें श्वास के माध्यम से आकाश मंडल से प्राप्त होता है। श्वास हमारी अध्यात्म साधना की नींव का पत्थर है। श्वास प्रेक्षा हमारी अध्यात्म शक्ति जागरण का पहला चरण है।

—युवाचार्य महाप्रज्ञ

पूर्ण स्वास्थ्य के लिए योगाभ्यास

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती
मुंगेर (बिहार)

योग विज्ञान मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति में सदैव से सहायक रहा है। वर्तमान वैज्ञानिक युग के आरम्भ से ही महान् विचारकों ने सम्भावना व्यक्त की थी कि मनुष्य ऐसी विचित्र व्याधियों और कष्टों से घिरता आ रहा है जिनका सम्बन्ध शरीर से कम और मन से तथा अतीन्द्रिय शरीर से अधिक है। पिछले २०० वर्षों से मनुष्य के बाह्य जीवन में तनाव बढ़ता जा रहा है। परिणामस्वरूप ज्यादातर लोग अपने बारे में अपने मन तथा आन्तरिक समस्याओं के बारे में समझने, विश्लेषण करने तथा सोचने की क्षमता खो चुके हैं, वे पूर्णतया भौतिकवादी हो चुके हैं। समाज के वर्तमान ढांचे ने और रोज-रोज की समस्याओं ने उन्हें इस बात के लिये मजबूर कर दिया है कि वे केवल बाहरी घटनाओं को ही देखें। जो कुछ उनके अन्दर घटित हो रहा है, उसे देखने का समय उनके पास नहीं है। इसलिये समय के इस दौर में उन्हें अपने शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिये आवश्यक नियमों की अवहेलना करनी पड़ी है।

पिछले ५० वर्षों से मनुष्य के अन्दर क्या घटित हो रहा है और क्यों घटित हो रहा है, इस बारे में वह अब जागरूक होता जा रहा है। अब वह एक ऐसे विज्ञान की खोज में है जो उसे स्वस्थ व प्रसन्न रख सके और जीवन के हर मोड़ पर शांति प्रदान कर सके।

योग हमारे लिये कोई नई चीज नहीं है। यह हमारे साथ युगों-युगों से जुड़ा हुआ है। बीच में एक समय ऐसा आ गया जब हमने इस विद्या को बिल्कुल ही भुला दिया। हमने योग के सही अर्थों को समझने की भूल की और यह सोचने लगे कि योग दैनिक जीवन के लिये नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि योग एक भूली हुई विद्या बन गयी। योग को भुला देने के कारण एक अन्धकार भरा युग आया। उस युग में अनजाने ही मनुष्य ने बहुत कष्ट सहे। अब इस शताब्दी में लोगों को कष्टों से छुटकारा दिलाने के लिये योग ने भारत वर्ष में फिर से जन्म लिया है।

योग समूचे संसार का है

इसका मतलब यह नहीं कि योग विशेष रूप से भारत का विज्ञान है। यह अपनी सम्पूर्णता समेत सारे संसार का विज्ञान है। परन्तु यह भी मानना होगा कि जब समूचा संसार अज्ञानता में डूबा हुआ था, सिर्फ भारतवर्ष ने ही योग की रक्षा की। यही कारण है कि समय-समय पर यहाँ बड़े-बड़े महात्मा हुए हैं जिन्होंने पूर्ण रूप से अपने को योग के उस आध्यात्मिक रूप के प्रति समर्पित कर दिया जो जीवन में सुख-शान्ति और प्रसन्नता का आधार है। इस परम्परा के कारण भारतवर्ष में योग का वह उच्च ज्ञान नष्ट होने से बच गया जिसे संसार ने अपनी अज्ञानता और उपेक्षा के कारण खो दिया था। योग की इस परम्परा को भारतवर्ष के श्रद्धालु और समर्पित लोगों ने अक्षुण्ण रखा है। इसका परिणाम यह है कि जहाँ सारा संसार इस मशीनी युग में भ्रमित हो रहा है, वहाँ भारतवर्ष योग की विभूतियों को जन्म दे रहा है। उनकी शिक्षा से एक बार फिर योग ने सम्पूर्ण विश्व में प्रसिद्धि पाई है और इससे एक जाति या धर्म विशेष का नहीं, पूरी मानवता का कल्याण हो रहा है। हमें यह निश्चित रूप से समझना है कि योग ही जीवन को सही ढंग से जीने का

सहज मार्ग है। योग की विभिन्न शाखायें जैसे—हठयोग, राजयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, लययोग, क्रियायोग और ध्यानयोग—सभी मनुष्य के मन-मस्तिष्क और शरीर पर अपना गहरा प्रभाव डालती हैं।

हठयोग-स्नायुओं को गतिमान करने के लिए

उदाहरण के लिए हठयोग पर विचार करें। हठयोग एक ऐसी चमत्कारिक विद्या है जिसे आज की मानवता ने फिर से खोज निकाला है। 'योग' शब्द सम्मिलन की ओर संकेत करता है। 'हठ' शब्द सूर्य और चन्द्र की शक्तियों की ओर संकेत करता है। ये वे दो शक्तियाँ हैं जो मनुष्य के शरीर में रहती हैं। ये हमारी उस शक्ति की आधारशिला है जो हमारा प्राण है जिसकी सहायता से हम सोचते हैं और अनुभव करते हैं। ये ही दोनों शक्तियाँ हमारे शरीर-सञ्चालन, हमारे सोचने के ढंग और हमारी प्रत्येक शारीरिक घटनाओं के लिये उत्तरदायी है। अगर इन दोनों शक्तियों में सामंजस्य नहीं रहता, तो समझिये कि वही हमारी बीमारियों का, बेचैनी का और अशांति का कारण बनता है। जब इनमें सामंजस्य रहता है और ये मिलकर काम करती हैं तब हमें शान्ति मिलती है और हमारा शरीर स्वस्थ रहता है। हठयोग का अभ्यास करने से इन दोनों शक्तियों का सन्तुलन ठीक रहता है। सम्पूर्ण शरीर शुद्ध हो जाता है। इससे सामंजस्य और शान्ति की स्थितियाँ निर्मित होती हैं।

हमारे शरीर के ढाँचे में जो रीढ़ का हिस्सा है, वहाँ दो नहरें हैं जिनका प्रवाह नीचे से ऊपर की ओर होता है। ये आपस में चार जगहों पर एक-दूसरे से मिलती हैं। हठयोग की भाषा में इन्हें इड़ा और पिंगला नाड़ियों के नाम से जाना जाता है। इड़ा मानसिक शक्ति का सञ्चालन करती है और पिंगला प्राण शक्ति का सञ्चालन करती है। ये दो नाड़ियाँ रीढ़ की हड्डी के नीचे एक विशेष अतीन्द्रिय केन्द्र से निकलती हैं। इस केन्द्र को "मूलाधार चक्र" कहा जाता है। इसे त्रिकानुत्रिक जालक (*sacrococcygeal plexus*) कहते हैं। फिर वे एक दूसरे को श्रोणि जालक (pelvic plexus) पर यानी स्वाधिष्ठान चक्र में काटती हैं। फिर सौर जालक यानी मणिपुर चक्र में, फिर हृद-जालक यानी अनाहत चक्र में और फिर ग्रीवा जालक यानी विशुद्धि चक्र में एक-दूसरे को काटती हैं। अंत में ये दोनों आज्ञा चक्र में यानी मेरु रज्जु शीर्ष में आकर एक-दूसरे से मिल जाती हैं।

मन और शरीर सम्बन्धी बीमारियाँ

इड़ा और पिंगला नाड़ियों को प्रकृति ने शरीर और मन की शक्तियाँ दी हैं। यह शक्ति चक्रों द्वारा शरीर को छोटी-छोटी कोशिकाओं में, हर कण में, हर अंग में पहुँचायी जाती है। अगर इड़ा नाड़ी में किसी तरह की कमजोरी और शक्तिहीनता आती है, तो इड़ा से सम्बन्धित अंगों में कष्ट होता है। इस प्रकार अगर पिंगला नाड़ी में कोई शक्ति-हीनता या अवरोध उत्पन्न होता है, तो पिंगला से सम्बन्धित अंग प्रभावित होते है। संक्षेप में हर बीमारी का यही कारण है। बीमारी या तो शारीरिक होती है या मानसिक। शारीरिक बीमारियों का सम्बन्ध जीवनी शक्ति से होता है, मानसिक बीमारियों का सम्बन्ध मन की शक्ति से रहता है। इसलिये इड़ा मानसिक बीमारियों के लिये उत्तरदायी है और पिंगला नाड़ी शारीरिक बीमारियों के लिये। हम केवल मनोकायिक बीमारियों से ही नहीं वरन् कायमानसिक बीमारियों से भी कष्ट उठाते हैं। कभी-कभी बीमारी शारीरिक रूप से शुरू होती है और मानसिक रूप में बदल जाती है और कभी मानसिक रूप से शुरू होकर शारीरिक बन जाती है। इसलिये यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि बीमारी शारीरिक है या मानसिक अथवा दोनों है।

आसन और प्राणायाम के प्रयोजन

हठयोग में हर बीमारी को शारीरिक और मानसिक—दोनों रूपों में देखते है। इसलिए हठयोग के आसनों को केवल शारीरिक कसरत ही नहीं समझना चाहिये। ये आसन शरीर की वे अवस्थायें और स्थितियाँ हैं जो स्वाभाविक

गुणों से शरीर की नाड़ियों के वैद्युतपरिपथ को प्रभावित करती हैं और उनमें परिवर्तन लाती हैं। आसनों को सरलता से करने के लिए पहले शारीरिक शुद्धि हेतु आपको षट्कर्म करने होंगे जो शरीर शुद्धि की छः विधियाँ हैं।

प्राणायाम श्वास-सम्बन्धी विज्ञान है। प्राणायाम को भी हमने बहुत ढंग से समझा है। लोग इसे श्वास की कसरत समझते हैं जबकि वस्तुतः यह हमारे प्रसुप्त प्राण को जागृत करता है। इससे शरीर को विभिन्न अस्त-व्यस्त कोशिकाओं में सुधार हो जाता है। जब शरीर "षट्कर्म" की क्रिया द्वारा शुद्ध हो जाता है और आसन में निपुणता प्राप्त हो जाती है, तब प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ किया जा सकता है। प्राणायाम करने से शरीर में शक्ति फिर से आवेशित होती है तथा इड़ा और पिंगला नाड़ी के माध्यम से यह शक्ति मस्तिष्क समेत शरीर के हर हिस्से को प्रभावित करती है।

मन्त्र और यन्त्र : मस्तिष्क के बोझ को हल्का करने के लिए

पूर्ण स्वास्थ्य के लिए मन्त्र, यन्त्र और मण्डल के विज्ञान को जानना भी बहुत आवश्यक है। मन्त्र विज्ञान, ध्वनि विज्ञान है। ध्वनि-तरंगें शारीरिक और मानसिक शरीरों—दोनों को ही प्रभावित करती हैं। ध्वनि ऊर्जा का इतना सशक्त रूप है कि आधुनिक विज्ञान ध्वनि की सहायता से ऐसे माइक्रोवेव चूल्हे का निर्माण करने वाला है जिसकी गर्मी से कुछ सेकेण्डों में ही आप अपना भोजन पका सकते हैं।

लोग समझते हैं कि दवा, इंजेक्शन, गोलियाँ और जड़ी-बूटियाँ बीमारियों को मिटा देती हैं। ये अच्छी चीजें है, परन्तु यह निश्चित है कि इन सब से बढ़कर एक और विधि है जो ज्यादा शक्तिशाली और प्रभावशाली है और वह है—ध्वनि। विशेष रूप से वह ध्वनि जो मन्त्र के रूप में होती है। मन्त्र योग में आप बार-बार एक ही तरह के शब्दों को और एक ही तरह की ध्वनि को दोहराते हैं। मन्त्र फिर ध्वनि में रूपान्तरित हो जाता है जो शुद्ध शक्ति का स्वरूप है। इससे शरीर की शक्तिहीन कोशिकाओं को फिर से नया जीवन मिलता है और वे पुनः कार्यशील हो जाती हैं।

मनुष्य का मस्तिष्क अनगिनत आद्यरूपों (archetypes) का भण्डार होता है। ये आद्यरूप मनुष्य के वर्तमान जन्म और पूर्वजन्म के तथा उसके पूर्वजों के अनुभवों के प्रतीक होते हैं। हर वह अनुभव जिसे हमारी चेतना ग्रहण करती है, हमारे मस्तिष्क में सांकेतिक रूप में अंकित हो जाता है। अनुभवों को अंकित करने वाली तथा उन्हें रूपान्तरित करके अपने मस्तिष्क में रखने वाली प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है—उस समय से जब जन्म होता है और उस समय तक जब मृत्यु होती है, ऐसा कोई अनुभव नहीं है जिसे हमारी चेतना नष्ट कर सके। यहाँ तक कि सोते समय, स्वप्न देखते समय, अर्धनिद्रित अवस्था मे, पूर्ण बेहोशी के समय भी जो अनुभव होते हैं, वे भी स्थूल, मानसिक या कारण शरीरों में कोई न कोई प्रतीक का रूप ले लेते हैं। ये ही संस्कार मनुष्य के कर्मों के प्रतिरूप हैं। इन अनगिनत संस्कारों की इस जीवन मे (जो दुःख और सुख, आशा और निराशा, स्वास्थ्य और बीमारियों से भरा हुआ है) अभिव्यक्ति होती रहती है।

यन्त्र ज्यामितीय प्रतीकों का विज्ञान है। ये हमें उन संस्कारों से छुटकारा दिलाते हैं, जो हमारी चेतना में, बिम्बों, अतीन्द्रिय अनुभवों, दैवी अनुभवों या अशांति के रूप में कहीं बहुत गहराई में एकत्र हो गये हैं। इस तरह हमारे मन-मस्तिष्क को भार-रहित करके मन्त्र और यन्त्र हमारी अंतःशक्ति को निर्मुक्त कर देते हैं।

योगनिद्रा : मस्तिष्क को तनावरहित करने के लिए

हम अपने दिमाग, शरीर और अपनी भावनाओं पर तनावों का बोझ डालते रहते है, जिससे हमारा स्वास्थ्य प्रभावित हो जाता है। योग में इस तनाव से छुटकारा पाने के लिए या तो अपने मन-मस्तिष्क को शिथिल कर दिया जाता है या फिर योगनिद्रा का अभ्यास किया जाता है। इस क्रिया से प्रत्याहार की स्थिति आ जाती है। यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें मस्तिष्क का इन्द्रियों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। मन, मस्तिष्क और चेतना पूरी तरह से परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसा मालूम होता है कि ये नये रूप लेकर जन्मे हैं। तब मानसिक, शारीरिक और भावनात्मक तनाव शीघ्र ही दूर हो जाते है।

क्रियायोग : आत्मशक्ति को बढ़ाने के लिए

ऐसे सात्त्विक लोग बहुत कम संख्या में होते हैं जिनके व्यक्तित्व में पूर्ण सामंजस्य की स्थिति रहती है। राजसिक प्रवृत्ति के लोग अधिक होते हैं। उनका जीवन अंतर्द्वंद्वों से घिरा रहता है। तामसिक प्रवृत्ति के लोग बहुसंख्यक होते हैं जो यह भी नहीं जानते कि उनके मन में अंतर्द्वन्द्व चल रहा है। इसलिए योग की क्रियायें अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग होती हैं। जिन व्यक्तियों को बहुत कम अंतर्द्वन्द्वों से जूझना पड़ता है और जिनकी मानसिक स्थिति सामंजस्यपूर्ण है, उनके लिए "ध्यान योग" की क्रिया उपयुक्त है। वे किसी एक विचार बिन्दु पर ध्यान एकाग्र कर सकते हैं। जिन व्यक्तियों के जीवन में द्वन्द्व ही द्वन्द्व भरे हुए हैं, वे एक ही विचार बिन्दु पर एकाग्र नहीं हो सकते। अगर उन्हें चित्त को एकाग्र करने के लिए बाध्य किया जायेगा तो उनके सामने कोई मानसिक समस्या उत्पन्न हो जायेगी। ऐसे लोगों की सोई हुई आत्मशक्ति को जगाने के लिए क्रियायोग की छोटी-छोटी सुगम क्रियाएँ उपयुक्त होंगी। इस युग को जगाने के लिए और आज की मानवता के लिए क्रियायोग एक अनिवार्य साधना है, क्योंकि अधिकांश लोग ऐसे हैं, जो अपने ध्यान को एकाग्र नहीं कर सकते। ऐसे लोगों के मन को राजसी प्रवृत्तियों ने और दुर्व्यसनों ने इतना जकड़ लिया है कि चाहने पर भी उनमें एकाग्रता और स्थिरता नहीं आ पाती। अनजाने में ही मनुष्य ने इन दुर्व्यसनों के प्रवाह में अपने को डाल दिया है, परन्तु यह मानवता की नियति नहीं है। उसे अपने-आपको इस स्थिति से निकाल कर एक उच्च मानसिक स्थिति तक ले जाना है। मनुष्य को ऐसा करना ही होगा। आज नहीं तो १० या २० हजार वर्षों की अवधि में या उससे भी अधिक १० लाख वर्षों में उसे अपने-आपको इस वर्तमान स्थिति से निकालना ही होगा। मनुष्य की चेतना के माध्यम से प्रकृति का क्रमविकास हो रहा है। क्रियायोग से इस क्रमविकास की गति में तेजी आयेगी। तब मानव यहीं, इसी धरती पर अपने उच्चतम मन की स्थिति (जो अस्तित्व की सर्वोच्च अवस्था है) का स्वयं अनुभव करेगा।

प्रसन्नता और स्वास्थ्य

चाहे मनुष्य को कोई शारीरिक व्याधि न हो, तथापि हम उसे स्वस्थ मनुष्य नहीं कह सकते। हो सकता है, उसे घबराहट हो, वह चिन्ताग्रस्त हो या अशान्त हो। शारीरिक स्थिति से स्वास्थ्य का पता नहीं लगाया जा सकता–यह योग का एक मुख्य सिद्धान्त है। कोई व्यक्ति शारीरिक रूप से पूर्ण स्वस्थ होकर भी बहुत दुःखी हो सकता है। क्या आप एक बहुत दुःखी मनुष्य को स्वस्थ कहेंगे ? क्या अप्रसन्नता अपने-आप में एक बीमारी नहीं है ? और विचारों के बारे में आपका क्या ख्याल है ? किस तरह आप स्वस्थ विचारों का संग्रह करेंगे ? किस तरह से आप हार्दिक प्रसन्नता का संचय करेंगे ? मन शान्त, निरुद्वेग और आनन्द से परिपूर्ण रहना चाहिए। यह योग का दूसरा मुख्य सिद्धान्त है। आपके पास खाने के लिए बहुत है, रहने के लिए अच्छा मकान है और खर्च करने के लिए बहुत रुपया है, फिर भी आप अज्ञान के अनन्त अंधकार में डूबे हुए हैं और बाहर निकलने के लिए रास्ता खोज रहे हैं। क्या अविद्या ही मनुष्यमात्र की सभी बीमारियों की जड़ नहीं है ? योग के अनुसार, मनुष्य एक साथ ही दस प्रकार के स्तरों में निवास करता है, जिनमें शारीरिक, मानसिक, अतीन्द्रिय, कारण और आध्यात्मिक स्तर मुख्य हैं। क्रियायोग, राजयोग, हठयोग और योगनिद्रा द्वारा हम एकसाथ, एक ही समय में इन स्तरों पर रह सकते हैं।

योग ने मानवता को क्या दिया है और क्या देने वाला है ? समूचे संसार में सैकड़ों-हजारों लोग योग की साधना कर रहे हैं और असाधारण तथा असाध्य बीमारियों से छुटकारा पा रहे हैं। इस संसार में और आज के इस समाज में रहने के लिए वे नये तरह से अपना मानसिक विकास कर रहे हैं। योग उन्हें अपने जीवन के विकास के लिए नयी आशा प्रदान करता है। जो लोग शरीर की अस्वस्थता के कारण जीवन की सारी खुशियाँ खो चुके थे, वे आज पूर्णरूप से स्वस्थ और प्रसन्न हैं। आज विश्व में, हजारों योग संस्थाएँ हैं, योग शिक्षक हैं और योग के छात्र हैं। योग ने मानवता को क्या दिया है ? एक नया धर्म ? एक नया पंथ ? नहीं, योग ने दिया है एक ऐसा विज्ञान जिससे मनुष्य अपने मन के रूपान्तरण का अनुभव कर सके। हाँ, सही अर्थों में मानवता के लिए योग का यही योगदान रहा है और रहेगा। ●

आचार्य हरिभद्र की आठ योग दृष्टियाँ

श्री सतीश मुनिजी

जावरौद, (म० प्र०)

वैदिक, बौद्ध और जैन–तीनों परम्पराओं में योग की महत्ता स्वीकार की गई है। यद्यपि प्रारम्भ में इसकी परिभाषाओं में कुछ अन्तर प्रतीत होता था, पर सातवीं-आठवीं सदी और उसके बाद सभी धाराओं ने पतंजल के योगसूत्र के अनुसार अध्यात्मपरक चित्तवृत्ति-निरोध की परिभाषा को स्वीकार किया। संक्षेप में, सभी परम्पराओं में योग का अर्थ, "समस्त आत्मशक्तियों का पूर्ण विकास कराने वाली प्रक्रिया" या "समस्त आत्मगुणों को अनावृत करने वाली आत्माभिमुखी साधना" समझना चाहिये।

कुंदकुंद, समन्तभद्र, पूज्यपाद, सिद्धसेन आदि सभी प्रमुख जैन आचार्यों ने ध्यान के रूप मे योग का ही वर्णन किया है। इसके पूर्व समवायांग में ३२ प्रशस्त योगों तथा उत्तराध्ययन में संवेग से लेकर अकर्मता तक ७३ पदों का वर्णन किया गया है। वर्णन की दृष्टि से यह पतंजल-विवरण से भिन्न प्रतीत होता है, पर भाव और अर्थ की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त समरूपता है। उत्तरवर्ती काल में हरिभद्र, हेमचंद्र, शुभचंद्र तथा यशोविजय गणि के योग विवरण मुख्यतः पतंजल योग पर आधारित हैं। इन सभी के वर्णनों की अपनी-अपनी विशेषता है। यह विशेषता ही इन आचार्यों की मौलिकता है।

जैनाचार्यों में आठवीं सदी के प्रमुख आचार्य हरिभद्र (७००–७७० ई०) सर्वप्रथम हैं, जिन्होंने पतजल का अनुसरण कर योग विषयक चार ग्रन्थ लिखे हैं: योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगशास्त्र और योग विंशिका। इनके षोडशक में भी कुछ प्रकरण योग से सम्बन्धित हैं, पर इनका वर्णन उपरोक्त चार ग्रन्थों में समाहित हो जाता है। इनमें प्रथम दो ग्रंथ संस्कृत में हैं और शेष दो प्राकृत भाषा में हैं। योगबिन्दु में ५२७ श्लोक हैं, योगदृष्टि समुच्चय में २२७ श्लोक, योगशतक में नाम के अनुसार १०० तथा योग विंशिका में २० गाथाएँ हैं।

आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टि समुच्चय में योग के विवरण में योगदृष्टियों की अपेक्षा विवेचना की है। यह विवेचना उनकी मौलिकता का प्रतीक है। उन्होंने इच्छा योग, शास्त्र योग एवं सामर्थ्य योग के रूप में योग प्रक्रिया के तीन स्तर बताये हैं और योग सन्यास को मुक्ति का कारण कहा है। हरिभद्र ने मानव की सत्य से सम्बन्धित धारणाओं को 'दृष्टि' कहा है। अज्ञानकाल की अवस्था 'ओघ दृष्टि या सहज दृष्टि' तथा ज्ञानकाल की अवस्था 'योगदृष्टि या सम्यग्-दृष्टि' कहलाती है। उन्होंने अष्टांग योग के वर्णन के बाद उससे प्राप्त होने वाली आठ प्रकार की दृष्टियों का निरूपण किया है। अष्टांग योग के प्रचलित नाम निम्न हैं:

(१) **यम :** अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

(२) **नियम :** शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान।

(३) **आसन :** वैसे तो आसन अनेक प्रकार के बताये गये हैं, लेकिन उनमें ८४ विवेचनीय हैं। इनमें भी सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन, सिंहासन–इन चार को प्रमुख माना है।

(४) **प्राणायाम :** प्राणायाम में सहायक निम्न क्रियाएँ अनुष्ठेय हैं : नेति, धौति, नौलि, घर्षण (कपालभाति) और त्राटक। इन्हें षट्कर्म कहते हैं।

प्राणायाम के ९ भेद हैं : लोभ विणम, सूर्यभेदन, उज्जयी, शीतकारी, शीतली, भस्त्रिका, मूर्छा, भ्रामणी और प्लावनी।

प्राणायाम में नौ प्रकार की विशिष्ट मुद्राएँ होती हैं : महामुद्रा, महाबंध, महावेध, विपरीतकरणी, ताड़न, परिधानयुक्त परिचालन, शक्तिचालन, खेचरी और बज्रोली।

अष्टांग योग के ये चार अंग श्रम (हठ) साध्य होने से इन्हें हठ योग की संज्ञा भी दी जाती है।

(५) **प्रत्याहार :**

(६) **धारणा :** इसकी दृढ़ता में सहायक निम्न मुद्राएँ अनुष्ठेय हैं : अगोचरी, भूचरी, चाचरी, शाम्भवी, उन्मनी, कुंभक।

(७) **ध्यान :** सालंबन ध्यान, निरालंबन ध्यान।

(८) **समाधि :** संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात।

अष्टांग योग के इन चार अंगों को संज्ञा 'राजयोग' है। एक ही विषय या लक्ष्य पर ध्यान, धारणा और समाधि के निक्षेपित करने पर त्रितयी को 'संयम' कहा जाता है।

योग के उपरोक्त अष्टांगों के वर्णन के साथ, हरिभद्र ने यौगिक विकास एवं कर्म-मल के क्षय तथा सम्यग् दृष्टि की प्राप्ति के आठ चरण बताये हैं। इन चरणों में क्रमिक आत्मशोधन होता है। इन चरणों को 'दृष्टि' कहा गया है। योग से सम्बन्धित होने से इन्हें 'योग दृष्टि' कहते हैं। इनकी संख्या भी आठ है—मित्रा, तारा, बला, दिप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा। इनका स्वरूप निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है कि ये दृष्टियाँ सत्-दृष्टा पुरुष का दृष्टि की विशदता एवं निर्मलता के विकास की क्रमिक प्रतीक है। इनको उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं तीक्ष्णता का समझाने के लिये उन्होंने इनकी तुलना सहज उपलब्ध पदार्थों की प्रभा चमक (और उसके स्रोत और प्रभाव) से की है। उन्होंने बताया है कि आठ योग दृष्टियाँ क्रमशः घास, कन्डे, काष्ट की अग्नि की चमक, दीप, रत्न, तारक, सूर्य और चन्द्र की आभा के समान होती हैं। इन दृष्टियों से खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद, रुक् और आसंग नामक आठ दोष दूर होते हैं और अद्वेष, जिज्ञासा, सुश्रूषा, श्रवण, बाध, मीमांसा, परिशुद्ध प्रतिपत्ति एवं प्रवृत्ति नामक सद्गुणों का सहचार होता है। इनमें पहली चार दृष्टियाँ भ्रशयुक्त हैं। इन्हें प्राप्त कर व्यक्ति इससे भ्रष्ट भी हो सकता है। पतन होता ही हो, ऐसा नहीं है। पतन की सम्भावना के कारण ये चार दृष्टियाँ सापाय-अपाय या बाधायुक्त कही जाती हैं। शेष दृष्टियाँ बाधा रहित हैं। योग दृष्टि समुच्चय के अनुसार इनका वर्णन यहाँ दिया जा रहा है।

१. मित्रा दृष्टि—इस दृष्टि के प्राप्त होने पर साधक सत्-श्रद्धा की ओर उन्मुख होता है, उसे बोध तो होता है पर वह मंदता लिये रहता है। मित्रा दृष्टि वाला साधक योग के प्रथम अंग, यम के विविध रूपों का प्रारम्भिक अभ्यास कर लेता है। व्यक्ति आत्मोन्नति के अचूक हेतुभूत योग बीजों को स्वीकार करता है।

मित्रा दृष्टि में दर्शन मोह, मिथ्यात्व या अविद्या के विपर्यास में आत्मगुणों का स्फुरण तथा अन्तर्विकास की दिशा में प्रथम उद्बलन होता है। यह अध्यात्म विकास की यथावृत्तिकरण गुणस्थान की अवस्था की प्रमुखता का प्रतीक है। यह आध्यात्मिक योग की पहली दशा है जिसमें दृष्टि पूर्णतः तो सम्यक् नहीं हो पाती पर यहाँ से अन्तर्जागरण एवं गुणात्मक प्रगति की यात्रा का शुभारम्भ हो जाता है। इस दृष्टि में गुणियों के प्रति आदर, अनुकरण, दुखियों के प्रति करुणा एवं सत्कार्यों के प्रति रुझान उत्पन्न होता है।

२. तारा दृष्टि—इससे योग का दूसरा अंग-नियम-सधता है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और आत्म चिन्तन जीवन में फलित होते हैं। आत्महित की प्रवृत्ति में उत्साह एवं तत्त्वोन्मुखी जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इस दृष्टि

में साधक योग चर्चा में निरन्तर अभिरुचि लिये रहता है। वह योगनिष्ठ योगियों का नियमपूर्वक बहुमान करता है और उनकी यथाशक्ति सेवा के लिये तत्पर रहता है। सेवा से योगियों का अनुग्रह मिलता है, श्रद्धा का विकास होता है, आत्महित का उदय होता है, क्षुद्र उपद्रव मिट जाते हैं और साधक शिष्टजनों से मान्य होता है। तारा दृष्टि के साधक को जन्म, मरण रूप आवागमन क्रिया का अत्यंत भय नहीं होता। अनजाने में उससे कोई अनुचित क्रिया नहीं होती। वह मन में द्वेष भाव नहीं लाता है। वह सात्विक चिंतन की ओर क्रमशः बढ़ता है।

३. **बला दृष्टि**—इससे योग का तीसरा अंग-आसन-साधता है। इसमें सुखासन युक्त दृढ़ दर्शन प्राप्त होता है। तत्व श्रवण की तीव्र इच्छा जागती है एवं साधना में अक्षेप-क्षेप नामक दोष नहीं आने पाता। इस दृष्टि के विकास से असत् पदार्थों के प्रति तृष्णा को सहज प्रवृत्ति शून्य हो जाती है। साधक सर्वत्र सुखमयता का अनुभव करने लगता है। साधक के जीवन में स्थिरता का ऐसा सुखद समावेश होता है कि उसकी समस्त क्रियायें निर्बाध होने लगती हैं। उसके सारे कार्य मानसिक सावधानी लिये रहते हैं। बला दृष्टि के विकास से योगी के ध्यान, चिन्तन, मनन आदि शुभ कार्यों में विक्षेप नहीं आता। वह शुभ समारम्भमय उपक्रम में कुशलता प्राप्त करता जाता है। वह साध्य प्राप्ति के लक्ष्य की ओर सदैव प्रयासरत रहता है। वह पापपूर्ण प्रवृत्तियों का परित्याग कर देता है। इससे योग साधना में आने वाले विघ्नों का अभाव हो जाता है। इसके फलस्वरूप उत्कृष्ट आत्म-अभ्युदय सधता है।

४. **दिप्रा दृष्टि**—इससे योग का चौथा अंग प्राणायाम सधता है। इसमें अन्तरतम में ऐसे प्रशान्त रस का सहज प्रवाह बहता रहता है कि चित्त योग से विरत हो नहीं होता। इससे तत्व-श्रवण सधता है, केवल बाहरी कानों से ही नहीं, अपितु अन्तःकरण से यह रूचि होती है। इसमें अन्तर्ग्राहकता का भाव तो उदित होता है, पर सूक्ष्म बोध प्राप्त करना अभी बाकी रहता है। दिप्रा दृष्टि के साधक का मानसिक और बौद्धिक स्तर इतना ऊँचा हो जाता है कि वह धर्म को निश्चित रूप से प्राणों से बढ़कर समझता है। प्राणघातक संकट आने पर भी वह धर्म का नहीं छोड़ता। यह साधक सात्विक भावों से आप्लावित हो जाता है। वह तत्वश्रवण के माध्यम से अपने कल्याण के प्रति सजग रहता है। इससे गुरुभक्ति रूप सुख प्राप्त होता है। इससे लौकिक और पारलौकिक—दोनों हित सधते है।

५. **स्थिरा दृष्टि**—इस दृष्टि से योग का प्रत्याहार अंग सधता है। श्रुत, तर्क और आत्मानुभव से श्रद्धा दृढ़ होती है। प्रत्याहार से स्व-स्व-विषयों के सम्बन्ध से विरत होकर इन्द्रियाँ और चित्त स्वरूपानुसार प्रतीत होने लगती हैं। इससे साधक के द्वारा किये जाने वाले कृत्य, निर्भ्रान्ति, निर्दोष तथा सूक्ष्म बोधयुक्त होते हैं। इस दृष्टि में 'वेद्य-संवेद्य पद' की प्रधानता आ जाती है। यह दृष्टि दो प्रकार की मानी गयी है—निरतिचार और सातिचार। निरतिचार दृष्टि में अतिचार या विघ्न नहीं आने पाते। इसमें श्रद्धा प्रतिपातरहित एवं अवस्थित रहती है। सातिचार दृष्टि में दर्शन अनित्य तथा अनवस्थित रहता है। स्थिरा दृष्टि के साधक सम्यक्-दृष्टि पुरुष के अज्ञानान्धकार की ग्रन्थि का विभेदन हो जाता है। अतः उसे समस्त सांसारिक चेष्टायें बालकों द्वारा खेलों में बनाये जाते घर के समान प्रतीत होती हैं। इस दृष्टि के योगी में शासन-प्रसूत विवेक जागृत होता है। वह देह, घर, परिवार, वैभव आदि वाह्य भावों को मृगतृष्णा, गन्धर्व नगर या कल्पना के रूप में मानता है। उसे सांसारिक भावों की वास्तविकता का तथ्य सत्यपूर्ण दर्शन हो जाता है। इस दृष्टि में स्व-पर-भेद-विज्ञान प्राप्त विवेकी एवं धीर साधक प्रत्याहार परायण होते हैं और धर्माराधना में आने वाली बाधाओं के परिहार में प्रयत्नशील रहते हैं।

६. **कांता दृष्टि**—इस दृष्टि में सम्यक् दर्शन अविच्छिन्न हो जाता है। इस दृष्टि में स्थित योगी धर्म की महिमा तथा सम्यक् आचार की विशुद्धि के कारण सभी को प्रिय होता है। वह धर्ममय हो जाता है। इस दृष्टि के योगी की आत्मधर्म भावना इतनी दृढ़ होती है कि वह शरीर से अन्यान्य कार्यों में लगे रहने पर भी मन से सदैव सद्गुरुप्रवोण आगम में तल्लीन रहता है। वह सहज स्वभावा ज्ञान से युक्त होकर सदैव आत्मभाव की ओर आकृष्ट रहता है। वह

अनासक्त हो जाता है। इससे सांसारिक भोग उसे जन्म-मरण चक्र में भटकाने वाले नहीं होते। इस दृष्टि में स्थित साधक सदैव तत्वचिन्तन तथा तत्वमीमांसा में लगा रहता है। इससे वह मोह व्याप्त नहीं होता। उसे यथार्थ बोध प्राप्त हो जाने से उसका उत्तरोत्तर आत्महित सधता है।

७. प्रभा दृष्टि—प्रभा दृष्टि प्रत्यक्षतः ध्यान प्रिय है। इसमें योगी प्रायः ध्यानरत रहता है। इसमें योग का सातवाँ अंग ध्यान सधता है। राग, द्वेष, मोह-त्रिदोष रूप भाव रोग यहाँ बाधा नहीं देते। यहाँ तत्वमीमांसक योगी को तत्वानुभूति प्राप्त होती है। उसका झुकाव सहज सत्प्रवृत्ति की ओर रहता है। इस दृष्टि में ध्यान जन्य सुख का अनुभव होता है। यह रूप, शब्द, स्पर्श आदि काम-विषयों का जीतने वाला है। यह ध्यान-सुख विवेक बल की तीव्रता से उत्पन्न होता है। इसमें प्रशांत भाव की प्रधानता रहती है। इसकी सत्प्रवृत्ति की संज्ञा असंगानुष्ठान कहलाती है। यह चार प्रकार का माना गया है: प्रीति, भक्ति, वचन और असंग। समग्र प्रकार के संग, आसक्ति या संस्पर्श से रहित आत्मानु-चरण असंगानुष्ठान है। इसे अनालम्बन योग भी कहा जाता है। इससे शाश्वत पद प्राप्त होता है। यह महापथ प्रयाण का अन्तिम पूर्वबिन्दु है।

८. परादृष्टि—इससे योग का आठवाँ अंग-समाधि-सधता है। इसमें अ-संगता पूर्ण होती है। इसमें आत्मतत्व की सहज अनुभूति होती है। तदनुरूप ही सहज प्रवृत्ति एवं आचरण होता है। इसमें चित्त प्रवृत्ति स्थिर हो जाती है और उसमें कोई वासना नहीं रहती। इस दृष्टि में योगी निरतिचार होता है। वह उच्च अवस्था प्राप्त योगी होता है और आत्म-विकास की चरम अवस्था प्राप्त करता है। वह सर्वज्ञ, सवदर्शी एवं अयोगी हो जाता है।

इन्हीं दृष्टियों के तारतम्य में हरिभद्र ने योगियों को चार कोटियों में वर्गीकृत किया है: गोत्र योगी, कुल-योगी, प्रवृत्तचक्र योगी एवं निष्पन्न योगी। प्रथम श्रेणी के योगी कभी पूर्ण आत्मलाभ नहीं कर सकते और चतुर्थ श्रेणी के योगी आत्मलाभ कर चुके है। फलतः योग विद्या केवल द्वितीय एवं तृतीय श्रेणी के लिए ही मानी जाती है।

●

प्रशंसनीय

जिस प्रकार मंत्री से रहित राज्य, शस्त्र से रहित सेना,
जिस प्रकार नेत्र से रहित मुख, मेघ से रहित वर्षा, उदारतारहित धनी,
जिस प्रकार घी-बिन भोजन, शील बिन स्त्री, प्रताप बिन राजा,
जिस प्रकार भक्ति बिन शिष्य, दाँत बिन हाथी, प्रतिमा बिन मन्दिर,
जिस प्रकार वेगरहित घोड़ा, चन्द्ररहित रात्रि, गन्धरहित पुष्प,
जिस प्रकार जलरहित सरोवर, छायारहित वृक्ष, गुणरहित पुत्र,
जिस प्रकार चारित्ररहित मुनि प्रशंसनीय नहीं होता,
उसी प्रकार, धर्म बिन मनुष्य भी प्रशंसनीय नहीं होता।
धर्म कामधेनु है, चिन्तामणि है, कल्पवृक्ष है, अविनाशी निधि है,
धर्मलक्ष्मी का वशीकरण मन्त्र है, श्रेष्ठ देवता है, सुख सरिता का स्रोत है।

—सर्वोपयोगिश्लोकसंग्रह

Scientific Studies in Yoga

Dr. M. L. GHAROTE

Asstt. Director of Research and Principal, G. S. College of Yoga, Kaivalyadhama, LONAVLA (PUNE), 410 402.

Introduction

Yoga has a great antiquity and long tradition. It is a result of thousands of years of careful and systematic exploration by a long line of sages and yogis on the basis of their meticulous observations and personal experiences. Yoga is a science of life which helps man to attain his highest potential and highest state of consciousness. It uses various psychophysiological techniques involving Asanas, Pranayama, Bandhas, Mudras, Kriyas and Meditation-each of them having many sub-divisions. Although there are many definitions of Yoga, the term Yoga is applied to the attainment of the highest aim, i.e. integration of personality by developing highest state of consciousness, as well as for the various methods and techniques used for the fulfilment of that aim.

In course of time Yoga was shrouded in mystery and until the beginning of the 20th century there were many misconceptions about Yoga, some of which still prevail in many quarters of the society, both in India and abroad. Along with the misconceptions about Yoga in general there are also misconceptions about researches in Yoga. The orthodox view is that no researches in Yoga are necessary as it has been already perfected by the ancient yogis. Others believe that utilization of yogic techniques for the purpose lower than the "Spiritual" is distortion of Yoga and therefore research in applied aspect of Yoga is undesirable. Misconceptions about research in Yoga prevail because of inadequate understanding of the nature and scope of research itself. Research may be understood as "a diligent and systematic inquiry to discover or revise facts, theories and applications". In the light of this definition of research, any attempt at knowing new facts and addition to the knowledge of Yoga should be encouraged.

Today no field progresses without sound basis of research. In order to remove misunderstandings and get better insight in Yoga systematic thinking or research is necessary.

Concept of Research in Yoga

Although research is analytical, it should contribute to the understanding of the wholistic approach in Yoga. If the researches are not oriented in the light of the main purpose of Yoga, one is likely to be misled on the name of Yoga. The aim of Yoga leads to

the attainment of dynamic balance called 'Samatva.' In order to remove the obstacles in the way of attaining this highest potential, Yogic seers in the past dealt with different aspects of man's functioning of the body and mind and explored through precise series of various practices. The purpose of Yogic research, thus, should be to understand the rationale of various yogic practices in the light of our modern knowledge of various sciences and find the utility of yogic techniques for the betterment of common man. Rational understanding of a particular process is one thing and practice another. Without practice no experience is possible. One would not be motivated to practice without rational understanding and conviction. Therefore theory and practice should go hand in hand. Research provides deeper understanding into the processes and practices of Yoga.

The whole area of research in Yoga may be schematically shown as follows :

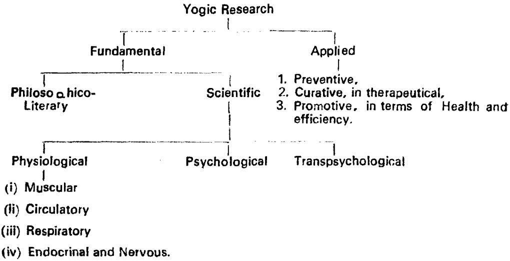

Yogic research may be considered in two parts : (i) Fundamental, and (ii) Applied.

Fundamental research concentrates mostly on obtaining a knowledge of what is happening and how is it happening and why it is happening. It is meant for the observation of facts about the various yogic practices like Asanas, Pranayama, Bandhas, Mudras, Kriyas and various forms of Meditation, investigated singly or collectively and to understand their working on various psycho-physical levels during their performance or as a result of the performance. Applied research, on the other hand, is based on the observed facts of fundamental research and attempt is made to investigate the suitability or otherwise of these principles and facts when applied to a given situation to derive desirable results. The main area of interest in applied research in yoga is health, fitness and efficiency which has three aspects, namely, Curative, Preventive and Promotive. We shall take a general review of some of the scientific studies in yoga conducted so far.

Scientific Research in Yoga

In 1920s Swami Kuvalayananda made first attempt to study scientifically some selected yogic practices like Uddiyana and Nauli with the help of manometers and X-rays in the laboratory. He showed that yogic practices could be interpreted on the scientific principles. Uddiyana Bandha and Nauli have been shown to produce sub-atmospheric pressure of considerable magnitude in the various cavities. The sub-atmospheric pressure first noted by Swami in a series of experiments were given the name "Madhavadas Vaccum" by him and have been confirmed later by other studies at Kaivalyadhama Laboratory.

All great movements have humble beginning. The early investigations of Swami Kuvalayanada set a new era of scientific research in Yoga. However, we do not see many persons or agencies involved in Yogic research until 1950 except the Swami and his colleagues at Kaivalyadhama, Lonavla. A few exceptions are some stray attempts to investigate changes in the heart by Laubry and T. Brosse. If we take a survey of available material on yogic researcn, we find that the number of scientific research publications does not exceed 1,000. Out of these 50% of papers have been contributed by Indian research workers and remaining 50% by the foreign research workers. Out of these 25% research contributions come from the Kaivalyadhama research workers. The results of the physiological, biochemical, electro-physiological and psychological investigations done in Kaivalyadhama have been published in the book of "Abstracts and Bibliography of Articles on Yoga".

After 1950s, occidental research workers began to show their interest in Yogic research. Mention must be made of the two research workers, Dr. M. A. Wenger and Dr. B. K. Bagchi, who made a trip to India in 1956 to investigate the possibilities of psychological and electrophysiological research in Yoga. They studied autonomic functions in practitioners of Yoga in India (1961). As a result of the visit of these professors, an interest in Yogic research was also generated among Indian scientists. Let us now consider the progress in fundamental research in Yoga.

Vakil, H. V. Gundu Rao et al., Anand et. al., Karambelkar et al. and Ballantyne and Gibbons conducted experiments on pit burials. Although in general it was claimed that Yogis could voluntarily control their metabolic functions, it seems more probable what Karambelkar et al., have pointed out that rather than the control of the subjects on metabolic processes, the results are more related to the concentration of carbondioxide in the pit.

Heart and Pulse control by Yogis was studied by Laubray and T. Brosse, by Wenger et al., by Bhole and Karambelkar, by Kothari et al, and by Green et al. Similarly feats of strength were studied on a Yogi by H. V. Gundu Rao and by Ballantyne and Gibsons. But these researches were under-taken out of general curiosity. These feats are not real Yoga or Yogic techniques.

Physiological studies may be considered under the following heads :

A. Muscular-Articular Responses.

B. Circulatory Responses.

C. Respiratory Responses.

D. Endocrinal Responses.

A. Muscular-Articular Responses

Electromyographic studies have been conducted by Karambelkar et al., and by Gopal which showed the performance of Asanas involve less muscular work. Studies by Dhanaraj, R. Moses and by Gharote showed considerable changes in flexibility as a result of Yogic training programme.

B. Circulatory Responses

Ganguly and Gharote measured scores on Harvard Step Test on normal individuals before and after 8 months of Yoga training. There was found an increase of 7.6 in the test score which was statistically significant. Plethysmographic studies by Gopal and Wenger concerning finger blood flow in various practices of Hathayoga showed that the blood flow in the toe was less and blood flow in the finger was greater during the head-stand than during either the horizonal supine position or the erect standing position. S. Rao measured the forehead temperature and top of the foot temperature during head-stand and found that the forehead skin temperature increased and the skin temperature of the foot decreased during head-stand as compared to other body positions.

C, Respiratory Responses

A number of studies have found the basal respiratory rate to be lower in subjects who have practised a Yogic routine for some time. Measurements by Wenger, Datey et al., and Dhanaraj reported breath rate decreased during and after Shavasana. Increase in Breath holding time as a result of Yoga training has been reported by Bhole et al., Gopal et al., Udupa, and Moses. Increase in tidal volume has been observed by S. Rao in subjects practising Shirshasana. The head-stand tidal volume was also found greater than erect standing volume which resulted in minute ventilation. The normal movement of air whether in basal state after a regimen of Yoga practices or in non-basal states in particular yogasanas or pranayamas has been studied by Bhole et al., Udupa et al., Dhanaraj and Gopal et al. In general, the respiratory efficiency was improved as a result of Yogic training. The oxygen consumption during and after various Yogic practices was seen low.

D. Endocrine Responses

Dhanaraj reported Thyroxine increase after 6 weeks of Yogic training. Udupa et al., found increased catecholamines in urine and plasma, increase in blood histaminase, increase in plasma cortisol, and decrease in acetylcholine and cholinesterase. Karambelkar et al., observed decrease in Uropepsin secretion after the training in Asanas.

Autonomic balance studies by Wenger and Bagchi and by Gharote showed increase in the direction of parasympathetic function after yogic training. Increase in palmer conductance was found in the Yogic subjects which was indicative of ability to relax voluntarily.

Psychological and Trans-psychological Research

Meditation is a practice which is considered psychological and trans-psychological depending upon the depths of the meditating subjects. There are various forms of meditation. It is difficult to assess the character of meditation being practiced by the subject since it is a subjective process. But although meditation is considered mental, since mental events are considered by physiologists to be somehow related to events in the brain, EEG recording has been widely used as a technique to study brain activities. Therefore, many physiological studies of meditation have collected data on EEG activity in meditation. Anand et al., at the All India Institute of Medical Science studied the EEG of 4 yogis during the practice of Samadhi and reported persistent alpha with well marked increased amplitude. Results of EEG experiments at Kaivalyadhama on subjects practising meditation were summarised by Swami Kuvalayananda in the following words :

"When Dhyana (meditation) is carried out successfully, it not only shows a reduction in the percentage of alpha-time and a decrease in the amplitude of alpha-waves...but the amplitude is lowered so much that it actually gives rise to an apparent 'flattening' of alpha. The alpha rhythm does not confine itself to occipital and parietal areas as usual, but is spread all over, and the flattening tendency too seems to be a general one".

Swami Rama at the Meninger Foundation, U.S.A. showed the EEG pattern consisting of low voltage activity and control over the production of various EEG patterns indicating autonomic control. Das found beta activity during the practice of meditation by his subjects. After the appearance of alpha waves of high frequency and low amplitude, higher amplitude components of 20 or 30 Hz. appeared in the EEG. As regards the EEG responses to various stimuli, Kasamatsu reported that the alpha was frequently blocked in the meditating Zen masters as a result of click stimuli. The alpha blocking time remained fairly constant during Zazen in the Zen masters. Das reported that in his subjects during deep meditation, the EEG pattern of beta waves was not changed by the appearance of various stimuli.

Two of the 4 subjects of Anand et al., when tested for the reactivity to external stimuli during Samadhi, no changes were evoked in the EEG pattern. The subjects did not report that they became aware of these stimuli. Swami Kuvalayananda reported that even such painful stimuli as pin-pricks did not affect the general pattern of low voltage EEG activity during meditation. Wallace reported that "in almost all subjects of transcendental meditation, alpha blocking caused by reported sound or light stimuli showed no habituation". Banquet reported that "rhythmic theta trains ... were blocked by click stimuli but reappeared simultaneously within a few seconds".

Responses to Meditation

It is observed that during the beginning of meditation, eye movements become slow and in deep meditation there are no eye movements. The muscular activity is slight. Most data suggest that heart rate decreases during the period of meditation. Das reported that in general, there was very little variation in the cardiac rhythm during meditation. However, as an exception to this general trend, in one subject during Samadhi, Das reports that the heart rate increased by 5 to 10 beats per minute. T. Hirai found the acceleration in pulse rate during Zazen between 80 to 100 beats per minute.

Very few studies have assayed blood composition during meditation. In one study by Wallace no significant change in pH during meditation was observed. However, he found significant decrease in blood lactate in meditation. Hirai also reported decrease in the amount of lactic acid in the blood.

Wallace had described meditation as a "wakeful hypometabolic physiologic state." The elicitation of the physiological changes is viewed as a hypothalamically integrated response, referred to by Benson as the "relaxation response." Benson suggests that meditation is only one among many methods by which the relaxation response may be evoked.

Oxygen consumption significantly lowers in meditation. The studies of Dhanaraj, Wallace, Sugi and Gharote are in agreement to report the lowering of the metabolic rate during meditation.

Meditation involves periods of prolonged sitting in one posture. Although one might expect the prolonged sitting to provide a metabolic rate higher than the basal rate, the metabolic rate during meditation is below the basal metabolic rate. The rapidity with which the decreases in oxygen consumption occur in meditation, surpasses normally seen oxygen consumption decrease in sleep which vary from 10% to 20% below basal levels.

The average plasma cortisol values for the long term meditators were less than for the control group according to Jevning et al. The finding suggests a decreased level of adrenal cortical activity as a result of long term meditative practice.

Udupa reported that the bolld levels of acetylcholine and cholinesterase were significantly greater in the group trained in meditation.

Wenger and Wallace reported Galvanic skin resistance during the course of meditation to Increase markedly.

Applied Research

Most of Yogic researches seem to have been undertaken to study the application of yogic techniques and routines for the control of various problems related to health and disease.

Although Swami Kuvalayananda started clinical work as an applied aspect of Yoga in 1920s, no clinical research in Yoga seems to have been undertaken until 1950s.

Occidental world came in contact with Yoga first to find solution to their problems through it. An increasing number of people in the society is affected by physical discomforts which have a psychological background. After the general interest in Yoga from physical exercise point of view, now the interest of the modern society has turned to the importance of Yoga to the emotional well-being. After 1970s there is greater understanding of the body-mind relationship in the health and disease dealt through Yogic techniques. The diseases like gastric ulcers, hyperacidity, headaches, hypertension, asthma, diabetes etc are the forms of these psychosomatic diseases as they are called. Traditional medical remedies and this has been relatively successful. But unfortunately these medicines seem to have unwanted secondary effects. Furthermore, in most cases it is necessary for the patient to be on medication for the rest of his life. Therefore, lot of people are welcoming new therapeutical approaches and research. Yoga has been investigated mainly for its effects on one of the most ordinary psychosomatic disorders, namely, hypertension. The results are promising. Benson and his co-workers have shown from number of controlled studies lowering effect of transcendental meditation on hypertension. In 1969 Datey et al. investigated the effects of Shavasana on the patients of hypertension and showed significant improvement. Chandra Patel conducted series of investigations dealing with meditation therapy on hypertensives. Her results are all amazing. In one of the most thorough investigations on meditation and hypertension, Stone and de Leo suggested that increases in dopaminebeta-hydroxylase is responsible for the enhanced blood pressure. They found the relaxation method decreased dopaminebeta-hydroxylase in the blood and a lowering of the blood pressure.

The Asthma research projects conducted in Kaivalyadhama and elsewhere have shown very favourable results of the Yogic treatment on asthmatics.

Effects of Yoga and meditation on alcohol and drug addiction patterns have been investigated by H. Benson and by Shafi and reported decreases in the use of alcohol. Brautigam, Shafi, Shapiro and Swinyard reach similar results in the field of other drugs like barbiturates, amphetamines, marijuana, LSD and heroin.

Application of Yoga and meditation in psychotherapy dealing with neurosis and psychosis have been only very poorly tested.

Decreased level of anxiety is a main trend of a number of experiments by Udupa, and by Goleman. A major finding of Johnson is an increased ability to resolve conflicts. The report concluded significant difference with higher scores for self esteem, identity self-satisfaction, personal worth, behaviour and physical self. The emotional adjustment seemed to be more positive, less feeling of general maladjustment, less personality disorder and less neurosis.

So far as preventive aspect of applied research is concerned practically no work has been done.

Promotive aspect deals with maintenance or improvement of the health and fitness. This is a very potential field and though limited research has been done, the work of

H. A. Devries, Gharote, Dhanaraj, Giri, R. Moses, Gharote and Ganguly, Therrien, Nayar et al., have shown enough evidence about how Yoga could be gainfully employed in the promotion of physical fitness. Different factors of physical fitness and qualities required in the betterment of performance in various sports activities seem to be effectively developed by intelligent use of varieties of Yogic techniques. Books such as "Yoga and Athletics", "Yoga and Tennis", "Inner game of Tennis" have been written which indicate the directions of applying Yoga in different fields of physical education and sports activities.

Short-coming of the Present Research

Although it is encouraging to note the interest in the scientific research in Yoga, some of the short-comings in the present researches may be noted as follows :

(i) There is a lack of comprehensive understanding about the basic concepts of Yoga. Without this understanding no useful purpose would be served by research in Yoga.

(ii) In the research reports, distinction between Yoga and meditation creates basic confusion about Yoga. Meditation is one of the techniques of Yoga.

(iii) The programme of yogic practices investigated is found very inadequately described in the papers. Since, in many studies yogic techniques are used as stimuli, these should be precisely defined and explained. The mode of practising a particular technique is also important in the study of its effects. Each investigation should be repetitive.

(iv) Many-a-time yogic techniques are combined with non-yogic techniques. The mixed up results of such studies do not really indicate the effects of yogic techniques clearly.

(v) There are some reports of pilot investigations about which further results are not known. These studies need to be continued further.

(vi) Very few therapeutical studies are available where follow-up has been maintained indicating the utility of yogic treatment. Greater emphasis on follow-up studies is necessary.

Future directions of Yogic Research

The potential areas of research in Yoga may be pointed out as below :

(a) Fundamental research about the effects of various individual yogic practices.

(b) Applied research in the utilisation of Yogic techniques for the treatment of various disorders.

(c) Standardizing the techniques of Yogic practices.

(d) Application of various Yogic routines of short or long duration for the promotion of specific abilities in games and sports. The role of manipulation of breathing in various psycho-physical activities needs to be explored.

(e) No less important is a preventive aspect of Yogic routine though no data seem to be available about the efficacy of Yogic practices as a profilatic measure.

(f) Above all, studies on transformation of human personality through various channels employed in Yoga is the prime need of the day.

Some Suggestions

From the scientific researches in Yoga we should be in a position to formulate plausible inferences and explanatory conceptulizations. This requires larger amount of data on the similar problems dealt with from different angles, which is to be put together. In doing this whether the data pertains to single Yoga practice or more, we cannot lose the sight of the unified nature of Yogic practices.

At present there is no exhaustive bibliography available of all the scientific work done so far or being done in various parts of the country. Therefore such researches remain isolated and uncoroborated. There is a need of a co-ordinating body, who could take regular and systematic review of researches, take surveys, analysis of existing literature, prepare glossaries, pose problems for solutions, undertake new experimental work using the index of modern medicine and psycho-physiology, establishing standards in Yogic research by removing the lacunae and help creating facilities for genuine research. Thus, much needs to be done by way of research on sound lines in the field of Yogic research. The field is full of potentialities for research and we hope to see this field of research developed in future.

हिन्दी सारांश

योग का वैज्ञानिक अध्ययन

डा० एम० एल० घारोटे,
कैवल्यधाम, लोनावाला, पुणे (महाराष्ट्र)

योग को मात्र अध्यात्मविद्या मानने के कारण इसके विषय में वैज्ञानिक अनुसंधान प्रारंभ में विवादास्पद रहा, पर १९२० से स्वामी कुवलयानंद ने इसका प्रारंभ किया। यह योग को मूलभूत धारणाओं एवं प्रविधियों पर शरीर क्रिया विज्ञान, मनोविज्ञान तथा परामनोविज्ञान की दृष्टि से तथा उसके स्वास्थ्य प्रेरक एवं निरोधक गुणों पर आधुनिक उपकरण तकनीकों का उपयोग कर भारत तथा अन्य देशों में अनेक प्रयोगशालाओं में किया जा रहा है। इसके अनेक उत्साहकारी परिणाम मिले हैं। इनका विवरण एक पूर्वलेख में दिया गया है। योग के अनुसंधानों में अभी पर्याप्त कमियां हैं, दिशा विविधता है, संदर्भ-सूची का अभाव है। लेखक ने इन्हें दूर करने की आवश्यकता सुझाई है।

णमोकार मंत्र और मनोविज्ञान

(स्व०) डा० नेमीचंद्र शास्त्री

आरा

णमोकार-मंत्र का अर्थ

वैदिक धर्मानुयायियों में जो ख्याति और प्रचार गायत्री मन्त्र का है, बौद्धों में त्रिशरण मन्त्र का है, जैनों में वही ख्याति और प्रचार णमोकार मन्त्र का है। समस्त धार्मिक और सामाजिक कृत्यों के आरम्भ में इस महामन्त्र का उच्चारण किया जाता है। जैन-सम्प्रदाय का यह दैनिक जाप मन्त्र है। इस मन्त्र का प्रचार तीनों सम्प्रदायों—दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासियों में समान रूप से पाया जाता है। तीनों सम्प्रदाय के प्राचीनतम साहित्य में भी इसका उल्लेख मिलता है। इस मन्त्र में पाँच पद, अट्ठावन मात्रा और पैंतीस अक्षर हैं। मन्त्र निम्न प्रकार हैं :

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं॥

स्वर और व्यंजनों का विश्लेषण करने पर प्रतीत होता है कि "णमो अरिहंताणं, ६ व्यंजन; णमो सिद्धाणं, ५ व्यंजन; णमो आइरियाणं, ५ व्यंजन; णमो उवज्झायाणं, ६ व्यंजन; णमो लोए सव्वासाहूणं, ८ व्यंजन, इस प्रकार इस मन्त्र में कुल ६+५+५+६+८=३० व्यंजन हैं। इस मन्त्र में सभी वर्ण अजन्त हैं, यहाँ हलन्त एक भी वर्ण नहीं हैं, अतः ३५ अक्षरों में ३५ स्वर मानने चाहिए। पर वास्तविकता यह है कि ३५ अक्षरों के होने पर भी वहाँ स्वर ३४ हैं। इस प्रकार कुल मन्त्र में ३५ अक्षर होने पर भी ३४ ही स्वर रहते हैं। कुल स्वर और व्यंजनों की संख्या ३४+३०= ६४ हैं। मूल वर्णों की संख्या भी ६४ ही है। प्राकृत भाषा के नियमानुसार अ, इ, उ, और ए मूल स्वर तथा ज झ ण त द ध य र ल व स और ह—ये मूल व्यंजन इस मन्त्र में निहित हैं। अतएव ६४ अनादि मूल वर्णो को लेकर समस्त श्रुतज्ञान के अक्षरों का प्रमाण निकाला जा सकता है।

णमोकार मन्त्र के जाप करने की विधि

णमोकार मन्त्र का जाप करने के लिए सर्वप्रथम आठ प्रकार की शुद्धियों का होना आवश्यक है। १. द्रव्यशुद्धि—पंचेन्द्रिय तथा मन को वश कर कषाय और परिग्रह का शक्ति के अनुसार त्याग कर कोमल और दयालुचित्त हो जाप करना। यहाँ द्रव्यशुद्धि का अभिप्राय पात्र की अन्तरंग शुद्धि से हैं। जाप करने वाले को यथाशक्ति अपने विकारों को हटाकर ही जाप करना चाहिए। अन्तरंग से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, माया, आदि विकारों को हटाना आवश्यक है। २. क्षेत्रशुद्धि—निराकुल स्थान, जहाँ हल्ला-गुल्ला न हो तथा डाँस-मच्छर आदि बाधक जन्तु न हों। चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले उपद्रव एवं शीत-उष्ण की बाधा न हो, ऐसा एकान्त निर्जन स्थान जाप करने के लिए उत्तम हैं। घर के किसी एकान्त प्रदेश में जहाँ अन्य किसी प्रकार की बाधा न हो और पूर्ण शान्ति रह सके, उस स्थान पर भी जाप किया जा सकता है। ३. समय शुद्धि—प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या समय कम से कम ४५ मिनट

तक लगातार इस महामन्त्र का जाप करना चाहिए। जाप करते समय निश्चिन्त रहना एवं निराकुल होना परम आवश्यक है। ४. आसनशुद्धि—काष्ठ, शिला, भूमि, चटाई या शीतलपट्टी पर पूर्वदिशा या उत्तर दिशा की ओर मुँह करके पद्मासन, खड्गासन या अर्धपद्मासन होकर क्षेत्र तथा काल का प्रमाण करके मौनपूर्वक इस मन्त्र का जाप करना चाहिए। ५. विनयशुद्धि—जिस आसन पर बैठकर जाप करना हो, उस आसन को सावधानीपूर्वक ईर्यापथ शुद्धि के साथ साफ करना चाहिए, तथा जाप करने के लिए नम्रतापूर्वक भीतर का अनुराग भी रहना आवश्यक है। जब तक जाप करने के लिए भीतर का उत्साह नहीं होगा, तब तक सच्चे मन से जाप नहीं किया जा सकता। ६. मनःशुद्धि—विचारों की गन्दगी का त्याग कर मन को एकाग्र करना, चंचल मन इधर-उधर न भटकने पाये इसकी चेष्टा करना, मन को पूर्णतया पवित्र बनाने का प्रयास करना ही इस शुद्धि में अभिप्रेत है। ७. वचन शुद्धि—धीरे धीरे साम्यभाव पूर्वक इस मन्त्र का शुद्ध जाप करना अर्थात् उच्चारण करने में अशुद्धि न होने पाये तथा उच्चारण मन-मन में ही होना चाहिए। ८. कायशुद्धि—शौचादि शंकाओं से निवृत्त होकर यत्नाचार पूर्वक शरीर शुद्ध करके हलन-चलन क्रिया से रहित हो जाप करना चाहिए। जाप के समय शारीरिक शुद्धि का ध्यान रखना चाहिए।

इस महामन्त्र का जाप यदि खड़े होकर करना हो, तो तीन-तीन श्वासोच्छ्वास में एक बार पढ़ना चाहिए। एक सौ आठ बार के जाप में कुल ३२४ श्वासोच्छ्वास''' साँस लेना चाहिए। इसके जाप करने की कमल जाप, हस्तांगुली जाप और माला जाप-- तीन विधियाँ हैं।

मनोविज्ञान और णमोकार मन्त्र

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह विचारणीय प्रश्न है कि णमोकार मन्त्र का मन पर क्या प्रभाव पड़ता है? आत्मिक शक्ति का विकास किस प्रकार होता है, जिससे इस मन्त्र को समस्त कार्यों में सिद्धि देने वाला कहा गया है। मनोविज्ञान मानता है कि मानव की दृश्य क्रियाएँ उनके चेतन मन में और अदृश्य क्रियाएँ अचेतन मन में होती हैं। मन की इन दोनों क्रियाओं को मनोवृत्ति कहा जाता है। साधारणतः मनोवृत्ति शब्द चेतन मन की क्रिया के बोध के लिये प्रयुक्त होता है। प्रत्येक मनोवृत्ति के तीन पहलू हैं—ज्ञानात्मक, वेदनात्मक और क्रियात्मक। ये तीनों पहलू एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते हैं। मनुष्य को जो कुछ ज्ञात होता है, उसके साथ-साथ वेदना और क्रियात्मक भाव की भी अनुभूति होती है। ज्ञानात्मक मनोवृत्ति के संवेदन, प्रत्यक्षीकरण, स्मरण, कल्पना और विचार—ये पाँच भेद हैं। संवेदनात्मक के संवेग, उमंग, स्थायीभाव और भावनाग्रन्थि-ये चार भेद एवं क्रियात्मक मनोवृत्ति के सहज क्रिया, मूलवृत्ति, आदत, इच्छित क्रिया और चरित्र-ये पाँच भेद किये गये हैं। णमोकार मन्त्र के स्मरण से ज्ञानात्मक मनोवृत्ति उत्तेजित होती है, जिससे उसके अभिन्नरूप में सम्बद्ध रहने वाली उमंग वेदनात्मक अनुभूति और चरित्र नामक क्रियात्मक अनुभूति को उत्तेजना मिलती है। अभिप्राय यह है कि मानव मस्तिष्क में ज्ञानवाही और क्रियावाही—दो प्रकार की नाड़ियाँ होती है। इन दोनों नाड़ियों का आपस में सम्बन्ध होता है, परन्तु इन दोनों के केन्द्र पृथक् हैं। ज्ञानवाही नाड़ियाँ और मस्तिष्क के ज्ञानकेन्द्र मानव के ज्ञान विकास में एवं क्रियावाही नाड़ियाँ और मानव मस्तिष्क के क्रियाकेन्द्र उसके चरित्र के विकास की वृद्धि के लिये कार्य करते हैं। क्रियाकेन्द्र और ज्ञानकेन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण णमोकार मन्त्र की आराधना, स्मरण और चिन्तन से ज्ञानकेन्द्र और क्रियाकेन्द्रों का समन्वय होने से मानव मन सुदृढ़ होता है और आत्मिक विकास की प्रेरणा मिलती है।

मनुष्य का चरित्र उसके स्थायी भावों का समुच्चय मात्र है। जिस मनुष्य के स्थायी भाव जिस प्रकार के होते हैं, उसका चरित्र भी उसी प्रकार का होता है। मनुष्य का परिमार्जित और आदर्श स्थायी भाव ही हृदय की अन्य प्रवृत्तियों का नियन्त्रण करता है। जिस मनुष्य के स्थायीभाव सुनियन्त्रित नहीं अथवा जिसके मन उच्चादर्शों के प्रति श्रद्धास्पद स्थायीभाव नहीं है, उसका व्यक्तित्व सुगठित तथा चरित्र सुन्दर नहीं हो सकता है। दृढ़ और सुन्दर चरित्र

बनाने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य के मन में उच्चादर्शों के प्रति श्रद्धास्पद स्थायीभाव हों तथा उसके अन्य स्थायी भाव उसी स्थायीभाव के द्वारा नियंत्रित हों। स्थायीभाव ही मानव के अनेक प्रकार के विचारों के जनक होते हैं। इन्हीं के द्वारा मानव की समस्त क्रियाओं का संचालन होता है। उच्च आदर्शजन्य स्थायीभाव और विवेक-इन दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। कभी-कभी विवेक को छोड़कर स्थायी भावों के अनुसार ही जीवनक्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं, जैसे विवेक के मना करने पर भी श्रद्धावश धार्मिक प्राचीन कृत्यों में प्रवृत्ति का होना तथा किसी से झगड़ा हो जाने पर उसकी झूठी निन्दा सुनने की प्रवृत्ति होना। इन कृत्यों में विवेक साथ नहीं है, केवल स्थायीभाव ही कार्य कर रहा है। विवेक मानव को क्रियाओं को रोक या मोड़ सकता है, उससे स्वयं क्रियाओं के संचालन की शक्ति नहीं है। अतएव आचरण को परिमार्जित और विकसित करने के लिए केवल विवेक प्राप्त करना ही आवश्यक नहीं है, बल्कि आवश्यक है उसके स्थायी भाव को योग्य और दृढ़ बनाना।

व्यक्ति के मन में जब तक किसी सुन्दर आदर्श के प्रति या किसी महान व्यक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रेम के स्थायी भाव नहीं, तब तक दुराचार से हटकर सदाचार में उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। ज्ञान की मात्र जानकारी से दुराचार नहीं रोका जा सकता है, इसके लिए उच्च आदर्श के प्रति श्रद्धा भावना का होना अनिवार्य है। णमोकार मन्त्र ऐसा पवित्र उच्च आदर्श है, जिससे सुदृढ़ स्थायी भाव की उत्पत्ति होती है। अतः णमोकारमन्त्र का मनपर जब बार-बार प्रभाव पड़ेगा अर्थात् अधिक समय तक इस महामन्त्र की भावना जब मन में बनी रहेगी, तब स्थायी भावों में परिष्कार हो ही जायेगा और ये ही नियन्त्रित स्थायी भाव मानव के चरित्र के विकास में सहायक होंगे।

इस महामन्त्र के मनन, स्मरण, चिन्तन और ध्यान में अर्जित भावों से स्थायी रूप से स्थित कुछ संस्कारों जिनमें अधिकांश विषय-कषाय सम्बन्धी ही होते हैं—में परिवर्तन होता है। मंगलमय आत्माओं के स्मरण से मन पवित्र होता है और पुरातन प्रवृत्तियों में शोधन होता है, जिससे सदाचार व्यक्ति के जीवन में आता है। उच्च आदर्श से उत्पन्न स्थायी भाव के अभाव में ही व्यक्ति दुराचार की ओर प्रवृत्त होता है। अतएव मनोविज्ञान स्पष्ट रूप से कहता है कि मानसिक उद्वेग, वासना एवं मानसिक विकार उच्च आदर्श के प्रति श्रद्धा के अभाव में दूर नहीं किये जा सकते हैं। विकारों को अधीन करने की प्रतिक्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है कि परिणाम-नियम, अभ्यास नियम और तत्परता-नियम के द्वारा उच्चादर्श को प्राप्त कर विवेक और आचरण को दृढ़ करने से ही मानसिक विकार और सहज पाशविक प्रवृत्तियाँ दूर की जा सकती हैं। णमोकार मन्त्र के परिणाम-नियम का अर्थ यह है कि इस मन्त्र को आराधना कर व्यक्ति जीवन में सन्तोष की भावना को जाग्रत करे तथा समस्त सुखों का केन्द्र इसी को समझे। अभ्यास-नियम का तात्पर्य है कि इस मन्त्र का मनन, चिन्तन, और स्मरण निरन्तर करता जाये। यह सिद्धान्त है कि जिस योग्यता को अपने भीतर प्रकट करना हो, उस योग्यता का बार-बार चिन्तन, स्मरण किया जाये। प्रत्येक व्यक्ति का चरम लक्ष्य ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप शुद्ध आत्मशक्ति को प्राप्त करना है. यह शुद्ध अमूर्तिक रत्नत्रय स्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा ही प्राप्त करने योग्य है, अतएव रत्नत्रयस्वरूप पंचपरमेष्ठी वाचक णमोकार महामन्त्र का अभ्यास करना परम आवश्यक है। इस मन्त्र के अभ्यास द्वारा शुद्ध आत्मस्वरूप में तत्परता के साथ प्रवृत्ति करना जीवन में तत्परता नियम में उतरना है। मनुष्य में अनुकरण की प्रधान प्रवृत्ति पायी जाती है, इसी प्रवृत्ति के कारण पंचपरमेष्ठी का आदर्श सामने रखकर उनके अनुकरण से व्यक्ति अपना विकास कर सकता है।

मनोविज्ञान मानता है कि मनुष्य में भोजन ढूंढना, भागना, लड़ना, उत्सुकता, रचना, संग्रह, विकर्षण, शरणागत होना, काम प्रवृत्ति, शिशुरक्षा, दूसरों की चाह, आत्म-प्रकाशन, विनीतता और हंसना—ये चौदह मूल प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। इनका अस्तित्व संसार के सभी प्राणियों में पाया जाता है। पर मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों में यह विशेषता है कि मनुष्य इनमें समुचित परिवर्तन कर लेता है। केवल मूल प्रवृत्तियों द्वारा संचालित जीवन असभ्य और पाशविक

कहलायेगा। अतः मूल प्रवृत्तियों में दमन, विलयन, मार्गान्तरीकरण और शोधन—ये चार परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक मूल प्रवृत्ति का बल उसके बराबर प्रकाशित होने से बढ़ता है। यदि किसी मूल प्रवृत्ति के प्रकाशन पर कोई नियन्त्रण नहीं रखा जाता है, तो वह मनुष्य के लिये कामकारी न बनकर हानिप्रद हो जाती है। अतः दमन की क्रिया होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, यों कहा जाता है कि संग्रह की प्रवृत्ति यदि संयमित रूप में रहे, तो उससे मनुष्य के जीवन की रक्षा होती है। किन्तु जब यह अधिक बढ़जाती है, तो कृपणता और चोरी का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार द्वन्द्वता या युद्ध की प्रवृत्ति प्राण-रक्षा के लिए उपयोगी है, किन्तु जब यह अधिक बढ़ जाती है तो यह मनुष्य की रक्षा न कर उसके विनाश का कारण बन जाती है। इसी प्रकार अन्य मूल प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। अतएव जीवन को उपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य समय-समय पर अपनी प्रवृत्तियों का दमन करे और इन्हें अपने नियन्त्रण में रखे। व्यक्तित्व के विकास के लिए मूलप्रवृत्तियों का दमन उतना ही आवश्यक है, जितना उनका प्रकाशन। मूल प्रवृत्तियों का दमन विचार या विवेक द्वारा होता है। किसी बाह्य सत्ता-द्वारा किया गया दमन मानव जीवन के लिए हानिकारक होता है। अतः बचपन से ही णमोकार मन्त्र के आदर्श द्वारा मानव को मूल प्रवृत्तियों का दमन सरल और स्वाभाविक है। इस मन्त्र का आदर्श हृदय में श्रद्धा और दृढ़ विश्वास को उत्पन्न करता है, जिससे मूल प्रवृत्तियों का दमन करने में बड़ी सहायता मिलती है। णमोकार मन्त्र के उच्चारण, स्मरण, चिन्तन, मनन और ध्यान द्वारा मन पर इस प्रकार के संस्कार पड़ते हैं, जिससे जीवन में श्रद्धा और विवेक का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यतः मनुष्य का जीवन श्रद्धा और सद्विचारों पर ही अवलम्बित है, वह श्रद्धा और विवेक को छोड़कर मनुष्य की तरह जीवित नहीं रह सकता है. अतः जीवन की मूल प्रवृत्तियों का दमन या नियंत्रण करने के लिए महामंगल वाक्य णमोकार मन्त्र का स्मरण परम आवश्यक है। इस प्रकार के धार्मिक वाक्यों के चिन्तन से मूल प्रवृत्तियां नियन्त्रित हो जाती हैं तथा जन्मजात स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। नियन्त्रण की यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे आती है। ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचन्द्र ने बतलाया है कि महामंगल वाक्यों की विद्युत शक्ति आत्मा में इस प्रकार झटका देती है, जिससे आहार, भय, मैथुन और परिग्रहजन्य संज्ञाएँ सहज में परिष्कृत हो जाती है। जीवन के धरातल को उन्नत बनाने के लिए इस प्रकार मंगल वाक्यों को जीवन में उतारना परम आवश्यक है। अतएव जीवन की मूल प्रवृत्तियों के परिष्कार के लिए दमन क्रिया को प्रयोग में लाना आवश्यक है।

मूल प्रवृत्तियों के परिवर्तन का दूसरा उपाय विलयन है। यह दो प्रकार से हो सकता है—निरोध द्वारा और विरोध द्वारा। निरोध का तात्पर्य है कि प्रवृत्तियों को उत्तेजित होने का ही अवसर न देना। इससे मूल प्रवृत्तियाँ कुछ समय में नष्ट हो जाती है। विलियम जेम्स का कथन है कि यदि किसी प्रवृत्ति को अधिक काल तक प्रकाशित होने का अवसर न मिले तो वह नष्ट हो जाती है। अतः धार्मिक आस्था द्वारा व्यक्ति अपनी विकार प्रवृत्तियों को अवरुद्ध कर उन्हें नष्ट कर सकता है। दूसरा उपाय विरोध द्वारा प्रवृत्तियों के विलयन के लिए कहा गया है, उसका अर्थ है कि जिस समय एक प्रवृत्ति कार्य कर रही हो, उसी समय उसके विपरीत दूसरी प्रवृत्ति को उत्तेजित होने देना। ऐसा करने से दो पारस्परिक विरोधी प्रवृत्तियों के एक साथ उभड़ने से दोनों का बल घट जाता है। इस तरह दोनों के प्रकाशन की रीति में अन्तर हो जाता है अथवा दोनों शान्त हो जाती हैं। जैसे द्वन्द्व प्रवृत्ति के उमड़ने पर यदि सहानुभूति की प्रवृत्ति उभाड़ दी जाये तो उक्त प्रवृत्ति का विलयन सरलता से हो जाता है। णमोकार मन्त्र का स्मरण इस दिशा में भी सहायक सिद्ध होता है। इस शुभ प्रवृत्ति के उत्पन्न होने से अन्य प्रवृत्तियाँ सहज में विलीन की जा सकती है।

मूल प्रवृत्ति के परिवर्तन का तीसरा उपाय मार्गान्तरीकरण है। यह उपाय दमन और विलयन के उपाय से श्रेष्ठ हैं। मूल प्रवृत्ति के दमन से मानसिक शक्ति संचित होती है, जब तक इस संचितशक्ति का उपयोग नहीं किया

जाये, तब तक यह हानिकारक भी सिद्ध हो सकती है। णमोकार मन्त्र का स्मरण इस प्रकार का अमोघ अस्त्र है, जिसके द्वारा बचपन से ही व्यक्ति अपनी मूल प्रवृत्तियों का मार्गान्तरीकरण कर सकता है। चिन्तन करने की प्रवृत्ति मनुष्य में पायी जाती है। यदि मनुष्य इस चिन्तन की प्रवृत्ति में विकारी भावनाओं को स्थान नहीं दे और इस प्रकार के मंगल वाक्यों का ही चिन्तन करे, तो चिन्तन प्रवृत्ति का यह सुन्दर मार्गान्तरीकरण है। यह सत्य है कि मनुष्य का मस्तिष्क निरर्थक नहीं रह सकता है, उसमें किसी न किसी प्रकार के विचार अवश्य आवेंगे। अतः चरित्र भ्रष्ट करने वाले विचारों के स्थान पर चरित्र वर्धक विचारों को स्थान दिया जाये, तो मस्तिष्क की क्रिया भी चलती रहेगी तथा शुभ प्रभाव भी पड़ता जायेगा।

ज्ञानार्णव में शुभचन्द्राचार्य ने बतलाया है कि समस्त कल्पनाओं को दूर करके अपने चैतन्य और आनन्दमय स्वरूप में लीन होना, निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति का स्थान है। जो इस विचार में लीन रहता है कि मैं नित्य आनन्दमय हूँ, शुद्ध हूँ, चैतन्य स्वरूप हूँ, सनातन हूँ, परमज्योति ज्ञान प्रकाश रूप हूँ, अद्वितीय हूँ, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित हूँ, वह व्यक्ति व्यर्थ के विचारों से अपनी रक्षा करता है, पवित्र विचार या ध्यान में अपने को लीन रखता है।

मूल प्रवृत्तियों के परिवर्तन का चौथा उपाय शोधन है जो प्रवृत्ति अपने अपरिवर्तित रूप में निन्दनीय कर्मों में प्रकाशित होती है, वह शोधित रूप में प्रकाशित होने पर श्लाघनीय हो जाती है। वास्तव में मूलवृत्ति का शोधन उसका एक प्रकार से मार्गान्तरीकरण है। किसी मन्त्र या मंगलवाक्य का चिन्तन आर्त्त और रौद्र ध्यान से हटाकर धर्मध्यान में स्थित करता है। अतः धर्मध्यान के प्रधान कारण णमोकार मन्त्र के स्मरण और चिन्तन की परम आवश्यकता है।

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक विवेचन का अभिप्राय यह है कि णमोकार मन्त्र के द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने मन को प्रभावित कर सकता है। यह मन्त्र मनुष्य के चेतन, अवचेतन और अचेतन-तीनों प्रकार के मनों को प्रभावित कर अचेतन और अवचेतन मन पर सुन्दर स्थायी भाव का ऐसा संस्कार डालता है, जिससे मूल प्रवृत्तियों का परिष्कार हो जाता है। अचेतन मन में वासनाओं को अर्जित होने का अवसर नहीं मिल पाता। इस मन्त्र की आराधना में ऐसी विद्युत शक्ति है जिससे इसके स्मरण से व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व शान्त हो जाता है, नैतिक भावनाओं का उदय होता है, जिससे अनैतिक वासनाओं का दमन होकर नैतिक संस्कार उत्पन्न होते हैं। आभ्यन्तर में उत्पन्न विद्युत बाहर और भीतर में इतना प्रकाश उत्पन्न करती है जिससे वासनात्मक संस्कार भस्म हो जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश व्याप्त हो जाता है। इस मन्त्र के निरन्तर उच्चारण, स्मरण और चिन्तन से आत्मा को एक प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है, जिसे आज की भाषा में विद्युत कह सकते हैं। इस शक्ति द्वारा आत्मा का शोधन कार्य तो किया ही जाता है, साथ ही इससे अन्य आश्चर्यजनक कार्य भी सम्पन्न किये जा सकते हैं।*

●

* डा० नेमचंद्र शास्त्री कृत 'णमोकार मन्त्र: एक अनुचिन्तन' से संक्षेपित।

जैन शास्त्रों में मन्त्रवाद

प्रकाशचंद्र सिंघई, एडवोकेट

दमोह (म० प्र०)

शूब्रिंग के अनुसार, महावीर काल में जैन श्रुत को दो परम्परायें समानान्तर चलीं—अंग परम्परा महावीर-कालीन थी, पूर्व परम्परा महावीर-पूर्व या पार्श्वकालीन थी। अनेक अंगों के विषय पूर्वों के समर्थक हैं या समान हैं, अतः उन्हें तत्तत् पूर्वों से निर्गत माना जाता है। वस्तुतः चौदह में चार पूर्वों को छोड़कर अन्यों के नाम 'प्रवादान्त' हैं, अतः ऐसा लगता है कि इनमें तत्कालीन विचारधाराओं या मत-मतान्तरों का विवरण होगा। इससे भ्रान्त धारणायें हो सकती हैं, अतः इनकी विषयवस्तु को महत्वहीन मानकर इन्हें विलुप्त हो मान लिया गया। फिर भी, इन पूर्वों को द्वादशांगी के बारहवें अंग के घटक के रूप में स्वीकार किया गया। यद्यपि यही अंग सर्वप्रथम स्मृति-विलुप्त माना जाता है, फिर भी शास्त्रों में इसकी विषय-वस्तु के विवरण पाये जाते हैं। इस अंग का नाम दृष्टिवाद है और इसके पांच उपभेद हैं। इनमें चूलिका एवं पूर्वगत के अन्तर्गत विद्यानुप्रवाद (५०० महाविद्यायें, ७०० लघुविद्यायें एवं आठ महानिमित्त) तथा प्राणावाय (वैद्यविद्या भूत-प्रेत-विष विद्या एवं मंत्र-तंत्र-विद्या) के अन्तर्गत मन्त्रविद्या के नाम आते हैं। समवायांग में वर्णित बहत्तर कलाओं में मन्त्र विज्ञान और काकिणी लक्षण के नाम आये हैं। श्रमणों के आचार के सम्बन्ध में उत्तराध्ययन एवं मूलाराधना में यह बताया गया है कि वह इन दोनों कलाओं का उपयोग आहार या आजीविका के प्रलोभन वश न करे। आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि, समन्तभद्र, मानतुंग आदि आचार्यों ने मन्त्र एवं स्तोत्र विद्या के आधार पर ही जैन श्रुत को संरक्षित एवं जैन संस्कृति को अभिवर्धित किया। प्रथमानुयोग के अनेक कथानक मन्त्रशक्ति की कल्याण भावना को प्रकट करते हैं। संक्षेप में, मन्त्र विद्या एक प्राचीन शास्त्र है और यह महावीर-युग में भी लोकप्रिय रहा होगा। शास्त्रों के अनुसार आगमिक साहित्य में इसका विवरण उत्पत्ति, निक्षेप आदि ग्यारह दृष्टि-कोणों से किया गया है। मन्त्रों की प्ररूपणा निर्देश, स्वामित्व आदि नव द्वारों से की गई है। इसका अध्ययन, साधन और उपयोग लोककल्याण एवं आत्मकल्याण के लिये विहित माना गया है। भारतीय संस्कृति की अनेक धाराओं में इसका विकास एवं प्रयोग हुआ। जैन धारा भी इससे अछूती न रही। प्रारम्भ में यह रहस्यवाद के रूप में रही, फिर शक्ति-स्रोत के रूप में उभर कर जनकल्याण के प्रत्येक क्षेत्र को समाहित कर गई। कालान्तर में इस विद्या के किंचित् दुरुपयोग के लक्षण प्रतीत हुए। फलतः इसका विलोपन भी होने लगा। सातवीं सदी के बाद शक्तिवाद की उपासना व स्रोत के रूप में इसका पुनरुद्धार हुआ। इस युग में यह विद्या, पुनः वैज्ञानिक दृष्टि से भी प्रतिष्ठित होती प्रतीत होती है। बीसवीं सदी में इस विद्या की शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक स्थिति का परिज्ञान सर्वसाधारण के लिये उपयोगी होगा।

स्तोत्र और मन्त्र

भारतीय संस्कृति में अपने मार्गदर्शकों, हितकारियों एवं महापुरुषों के गुणगान करने की परम्परा रही है। वैदिक रिचाओं में कितने ही उपकारी प्राकृतिक तत्वों को देवत्व प्रदान किया गया है। यह परम्परा जैन धारा में भी पाई जाती है। इस गुणगानपद्धति को ही स्तवन, स्तुति, स्तोत्र परम्परा कह सकते हैं। इसमें अपने उपकारकों के प्रति

समर्पणभाव, श्रद्धाभाव व भक्तिभाव का विविध रूपों में प्रकटन होता है। सांसारिक अशान्ति की दशा में यह समर्पण-भाव मार्गदर्शी बन जाता है। इस सहज प्रत्यक्ष गुण ने ही स्तोत्र-विधि के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया। ऐसा प्रतीत होता है कि मन्त्रों के विकास के पूर्व स्तोत्रों ने अपना स्थान बना लिया था। भक्तिवाद के विविधरूप स्तोत्र-विधि के ही लोकप्रिय रूप हैं। इसीलिये मन्त्रों के उद्धरण से पूर्व ही स्तोत्रों की परम्परा प्राप्त होने लगती है। कहा जाता है कि सर्वप्रथम स्तोत्र, 'उवसग्गहर स्तोत्र' है और उसके प्रणेता आचार्य भद्रबाहु प्रथम (४५६ ई० पू०) माने जाते हैं। इसके बाद कुछ सदियों तक स्तोत्रों का विवरण नहीं मिलता। द्वितीय, दूसरी-तीसरी सदी के समन्तभद्र (स्वयंभू स्तोत्र), सिद्धसेन (कल्याणमन्दिर, छठी सदी), पूज्यपाद (दशभक्ति, पांचवीं सदी), पात्रकेसरी (पात्रकेसरी स्तोत्र, पांचवी सदी उत्तरार्ध), मानतुंग (भक्तामर स्तोत्र, सातवीं सदी), विद्यानन्द (श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र, ८-९ सदी), जिनसेन (जिनसहस्रनाम स्तोत्र, ८-९ सदी), धनंजय (विषापहार स्तोत्र, ९ सदी), इन्द्रनंदि (ज्वालामालिनी स्तोत्र, दशमशती), वादिराज (एकीभाव स्तोत्र, ११ सदी) एवं अन्य आचार्यों द्वारा अनेक बहुप्रचलित स्तोत्रों की परम्परा मिलती है। अधिकांश स्तोत्रों की रचना का कारण विशिष्ट प्रकार की अशुभ दशाओं के परिवर्तन, धर्मप्रभावना तथा आत्मकल्याण से सम्बन्धित है। इस प्रकार स्तोत्र परम्परा पिछले चौबीस सौ वर्षों से निरन्तर प्रवाहमान है। समय-समय पर नये स्तोत्र रचित हुए हैं और प्राचीन स्तोत्रों का भाषान्तरण हुआ है। सभी स्तोत्रों का विषय इष्टदेव के गुणगान के साथ परमश्रेय एवं वीतरागता के प्रति रुझान की अभिव्यक्ति है। अनेक आचार्यों की स्तोत्र-अभिव्यक्ति से लौकिक प्रभावना कार्य भी सिद्ध हुए हैं।

वस्तुतः शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक परिवेश के परिवर्धन में पूजा, स्तोत्र, मंत्र, ध्यान और हवन का नामोल्लेख किया जाता है। इन सभी का उद्देश्य समग्र जीवन को शुभता की ओर ले जाना है। पूजा मे पूज्य के गुणों को प्राप्त करने की कामना रहती है, स्तोत्र में पूज्य के प्रति समर्पण की भावना, मन्त्र और ध्यान में अन्तर्मुखी शक्ति का जागरण एवं हवन में उक्त प्रवृत्तियों के लाभों को स्व-पर-कल्याण हेतु प्रयुक्त करने की कामना व्यक्त होती है। व्यक्ति अपनी अपनी क्षमता के अनुसार इन पद्धतियों में से एक या अनेक को अपनाकर अपना इहलौकिक जीवन तो प्रशस्त करता ही है, पारलौकिक जीवन की प्रशस्तता का पथ भी अनावृत्त करता है। ये सभी पद्धतियाँ जीवन की अनेक विधता, अस्त-व्यस्तता एवं अल्पशक्तिता को एकरूपता, नियमितता, अपरिमित क्षमता एवं सामर्थ्य के रूप में परिणत करती हैं। फिर भी, विभिन्न विधियों की क्षमताओं में कुछ-न-कुछ अन्तर और विशेषता पाई जाती है। यह माना जा सकता है कि उत्तरवर्ती विधि पूर्व-विधि से प्रेरित होती है और ये क्रमशः सरलता से जटिलता की ओर, सहजता से सामर्थ्य की ओर बढ़ती हैं। एक ओर पूजा और स्तोत्र सामान्य जन के लिये उपयोगी हैं, तो मन्त्र और ध्यान विशिष्ट स्तर और क्रिया में समर्थ जनों के लिये उपयोगी हैं। पूजा और स्तोत्र का समर्पण मात्र मन्त्र और ध्यान में साधना एवं शक्ति-जागरण के अजस्र स्रोत के रूप में परिणत हो जाता है। संभवतः शब्द शक्ति की सूक्ष्मता के उपयोग के परिज्ञान के साथ स्तोत्रों की तुलना में मन्त्रशक्ति, कष्ट-साध्य होने के बावजूद भी, अधिक आकर्षक हो गई। सारणी १ में मन्त्र और स्तोत्र का तुलनात्मक विवरण दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि किसी भी लक्ष्य की सिद्धि के लिये मन्त्र-जप अधिक समर्थ होता है।

मंत्र साहित्य

यह सुज्ञात है कि मंत्रार्थों की परंपरा अत्यंत प्राचीन है, पर सामान्य और विशिष्ट मंत्रों की परंपरा उससे अर्वाचीन है। उदाहरणार्थ, अर्थतः चाहे जो भी हो, शब्दतः णमोकार मंत्र का सर्वप्रथम उल्लेख १-२ सदी के षट्-खंडागम में ही उपलब्ध माना जाता है। भगवती में भी यह पाया जाता है। इसके पूर्व धरसेनाचार्य ने 'जोणीपाहुड' में मंत्र-तन्त्र की शक्ति का वर्णन अवश्य किया है। सदियों बाद णमोकार मंत्र पर तो अनेक ग्रन्थ और उल्लेख पाये जाते है,

सारणी १ : मंत्र और स्तोत्र का तुलनात्मक विवरण

	मंत्र	स्तोत्र
१. स्वरूप	पद समूह, ध्वनि-समुदाय, २००० अक्षरों से कम, पराग कोश के समान, शब्द-आवृत्ति पर आधारित, चतुरंगी साधना विधि, पूजा-स्तोत्र का उत्तर रूप	पद समूह, २००० अक्षरों से ज्यादा, पुष्प-परिकर के समान, केन्द्रक (पूज्य) आधारित, ऐच्छिक पाठ विधि, मंत्राभ्यास का पूर्वरूप
२. क्षेत्र	विस्तृत, व्यापक	अल्प विस्तृत
३. वर्णन	लघु	विशाल
४. विषय	लौकिक एवं आध्यात्मिक	पूजनीय देवता
५. साधन-प्रक्रिया	जप	श्रव्य पाठ
६. सामर्थ्य	अधिक शक्तिशाली, सद्यः फलदाता	कम शक्तिशाली, अलौकिक वर्णन से आत्म सम्मोहन, भाव समाधि
७. शक्ति-स्रोत	बारंबारता का जप	पाठ (विशाल होने से अधिक पाठ नहीं हो सकते)
८. अंग	(i) तीन : रूप, बीज, फल (ii) चार : शब्द, अर्थ, उच्चारण, भावना	— —
९. उपमायें	अग्नि, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, काम-धेनु, विद्युत-लहरी	—
१०. उपयोगिता	पापनाशक, विष-विघ्न-रोग नाशक, भूत-प्रेत बाधाहर, सिद्धि-रिद्धि प्रद	मंत्रों के समान, पर परिसर सीमित
११. व्याख्या	(i) कंठगत ध्वनि से स्फोटशक्ति (ii) ध्वनि आघात द्वारा शक्ति उत्तेजन (iii) मानस स्तर पर जप से शक्तिशाली कर्णातीत या पराश्रव्य तरंगों की उत्पत्ति (iv) स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म को प्रभावित करना एवं सूक्ष्मतर अवस्था की प्राप्ति (v) स्फोट शक्ति से अन्तर में विद्युत चुंबकीय शक्ति का उद्भव	स्तोत्र में ये सभी प्रभाव सीमित मात्रा में होते हैं।

पर मंत्र सामान्य पर स्वतन्त्र ग्रन्थ काफी अन्तराल बाद उपलब्ध होते हैं। संभवतः दसवीं सदी के कुमारसेन का 'विद्यानुशासन' इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। डा० त्रिपाठी ने ग्यारहवीं सदी के 'यंत्र-मंत्र संग्रह' और 'मंत्र शास्त्र' नामक दो अज्ञातकर्तृक ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है। आजकल जो 'विद्यानुवाद' उपलब्ध है, उसकी प्रामाणिकता चर्चा का विषय है। अब तो 'लघु विद्यानुवाद' और 'मंत्रानुशासन' भी सामने आये हैं। यह स्पष्ट है कि ये दोनों ग्रन्थ जैनेतर पद्धतियों से प्रभावित हैं, अतः उनको मान्यता देना दुरूह ही है।

अनेक विद्वानों ने मंत्रों का संकलन तो दिया है, पर उनका मूल स्रोत नहीं लिखा। जैन साहित्य के इतिहासों में भी मंत्र-विषयक साहित्य का विशेष उल्लेख नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनों में उल्लेख योग्य मंत्र-साहित्य का निर्माण आठवीं सदी के बाद ही हुआ है जब 'लौकिक विधि' को प्रमाणता की अभिस्वीकृति दी गई। श्री देवोत के अनुसार जैन मंत्र शास्त्र पर लगभग चालीस ग्रन्थ पाये गये हैं। उन्होंने अपेक्षा की है कि इन ग्रन्थों का समुचित अध्ययन प्रकाशन होना चाहिये। शास्त्री के अनुसार मंत्रों के संबंध में अनेक प्रकार की सूचनायें णमोकार मंत्र से संबन्धित विवरणों एवं पुस्तकों में मिलती हैं। साहित्याचार्य ने अनेक प्रतिष्ठा-पाठों को भी इन सूचनाओं का स्रोत बताया है। शास्त्री ने नवकार-सार-श्रवणं, णमोकार मंत्र माहात्म्य, नमस्कार माहात्म्य (सिद्धसेन), नमस्कार कल्प, नमस्कार स्तव (जिनकीर्ति सूरि), पंच परमेष्ठी नमस्कार स्तोत्र, बीज कोश तथा बीज व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त पूज्यपाद, सिद्धसेन, नेमचन्द्र चक्रवर्ती, वीरसेन, समंतभद्र, अमितगति, शिवार्य, बट्टकेर तथा अनेक प्रथमानुयोगी कथाओं के उद्धरण दिये हैं। अंबालाल शाह ने तेरहवीं सदी में सिंहतिलक सूरि रचित सूरिमंत्र सम्बन्धी 'मंत्रराजरहस्य' ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है। साहित्याचार्य ने जयसेन, बसुनंदि (१०–११ सदी) एवं आशाधर (१३ सदी) के प्रतिष्ठापाठों के अतिरिक्त अनेक व्यक्तिगत स्रोतों से प्राप्त हस्तलिखित पाठों का उल्लेख करते हुए अनेक मन्त्रों की जानकारी दी है। लौकिक एवं धार्मिक क्रियाकलापों तथा उद्देश्यों के लिये मंत्र-जपों का जिस मात्रा में प्रयोग होता है, उस मात्रा में मन्त्र साहित्य और उससे सम्बन्धित आधुनिक दृष्टि से समीक्षित ग्रन्थों का नितांत अभाव है। प्रस्तुत लेख इस अभाव की पूर्ति का माध्यम बनेगा, ऐसी आशा है।

मंत्र शब्द का अर्थ

अनेक जैनाचार्यों तथा विद्वानों ने मन्त्र शब्द की परिभाषा लौकिक, आध्यात्मिक एवं व्याकरणिक दृष्टि से की है। इससे मंत्र शब्द के बहु-आयामी अर्थ प्रकट होते हैं। मन्त्र शब्द मन + त्रण–शब्दों से बना हैं। संस्कृत के अनुसार, यह शब्द 'मन्' (ज्ञान, विचार, सत्कार) धातु में 'ष्ट्रन' प्रत्यय लगाने पर प्राप्त होता है। मन्त्र एक स्वतंत्र धातु भी मानी जाती है। इन आधारों पर शास्त्र, व्याकरण एवं आधुनिक मान्यताओं के अनुसार मंत्र शब्द के निम्न अर्थ प्राप्त होते हैं :

(१) उमास्वामी	मंत्र जिन या तीर्थंकर का शरीर ही है।
(२) समन्तभद्र	जो मंत्रविदों द्वारा गुप्त रूप से बोला जावे।
(३) अभयदेव सूरि	देवाधिष्ठित विशिष्ट अक्षर रचना।
(४) निरुक्तिकार यास्क	मंत्र शब्द बार-बार मनन क्रिया का प्रतीक है।
(५) पंच कल्प भाष्य	जो पठित होकर सिद्ध हो, वह मंत्र है।
(६) व्याकरणगत अर्थ	(i) आत्म अनुभूति का ज्ञान करने की विधि।
	(ii) आत्म अनुभूति पर विचार करने की क्रिया।
	(iii) उच्च आत्माओं या देवताओं का सत्कारतंत्र।

(iv) विशिष्ट एवं वर्गीकृत ध्वनि ।
(v) नियत ध्वनियों के समूह की आवृत्ति ।

(७) वर्तमान अर्थ
(i) योग के द्वारा मन को मारने/नियंत्रित करने की विधि ।
(ii) मन/मनोकामना की रक्षा/पूर्ति करने की विधि ।
(iii) एकाग्रता एवं अंतःशक्ति के उद्भव का विज्ञान ।
(iv) संकल्पशक्ति से परिपक्व विचार ।
(v) सूक्ष्म के माध्यम से स्थूल के प्रभावी सूत्र ।

इन सभी अर्थों के भाव समान हैं। ये परिभाषायें मंत्र के तीन रूपों को व्यक्त करती हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि मंत्र

(१) स्वरूप-गत: विशिष्ट अक्षर-रचना, विशिष्ट एवं वर्गीकृत ध्वनि, नियत ध्वनि-समूह की आवृत्ति ।

(२) उद्देश्यगत:
(i) लौकिक: मन का नियंत्रण, मनोकामना की पूर्ति ।
(ii) आध्यात्मिक: मन की एकाग्रता, उच्च आत्माओं का सत्कार, आत्मानुभूति, अंतःशक्ति का उद्भव ।

(३) क्रियागत: ज्ञान, विचार, मनन, सत्कार एवं ध्वनि समूह के आवृत्ति की क्रिया ।

ध्वनि समूह और मन से प्रकटतः सम्बन्धित है। मन को तीव्रगामी अश्व कहा गया है। उसकी प्रवृत्ति और शक्ति, सामान्य दशा में बिखरी रहती है। मंत्र द्वारा यह शक्ति बिन्दु या दिशा में प्रेरित की जाती है। इससे व्यक्ति अपरिमित शक्ति-स्रोत बन जाता है। यही कार्य-साधिका है। इस आधार पर मंत्र ध्यान का ही एक रूप है। ध्यान के विविध चरणों में मंत्रपाठ महत्त्वपूर्ण है। मंत्रों के स्वरूप के आधार पर यदि हम उन्हें शब्द ध्वनि की लीला कहें, तो उपयुक्त ही होगा। इस ध्वनि लीला पर शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक मंथन हुआ है। जैन शास्त्रों के अनुसार शब्द या ध्वनि पुद्गल या ऊर्जायुक्त सूक्ष्म कणमय पदार्थ है। ये ध्वनियाँ तीव्रगामी मन–प्राण के संयोग से अति बलवान् एवं शक्ति सम्पन्न हो जाती हैं। जब शब्दों का उच्चारण होता है, तो वीची-तरंग न्याय से आकाश में कम्पन उत्पन्न होते हैं। इनकी प्रकृति उच्चारित शब्द की तीव्रता, आवृत्ति या तरंग-दैर्घ्य पर निर्भर करती है। इन कम्पनों का पुंज अपने केन्द्र पर लौटने तक पर्याप्त शक्तिशाली हो जाता है। इस शक्ति का अनुभव मंत्र-साधक के आश्चर्य का विषय होता है। लेकिन इस आल्हादक शक्ति पर वह तब विश्वास करने लगता है जब वह देखता है :

बीन बजाने से सर्प मोहित हो जाता है
मधुर संगीत से हिरण मदमस्त हो जाते हैं
मल्हार राग से मेघ बरसने लगते हैं
राग से दीपक जलने लगते हैं, विष उतर जाते हैं
विशिष्ट संगीत ध्वनियों से पौधों की वृद्धि तीव्र होती है
संगीत से पशु अधिक दूध देने लगते हैं
पराश्रव्य ध्वनि से चिकित्सा होने लगी है
इसी ध्वनि से लोहा काटा जा सकता है
यही ध्वनि कर्ण पट का आघात द्वारा कम्पित करती है
ध्वनि चेहरे के भाव प्रकट करती है
ध्वनि मन को भावना-प्रेरित करती है और
सुनने वाले को प्रभावित करती है।

इच्छा की सूक्ष्म तरंगें सहस्रार और आज्ञाचक्र से पास होकर मूलाधार चक्र से टकराती हैं और ऊपर की ओर लौटती हैं। वे मार्गवर्ती वर्णों एवं अक्षरों को स्पन्दित करती हैं। ये स्पन्दन (चित्र १) ही कण्ठ प्रदेश में टकराकर शब्द रूप में परिणत होकर स्फोटित होते हैं। इस प्रकार शब्द बाहर को भीतर से जोड़ता है और अन्तर को अभिव्यक्ति देता है।

शास्त्रों में मंत्र को प्रयोग साध्य कहा गया है। प्रयोग तो आधुनिक विज्ञान का क्षेत्र है। इसकी प्रयोग साध्यता, अतएव फलवत्ता वैज्ञानिक रूप से प्रमाणित की जा सकती है। इसीलिये मंत्रविद्या को अब मंत्र विज्ञान, ध्वनि विज्ञान या शब्द विज्ञान भी कहने लगे हैं। शास्त्रीय मंत्र विज्ञान सूक्ष्मतम का विज्ञान है। वह 'परा' शून्य अवस्था से प्रारम्भ होकर पश्यन्ती, मध्यमा (विचार) चरणों से पार होकर 'वैखरी' या वचन के रूप में प्रकट होता है। उच्चारित ध्वनि में मन, बुद्धि, चेतना आदि के आयाम जुड़ जाने से वह बोझिल बन जाती है। इसके विपर्यास में अन्तर्गामी ध्वनि इन आयामों का परित्याग कर सूक्ष्म नाद एवं शक्ति का रूप धारण करती है। इस सूक्ष्म शक्ति को जागृत करने के लिये मंत्र का गठन ऐसे चमत्कारी ढंग से किया जाता है कि उसकी आवृत्ति का सीधा प्रभाव हमारी सूक्ष्म ग्रन्थियों, षट्चक्रों एवं शक्ति केन्द्रों पर पड़े। इससे प्रसुप्त शक्ति जागती है। मंत्रों के उद्देश्यों के अनुरूप उनकी आवृत्तियाँ विशिष्ट ग्रन्थियों को क्रियाशील बनाती हैं जिससे वे सिद्धिप्रद होने लगती हैं। शब्द की आवृत्ति जितनी ही भीतर की ओर होगी, उतनी ही वह चैतन्य कोश को दोलित करेगी। यह आवर्तना ही प्राणवत्ता कहलाती है। यह चुने हुए शब्द एवं ध्वनि समूहों पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से साधक की विचार शक्ति स्विच का काम करती है और मंत्र शक्ति विद्युत तरंगों का काम करती है।

मंत्रों के प्रकार

आचार्य विमल सागरजी के अनुसार, मंत्रों की संख्या चौरासी लाख है। इनके अध्ययन के लिये उनका वर्गीकरण आवश्यक है। इन्हें कई आधारों पर वर्गीकृत किया गया है। मूलाचार में मंत्र सिद्धि विधि के आधार पर मंत्रों के दो प्रकार बताये गये हैं : पठित (जो पाठ-सिद्ध हों) और साधित (जो साधना से सिद्ध हों)। चक्रेश्वरी और ज्वाला-मालिनी पठित श्रेणी के हैं। गणधर वलय, रिषिमंडल, सिद्धचक्र आदि साधित श्रेणी के हैं। यह वर्गीकरण पर्याप्त स्थूल प्रतीत होता है।

प्रकृति के आधार पर मंत्रों की तीन कोटियाँ हैं—आसुरी, राजस और सात्विक। आसुरी मंत्रों के साधकों को सिद्धियाँ दिव्य रूप में प्रकट नहीं होतीं। सात्विक मंत्र के साधकों का अनुष्ठान निष्काम होता है और उन्हें प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व की सिद्धियाँ अनिवार्यतः प्राप्त होती हैं। राजस मंत्रों के फल मध्यवर्ती होते हैं। हमें सात्विक मंत्रों की साधना करनी चाहिये।

मंत्रों के स्वरूप के अनुसार भी, मंत्र तीन प्रकार के बताये गये हैं : सृष्टिक्रमी, स्थितिक्रमी और संहारक मंत्र। प्रथम कोटि के मंत्र शान्ति, अभ्युदय, पुष्टि एवं पुरुषार्थ जनक होते हैं। स्थितिक्रमी मंत्र अशुभ परिणामों के नाशक और शुभ परिणामी होते हैं। संहारक मंत्र संहारी क्रियाओं एवं मनोवृत्ति के जनक होते हैं। इनसे शुभ का भी संहार

मंत्र प्रकार	नाम	देवता	मंत्रांत	उद्देश्य
१. पुल्लिंगी मंत्र	सौर	पुरुष	हुँ, फट्, वषट्	वशीकरण, स्तंभन, उच्चाटन, अर्थप्रद
२. स्त्रीलिंगी मंत्र	सौम्य	स्त्री	स्वाहा	शान्ति, पुष्टि, काम
३. नपुंसकलिंगी	—	—	नमः	सिद्धि, धर्म, मुक्ति

होता है और अशुभ का भी संहार होता है। मंत्र-जप के पूर्व मंत्र न्यास की प्रक्रिया भी इसी आधार पर तीन प्रकार की होती है। मंत्रों का बहुमान्य विभाजन उनके लिंग के आधार पर किया गया है। इस दृष्टि से मंत्र तीन प्रकार के होते हैं जिनका विवरण ऊपर दिया गया है।

लौकिक उद्देश्यों के अनुरूप मंत्रों के नौ प्रकार बताये गये हैं : स्तंभन, संमोहन, उच्चाटन, वशीकरण, जृंभण, विद्वेषण, मारण, शान्तिक और पौष्टिक। इनमें से प्रत्येक उद्देश्य के लिये विशिष्ट मंत्र होता है। कुछ मंत्र सभी प्रकार के उद्देश्य के पूरक होते हैं।

मंत्रों का एक वर्गीकरण उनमें विद्यमान अक्षरों या वर्णों की संख्या के आधार पर किया जाता है। ज्ञानार्णव एवं द्रव्य संग्रह में ३५, १६, ६, ५, ४, २, १ आदि अक्षरों के मंत्रों का निर्देश किया है। शास्त्री ने इनके उदाहरण भी दिये हैं। गोविन्द शास्त्री के अनुसार, यदि मंत्रों में बीजाक्षर और पल्लव दोष न हों, तो ३, ४, ५, ९, १२, १४, २२, २७, ३४, ३५, ३८ एवं तेतालीस अक्षर वाले मंत्र साधना के योग्य होते हैं। यह भी बताया गया है कि दो हजार से अधिक अक्षर वाले मंत्र स्तोत्र कहलाते हैं। इस आधार पर अल्पाक्षरी मंत्रों का जप अधिक प्रभावकारी बताया गया है। उन्होंने मंत्रों में पाये जाने वाले ४९ दोष भी बताये हैं। इन दोषों से रहित मंत्र ही जपयोग्य माना गया है।

मंत्रों की संरचना : मंत्रों के अंग

सामान्यतः प्रत्येक मंत्र में तीन अंग होते हैं : अकारादि—क्षकारांत मातृकाक्षर, कवर्ग से हकारान्त बीजाक्षर और पल्लव या लिंग (नमः, स्वाहा आदि)। प्रत्येक मंत्र में इनका एकीकृत रूप में समन्वय किया जाता है। शास्त्री के अनुसार सभी जैन मंत्रों का बीज णमोकार मंत्र है। इसके बीजाक्षरों के सूक्ष्मीकरण से ही अन्य मंत्र बनाये गये हैं। बीज कोश और बीज व्याकरण से बीजाक्षरों और मातृका वर्णों का महत्त्व ज्ञात किया जा सकता है। इनसे सम्बन्धित जैन शास्त्रीय विवरण सारणी २ में दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय में वैदिक पद्धति के विवरण अधिक विस्तृत और व्यापक हैं। इन विवरणों में प्रत्येक वर्ण के लिये संकेतक, वर्ण, स्वरूप, आयुध, वाहन, परिमाण, तात्विक रूप, देवता, शक्ति, रिषि, छन्द, चन्द्र/सौर कला एवं नाद/प्रणव कला का संसूचन किया जाता है। इन सूचनाओं के आधार पर ही मंत्रों का निर्माण और उनके कार्य एवं सामर्थ्य का अनुमान लगता है। मंत्रों के अंत में लगाये जाने वाले नमः, स्वाहा, फट् आदि शब्द उनके लिंग और लक्ष्य के प्रतीक होते हैं। इन्हें ही पल्लव कहते हैं। इन तीन अंगों के बिना मंत्र पूर्ण नहीं माना जाता। उदाहरणार्थ, हम निम्न रक्षा मंत्र को लें :

ओम् णमो अरिहंताणं ह्रां ह्रदयं रक्ष रक्ष हुम् फट् स्वाहा। यह बीस अक्षर का मंत्र है। इसमें ओम्, हुम्, फट्, स्वाहा पल्लव हैं, अ, ओ आदि स्वरों से युक्त मातृका वर्ण हैं और क—ह तक के अनेक बीजाक्षर हैं। पूर्ण रक्षा मंत्र में पंच परमेष्ठियों का पृथक्-पृथक् पाठ किया जाता है। तभी यह मंत्र निर्दोष एवं पूर्ण माना जाता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम लघु शान्ति मंत्र का भावात्मक अर्थ ज्ञात करें। इस मंत्र में १९ अक्षर हैं, स्वाहा और ओम् पल्लव हैं। इसमें मातृका वर्ण और बीजाक्षर भी अनेक हैं। सारणी ३ के अनुसार इसमें प्रयुक्त अंगों के फलितार्थ से स्पष्ट है कि इस मंत्र में ऐसे ही वर्णों और पल्लवों का उपयोग किया गया है जो विभिन्न प्रकार की शक्तियों के स्रोत हैं और अशान्ति, तनाव आदि को परास्त कर जीवन को शान्तिकर एवं सकारात्मक बनाने में सक्षम हैं। स्त्रीलिंगी पल्लव होने से यह मंत्र शान्तिक, पौष्टिक और इच्छापूर्ति का प्रतीक है। इसी प्रकार अन्य मंत्रों के भी

सारणी २–ध्वनियों/बीजाक्षरों से संबंधित विवरण

क्र०	अक्षर	उच्चारण	बीज	तत्व	लिंग	वर्ण	शक्ति/सामर्थ्य
१.	अ	कंठ	आकाश, प्रणव	वायु	पु.	ब्रा.	सर्वशक्ति
२.	आ	कंठ	सुख बीज	वायु	स्त्री	ब्रा.	धन, आशा
३.	इ	तालु	अग्निबीज	अग्नि	न.	ब्रा.	मृदु कार्य साधक
४.	ई	तालु	गुणबीज	अग्नि	स्त्री	ब्रा.	अल्प शक्ति
५.	उ	ओष्ठ	वायुबीज	पृथ्वी	पु.	ब्रा.	अद्भुत शक्ति
६.	ऊ	ओष्ठ	,,	पृथ्वी	पु.	ब्रा.	विघटन
७.	ए	कंठ-तालु	अरिष्ट नि०	जल	न.	ब्रा.	निश्चल
८	ऐ	कंठ-तालु	वशी०बीजमूल	जल	पु.	ब्रा.	उदात्त
९.	ओ	कंठोष्ठ	मायाबीजमूल	आकाश	पु.	ब्रा.	अनुदात्त
१०.	औ	कंठोष्ठ	अनेक बीजमूल	आकाश	पु.	ब्रा	शीघ्र कार्यसाधक
११.	अं	नासिका	लक्ष्मी, आकाश	आकाश	पु.	ब्रा.	मृदु शक्ति
१२.	अः	कंठ	शान्ति बीज	आकाश	न.	ब्रा.	सहयोगी
१३.	ऋ	मूर्धा	ऋद्धि बीज	वायु, अग्नि	न.	ब्रा.	सिद्धिदायक
१४.	लृ	दन्त	लक्ष्मी बीजमूल	पृथ्वी,जल	न.	ब्रा.	सत्य संचारक
१५.	क	कंठ	शक्ति बीज	वायु	पु.	क्ष.	सुखोत्पादक
१६.	ख	,,	आकाश बीज	वायु	पु.	क्ष.	कल्प वृक्ष
१७.	ग	,,	प्रणव बीजमूल	वायु	पु.	क्ष.	साधक
१८.	घ	,,	स्तंभन/मोहन	वायु	पु.	क्ष.	स्तंभन
१९.	ङ	,,	विध्वंसन	वायु	न.	क्ष.	विध्वंसक
२०.	च	तालु	उच्चा० बीजमूल	अग्नि	न.	वै.	खंड शक्ति
२१.	छ	,,	माया बीजमूल	अग्नि	स्त्री	वै.	शक्ति विध्वंस
२२.	ज	,,	आकर्षण बीजमूल	अग्नि	पु.	वै.	रोग नाश, सिद्धि
२३.	झ	,,	श्री बीजमूल	अग्नि	पु.	वै.	शक्ति संचार
२४.	ञ	,,	स्तंभन/मोहन	अग्नि	न.	वै.	अवरोधक
२५.	ट	मूर्धा	अशुभ बीजमूल	पृथ्वी	पु.	शू.	अशान्ति
२६.	ठ	,,	चंद्र बीज	पृथ्वी	पु.	शू.	निकृष्ट कार्य
२७.	ड	,,	—	पृथ्वी	पु.	शू.	शान्ति विरोधी
२८.	ढ	,,	मारण/माया बीजमूल	जल	पु.	शू.	शान्ति, शक्ति
२९.	ण	,,	आकाश/ध्वंस मूल	पृथ्वी	न.	शू.	शान्ति, शक्ति
३०.	त	दन्त	आकर्षण बीज	पृथ्वी	पु.	शू.	सर्व सिद्धि
३१.	थ	,,	लक्ष्मी बीजमूल	जल	पु.	शू.	मंगल साधक
३२.	द	,,	वशी० बीजमूल	पृथ्वी	न.	शू.	आत्म शक्ति
३३.	ध	,,	माया बीजमूल	जल	पु.	शू.	सहयोगी
३४.	न	,,	—	जल	पु.	शू.	आत्म सिद्धि
३५.	प	ओष्ठ	—	आकाश	पु.	वै.	सहयोगी
३६.	फ	,,	—	आकाश	पु.	वै.	कठोर कार्य
३७.	ब	,,	सिद्धि बीजमूल	आकाश	पु.	वै.	विघ्न विनाश

३८.	भ	,,	लक्ष्मी बीज-विरोधी	आकाश	न.	वै.	सात्विक-विरोधी
३९.	म	,,	—	आकाश	न.	वै.	सिद्धि, सन्तान
४०.	य	तालु	—	वायु	पु.	क्ष.	शान्ति, सिद्धि
४१.	र	मूर्धा	अग्नि बीज	अग्नि	न.	क्ष.	शक्ति वृद्धि
४२.	ल	दन्त	श्री बीजमूल	पृथ्वी	स्त्री.	क्ष.	लक्ष्मी, कल्याण
४३.	व	दन्तोष्ठ	सरस्वती बीज	पृथ्वी	स्त्री.	क्ष.	विपत्ति निवारक
४४.	श	तालु	---	वायु	—	क्ष.	निरर्थक
४५.	ष	मूर्धा	आह्वान बीज	अग्नि	पु.	क्ष.	सिद्धिदायक
४६.	स	दन्त	काम बीजमूल	जल	पु.	क्ष.	सर्वसाधक
४७.	ह	कंठ	सर्व बीजमूल	वायु	न.	क्ष.	मंगल साधक

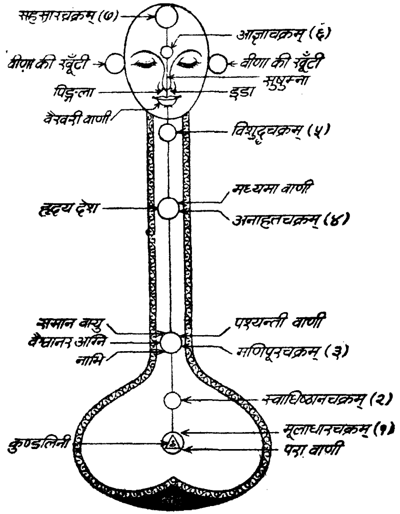

चित्र १. शरीर तंत्र में विभिन्न चक्र और नाड़ियाँ (सौजन्य डॉ० वागीश शास्त्री)

फलितार्थ से उनकी जपनीयता एवं उपयोगिता प्रकट होती है। महाप्रज्ञ ने मंत्र के चार अवयव बताये हैं: शब्द अर्थ, उच्चारण और भावना। ये घटक मंत्र की प्राणवत्ता के निरूपक हैं।

सारणी ३. लघु शांतिमंत्र का फलितार्थ

ओम्	तेजोबीज, कामबीज, प्रणव वाचक, सिद्धिदायक
ह्रीं	सर्वशांति, मंगल, कल्याण
अ	प्रणवबीज, शक्ति द्योतक
र्हं	विषापहार बीज
अ	प्रणवबीज, शक्ति द्योतक
सि	सर्व समीहित साधक
आ	शक्ति, बुद्धि, धन, आशा
उ	अद्भुत शक्तिशाली
सा	धन व आशापूरक
सर्वशांति	कार्यसाधक, चमत्कारोत्पादक, हितैषी
कुरु कुरु	सुयश, शक्ति, उत्पादक
रु रु	शक्ति-प्रस्फोटक, वर्धक
स्वाहा	शांतिकर, हवन वाचक
पल्लव	स्वाहा, ओम्
मंत्रलिंग	स्त्रीलिंग

कुछ विशिष्ट मंत्र

जैन शास्त्रों में लौकिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक उद्देश्यों के लिये विशिष्ट मंत्र पाये जाते हैं। इनका जप विशिष्ट अवसरों पर किया जाता है। इनमें से कुछ मंत्र यहाँ दिये जा रहे हैं:

१. **अचिंत्य फलदायक मंत्र**—ओम् ह्रीं स्वर्हं णमो णमो अरिहंताणं ह्रीं नमः।

२. **रोगनिवारक मंत्र**—ओम् णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं। ओम् णमो भगवति, सुअदे, वयाणवार संग एव, यण आगणीये, सरस्सई ए सव्व, वाइणि सवणवणे, ओम् अवतर अवतर देवि, मय सरीरं वपिस पुछं, तस्स पविससत्व, जण मयहरीये अरिहंत सिरिसरिये स्वाहा।

३. **अग्नि निवारक मंत्र**—ओम् णमो, ओम् अर्हं, अ सि आ उ सा, णमो अरिहंताणं नमः।

४. **लक्ष्मी प्राप्ति मंत्र**—ओम् णमो अरिहंताणं, ओम् णमो सिद्धाणं, ओम् णमो आइरियाणं, ओम् णमो उवज्झायाणं, ओम् णमो लोए सव्वसाहूणं। ओम् ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः स्वाहा।

५. **सर्वसिद्धि मंत्र**—(१) ओम् अ सि आ उ सा नमः (सवा लाख जप), (२) ओम् ह्रीं श्रीं क्लीं नमः स्वाहा

६. **शान्ति मंत्र**—ये तीन प्रकार के हैं: बृहद्, मध्यम और लघु। यहाँ मध्यम और लघु मंत्र दिये जा रहे हैं:

मध्यम शान्ति मंत्र—ओम् ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा सर्वशान्तिं कुरु कुरु स्वाहा (२१ अक्षर)

लघु शान्ति मंत्र—ओम् ह्रीं अर्हं अ सि आ उ सा सर्वशांतिं कुरु कुरु स्वाहा (१९ अक्षर)

सर्वशान्ति मंत्र—ओम् ह्रीं श्रीं क्लूं ब्लूं अर्हं नमः

इनके कम-से-कम २१,००० जप करना चाहिये। यह मंत्र सिद्धचक्र विधान तथा गृहप्रवेशादि लौकिक क्रियाओं में भी जपा जाता है।

७. **वशीकरण मंत्र**—लक्ष्मी प्राप्ति मंत्र में "ओम् ह्रां···स्वाहा" के बदले निम्न अंश जोड़कर पढ़ना : 'अमुकं मम वश्यं कुरु कुरु स्वाहा (११,००० जप)

८. **महामृत्युंजय मंत्र**—लक्ष्मी प्राप्ति मंत्र में 'ओम् ह्रां···स्वाहा' के बदले 'मम सर्व ग्रहारिष्टान् निवारय निवारय अपमृत्युं घातय घातय सर्वशान्तिं कुरु कुरु स्वाहा' पढ़ना। (३१,००० से १,२५,००० जप)

मंत्रों की साधना

आध्यात्मिक या लौकिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये मंत्रों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रयोग को मन्त्र साधना कहते हैं। इस प्रयोग में मन्त्र को विशिष्ट वातावरण व विधि के अनुरूप बार बार जपा जाता है। यह प्रक्रिया किसी सोते हुए व्यक्ति को बार बार जगाने के समान मानना चाहिये। मन्त्र का यह जप वाचिक, उपांशु एवं मानसिक—किसी भी रूप में किया जा सकता है। वाचिक जप में मन्त्र मुखोच्चारित होता है। उपांशु जप में मन्त्र की शब्दोच्चारण क्रिया भीतर ही होती है, वह मुख में से बहिर्गत नहीं होता। मानसिक जप में बाहरी और भीतरी शब्दोच्चारण नहीं होता, केवल हृदय में मन्त्रों का चिन्तन, विचार होता रहता है। सोमदेव के अनुसार मानसिक जाप सर्वोत्तम होता है। यह वाचिक जाप से सहस्र गुण फल वाला होता है।

जप शब्द, ध्वनि या मन्त्र को बार-बार पुनरावृत्ति को कहते हैं। इस हेतु सुनिश्चित आवृत्तियों के लिये कमल जाप, हस्तांगुलि जाप एवं माला जाप विधियाँ प्रचलित हैं। बारंबारता शक्ति की प्रतीक एवं जनक है। आयुर्वेदज्ञ अपने औषधों को बहुसंख्यक पाकों द्वारा ही अधिकाधिक गुणवान बनाते हैं। इससे वे बाह्य शरीर को सक्षम एवं समर्थ बनाने में सहायक होते हैं। मन्त्र साधना भी मन्त्रों का विशिष्ट संख्यक पाक है जो विशिष्ट शक्ति को, विद्युत् चुंबकीय शक्ति के रूप में, अन्तर में उत्पन्न करता है। इस प्रक्रिया में मन्त्र के वर्णों एवं ध्वनियों का शोधन एवं पाक हो कर अन्तरंग शुद्ध होता है। इसलिये जप वस्तुतः अन्तःकरण के लिये अन्तरंग की साधना है। इस साधना में भौतिक या घर्षण शक्ति का नहीं, अपितु विद्युत-चुंबकीय शक्ति का उपयोग होता है। कुछ लोगों के अनुसार, मानसिक जप में ध्वनि आभासी होती है। पर मन्त्र साधक जानता है कि यह वास्तविक होती है। यह उसकी भावना, इच्छा एवं संकल्पशक्ति की तीव्रता पर निर्भर करती है। वस्तुतः भावना पर मन्त्र ध्वनियों का आरुढ करना ही जप है। इस प्रक्रिया में उत्पन्न शक्तिशाली विद्युत चुंबकीय तरंगों का ग्राही साधक भी हो सकता है और साधकेतर अन्य व्यक्ति भी हो सकता है। दोनों पर ही वांछित प्रभाव पड़ता है। इसका कारण यह है कि जप के कारण बार-बार एक-से लय से निकलते शब्द लहर-पर-लहर उत्पन्न करते हुए दूरवर्ती माध्यम पर भी अपना इच्छित प्रभाव डालते हैं। ये विद्युत् धारा के समान ऊर्जा उत्पन्न करते हुए होनी को अनहोनी में परिणत कर देते हैं। मन्त्रावृत्ति की शक्ति सभी अवरोधों को पार कर साध्य सिद्धि में सहायक होती है।

मंत्र साधना की विधि : साधक की योग्यता

मंत्रों की साधना का मूल लक्ष्य तो आध्यात्मिक शक्ति का विकास और कर्मक्षय है, पर सांसारिक प्राणी इससे अनेक प्रकार के लौकिक लक्ष्य भी प्राप्त करना चाहता है। सात्विक साधक के लिये अनेक लौकिक लक्ष्य, निष्काम साधना से स्वयमेव प्राप्त होते हैं। प्रारंभिक साधक इन्हें ही सिद्धि समझ लेता है। वस्तुतः ये चरम सिद्धि के मार्ग के आकर्षण हैं। इनकी उपेक्षा कर आगे साधना करनी चाहिये। मंत्र साधना के लिये साधक पर जाति, लिंग या वर्ण का कोई बंधन नहीं

है। उसमें विशिष्ट प्रकार की योग्यता एवं आचार-वत्ता होना चाहिये। इसके लिये साधना के पूर्व साधक के लिये अष्ट शुद्धियों का विधान है :

१. द्रव्य शुद्धि : इन्द्रिय एवं मन को वश में कर क्रोधादि विकारों से रहित होना

२. क्षेत्र शुद्धि : मन्त्र साधना हेतु निराकुल स्थान, निर्जन स्थान, गृह का शांत कक्ष, श्मशान, शव, श्यामा एवं अरण्य पीठ आदि समुचित स्थान का चयन

३. समय शुद्धि : प्रातः, सायं एवं मध्याह्न में आवश्यकतानुसार निश्चित समयावधि तक मन्त्र जाप, तिथि शुद्धि

४. आसन शुद्धि : काष्ठ, शिला, भूमि, चटाई, ताड़पत्र, रेशमी वस्त्र, कम्बल आदि पर पूर्व या उत्तर दिशा में पद्मासन, खड्गासन, ध्यानासन मे मन्त्र जप करना

५. विनय शुद्धि : मन्त्र के प्रति श्रद्धा, अनुराग एवं संकल्प वृत्ति

६ मनः शुद्धि : विचारों की विकृति हटाकर एकाग्रता का प्रयास

७. वचन शुद्धि : मन्त्र को शुद्धरूप में जपने का प्रयत्न

८. काय शुद्धि : नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर स्नान एवं स्वच्छ वस्त्र पहनकर शुद्ध शरीर से मन्त्र जप। अनेक स्थानों पर त्रिकरण शुद्धि, ईर्यापथ शुद्धि, भूमि-पात्र शुद्धि आदि के नाम भी पाये जाते हैं। ये अष्टशुद्धियाँ योग मार्ग के समकक्ष हैं। इसलिये यह कहा जाता है कि अच्छा योगी ही अच्छा मन्त्र साधक हो सकता है। योगरूप साधन और मन्त्ररूप साध्य। योग्य साधक को बहिरंग और अन्तरंग से शुद्ध, श्रद्धावान् एवं संकल्प-समृद्ध होना चाहिये। साधक की समुचित योग्यताओं के विषय में 'विद्यानुवाद' आदि ग्रन्थों में निरूपण है। कुमारसेन के 'विद्यानुशासन' में भी एतद्विषयक महत्वपूर्ण चर्चा है। पूजा, स्वाध्याय, इन्द्रिय-संयम, गुरु भक्ति, तप और दान करने की प्रवृत्ति से साधना फलवती होती है।

यह सामान्य धारणा है कि मन्त्र की साधना मन्त्रज्ञ गुरु के निर्देशन में करना चाहिये। गुरु दो प्रकार के होते हैं : माता-पिता, अग्रज आदि प्राकृत गुरु हैं। आचार्य, मामा, श्वसुर, राजा और होता व्यवस्थाकृत गुरु हैं। गुरु के गुणों का विवरण शास्त्रों में उपलब्ध है। वस्तुतः गुरु वही है जो आल्हादकारी हो, अभ्युदय सहायक हो। स्थापना-निक्षेपित एवं मानसिक गुरु भी कल्याणकारी बताये गये हैं। हिन्दू शास्त्रों को अनुसार, गुरु को मनुष्य न मानकर देवतुल्य मानना चाहिये। इनमें साधक के भी निम्न गुण बताये गये हैं : विश्वास, श्रद्धा, गुरुभक्ति, इन्द्रिय संयम, मित-भोजन एवं साम्यभाव। जैनाचार्य भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इन गुणों को मानते हैं।

मंत्र साधना की विधि

देवोत ने बताया है कि वर्तमान में उपलब्ध मन्त्र साहित्य में मंत्रसिद्धि की सम्पूर्ण विधि कहीं भी नहीं दी गई है। इसका संकलन कर मंत्रज्ञों ने अपने अपने पास उसे पूर्ण कर रखा है। फिर भी, जो उपलब्ध है, उसके आधार पर उसकी रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है। शास्त्रों में मन्त्र-साधना के लिये दस प्रकार के संस्कारों का विधान है। संपूर्ण साधना विधि चतुरंगी, पंचांगी या षडंगी होती है। यह चतुरंगी—जप, ध्यान, पूजा, हवन तो अवश्य ही होनी चाहिये। तर्पण एवं भोज के बदले में कुछ अधिक जाप किये जा सकते हैं। सर्वप्रथम साधना प्रारम्भ हेतु उपयुक्त मास, तिथि एवं समय का चयन करना चाहिये। तदुपरान्त यथोचित समय पर उपरोक्त आठ शुद्धियों या संस्कारों को सम्पन्न करना चाहिये। उपयुक्त तिथि पर अमृत स्नान, कर-न्यास, अंगन्यास, कूटाक्षरन्यास, आत्मरक्षा मन्त्र, परविद्याछेदन मन्त्र, अरिष्टनेमि मन्त्र एवं दिग्बंधनादि के द्वारा जप की पूर्वपीठिका तयार की जाती है। जपों की संख्या एवं मन्त्र भी निश्चित

कर लिया जाता है। सामान्यतः जपों की निश्चित संख्या नहीं होती और जप तब तक करना चाहिये, जब तक मन्त्र सिद्ध न हो जावे। णमोकार मन्त्र के विषय में यह बताया गया है कि इसका सात लाख जप करने से कष्टमुक्ति और दारिद्रय नाश होता है। मन्त्रसिद्धि का मान मन्त्राधिष्ठाता देवताओं की उपस्थिति से होता है।

जप करने के लिये निश्चित एवं शुद्ध स्थान पर एक चौ-पाट रखकर उसके बीच में सांथिया बनाना चाहिये। इसके चारों कोनों पर चार और मध्य में एक-कुल पांच कलश रखें। ये कलश नये हों, प्रत्येक में हल्दी की गांठें, सुपारी तथा अक्षत (एक में सवा रुपया) डालें। उनके मुख पर नारियल, तूस, माला रखकर उन्हें सजा दें। कलशों के साथ ही पंचरंगी या केशरिया ध्वजाओं के चार थपे रखें। चौपटा के पूर्व या उत्तर में सिंहासन पर विनायक यन्त्र रखें। उत्तर या पूर्व दिशा में अखंड-ज्योति घृत या तैल दीप रखें। इसके बाद जपासन के समक्ष धूपघट, धूपपात्र, सूत्र की माला एवं जपगणना हेतु कुछ बादाम, सुपारी या लौंगें। साथ ही, यदि मन्त्र याद न हो, तो उसे शुद्ध रूप में कागज पर लिखकर सामने रखे। मन्त्र संकल्प को भी चौ-प्राट के मध्य कलश के पास लिखकर रखें।

इसके बाद, मंगलाष्टक का पाठ करते हुए पुष्पवर्षा करें। तदनन्तर शरीर की रक्षा तथा विभिन्न दिशाओं से आने वाले विघ्नों की शांति के लिये मंत्रोच्चारण पूर्वक कर-न्यास, अंगन्यास और दिशाबंधन करें। कलाई में रक्षा-सूत्र बाँधें, तिलक लगावें और यज्ञोपवीत बाँधें। इसके बाद यन्त्र का अभिषेक और पूजन करें। फिर उद्देश्य-विधान पूर्वक जप का संकल्प करें और जल छिड़कें। अब मन्त्र जप प्रारम्भ करने के पूर्व नौ बार णमोकार मन्त्र पढ़ें और जप प्रारम्भ करें। माला-जप में, या अन्य विधि में प्रत्येक माला (१०८ बार जप) पूर्ण होने पर, धूप खेलें, तो अच्छा रहेगा। इस प्रसंग में काम आने वाली विधि व मन्त्रों का विवरण साहित्याचार्य ने दिया है। यह क्रिया प्रत्येक बार जप प्रारम्भ करने के पूर्व प्रातः एवं सायं करनी चाहिये। ऐसा माना जाता है कि एक दिन एकबार जपने पर एक व्यक्ति णमोकार मन्त्र के समान ३५ अक्षर के मन्त्र को एक घंटे में हजार बार जप करता है। प्रायः मन्त्र इससे छोटे ही होते हैं। अतः एक दिन में पांच-से-दस हजार तक जप हो सकते हैं। इसी आधार पर एवं उद्देश्य के अनुरूप जप संख्या निश्चित की जाती है। आचार्य रजनीश जप की संख्या निश्चित नहीं करते, वे तीन माह तक प्रतिदिन तीस मिनट का जप करने के लिये कहते हैं। इनकी प्रक्रिया में पूर्वोक्त वातावरण निर्मात्री एवं मनोवैज्ञानिकतः प्रभावशील पूर्वपीटिका का महत्व नहीं माना जाता, पर 'रेचन' की उनकी प्रक्रिया भी शास्त्रीय प्रक्रिया से अच्छी नहीं प्रतीत होती। यह अपनी अपनी रुचि का प्रश्न है। जप संख्या पूर्ण होने पर अथवा मन्त्रसिद्धि होने पर पूजा और हवन द्वारा साधना की अन्तिम विधि सम्पन्न की जाती है।

मंत्र की सफलता की पहिचान

यह माना जाता है कि प्रत्येक मन्त्र के अधिष्ठाता देव-देवियाँ होते हैं। मन्त्र सिद्ध होने पर वे साधक के समक्ष अपने सौम्य रूप में प्रकट होते हैं। उनकी उपस्थिति लौकिक मन्त्रसिद्धि का प्रतीक है। धरसेनाचार्य ने पुष्पदंत-भूतबलि की परीक्षा उनकी मंत्रज्ञता के आधार पर ही की थी। इसी सिद्धि के आधार पर वे धरसेन से आगम विद्या प्राप्त कर सके। मन्त्र-साधना की सफलता विशिष्ट प्रकार के स्वप्नों से भी ज्ञात होती है। जब साधना-समय में साधक के स्वप्न में सफेद हाथी, घोड़ा, पूर्ण कलश, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, शासन देवता या जिन बिंब के दर्शन होते हैं, तो इन्हें मन्त्र सिद्धि का प्रतीक माना जाता है। मन्त्र सिद्धि की संभावना का अनुमान काकिणी लक्षण विधा से भी लगाया जा सकता है।

अनेक साधकों को मंत्र सिद्धि नहीं होती, अतः वे और अन्य जन मन्त्रों पर अविश्वास करने लगते हैं। इस विफलता के निम्न प्रमुख कारण संभव हैं:

१. साधक में साधना की पात्रता न होना।

२. साधक को समुचित गुरु न मिलना।

३. युग के प्रभाव के अनुसार, आस्थाहीन मन्त्र जप करना। इस आस्थाहीनता का अनुमान कर ही ऋषियों ने कहा होगा कि कलियुग में चौगुनी मात्रा में जप करने से मन्त्रसिद्धि संभव है। संभवतः यह संख्या आस्था को बलवती बनाने के लिये ही स्थिर की गई हो।

४. मंत्र को अशुद्ध उच्चारण पूर्वक जपना: सदोष मन्त्र जपना

५. अनुष्ठान की पूर्ण प्रक्रिया का संपादन न करना

६. अशुभ मुहूर्त, प्रतिकूल मन्त्र का जाप आदि अन्य कारण। शास्त्रज्ञों का मत है कि उपरोक्त कारणों के न रहने पर एवं दृढ़ इच्छा, संकल्प एवं आस्था रखने पर मन्त्रसिद्धि अवश्य होती है। इससे जीवन उत्साह एवं शक्ति से भरपूर होता है, संसार सुखमय प्रतीत होने लगता है।*

●

पठनीय सामग्री

१. वाल्टर शुब्रिग; द डाक्ट्रिन आव जैनाज, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९६२

२. सुधर्मा स्वामी; समवायांग, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९६६

३. साध्वी चंदना (सं०); उत्तराध्ययन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७२

४. शास्त्री, नेमिचंद्र; णमोकार मंत्र: एक अनुचिंतन, भा० ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६७

५. त्रिपाठी, राममूर्ति; जीत अभि० ग्रन्थ, जयध्वज प्रकाशन समिति, मद्रास, १९८६, पेज २. १६७

६. गोविन्द शास्त्री; मंत्र दर्शन, सर्वार्थसिद्धि प्रकाशन, दिल्ली, १९८०

७. साहित्याचार्य, पन्नालाल; मंदिर-वेदी-प्रतिष्ठा कलशारोहण विधि, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १९७१।

८. जैन विद्या संगोष्ठी; बंबई १९८३–विवरण, भा० ज्ञानपीठ, १९८४

९. आचार्य रजनीश; रजनीश ध्यान योग, रजनीशधाम, पूना, १९८७

१०. लक्ष्मीचंद्र सरोज; कं० चं० शास्त्री अभि० ग्रंथ, रीवा, १९८० पेज १४७

* इस लेख के तयार करने में डा० एन० एल० जैन ने मेरी आधारभूत सहायता की है। लेखक उनका कृतज्ञ है।

मन्त्र योग और उसकी सर्वतोभद्र साधना

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

बृजमोहन बिड़ला शोधकेन्द्र, उज्जैन (म० प्र०)

योगविद्या भारतवर्ष की अत्यन्त प्राचीन विद्या है। इस विद्या का विस्तार अनेक रूपों में हुआ है। यौगिक-साधना के भिन्न-भिन्न प्रकार हमारे देश में प्रचलित रहे हैं और उन्हीं के आधार पर योग-सम्प्रदायों का स्वतन्त्र रूप से विकास भी पर्याप्त मात्रा में होता रहा है। योग-मार्ग की प्रमुख दो धाराएँ मानी जाती हैं, १. चित्तवृत्ति-निरोधमूलक और २. शारीरिक क्रियासम्पादनमूलक। इन दोनों की प्रक्रियाएँ भी दो प्रकार की हैं: १. केवल प्रक्रियारूप तथा २. मन्त्राराधन-पूर्वक प्रक्रियारूप। जब योग-साधक चित्तवृत्ति के निरोध के लिये आन्तरिक और बाह्य शारीरिक क्रियाओं को संयत बनाने का प्रयास करता है, तो वह प्रथमकोटि में आता है। यदि उस क्रिया के साथ-साथ इष्टमन्त्र अथवा तत्तत् स्थानों की अधिष्ठात्री शक्तियों के मन्त्र अथवा बीजमन्त्रों का जप भी करता है, तो वह द्वितीय कोटि में आता है।

योग के अनेक रूप

योगशास्त्र में जिस योग की चर्चा हुई है, वह **'राजयोग'** है। इस योग पद्धति का सर्वाङ्ग विवेचन महर्षि पतञ्जलि ने चार पादों में किया है। इनमें क्रमशः योग और योगाङ्गों का प्रतिपादन करते हुए उससे मिलने वाले लाभों का स्थूल एवं सूक्ष्म विवरण देकर चित्तवृत्तिनिरोध-पूर्वक 'समाधि' प्राप्ति का मार्ग दिखलाया है। यह योग-विधान यहीं सिमट कर नहीं रहा अपितु इसके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग के विषय में विभिन्न आचार्यों ने विस्तार-पूर्वक चिन्तन-मनन भी प्रस्तुत किया।

योग का दूसरा प्रकार **'हठयोग'** के नाम से चर्चित हुआ। हठयोग के आयामों में कतिपय आङ्गिक-क्रियाओं तथा प्राणवायु-साधना से सम्पूर्ण प्रक्रियाओं का बाहुल्य अपने क्षेत्र का सर्वोत्तम साधक बना। चौरासी आसन और कितने ही उपआसन इसके साक्षी हैं कि "हठयोग की साधना से संयम सधता है, नियम नियत होता है, प्राण-साधना परिष्कृत होती है तथा समाधि-सिद्धि का सहज लाभ मिलता है।" मनोयोग-पूर्वक की गई हठयोग-साधना साधक को चरम लक्ष्य तक पहुँचाने में पूर्णतः क्षम है।

यौगिक-प्रक्रियाओं में **'मन्त्र-योग'** का तीसरा एवं बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह स्वाभाविक योग के नाम से विख्यात **'महायोग'** के अवस्था-भेदात्मक चार योगों में से एक है। इस योग का मुख्य लक्ष्य 'मन्त्र के आश्रय से जीव और परमात्मा का सम्मेलन है। शब्दात्मक मन्त्र के चैतन्य हो जाने पर उसकी सहायता से जीव क्रमशः ऊर्ध्व गमन करता हुआ परमात्मा के धाम में स्थान प्राप्त कर लेता है। वैखरी शब्द से क्रमशः मध्यमावस्था का भेदन कर पश्यन्ती शब्द में प्रवेश ही मन्त्रयोग का मुख्य उद्देश्य है। यह पश्यन्ती शब्द स्वयंप्रकाश चिदानन्दमय है। चिदात्मक पुरुष की वही अक्षय और अमर षोडशी कला है। वही आत्मज्ञान, इष्टदेव-साक्षात्कार अथवा शब्दचैतन्य का उत्कृष्ट फल है। मन्त्रयोग के प्रकार विशेष अनेक हैं जिनका विचार हम आगे करेंगे।

'लय-योग' राजयोग का एक भाग है, ऐसी सर्वसामान्य की मान्यता है। इस योग के प्रवर्तकों का कथन है कि—'यदि भक्ति, ज्ञान, वैराग्य इत्यादि गुणों का उत्कर्ष स्वतः करना अपेक्षित हो, तो साधक को लय-योग का आश्रय

लेना चाहिये।' श्री शङ्कराचार्य ने अपने '**योगतारावली**' ग्रन्थ में '**लय-योग**' का वर्णन करते हुए कहा है कि—'लययोग' के सवा लाख प्रकार होते हैं। आदिनाथ ने '**हठयोग-प्रदीपिका**' में लययोग के सवा करोड़ प्रकारों का निर्देश किया है और उनमें नादानुसन्धान को मुख्य बतलाया है।

'वासना का संयमन करते हुए उसका क्षय करना और सभी वृत्तियों की सर्वावस्थाओं के साथ उसका आत्म-स्वरूप में लय करना 'लय-योग' है।' शरीर के अन्तर्गत नौ चक्रों में लय करना, नादानुसन्धान, प्रकाशानुसन्धान, प्रणव-जप करते हुए उसकी मात्राओं के स्थान पर मन का लय करना, वृत्ति-अवस्था का लय, अहम्भाव का लय, कुण्डलिनी जागरण के पश्चात् सहस्रदल कमल में प्रकृति और पुरुष के द्वैतभाव का लय करके उसके द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के अद्वैतभाव का ज्ञान करना आदि लययोग के प्रकार हैं। इतना ही नहीं; लययोगी ज्ञान की सप्त भूमिकाओं को भी लाँघ सकता है। इसीलिये कहा गया है कि जप की तुलना में ध्यान सौ गुना अच्छा होता है, और ध्यान से सौ गुना फलवान लय होता है।

इन चतुर्विध योगों में पूर्वापरता नहीं है, तथापि 'तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नं' के आधार पर यथेच्छरूप में क्रमोल्लेख किया है। 'शिवसंहिता' में मन्त्रयोग को प्रथम माना है। इसके बाद हठयोग, लययोग तथा राज-योग का क्रम है। प्रस्तुत लेख में हमें मन्त्र-योग की सर्वतोभद्र साधना के सम्बन्ध में ही अधिक विचार करना अभीष्ट है, अतः हम यहाँ 'मन्त्र-योग' की ही विशिष्ट चर्चा करेंगे। मन्त्रयोग के शास्त्रकारों ने सोलह अंग बतलाये हैं :

'१. भक्ति, २. शुद्धि, ३. आसन, ४. पञ्चाङ्ग सेवन, ५. आचार, ६. धारणा, ७. दिव्यदेश सेवन, ८. प्राण-क्रिया, ९. मुद्रा, १०. तर्पण, ११. हवन, १२. बलि, १३. याग, १४. जप, १५. ध्यान तथा १६. समाधि'। जिस प्रकार चन्द्रमा की सोलह कलाएँ सुन्दर और अमृत प्रदायिनी हैं, उसी प्रकार ये अंग भी सिद्धिप्रद है। इन अंगों का विस्तृत परिचय भी आवश्यक है :

१. भक्ति—परमात्मा के प्रति समर्पण भाव। **२. शुद्धि**—आन्तरिक एवं बाह्य सर्वविध शुद्धता। **३. आसन**—स्व-स्वसाध्य कर्मानुसार शास्त्रोक्त बैठने की विधि। **४. पञ्चाङ्ग सेवन**—कवच, पटल, पद्धति, सहस्रनाम और स्तोत्र का पाठ तथा इनमें कथित विधियों का पालन। **५. आचार**—सम्प्रदायोक्त आचरणों का अनुसरण। **६. धारणा**—योग-शास्त्रीय धारणाओं में निष्ठा। **७. दिव्यदेश-सेवन**—पुण्यतीर्थ, पुण्यपीठ तथा पवित्र प्रदेशों में निवास अथवा यात्रा। **८. प्राणक्रिया**—प्राणायाम। **९. मुद्रा**—देवताओं के समक्ष उनके आयुध आदि की आकृतियों का प्रदर्शन। **१०. तर्पण**—इष्टदेव की प्रसन्नता के लिये उनके नाममन्त्रादि से तर्पण। **११. हवन**—होम। **१२. बलि**—नैवेद्य। **१३. याग**—पूजा। **१४. जप**—मन्त्रजप। **१५. ध्यान**—इष्टदेव की आकृति-स्वरूप का ध्यान तथा **१६. समाधि**—इष्ट के चिन्तन में तल्लीनता।

ये सोलह अंग मन्त्रयोग के बाह्य और आन्तरिक कर्तव्यों का निर्देश करते हैं। इनके अनुसार प्रत्येक अंग की अपनी-अपनी विशिष्ट प्रक्रियाएँ हैं, प्रकार हैं तथा स्थूल एवं सूक्ष्म भेद हैं। जब किसी भी मन्त्र का जप करना हो, तो उत्तम गुरु से उसकी दीक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिए। दीक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् प्राप्त मन्त्र का पुरश्चरण करना और मन्त्र के अङ्ग-उपाङ्गों का यथाविधि जप करते हुए उस पुरश्चरण के दशांश क्रम से हवन, तर्पण, मार्जन और अतिथि-भोजनादि के विधानों को भी सम्पन्न करना चाहिए।

योग के आठ अङ्गों में क्रमशः 'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि' का जो उपदेश है, वह सभी क्रियाओं में इष्ट-मन्त्र का योग करते हुए प्रयोग करना भी बतलाता है। तान्त्रिक योग की यही विशेषता है कि वह केवल क्रियाओं पर ही निर्भर न रहकर 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' पर भी अधिक बल देता है। कोई भी क्रिया मन्त्र के सहयोग के बिना सम्पन्न नहीं होती। मन्त्र का अर्थ 'मनन-क्रिया के द्वारा त्राण-शक्ति का उद्बोधन' माना

गया है। यहाँ मनन-धर्मिता ही उस शक्ति को प्रदान करती है। मनन के लिये मन का नियमन नितान्त अपेक्षित है क्योंकि "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" और "चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम्" के अनुसार इसकी चञ्चलता भी दुर्दम्य है। अतः मनन पर हो मन्त्र की सिद्धि निर्भर है। इससे हा चित्तवृत्ति का निरोध होकर आध्यात्मिक साधना के द्वार खुलते हैं तथा आत्म-विकास का पथ-प्रशस्त होता है। इसलिये कहा गया है कि मन्त्रों के जप से, योग, धारणा, ध्यान, न्यास एवं पूजन से जो सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं, वे अकल्पित और चिरकाल सुख देने वाली हैं। अन्त में वे ब्रह्मपद की प्राप्ति में भी सहायता करने वाली हैं। मन्त्रयाग के साधक के लिये जप की प्रक्रियाओं का योग की प्रक्रियाओं के साथ तादात्म्य-स्थापन भी आवश्यक माना गया है। यह तादात्म्य आत्म-शरीर की रचना को मन्त्र वर्णों से समन्वित मानकर उसे वर्णात्मक स्वरूप प्रदान करने से सम्भव होता है। वस्तुतः योग-साधना में प्रवृत्त होने से पहले ही शरीरतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। प्रत्येक जीव का शरीर शुक्र, रक्त, मज्जा, मेद, मांस, अस्थि और त्वग्-रूप सप्त धातुओं से बना है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से युक्त होने के, कारण यह पञ्चभूतात्मक भी है। इसी कारण इसमें प्रत्येक भूत के अधिष्ठान के लिये स्वतन्त्र स्थान नियत किये गये हैं। इन्हें यौगिक-भाषा में **'चक्र'** कहते हैं। अतः योगी मूलाधारादि आन्तरिक चक्रों में पञ्चभूतों का ध्यान करते हैं। इनके अतिरिक्त इस पञ्चभूतात्मक शरीर में अन्यत्र भी कुछ चक्र हैं, जैसे ललाटदेश में **'आज्ञाचक्र'** है। इसमें पञ्चतन्मात्र तत्त्व, इन्द्रिय तत्त्व, चित्त और मन का स्थान है। उसके भी ऊपर ब्रह्मरध्र में एक **'शतदल-चक्र'** है जिसमें महत् तत्त्व का स्थान है। इसके ऊपर महाशून्य में विद्यमान **'सहस्रदल-चक्र'** है जहाँ प्रकृति-पुरुष-'कामेश्वरी और कामेश्वर परमात्मा'-विराजमान हैं। योगी पुरुष पृथ्वी तत्त्व से प्रारम्भ करके क्रमशः परमात्मा तक सभी तत्त्वों का, इस भौतिक शरीर में, ध्यान किया करते हैं। इन चक्रों की मन्त्रयोगात्मक साधना में प्रत्येक चक्र के मूल नायक देव, उनकी अधिष्ठात्री देवी तथा अपने इष्टमन्त्र का उनके साथ समन्वय करके जप करने का विधान है। इन चक्रों के सृष्टि, स्थिति और संहार क्रमों का ज्ञान करके क्रमानुसार जप करने से विशिष्ट लाभ होता है।

शास्त्रकारों ने मन्त्रोच्चार के मुखगत पाँच अवयवों को भी पञ्चभूतात्मक बतलाया है। ओठ-पृथ्वी तत्त्वात्मक है, जिह्वा जल तत्त्वात्मक, दाँत अग्नि तत्त्वात्मक, तालु वायु तत्त्वात्मक और कण्ठ आकाश तत्त्वात्मक है। मन्त्रों के अक्षरों का उच्चारण इन्हीं पाँच स्थानों से होता है, अतः उपर्युक्त ज्ञानपूर्वक उच्चरित वर्ण अपने-अपने तत्त्व का प्रबल बनाते हैं तथा तदनुसार ही फल भी देते हैं। शरीर रूपी **ब्रह्माण्ड** के अन्तर्गत तीन ब्रह्माण्ड हैं। शरीर का मध्यम भाग **'स्वब्रह्माण्ड'** है, ऊपर का भाग **'पराब्रह्माण्ड'** है तथा अधोभाग **'अपराब्रह्माण्ड'** है। स्वब्रह्माण्ड का सम्बन्ध विराट् तत्त्व से, पराब्रह्माण्ड का विद्युत् तत्त्व से और अपराब्रह्माण्ड का शून्य तत्त्व से है। स्व में कारण शक्तियाँ, परा में सूक्ष्म शक्तियाँ एवं अपरा में स्थूल शक्तियाँ वास करती हैं। मन्त्रों के जिन अक्षरों अथवा शब्दों से स्व में प्रकम्पन होता है, उनसे शून्य-तत्त्व सम्बन्धित स्थूल शक्तियों का विकास होता है। उदाहरण के लिये 'ऐं' के उच्चारण से परा में प्रकम्पन होता है, अतः उसके उच्चारण से सूक्ष्म शक्तियाँ जागृत होती हैं, 'ह्रीं' के उच्चारण से स्व में प्रकम्पन होता है, अतः उसके उच्चारण से कारण शक्तियाँ उद्बुद्ध होती हैं। 'श्रीं' के उच्चारण से अपरा में प्रकम्पन होता है, जिससे स्थूल शक्तियाँ प्रबुद्ध होती हैं। ये शक्तियाँ जब पूर्णरूप से जागृत हो जाती हैं, तो ये साधक के भावानुसार एक विशेष रूप धारण कर उसके सम्मुख प्रकट होकर यथेष्ट फल देती हैं।

'शब्दयोग और वाग्योग' भी मन्त्र साधना के ही प्रकारों में आते हैं। शैवागमों के अन्तर्गत **'व्याकरणागम'** में इस योग की साधना का परिचय मिलता है। इसमें व्याकृत शब्द का वैखरी दशा से मध्यमा में उतर कर पश्यन्ती में प्रवेश ही योग-साधना का मुख्य लक्ष्य है। पश्यन्ती दशा से परा-दशा में अव्याकृत पद में गति और स्थिति स्वाभाविक नियमानुसार स्वतः ही होती है। वे किसी साधना के आन्तरिक लक्ष्य नहीं होते। किन्तु वैखरी के स्थूलेन्द्रिय ग्राह्य शब्द

विशेष में मिश्रावस्था के कारण असंख्य आगन्तुक मल रहते हैं जिनका शोधन गुरुदर्शित मार्ग से होता है और वह संस्कृत शब्द शक्तिरूप से प्रकाशित होकर कामधेनु बन जाता है। उसकी यह कामधेनु रूपता समस्त कामनाओं की पूर्ति करती है। शब्द-मर्म के ज्ञाता वसिष्ठादि महर्षि इसी '**शब्दयोग**' की साधना से अलौकिक शक्ति-सम्पन्न थे। इसकी प्रक्रिया में मन्त्र वर्ण अथवा बीज मन्त्रों के निरन्तर आवर्तन से वैखरी शब्द के सभी मल धुल जाते हैं, तब इडा, पिंगला का स्तंभन होता है और सुषुम्ना का मार्ग कुछ उन्मुक्त हो जाता है। तत्पश्चात् प्राणशक्ति की सहायता से शोधित शब्द शक्ति ब्रह्मपथ का आश्रय लेकर क्रमशः ऊर्ध्वगामिनी होती है। यही शब्द की सूक्ष्मा और मध्यमा अवस्था है। इसी अवस्था में अनाहतनाद होता है। स्थूल शब्द इसके विराट् प्रवाह में डूबकर उससे पूर्ण होकर चैतन्य को प्राप्त करता है। यही मन्त्र-चैतन्य का उन्मेष है। इस अवस्था में साधक जीवमात्र की चित्त वृत्ति को अपरोक्षभाव से शब्द रूप में जान लेता है। देश-काल का व्यवधान इसे रोकने में समर्थ नहीं होता। आगम शास्त्रों में इसी को 'पश्यन्ती-वाक्' कहा है। ये सभी क्रियाएँ मन्त्र योग की आन्तरिक क्रियाओं में आती हैं।

बाह्य-क्रियाओं में भी मन्त्र के सहयोग से हृत्-अवस्थित इष्टदेव की प्रतिमा में नासारन्ध्र से प्रश्वासपूर्वक अञ्जलिगत पुष्पों के समर्पण के साथ चैतन्य मूर्ति का आवाहन होता है। तदनन्तर विभिन्न न्यासों के द्वारा देवरूप बने हुए शरीर से देवार्चन किया जाता है। पूजा के उपकरणों में पात्रासादन की विधि का विशेष महत्त्व है। ध्यान-पूर्वक आवाहित देवता का संस्थापन, सन्निधापन, सन्निरोधन, सम्मुखीकरण तथा अवगुण्ठनसहित वन्दन, धेनु, योनि, हृदयादि षडङ्ग और आयुध मुद्राओं का दर्शन तो योग-मूलक ही हैं। इष्ट देवता की पूजा सर्वप्रथम चतुःषष्टि उपचारों की कल्पना एवं मङ्गल-नीराजन पूर्वक आवरण-देवता अथवा परिवार-देवताओं को क्रमिक अर्चना से सम्पन्न होती है। इन पूजा विधानों में प्रत्येक के स्थान, स्वरूप, गुण, कर्मादि का ध्यान रखते हुए उनके बीज मन्त्रों और मन्त्रों के साथ पूजा होने से मन की तल्लीनता इतनी समुन्नत हो जाती है कि यह किसी भी योग-साधना से कम नहीं कही जा सकती।

यन्त्रयोग

शाक्त-सम्प्रदाय में मन्त्र एवं यन्त्र का अत्यन्त महत्त्व है। प्रत्येक मन्त्र के बीजाक्षरों में उन-उन देवताओं के नाम, रूप, गुण और कर्म का बोध उपासना के क्रमानुसार होता है। बिन्दु, त्रिकोण, पञ्चकोण, वृत्त आदि एक अथवा अनेक आकृतियों में लिखित होने पर वह देवता की आकृति का बोधक 'यन्त्र' कहलाता है। देवता के सम्पूर्ण स्वरूप का उस बिन्दु-कोणात्मक आकृति में नियन्त्रण होने से भी उसे यन्त्र कहा जाता है। 'यन्त्रो देवालयः प्रोक्तः' यह भी प्रसिद्ध ही है। यन्त्र और देवता में अभेद-ज्ञान ही '**यन्त्रयोग**' है। इस शास्त्राज्ञा के अनुसार क्रमशः साधना करते हुए यन्त्र की पहले बाह्य आराधना, तदनन्तर देव स्वरूप की शरीर में भावना और अन्त में यन्त्र की शरीर में भावना करते हुए ऐक्य प्राप्त कर ब्रह्मभाव में पहुँचना 'यन्त्रयोग' का लक्ष्य है। प्रतीक-विद्या की प्राचीन परम्परा में यन्त्र की सृष्टि परमात्मा की सिसृक्षा के द्वारा हुई है। "मैं अकेला हूँ, बहुत बनूँ", इस सर्जन की इच्छा होते ही पूर्ण-बिन्दु से लघु बिन्दुओं का उच्छलन होता है जो इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में त्रिबिन्दु रूप होकर एक-दूसरे के प्रति आकर्षण के कारण त्रिकोणाकार में परिणत हो जाते हैं। यह त्रिकोण ही समस्त यन्त्रों की आकृतियों में अन्तर्निहित रहता है। इसके मध्य बिन्दु में इष्टदेव स्वशक्ति-सहित विराजमान रहते हैं।

ऐसे यन्त्रों की साधना में भी पूर्वोक्त परिवार देवताओं की स्थिति होने से उनकी साङ्गोपाङ्ग अर्चना की जाती है। यह यौगिक-पद्धति की ही परिपोषक है। यह यन्त्रयोग मन्त्रयोग का ही एक रूप है जो आलम्बन का साधन बनकर साधक की सहायता करता है। यन्त्र-योग की यह साधना ही सर्वतोभद्र साधना कहलाती है।

●

खंड ४

जैन विद्याओं में वैज्ञानिक तथ्य : समीक्षण

नाम स्थापना द्रव्यभावतस्तन्यासः ।

प्रमाणनयैरधिगमः ।

निर्देशस्वामित्व-साधन-अधिकरण-स्थिति-विधानतः ।

सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-काल-अंतर-भाव-अल्पबहुत्वैश्च ।

अवग्रहेहावायधारणः ।

वस्तु का विवेचन बाइस वक्तव्यताओं अथवा बीस

प्ररूपणाओं से किया जाता है ।

●

इयमेव परीक्षा यः 'अस्येदमुपपद्यते न वा' इति विचारः ।

●

दृष्टागमाभ्यामविरुद्धं अर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।

●

जैन विद्याओं में ज्ञान का सिद्धान्त–२

ज्ञान प्राप्ति की आगमिक एवं आधुनिक विधियों का तुलनात्मक समीक्षण

डा० एन० एल० जैन
जैन केन्द्र, रीवा (म० प्र०)

ज्ञान प्राप्ति की विधि

जैन शास्त्रों में ज्ञान के संबंध में 'जाणदि' और 'पस्सदि' शब्दों का प्रयोग आया है। टाटिया ने बताया है कि ज्ञान-मंथन के प्रारंभिक काल में इन दोनों क्रियाओं में विशेष अंतर नहीं माना जाता था क्योंकि ये प्रायः सम-सामयिक थीं[1]। बाद में यह अनुभव हुआ कि इंद्रियों की क्रियायें मनोजन्य ज्ञान से पूर्ववर्ती होती हैं। इसलिये भौतिक जगत् के ज्ञान के लिये 'पस्सदि' या इंद्रियजन्य क्रियायें अधिक महत्वपूर्ण हो गईं। इन इंद्रियों की दर्शन या स्पर्शन की प्राकृतिक शक्ति नियत होती है, अनंत नहीं। शक्ति को आधुनिक युग में विभिन्न प्रकार के उपकरणों की सहायता से दस लाख गुना तक बढ़ाया जा सकता है। इन इंद्रियों से दो प्रकार से ज्ञान प्राप्त किया जाता है : (१) स्वाधिगम विधि और (२) पराधिगम विधि[2]। प्रथम विधि प्रमाण और नय रूप से पदार्थों का ज्ञान कराती है। पराधिगम विधि शास्त्र, आगम या परोपदेश से ज्ञान कराती है। यह श्रुतज्ञान का ही रूप है। वस्तुतः नय भी वचनात्मक श्रुत का ही रूप है। यह प्रमाण का एक घटक है क्योंकि प्रमाण वस्तु को समग्र अंशों में जानता है। विभिन्न नयों के आधार पर प्राप्त ज्ञान को संश्लेषित कर प्रमाण उसे समग्रता देता है। नय विधि वस्तु के लक्षण, प्रकृति, अवस्था आदि गुणों का सापेक्ष निरूपण शब्द, अर्थ और उपचार से करती है। यह प्रमाण से भिन्न होती है पर उसका एक अंश होने के कारण वह प्रमाण-स्वरूप मानी जाती है। कुछ तार्किक प्रमाण और नय में अंश और अंशी के आधार पर अभेद मानते हैं पर अकलंक और विद्यानंद—दोनों ने इसका खंडन किया है। जहाँ प्रमाण सम्यक् अनेकांत है, वहीं नय सम्यक् एकांत है। जहाँ प्रमाण सामान्यविशेषावबोधक होता है, वहाँ नय विशेषावबोधक होता है। जहाँ प्रमाण विधि-प्रतिषेधात्मक रूप से वस्तु को ग्रहण करता है, वहाँ नय उसे धर्म-सापेक्ष के रूप से ग्रहण करता है। निरपेक्षता नय का दूषण है, सापेक्षता उसका भूषण है। अनेकान्त प्रमाण का प्रहरी है। नयवाद विचारों में उदारता प्रेरित करता है, प्रमाणवाद उसमें समग्रता लाता है। नय लौकिक स्वरूप का बोध करता है और प्रमाण उसके सर्वांगीण अलौकिक स्वरूप का अवगम कराता है[3]।

स्वाधिगम विधि को प्रयोग विधि भी कह सकते हैं क्योंकि इसमें स्वयं ही अनेक प्रकार के बाह्य और अन्तरंग निमित्त से दर्शन (निरीक्षण या स्वानुभूति) या प्रयोग करने पड़ते हैं। इसके विपर्यास में, पराधिगम विधि परकृत प्रयोग एवं निष्कर्ष के आधार पर ही प्रतिष्ठित रहती है।

किसी भी वस्तु के विषय में, उपरोक्त किसी भी विधि से ज्ञान क्यों न किया जावे, वह विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत ही किया जाता है। उमास्वाति ने इन कोटियों की गणना दो रूपों में प्रदर्शित की है—छह और आठ (सारणी १)। इन्हें अनुयोग द्वार या अधिगम द्वार कहा जाता है[4]। दोनों ही रूपों में परिभाषिक शब्दावली कुछ भिन्न प्रतीत होती है पर उनके अर्थों में पुनरुक्ति प्रतीत होती है। इसीलिये पूज्यपाद ने कहा है कि ये विभिन्न रूप जिज्ञासुओं की योग्यता एवं

अभिप्राय को ध्यान में रखकर बताये गये हैं[4]। इनमें चारों प्रकार की निक्षेप विधि एवं प्रमाण-नय-अधिगम विधि समाहित हो जाती है। प्रज्ञापना और जोवाभिगम में २२ शीर्षकों (वक्तव्यताओं) का उल्लेख है।

सारणी १ : अनुयोग द्वार

(१) प्रथम प्रकप	(२) द्वितीय प्रकप	(३) वैज्ञानिक प्रकप
निर्देश	सत्	नाम
साधन (उत्पादक कारण)	—	तयारी, प्राप्ति विधि
विधान (वर्गीकरण)	संख्या, अल्पबहुत्व	गुण
अधिकरण	क्षेत्र, स्पर्शन	,,
स्थिति	काल, अंतर	,,
स्वामित्व	भाव	उपयोग

भौतिक जगत के ज्ञान के विविध रूप और मतिज्ञान

सामान्यतः लौकिक और भौतिक जगत के ज्ञान के लिये प्रत्यक्ष (मति, लौकिक प्रत्यक्ष) और परोक्ष (स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम या श्रुत) ज्ञान काम आते हैं। इसमें श्रुत पराधिगम के रूप में प्रयुक्त होता है। इसे हम ज्ञात ज्ञान का अभिलेख भी कह सकते हैं जो उसे सुरक्षित रखता है और प्रसारित करता है। यह ज्ञान प्रवाह की गतिशीलता में विशेष योगदान तो नहीं करता पर उसके अभिवर्धन में प्रेरक अवश्य होता है। यह श्रुत मति-पूर्वक होता है और यह पूर्व-श्रुत-पूर्वक भी हो सकता है[6]। इस दृष्टि से तो मतिज्ञान महत्वपूर्ण है ही; साथ ही, वह इस दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है कि इसके बिना स्मृति आदि परोक्ष ज्ञान भी नहीं हो सकते। इन सभी में, किसी न किसी रूप में, मतिज्ञान बीज रूप में होता है। अतः सामान्य जन के लिये ज्ञान का सर्वप्रथम साधन मति ज्ञान ही है।

मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है। फलतः इन्द्रिय ज्ञान का महत्व स्वय सिद्ध है। इसीलिये इनके विषय में शास्त्रों में पर्याप्त चर्चा आई है। इसके अन्तर्गत इससे होने वाले वस्तु-ज्ञान के विविध प्रकार और ज्ञान प्राप्ति के विविध चरण और उनके सूक्ष्म-स्थूल भेदों का विवरण समाहित है। फलतः मतिज्ञान कैसे होता है और उस ज्ञान प्राप्ति में कितने चरण होते हैं—इन और अन्य तथ्यों का परिज्ञान अत्यन्त रोचक विषय है क्योंकि वर्तमान वैज्ञानिक ज्ञान की प्रक्रिया भी मतिज्ञान का ही एक रूप है। अतः इन दोनों की तुलना और भी मनोरंजक सिद्ध होगी।

शास्त्रों में मतिज्ञान के ३३६, ३८४ या ४५६ भेद, विभिन्न विवक्षाओं से, बताये गये हैं। इनमें वे चरण भी समाहित हैं जो ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया में संपन्न होते हैं। इन्हें सारणी २ में दिया गया गया है। इन भेदों से मतिज्ञान के सम्बन्ध में प्रायः सभी आवश्यक जानकारी हो जाती है। इन भेदों को दो प्रमुख कोटियों में वर्गीकृत किया जा सकता है—(i) उत्पादक साधन और (ii) स्वरूप। स्वरूप की दृष्टि से मतिज्ञान के ४८ भेद होते हैं और साधन के आधार पर २८८, ३३६ या ४०८ भेद होते हैं। मतिज्ञान के उत्पादक साधनों में पाँच इन्द्रिय और मन हैं। इनसे वस्तु का ज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के चार क्रमिक चरणों में बारह रूपों में होता है। इस प्रकार ६ × ४ × १२ = २८८ भेद तो सामान्य रूप से हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, अवग्रह के दो भेद हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। उपरोक्त २८८ भेद अर्थावग्रह की दृष्टि से हैं। यह माना गया है कि व्यंजनाग्रह चक्षु और मन को छोड़ चार अन्य प्राप्यकारी इन्द्रियों से ही होता है, अतः इसके ४ × १२ = ४८ भेद पृथक् से हुए। अब मतिज्ञान के कुल भेद २८८ + ४८ = ३३६ हो जाते हैं। अब यदि अर्थावग्रह के भी दो भेदों—उपचरित और निरुपचरित—को इस वर्गीकरण में समाहित

किया जावे, तो इसके भी ६ × १२ = ७२ भेद होंगे। इस प्रकार सम्पूर्ण भेद ३३६ + ७२ = ४०८ हो जाते हैं। अकलंक ने मतिज्ञान के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के रूप में चार भेद और गिनाये हैं। ये स्वरूपगत भेद हैं। इनके ४ × १२ = ४८ प्रकार हुए। इस प्रकार के मतिज्ञान के कुल ४५६ भेद हो जाते हैं। अकलंक को छोड़कर प्रायः सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने निरुपचरित अर्थावग्रह के ७२ भेद तथा स्वरूप विषयक ४८ भेद नहीं गिनाये हैं और आगमिक परम्परानुसार ३३६ भेदों को ही वर्णित किया है। संघवी ने बताया है कि आगमों में मतिज्ञान के भेदों का विवरण स्थूल रूप में ही दिया गया है[9]। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि अव्यक्तता एवं दुर्ज्ञेयता के कारण शास्त्रों में निरुपचरित अर्थावग्रह आदि के भेद नहीं दिये गये हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि विषयों की विविधता तथा ज्ञानोत्पादी साधनों की अगणितता के आधार पर मतिज्ञान के असंख्य भेद किये जा सकते हैं।

सारणी २ : मतिज्ञान के भेद-प्रभेद

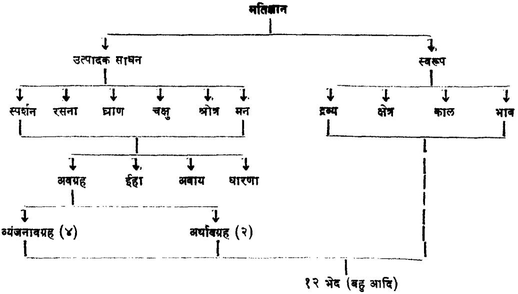

मतिज्ञान : ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया के पाँच चरण

जैन शास्त्रों के अनुसार, किसी भी वस्तु के विषय में समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिये पाँच चरण होते हैं—(i) दर्शन, (ii) अवग्रह, (iii) ईहा, (iv) अवाय, (v) धारणा[10]। यह स्पष्ट है कि सामान्य ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। अतः दर्शन ज्ञान प्राप्ति-प्रक्रिया का प्रथम चरण है। यह पद आगमिक और दार्शनिक युग में विभिन्न रूपों में परिभाषित हुआ है। यद्यपि दार्शनिक परिभाषा को स्थूल कहा गया है, फिर भी यही हमारे लिये सर्वाधिक उपयोगी है। इसके अनुसार, इन्द्रिय और अर्थ के प्रथम सम्पर्क के समय जो निराकार, सामान्य सत्ताग्राही, "कुछ है" के समान अवलोकन होता है, उसे दर्शन कहते हैं। तत्काल जन्मे बालक के आँख खोलते ही होने वाले प्रथम अवलोकन के समान वस्तु-विशेष की अग्राही, सामान्य वस्तुमात्रग्राही प्रक्रिया दर्शन है। यह प्रक्रिया न संशयात्मक है, न विपर्ययात्मक है और न अकिंचित्कर ही है। यह मिथ्याज्ञान नहीं है, पर यह सम्यग् ज्ञान भी नहीं है। इसमें वस्तु की आकारादि विशेषताओं का बोध नहीं होता। अतः दर्शन में ज्ञानात्मकता नहीं है, फिर भी इसे ज्ञान का बीज तो माना ही जा सकता है। इसी आधार पर इसमें ज्ञानात्मकता उपचारतः ही स्वीकृत है। यही कारण है कि अकलंक के अनुसार, दर्शन मीमांसकों के 'आलोचना ज्ञान' या बौद्धों के

'निर्विकल्पक ज्ञान' के समतुल्य है। जिनभद्र इस ज्ञान को 'व्यंजनावग्रह' मानते हैं, जबकि सिद्धसेन इसे अर्थावग्रह का पूर्ववर्ती मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि चक्षु-मन के अतिरिक्त चारों इन्द्रियों से होने वाला व्यंजनावग्रह दर्शन की कोटि में नहीं आता। लेकिन सिद्धसेन के अनुसार, दर्शन और ज्ञान की प्रक्रिया सम-सामयिक होती है और साधनभेद होने पर भी व्यंजनावग्रह और दर्शन की कोटि समतुल्य है। परन्तु दर्शनपूर्वक ज्ञान की मान्यता से ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक दार्शनिक सिद्धसेन के मत को नहीं मानते। वे दर्शन को पदार्थ और इन्द्रिय के सम्पर्क से पूर्ववर्ती प्रक्रिया मानते हैं[६]। यह मत सहज बोधगम्य नहीं प्रतीत होता। इससे 'दर्शन' अनुपयोगी सिद्ध होता है। अतः इसे 'अर्थावग्रह' की पूर्वप्रक्रिया मानना अधिक तर्कसंगत लगता है।

इन्द्रिय और पदार्थ के प्रथम सम्पर्क के उपरान्त कुछ समयों में अनेक बार वस्तु-दर्शन होता है, तब किंचित मन के योग से वस्तु के आकार, रूप आदि कुछ विशेषताओं का ज्ञान होता है। इस स्थिति में दर्शन की प्रक्रिया 'अवग्रह' नामक दूसरे चरण का रूप ले लेती है। इस प्रकार पदार्थ-विषयक विकल्प बुद्धि अवग्रह कहलाती है। यह चरण उत्तरवर्ती चरणों का प्रेरक है और ज्ञान को पूर्ण तथा विशिष्ट निश्चयात्मक रूप देने में सहायक है। अवग्रह-ग्रहीत जाति-सामान्य के रूप में विकल्पित पदार्थों के विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा या विचारणा ईहा नामक चरण है। सफेद रूप को देखकर यह बगुला है या पतंग-रूप संशय होता है, रस्सी-सर्प संशय होता है। इसके लिये बार-बार दर्शन एवं अवग्रह की प्रक्रिया अपनाई जाती है और फिर मानसिक विश्लेषण द्वारा निश्चयोन्मुखता की ओर प्रवृत्ति होती है। यह ईहा-प्रवृत्ति अवग्रह प्रक्रिया का कार्य है एवं ज्ञान-प्रक्रिया का तीसरा चरण है। ईहा में किये गये बौद्धिक विश्लेषण से निर्णयात्मक निष्कर्ष पर पहुँचने के चरण को 'अवाय' कहते हैं। यह चौथा चरण है। अवाय प्रक्रिया से निर्णीत वस्तु को कालान्तर में स्मरण रखने या विस्मृत न करने की योग्यता या प्रक्रिया को 'धारणा' नामक पाँचवाँ चरण कहते हैं। यह स्मरणात्मक ज्ञान ही बाद में अक्षरात्मक श्रुत का रूप लेता है। अवाय के समान धारणा भी मुख्यतः मन या बुद्धि-व्यापार है। इन पाँचों चरणों का संक्षेपण सारणी ३ में दिया गया है। शास्त्रों में बताया गया है कि यथार्थ ज्ञान की स्थिति में ये पाँचों

सारणी ३ : ज्ञान प्राप्ति के पांच चरणों का संक्षेपण

	दर्शन	अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
१. स्वरूप	वस्तु सामान्य का दर्शन	वस्तु सामान्य का ज्ञान	वस्तु विशेष की पहिचान के लिये बौद्धिक विश्लेषण	वस्तु विशेष का निर्णय	स्मरण क्षमता
२. प्रकृति	दर्शन रूप	दर्शन + ज्ञान रूप	मनो-व्यापार	मनो-व्यापर	ज्ञान रूप
३. भेद	चार (चक्षु, अचक्षु, अवधि, मनः पर्यय)	दो (अर्थ, व्यजन)	—	—	—
४. साधन	इन्द्रिय-अर्थ का प्रथम सम्पर्क	इन्द्रिय-अर्थ का सम्पर्क + किंचित् मनो-व्यापार	अवग्रह ग्रहीत पर मनो-व्यापार	मनो-व्यापार	मनः संस्कार
५. स्थायित्व	असंख्यात समय	एक समय, असंख्यात समय	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	असं० समय
६. कार्य	दर्शन	दर्शन + ज्ञान	विश्लेषणात्मक	निर्णय	वासना
७. उदाहरण	कुछ है	रूपमात्र है	सफेद-काले रूप का विश्लेषण	श्वेत रूप है	—

चरण क्रमशः होते हैं। अभ्यास या अन्य कारणों से अनेक बार इन चरणों का सूक्ष्म काल भेद प्रतीत नहीं होता और तत्काल अवाय ज्ञान ही होता दीखता है। सामान्य दशाओं में सभी चरण पूर्ण न होने पर ज्ञान निर्णयात्मक एवं यथार्थ नहीं होता[१०]। इन चरणों का शास्त्रीय विवेचन अन्यत्र दिया जा रहा है।

मतिज्ञान की विषय वस्तु के विविध रूप

उपरोक्त अवग्रह आदि चरणों के क्रम से पूर्वोक्त अनुयोग द्वारों के माध्यम से पदार्थों के विषय में ज्ञान किया जाता है। यह ज्ञान इन्द्रियगम्य रूपों की विविधता तथा ज्ञान प्राप्ति के निमित्तों (बुद्धिपटुता या क्षयोपशम) की तरतमता पर आधारित होता है। इन्द्रिय रूप के आधार पर पदार्थ (अतएव उनका ज्ञान) छह प्रकार के हो सकते हैं :

(i) एक, एकविध, बहु, बहुविध, निःसृत और अनिसृत

बुद्धि की पटुता के आधार पर भी ज्ञान छह कोटियों से हो सकता है :

(ii) क्षिप्र, अक्षिप्र, उक्त, अनुक्त, ध्रुव, अध्रुव

अवग्रहादिक प्रत्येक चरण से इन बारह रूपों में ज्ञान प्राप्त होता है। इनका निरूपण **सारणी ४** में दिया गया है। इनकी परिभाषा व उदाहरणों से प्रतीत होता है कि इन भेदों में पर्याप्त पुनरावृत्ति है। यदि ये भेद न भी होते,

सारणी ४ : पदार्थों के ज्ञान के विविध रूप : मतिज्ञान*

	नाम	अर्थ	उदाहरण
१.	बहु	सामान्य संख्या, परिमाण	बाजार में बहुत गेहूँ है (तौल, परिमाण, संख्या में)
२.	बहुविध	गुणात्मक विविधताओं की संख्या, परिमाण	शरबती गेहूँ बहुत है
३.	एक	संख्या, परिमाण	एक घोड़ा, गौ आदि
४.	एकविध	गुणात्मक विविधता की संख्या, परिमाण	यहाँ पंजाबी गौ एक है
५.	अनिःसृत	एक देश के आधार पर सर्वदेशी पदार्थ का ज्ञान, स्मृति आदि से ज्ञान	जल-निमग्न हाथी की सूँड़ देखकर हाथी का ज्ञान
६.	निःसृत	सर्वदेश के आधार पर पदार्थ का ज्ञान, स्वतः ज्ञान	गाय देखकर गौ-ज्ञान
७.	क्षिप्र	(i) अतिवेगी पदार्थ का ज्ञान (ii) शीघ्र ज्ञान	प्रवाही जलधारा
८.	अ-क्षिप्र	(i) मन्दगतिक पदार्थ का ज्ञान (ii) देरी से होने वाला ज्ञान	चरागाह से लौटते हुए पशुओं का ज्ञान
९.	ध्रुव	(i) स्थिर पदार्थों का ज्ञान (ii) एक रूप या यथार्थ ज्ञान	पर्वत, वृक्ष आदि
१०.	अध्रुव	(i) अस्थिर पदार्थों का ज्ञान	उड़ते-बैठते पक्षी का ज्ञान
११.	उक्त (असंदिग्ध)	दूसरों के कहने पर होने वाला ज्ञान	'यह गौ है', सुनकर गाय का ज्ञान
१२.	अनुक्त (संदिग्ध)	स्वयं ही सोचकर अभिप्राय मात्र से ज्ञान	'अग्नि लाओ' सुनकर खपरे पर अग्नि/जलते हुए कण्डे का लाना

* श्वेताम्बर मान्यता में ५-६ व ११-१२ रूपों के कुछ भिन्न नाम व अर्थ है।

तो भी काम चल सकता था। कभी-कभी वर्गीकरण की अन्तहीन प्रक्रिया भ्रान्ति और अस्पष्टता को भी जन्म देती है। शास्त्रों में बताया गया है कि बहुआदि भेद पदार्थों के ही होते हैं, पर इन भेदों का अनुयोग द्वारों से कोई सम्बन्ध उल्लिखित नहीं है। इसके बावजूद भी जैनाचार्यों ने पदार्थों को जिन विविध रूपों से अवलोकित किया है, वह अन्य दर्शनों में नहीं पाये जाते। अतः उनकी अवलोकन क्षमता की अपूर्वता तो स्वीकार करनी चाहिये।

मतिज्ञान के उपरोक्त रूप सामान्य ज्ञान की दृष्टि से बताये गये हैं। इनसे छहों द्रव्यों का परिज्ञान किया जा सकता है। परन्तु इन्द्रिय-मन जन्य होने से मतिज्ञान की कुछ सीमाएँ हैं। इसीलिये जब जीव या चेतन द्रव्य का ज्ञान करना पड़ता है, तो उसके विवरण को ७ द्रव्यात्मक एवं ७ भावात्मक—कुल १४ मार्गणा द्वारों से निरूपित किया जाता है। ये द्वार भी जैन दर्शन की विशेषता हैं।

ज्ञान प्राप्ति के चरणों की समीक्षा।

ज्ञान प्राप्ति के उपरोक्त चरणों एवं ज्ञान के रूपों से यह स्पष्ट है कि इसके लिये इन्द्रिय-सम्पर्कात्मक निरीक्षण, दर्शन और बुद्धि व्यापार आवश्यक है। आधुनिक युग में विज्ञान की परिभाषा भी इसी प्रक्रिया पर आधारित है। यह भी इन्द्रियज या यंत्रज निरीक्षणों से संगत बुद्धि व्यापार का परिणाम कहा जाता है। ज्ञान प्राप्ति की उपरोक्त पाँच प्रक्रियाएँ उन्हीं चरणों के समकक्ष हैं, जिन्हें वैज्ञानिक अनुसरण करते हैं। वैज्ञानिक प्रक्रिया में प्रयोग, निरीक्षण, वर्गीकरण, निष्कर्ष, उपकल्पना या नियमीकरण के पाँच चरण होते हैं। इन्हें निम्न प्रकार से शास्त्रीय चरणों से समकक्षता दी जा सकती है :

शास्त्रीय चरण	वैज्ञानिक चरण
(i) दर्शन	प्रयोग
(ii) अवग्रह	निरीक्षण
(iii) ईहा	वर्गीकरण
(iv) अवाय	निष्कर्ष, उपकल्पना
(v) धारणा	नियमीकरण, संप्रसारण

इससे यह स्पष्ट है कि पुरातन या शास्त्रीय युग में भौतिक जगत संबंधी ज्ञान की प्राप्ति के लिये आधुनिक प्रक्रिया ही अपनाई जाती रही है। यही नहीं, मतिज्ञान के ३३६—४५६ भेद यह बताते हैं कि यद्यपि उस युग में यांत्रिक युक्तियां नहीं थीं, फिर भी बौद्धिक एवं इंद्रियज तीक्ष्णता पर्याप्त थी। यह मान्यता भी सहज थी कि इंद्रिय एवं बुद्धि के सामान्य होने पर जो ज्ञान होगा, वह निर्दोष एवं यथार्थ होगा। भौतिक जगत संबंधी आगमिक और शास्त्रीय विवरणों का आधार यही वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसलिये इन विवरणों की आधुनिक मान्यताओं से तुलना करना अत्यंत रोचक अनुसंधान का विषय है। यह आशा की जा सकती है कि अध्ययन विधियों के समान होने से, दोनों ही पद्धतियों से प्राप्त ज्ञान में, कुछ गौण या सूक्ष्मतर विवरणों को छोड़, विशेष अंतर नहीं होना चाहिये।

ज्ञान-द्वार या अनुयोग द्वारों का मूल्यांकन

किसी भी ज्ञेय के संबंध में वैज्ञानिक अध्ययन करते समय उसे कुछ सामान्य और विशेष शीर्षकों के अंतर्गत विवेचित किया जाता है। शास्त्रीय युग में भी यही पद्धति अपनाई जाती थी और उन शीर्षकों को सारणी १ के समान छह या आठ रूपों में निर्देशित किया गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से इन्हें चार मुख्य शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है (i) नाम (सत् या निर्देश), (ii) तयारी, प्राप्तिविधि (साधन), (iii) गुण (अधिकरण, स्थिति, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, संख्या, अल्प बहुत्व) और (iv) उपयोग या उपभोक्ता (भाव)। शास्त्रीय शीर्षकों के अंतर्गत अजीव तत्व के विवरण, अकलंक ने सारणी ५ के समान दिये हैं। इस सारणी में एतत्संबंधी आधुनिक विवरण भी दिये गये हैं। इन

विवरणों की तुलना से यह प्रकट होता है कि अजीव तत्व की परिभाषा करने में ही काफी अंतर है। यद्यपि जीवन-ऊर्जा के अंतर्गत अनेक वैज्ञानिक प्रक्रियायें समाहित मानी जा सकती हैं, पर शास्त्रों में उनका विवरण गुणात्मक ही अधिक है, उसमें परिमाणात्मकता एवं सूक्ष्मता कम है। इसके अतिरिक्त, विभिन्न शीर्षकों के अंतर्गत प्राप्त विवरण भौतिक अधिक हैं, उनमें रासायनिक प्रक्रमों का प्रायः अभाव है। इस प्रकार, ज्ञान-द्वारों एवं विधियों में बाह्य समरूपता के बावजूद भी ज्ञेय-संबंधी शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विवरणों में काफी अन्तराल पाया जाता है।

सारणी ५ : विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत अजीव तत्त्व के शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विवरण

शीर्षक	शास्त्रीय विवरण	वैज्ञानिक विवरण
१. नाम (निर्देश)	अजीव-जिसमें १० प्राण या चेतना न हो।	अजीव-जिसमें प्रोटोप्लाज्म, आहार, विसर्ग, जन्म, विकास, मृत्यु, चयापचय, अनुकूलन, संवेदनशीलता, श्वासोच्छवास एवं स्वतोगति न हो। अनियत आकार, विस्तार।
२. उत्पादक सामग्री (साधन)	(अ) यह अणु एवं परमाणुओं के संयोग व वियोग से उत्पन्न होता है। (ब) धर्म (ईथर), अधर्म (आकर्षण), आकाश एवं काल के कारण गति, स्थिति, परिवर्तन और अवगाहन होता है।	यह अजीव परमाणुओं और अणुओं के संयोग-वियोग से उत्पन्न होता है। कभी-कभी यह सजीव पदार्थों से भी उत्पन्न होता है (राख आदि)। (ब) ईथर आदि वास्तविक नहीं हैं, मात्र निर्देश बिन्दु हैं।
३. गुण		
(अ) आधार (क्षेत्र, स्पर्शन)	पदार्थ आकाश, अन्य द्रव्यों एवं स्वयं में अधिष्ठित होता है।	पदार्थों के आधार, स्थिति, भेद-प्रभेद, आकार, विस्तार अनेक प्रकार के होते हैं और परिवर्ती होते हैं।
(ब) स्थिति (आयु)	यह एक से अनंत समय तक बना रहता है।	
(स) भेद-प्रभेद (विधान)	यह अनेक प्रकार से एक से असंख्यात रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है।	(द) पदार्थों या अजीव से जीव की उत्पत्ति संभव है।
४. उपयोग (स्वामित्व)	पदार्थ जीव एवं अजीव-सभी के लिये विविध रूपों में उपयोगी होता है।	अजीव पदार्थ जीवन एवं जीव-दोनों के लिये उपयोगी होता है।

ज्ञान प्राप्ति में सहयोगी कारक

ज्ञानप्राप्ति के लिये उपयोगी चरणों में प्रथम चरण सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार, किसी वस्तु के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिये कम से कम दो मुख्य कारक होने चाहिए—इंद्रियां और पदार्थ या ज्ञेय वस्तु। इन दोनों के मध्य संपर्क के लिये प्रकाश भी होना चाहिये। अन्य कारक भी हो सकते हैं। सर्वप्रथम यह संपर्क इन अनेक कारकों की उपस्थिति में भौतिक इंद्रियों एवं पदार्थ के बीच होता है। इस संपर्क से भावेन्द्रियां उत्तेजित होती हैं और वे इस संपर्क की

सूचना मस्तिष्क को पहुँचाती है। मस्तिष्क वस्तु-ज्ञान कराता है। अनेक बाह्य और आभ्यंतर कारणों से होने वाली सहज ज्ञान की यह प्रक्रिया न्यायदर्शन ने स्वीकार की है। लेकिन जैनों ने ज्ञानोत्पादक कारणों को दो कोटियों में स्पष्टतः विभाजित किया है : मुख्य और सहयोगी[११]। ज्ञान का मुख्य कारक तो जीव या आत्मा ही है, क्योंकि सभी कारकों की उपस्थिति में भी इसके बिना ज्ञान संभव नहीं होता। अन्य कारक अजीव होते हैं और वे सहयोगी कारक कहलाते हैं। इनमें सजीवता के गुण अध्यारोपित नहीं किये जा सकते। ये शरीरस्थ जीव के परिवेशी कर्मों के आवरण को नष्ट या दूर कर ज्ञान में सहायक होते हैं। ज्ञान के विषय में यह परा-प्राकृतिक प्रवृत्ति जैन ज्ञान-सिद्धांत की ही विशेषता है[१२]। कर्मों के आवरण के दूर होने पर आत्मा में प्रातिभ प्रकृति प्रकट होती है और इसलिये ज्ञान अतीन्द्रिय हो जाता है। अतएव जैनों के लिये इंद्रियां, मन, प्रकाश और स्वयं ज्ञेय वस्तु भी ज्ञान के द्वितीयक या सहयोगी कारण होते हैं। ज्ञान-प्राप्ति के कारकों का यह विभाजन जैनों की एतत् विषयक गहन अंतर्दृष्टि का आभास देता है। ज्ञान-प्राप्ति के क्षेत्र में दो प्रकार के कारकों की यह धारणा भौतिकवादी वैज्ञानिकों के लिये किंचित् पथवाह्य लग सकती है। वे कह सकते हैं कि मुख्य कारक की धारणा के बिना भी ज्ञान संभव है, ज्ञान के क्षेत्र में आत्मा का यह अनधिकार प्रवेश है। लेकिन आत्मवादियों के लिये तो जानना और देखना उसी का कार्य है। इस तर्क से जैन न्यायदर्शन के कारक-साकल्यवाद के ज्ञान के सिद्धान्त को अमान्य करते हैं। लेकिन इस संबंध में जैनों के कुछ कथनों का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। उनके ज्ञान-सिद्धान्त की आधारभूत तीन मान्यतायें हैं :

(i) चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं। उनका पदार्थों से संपर्क नहीं होता[13]।

(ii) अन्य इंद्रियों की तुलना में चक्षु स्थूलतर ज्ञेयों को देखती है[१४]।

(iii) आत्मा सर्वज्ञ होता है और वह त्रिकालदर्शी होता है[१५]।

वैज्ञानिक मानते हैं कि देखने की प्रक्रिया में चक्षु एक कैमरे के समान कार्य करती है और वह प्रकाश के माध्यम से परोक्ष रूप से वस्तु से संपर्कित होकर ही उसका ज्ञान कराती है। इसलिये चक्षु की अप्राप्यकारिता का अर्थ ईषत्, आंशिक या परोक्ष प्राप्यकारिता मानना चाहिये। इससे चक्षु की क्रिया-पद्धति विषयक लुप्त बिन्दु की व्याख्या हो जावेगी। इस आधार पर चक्षु की अप्राप्यकारिता वस्तुतः एक बहुत स्थूल कथन है। वैज्ञानिक तो अंधकार को भी मानव के दृश्य-प्रकाश परिसर से बाहर का प्रकाश ही मानते हैं। यह अंध-प्रकाश बिल्ली और उल्लू आदि तिर्यंचों की दृश्यता परिसर में आता है और उसकी आवृत्ति 4000°A से कम और 8000°A से अधिक होती है। इस विषय में अन्यत्र विचार किया गया है।[१६]

जैनों के अनुसार, मन दो प्रकार का होता है—द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन को शरीर विज्ञानियों का मस्तिष्क माना जा सकता है। यह हमारे शरीर तंत्र की शक्ति एवं क्रियाओं का भंडारगृह है। यह दोनों प्रकार से काम करता है—यह इंद्रियों से प्राप्त संवेदनों से तथा मानसिक प्रक्रियाओं से उत्पन्न संवेदनों से प्रभावित होता है। वास्तव में, चक्षु की तुलना में मस्तिष्क की प्राप्यकारिता और भी अधिक परोक्ष होती है। जैनों का कर्म सिद्धांत भी इसकी प्राप्यकारिता की ओर संकेत देता है।

चक्षु स्थूलतर पदार्थ देखता है, यह भी एक अभ्यास कथन प्रतीत होता है। अन्य इंद्रियों के संपर्क में केवल आणविक संरचना वाले अदृश्य पदार्थ ही आते हैं। इसके विपर्यास में, चक्षु प्रकाश, अंधकार, छाया आदि के सूक्ष्मतर पुद्गलों को भी देखती है। इस दृष्टि से कुन्द-कुन्द के अणु-वर्गीकरण में भी एक विसंगति है[१७]। वस्तुतः वैज्ञानिक दृष्टि से चक्षु और चक्षु-पूरक यंत्र ही दृश्यता या स्थूलता और सूक्ष्मता की सीमा निर्धारित करते हैं।

आत्मा की सर्वज्ञता का सिद्धान्त ज्ञान के इंद्रिय-पदार्थ-संपर्क-सिद्धान्त के विरोध में जाता है। जैनों के अनेक सिद्धान्त ऐसे हैं जो आगम से प्रामाण्य पाते हैं। उनमें तार्किकता उत्तरकाल में आई है[१८]। चक्षु की अप्राप्यकारिता एवं

सर्वज्ञता के सिद्धान्त इसी कोटि के हैं। आचारांग में महावीर को सर्वज्ञ कहा गया है पर बुद्ध ने इसको मान्यता नहीं दी। वस्तुतः हम सर्वज्ञता को ज्ञान के उच्चतम सामर्थ्य का बहिर्वेशन मान सकते हैं। यह संभव है या नहीं, यह पृथक् प्रश्न है। समंतभद्र, अकलंक आदि उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसकी संभावना के पक्ष में अनेक तर्क दिये हैं[१९]। फिर भी, यदि इसे अतीन्द्रिय ज्ञानी माना जाता है और उसे सूर्य-चन्द्र आदि ज्योतिग्रहों के गति एवं ग्रहण की गणनाओं के आधार पर सिद्ध किया जाता है, तो आधुनिक दृष्टि से यह निष्कर्ष विरोध का ही समर्थन करेगा। इन विषयों पर गणित एवं ज्योतिष शास्त्रियों ने अध्ययन किये हैं। साथ ही, जैनों के आगम-लोप की मान्यता तथा उसके कारणों की समीक्षा एवं उनमें विद्यमान अनेक भौतिक तथ्यों एवं गणनाओं की परिवर्तनीयता की मान्यता आगम-प्रणेताओं की सर्वज्ञता के प्रश्न को पुनर्विचार के लिये प्रेरित करती है। आधुनिक बुद्धिवादी को यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि सर्वज्ञ पुरुषों का ज्ञान अत्यंत उच्चकोटि का होगा। समंतभद्र तथा अन्य आचार्यों ने आगमिक या अन्य मान्यताओं को परीक्षित कर ही स्वीकृत करने का प्रशस्त पथनिर्देश दिया है। यह प्रवृत्ति ही ज्ञान के वृक्ष के विकास को प्रशस्त करती है।

ज्ञान प्राप्ति के परोक्ष रूप : परोक्ष मति और श्रुतज्ञान

जैनों के अनुसार, मतिज्ञान प्रत्यक्ष या इंद्रिय जन्य (लौकिक) भी होता है और परोक्ष भी होता है। यह परोक्ष ज्ञान भी प्रत्यक्ष के समान ही प्रमाण माना जा सकता है। स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान)—ये चार मतिज्ञान के परोक्षरूप हैं। ये सभी इंद्रियज्ञान के समानार्थी हैं। इन्हें परोक्ष इसलिये माना जाता है कि इनमें इंद्रियों के अतिरिक्त स्मरण, मन और बुद्धि व्यापार भी कारण होता है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि भारतीय दार्शनिकों में से केवल जैन ही ऐसे हैं जिन्होंने स्मृति को प्रमाण माना है। उन्होंने इसकी प्रमाणता के विरोध में दिये गये तर्कों की उपयुक्त परीक्षा की है। जैनों ने इन विधियों को मतिज्ञान के रूप में परिगणित कर अन्य दर्शनों में वर्णित प्रायः सभी प्रमाणों को समाहित कर लिया है[२०]। ये सभी विधियां सहज अनुभव गम्य हैं, वैज्ञानिक भी इन्हें मानकर चलते हैं।

मतिज्ञान के इन रूपों के अतिरिक्त आगम या श्रुत ग्रन्थ भी ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप में माने गये हैं। वस्तुतः श्रुतज्ञान धारणात्मक चरण का विस्तार ही है और सामयिक ज्ञानप्राप्ति का अंतिम चरण है। इसकी परिभाषा परंपरा एवं व्युत्पत्ति—दोनों आधारों से की गई है। परंपरावादी दृष्टिकोण से श्रुतज्ञान इंद्रियज्ञान (मति) पूर्वक होता है और इसमें बुद्धि और वाणी का भी उपयोग होता है। यह सेन्द्रिय या अतीन्द्रिय ज्ञान के समान प्रत्यक्ष और विशद नहीं होता। यह अक्षर और अनक्षर रूप से दो प्रकार का होता है। अक्षरश्रुत लिखित या वाचनिक होता है। यह स्वयं एवं अन्यों को भी ज्ञान कराता है। यह पूर्वाचार्यों के ज्ञान के संप्रसारण का काम करता है। इसे द्रव्यश्रुत भी कहते हैं। अनक्षर श्रुत को भावश्रुत कहते हैं। विभिन्न दर्शनों में इनके विभिन्न नाम मिलते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में श्रुत की अधिक लोकप्रिय और व्युत्पत्तिपरक परिभाषा दी गई है। उसके अनुसार विश्वसनीय शास्त्रज्ञों के द्वारा लिखित या मौखिक शब्द योजना श्रुत है। पूज्यपाद ने तीन प्रकार के शास्त्रज्ञ माने हैं: सर्वज्ञ तीर्थंकर, उनके प्रत्यक्ष शिष्य गणधर और अन्य आचार्य। मेहता ने शास्त्रज्ञों को लौकिक एवं अलौकिक कोटियों में विभाजित किया है[२१]। यहाँ लौकिक शास्त्रज्ञों की कोटि की सामान्यता जन सामान्य से पर्याप्त उच्चतर होती है और गणधर तथा विभिन्न आचार्य इस कोटि में आते हैं। शास्त्रज्ञों के लिए 'आप्त' कहा जाता है। इनके द्वारा निर्मित शास्त्र ही प्रमाण माने जाते हैं। ये ही श्रुतज्ञान के साधन हैं। ये अनुभव-ज्ञान के भण्डार हैं।

शास्त्रों में बताया गया है कि द्रव्य श्रुत सादि और सान्त है पर भाव श्रुत अनादि और अनन्त है। इसके दो प्रमुख भेद हैं—अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य। आचारांग आदि बारह अंग प्रथम कोटि के हैं और इनके बारहवें अंग में 'पूर्व' भी समाहित होते हैं। यह तो ज्ञात नहीं कि अंग ग्रन्थ पूर्व ग्रन्थों के पूर्ववर्ती हैं पर इन्हें अंगों में समाहित कर लिया

गया है। शूब्रिंग के अनुसार पूर्व अंगों के समानान्तर ग्रन्थ रहे होंगे[२२]। अंग ग्रन्थों को दोनों परम्परायें मानती हैं लेकिन दुर्भाग्य से इनका अधिकांश, मेधा और स्मरण शक्ति की कमी से, महावीर से ६८३ से १००० वर्ष के बीच लुप्त हुआ माना जाता है। वैदिक धारा के समान आगम-रक्षण की कुल परम्परा जैनों में नहीं रही, गुरु-शिष्य परम्परा भी बहुत दृढ़ नहीं रही। दिगम्बरों की तुलना में श्वेताम्बरों ने इस कमी का अनुभव किया और ४५३-६२ ई० तक उन्होंने तीन संगीतियाँ की और अन्त में आगमों को लिखित रूप दिया। इतने अन्तराल के कारण मूल में परिवर्तन व परिवर्धन की सम्भावना से आज के विद्वान् इन्कार नहीं करते। इसलिये उनकी प्रामाणिकता परीक्षणीय मानी जाती है। दिगम्बर परम्परा में ऐसी कोई संगीति नहीं हुई और उनके यहाँ अंग विलोपन की दर भी तीव्र है[२३]। हाँ, कुछ अंगों एवं पूर्वों पर आधारित कुछ ग्रन्थ अवश्य उनके पास हैं। शूब्रिंग और जैकोबी ने आगम विलोपन की मान्यता के विषय में बताया है कि यह सम्भव है कि उनकी विषय-वस्तु महत्वपूर्ण न हो अथवा उनके वर्णन से अनुयायियों में अरुचिकरता आती हो[२६]। इस विषय पर गहन अनुसन्धान की आवश्यकता है।

श्रुत की दूसरी कोटि अंगों पर आधारित है। उसे अंगों की समकक्षता नहीं है, पर वह भी महत्वपूर्ण है। अंग बाह्य ग्रन्थ कितने हैं, यह निश्चित नहीं है। पर दिगम्बर १४ और श्वेताम्बर ३४ ग्रन्थ इस कोटि में मानते हैं। ये अंग साहित्य से उत्तर काल की रचनायें हैं। श्वेताम्बर इस कोटि में पाँचवी सदी तक की महत्वपूर्ण रचनायें तथा दिगम्बर १०वीं सदी तक के ग्रन्थ समाहित करते हैं। दिगम्बर यह भी मानते हैं कि चौदह मूल अंग बाह्य ग्रन्थ भी विलुप्त हो गये हैं। उन्होंने अंग प्रविष्ट तथा अंग बाह्य श्रुत में विद्यमान समस्त वर्णों की संख्या १.८४×१०^{२१} बताई है[२५]। शास्त्रों में इस श्रुत के विभिन्न भागों की विषय वस्तु भी दी गई है। अनेक प्रकरणों में वर्तमान में उपलब्ध श्रुत इससे भिन्न पाया जाता है। दिगम्बरों की तुलना में श्वेताम्बरों की गणनायें भिन्न हैं। फिर भी, इससे श्रुत के व्यापक विस्तार का पता तो चलता ही है। इसके बावजूद भी, यह माना जाता है कि सम्पूर्ण श्रुत में उपलब्ध ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान का अनन्तवाँ भाग है क्योंकि सभी ज्ञेय को पूर्णतः शब्दों में नहीं व्यक्त किया जा सकता।

ज्ञान प्राप्ति का अन्तिम चरण : श्रुत

उपरोक्त श्रुत के विषय एवं वर्णसंख्या में भिन्नता के बावजूद भी, ज्ञान प्राप्ति प्रक्रिया का अन्तिम चरण पूर्व-चरण में प्राप्त ज्ञान को अभिलेखित करना है। ये अभिलेख ज्ञात ज्ञान का निरूपण एवं संप्रसारण करते हैं और अज्ञात क्षितिजों की ओर संकेत करते हैं। इनके वर्णनों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिये। इन्हें ज्ञान का अन्तिम बिन्दु नहीं मानना चाहिये। वर्तमान श्रुत सर्वज्ञ-प्रणीत नहीं, अपितु उनके परम्परागत उत्तराधिकारियों द्वारा प्रणीत है, जो विभिन्न युगों में हुए हैं। अतः श्रुत को विभिन्न युगों में उपलब्ध ज्ञान का अभिलेख मानना चाहिये। अनेक प्रकरणों में उनमें परिवर्धित या विरोधी दृष्टिकोण भी पाये जाते हैं। आधुनिक ज्ञान के आधार पर उनमें परिवर्धन सम्भव हो सकता है। यदि इन्हें अपरिवर्तनीय माना जावे, तो ज्ञान तालाब के जल के समान स्थिर हो जावेगा। इस धारणा से ज्ञान के नये क्षेत्रों के प्रति अनुपयोगितावादी दृष्टि विकसित हुई, इससे भारत आधुनिक दृष्टि से ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़ गया। वह आगमिक युग में अपने समय में ज्ञान का अग्रणी था। इसलिये वैज्ञानिक तथा अन्य दृष्टियों से स्थिर ज्ञान की धारणा उपयोगी नहीं प्रतीत होती। अब ज्ञान एक जल प्रवाह के समान है, जिसमें संशोधन, नवयोजन एवं परिवर्तन सम्भव है, यदि ज्ञान प्राप्ति की उपरोक्त दिशाओं से इन प्रक्रियाओं का समर्थन हो। यह मत वर्तमान श्रुत से भी समर्थित है। प्रत्यक्ष के दो भेद, काल के द्रव्यत्व की मान्यता, अष्टमूलगुणों के विविध रूप, भौतिक इन्द्रियों की प्राप्यकारिता सम्बन्धी पूज्यपाद और वीरसेन की मत-भिन्नता, विद्यानन्द को धारावाही ज्ञान की प्रमाणता आदि के उदाहरण इसी ओर संकेत देते हैं। वस्तुतः यह अचरज की बात ही है कि परिवर्तनशील विश्व में उससे सम्बन्धित ज्ञान को स्थिर एवं अपरिवर्तनीय माना जावे।

उपसंहार

उपरोक्त निरूपण से यह स्पष्ट है कि सूक्ष्मतर विवरणों के शास्त्रीय मतभेदों के बावजूद भी, भौतिक जगत सम्बन्धी ज्ञान की प्रक्रिया और कारकों से सम्बन्धित जैन निरूपण वैज्ञानिक मान्यताओं के समरूप है। तथापि ज्ञाता आत्मा एवं अतीन्द्रिय ज्ञान सम्बन्धी मान्यता वैज्ञानिक सहमति की प्रतीक्षा कर रही है। डेलरीप ने सही कहा है कि जैनों का ज्ञान-सिद्धान्त इन्द्रिय और श्रुत ज्ञान के स्तर पर कार्य-कारणवाद की मान्यता पर आधारित होने से प्राकृतिक है, पर ज्ञान के उच्चतर स्तर पर यह वस्तुतः अन्तःप्रतिभात्मक हो जाता है[२६]। यह प्रातिभ ज्ञान जाँचनीय न भी हो, पर प्राकृतिक ज्ञान तो नये-नये तथ्यों एवं सत्यों के परिप्रेक्ष्य में जाँचनीय और परिवर्धनीय होना ही चाहिये।

निर्देश सूची

१. टाटिया, नथमल; **तुलसी प्रज्ञा,** जैन विश्वभारती, लाडनूं, दिसम्बर, ७८।

२. अकलंक, भट्ट; **तत्वार्थ राजवार्तिक-१,** भा० ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९५३, पेज ३३।

३. शास्त्री, कैलाशचन्द्र, **जैन न्याय**, भा० ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६६, पे० ३२८।

४. जैन, एस० ए०, (अनु०); **रीयल्टिटी,** वीर शासन संघ, कलकत्ता, १९६०, पेज ११–१५।

५ पूर्वोक्त, पेज १५।

६. देखिये, निर्देश २, पेज ६९–७०।

७. संघवी, सुखलाल (टी०); **तत्वार्थ सूत्र,** पार्श्वनाथ विद्याश्रम, काशी, १९७६, पेज १२४।

८. देखिये निर्देश २, पेज ६१।

९. देखिये, निर्देश ३, पेज १४७–५७।

१०. देखिये, निर्देश ९, पेज ६५।

११. प्रभाचन्द्र आचार्य; **प्रमेयकमलमार्तंड,** निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४१, पेज २३१–३९।

१२. डेल रीप; **नेचुरलिस्टिक ट्रेडीशंस इन इंडियन थोट**, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४, पेज ८३।

१३. देखिये, निर्देश ४, पेज २७।

१४. देखिये, निर्देश २, खण्ड २, पेज ४८४।

१५. देखिये, निर्देश २, पेज ९०।

१६ जैन, एन० एल०; **कन्टेम्पिटलिटी आव आई–एन इवेलुयेशन,** तुलसी प्रज्ञा, लाडनू, ६, १९, १९८२।

१७ कुन्दकुन्द, आचार्य; **नियम सार,** जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, १९३१, पेज १२।

१८. न्यायाचार्य, महेन्द्रकुमार; **जैन दर्शन,** वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १९६६, पेज २८५।

१९. देखिये निर्देश ३ पेज १६५।

२०. देखिये निर्देश ३ पेज २७७-९४।

२१. मेहता, मोहन लाल; **जैन फिलासोफी,** जैन मिशन सोसाइटी, बेंगलोर, १९५४, पेज ११३।

२२. वाल्टर शूब्रिंग; **द डाक्टरिन ऑव जैनाज,** मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९६६, पेज ७४।

२३. मालवणिया, दलसुख; **आगम युग का जैन दर्शन,** सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६६, पेज १६।

२४. देखिये निर्देश २२ पेज ७५-७६।

२५. नेमचन्द्र चक्रवर्ती; **गोम्मटसार जीवकाण्ड,** रामचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, अगास, १९७२, पेज १८०।

२६. देखिये निर्देश १२ पेज ९१।

जैन शास्त्रों में वैज्ञानिक संकेत

पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री
कुंडलपुर, म० प्र०

जैन आगम में यत्र-तत्र ऐसे स्थल भी है जिनमें आधुनिक वैज्ञानिक तत्वों के संकेत विपुल मात्रा में पाये जाते हैं। अनेक स्थल ऐसे भी हैं कि जिन पर अभी वैज्ञानिक शोध कार्य नहीं हुए। कुछ स्थल ऐसे भी हैं जिन पर जैन चिन्तकों का भी ध्यान आकर्षित होना चाहिए। जो हमारी धारणाएँ हैं, उनसे भिन्न धारणा करने के लिए अनेक स्थल हमें बाध्य करते हैं। मेरे अध्ययन काल में जा स्थल मुझे ऐसे प्रतीत हुए, उनका संक्षिप्त विवेचन मैं इस लेख द्वारा विद्वान् जनों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ। उन स्थलों पर मैंने कुछ सम्भावनाएँ भी इसमें व्यक्त की है जो आप सबका ध्यान आकर्षित करने के लिए है। हो सकता है कि मेरे चिन्तन की गलत धारा हो या सही हो पर विद्वानों को चिन्तन करने के लिए उन्हें प्रस्तुत कर रहा हूँ। आप सबके चिन्तन और अध्ययन से उन पर नया प्रकाश मिल सकेगा, ऐसी आशा करता हूँ। मैं यहाँ विद्वज्जनमान्य उमास्वामी के तत्वार्थ सूत्र के आधार पर ही इनका निर्देश करता हूँ।

१. तैजस शरीर के स्वरूप पर विचार

सभी संसारी जीवों के तैजस, कार्मण—दो शरीर सदा पाये जाते हैं, यह बात **सर्वस्य** सूत्र द्वारा प्रतिपादित है। यह शरीर **अनन्तगुण प्रदेश वाला** है, **अप्रतीघात है** और परम्परा से अनादि काल से है। इसके स्वरूप के विवेचन में आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में ये शब्द लिखे हैं :

यत्तेजो निमित्तं, तेजसि वा भवं तत्तैजसम्।

जो तेज में निमित्त हो या तेज में उत्पन्न हो वह तैजस है। इस तैजस शरीर को सोपभोग भी नहीं बताया गया और निरूपभोग भी नहीं लिखा गया अर्थात् इन्द्रियादि द्वारा अर्थ को विषय करने में निमित्त यह नहीं है जैसे अन्य औदारिकादि तीन शरीर हैं तथा इसे कार्मण शरीर की तरह निरूपभोग भी नहीं माना। विचारना यह है कि सोपभोग भी न हो और निरूपभोग भी न हो, तो यह तीसरी अवस्था इसकी क्या है। निरूपभोग नहीं है—इसका कारण आचार्य लिखते हैं कि तैजस, योग में भी निमित्त नहीं है, इसलिए उपभोग निरूपभोग के सम्बन्ध में इसका विचार ही नहीं हो सकता। यह केवल औदारिक शरीरों में दीप्ति देता है, ऐसी मान्यता इस समय तक चली आ रही है। इसके सम्बन्ध में इससे अधिक विचार नहीं हुआ।

सम्भावनाएँ : 'तैजसमपि' सूत्र की व्याख्या में इसे भी लब्धि प्रत्यय माना है और वैक्रियक को भी लब्धि प्रत्यय माना है। तथापि दोनों शरीरों के निर्माण पृथक्-पृथक् वर्गणाओं से है। वैक्रियक तो आहार वर्गणा से ही निर्मित है अतः ऋद्धिधारी मुनि का औदारिक शरीर ही विक्रिया करने की विशेष योग्यता वाला बन जाता है। ऐसी मान्यता है। पर शुभ तैजस जो एक प्रकार से **शुभ्र प्रकाश** रूप में और अशुभ **तैजस ज्वाला** रूप में प्रगट होता है, वह क्रियात्मक है ? मेरी दृष्टि में वह तैजस वर्गणा निमित्तक ही होना चाहिए। सूत्रकार ने तो दोनों शरीरों को ही लब्धि प्रत्यय लिखा है। उसकी टीका में उसे औदारिक शरीर हो इस रूप परिणमता है ऐसा नहीं लिखा। 'तेजसि भवं वा' पर विशेष विचार

किया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि यह एक प्रकार का बिजली की तरह 'पावर' है, शक्त्यात्मक है जो स्वयं न तो योग रूप क्रिया करता है और न उपयोगात्मक क्रिया का साधन है बल्कि इन सब शरीरों को शक्ति प्रदाता है। यह औदारिक शरीरों को तथा विग्रह गति में कार्मण शरीर को तेज (शक्ति) दायक है। धवला, पुस्तक ८ की वाचना के समय सागर में भी कुछ संकेत इसी प्रकार के प्राप्त हुए थे, अतः यह विचारणीय है।

२. भूमि के वृद्धि ह्रास सम्बन्धी सूत्रों पर विचार

एक प्रश्न जब हमारे सामने आता है कि आर्य खण्ड की इस भूमि पर भोग भूमि में तीन कोस के, दो कोस के, और एक कोस के तथा कर्मभूमि के प्रारम्भ में ५०० धनुष के मनुष्य होते थे, तो उस समय क्या भूमि का विस्तार ज्यादा होता था ? यदि नहीं, तो कैसे इसी भूमि पर उनका आवास बन जाता था। इस प्रश्न के आधार पर जब विचार आता है, तब तत्वार्थ सूत्र के अध्याय ३ के सूत्र २७-२८ पर भी ध्यान आकर्षित होता है। वे सूत्र हैं :

'भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्' तथा 'ताभ्यामपराभूमयोऽवस्थिताः'।

अर्थात् भरत और ऐरावत की भूमियों में वृद्धि व ह्रास होता है—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में, और इनके अलावा अन्य भूमियाँ वृद्धि ह्रास से रहित अवस्थित ही रहती है। यद्यपि पूज्यपाद आचार्य ने इस प्रश्न को उठाया है कि 'क्यों ?' और समाधान दिया है 'भरतैरावतयोः।' तथापि आगे चलकर उन्होंने लिखा है कि 'न तयोः क्षेत्रयोः असम्भवात्।' इस प्रश्नोत्तर से स्पष्ट है कि सूत्र से भी क्षेत्र की ही वृद्धि-ह्रास का अर्थ निकलता है। पर चूँकि उसकी सम्भावना नहीं है, अतः भूमि स्थित मनुष्यादिकों के आयु-अवगाहना आदि का ही वृद्धि-ह्रास होता है, यह सप्तमी विभक्ति के आधार पर व्याख्या की।

संभावना : यह सम्भावना की जाती है कि सूत्र का अर्थ भूमि को वृद्धि-ह्रास का भी सम्भाव्य है। प्रथम सूत्र में भरतैरावत में षष्ठी और सप्तमी से प्रचलित अर्थ किया जा सका, पर दूसरा सूत्र स्पष्टतया भूमियों की अवस्थिति बता रहा है, वहाँ 'भूमयः' प्रथमान्त शब्द हैं, षष्ठी, सप्तमी नहीं है, जिससे पूर्व सूत्र पर भी प्रकाश पड़ता है कि यदि भरत ऐरावत के सिवाय अन्य भूमियाँ अवस्थित हैं, तो भरत ऐरावत की भूमियों में अनवस्थितता है, अतः उनमें वृद्धि ह्रास होते हैं।

आचार्य पूज्यपाद ने उसकी सम्भावना तो नहीं देखी क्योंकि आर्यखण्ड-गंगा-सिन्धु दोनों महानदियों से पूर्व पश्चिम में और दक्षिण में विजयार्ध और लवण समुद्र से सीमाबद्ध हैं। अतः यह दिशा विदिशाओं में बढ़ नहीं सकता। इसलिए असम्भवात् शब्द से उसे व्यक्त किया है। तथापि एक और प्रसंग है जो यह बतलाता है कि उत्सर्पिणी से अवसर्पिणी को और कालगति बढ़ने पर चित्रा पृथ्वी पर एक योजन भूमि ऊपर को बढ़ती है और प्रलय काल में वह वृद्धि समाप्त होकर चित्रा पृथ्वी निकल आती हैं, ऊपर बढ़ने पर पर्वतों की तरह ऊपर-ऊपर भूमि घटती जाती है और नीचे चौड़ी रहती है। क्या इसी आधार पर वृद्धि-ह्रास के सम्भाव्य संकेत तो नहीं है ? यदि यह माना जाय तो बड़ी अवगाहना के समय उसका विस्तार माना जा सकता है। यह भी यह विचारणीय संकेत है।

३. ज्योतिषचक्र की ऊँचाई तथा चन्द्रयात्रा पर विचार

वर्तमान मान्यता है कि सूर्य ऊपर तथा चन्द्र नीचे है। किन्तु जैनागम में प्रचलित मान्यता है कि सूर्य पृथ्वी तल से आठ सौ योजन और चन्द्रमा ८८० योजन है। यह प्रत्यक्ष अन्तर भी हमारी मान्यता को चुनौती हो जाती है। इस पर विचार किया जाए।

सम्भावना : सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ४ सूत्र १२ की टीका में आचार्य ने इन ऊँचाइयों का वर्णन किया है। किन्तु यह वर्णन जिस आधार पर किया है, वह है एक प्राचीन गाथा, जिसमें क्रमानुसार पूर्वार्ध में संख्या है

और उत्तरार्ध में उन ज्योतिषकों के नाम हैं—७९०, १०, ८०, ४, ४, ३, ३, ३, ३ योजन ऊँचे हैं, निम्न विमान तारा-रवि-शशि-ऋषि-बुध-भार्गव-मंगल-शनि। इसमें यह सम्भावना भी की जा सकती है कि ग्रन्थों का लेखन हाथ से लेखकों द्वारा किया जाता था। यदि **कदाचित् लिपि-लेखक लिखने में** रवि का नाम भूल से पहले और शशि का नाम उसके पीछे लिख आये, **तो दोनों की ऊँचाई का** भी अन्तर पड़ सकता है। इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रायः लिपिलेखक **भूल भी कर** जाता है। वे सब बहुत ज्यादा आगमज्ञ ही होते हैं, ऐसा नहीं है। इसके लिए यह गाथा पूज्यपाद स्वामी के पूर्व कहाँ अन्यत्र ग्रन्थों में पाई जाती है अथवा उनके पूर्व के ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में क्या विवेचन है, इस ओर ध्यान आकर्षित होना आवश्यक है। अकलंक देव ने यतिवृषभ और नेमिचन्द्राचार्य ने अपने ग्रन्थों में इसी का अनुसरण किया है, पर ये पूज्यपाद के बाद के आचार्य हैं। क्या इससे पूर्व का **कोई साहित्य है** जिसमें उक्त कथन की पुष्टि ही पाई जाती है, तभी यह सम्भावना गलत होगी कि लेखक को भूल से परिवर्तन सम्भाव्य है।

चन्द्रलोक यात्रा और उसकी दूरी

चन्द्रलोक की यात्रा मानव कर सकता है, इस पर जैन चिन्तक संशयारूढ़ है, उसकी ऊँचाई जो आगम में है और वर्तमान में मानी गई है वह भी जैनागम से मेल नहीं खाती।

सम्भावना : मनुष्य, मनुष्य लोक में जा सकता है। मानुषोत्तर पर्वत तो उसकी सीमा दिशा-विदिशाओं में सूत्रकार ने बाँधी है, पर ऊपर ९९९९९ योजन और नीचे चित्रा पृथ्वी प्रभाग क्षेत्र भी मनुष्य लोक ही है। फलतः मध्य-लोक में मनुष्य लोक ४५ लाख योजन लम्बा-चौड़ा और एक लाख योजन ऊपर-नीचे मोटा है। अतः **चन्द्रलोक को ८०० या ८८० योजन जाना आगम पद्धति से विरुद्ध नहीं है।** अंजनचोर को आकाशगामी विद्या सेठ के मंत्र से प्राप्त होने तथा उसके व सेठ के द्वारा सुमेरु पर्वत के जिनालयों की वन्दना की कथा प्रथमानुयोग में है। विद्याधर और ऋद्धि प्राप्त मुनिजन भी सुमेरु के चैत्यालयों की वन्दना करते हैं। चैत्यालयों की स्थिति वहाँ सौमनस वन में ६३००० योजन तथा पाण्डुक वन की ९९००० योजन है, जब वहाँ मानव जा सकता है, तब ८८० योजन ऊपर जाना आगम सम्भव है। यह बात दूसरी है कि वहाँ लोग गये या नहीं गये। इसी प्रश्न को उठाकर लोग सन्देह उत्पन्न करते हैं।

जहाँ तक ऊँचाई के **माप का अन्तर** है, उसके लिए यह विचार भी आवश्यक है कि उस समय के कोश का प्रमाण क्या था और आज कोश का प्रमाण क्या है, जिसके आधार पर योजन का माप है। जिन हाथों के प्रमाण से गज, और गजों से माइल और कोश इस युग में नापे गये हैं, उनकी ये परिभाषाएँ आधुनिक हैं, प्राचीन नहीं। **प्राचीन परि-भाषाएँ क्या थीं? यह शोध होना** चाहिए, तब अन्तर दूर होने की स्थिति बनेगी।

एक उदाहरण पर विचार करें। भगवान महावीर की ऊँचाई ७ हाथ थी, वह हाथ किसका है या उसका क्या मापदण्ड है? छठे काल में एक हाथ का शरीर होगा। शरीर की आकृति २१ हजार वर्ष में ६ हाथ घटेगी तो उस अनुपात से वीर निर्वाण २५०० में होने वाले मनुष्य सवा छः हाथ के हैं। अब हाथ के प्रमाण की परिभाषा ढूंढ़ना आवश्यक हो गया। यदि उसका निर्णय हो जाय, तो माप के अन्तर की शोध हो सकती है। यह भी विचारणीय है कि जैन आगम के अनुसार चन्द्रमा की ऊँचाई ८८० योजन है। वह ऊँचाई कहाँ से नापी गई है, सुमेरु के पास विदेह क्षेत्र से या आर्यखण्ड की अयोध्या से? वर्तमान के वैज्ञानिक किस कोण से माप करते हैं, यह भी देखना होगा। इस बात को एक उदाहरण से समझिये। सूर्य पृथ्वी से ८०० योजन है। कर्क संक्रान्ति के समय चक्रवर्ती नरेश अयोध्या में अपने महल के ऊपर से उस दिन सूर्य विमान में स्थित जिन बिम्ब का दर्शन करता है। सूर्योदय के समय वह सूर्य निषध पर्वत के ऊपर होता है, उस समय सूर्य की दूरी का प्रमाण ४७,२६३ योजन का आता है। इससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि भिन्न-भिन्न स्थानों से भिन्न-भिन्न चार क्षेत्रों में स्थित सूर्य आदि ग्रहों की दूरी का प्रमाण भिन्न-भिन्न ही होगा। इसी परिप्रेक्ष्य

में चन्द्रमा की दूरी का अन्तर ढूंढना आवश्यक होगा। तभी सही रूप से चन्द्रमा की वैज्ञानिक दूरी और आगमिक दूरी के अन्तर या रहस्य का भेद पाया जा सकेगा। उभय विषयों के सक्षम विद्वान् इस पर विचार करें और प्रकाश डालें।

४. शब्द की पौद्गलिकता और गति

'शब्द' को जैनागम में पुद्गल पर्याय माना गया है। तत्वार्थ सूत्र अध्याय ५ के सूत्र २४ में यह प्रतिपादित है। शब्द में पुद्गल की पर्याय के कारण रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का होना अनिवार्य है। **शब्द के इन गुणों पर भी विज्ञान के आधार पर विचार अपेक्षित** है। शब्दों की व्यंजना वायु के आधार पर होती है, अतः दोनों में परस्पर सम्बन्ध है और दोनों पौद्गलिक हैं। वायु भी वायुकायिक जीवों का शरीर है। ये दोनों दृष्टिगोचर न होने पर भी श्रवण और स्पर्शन ग्राह्य है तथा इनके अन्य गुणों की अभिव्यक्ति भी विश्लेषण चाहती है। 'प्रकाश' भी सूत्र के अनुसार पुद्गल की पर्याय है और अन्धकार तथा छाया भी। इसी प्रकार के आतप और उद्योत भी हैं; जो पकड़े नहीं जाते पर चक्षु ग्राह्य हैं। इन सबका निरूपण भिन्न-भिन्न मतों में भिन्न-भिन्न प्रकार से हैं, पर इनको एकरूपता, पौदगलिक होने के कारण, सुनिश्चित है। विज्ञान के प्रकाश में इस एकरूपता को स्पष्ट किया जाना चाहिए।

पुद्गल गतिमान द्रव्य है। विज्ञान ने भी शब्द को तथा प्रकाश को गतिशील माना है। यह प्रत्यक्ष भी दिखाई देता है। **प्रकाश की गति शब्द से अधिक तीव्र मानी जाती** है, पर जैन **आगम में शब्द की गति अधिक बतायी गयी है।** परमाणु यदि एक समय में लोकान्त तक गमन करता है, तो शब्दरूप पुद्गल स्कन्धात्मक परिणति के बाद भी दो समय में लोकान्त पर्यन्त गमन करता है, ऐसा **धवला की तेरहवीं पुस्तक में स्पष्ट** उल्लेख है। विज्ञान की कसौटी पर इस तथ्य का भी परीक्षण करना योग्य है।

५. काल द्रव्य असंख्यात है

सभी द्रव्यों के परिणमन में कालद्रव्य की पर्यायें निमित्तभूत हैं। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। वह इस कार्य में अधर्म द्रव्य की तरह उदासीन निमित्त है, प्रेरक नहीं। कारण वह स्वयं क्रियावान द्रव्य नहीं है। आर्यखण्ड में छह काल रूप परिवर्तन होता है। म्लेच्छखण्ड में यह परिवर्तन नहीं होता। विजयार्ध पर्वत पर होने वाली विद्याधर श्रेणियों में भी यह परिवर्तन नहीं होता। स्वर्ग-नरक तथा भोग भूमियों में (जो स्थाई है) छः काल का परिवर्तन नहीं होता। क्या काल के परिणमन की विषमता भिन्न-भिन्न कालद्रव्य के भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न परिणमनों की सूचक है। धर्म, अधर्म, आकाश एक-एक द्रव्य है, तब इनके परिणमन की एक ही धारा है पर कालद्रव्य असंख्य हैं, अतः इनका परिणमन भिन्न-भिन्न हो सकता है। क्या इन छह काल रूप परिवर्तन में निमित्त शक्ति वाला कालद्रव्य आर्यखण्डों में ही है या इस परिणमन के कुछ अन्य कारण हैं कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न रूप काल में उत्सर्पिणी अवसर्पिणी परिणमन पाये जाते हैं। चिन्तन का यह भी एक विषय हो सकता है।

६. अचाक्षुष पदार्थ चाक्षुष कैसे बनता है ?

पाँचवें अध्याय का २८वां सूत्र है—'भेदसंघाताभ्याम् चाक्षुषः', भेद और संघात से पदार्थ चाक्षुष होता है। टीकाकार पूज्यपाद आचार्य ने लिखा है 'अनन्तानन्त परमाणुओं के समुदायरूप कुछ स्कन्ध चाक्षुष है पर कुछ चक्षु का विषय नहीं बनते, वे अचाक्षुष हैं'। सूत्र की टीका में अचाक्षुष कैसे 'चाक्षुष' बनता है, इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि कोई अचाक्षुष स्कन्ध सूक्ष्म परिणत है, वह भेद के द्वारा भिन्न हुआ। उसका अंश अन्य चाक्षुष स्कंध में मिल गया, तब वह भी चाक्षुष बन गया। इस तरह भेद और संघात दोनों के योग से ही अचाक्षुष स्कन्ध चाक्षुष बनता है।

सम्भावना : ऊपर का समाधान तो यथार्थ है ही, तथापि सूत्र में द्विवचन होने से अन्य अर्थ भी प्रतिफलित होता है। अचाक्षुष पदार्थ दो प्रकार से चाक्षुस बन सकता है। एक तो ऐसे कि **अचाक्षुष सूक्ष्म परिणत दो स्कन्ध आपस**

में मिल जाएँ और सूक्ष्मता त्याग कर चक्षु ग्राह्य बन जाये। यह प्रक्रिया तो प्रसिद्ध है परन्तु भेद से अचाक्षुष चाक्षुष हो जाये, इसकी भी सम्भावना है। इस विकल्प पर भी शोध होना चाहिये। टीकाकार के सामने जो स्थिति थी, उसके अनुसार अर्थ की जो संगति बैठाई है वह पूरी तरह ग्राह्य है। फिर भी एक दूसरी सम्भावना भी सूत्र से व्यक्त होती है जो यह सूचित करती है कि कुछ ऐसे भी स्कन्ध हो सकते हैं जो अचाक्षुष हों पर उनमें यदि भेद हो जाये तो, वे चक्षु ग्राह्य हो सकते हैं। उदाहरण से विचार करें, रेत और चूना दोनों पारदर्शक नहीं हैं पर जब दोनों के योग से कांच बनता है तो वह पारदर्शक हो जाता है।

प्रथमानुयोग में अंजन चोर की कथा है जो अंजन गुटिका का लेप करने पर संयुक्त अवस्था में अदृश्य (अचाक्षुष) हो जाता था और उस गुटिका के अलग होने पर दृष्टव्य (चाक्षुष) हो जाता था। इस प्रकार का जो संभावित अर्थ है उसका परीक्षण भी विज्ञान से होना चाहि। मिले हुए स्कन्ध यन्त्रों की पकड़ में आ सकते हैं जो अचाक्षुष हों। रासायनिक प्रक्रिया से उनका भेद करने पर उनके चाक्षुष होने की क्या कोई सम्भावना है, यह भी देखना चाहिये।

७. वेदनीय कर्म जीव विपाकी है या पुद्गल विपाकी

कर्मकाण्ड में वेदनीय कर्म को जीव विपाकी माना गया है। मोह के बल पर जीव उसके उदय में दुःख का वेदन करता है। वेदन जीव को होता है, अतः इसका जीव विपाकी होना स्वाभाविक है, प्रसिद्ध है। आठवें अध्याय के आठवें सूत्र की टीका में टीकाकार के शब्द हैं :

यदुदयात् देवादिगतिषु शरीर-मानस सुखप्राप्तिः तत् सद्वेद्यम्। यत् फलं दुखमनेकविधं तत् असत्वेद्यम्।

अर्थात् जिसके उदय से देव आदि गतियों में शारीरिक और मानसिक सुख प्राप्त हो, वह साता वेदनीय है और जिसका फल विविध प्रकार के दुःख हैं, वह असाता वेदनीय है। साता के उदय में धन, सम्पत्ति, संतति की प्राप्ति होती है, यह उपचरित कथन है, क्योंकि कर्म का संश्लेष सम्बन्ध आत्मा से है। उदय भी आत्मा में है। वह कर्म सुख-दुःख की सामग्री का संचय नहीं कर सकता। जीव उस सामग्री के संचय में सफल हो सकता है किन्तु इस प्रसंग में धवला भाग ६ सूत्र २८ में कुछ ऐसा ही प्रश्न उठाया है कि क्या वेदनीय जीव विपाकी की तरह पुद्गल विपाकी भी है ? उत्तर मे कहा गया है कि 'इष्ट है'। इस उत्तर के समर्थन में जो हेतु दिया है, वह विचारणीय है। उत्तर का समर्थन इस हेतु द्वारा किया गया है—'सुख-दुःख के हेतु द्रव्य के सम्पादन करने वाला अन्य कर्म नहीं है, इस हेतु से इसे पुद्गल विपाकी कहा'। विचार यह है कि पुद्गल विपाकी तो देह विपाकी है। उसका फल तो देह के आकार-प्रकार आदि पर होता है। सुख के साधन धन, स्त्री, पुत्र आदि पर नहीं होता। अतः पुद्गल विपाकी की अन्यत्र क्या-क्या व्याख्याएँ हैं, इन पर विचार करना सार्थक हो सकता है।

८. गोत्र कर्म की व्याख्या

आठवें अध्याय में बारहवें सूत्र की टीका में आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं :

यदुदयात् लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्। यदुदयात् गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्॥

जिसके उदय से लोक पूजित कुल में जन्म हो, वह उच्च गोत्र है तथा जिसके उदय से निन्दित कुल में जन्म हो, वह नीच गोत्र है। गोमटसार कर्मकाण्ड की व्याख्या यह है—'सन्तान क्रम से आया हुआ जीव का आचरण गोत्र कहलाता है। उच्च आचरण उच्च गोत्र है तथा नीच आचरण नीच गोत्र है। 'सूत्र की व्याख्या में पूजित कुल को उच्च गोत्र और निन्दित कुल को नीच गोत्र कहा गया है। पर गोमटसार में ऊँचे आचरण को उच्च गोत्र और नीच आचरण नीच गोत्र माना गया है। यहाँ कुछ प्रश्न उत्पन्न होते हैं :

१. लोक पूजित किसे माना जाय ?

२. लोक का क्या अर्थ है ?

३. निन्दित कुल किसे कहा जाय ?

४. सन्तान क्रम से तात्पर्य कितनी पीढ़ियों से सदाचार देखा जाय ?

५. देव, नारकी और पशुओं में कुल की व्यवस्था है, तब उनके गोत्र के लक्षण क्या बनाये जायें ? क्योंकि मूलाचार में कुल का लक्षण स्त्री-पुरुष संतान किया है।

उच्च गोत्र वाला नीच आचरण करके नीच गोत्रीय हो जाता है। उच्च गोत्र कर्म का सर्व संक्रमण होता है, पर नीच गोत्रीय उच्च आचरण करे, तो संक्रमण तो होगा पर सर्व संक्रमण नहीं होगा। तब व्याख्यायें कैसे बनेंगी ? इसी प्रकार संतान क्रम के सन्दर्भ में यदि अनादिकाल का सन्तान क्रम लिया जाय, तो किसी कुल के सदाचरण की परीक्षा कैसे होगी ?

●

अवधान-विद्या

अवधान-विद्या कोई जादू या बाजीगरी नहीं है। यह बहुत सहज साधना है और अभ्यास से सीखी जा सकती है। इसके लिये चित्त की एकाग्रता को साधा जाता है। इसके लिये मन की चंचलता को समझने की जरूरत है। चंचलता के कारण ही प्रश्न को ग्रहण करने की क्षमता भंग हो जाती है और स्मृति कमजोर हो जाती है।

अवधान का अभ्यास ध्यान पद्धति से किया जाता है। ध्यान की कई पद्धतियां हैं पर जैन परम्परा के अनुसार तेरापंथ धर्मसंघ ने प्रेक्षाध्यान पद्धति का विकास किया है। स्मृति की निरन्तरता ध्यान से आती है। इसके अनेक सूत्र हैं।

प्राचीन ऋषि और मुनियों को खगोलशास्त्र की गुत्थियों को सुलझाने के लिये लम्बी-लम्बी संख्याओं को याद रखने की जरूरत पड़ती थी। अवधान के माध्यम से ही वे ये संख्यायें याद रखते थे। लेखन और मुद्रण के विकास से अवधान की आवश्यकता कम समझी जाने लगी। इससे व्यक्ति की चेतना कुंठित होने लगी। तीर्थंकर महावीर ने स्मृति को चेतना का एक गुण माना है। भगवती और आचारांग में स्मृति के अवधान के अनेक सूत्र दिये गये हैं। ये अन्य जैन आगमों में भी मिलते हैं। भगवान् महावीर की वाणी को नौ सौ साल तक लिपिबद्ध नहीं किया जा सका। आचार्यों की अवधान साधना से ही वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखी जा सकी। यदि यह विद्या न होती, तो ज्ञान की महत्वपूर्ण परम्परायें विलुप्त हो जातीं और शोध के लिये परिकल्पनाओं का भी अभाव हो जाता।

अवधान-साधकों के अनेक रूप होते हैं। शास्त्रों में शतावधानी, पंचशतावधानी, सहस्रावधानी एवं लक्षावधानी साधकों का विवरण पाया जाता है।

आज के कंप्यूटर-युग में प्राचीन अवधान-विद्या एक विस्मयकारी साधना है। इससे अंक स्मृति, भाषा स्मृति, गणितीय पंचघात, मूल शोधन, सर्वतोभद्र यंत्र, समानांतर योग तथा स्मरण शक्ति के अनेक प्रयोग और समाधान अल्पकाल में ही किये जा सकते हैं।

मुनि महेन्द्र कुमार

वर्ण : पदार्थ का एक अभिन्न गुण

डा० अनिल कुमार जैन
सहायक निदेशक (आगार), तेल एवं प्राकृतिक गैस गैस आयोग, अंकलेश्वर ३९३०१० (गुजरात)

वर्ण : जैन दृष्टि

जैन धर्मानुसार सम्पूर्ण विश्व (लोक) छह द्रव्यों से मिलकर बना हुआ है। ये हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल। इन सबमें मात्र पुद्गल (पदार्थ) ही एक ऐसा द्रव्य है जो रूपी है, जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण, ये चार गुण पाये जाते हैं। यहाँ रूपी का अर्थ दृश्यमान ही नहीं है बल्कि रूपी का अर्थ है कि उक्त चारों गुणों का एक साथ होना। पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जिसे इन्द्रियों द्वारा पहचाना जा सकता है। अन्य पाँच द्रव्यों में उक्त चार गुणों का अभाव होने से वे अरूपी कहलाते हैं। चाहें पुद्गल स्कन्ध रूप हो या परमाणु के रूप मे हो, उपरोक्त चारों गुण उनमें अवश्य होंगे। यहाँ हम पुद्गल के वर्ण गुण की ही चर्चा करेंगें।

वर्ण पदार्थ का एक मूलभूत गुण है। वर्ण पाँच प्रकार के होते हैं—नीला, पीला, लाल, सफेद, काला। प्रत्येक भौतिक पिण्ड में इनमें से कम से कम एक वर्ण अवश्य होगा। मिश्रण के रूप में पदार्थ में एक से अधिक रंग भी हो सकते हैं। लेकिन ऐसा कोई पदार्थ नहीं हो सकता जिसमें कोई रंग न हो। परमाणु में भी पाँच रंगों में से कोई एक रंग अवश्य होगा ही। यदि हम इन रंगों के बारे में कुछ गहराई से सोचें, तो ये रंग अनन्त भी हो सकते हैं। उदाहरण के तौर पर एक परमाणु में एक इकाई कालापन या दो इकाई कालापन इत्यादि-इत्यादि, अनन्त इकाई कालापन तक हो सकता हैं। इस प्रकार रंग भी अनन्त प्रकार के हो सकते हैं। यहाँ पर एक बात ध्यान देने की यह है कि रंगों की तीव्रता अलग-अलग हो सकती है, लेकिन परमाणु का रंग इन पांच मे से कोई एक ही हो सकता है। लेकिन स्कन्ध का रंग उक्त पांच रंगों से अलग हो सकता है।

दो या दो से अधिक परमाणु आपस में मिलकर स्कन्ध बनाते हैं। परमाणु अलग-अलग रंगों के हो सकते हैं। पर स्कन्ध का रंग इन परमाणु के रंगों पर निर्भर होता है। अलग-अलग तीव्रता के परमाणुओं के रंगों के मिश्रण पर ही स्कन्ध का रंग आधारित होता है।

प्रकाश तथा रंग

आधुनिक विज्ञान रंगों की व्याख्या प्रकाश के तरंग सिद्धान्त के आधार पर करता है। वैज्ञानिक मैक्सवैल के अनुसार प्रकाश विद्युत-चुम्बकीय स्पेक्ट्रम का एक हिस्सा है। प्रकाश का संचरण तरंगों के रूप में होता है। ये सभी तरंगें प्रकृति में विद्युत-चुम्बकीय होती हैं तथा इनका वेग नियत होता है जिसका मान 3×10^{10} सेमी०/सेकिन्ड होता हैं। इस प्रकार, प्रकाश को इन विकिरणों के रूप में पारिभाषित कर सकते हैं जो कि आँख को प्रभावित करते हैं। दृश्य स्पैक्ट्रम की तरंग दैर्घ्यों की न्यूनतम तथा अधिकतम सीमा निर्धारित करना बहुत कठिन है, फिर भी वे लगभग 0·00043 मिमी० तथा 0·00069 मिमी० हैं। आँख इन सीमाओं के बाहर के विकिरणों को भी देख सकती है बशर्ते वे बहुत

अधिक तीव्रता वाले हों। इस प्रकार के बहुत से विकिरणों को विभिन्न उपकरणों द्वारा भी देखा जा सकता है। विद्युत चुम्बकीय विकिरणों के दृश्य स्पैक्ट्रम की प्रत्येक तरंग दैर्ध्य एक निश्चित रंग को प्रदर्शित करती है। जैसे-जैसे तरंग दैर्ध्य का मान बदलता है, रंग भी बदलता जाता है। न्यूनतम तरंगदैर्ध्य जिसे हम आँखों से देख सकते हैं वह बैगनी रंग को प्रदर्शित करती है तथा अधिकतम तरंगदैर्घ्य जिसे हम आँखों से देख सकते हैं वह लाल रंग को प्रदर्शित करती है। प्रकाश से मिलने वाले सामान्य प्रकाश में दृश्य क्षेत्र की सभी तरंगें विद्यमान होती हैं। जब यह प्रकाश किसी पिण्ड पर पड़ता है तो वह कुछ विकिरणों का अवशोषण कर लेता है तथा शेष को परावर्तित कर देता है। परावर्तित विकिरण हमारी आँखों तक पहुँचते हैं तथा उन परावर्तित विकरणों का जो सम्बन्धित रंग होता है उसका हमें आभास होने लगता है। वही रंग वस्तु का रंग कहलाता है। जब सूर्य का प्रकाश घास पर पड़ता है, तो घास हरे रंग को प्रदर्शित करने वाले रंग के विकिरणों को छोड़कर सभी का अवशोषण कर लेती है। केवल हरे रंग को प्रदर्शित करने वाले विकिरण ही घास से परावर्तित होकर हमारी आँखों तक पहुँचते हैं तथा हमें हरे रंग का आभास कराते हैं। यहाँ यह स्पष्ट है कि घास द्वारा हरे रंग के विकिरणों का परावर्तित करना तथा शेष सबों का अवशोषण कर लेना स्वयं घास का एक विशिष्ट गुण है। इस प्रकार रंगों के वैज्ञानिक विश्लेषण के अनुसार घास का हरा दीखना या गुलाब का लाल दीखना इस तथ्य पर आधारित है कि वे कौन-कौन सी तरंग दैर्घ्यों का अवशोषण करते हैं तथा किस-किस का परावर्तन करते हैं। अतः यह निश्चित है कि विभिन्न तरंगों का अवशोषण तथा परावर्तन वस्तु के स्वयं के आन्तरिक गुण पर आधारित होता है।

किसी वस्तु द्वारा किसी विशिष्ट तरंग के परावर्तन के कारण ही हमें वस्तु के रंग का पता चलता हो, ऐसा नहीं है। कभी-कभी वस्तु स्वयं में से भी कुछ विशिष्ट रंगों के विकिरणों को उत्पन्न (उत्सर्जित) करती है। उदाहरण के तौर पर, जब किसी वस्तु का ताप बढ़ाया जाता है, तो पहले वस्तु अवरक्त विकिरणों का उत्सर्जन करती है, फिर ताप बढ़ाने पर वस्तु का रंग क्रमशः लाल, पीला तथा सफेद होने लगता है। बहुत अधिक ताप बढ़ाने पर वस्तु का रंग नीला दिखाई देने लगता है, जैसा कि कुछ तारों का रंग होता है। यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि वस्तु का रंग क्रमशः परिवर्तित होता रहता है तथा वह उसके तापमान पर आधारित होता है।

क्वार्क तथा ग्लूआन के रंग

आधुनिक विज्ञान के अनुसार, क्वार्क तथा ग्लूआन पदार्थ के सबसे छोटे कण हैं। प्रत्येक पदार्थ इनसे मिलकर ही बना होता है। क्वार्क आवेशित कण होते हैं, जबकि ग्लूआन आवेशरहित कण होते हैं। ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक बेरिआन तीन क्वार्कों से मिलकर बना होता है। इन क्वार्कों की ऊर्जाएँ समान होती हैं तथा प्रचक्रण की दिशा भी समान होती है। लेकिन सैद्धान्तिक रूप से समान ऊर्जा वाले तथा समान प्रचक्रण की दिशा वाले तीन क्वार्क एक साथ रह नहीं सकते हैं। अतः बेरिआन का बनना असम्भव है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए यह माना गया कि क्वार्क तथा ग्लूआन का कुछ न कुछ रग अवश्य होता है। यह रंग नीला तथा लाल में से कोई एक होता है। इस प्रकार एक बेरिआन के तीनों क्वार्क समान ऊर्जा तथा समान प्रचक्रण की दिशा वाले तो होते हैं. लेकिन उनके रंग अलग-अलग होते हैं। यह प्रायोगिक तौर पर भी देखा जा चुका है कि क्वार्क तथा ग्लूआन में लाल, पीला तथा नीला में से कोई एक रंग अवश्य होता है।

क्वार्क की तरह ही प्रति क्वार्क भी होते हैं। प्रति क्वार्क का रंग भी प्रतिरंग होता है। जब एक क्वार्क किसी प्रतिरंग के प्रतिक्वार्क के संयोग में आता है, तो एक मेसॉन बनता है। यह मेसॉन रंगहीन होता है। मूलभूत कणों-क्वार्क तथा ग्लूआन के रंगों की व्याख्या करने के लिए एक नये गतिकी सिद्धान्त का प्रतिपादन भी किया गया है, जिसे 'प्रमात्रा रंग गतिकी' कहते हैं।

कुछ महत्वपूर्ण पहलू

संक्षेप में, रंगों (वर्णों) के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) रंग पदार्थ पदार्थ का एक मूलभूत (अभिन्न) गुण है, तथा (२) ये रंग पाँच प्रकार के होते हैं। अब हम इन दोनों तथ्यों को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्या करें। यह सर्व विदित है कि संसार में बहुत सी ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके कोई रंग नहीं होता। उदाहरण के तौर पर, अच्छे किस्म का काँच (ठोस), आसवित जल (द्रव) तथा वायु (गैस) रंग विहीन होते हैं। तब हम यह कैसे कह सकते हैं कि रंग पदार्थ का अभिजान्य गुण होता है? इस प्रकार के पदार्थों में रंगों के अस्तित्व की व्याख्या करने के लिए हमें मूलभूत कणों के गुणों के बारे में विचार करना होगा। क्वार्क पदार्थ का सबसे छोटा कण माना जाता है। हम इसे अपनी आँखों से नहीं देख सकते हैं, लेकिन आधुनिक विज्ञानानुसार प्रत्येक क्वार्क का कुछ रंग अवश्य होता है। जब हम क्वार्क को ही नहीं देख सकते, तब उसके रंग का देख पाने का तो कोई प्रश्न हो नहीं है। तब 'क्वार्क का रंग लाल है', ऐसा कहने का हमारा तात्पर्य क्या है? यह कहने से हमारा तात्पर्य यह है कि लाल क्वार्क हमेशा इस आवृत्ति से कम्पन करता है जो कि लाल रंग को प्रदर्शित करते हैं। लेकिन इस आवृत्ति से सम्बन्धित तरंग दैर्घ्य की तीव्रता इतनी कम होती है कि हम उसे देख नहीं सकते हैं। एक बात यह और कि जब एक रंगीन क्वार्क एक प्रतिरंग के प्रतिक्वार्क से मिलता है तो रंगहीन मेसॉन बनता है। इस प्रकार रंगीन क्वार्क रंगहीन मेसॉन का निर्माण करते हैं। यहाँ हम यह मान सकते हैं कि क्वार्क परमाणु का ही एक रूप है तथा मेसॉन सबसे छोटा स्कन्ध है। अतः विज्ञान के अनुसार, परमाणु (क्वार्क) हमेशा रंगीन ही होता है लेकिन स्कन्ध (मेसॉन, आदि) रंगीन भी हो सकते हैं तथा रंगहीन भी हो सकते हैं। अत; हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रत्येक वस्तु बहुत सारे रंगीन परमाणुओं से मिलकर बनी होती है। इस अपेक्षा से रंग पदार्थ का एक मूलभूत (अभिन्न) गुण है। लेकिन यहाँ हमको यह मानना होगा कि यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक स्कन्ध (वस्तु) रंगीन ही हो।

दूसरा मुद्दा जिस पर विचार करना आवश्यक है, वह यह है कि लोक में कुल कितने रंग उपलब्ध है या यूं कहें कि पदार्थ में कुल कितने रंग होते हैं? जैन धर्मानुसार रंग पाँच प्रकार के होते हैं। लेकिन आधुनिक विज्ञान के अनुसार ऐसा नहीं है। विद्युत-चुम्बकीय स्पेक्ट्रम के दृश्य क्षेत्र को प्रत्येक तरंग दैर्घ्य किसी न किसी रंग से अवश्य सम्बन्धित होती है। यदि तरंगदैर्घ्य में थोड़ा-सा भी परिवर्तन आ जाये तो रंग भी बदल जाता है। इस प्रकार, रंग कई प्रकार के हो सकते हैं। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि रंग जई प्रकार के होते हैं। तब हम इस बात की पुष्टि कैसे करें कि पदार्थ के पाँच रंग ही होते हैं? सर्वप्रथम हमें रंगों को दो भागों में विभक्त करना होगा—(१) प्राथमिक (मूल) रंग, तथा (२) व्युत्पन्न रंग। मूल रंग कुल पाँच प्रकार के होते हैं। व्युत्पन्न रंग बहुत से हो सकते हैं। जब हम यह कहते हैं कि वस्तु का रग पाँच मूल रंगों से भिन्न है, तब यह हो समझना चाहिये कि उस वस्तु का रंग इन पाँच मूल रंगों के विभिन्न अनुपात में मिलने से हा बना है। पाँच रंगों के अस्तित्व को पुनः क्वार्क के रंगों की व्याख्या के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। क्वार्क का रग तीन रंगों में से कोई एक होता है। यदि हम क्वार्क को परमाणु का ही रूप मानें तो, विज्ञान के अनुसार प्रत्येक परमाणु (क्वार्क) का रंग तीन में से कोई एक हो होगा। ये तीन रंग नीला, पीला तथा लाल हैं। लेकिन स्कन्ध के कई रंग हो सकते हैं। स्कन्ध का रंग उसमें निहित परमाणुकों के रंगों पर आधारित होता है। लेकिन अभी समस्या का पूर्ण हल नहीं हो पाया है। जैन धर्म के अनुसार मूल रंग तीन नहीं, पाँच होते हैं। शेष दो रंग सफेद तथा काला हैं। विज्ञान के अनुसार 'किसी वस्तु का रंग सफेद है' यह कहने का तात्पर्य यह है कि वह वस्तु दृश्य क्षेत्र के सभी विकिरणों का परावर्तन या उत्सर्जन करती है। इसी प्रकार, किसी वस्तु का रंग काला है, यह कहने का तात्पर्य यह है कि वह वस्तु दृश्य क्षेत्र के सभी विकिरणों का अवशोषण कर लेती है। हम यह कह सकते हैं

कि सफेद अथवा काला रंग नहीं हैं बल्कि वस्तु का कुछ विशिष्ट लक्षण है। अतः उपचार से हम कह सकते है कि सफेद या काला भी रंग होता है।

जब सूर्य से आने वाला सफेद प्रकाश प्रिज्म में से गुजरता है, तो मुख्यतः सात रंगों का स्पेक्ट्रम दिखाई देता है। तब ये सात रंग पाँच रंगों से भिन्न हुए। प्रकाश स्वयं एक स्कन्ध है। अतः जो कुछ हम देखते हैं, उसका माध्यम स्कन्ध है, न कि परमाणु। जब हम विभिन्न रंगों को देखने की बात कहते हैं, तो उसका मतलब स्कन्ध के रंगों से ही है। ये स्कन्ध प्रकाश के रूप में वस्तु से परावर्तित होकर हमारी आँखों तक आते हैं तथा हमें रंगों का आभास कराते हैं। स्कन्ध का रंग उसके विभिन्न परमाणुओं की विभिन्न तीव्रताओं का परिणाम है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि पदार्थ के सबसे सूक्ष्म कण-परमाणु का रंग तीन रंगों में से कोई एक अवश्य होता है। ये रंग नीला, पीला तथा लाल हैं। दो रंग—सफेद तथा काला उपचार से कहे गये हैं। लेकिन स्कन्ध का रंग इन पाँच रंगों से भिन्न हो सकता है, वह उसके विभिन्न परमाणु के रंगों पर आश्रित है। अतः जैनधर्म में पुद्गल (पदार्थ) के रंगों के बारे में जो कुछ कहा गया है, वह परमाणु की अपेक्षा ही सही है; स्कन्ध की अपेक्षा से नहीं।

●

सभी जीवों को अपनी आयु प्रिय है,
सभी सुख चाहते हैं और दुःख से घबड़ाते हैं।
सभी को बध अप्रिय है और जीवन प्रिय है,
सभी जीना चाहते हैं॥

ज्ञानी होने का सार यही है,
किसी प्राणी की हिंसा न करो।
इतना ही जानो कि
अहिंसा और समता ही धर्म है॥

●

Jain Theory of Skandhas or Molecules

N. L. JAIN

Jain Kendra, Rewa (M. P.)

Skandha : Definition of a Specific Term

Primarily, the postulate of two classes of mattergy-anu (atom) and skandha (molecules) based on basic conceptual structure of matter is most important among the many classifications. The molecules of the current times are now equated to skandhas. They are comparatively gross and percievable. They could therefore be studied and described in an intelligible way. They are treated first in preference to finest anus or atoms. They are like trunk of a tree supporting the material universe.

The term skandha is a typical and specific term in Jaina philosophy representing a unit of matter different from atoms but composed of them. The scriptures define the term quite clearly with the following points :

(i) Molecules are aggregates or combination of atoms.[1] They are nonnatural modifications dependant on otner objects.[2]

(ii) They are gross and fine in forms. Some of them are visible to the eye while others may not be visible.

(iii) The molecules in the matter are in a state of motion caused internally or externally.[3]

(iv) They can be taken by hand, recieved or bonded with others and handled as desired.[4]

(v) There are smaller molecular entities too like those formed from aggregation of two atoms. They may not be satisfying (iv) above, still by interpolation, they ara also called molecules-of course fine ones.[5]

(vi) They are characterised by the sound, bonding, division, fineness, grossness, shape, darkness, shadow, sunshine, moonlight, motion and touch, taste. smell and color etc.[6]

(vii) There are infinite number of molecules. They can be classified in many ways.

(viii) They are produced by association, dissociation and a mixed process., The sense percep tible ones are produced by lhe mixed process.[7]

---

1. Kundkund, Acharya; *Panchartikaya*, Bhartiya Gyansith, Delhi, 1975, p. 65-70
2. Ibid; *Niyamsara*, Jain Publishing House, Lucknow, 1931, p. 15
3. Nemchand, Chakravarti; *Gommatsar Jivkanda*, Raichand Granthmala, Agas, 1972, p. 267
4. Jain, S. A.; *Reality*, Vir Shasan Sangha, Calcutta, 1960, p. 151-54

5-7. ibid, p. 150, 51, 54

(ix) Those molecules are supposed to be embodying all characteristics of the piece of matter to which they belong.

(x) They are active and may be transformed or moditied in various ways.

The Budhists have one word for matter-rupa-consisting of two varieties-primary elements or mahabhutas and secondary elements or utpad rupa- Both of them are called Rupa-skandhas consisting of atoms and molecules. However, the Budhist's atoms, combined atoms, or primary elements are equivalent to Skandhas of the Jainas as they are made up of 7-10 small constituents. Thus, for them, matter is nearly molecular. The utpad rupas have been described to be fifteen, sixteen or twentyfour in number all molecular spacies.[8] The Vaisheshikas postulate atomic theory but they do not have a seperate or common term for atomic aggregations. Those are called effects by them, their nomenclature depending on the number of atoms participating in aggregation like diatomic, triatomic etc.[9] The composite-constituent concept of inferential nature in this connection has been discussed by Prabhachandra.[10]

Current scientists have the term molecule for atomic combinations. However, the molecules are chemically bonded in contrast to many physically bonded atomic aggregates. The Jain term Skandha includes, however, both types of bonding-physical and chemical as well. The current exemples may be mixture of inert gases in air, molecules of hydrogen or oxygen elements or water. The skandhas, thus, include all types of aggregation of elements, molecules, compounds or mixtures. This Jain term is, therefore, more general than the term molecule of the scientists. These molecules have the capacity, however, to get dissociated into its constituents.

Classification of Skandhas

The Skandhas are innumerable. The scholars felt the need of classifying them for their proper studies. They have been classified in many ways. The first classification consists of their two varieties-gross and fine, sense pesceptible or otherwise. This is based on commonsense view. The other classifications are based on that of matter as such and summarised *in Table 1*. They are not illustrated except in the fourth one where the criteria of eye-perceptibirty has produced a discrepancy in current terms pointed out by Jain[11] and Jain.[12] There is one more point regarding the illustrative meaning of the

8. Chaudhuri, A.; 'Concept of Matter in early Budhism' in KCS Fel. Vol., Rewa, 1980, p. 426
9. Prashastpada, Acharya, *Preshastpada Bhashya*, Sanskrit Univ., Kashi, 1977, p. 78
10. Prabhachandra, Acharya, *Prameykamal Martand*, Nirnaysagar Press, Bombay, 1941, p. 605-19
11. Jain, N. L.; Amar Bharti, 1985
12. Jain, A. K.; Tulsi Pragya, Ladnun, 12, 4, 1987; p. 40

sixth category of fine-fine class. Kundkund illustrates it with finer particles than karmic aggregates. Javeri supports it by saying that action particles are made up of innumerable number of ideal atoms. He means that even this type of aggregate will be finer than the fifth category. This may include dyads, triads etc. However, Jain[13] illustrates it by the current atomic constituents like neutrons etc. However, because of aggregate, it will be skandha or molecule in Jainological terms. This will be approximately 10^{-13} cm. in size according to Yativrishabh-a size representing the current nuclear size.[14] This suggests that Jain's illustration should be taken meaningful. This, however, creates another problem in explaining the various properties of canonical atoms to be discussed seperately. Jain and Sikdar[15] have made a basic mistake in assuming the sixth category as atomic despite the "Khandha hu Chhappayara" statement of Kundkund. This should be rectified and the resultant discussion be modified accordingly.

Table 1. Various Classifications of Skandha or Molecules by Jainas

No.	Classes	Names
1.	2	Gross and Fine
2.	3	Seandha, Skandhdesa, Skandhapradesha
3.	3	Transformable by internal, external or mixed causes
4.	6	Gross-gross, Gross, Gross-fine, Fine-gross, Fine, Fine-fine
5.	23[8]	23 Varganas (detailed later)
6.	530[16]	With respect to five qualities as primary and secondary (detailed later)

The second classification is based on matter in general where three out of four varieties should be Skandhas. Accordingly, the canonical sizes should be leas than one-fourth the size of a skandha. Here, one is unable to guess about the meaning of skandha whether it is diatomic or polyatomic. If it is diatomic, the skandhdesa will be atomic and fhe third class will be sub-atomic. In other words, the canonical atom should be divisible which seems undesirable. This suggests the Jain's illustrative equations of these terms are not correct. Javeri, on the other hand, takes a real view of defining skandha with grosser bodies and the other terms being its conceptual divisions and skandha by themselves. The skandhapradesha, in this way will mean a single molecule of an element or compound consisfing of number of atoms possessing the preperty of the skandha itself. The other classifications have already been described elsewhere. They seem to be more philosophical than scientific.

---

13. Jain, G. R.; *Cosmology, Old and New*, Bhartiya Gyanpitha, Delhi, 1975, p. 65
14. Yativrishabh, Acharya, *Tilloypannatti*, Jivraj Granthmala, Sholapur, 1955, p. 13
15. Sikdar, J. C.; *Concept of Matter in Jain Philosophy*, PVRI, Varanasi, 1987
16. Shyama, Arya, Vachak; *Pragyapana Sutra-1*, AP Samiti, Beavar, 1983, p. 31
17. Javeri, J. S., *Atomic Theory of Jainas*, Jain Vishwa Bharti, Ladnun, 1975

Methods of Formation of Molecules or Skandhas

The formation of molecules takes place by combination or aggregation of atoms according to the theory of Bonding proposed by the Jainas and discuased elsewhere[18]. When small number of atoms combine, they form sense-imperceptible molecules. When many atoms or molecules combine, they form gross molecules. It is stated in literature that combination takes place by three methods[19] :

(i) By division or dissociation of molecules of bigger size to smaller ones.

(ii) By association or sharing of atoms together.

(iii) By a mixed process of association and dissociation.

The dissociation may take place by internal or external causes as in radioactivity or process of ionisation. We also know today that it may also take place thermally, by application of pressure or bombardment. It is said that these methods are akin to the three types of valency or bonding of current science subject to certain modified version of traditional opinions.

Umaswami and Pujyapad[20] have pointed out that sense-perceptible molecules are formed by the mixed method of association and dissociation. The latter has illustrated this point by saying that a fine molecule may be split and its parts may combine with other bigger molecules to form a gross molecule. However, Shastri[21] has raised a point whether Umaswami's aphorism should mean a mixed process or two individual processes. Grammatically, the dual number in the aphorism should mean two processes rather than a single one, otherwise, there should be singular number in the aphorism. There must be some specific aim in this composition the commentarians have not elaborated. However, it is quite common to have visible molecules by combination of atoms or fine skandhas. Shastri seems to be right to seek how division as a single process can yield gross molecules. There are, however, a number of examples today to prove this. Sulfur Dioxide or Carbon Dioxide are canonically invisible gases and they, on thermal or electrical decomposition, give solid visible sulfur or carbon skandhas. Jain[22] has exemplified these processes by formation of hydrochloric acid and ionisation of air representing combination and division respectively. Hence visible skandhas are formed bothways and the corresponding aphorism should mean two individual processes. However, examples of molecular formation by combination of the two processes are also available. Thus, aphorism concerned seems to be superfluous in view of aphorism "Bhed—Samghatebhyah Utpadyante". This point requires closer examination.

18. Jain, N. L.; *Chemical Theories of Jainas,* Chymia, 11, 1, 1961, p. 11
19. Jain, G. R.; see ref. 13 p. 140
20. ibid. p. 146
21. Shastri, JML; *Jain Shastron main Vaigyanik Sanket,* This vol., p. 228
22. See ref. 13 p. 146

Conditions for Formation of Skandhas or Molecules

Normally, the various types of motions of the molecule-forming atoms are elastic in nature. They are not only irregular but they are non-bonding also. This poses a problem as to how the bonding takes place and molecules are formed. This may be assumed that the bonding takes place due to contact and collisions among the stoms and bonding entities. The contact may be partial or whole. It is said that the contact by whole leads to homogeneous molecules like milk-water and hot iron. But, of course, only contact does not lead to molecular formation, it must be forcefully colliding and bond forming. There is collision, but it may lead only to change in speed only[23]. Different atoms combine when there is sufficient difference between the velocities of the combining atoms. This could be either internal or induced. This causes inelastic collision leading to bonding.

Besides contact and bonding collision, difference in the nature of the bonding atoms (positive or negative) also plays an important part in bonding. This causes natural bond. This could also be formed in presence of metallic catalysts like containers and microorganisms and changes in conditions like temperature (and nowa-days pressure too). The production of natural sparks, burning of planets, eruption of volcanoes are examples of natural bonding. Formation of clouds, rainbows, hailstorms, lightning etc are also other forms in which molecules are formed though they represent physical aggregation in most cases. Thus, we have physical, physico-chemical and chemical bonding molecules under different conditions. We thus find that the conditions of bonding mentioned in literature are nearly the same as are known today to every High school student. However, many more agents like light etc. are now available for this purpose.

Functions of Molecules or Skandhas

The molecules have three major functions to perform. The first is physical or physico-chemical. The molecules of our body, mind and other organs are there for proper functioning of our life. Current scientists have found the basic unit of the living as protoplasm which has a company of molecular structures including nucleic acids. But how this company of non-living molecules bring about life ? This is the problem and a dividing line between science and philosophy.

The second function of the molecules may be taken as spiritual or suprasensual. The living beings have feeling of pleasure, pain etc. These depend on physical environment and changes therein which is all molecular. These actually effect the sensing system of our bodies leading to the corresponding sensations. These environments are very fine and consist of even the karma particles. Besides, our own actions and their effects also lead to a variety of reflex actions and reactions producing characteristic aura around the body. Thus, the molecules not only create our lives, but they effect its course also indirectly.

23. See ref. 3 p. 267

All our tendencies towards better thoughts and actions are governed by the quality of karma molecules getting in and out of bodies. We require better type of molecules for better lives.

The above functions are related with our lives directly. However, the most important aspect of skandhas is their capacity to maintain, modify and form newer and changed objects of different types of molecules. This capacity is the base for development of modern amenities. The purification of water by alum, production of butter from milk, purification of metals by borax and alkalis-are examples of utilitarian changes of chemical nature. The capacity of skandhas has been studied by the scientista extensively and as a result, we have a world full of entertaining materials. Could we say these materials will not lead to our spiritual development ?

Bhagwati and Umaswami mention the six embodiments (earth to trasa kaya), five bodies, speech, mind and respirations as the effects of Skandhas. They also mention 14-16 manifestatins of skandhas with some variations with Uttaradhyayan, 16[24] and Umaswami, 14[25]. These consist of some physical energies and some properties in which changes are observable. They are discussed under the physical contents.

Properties of Skandhas

All fine and gross skandhas have all the general and special properties of matter. There are eight general and six specific properties. The have already been described, Besides, it may be mentioned that each molecule has cohesive or adhesive force inherent in it so that it could combine with its own or different type. There is a variety of action, or motion including rotation, vibration and translation. Translatory motion has highest force for chemical bonding. There are some technical terms used in this connection like Parispand and Parivarta etc. which have been explained by Sikdar.[26]

Description of Specific Skandhas

The finite variety of Skandhas can be seen to exist in four specific forms-earth, water, air and fire. Kundkund mentions them as dhatus. The four mahabhutas of the Buddhas and four types of basic atoms of Vaisheshikas remind us some conceptual similarity. It may be suggested that they represent the various states of matter rather than the specific skandhas. Thus, the earth represents the solids, water the liquids, air the gases and fire the various forms of energies. This statement is supported by the fact that the seers have enumerated a variety of earth ranging between 21-40. However, this becomes a little

---

24. Sadhwi Chandanaji (ed & tr.); *Uttaradhyayan*, Sanmati Gyanpith, Agra, 19/6, p. 380
25. See ref. 13, p. 122 and 130
26. Muni Nathmal; *Dashvaikalika : Ek Samikshatmak Adhyayan*, S. T. Mahasabha, Calcutta, 1967, p. 113

doubtful when one finds that they have classified water, air and fire only in their naturally occurring forms. How they could overlook the enormous variey of liquids like oil, butterfat, asavas etc. and gases is a matter of surprise and clarification. Another fact stated in canons is that all these skandhas are termed as living during their growth and development.[26] Their hardness or adhesiveness has been taken as sign of livingness. However, they turn nonliving when heated or cut. We will describe them as in canons.

The Earth

The earth, representing the class of solids, is characterised by different degree of hardness. It has valuables under and over it. Acharang[27] and Mulachar[28] have classified the earth in the first instance followed by others later. The description is based on its assumption of being one sensed. It has been classified in four categories of earth, earth body, earth creature and earth soul. Out of them, the first and second are clearly non-living, the third has been called living because of its being substratum for living entities. it is nonliving. The fourth variety seems to be only living about which no clarification is available. Currently, it is debatable whether living charactaristics apply to earth as a class. However, it has been shown to have many types.

The earliest earth classification is traceable in Dashvaikalika (i. e. 427 B. C.). It mentions only three types—bhiti, shila and binding materials. Later on these types have been expanded. Scriptures mention its two broad types-soft and hard. The soft one has five or seven coloured varieties as shown in Achgrang and Prgyapana :[29]

A : Red, green, yellow, white, black earths.

P : Red, green, yellow, white, black, pandu and panak earths. Perchance these refer to various colored soils found in nature. The hard types are shown in Table 2 as found in literature. Though there seems to be a large amount of similarlty in these types, still some addition and deletions forecast many informations. The Acharang earths contain all solids, the 14 gems being additional to the list totalling 35. In the second classification of about 250 year later, not only gems get included in the list but their number also increases from 14 to 18. Moreover, Mercury is also added to metals, This is an exception to the class of solids. This suggests that mercury was discovered or put to use between 300-500 B. C. Though Santisuri follows Pragypana, but it has curtailed the number to 21 by condensing the gems to 3 types and seven metals to one type. Some new substances like chalk and soda have also been added with the exclusion of diamond and pebbles etc. Amrit Chandrasuri[29a] follows Mulachara with 21 substances and 15 gems making 36 earths. It

27. Shantisuri, Jiv *Vichar Prakarnam*, Jain Mission Society, Madras, 1950, p. 23-25
28. Battker, Acharya; *Mulachar-1*, Bhartiya Gyanpitha, Delhi, 1984, p. 177
29. See ref. 16 p. 38

excludes mercury and soda but includes copper sulfate. The last two classifications add pewter in metals which is actually an alloy. Amritchandra Suri has made the Masargalla variety into two varieties.

On Chemical examinton of these various earths, it is seen that they contain elements, compounds, minerals, mixtures and gems known during different canonical periods. The earths are said to be the carrier of a variety of valuables. Dashvaikalika mentions 24 valuables including some trees and medicinal plants but excluding cereals and pulses.[30]

Gold has an important status among all the solids, used for coins, ornaments and medicines. It is antipoison and all proof. Its purity is judged by heat resistance, beating, rubbing and drilling. It was assumed that when lead was converted into gold, many factors including vital force worked. It is obtained by heating its ore with salt and borax. Other metals are also obtained similarly. Artificial gold has also been mentioned in Niryuktis.[31] Tempering is one of the ways to improve the quality of iron. Descriptions about other earths or metals is not available in canons.

The above description about solids seems to be quite small and incomplete when compared with the current knowledge. Still it proves the ancient scholars did observe what was existing. The Vanisheshikas[32] have only three types of earth-soils, stones and minerals and immobiles (vg kingdcm). The Jainas do not have this last categoy. Table 2 suggests Jainas advancement over Vaisheshikas in this regard. The Buddhists have not much to offer in this matter.

The Water Class

Like earth, water represents liquid skandhas. They are divided in two classes-fine and gross. No examples of fine variety are available. However, gross water could be of three types-paniya (water), pan (alcohols) and panak (Medicinal Waters). Fludity is the chief characteristic of this class. Ordinary water has two variety-overground and underground. They have been subclassified in different agamic periods as shown in Table 3. The Pragyapana gives the best classification with 16 varieties of water liquids including all the three major varieties. Mulachara and Amritchandra have nothing special. Shantisuri has seven varieties on which earth rests. There are two types of creatures found in water-air bodied and waterbodied.[33] The normal water is purified by boiling or by using alum. It is said that the ascetics should use the water cooled after heating. The pure water becomes substratum for microrganisms when kept for 12-24 hours. Fermented or lemon waters are acidic which increases on keeping them longer due to further fermentation

30. See ref. 36 p. 177
31. See ref. 36 p. 224
32. See ref. 9 p. 89
33. See ref. 26 p. 117

Table 2. Various Types of Earths

	Uttare dhyayan	Acharang	Moolachara, Tattwarthsara	Pragyapana	Shantisuri
	40	35	36	40	20
1.	Soils	Solis	Soils	Soils	Soils
2.	Stones	Stones	Soils	Stones	Stones
3.	Slabs	Slabs	Slabs	Slaba	...
4.	Pebbles	Pebbles	Pebbles	Pebbles	...
5.	...	...	...	Kirelak	...
Metals					
6.	Iron	Iron	Iron	Iron	Gold etc.
7.	Copper	Copper	Copper	Copper	
8.	Lead	Lead	Lead	Lead	
9.	Silver	Silver	Silver	Silver	
10.	Gold	Gold	Gold	Gold	
11.	...	...	...	Mercury	Mercury
Alloys					
12.	Pewter		Pewter	Pewter	...
Non-metals					
13.	Diamond	Diamond	Diamond	Diamond	...
Mineral/Compounds					
14.	Salts	Salts	Salts	Salts	Salts
15.	Usham	Usham	Usham	Usham	Soda/Sulfate
16.	Yellow Orpiment	Yellow Orp.	Yell. Orpiment	Yell. Orpiment	Yellow Orp.
17.	Vermillion	Vermillion	Vermillion	Vermillion	Vermillion
18.	Realgar	Realgar	Realgar	Realgar	Realgar
19.	Ant. Sulfide	Ant. sulfide	Ant. Sulf.	Ant. Sulfide	Sauviranjan
20.	Mica	Mica	Mica	Mica	Mica (5 color)
21.	Sand	Sand	Sand	Sand	...
22.	Fine sand	Mica sand	Micasand	...	Sand
23.	...	...	...	Chalk	...
24.	...	...	Coppersulfate	...	...
Natural Substances					
25.	Coral	Coral	Coral	Coral	Coral
Gems					
26.	Gomed	Gomed	Gomed	Gomed	...

27.	Ruchak	Ruchak	Ruchak	Ruchak	Gems
28.	Sphatik	Sphatik	Sphatik	Sphatik	Sphatik
29.	Lohitaksha	Lohitaksha	Lohitaksha	Lohitaksha	Jewels
30.	Market (Nil)	Markat	Bappak	Markat	...
31.	Nasargalla	Masargalla	Masargalla	Masargalla	...
32.	Bhujmodak	Bhujmodak	Bhujmodak	...	...
33.	Anka	Anka	Anka	Anka	...
34.	Indranil	Indranil	Indranil	Moch or Nil	...
35.	Chadraprabh	Chandraprabh	Chandraprabh	Chandraprabh	...
36.	Vaidurya	Baidurya	Vaidurya	Vaidurya	...
37.	Jalkant	Jalkant	Jalkant	Jalkant	...
38.	Surykant	Surykant	Suryakant	Surykant	...
39.	Chandan		Chandan	Chandan	...
40.	...	Manikant	...	...	...
41.	Gairik	...	Gairik	Gairik	...
42.	Pulak	...	Pulak	Pulak	...
43.	Saugandhik	...	Sangandhik	Saugandhik	...
44.	Hansgarbh	...	Hansgarbh	Hansgarbh	...
45.	...	...	Pandurang	...	...
46.	...	...	Ruchakank	...	...
47.	...	...	Pushprag, Bak	...	...
48.	...	...	Ruchakanka		

Table 3. Various Types of Water in Jain Canons

Uttaradhyayan 5	Dashvaikalika 5	Mulachara Tattwarthsara 6	Pragyapana 21	Shantisuri 7
Overground Waters				
Dew	Dew	Dew	Dew	Dew
Ice	Ice	Ice	Ice	Ice
Mist	Mist	Mist	Mist	Mist
Hails	Hails	Hails (solids)	Hails	...
Waterdrops on greengrass	Waterdrops on gr grass	Waterdrops on gr grass	Waterdrops on gr grass	Waterdrops on grass
Underground Water				
Udak	Udak	Udak	Pure Udak	Rain water
...	...	...	...	Dense water
...	...	...	...	Water, well, river etc.
...	...	...	...	
...	...	...	Cold	...

...	...	...	Hot (spring)	...
...	...	..	Alkaline	...
...	...	...	Slight acidic	...
...	...	...	Acidic	...
...	...	...	Salt/sea water	...
...	...	...	Wine (Varun) water	...
...	...	...	Milk (Kshira) water	...
...	...	...	Butter (ghrit) water	...
...	...	...	Sweet (cane) water	...
...	...	...	Rasodaka	...

where alcohol or vinegar is produced. These waters should not be used as common drinking waters. The Pragyapana description about the sources of water are quite statisfactory. But they describe only solid and liquid water. The gaseous water does not find any mention.

The old litrature does not contain much about alcohols and medicial waters. This forms the subject of other faculties. However, it has been pointed out that they should not be used for better health and spirits. Amritchandra has described alcohol as a source of many microorgenisms and it causes intoxication and idleness.[34] Butter is also produced by a similar process. One does not have much discription about liquid oils. However, butter and oils form a class of liquids which are water insoluble. Many other liquids are water soluble. They are discribed to some extent in Ayurvedic texts.

It seems from the above that there were three types of liquids in use in olden times. The number of liquids is enormous today. Their properties vary. The earlier discription of general properties show that quite a good number of properties of liquids are found in cannons. The Vaisheshikas[35] have sea, river, dew and ice water with many other varieties not mentioned. This is much less than what is discribed in Jain literature. The Buddhas have also a similar case as with the earths.

The Air or Gaseous Skandhas

As earlier, the air should represent the gaseous class of sustances. They move obliquely. Formerly only colorless gases might be known which could not be visible to the eye but other senses could sense them by their blowing, flowing or smell. It seems, however, that no other gas except air was known in canonical periods. That is why only various types of air are discribed in this category. The earths and water fare a little better in this regard.

34. Amritchandra Suri; *Purusharthsidhyupaya*, D. J. S. N. Trust, Songarh, 1978, p. 61
35. See ref. 9 p, 96

Air has been classified diffrently in different periods as shown in Table 4. The Dashvaikalika classifies it in seven types-a common sense view. But there is a peculiarity. Air from mouth is also included in it which is now taken as chemically different from normal air in the sky. Other airs may be called non-violent airs or breezes. Pragyapana has a better classification of air consisting of seventeen varieties depending on direction, valocity, action or physical state. Shantisuri has eight varieties which include air from mouth and some other Pragyapana varieties. It has excluded all directional winds. Battaker and Amritchandra have seven varieties excluding mouth air. All these categories do not include air from nose without which our life would be in danger. Perchance, this could be taken as included in mouth air though it is compositionally different. Of course, if the concept of Pranas as substance is taken, respiration may include it.

Some properties of air find mention in canons. It has been said tha air helps combustion while whirlwind obstructs it.[36] It is inhaled and exhaled by the body. Its material or molecular nature can be proved by its obstruction or subjugetion.[37] Bhagwati

Table 4. Various Types of Airs in Jaina Canonons

	Uttara dhyayan 6	Mulachara, Tattwarthsara 7	Pragyanana 19	Shantisuri 8	Dashvai-Kalika 7
	Wind blowing	Wind blowing	Wind blowing	Wind blowing	Fan air
(i)	Upwards	Upwards	Upwards	Upwards	Leaves air
(ii)	Downwards	Downwards	Downwards	Downwards	Air, breeze
3.	Whirlwind	Whirlwind	Whirlwind	Whirlwind	Air, cloths
4.	Singing air	Singing air	Singing air	Singing air	Air, hand
5.	Dense air	Dense air	Dense air	Dense air	Air, feather
6.	Breeze, pure air	Breeze	Breeze	Breeze	Air, mouth
7.	—	Rarified air	Rarefied	Rarefied air	—
8.	—	—	Air from mouth	Air from mouth	—
9-16.	—	—	Air of 8 directions	—	—
17.	—	—	Stormy air	—	—
18.	—	—	Air Destructive	—	—
19.	—	—	Wind in waves	—	—

36. Kundkunda, Achary; *Ashtpahud*, Jain Sansthan, Mahavirji, 1970, p. 442
37. See ref. 4, p. 146

mentions its property of expansion and contraction. There are many types of microorganisms in air. Their properties have come to science quite late in Pasteur's time.

Though air is skandha, but there is no mention whether it is a mixture or compound. The canons contain meagre physical or chemical properties of it. It is now known that there are many gases besides air-some colored and others colorless. They could be liquefied and solidified. They could be put to large number of uses.

The Vaisheshikas[38] also have obliquely moving air which is recognised by touch and inferred by a-hot-a cold touch, production of sound and vibrations and by causing lighter bodies to float in sky. Despite mentioning its innumerable varieties, they have pointed only inhaling and exhaling air present in all parts of the body. Its obstruction has also been mentioned. It is said that it causes biochemical processes to proceed and the body to run-a fact not mentioned by the Jainas. The Buddhas have air as a primary matter with not much details about it.

The Fire or Taijas Sksndhas

The fire or taijasa skandhas represent various types of energy particles. Some of them like light are visible by sense of sight while others are percieved by senses other than sight Basically sunrays or fires are called taijasa. They are hot by nature-a point not mentioned in literature but observed physically. That is why sound energy has not been called taijasa. The Pragyapana[39] classifies these skandhas in two-fine and gross forms. It is the gross variety that has been classified in canons and shown in Table 5. The flames (with or without light) are the known forms of gross fires. Dashvaikalika[40] gives seven forms of fires while Pragyapana describes at least twelve forms. Others mention their own numbers. But if one takes pure fire as fire produced without fuels (i. e. by striking stones, rods or bamboos and gem fire-burning through glass or gems) and star burning, electric lightning etc. are all included in the Ulka variety, then there is not much difference in the varieties of fires by different authors. It may be guessed that those mentioned ones are not the only fire skandhas, but there may be many others as the authors use the term etc. They have done so in case of water and earths also.

The above taijasa skandhas have three aspects : heat and/or light and electric lightening which is produced by differece in charges. Thus, it may be inferred that the term taijasa has included energies (of today) known during the canonical periods. The important point to be noted here is that the electric lightning or its forms in the sky have been taken as fire skandhas. These are natural forms of electricity. All these are described in physics rather than chemistry of today.

38. See ref. 9 p. 118-20
39. See ref. 16, p. 46
40. See ref. 26, p. 112

Table 5. Various Types of Fires in Jaina Canons

Uttaradhyana 6	Dashvaikalika 7	Tattwarthsara 6	Pragyapena 12	Shantisuri 7
Burning coal without smoke	Burning coal without smoke	Burning coal without smoke	Burning coal without smoke	Burning coal without smoke
Straw/cowdung fire	Straw/cowdung fire	Straw/cowdung fire	Straw/cowdung fire	Straw/cowdung fire
Flame	Flame	Flame	Flame	Flame
Ulka	Ulka	...	Ulka	Ulka
Pure fire	Fuelless fire	Fuelless fire	Fuelless fire	Fuelless fire
Electric light-ning	...	...	Electric lightning	Electric lightning
...	Halfburnt wood fire	...	Halfburnt wood fire	...
...	Common fire	Common fire	...	...
...	...	...	Star fires	Star fire (kanak)
...	...	Lamp fire	Lamp fire	...
...	...	...	Fire by rubbing	...
...	...		Gem fire	...
...	...	....	Nirghat fire	...

Shastri[41] has raised a point on the nature of taijasa body-fourth out of five bodies-living beings possess. It is the cause of heat, activity and digestion in the body. It is said to be fire invisible, devoid of impediments, caused by supernatural powers and luminating others while luminous by itself. It consists of an aggregate of infinite real atoms which are infinite times the number of atoms in the earlier bodies. Due to dense packing, it becomes finer. This luminous body is made up of energy skandhas or taijasa varganas[42] whose size is between aharaka (heat ?) and bhasa varganas. This point has been commented upon earlier. Jain and Javeri[43] have called it electrical or electromagnetic in nature. This is found in every living beings from birth to death. Per chance heat or ahara is converted into this energy for the body to be active and living. It may itself be inactive but it makes the others active. Thus, the taijasa body is thermal or electrical form of the fire skandhas.

Akalanka[44] has described this body in thirteen ways. Accordingly, its luminosity is as white as cronch. It produces anger and happiness in the living and creates burning and combustion in others. Its size is innumerableth part of an angula, i. e. less than 10^{-15} cm. It is infinite and universal. It has a max. age of 66 sagaropam-a unit difficult to define

41. See ref. 21
42. See ref. 3, p. 268
43. (a) See ref. 13, p. 57 ; (b) See ref. 17, p. 116
44. Akalanka, Bhatta; *Rajvartika-1*, Bhartiya gyanpith, Delhi, 1954, p. 153

at current state of our knowledge. These points are based on the skandha nature of taijasa body and require deeper studies for comparative evaluation.

Thaker[45] has raised one more point regarding the livingness of light and electricity. Current-Science points out their non-living nature though the canons tell us these could be both ways. For example, air is necessary for life and lamps cannot burn without it. In contrast, electric lamps burn only in an airless atmosphere.

The Vaisheshikas[46] presume taijasa atoms with hot touch and white glistening color. They consist of four forms-fuel fire, sky fire, biochemical fire and mineral fire. Out of these, the Jainas have only the first two. The biochemical fire or heat is produced in the body by which it functions. The taijasa of Jainas has been taken as heat energy. They, however, have electrical taijasa body too in addition. The mineral fire is nothing but gold obtained from minerals. This is not acceptable to the Jainas who also do not agree to the exclusive nature of hot touch to the fire skandhas which include gem fire also. Buddhas have taijasa as a skandha with hotness causing cooking of materials.

Conclusion

The above description of molecular theory and specific skandhas of Jainas confirm, once again, that the theoretical concepts in this regard stand on better footing. The description of visible or gross world seems to be quite incomplete and small in comparision to our current knowledge. It must however be admitted that pragypana gives the best details of the period. Another fact emerging from the above is that the canons have differing or modified contents in nearly every specific case. It is, therefore, very necessary to collect and coordinate the material to present it in a uniform way.

45. See ref. 27, p. 29-32
46. See ref. 9, p. 97

जैन विद्याओं में जीवविज्ञान

जीवविचार प्रकरण और गोम्मटसार जीवकांड

कु० अंबर जैन

शोधछात्रा, अ० प्रताप सिंह विश्वविद्यालय रीवा, (म० प्र०)

जैनधर्म अध्यात्मप्रधान है। उसका लक्ष्य मनुष्य तो क्या, सभी कोटि के जीवों को परम उत्कर्ष की स्थिति में पहुँचाने का मार्ग एवं प्रक्रिया प्रस्तुत करना है। वह मनुष्य को 'उत्तम सुख' का प्रेरक है। इसीलिये उसके विपुल साहित्य में आचार्यों ने जीव और जीवन के विषय में पर्याप्त ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने समय-समय पर षड्-द्रव्यमय संसार का विवरण देते हुए इसकी दुखमयता तथा अचिर सुखमयता का वर्णन करते हुए जीवन की नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से तत्वबोध कराया है। इसी प्रक्रिया में उन्होंने भौतिक जगत में विद्यमान तत्वों, घटनाओं एवं प्राकृतिक चक्रों का भी वर्णन किया है। धर्म का आधार मुख्यतः मानव जीवन है जो समग्र प्रकार के जीवित प्राणियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अनेक प्राचीन ग्रन्थों आचारांग, प्रज्ञापना, जीवाभिगम, षड्खंडागम आदि में जीवजगत का विवरण पाया जाता है। तत्वार्थसूत्र और उसकी विविध टीकाओं में भी जीव का अच्छा वर्णन है। इन सभी ग्रन्थों में यह वर्णन एक लघु अंश के रूप में है। इसके विपर्यास में, कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनमें केवल जीवों का ही वर्णन दिया गया है। ये ग्रन्थ उत्तरकालीन ग्रन्थ हैं। इनमें से दसवीं सदी के उत्तरार्ध से ग्यारहवीं सदी के बीच लिखे गये दो महत्वपूर्ण ग्रन्थों[1] के विवरणों के विषय में इस लेख मे विवेचन किया जा रहा है।

ये दो ग्रन्थ है—गुजरात तथा धारानगरी के वासी आचार्य शान्तिभद्रसूरीश्वर का जीवविचार प्रकरण और सुदूर दक्षिण के दिगंबराचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का गोम्मटसार जीवकांड। प्रथम ग्रन्थ लघुकाय है। इसमें कुल ५० गाथायें हैं। इस पर बृहद्वृत्ति और लघुवृत्ति नामक दो टीकायें भी लिखी गई हैं। यह मुनि रत्नप्रभ विजय जी द्वारा संपादित तथा श्री जयंत ठाकर द्वारा अंग्रेजी में अनुदित होकर १९५० में जैन मिशन सोसायटी, मद्रास द्वारा प्रकाशित हुआ है। यह अल्पज्ञात ग्रन्थ है पर इसके विवरण महत्वपूर्ण हैं। इसी के किंचित पूर्ववर्ती समय में आचार्य नेमचंद्र ने गोम्मटसार लिखा है। यह बृहत्काय है। इसमें ७३४ गाथायें हैं। इसके हिन्दी व अंग्रेजी में अनुदित संस्करण प्रकाशित हुए हैं। इसकी भी दो संस्कृत टीकायें हैं—जीवप्रदीपिका (१६वीं सदी) व मंदप्रबोधिनी (१२वीं सदी)। एक कन्नड़ टीका भी है। दिगंबरों में यह सुज्ञात ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का विवरण विशद है। पर्याप्त गहन भी है। यह भौतिक और भावात्मक—दोनों कोटि का है। प्रथम ग्रन्थ के चार अध्यायों की तुलना में इसमें बाइस अध्याय हैं। दोनों ही ग्रन्थों में जीव के भेद, शरीर, आयु, स्वकायस्थिति, योनि एवं प्राणों का वर्णन दिया गया है। पर जीवकांड मे भावात्मक गुणस्थान आधारित वर्णन भी है जो जीव विचार प्रकरण में नहीं है। जीवों के वर्गीकरण भी दोनों ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से दिये गये हैं। जहाँ जीवकांड में जीवों के ९८ जीवसमास बताये गये हैं, वहाँ जीव विचार में ३२ तक की संख्या ही पहुँची है। दोनों ग्रन्थों की प्रायः समसामयिकता को देखते हुए इनके विवरणों का तुलनात्मक अध्ययन रोचक विषय है।

लेखक आचार्यों का जीवनवृत्त

यह संयोग की ही बात है कि उपरोक्त दोनों ग्रन्थों के लेखक आचार्यों का जीवनवृत्त सुज्ञात नहीं है। यह केवल परोक्ष आधारों पर ही, आंशिक रूप में, ज्ञात किया जा सका है। बेलाणी ने दोनों ही आचार्यों को विक्रमी ग्यारहवीं

सदी का बताया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नेमचंद्राचार्य की तुलना में आ० शान्ति सूरीश्वर के विषय में किंचित अधिक सूचनायें उपलब्ध हैं।

नेमचन्द्राचार्य[2] के जीवन के विषय में अनेक विद्वानों ने विचार किया है। उनका निष्कर्ष यह है कि वे देशीयगण के थे और दक्षिण भारत के कर्णाटक क्षेत्र के गंगराज राजमल्ल और उसके मंत्री गोम्मट या चामुंडराय के समकालीन थे। अपने ग्रन्थों में उन्होंने अभयनंदि, इंद्रनंदि, वीरनंदि, कनकनंदि और अजितसेन आचार्यों का गुरु के रूप में उल्लेख किया है। इनमें से अभयनंदि सबके गुरु हैं और अन्य आचार्य नेमचन्द्र के वरिष्ठ सहपाठी हैं। ये सभी महाकवि रन्न के समकालीन हैं। शास्त्री ने वीरनंदि का समय ९५०–१०१९ ई० बताया है। गोम्मटेश्वर बाहुबली का मूर्तिप्रतिष्ठाकाल ९८१ ई० का पूर्वार्ध माना जाता है। इसी आधार पर १९८१ में इसका सहस्राब्दि समारोह मनाया गया। गंग राजलल्ल का राज्यकाल भी ९७२–९८२ ई० माना जाता है। उपरोक्त प्रतिष्ठा नेमचंद्र की प्रेरणा से ही संपन्न हुई थी। नेमचंद्र के ग्रन्थों में प्रतिष्ठित मूर्ति का विवरण भी मिलता है। विक्रमी ग्यारहवीं सदी के कुछ शिलालेखों के प्रमाण भी उपलब्ध हुए हैं। इनसे नेमचंद्र का समय दशवीं सदी ईस्वी का उत्तरार्ध और ग्यारहवीं सदी ईस्वी का पूर्वार्ध माना जा सकता है। गण, गुरु और अनुमानित समय के अतिरिक्त इनके विषय में, इनकी कृतियों (मुख्यतः पाँच) के अतिरिक्त, अन्य कोई जानकारी नहीं मिलती। इनके ग्रंथों से एव सिद्धान्तचक्रवर्ती की उपाधि से इनकी आगमज्ञता एवं अगाध ज्ञानगरिमा का अनुमान अवश्य लगता है। ये दिगंबराचार्य थे।

आ० शान्तिसूरिश्वर ने 'जीव विचार' के कर्ता के रूप में पचासवीं गाथा मे अपना नाम दिया है। जोहरापुरकर और कासलीवाल[3] ने अपने ग्रन्थ में इन्हें ९७३ से १०७३ ई० के बीच का माना है। पालनपुर के समीप रामसिने जैनमंदिर में प्राप्त शिलालेख से ज्ञात होता है कि इन्होंने १०२७ ई० में एक भगवत् प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई था। ये तपागच्छ या बड़गच्छ के अंतर्गत प्रचलित थारापद्र गच्छ के श्वेताम्बराचार्य थे। इनके जीवन का विवरण चन्द्रप्रभसूरि रचित प्रभावकचरित में प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेस से १९०९ में प्रकाशित हुआ है। तपागच्च पट्टावली से भी इनके जीवन की कुछ घटनाओं का ज्ञान होता है।

आ० शान्तिसूरि का जन्म अणहिलपुर पाटन (गुजरात) में तत्कालीन प्रसिद्ध राजा भीम के समय में हुआ था। इनके माता-पिता का नाम क्रमशः धनदेव सेठ और धनश्री था। इनका बचपन का नाम भीम रखा गया था। इनके बाल्यकाल में ही पाटन में आ० विजयसिंह पधारे। उन्होंने भीम को देखकर उसके स्वर्णिम भविष्य का अनुमान लगाया। उन्होंने इनके माँ-बाप से भीम को अपने साथ रखने के लिये अनुज्ञा चाही और वे आ० विजयसिंह के साथ हो गये। समुचित अध्ययन एवं चरित्र की योग्यता प्राप्त करने पर उन्हें संघ में दीक्षित किया गया और उनका नाम शांति (भद्र) सूरि रखा गया। ये मूर्तिपूजक आचार्य थे। ये अच्छे कवि और वादी थे। राजा भीम की सभा में इनका बहुत सम्मान था। इनकी प्रतिष्ठा सुनकर मालवा की धारा नगरी (अब मध्यप्रदेश) के महाकवि धनपाल ने इन्हें उज्जैन बुला लिया। उस समय वहाँ राजा भोज का राज्य था। उनकी राजसभा में भी इन्होंने अपने काव्य एवं वाद-विद्या के प्रकांड पांडित्य से अपनी प्रतिष्ठा अर्जित की। धनपाल की 'तिलकमंजरी' का भी इन्होंने संशोधन/संपादन किया। इससे प्रसन्न होकर राजा भोज ने इन्हें 'वादिवेताल' की उपाधि प्रदान की।

ये आगम के साथ-साथ मंत्र और ज्योतिष विद्या के भी ज्ञाता थे। पाटन के सेठ जिनदेव के पुत्र पद्मदेव के सर्पदंश को इन्होंने अमृतत्व मंत्र के द्वारा दूर किया था। इसी प्रकार पद्मावती एवं चक्रेश्वरी देवी के प्रभाव से इन्होंने भविष्यवाणी की थी कि धूलिकोट (गुजरात) नगर का पतन होनेवाला है। इससे वहाँ के श्रीमाली जैनों के ७०० परिवार समय रहते सुरक्षित स्थानों पर पहुँच गये। यह १०४० ई० की घटना है। सोढ श्रावक के साथ गिरिनार की वन्दनार्थ गये थे। इनके अनेक शिष्य थे। इनमें वीर, शालिभद्र और सर्वदेव प्रमुख बताये जाते हैं।

इनकी कृतियों में 'जीवविचार प्रकरण' के अतिरिक्त उत्तराध्ययन सूत्र की एक दीर्घकाय टीका भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके अन्तिम अध्याय से ही इन्हें **जीव विचार प्रकरण** लिखने की प्रेरणा मिली होगी।

इनकी मृत्यु की तिथि के विषय में मतभिन्नता पाई गई है। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार, इनकी मृत्यु १०५५ ई० में हुई जबकि प्रभावक चरित के अनुसार, इनकी सल्लेखना समाधि १०४० ई० में हुई। यदि इनका औसत आयुकाल साठ वर्ष भी माना जावे, तो अनुमानतः ये ९८८–१०४० के बीच जीवित रहे। इस आधार पर नेमचंद्राचार्य इनसे कुछ वरिष्ठ आचार्य सिद्ध होते हैं।

जीव विचार प्रकरण की विषयवस्तु

जीव विचार प्रकरण में चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में संसार में विद्यमान विविध प्रकार के जीवों का वर्गीकरण कर संसारी जीवों का निरूपण किया गया है। दूसरे अध्याय में मुक्त जीवों का निरूपण है। तीसरे अध्याय में संसारी जीवों के शरीर की अवगाहना, आयु, स्वकाय स्थिति, प्राण एवं योनियों का वर्णन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में सिद्धों के हो इन गुणों का वर्णन है। उपसंहार में, मनुष्य जीवन में धर्मवृत्ति में प्रवृत्त होने का निर्देश है। अन्य तीन अध्यायों की तुलना में प्रथम अध्याय सबसे बड़ा है, पूर्ण ग्रन्थ का लगभग दो-तिहाई भाग है। सभी अध्यायों को विषयवस्तु का संक्षेपण यहाँ किया जा रहा है। यहाँ यह जान लेना भी उचित होगा कि बहुतेरी विषय-वस्तु मूल गाथाओं में नहीं है, फिर भी उसे रत्नाकर पाठक ने अपनी बृहद्वृत्ति टीका (सोलहवीं सदी, १५५३ ई०) में अन्य शास्त्रों के आधार से संकलित कर दिया है।

जीवों का सामान्य वर्गीकरण

जैन आर्ष परम्परा में जीवों या सजीव जगत् के दो भेद किए गये हैं : संसारी और मुक्त या असंसारी। त्रिलोक व्यापी सभी जीव संसारी कहलाते हैं और ये दो प्रकार के होते हैं : स्थावर और त्रस। शीतोष्ण भयादि कष्टों के परिहार के लिए जो प्रयत्न करते हैं, गतिशील होते हैं, वे त्रस कहलाते हैं। जो जीव इन कष्टों को दूर नहीं कर पाते या स्थिर रहते हैं, वे स्थावर कहलाते हैं। इनकी यह संज्ञा त्रस और स्थावर नाम कर्म के कारण भी मानी जाती है। (इससे गर्भावस्था, सुषुप्ति में त्रसाभाव एवं जलवायु अग्नि में त्रसत्व का प्रसंग नहीं आ पाता)। उत्तराध्ययन[6] के युग में वायु, अग्नि और उदार (द्वीन्द्रियादि) को त्रस और पृथ्वी, जल और वनस्पति को स्थावर कहा जाता था। इसके विपर्यास में, शान्तिसूरि ने स्थावर के पाँच भेद—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति एवं त्रस के चार भेद किए हैं। इनमें सिद्ध के जुड़ जाने के समस्त जीव जगत् दस प्रकार का हो जाता है। टीकाकार ने जीवाभिगम सूत्र का उद्धरण देते हुए जीवों के दो, तीन आदि दस तक, चौदह, चौबीस और बत्तीस भेद बताये हैं। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, ज्ञान, आहार, भाषा, शरीर, दर्शन, तथा चरमभव के आधार पर तेरह रूपों की द्विविधता बताई गई है। इसी प्रकार सात रूपों की त्रिविधता, चार रूपों की चतुर्विधता, एक रूप की पंचविधता, शरीर व इन्द्रिय के आधार पर दो रूपों की षड्-विधता, काय के आधार पर एक रूप की सप्त विधता, ज्ञान व योनि के आधार पर दो रूप की अष्टविधता, दो प्रकार की नवविधता एवं दशविधता जीवाभिगम से उद्धृत की गई है। मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति के आधार पर चौबीस दण्डकों के रूप में जीवों के चौबीस भेद होते हैं :

१. पृथ्वीकायिक आदि ५ के दंडक	५
२. २, ३, ४ इन्द्रिय जीवों के दंडक	४
३. मनुष्य जीवों के दंडक	१
४ नारक जीवों के दंडक	१
५. असुरकुमार आदि भवनवासियों के दंडक	१०
६-८. व्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिकों के दंडक	३
	२४

इसी प्रकार, वर्गीकरण का विस्तार करने पर जीवों के ३२ भेद भी हो जाते हैं :

(१) एकेन्द्रिय के	२२ भेद	पाँच प्रकार के एकेन्द्रियों के सूक्ष्म-बादर-पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से,	५ × २ × २ = २०
		सूक्ष्म साधारण वनस्पति (पर्याप्त, अपर्याप्त)	२
			२२
(२) २, ३, ४ इंद्रिय जीवों के	६ भेद	पर्याप्त, अपर्याप्त,	२ × ३ = ६
(३) पंचेन्द्रियों के	४ भेद	संज्ञी/असंज्ञी × पर्याप्त-अपर्याप्त	१ × २ × २ = ४
	३२		३२

स्थावर-जीवों के भेद-प्रभेद : (अ) पृथ्वीकायिक

उत्तराध्ययन में बताया गया है कि एकेन्द्रिय जाति के सूक्ष्म कोटि के जीवों की एक ही पर पृथक्-पृथक् जातिगत कोटि होती है। इसलिए इस ग्रन्थ में सूक्ष्म स्थावरों की चर्चा नहीं की गई है। स्थावरों के भेद-प्रभेदों में केवल बादर स्थावरों के ही भेद कहे गये हैं। इस दृष्टि से पृथ्वीकायिकों के निम्न २० भेद होते हैं :

सारणी १ : एकेन्द्रिय जीवों के भेद

१. पृथ्वीकायिकों के भेद

१. स्फटिक
२. मणि (समुद्रोत्पन्न)–१४
३. रत्न (खनिज)
४. विद्रुम (मूंगा)
५. अभ्रक
६. मृत्तिका
७. पाषाण
८. रसेन्द्र (पारद)
९. कनकादि धातु–७
१०. हिंगुल
११. हरताल
१२. मनःशिल
१३. खटिक
१४. अन्वर्णिक
१५. अरणेटक
१६. पलेवक
१७. तूरी
१८. ऊषम (खनिज सोडा, सज्जी)
१९. सौवीरांजन (सुरमा)
२०. लवण

२. जलकायिकों के भेद

१. भूमिज जल (कूप, ताल आदि)
२. अन्तरिक्ष
३. ओस
४. हिम
५. ओला
६. हरि-तनु (घास पर जमी बूंदें)
७. कुहरा

३. अग्निकायिकों के भेद

१. अंगार
२. ज्वाला
३. मुर्मुर
४. उल्का
५. अशनि
६. कनक
७. विद्युत्
८. शुद्धाग्नि (ईंधनहीन अग्नि)

उत्तराध्ययन में पृथ्वी के दो भेद अधिक गिनाये गये हैं और मणि के १८ प्रकार बताये हैं। इस प्रकार बादर पृथ्वीकायिक के ४० भेद बताये गये हैं। प्रज्ञापना[5] का भी यही वर्णन है। इस जीव विचार में धातुओं और स्फटिक-मणि-रत्नों का संक्षेपण कर २० भेद ही बताये गये हैं। प्रज्ञापना में इनके वर्ण-रसादि की विविधता से असंख्यात रूप बताये गये हैं। दिगम्बर ग्रन्थों में सम्भवतः सर्वप्रथम पञ्चसंग्रह ने पृथ्वीकायिक के ३६ भेद गिनाये हैं।

जलकायिक जीवों के ग्रन्थगत सात भेदों के विपर्यास में, प्रज्ञापनाकार ने १७ भेद बताये हैं। इसमें उन्होंने झरना, कांजी, क्षार, विभिन्न समुद्रों के जल आदि को भी परिगणित किया है। दिगम्बराचार्य अमृतचन्द्र और उत्तराध्ययन ने केवल पाँच भेद बताये हैं। वट्टकेर जल के ७ और पृथ्वी के ३६ भेद मानते हैं।

शान्तिसूरि अग्निकायिक जीवों के ८ भेद मानते हैं। इसके विपर्यास में दशवैकालिक एवं उत्तराध्ययन ७, प्रज्ञापना १२ तथा मूलाचार[6] ६ भेद गिनाते हैं।

इसी प्रकार जहाँ शान्तिसूरि वायुकायिकों के ८ भेद बताते हैं, वहीं मूलाचार ७, उत्तराध्ययन ६ एवं प्रज्ञापना १९ भेद निरूपित करते हैं।

सारणी २ : वनस्पतिकायिकों के भेद

(i) बादर साधारण वनस्पति	(ii) बादर प्रत्येक वनस्पति
१. कंद, (प्याज, लहसुन आदि)	१. फल
२. अंकुर	२. पुष्प
३. किसलय (कोंपल)	३. छल्ली या छल्ल
४. पनक (लकड़ी के फंगस)	४. काष्ठ
५. शेवाल (काई)	५. जड़
६. भूमिस्फोटक (कुकुरमुत्ता)	६. पत्र
७. आर्द्रकत्रिक (अदरख, हल्दी, कचूर)	७. बीज
८. गाजर	**(iii) विशेष प्रत्येक वनस्पतियाँ**
९. मोथा (नागरमोथा)	१. वृक्ष : एकबीज ३०, बहुबीज ३३
१०. बथुआ की भाजी	२. गुच्छ ४७
११. थेग (बल्वनुमा मड़)	३. गुल्म २४
१२. पल्यंक	४. लता १०
१३. कोमल फल (पकने के पूर्व)	५. बल्ली ४१
१४. गूढ शिर पत्ते	६. पर्वग १९
१५. कांटेदार पौधे	७. तृण १८
१६. गुग्गुल	८. वनलता १७
१७. गिलोय (गडूची)	९. हरित शाक २८
१८. छिन्न-रुह वनस्पतियाँ	१०. औषधि-धान्य २७
१९. कुमारी (आलुअ)	११. जलोत्पन्न वनस्पति २६
	१२. कुकुरमुत्ता (कुहन) १०

प्रायः सभी शास्त्रों में वनस्पतिकायिकों के दो भेद बताए गए हैं : साधारण (अनन्तकाय, निगोद) और प्रत्येक वनस्पति। साधारण वनस्पतियों की शरीर-निष्पत्ति, श्वासोच्छ्वास, आहार आदि क्रियायें एक साथ होती हैं। इनमें अनन्त जीवों का एक ही शरीर होता है। टीकाकार के अनुसार, साधारण वनस्पति सूक्ष्म और स्थूल के भेद से दो प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म साधारण वनस्पति गोलाकार होते हैं। वे बालाग्र प्रदेश-क्षेत्र में भी असंख्य-संख्या में रह सकते हैं। एक ही शरीर या क्षेत्र में असंख्य या अनन्त सूक्ष्म जीवों के अस्तित्व के कारण इन्हें अनन्तकायिक भी कहते हैं। ये आँखों से दिखाई नहीं देते और सर्वलोक में व्याप्त रहते हैं। इनके निम्न बादररूपों का शास्त्रों में विवरण दिया गया है। टीकाकार ने बताया है कि आगमों में साधारण बादर वनस्पति के ३२ नाम बताये गये हैं। ये नाम उपरोक्त उन्नीस के ही विस्तार हैं। इसी के अन्य रूप में बाइस अभक्ष्यों का भी विवरण दिया गया है। यह कहा गया है कि जीव हिंसा की दृष्टि से इन्हें न खाना श्रेयस्कर है। प्रज्ञापना में इनके ५० भेद बताए गए हैं। साधारण वनस्पतियों के विपर्यास में, प्रत्येक वनस्पति वे हैं जिनमें एक शरीर में एक ही जीव रहता है। इनको सात जातियाँ बताई गई हैं। उन्हीं के विस्तारस्वरूप टीकाकार पाठक ने प्रज्ञापना सूत्र में वर्णित बारह जातियों का नाम दिया है जिनके विशिष्ट नामों की सूची (३३०) सन्दर्भपूर्वक उद्धरित की गई है। ऐसी सूची दिगम्बर ग्रन्थों में नहीं पाई जाती। प्रज्ञापना के अनुसार, प्रत्येक और साधारण वनस्पति के भेद बादर-जाति में ही होते हैं, पर टीकाकार ने इन्हें सूक्ष्म और बादर दोनों प्रकार का बताया है। उत्तराध्ययन के अनुसार, सूक्ष्म वनस्पति जीवों की एक ही कोटि है जो अदृश्य, अनन्त एवं लोक व्याप्त है। वहाँ प्रत्येक वनस्पति के बारह तथा साधारण के २२ प्रकार बताये गये हैं।

टीकाकार पाठक ने साधारण वनस्पतियों के दो अन्य भेद भी निरूपित किये हैं—सांव्यवहारिक और असांव्यवहारिक। इन्हें दिगम्बर परम्परा में इतरनिगोद एवं नित्यनिगोद के समकक्ष मानना चाहिये। नित्यनिगोदी अपनी जाति से उत्परिवर्तित नहीं होते जब कि इतरनिगोदी में यह क्षमता होती है।

वनस्पति जगत् का इतना विस्तार दिगम्बर परम्परा में नहीं पाया जाता। लेकिन इस परम्परा के विवरण मे कुछ विशेषताएँ हैं। मूलाचार के अनुसार वनस्पति प्रत्येक और साधारण कोटि के होते हैं। ये दोनों ही दो प्रकार के होते हैं—बीजोत्पन्न और सम्मूर्छन। बीजोत्पन्नों में मूल बीज, अग्र बीज, पर्व बीज, कंद बीज, स्कन्ध बीज और बीज-बीज के रूप में छह प्रकार के वनस्पति होते हैं। इनके विपर्यास में, सम्मूर्छन वनस्पियों में कन्द, मूल, छाल, स्कन्ध, पत्र, किसलय, फूल, फल, गुच्छ, गुल्म, बेल, तृण और पर्व या गाँठ वाले १३ प्रकार के वनस्पति होते हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य गाथा में काई, पणक, कूड़े-करकट में होने वाले वनस्पति, किण्व और कुकुरमुत्ते की जातियाँ भी बताई गई हैं। सम्मूर्छन वनस्पति के लिये किसी भी प्रकार के बीज या केन्द्र की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि दिगम्बर परम्परा में वनस्पति की कोटि उसके जन्म एवं विकास की दशाओं पर निर्भर करती है। इस परम्परा में प्रज्ञापना के विपर्यास में साधारण और प्रत्येक—दोनों कोटियों के सूक्ष्म और बादर भेद भी गिनाये हैं। नेमचन्द्राचार्य भी इस परम्परा को मानते हैं। दशवैकालिक में सम्मूर्छन वनस्पति कोटि का उल्लेख है।

स्थावर-भेदों के परिगणन के विवरण में यह बताया गया है कि रूप, रस, गन्ध, वर्ण एवं देश-काल भेदों के कारण सभी जाति के भेद-प्रभेदों की संख्या अगणित हो सकती है। दिगम्बर परम्परा में अगणितता की यह सम्भावनात्मक व्याख्या नहीं पाई जाती।

यहाँ यह उल्लेख ज्ञानवर्धक होगा कि युवाचार्य महाप्रज्ञ[६] ने यह शंका उठाई है कि वनस्पतियों की सजीवता तो अनेक दर्शन, और अब विज्ञानी भी, मानते हैं, पर पृथ्वी, जल, तेज और वायु की स्वयं सजीवता न बौद्ध और नैयायिक ही मानते हैं और न विज्ञान ही मानता है। फिर शास्त्र-संगति कैसे बैठायी जावे? इसके समाधान में उन्होंने बताया है कि जैन दर्शन समस्त दृश्यजगत् को सजीव और जीव के परित्यक्त शरीर के रूप में दो ही प्रकार का मानता है। इसके अनुसार, सभी पदार्थ मूल में सजीव ही होते हैं, शस्त्रापहति, उष्णता, विरोधिद्रव्य संयोग से उनमें निर्जीवता आ जाती है।

त्रस जीवों का विवरण : दो इन्द्रिय जीव

जैन दर्शन में जीवों का विभाजन ज्ञान के विकासक्रम पर आधारित है। स्थावर जीवों का ज्ञान निम्नतर कोटि का होता है और वे केवल स्पर्शनेन्द्रिय के माध्यम से ही संवेदनशील होते हैं। उसी के माध्यम से वे पाँचों इन्द्रियों की अनुभूति कर लेते हैं। इनसे उच्चतर संवेदनशीलता वाले जीव त्रस कहलाते हैं। ये दो इन्द्रिय, तीन, चार एवं पंचेन्द्रिय के भेद से मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं। जीव विचार प्रकरण में दो इन्द्रिय जीवों की ११ कोटियाँ गिनाई हैं। तीन इन्द्रिय जीवों की १६ कोटियाँ गिनाई हैं। चार इन्द्रिय जीवों की नौ और पंचेन्द्रिय जीवों की चार कोटियाँ बताई गई हैं, जैसा सारणी ३ में दिया गया है। उत्तराध्ययन और प्रज्ञापना से ज्ञात होता है कि शान्तिसूरि ने भेद-प्रभेद गिनाने में अति-

सारणी ३ : त्रस जीवों के भेद-प्रकार

(अ) दो इन्द्रिय	(ब) तीन इन्द्रिय	(स) चतुरिंद्रिय त्रस
१. शंख	१ कनखजूरा	१. बिच्छू
२. कपर्दक या कौड़ी	२. खटमल	२. टिकुण
३. गंडोलक (लंघु कृमि)	३. जूँआ	३. भौंरे और चींटियाँ
४. जलौका (गोंच)	४. चींटी	४. टिड्डी
५. चन्दनक (समुद्र कृमि)	५. सफेद चींटी (दीमक)	५. मक्खी
६. अलस (केंचुआ)	६. काली चींटी	६. डांस
७. लहक (लार कृमि)	७. इल्ली	७. मच्छर
८. मेहरक (काष्ठ कृमि)	८. घृत-इलिका	८. कंसारिक
९. कृमि (आँत कृमि)	९. गौ-कर्ण-कीट	९. कपिलक
१०. पूतरक (लाल कीट)	१०. गर्दभक कीट	**(स) पंचेन्द्रिय जीव**
११. मातृवाहिका (चुडैला कृमि)	११. धान्य कीट	१. नारक
	१२. गोमय कीट	२. तिर्यंच
	१३. इन्द्रगोप कीट	३. मनुष्य
	१४. सावा कीट	४. देव
	१५. चौर कीट	
	१६. कुंथु-गोपालिक कीट	

सारणी ४ : विभिन्न शास्त्रों में त्रसों के भेद

	उ० अ०	प्रज्ञापना	जीवविचार	मूलाचार
द्विन्द्रिय	१४	२९	११	—
त्रि-इन्द्रिय	१६	३९	१६	—
चतुरिन्द्रिय	२६	३८	९	—
पंचेन्द्रिय	४	४	४	४

संक्षेपण किया है। इसे सारणी ४ से जाना जा सकता है। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में त्रसकायिक जीवों के भेद-प्रभेद कम ही पाये जाते हैं। मूलाचार और तत्त्वार्थसूत्र 'कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि' के आधार पर केवल प्रारूपिक उदाहरण देते हैं। जीवविचार के टीकाकार ने बताया है कि विभिन्न त्रसजीवों को पहचानने के तीन उपाय हैं :

(१) **इन्द्रियाँ**—भौतिक इन्द्रियों से इनकी इन्द्रियता पहचानी जा सकती है। उत्तरवर्ती इन्द्रिय वाले जीव के पूर्ववर्ती इन्द्रियाँ अवश्य होती हैं।

(२) **पादों की संख्या**—सामान्यतः दो इन्द्रिय जीवों को पैर नहीं होते। तीन इन्द्रिय जीवों के चार, छह या अधिक पैर होते हैं। चार इन्द्रिय जीवों के छह या आठ चरण होते हैं। पंचेन्द्रियों के दो, चार या आठ पैर होते हैं। मत्स्य, सर्प इत्यादि जीवों के विषय में ये नियम लागू नहीं होते।

(३) **बालों का स्वरूप**—दो इन्द्रिय जीवों के बाल नहीं होते। तीन इन्द्रिय जीवों के चेहरे के दोनों ओर बाल होते हैं। चार इन्द्रिय जीवों के सिर के दाहनी ओर सींग या केशगुच्छ होते हैं।

पंचेन्द्रियों का विवरण : पंचेन्द्रिय तिर्यंच

जैनों की दोनों परम्पराओं में पंचेन्द्रिय जीवों के चार भेद बताये गये हैं—नारक, देव, तिर्यंच और मनुष्य। इनमें नारक सात प्रकार के होते हैं और देव भवनवासी (१०), व्यंतर (८ + ८), ज्योतिष्क (५) और वैमानिक (२) के भेद से चार प्रकार के होते हैं। जैनों की दोनों परम्पराएँ किंचित् भेद-प्रभेदों के अन्तर के साथ इनको मानती हैं। जीव-विचार प्रकरण के टीकाकार ने व्यंतरों के आठ की जगह सोलह भेद बताये हैं।

हमारे लिये पचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों का विवरण महत्वपूर्ण है। शान्तिसूरि के अनुसार, तिर्यंच तीन प्रकार के—जलचर, थलचर और नभचर होते हैं। जलचर के—सुसुमार, मत्स्य, कच्छप, मगर और ग्राह—पाँच भेद बताये गये हैं। प्रज्ञापना और उत्तराध्ययन में भी ये ही भेद है, पर प्रज्ञापना में इन जातियों के प्रभेद भी बताये गये हैं :

१. सुसुमार : यह जलचर भैंस के समान होता है। इनका आकार-प्रकार एक ही प्रकार का होता है।

२. **मत्स्य** : ये २३ जाति के होते हैं—श्लक्ष्ण, खबल, जुंग, विजडिम, हल्डि, मकरी, रोहित, हलिसागर, गागर, वट, वटकर, गर्भज, उसागर, तिमि, तिमिंगल, नक्र, तंदुल, कणिका, शरलि, स्वस्तिक, लंभन, पताका और पताकातिपताका।

३. **कच्छप :** ये **दो** प्रकार के होते हैं—अस्थिबहुल, मांसबहुल।

४. **मगर :** ये **दो** प्रकार के होते हैं—शौण्डमकर, मृष्टमकर।

५. **ग्राह** : ये **पाँच** प्रकार के होते हैं—दिली, वेष्टक, मूर्धज, पुलक और सीमाकार।

पंचेन्द्रिय थलचर तिर्यंच तीन प्रकार के होते है :

१. चतुष्पाद : के चार प्रकार हैं—एकखुर, दो-खुर, गंडीपद और सनखपद। इनमें एकखुर–तिर्यंच अश्व, खच्चर, घोड़ा, गर्दभ, गोरक्षर, कंदलक, श्रीकंदलक और आवर्तक के भेद से आठ प्रकार के होते है। दो-खुरी तिर्यंच ऊँट, गौ, गवय, महिष, मृग, रोज, पशुक, सांभर, वराह, बकरा, एलक, रुरु, सरभ, चमरी गाय, कुरंग, गोकर्ण के भेद से १७ प्रकार के होते हैं। गंडीपद हाथी, हस्ति पूतनक, मत्कुण हस्ती, खड्गी और गंडा के भेद से पाँच प्रकार के होते हैं। नखपदी तिर्यंचों में सिंह, व्याघ्र, दीपड़ा, भालू, तरक्ष, पाराशर, कुत्ता, बिल्ली, सियार, लोमड़ी, खरगोश, कोलश्वान, चीता, चिल्लक आदि चौदह जातियाँ होती हैं।

२. भुज-परिसर्प : के चौदह प्रकार हैं—नेवला, गोह, गिरगिट, शल्य, सरठ, सार, खोर, छिपकली, चूहा, बिसभरा, गिलहरी, पयोलातिक, क्षीर-विडालिका।

३. उरः परिसर्प : चार प्रकार के हैं—सर्प, अजगर, आसालिक, महोरग। साँप दो प्रकार के होते हैं—फन वाले और फणरहित—फन वाले साँपों के १५ भेद हैं—आशीविष, दृष्टिविष, उग्रविष, भोगविष, त्वचाविष, लालाविष,

उच्छ्वासविष, निःश्वासविष, कृष्णसर्प, श्वेतसर्प, काकोदर, दर्भपुष्प, कोलाह, मेलिभिन्द, शेषेन्द्र। फणरहित सर्प दस प्रकार के होते हैं : दिव्याक, गोनस, कषाधिक, व्यतिकुल, चित्रली, मंडली, माली, अहि, अहिशलाका, वासपताका।

अजगर एक ही जाति का होता है।

आसालिक : तिर्यंच अनिष्ट के संकेत के रूप में सूक्ष्मरूप में उत्पन्न होते हैं और अपना वृहदाकार धारण कर अनिष्ट की सूचना देते हैं। इनकी आयु अन्तर्मुहूर्त की होती है।

महोरग : चौदह प्रकार के होते हैं, जो इनके विस्तार पर निर्भर करता है। वे अंगुल, अंगुल पृथक्त्व (२–९ अं०), वितस्ति, वितस्ति पृथक्त्व (२–९ बीता), रत्नि, रत्नि पृथक्त्व (२–९ हाथ), धनुष, धनुष पृथक्त्व, गव्यूति, गव्यूति पृथक्त्व, योजन, योजन पृथक्त्व, योजनशत एवं सहस्र योजन वाले होते हैं।

पंचेन्द्रिय नभचर तिर्यंच (पक्षी) चार प्रकार के हैं—चर्म पक्षी, रोम पक्षी, समुद्ग पक्षी, वितत पक्षी। इनमें वितत पक्षी एक ही प्रकार के होते हैं और मनुष्यलोक में नहीं पाये जाते। इसी प्रकार समुद्ग पक्षी भी एकजातीय हैं और मनुष्यलोक के बाहर ही पाये जाते हैं। चर्म पक्षियों एवं रोम पक्षियों के क्रमशः आठ और चालीस प्रकार बताये गये हैं :

१. चर्म पक्षी—बगुला, जलौका, अडिल्ल, भारंड, चकवा-चकवी, समुद्री कौवे, कर्णत्रिक एवं पक्षिबिडाली–८।

२. रोम पक्षी—ढंक, कंक, कुरल, कौवा, चकवा, हंस, कलहंस, राजहंस, पादहंस, अड़, सेड़ी, बगुला, बकपंक्ति, पारिप्लव, क्रौंच, सारस, मयूर, मसूर, मेसर, शतवत्स, गहर, पोंडरीक, काक, कामंजुक, बंजुलक, तीतर, बत्तक, लावक, कबूतर, कपिजल, पारावत, चिटक, चास, मुर्गा, तोता, मैना, बर्ही, कोयल, सेह, वरिल्लक–४०।

यह बताया गया है कि उपरोक्त भेद-प्रभेद मुख्य-मुख्य हैं। इनके समान अन्य तिर्यंच भी हो सकते हैं, जिन्हें परीक्षा कर भिन्न-भिन्न जातियों में समाहित किया जा सकता है। इसीलिये प्रत्येक सूची के अन्त में 'इत्यादि' शब्द लगा हुआ है और उसमें समय-समय पर होने वाले निरीक्षणों के संयोजन के लिये स्थान छोड़ दिया गया है। तिर्यंचों के भेदों के प्रभेद प्रज्ञापना में दिये गये हैं। दिगम्बर परम्परा में प्रभेदों का विवरण नहीं मिलता।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सामान्यतः तिर्यंच दो प्रकार के होते हैं : विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय। विकलेन्द्रिय तिर्यंच एक, दो, तीन व चार इन्द्रिय जीव होते हैं और सकलेन्द्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रिय होते हैं।

पंचेन्द्रिय मनुष्यों का विवरण

शान्तिसूरि के अनुसार, गर्भज मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं : कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और अन्तर्द्वीपज। इन कोटियों के क्रमशः १५, ३० और २८ भेद होते हैं। शास्त्रों के अनुसार, गर्भज के अतिरिक्त, मनुष्य संमूर्छनजन्मी (अलिंगी) भी होते हैं, जो मल, मूत्र, कफ, पीप, रक्त, शव, संभोग, नालीमल आदि गन्दे स्थानों में उत्पन्न होते हैं। ये असंज्ञी, सूक्ष्म और अन्तर्मुहूर्तायु के होते हैं। मनुष्यों के ये भेद क्षेत्र-निवास के आधार पर किये गये हैं। मनुष्यलोक के अढ़ाई द्वीपों के ५ भरत, ५ ऐरावत एवं ५ महाविदेह कर्मभूमियाँ कहलाती हैं। इसी प्रकार, अकर्मभूमियाँ भी ३० होती हैं। ये भोगभूमि की कोटि की कल्पवृक्षी भूमियाँ हैं।

हमलोग कर्मभूमियों में निवास करने वाले मनुष्य हैं। ये समान्यतः दो प्रकार के हैं—आर्य और म्लेच्छ। आर्यों के गुणों के आधार पर दो भेद हैं—ऋद्धिप्राप्त और अनृद्धि प्राप्त। ऋद्धिप्राप्त आर्यों में अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चारणमुनि, विद्याधर आदि समाहित होते हैं। सामान्य मानव जाति अनृद्धिप्राप्त आर्यों में गिनी जाती है। उसके नौ भेद एवं अनेक प्रभेद हैं—

१. क्षेत्रार्य : देश के २५½ क्षेत्रों में रहने वाले क्षेत्रार्य कहलाते हैं। भौगोलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने से इन क्षेत्रों का ज्ञान रोचक होगा—मगध (राजगृह), अंग (चम्पा), बंग (तामलुक), कलिंग (कंचनपुर), काशी (वाराणसी), कोशल (अयोध्या), कुरु (गजपुर), पंचाल (कंपिला), जंगल (अहिच्छत्र), सौराष्ट्र (द्वारका), विदेह (मिथिला), वत्स (कौशांबी), शांडिल्य (नन्दीपुरा), मलय (भद्दिलपुर), मत्स्य (विराट् नगर), वरण (अच्छापुरी), दशार्ण (मृत्तिकावती), चेदि (शुक्तिमती), सिन्धु-सौवीर (वीतभय नगर), शूरसेन (मथुरा), भंग (पावापुरी), पुरावर्त (माषानगरी), कुणाल (श्रावस्ती), लता देश (कोटिवर्ष) तथा केकयार्ध (श्वेतांबिका नगरी), कुशावर्त (शौरीपुर)। इस सूची से स्पष्ट है कि आर्यावर्त पश्चिम (द्वारका), उत्तर (मथुरा आदि) एवं पूर्वी (बिहार, बंगाल व उड़ीसा) भारत का क्षेत्र माना जाता था। दक्षिण भारत म्लेच्छ देश माना जाता था क्योंकि म्लेच्छों के अनेक नाम इस क्षेत्र के अनुरूप हैं।

२. जात्यार्य : अंबष्ठ, कलिंद, विदेह, वेदग, हरित और चुंचुण–६।

३. कुलार्य : उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, ज्ञात, कौरव्य–६।

४. कर्मार्य : दूष्यक (वस्त्र), सौत्रिक (धागा), कार्पासिक, सूत्र वैतालिक, भांड-वैतालिक (वणिक्), कुम्हार और नर-वाहनिक–७। इनमें कुछ व्यवसाय सम्बन्धी नाम और जोड़े जा सकते हैं।

५. शिल्पार्य : रफूगर, जुलाहा, पटवा, दृतिकार, पिच्छिकार, चटाईकार, काष्ठ-मुंज पादुकाकार, छत्रकार, वह बाह्यकार, पुच्छकार या जिल्दसाज, लेप्यकार, चित्रकार, दन्तकार, शंखकार, भांड़कार, जिह्वाकार, वैल्यकार, आदि १९ प्रकार के शिल्पकार।

६. भाषार्य : ब्राह्मी लिपि व अर्धमागधी भाषा बोलने वाले भाषार्य कहलाते हैं। ब्राह्मी लिपि १८ रूपों में लिखी जाती है, अतः भाषार्य भी १८ होते हैं।

७. ज्ञानार्य : मतिज्ञानार्य, श्रुतज्ञानार्य, अवधिज्ञानार्य, मनःपर्यय ज्ञानार्य एवं केवल ज्ञानार्य–५।

८. दर्शनार्य : सराग दर्शनार्य (१० भेद), वीतराग दर्शनार्य (२ भेद)–२।

९. चारित्रार्य : सराग चारित्रार्य (२ भेद), वीतराग चारित्रार्य (२ भेद)–२। ये गुणस्थानों पर आधारित हैं।

इस प्रकार निवास, कुल, कर्म, शिल्प, भाषा, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि की विशेषताओं के आधार पर आर्य मनुष्यों का यह वर्गीकरण है। यह माना जा सकता है कि सामान्यतः आर्य जैन हो सकते हैं।

म्लेच्छ-मनुष्यों का वर्गीकरण उनके निवास क्षेत्र के आधार पर ही किया गया है। इनके क्षेत्र तत्कालीन भौगोलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, अतः यहाँ दिये जा रहे हैं। इनकी संख्या ५५ हैं। इसे पता चलता है कि आगमयुग में हमारा सम्पर्क किन क्षेत्रों में था। इन क्षेत्र वासियों के नाम शक, यवन, किरात, शबर, बर्बर, काय, मरुंड, भड़क, निन्नक, पक्करणिक, कुलाक्ष, गोंड, सिंहल, पारसक, आन्ध्र, अंबडक, तमिल, चिल्लक, पुलिंद, हारोस, डोम, पोक्काण, गंधाहारक, बाल्हीक, अज्झल, रोम, पास, प्रदूष, मलयाली, बन्धुक, चूलिक, कोंकणक, मेव, पल्लव, मालव, मग्गर, आभाषिक, कणबीर, चीना, ल्हासा, खस, खासी, नेदूर, मोंढ, डोम्बिलिक, लओस, वकुश, कैकय, अक्खाग, हूण, रोसक या रोमक, मरुक, रुत, चिलात और मौर्य हैं।

अन्तर्द्वीपज मनुष्यों के अट्ठाइस भेद बताये गये हैं। ये उनके शरीर रूपों पर निर्भर हैं। एकोरुक, अभाषिक, वैषाणिक, नांगोलिक, हय-गज-गो-शष्कुली-कर्ण, आदर्श-मेंढ-अयो-गो-अश्व-हस्ति-सिंह-व्याघ्र-मुख, अश्व-सिंह-कर्ण, अकर्ण, कर्ण-प्रावरण, उल्का-मेघ-विद्युत-मुख, विद्युत-घन-लष्ट-गूढ-शुद्ध-दन्त आदि उनके भेद हैं।

जीवों से सम्बन्धित विशेष विवरण

शांतिसूरि ने जीव विचार प्रकरण के तीसरे अध्ययन में विभिन्न जीव जातियों से सम्बन्धित शरीर की ऊँचाई, आयु, कायस्थिति, प्राण और योनि-सम्बन्धी विवरण दिये हैं। इन्हें **सारणी ५** में दिया गया है। यह वर्णन अनुयोग द्वार, मार्गणा या गुणस्थान-आधारित नहीं है।

सारणी ५ : जीव-सम्बन्धी विवरण

		भेद-प्रभेद		प्राण	योनि	कुल	शरीर-ऊँचाई		आयु	
१.	एकेन्द्रिय	जीवि०	जीकां०		लाख	जन्म×१०^{१२}	ज०	उ०	ज०	३०, वर्ष
	पृथ्वी	२२	४२	४	७	सं० २२	घनांगुल/असं.	१००० यो०	अंतर्मु०	२२,०००
	जल०				७	,, ८७	,,		,,	७०००
	वायु०				७	,, ७			,,	३०००
	तेज०				७	,, ३	,,		,,	१२ घण्टे
	प्रत्येक वन०				१०	,, २८	,,		,,	१०,०००
	साधारण वन०				१४	,,				
२.	दो इन्द्रिय	२	३	६	२	,, ७	घ०/सं०	१२ यो०	,,	१०,०००
३.	तीन इन्द्रिय	२	३	७	२	,, ८	घनांगुल	३/४ यो०	,,	४९ दिन
४.	चार इन्द्रिय	२	३	८	२	,, ९	घ० × सं०	१ यो०	,,	६ मास
५.	पांच इन्द्रिय	४	–	९, १०	–	–	घ० × सं०^{२}	१००० यो०		
	तिर्यंच	–	३४		४	सं० ग० ४३'५	–	–		कोटिपूर्व
	मनुष्य	–	९		१४	सं० ग० १२				उ० प०
	संमूर्छन	–	–		–	– –	–	–		अंतर्मु०
६.	देव	–	२	१०	४	उपवाद २६			१०,००० वर्ष	३३ सा०
७.	नारक	–	२	१०	४	उपवाद २५	–	–	अंतर्मु०	३३ सा०
	योग	३२	९८	–	८४ लाख	– १९७.५×१०^{१२}				

सिद्ध जीवों का विवरण

ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में कर्म मल को पूर्णतः नष्ट करने वाले सिद्ध जीवों के पन्द्रह भेद बताये गये हैं—तीर्थंकर सिद्ध, केवलिसिद्ध, स्वलिंगसिद्ध, अन्यलिंगसिद्ध, पुरुषलिंगसिद्ध, स्त्रीलिंगसिद्ध, नपुंसकलिंगसिद्ध, गृहलिंगसिद्ध, अतीर्थसिद्ध, प्रत्येक बुद्ध सिद्ध, स्वयं बुद्ध सिद्ध, एक सिद्ध, अनेक सिद्ध, बुद्ध बोधित सिद्ध एवं तीर्थसिद्ध। दिगम्बर परम्परा में ये भेद नहीं माने जाते। इनमें अनेक भेद उनके सिद्धान्तों के अनुकूल भी नहीं हैं। इसका विवरण प्रज्ञापना में आया है। सिद्धों में देह, आयु, प्राण, योनि नहीं होते।

जीवकाण्ड की विषयवस्तु : जीवों के भेद-प्रभेद

शांतिसूरि के समान ही नेमचन्द्राचार्य ने भी जीवों के भेद-प्रभेद बताते हुए उनके एक-से-दस तक, चौदह, उन्नीस, सत्तावन और अट्ठानवें भेद कहे हैं। इन्हें वे जीव समास कहते हैं। इनका वर्णन निम्न प्रकार है :

१. एकेन्द्रिय : (i) पृथ्वी, जल, तेज, वायु, नित्य निगोद, इतर निगोद × २ (बादर-सूक्ष्म) = १२
२. (ii) प्रत्येक वनस्पति (प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित) = २

१४

३. १४ × ३ (पर्याप्त, अप०, निवृ०) ४२
४. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ३ × ३ (प० अ० नि०) ९

५१

५. पंचेन्द्रिय तिर्यंच : गर्भज कर्मभूमिज : ३ (जलचरादि) × २ (संज्ञी-असंज्ञी) × २
(पर्याप्त, निवृत्य पर्याप्त) = १२
संमूर्छन कर्मभूमिज : ३ × २ × ३ (प० अ०, नि०) = १८
भोगभूमिज तिर्यंच : २ (स्थल, नभ) × २ (प० नि०) = ४
६. पंचेन्द्रिय मनुष्य : (i) आर्य खण्ड ३ (प०, अ०, निवृ०) ३
(ii) म्लेच्छ खण्ड ३ × २ (प०, नि०) ६
(भोग भूमि, कुभोग भूमि)
(iii) देव, नारक २ × २ (प० नि०) ४

१३ १३

९८

इस विवरण में जीवों के भेद अधिक हैं, पर इनके वर्गीकरण में विविधता कम हैं। इनका वर्णन स्थान, योनि, कुल, अवगाहना के आधार पर किया जाता है। टीकाकार ने गणित का उपयोग करते हुए १९०, ३८०, ५७० तथा ४०६ जीव समास भी गिनाये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जीव विचार में अपर्याप्त के दो भेदों को मान्यता नहीं दी गई है। जीव काण्ड में बताया गया है कि शरीर पर्याप्त के पूर्ण न होने तक जीव निवृत्य पर्याप्त (रचना की अपूर्णता) एवं योग्य पर्याप्तियों के पूर्ण न होने से अन्तर्मुहूर्त में मृत्यु को प्राप्त होने वाले जीव को लब्धि-अप्राप्त कहा गया है।

प्राण-सम्बन्धी विवरण दोनों ग्रन्थों में समान है। पर जीव विचार में पर्याप्तियों का विवरण नहीं है। साथ ही, जीव विचार में केवल चौरासी लाख योनियों का विवरण है जबकि जीव काण्ड में तीन प्रकार की आकृति योनियों के साथ, गुण योनियों (नौ) एवं तीन जन्म प्रकारों का भी विशद वर्णन है। आयु और अवगाहना सम्बन्धी विवरण दोनों में समान है, पर जीव विचार में कुल-कोटियों एवं संज्ञाओं का भी वर्णन नहीं है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा में प्रज्ञापनादि ग्रन्थों में गति, इन्द्रिय आदि २७ मार्गणा द्वारों की चर्चा है, पर जीव विचार में वह नहीं है। इसके विपर्यास में जीव काण्ड में प्रायः ५०० गाथाओं में १४ मार्गणा द्वारों के माध्यम से जीवों का विशद निरूपण है। प्रज्ञापना के २७ द्वारों में ये चौदह समाहित हैं।

जीवकाण्ड में प्रीति-विहीनता, तिर्यकृता, मन-कर्म कुशलता, ऋद्धि-सुख-दिव्यता एवं जन्म-मरण रहितता के आधार पर पाँच गतियों में जीवों के प्रमाण का वितरण है। मनुष्य जीवों के विषय में बताया गया है कि उनमें तीन-चौथाई मानुषियाँ होती हैं। मानुषियों से तीन-सात गुने सर्वार्थसिद्धि के देव होते हैं। पर्याप्त मनुष्यों की संख्या ३×१०^{२८} बताई गयी हैं।

इन्द्रियाँ मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम एवं शरीर नामकर्म के उदय से निर्मित शरीर के चिह्नविशेष हैं। ग्रन्थकार ने इसका विषय क्षेत्र, आकार, अवगाहना एवं संख्या (जीव) बतायी है। **कायमार्गणा के अन्तर्गत** कषाय का

लक्षण, आकार, निवास आदि का वर्णन करते हुए बताया है कि यह जीव कायरूपी कावटिका के माध्यम से कर्म-भार का वहन करता है। **योगमार्गणा** के अन्तर्गत पर्याप्ति और शरीर नामकर्म के उदय से होने वाले मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों की कर्म-ग्राहिणी शक्ति को योग बताया गया है। मन और वचन योग सत्य, असत्य, उभय, अनुभय रूप से चार कोटियों में हैं। इनमें द्रव्यमन अंगोपांग नामकर्म के उदय से हृदय-स्थान में अष्ट-दल-कमल के आकार का होता है जिसकी क्षमता को भावमन कहते हैं। काययोग औदारिकादि कार्मणान्त पाँच प्रकार का होता है। **वेदमार्गणा** में वेदकर्म, निर्माण तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से होनेवाले तीन द्रव्य-भाव वेद-पुरुष, स्त्री व नपुंसक बताये गये हैं। इनमें उत्कृष्ट भोग एवं उत्तम गुण वाला पुरुष, स्व और पर को दोषों से आच्छादित करनेवाली स्त्री वेद, भट्टे में पकती हुई ईंट की अग्नि के समान तीव्रकषाई एवं उभयवेदरहित नपुंसक वेद माना है। लक्षण के अतिरिक्त विभिन्न वेद के जीवों का प्रमाण भी दिया गया है। **कषायमार्गणा** के अन्तर्गत कर्म-बन्ध एवं फल की शुभाशुभता की प्रतीक चार कषायों को शक्ति (चार प्रकार), लेश्या (१४ प्रकार), आयु बन्ध एवं प्रमाण के आधार पर वर्णित किया गया है। **ज्ञानमार्गणा** के अन्तर्गत पाँच ज्ञानों का विशद निरूपण है। इसमें श्रुतज्ञान का विवरण सर्वाधिक है। **संयममार्गणा** के अन्तर्गत मोहनीय कर्म क्षय या उपशम से व्रत धारण, समिति पालन, कषाय निग्रह, त्रि-दण्ड त्याग एवं इन्द्रिय जय रूप संयम के भावों का होना बताया गया है। जीव संयत, देशविरती एवं असंयती हो सकते हैं। संयम के सात भेदों के विवरण के साथ विभिन्न कोटि के संयमी जीवों की संख्या का भी विवरण है। **दर्शनमार्गणा** में चार दर्शनों की परिभाषा और संख्या का निरूपण है। **लेश्यामार्गणा** की अड़सठ गाथाओं में लेश्याओं का सोलह अधिकारों में वर्णन है और कषायानुरन्जित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहा गया है। यह जीव को पुण्य-पाप कर्मों से लिप्त कराती है। यह द्रव्य-भाव रूप होती है। यह वर्णन उत्तराध्ययन के ग्यारह द्वारों के विपर्यास में तुलनीय है।

भव्यत्वमार्गणा में अनन्त चतुष्टय रूप सिद्धि के आधार पर भव्यत्व-अभव्यत्व की परिभाषा दी गयी है। इसमें कर्म और नोकर्म द्रव्य परिवर्तन की भी चर्चा है। **सम्यक्त्वमार्गणा** में षट् द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकायों का नाम, लक्षण, स्थिति, क्षेत्र, संख्या, स्थान एवं फल के आधार पर सात शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। इसमें अजीव द्रव्य का वर्णन विशेष है। पुद्गल के तेइस वर्गणात्मक भेद, कुन्दकुन्द वर्णित छह एवं चार भेद के अतिरिक्त पृथ्वी, जल, छाया, चतुरिंद्रिय विषय, कर्म और परमाणु के भेद से छह अन्य भेद भी बताये गये हैं। उमास्वामी के समान द्रव्यों के कार्य भी बताये गये हैं। **संज्ञीमार्गणा** के अन्तर्गत नो-इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से होने वाले ज्ञान या संवेदन को संज्ञा बताकर उसे शिक्षा, क्रिया, उपदेश एवं आलाप के रूप में चार प्रकार का बताया गया है। श्वेताम्बर परम्परा में संज्ञाओं की संख्या दस तक बताई गई है। **आहारमार्गणा** के अन्तर्गत शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, कायरूप धारण करने योग्य जो कर्म वर्गणाओं के ग्रहण को आहार कहा गया है।

मार्गणाओं के अतिरिक्त जीवकांड में भावात्मक प्रकृति व विकास को ध्यान में रखकर चौदह गुणस्थानों का भी विशद् निरूपण है। वस्तुतः यह बताया गया है कि जीवों से सम्बन्धित बीस प्ररूपणाएँ मार्गणा एवं गुणस्थान–दो ही कोटियों में समाहित हो जाती हैं। इन दोनों का ज्ञान आध्यात्मिक विकास के लिये लाभकारी है।

उपसंहार

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि रचनाकाल के अल्प अन्तराल के बावजूद भी दोनों ग्रन्थों की विषय-वस्तु में पर्याप्त अन्तर है। एक ओर 'जीव विचार' में केवल 'जीवों' का वर्णन है, वहीं जीवकांड में 'जीवों' के साथ अनेक जीव-सम्बद्ध प्रकरणों का वर्णन है। 'जीव विचार' वर्गीकरण प्रधान है, जबकि जीवकांड 'वर्गीकरण' के साथ व्यापक परिवेश का निरूपण करता है। इसका वर्णन आध्यात्मिक विकास की श्रेणियों पर भी आधारित है। जीवकांड में प्रायः प्रत्येक विवरण में संख्यात्मकता पाई जाती है, गणितीय संदृष्टियाँ पाई जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'जीवकांड' का दृष्टिकोण

बुद्धिमानों के बोधार्थ रहा है, जबकि शान्तिसूरि ने तो स्पष्ट ही अबुद्ध-बोधार्थं अपना निरूपण किया है। यही कारण है, जहाँ शान्तिसूरि बाह्य-बोध्य वर्गीकरण पर सीमित रह गये हैं, जबकि नेमचन्द्र बहुत गहन एवं गम्भीर ज्ञानी सिद्ध हुए हैं। पर्याप्ति, कुल एवं योनि-जन्म आदि का विवरण न देना शान्तिसूरि के ग्रन्थ की कमी है और अध्यात्म विकास का आधार लेकर वर्णन करना जीवकांड की महती विशेषता है। यह भी स्पष्ट है कि दोनों ही जैन परम्पराओं में जीव सम्बन्धी विवरणों में काफी समानता है। जीव विज्ञान सम्बन्धी यह विवरण आधुनिक जीव वैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षणीय है।

निर्देश

१. (अ) नेमचन्द्र आचार्य; **गोम्मटसार जीवकांड,** परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, १९७२।

(ब) शान्तिसूरीश्वर; **जीवविचार प्रकरणम्,** जैन मिशन सोसायटी, मद्रास, १९५०।

२. नेमिचन्द्र, शास्त्री; **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा–२,** दि० जैन विद्वत् परिषद्, सागर, १९७४, पे० ४१७।

३. जोहरापुरकर, वि० और काशलीवाल, क०; **वीर शासन के प्रभावक आचार्य,** भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७५, पे० ७८।

४. साध्वी चन्दना (सं०); **उत्तराध्ययन,** सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७६, पेज ३८०।

५. आर्य श्याम; **प्रज्ञापना सूत्र–१,** आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८३, पेज ३९।

६. महाप्रज्ञ, युवाचार्य; **दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन,** जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता–१, १९६७, पेज ११६।

७. वट्टकेर, आचार्य; **मूलाचार–१,** भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८४, पेज १७६।

जैन शास्त्रों में आहार विज्ञान

डॉ० एन० एल० जैन

जैन केन्द्र, रीवां (म० प्र०)

भारतीय संस्कृति में धर्म को एक विशेष प्रकार की जीवन-पद्धति माना गया है। यही कारण है कि इसमें गर्भ से मृत्यु तक, पूर्वजन्म से उत्तर-जन्म तक, प्रातःकाल से दूसरे सूर्योदय तक के सभी भौतिक और आध्यात्मिक विषय चार वर्गों में (कथा-पुराण, आचार शास्त्र, लौकिक विद्यायें और गणित) विभाजित कर संक्षेप से लेकर अतिविस्तार तक प्रतिपादित किये गये हैं। इसका केन्द्र विन्दु मुख्यतः मानव-जाति है पर मानवेतर समुदायों की चर्चा भी इसमें पर्याप्त मात्रा में है। विश्व में विद्यमान मानव एवं मानवेतर समुदायों की समग्र संज्ञा 'जीव' है। पहले जीव और जीवन शब्दों में विशेष अन्तर नहीं माना जाता था। 'सव्वेसि जीवणं पियं'। पर अब जीव (living) को सादि-सान्त (संसारी) और जीवन (life) को अनादि-अनन्त कहते हैं। हम यहाँ जीव की एक अनिवार्य आवश्यकता — आहार — के विषय में चर्चा करेंगे क्योंकि इसके बिना वह संसार में अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता। धर्म और अध्यात्म को भी विकसित नहीं कर सकता। संसार की कष्टमयता के वर्णन के बावजूद भी प्रत्येक प्राणी उसके बाहर नहीं जाना चाहता। शास्त्रों में जीव को मृत्यु के प्रति निर्भयता का दृष्टिकोण विकसित किया गया है, पर सामान्य मानव प्रकृति अभी भी मृत्यु को टालना ही चाहती है। इसलिये वह उसके कारणों पर विजय प्राप्त कर अतिजीविता को प्रश्रय देता लगता है। ये प्रयत्न इस बात के प्रतीक हैं कि वह संसार व उसके परिवेश को दुःखमय मानने की शास्त्रीय शिक्षा को तात्त्विक महत्त्व नहीं देता दिखता। लगता है, उसे यहाँ सुख अधिक और दुःख कम प्रतीत होता है। वह अन्दर से स्वामी सत्यभक्त की ऐसी ही मान्यता से अधिक प्रभावित दिखता है।[1]

आहार की दृष्टि से जीवों की दो श्रेणियाँ माननी चाहिये : प्रथम श्रेणी में सभी प्रकार के वनस्पति आते हैं। ये अपना आहार स्वयं बनाते हैं (स्वयंपोषी)। दूसरी श्रेणी में त्रस जीव आते हैं। ये अन्य जीवों को अपना आहार बनाते हैं (पर-पोषी)। आहार सभी जीवों के अस्तित्व एवं अतिजीविता के लिये अनिवार्य आवश्यकता है। इसके विषय में जैन शास्त्रों में पर्याप्त विवरण मिलता है। वहाँ इसे आहार वर्गणा, आहार पर्याप्ति, आहारक शरीर, आहार प्रत्याख्यान, आहार परीषह तथा आहार दान आदि के रूप में सहचरित किया गया है। ये पद आहार के विभिन्न रूपों व फलों को प्रकट करते हैं। प्रारम्भ में, समाज के मार्गदर्शक साधु एवं आचार्य होते थे। वे प्रायः साधुधर्म का ही उपदेश करते थे। इसीलिये प्राचीन शास्त्रों में साधु-आचार की ही विशेष चर्चा पाई जाती है। आचारांग, दशवैकालिक, मूलाचार, भगवती आराधना आदि श्रावकाचार के विषय में मौन हैं। तथापि अनेक आचार्यों ने श्रावकधर्म पर ध्यान दिया है। उन्होंने इसे द्वादशांगी में उपासकदशा नामक सप्तम अंग बताया है। यह स्पष्ट है कि साधुओं की तुलना में श्रावकों की स्थिति द्वितीय है, अतः उनसे सम्बन्धित उपदेशों को अमृतचंद्र सूरि[2] तक ने निम्नस्थानी माना है। फिर भी, कुंदकुंद ने चरित्र प्राभृत[3] में छह गाथाओं में श्रावकों के चारित्र का ११ प्रतिमाओं और १२ व्रतों के रूप में उल्लेख किया है। उसमें कुछ परिवर्धन करते हुए उमास्वामी[4] ने तत्वार्थ सूत्र के सातवें अध्याय के १८ सूत्रों में इसका वर्णन किया है। आचार्य समन्तभद्र ने 'न धर्मो धार्मिकैर्बिना' के

आधार पर श्रावकाचार पर सर्वप्रथम ग्रन्थ 'रत्नकरंडश्रावकाचार'[५] लिखा। उसके बाद अनेक आचार्यों ने इस विषय पर ग्रन्थ लिखे हैं। इन ग्रन्थों की तुलना में साधु-आचार पर कम ही ग्रन्थ लिखे गये हैं (सारणी—१)।

सारणी १. श्रावकाचार के प्रमुख जैन ग्रन्थ

क्रमांक	आचार्य	समय	ग्रन्थनाम
१.	कुंदकुंद	१–२ सदी	चरित्र प्राभृत
२.	उमास्वामी	२–३ सदी	तत्वार्थ सूत्र
३.	समन्तभद्र	५ सदी	रत्नकरंडश्रावकाचार
४.	आ० जिनसेन	८ सदी	आदि पुराण
५.	सोमदेव	१० सदी	उपासकाध्ययन
६.	अमृतचन्द्र सूरि	१० सदी	पुरुषार्थसिद्धयुपाय
७.	अमित गति–२	१०–११ सदी	अमितगतिश्रावकाचार
८.	वसुनंदि	११ सदी	वसुनंदिश्रावकाचार
९.	पद्मनंदि	११ सदी	पद्मनंदिपंचविंशतिका
१०.	पं० आशाधर	१२–१३ सदी	सागारधर्मामृत
११.	पं० दौलतराम काशकीवाल	१६९२–१७७२	जैन क्रियाकोष
१२.	आ० कुंथुसागर	२० सदी	श्रावकधर्म प्रदीप

मूलाचार और भगवती आराधना के बाद १३वीं सदी का अनागार धर्मामृत ही आता है। इससे यह स्पष्ट है कि विभिन्न युगों के आचार्यों ने श्रावकों के आचार की महत्ता स्वीकृत की है। श्रावक वर्ग न केवल साधुओं का भौतिक दृष्टि से संरक्षक है, अपितु वहीं श्रमणवर्ग का आधार है क्योंकि उत्तम श्रावक ही उत्तम साधु बनते हैं। श्रावक श्रमण धर्म की प्रतिष्ठा का प्रहरी एवं रक्षक है। वर्तमान श्रावक भूतकालीन परम्परा से अनुप्राणित होता है और भविष्य की परम्परा को विकसित करता है।[६] अतः आचार्यों ने उनके विषय में ध्यान दिया, यह न केवल महत्त्वपूर्ण है, अपितु प्रशंसनीय भी है।

आहार की परिभाषा

श्रावक या मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण अनेक कारकों से होता है : परम्परा, संस्कार, मनोविज्ञान, परिवेश, समाज एवं आहार-विहार आदि। इनमें आहार प्रमुख है। ''जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन,'' ''जैसा पीवे पानी, वैसी बोले बानी,'' आदि लोकोक्तियाँ इसी तथ्य को प्रकट करती हैं। यद्यपि ये देशकाल सापेक्ष हैं, फिर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।[७] धार्मिक दृष्टि से पल्लवित कर्मवाद के अनुसार, आहार शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान एवं संहनन नामकर्म के उदय में निमित्त होता है।[८] यह शरीरान्तर ग्रहण करने हेतु एकाधिक समय की विग्रहगति में भी होता है। वस्तुतः आहार शब्द की अवधारणा ही आ-समन्तात्-चारों ओर या परिवेश से, हरति-प्रह्लाति-ग्रहण किये जाने वाले द्रव्यों के आधार पर स्थापित है। पूज्यपाद और अकलंक[९] ने तीन स्थूल शरीर और उनको चालित करने वाली ऊर्जाओं (छह पर्याप्तियों) के निर्माण के लिये कारणभूत पुद्गल वर्गणाओं (सूक्ष्म, स्थूल, द्रव, गैस व ठोस द्रव्य) के अन्तर्ग्रहण को आहार कहा है। फलतः, वर्तमान में आहार या भोजन के रूप में ग्रहण किये जाने वाले सभी द्रव्य तो आहार हैं ही। इसके अतिरिक्त, जैनमत के अनुसार, ज्ञान, दर्शन आदि कर्म और हास्य, दुख, शोक, भय, घृणा, लिंग, इच्छा, अनिच्छा आदि नोकर्म भी ऊर्जात्मक सूक्ष्म द्रव्य हैं। अतः

इसका भी परिवेश से अन्तर्ग्रहण आहार कहलाता है। इस दृष्टि से जैनों की 'आहार' शब्द की परिभाषा, आज की वैज्ञानिक परिभाषा से, पर्याप्त व्यापक माननी चाहिये। इसमें भौतिक द्रव्यों के साथ भावनात्मक तत्वों का अन्तर्ग्रहण भी समाहित किया गया है। इसलिये आहार के शारीरिक प्रभावों के साथ मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी जैन शास्त्रों में प्राचीन काल से ही माने जाते हैं। आहार विशेषज्ञों ने आहार के भावनात्मक प्रभावों से सह-सम्बन्धन की पुष्टि पिछली सदी के अन्तिम दशक में ही कर पाई है।

आहार की आवश्यकता, लाभ या उपयोग : वैज्ञानिक परिभाषा

जैन आचार्यों ने प्राणियों के लिये आहार की आवश्यकता प्रतिपादित करने हेतु अपने निरीक्षणों को निरूपित किया है। उत्तराध्ययन में बताया है कि आहार के अभाव में शरीर काकजंघा तृण के समान दुर्बल हो जाता है, धमनियाँ स्पष्ट नजर आने लगती हैं।[10] भूखे रहने पर प्राणी की क्रियाक्षमता घट जाती है। मूलाचार के आचार्य[11] ने देखा कि आहार की आवश्यकता दो कारणों से होती है : (i) भौतिक और (ii) आध्यात्मिक। वस्तुतः भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति से ही आध्यात्मिक लक्ष्य सधता है, "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं"। इन्हें सारणी २ में दिया गया है।

सारणी २ : आहार के शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक लाभ

(अ) भौतिक लाभ : शास्त्रीय दृष्टिकोण	वैज्ञानिक दृष्टिकोण
(i) शरीर में बल (ऊर्जा) बढ़ता है।	(i) आहार शरीर की मूलभूत एवं विशिष्ट क्रियाओं में सहायक होता है।
(ii) जीवन का आयुष्य बढ़ता है।	(ii) यह शरीर कोशिकाओं के विकास, संरक्षण व पुनर्जनन में सहायक होता है।
(iii) शरीर-तंत्र पुष्ट (कार्यक्षम) रहता है।	(iii) यह रोग प्रतीकारक्षमता देता है।
(iv) शरीर की कांति बढ़ती है।	(iv) शरीर की कार्यप्रणाली को संतुलित एवं नियंत्रित करता है।
(v) जीवन सुस्वादु होता है।	(v) यह शरीर क्रियाओं को आवश्यक ऊर्जा प्रदान करता है।
(vi) भूख की प्राकृतिक अभिलाषा शांत होती है।	
(vii) दशों प्राण सन्धारित रहते हैं।	
(viii) आहार औषध का कार्य भी करता है।	
(ix) इससे दूसरों की वैयावृत्य की जा सकती है।	
(x) इससे तप और ध्यान में सहायता मिलती है।	
(ब) आध्यात्मिक लाभ	
(१) यह चरम आध्यात्मिक लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्ति का साधन है।	—
(२) यह धर्मपालन के लिये आवश्यक है।	—
(३) इससे ज्ञानप्राप्ति में सरलता होती है।	—

आशाधर[12] के अनुसार, शरीर की स्थिति के लिये आहार आवश्यक है। स्थानांग[13] में आहार से मनोज्ञता, रसमयता, पोषण, बल, उद्दीपन और उत्तेजन की बात कही है। शारीरिक बल पुष्टि, कान्ति और रोग-प्रतीकार क्षमता का ही प्रतीक है। स्वामिकुमार[14] तो क्षुधा और तृषा को प्राकृतिक व्याधि ही मानते हैं। उनके अनुसार आहार

से प्राणधारण और शास्त्राभ्यास-दोनों संभावित हैं। कुंदकुंद[15] भी यह मानते हैं कि आहार ही मांस, रुधिर आदि में परिणत होता है। फलतः यह स्पष्ट है कि आहार के शास्त्रीय उद्देश्य वे ही हैं जिन्हें हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं। इन्हें यदि आधुनिक भाषा में कहा जावे, तो यह कह सकते हैं कि शरीर-तंत्र में सामान्यतः दो प्रकार की क्रियायें होती हैं : सामान्य एवं विशेष। सामान्य क्रियाओं में श्वासोच्छावास या प्राणधारण की क्रिया, पाचन क्रिया आदि तथा विशेष क्रियाओं में आजीविका सम्बन्धी कार्य, लिखना-पढ़ना, श्रम, तप और साधना आदि समाहित हैं। आज के आहार-विज्ञानियों ने जीव शरीर की कोशिकीय संरचना और क्रियाविधि के आधार पर सारणी २ में दिये गये आहार के तीन अतिरिक्त उद्देश्य भी बताये हैं। इनका उल्लेख शास्त्रों में प्रत्यक्षतः नहीं पाया जाता। वैज्ञानिक शरीर की स्थिति के अतिरिक्त विकास, सुधार व पुनर्जनन हेतु भी आहार को आवश्यक मानते हैं। यह तथ्य मानव की गर्भावस्था से बाल, कुमार, युवा एवं प्रौढ़अवस्था के निरन्तर विकासमान रूप तथा रुग्णता या कुपोषण के समय आहार-की गुणवत्ता के परिवर्तन से होने वाले लाभ से स्पष्ट होता है।

बीसवीं सदी के प्रारंभ में वैज्ञानिकों ने पाया कि कोई कार्य, गति या प्रक्रिया भीतरी या बाहरी ऊर्जा के बिना नहीं हो सकती। शरीर-संबन्धित उपरोक्त कार्य भी ऊर्जा के बिना नहीं होते। इसलिये यह सोचना सहज है कि आहार के विभिन्न अवयवों से शरीर के विभिन्न कार्यों के लिये ऊर्जा मिलती है। यह ऊर्जा-प्रदाय उसके चयापचय में होने वाले जीव-रासायनिक, शरीर क्रियात्मक एवं रासायनिक परिवर्तनों द्वारा होता है। यह ज्ञात हुआ है कि सामान्य व्यक्ति के लिये उपरोक्त लक्ष्यों के पूर्ति के लिए लगभग दो हजार कैलोरी ऊर्जा की आवश्यकता होती है। अतः हमारे आहार का एक लक्ष्य यह भी है कि उसके अन्तर्ग्रहण एवं चयापचय से समुचित मात्रा में ऊर्जा प्राप्त हो। इस प्रकार, वैज्ञानिक दृष्टि से आहार ऐसे पदार्थों या द्रव्यों का अन्तर्ग्रहण है जिनके पाचन से शरीर की सामान्य-विशेष क्रियाओं के लिये ऊर्जा मिलती रहे। यह परिभाषा शास्त्रीय परिभाषा का विस्तृत एवं वैज्ञानिक रूप है। इसमें गुणात्मकता के साथ परिमाणात्मक अंश भी इस सदी में समाहित हुआ है।

आहार के भेद-प्रभेद

जैन शास्त्रों में आहार को दो आधारों पर वर्गीकृत किया गया है . (i) आहार में प्रयुक्त घटक और (ii) आहार के अन्तर्ग्रहण की विधि। प्रथम प्रकार के वर्गीकरण को सारणी ३ में दिया गया है। इससे प्रकट होता है कि मुख्यतः आहार के चार घटक माने गये हैं जिनमें कहीं कुछ नाम व अर्थ में अन्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में आहार के केवल दो ही घटक माने जाते थे : भक्त (ठोस खाद्यपदार्थ) और पान (तरल खाद्य पदार्थ) या पान और भोजन (भक्तपान, पानभोजन)[16]। यह शब्द विपर्यय भी कब-कैसे हुआ, यह अन्वेषणीय है। प्रज्ञापना[17] में सजीव (पृथ्वी, जलादि), निर्जीव (खनिज लवणादि) एवं मिश्र प्रकार के त्रिघटको आहार बताये गये हैं। इससे प्रतीत होता है कि आहार के घटकगत चार या उससे अधिक भेद उत्तरवर्ती हैं। मेहता[18] ने आवश्यक सूत्र का उद्धरण देते हुए औषध एवं भेषज को भी आहार के अन्तर्गत समाविष्ट करने का सुझाव दिया है। इनमें अशन और खाद्य एकार्थक लगते हैं। पर दो पृथक् शब्दों से ऐसा लगता है कि अशन से पक्वान्न (ओदनादि) का और खाद्य से कच्चे खाये जाने वाले पदार्थों (खजूर, शर्करा) का बोध होता है। पर एकाधिक स्थान में पुआ, लड्डू आदि को भी इसके उदाहरण के रूप में दिया गया है। अतः अशन और खाद्य के अर्थों में स्पष्टता अपेक्षित है। इसी प्रकार अशन, खाद्य और भक्ष्य के अर्थ भी स्पष्टनीय हैं। पान, पेय और पानक भी स्पष्ट तो होने ही चाहिये। आशाधर[19] ने लेप को भी आहार माना है और तैलमर्दन का उदाहरण दिया है। इसमें तेल का किंचित् अन्तर्ग्रहण तो होता ही है। बृहत्कल्पभाष्य में साधुओं के लिये तीन आहारों का वर्णन किया है जो स्नेह और रस विहीन आहार के द्योतक हैं। मूलाचार[20] में चार और छह-दोनों प्रकार के घटक बताये गये हैं। ऐसे ही कुछ वर्णनों से इसे संग्रह ग्रन्थ कहा जाता है।

सारणी ३. आहार के घटकगत भेद

	दशवैकालिक	मूलाचार १	मूलाचार २	रत्नकरंड श्रावकाचार	सागार धर्मामृत	अना० धर्मामृत	उदाहरण
१.	अशन	अशन	अशन	—	—	अशन	ओदनादि
२.	पान	पान	पान	—	—	पान	जल, दुग्धादि
३.	खाद्य	खाद्य	खाद्य	खाद्य	खाद्य	खाद्य	खजूर, लड्डू
४.	स्वाद्य	स्वाद्य	—	स्वाद्य	स्वाद्य	स्वाद्य	पान, इलायची
५.	—	—	भक्ष्य	—	—	—	मंडकादि
६.	—	—	लेह्य	लेह्य	—	—	लप्सी, हलुआ
७.	—	—	पेय	पेय	पेय	—	जल, दुग्ध
८.	—	—	—	—	लेप	—	तैल मर्दन

'अशन' कोटि का विस्तृत निरूपण देखने में नहीं आया है। इसका उद्देश्य क्षुधा-उपशमन है। इस कोटि में मुख्यतः अन्न या धान्य लिया जा सकता है। यद्यपि श्रुतसागर सूरि ने धान्य के ७ या १८ भेद बताये हैं, पर पूर्ववर्ती साहित्य[२१] में २४ प्रकार के धान्यों का उल्लेख है। इनमें वर्तमान में इक्षु और धनिया को धान्य नहीं माना जाता। इसलिये श्रुतसागर[२२] की सूची में भी इनका नाम नहीं है। प्राचीन साहित्य[२३] में पेय पदार्थों के सामान्यतः तीन भेद माने गये हैं पर आशाधर[२४] ने सभी को पानक मानकर उसके छह भेद बताये हैं (सारणी ४)। आचारांग में २१ पानकों का उल्लेख है। व्रतविधान संग्रह में 'कांजी' जाति को पृथक् गिनाया गया है पर उसे 'पानक' में ही समाहित मानना चाहिये। यह स्पष्ट है कि आशाधर के छह पानक पूर्ववर्ती[२५] आचार्यों से नाम व अर्थ में कुछ भिन्न पड़ते हैं। अशन की तुलना में पानकों को प्राणानुग्रही माना जाता है।

अन्तर्ग्रहण-विधि पर आधारित भेद

भगवती सूत्र और प्रज्ञापना[२६] में अन्तर्ग्रहण की विधि पर आधारित आहार के तीन भेद बताये गये हैं: ओजाहार, रोमाहार और कवलाहार। इसके विपर्यास में वीरसेन ने धवला[२७] में छह आहार बताये हैं: ऊष्मा या ओजाहार, लेप या लेप्याहार, कवलाहार, मानसाहार, कर्माहार, नोकर्माहार। वहाँ यह भी बताया गया है कि विग्रहगति-समापन्न जीव, समुद्घातगत केवली और सिद्ध अनाहारक होते हैं। लोढ़ा[२८] ने वनस्पतियों के प्रकरण में ओजाहार को स्वांगीकरण (एसिमिलेशन) कहा है, यह त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। इस शब्द का अर्थ अन्तर्ग्रहण के बाद होने वाली क्रिया से लिया जाता है जिसे अन्नपाचन कह सकते हैं। वस्तुतः इसे शोषण या एवसोर्प्शन मानना चाहिये जो बाहरी या भीतरी-दोनों पृष्ठ पर हो सकता है। हमारे शरीर या वनस्पतियों द्वारा सौर ऊष्मा एवं वायु का पृष्ठीय अवशोषण इसका उदाहरण है। इसीलिये इसे महाप्रज्ञ ने ऊर्जाहार का ही नाम दिया है।[२९] लेप्याहार को भी इसी का एक रूप माना जा सकता है। रोमाहार को विसरण या परासरण प्रक्रिया कह सकते हैं। यह केवल वनस्पतियों में ही नहीं, शरीर-कोशिकाओं में निरन्तर होता रहता है। कवलाहार तो स्पष्ट ही मुख से लिये जाने वाले ठोस एवं तरल पदार्थ हैं। ये तीनों प्रकार के आहार सभी जीवों के लिये समान्य हैं। जब भावों और संवेगों का प्रभाव भी जीवों में देखा गया, तब विभिन्न कर्म, नोकर्म एवं मनोवेगों को भी आहार की श्रेणी में समाहित किया गया। यह सचमुच ही आश्चर्य है कि भारत में इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का अवलोकन नवमी सदी में ही कर लिया गया था। ये तीनों ही सूक्ष्म या ऊर्जात्मक पुद्गल हैं। अंतरंग या बहिरंग परिवेश से रोमाहार द्वारा इनका अन्तर्ग्रहण होता है और अनुरूपी

सारणी ४. अशन/खाद्य तथा पानकों के विविध रूप

निशीथचूर्णि	श्रुतसागर		पानक, ६	पानक, ६
(अ) कार्बोहाइड्रेट				
१. गेहूँ	१ गेहूँ	१. गेहूँ	(सा० धर्मामृत)	(म० आ०)
२. शालि	२ शालि	२. शालि	१. घन (दही आदि)	(स्वच्छ नीबू रस)
३. व्रीहि	—	—		
४. षष्टिक	३ यव	३. यव	२. तरल (अम्ल रस)	बहुल फल रस
५. यव	—	४. कोद्रव	३. लेपि	लेपि (दही)
६. कोद्रव		५. कंगु (धान विशेष)	४. अलेपि	अलेपि —
७. कंगु				
८. रालक	—	६. रालक ,,	५. ससिक्थ	स-सिक्थ (दूध)
		७. मठवैणव (ज्वार)	६. असिक्थ	असिक्थ (मांड)
(ब) प्रोटीनी				पेय, ३
९. मूंग	४. मूंग	८. मूंग		१. पान (सुरायें, मद्य)
१० उड़द	५. उड़द	९. उड़द		२. पानीय (जल)
११. चना	६. चना	१०. चणक		३. पानक (फल रसादि)
१२. अरहर	७. अरहर	११. अरहर		
१३. राजमाष				
१४. अतीसंद (मटर)	—	१२. राजभाष (रमासी)		
१५. मसूर	—	१३. मकुष्ठ (वनमूंग)		
१६. कालोय (मटर)	—	१४. सिंवा (सेम)		
१७. अणुक (सेम ,	—			
१८. निष्पाव (मटवनास)	—	१५. कीनाश (मसूर)		
१९. कुलथी (बटरा)	—	१६. कुलथी (बटरा)		
(स) वसीय				
२०. तिल	—	१७. सर्षप		
२१. अलसी	—	१८. तिल		
२२. सिपुड	—	—		
(द) विविध				
२३. इक्षु	—			
२४. धनियाँ	—	—		

परिणाम होता है। फलतः वीरसेन के अन्तिम तीन आहार सामग्री-विशेष को द्योतित करते हैं, विधि-विशेष को नहीं। अतः अन्तर्ग्रहण विधि पर आधारित आहार तीन प्रकार का ही उपयुक्त मानना चाहिये।

खाद्य-घटक भेदों का वैज्ञानिक समीक्षण

आधुनिक वैज्ञानिक मान्यतानुसार,[२८] आहार के छह प्रमुख घटक होते हैं :

नाम		उदाहरण	ऊर्जा के०
१. कार्बोहाइड्रेटी या शर्करामय पदार्थ	:	गेहूँ, चावल, यव, ज्वार, कोदों, कंगु	४·०/g
२. वसीय पदार्थ	:	सर्षप, तिल, अलसी	९·०/g
३. प्रोटीन पदार्थ	:	माष, मूंग, चना, अरहर, मटर	४·०/g
४. खनिज पदार्थ	:	फल-रस, शाक-भाजी	—
५. विटामिन-हार्मोनी पदार्थ	:	गाजर, संतरा, आंवला	—
६. जल	:	शोधित, छनित जल	—

वैज्ञानिक विभिन्न प्राकृतिक खाद्य पदार्थों को उनके प्रमुख घटक के आधार वर्गीकृत करते हैं क्योंकि उनमें इसके अतिरिक्त अन्य उपयोगी घटक भी अल्पमात्रा में पाये जाते हैं। ये अल्पमात्रिक घटक खाद्यों की सुपाच्यता, पार्श्वप्रभाव-रहितता तथा ऊर्जा प्रभाव को नियन्त्रित करते हैं। यदि हम शास्त्रीय विवरण का इस आधार पर अध्ययन करें, तो प्रतीत होता है कि अशनादि घटक (अशन : ठोस; पान : द्रव; खाद्य, फल-मेवे; स्वाद्य: विटामिनादि) विशिष्ट आहार वर्ग को निरूपित करते हैं। उस समय रासायनिक विश्लेषण के आधार पर तो वर्गीकरण सम्भव नहीं था, अतः केवल अवस्था (ठोस, द्रव एवं गैसीय अवस्था की धारणा भी नगण्य थी) के आधार पर ही वर्गीकरण सम्भव था। अशन को धान्य जातिक मानने पर यह देखा जाता है कि उसके ७।१८।२४ भेदों में वर्तमान वैज्ञानिकों द्वारा मान्य तीन प्रमुख कोटियाँ समाहित हैं। पान को द्रव-आहार मानने पर उसमें जल, फल-रस, द्राक्षा-जल, मांड, दूध, दही आदि समाहित होते हैं। इनमें भी वैज्ञानिकों द्वारा मान्य तीनों प्रमुख व अन्य कोटियों के पदार्थ हैं। मांड, द्राक्षाजल कार्बोहाइड्रेट हैं, दही प्रोटीन/वसीय है, नीबू, फल-रस विटामिन-खनिज तत्वी हैं। द्रवाहार से शरीर क्रियात्मक परिवहन एवं सन्तुलन बना रहता है। वैज्ञानिक जल को छोड़कर अन्य पानकों को उनके प्रमुख घटकों के आधार पर ही वर्गीकृत करते हैं। द्रव घटकों में प्रमुख कोटियों के अतिरिक्त दो अन्य कोटियाँ भी पाई जाती हैं।

खाद्य-घटक के अन्तर्गत, दिये गये उदाहरणों से इसमें मुख्यतः फल–मेवे और एकाधिक घटकों के मिश्रण से बने खाद्य आते हैं—पुआ, लड्डू, खजूर आदि। स्वाद्य कोटि के उदाहरणों से खनिज, ऐल्केलायड, तथा अल्पमात्रिक घटकी पदार्थों (पान, इलायची, लौंग, कालीमिर्च, औषध आदि) की सूचना मिलती है। इसे वैज्ञानिकों की उपरोक्त ४-५ कोटि में रखा जा सकता है।

उपरोक्त समीक्षण से यह स्पष्ट है कि शास्त्रीय विवरणों में आहार सम्बन्धी घटकगत वर्गीकरण व्यापक तो है, पर यह पर्याप्त स्थूल, मिश्रित और अस्पष्ट है। इसे अधिक यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। फिर भी, इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि जैन शास्त्रों में वर्णित आहार-विज्ञान में वर्तमान में मान्य सभी घटकों को समाहित करने वाले खाद्य पदार्थ सम्मिलित किये गये हैं। मधुसेन का यह मत सही प्रतीत होता है कि शास्त्रीय युग में वैज्ञानिक दृष्टि से आहार के वर्तमान पौष्टिकता के सभी तत्व परोक्षतः समाहित थे।

उपरोक्त घटकों के उदाहरणों से एक मनोरंजक तथ्य सामने आता है। इनमें वनस्पतिज शाकभाजी, सामान्यतः समाहित नहीं हैं। वे किस कोटि में रखी जावें, यह स्पष्ट नहीं है। तथापि शास्त्रों में उनकी भक्ष्यता की दशाओं पर विचार किया गया है।

आहार का काल

कुंदकुंद[२८] और आशाधर[२९] ने बताया है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल (रितुयें, दिन), भाव एवं शरीर के पाचन सामर्थ्य की समीक्षा कर शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिये भोजन करना चाहिये। यह तथ्य जितना साधुओं पर लागू होता है, उतना ही सामान्य जनों पर भी। निशीथ चूर्णि (५९०–६९० ई०) में बताया गया है कि एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों में आहार-सम्बन्धी आदतें और परम्परायें भिन्न-भिन्न होती हैं। जांगल, अ-जांगल एवं साधारण क्षेत्र विशेषों के कारण मानव प्रकृति में विशिष्ट प्रकार से त्रिदोषों का समवाय होता है। यह आहार के घटकों का संकेत या नियन्त्रण करता है। विभिन्न रितुयें भी आहार की प्रकृति और परिमाण को परिवर्ती बनाती हैं। शरद-वसन्त रितु में रुक्ष अन्नपान, ग्रीष्म व वर्षा में शीत अन्नपान, हेमन्त एवं शिशिर रितु में स्निग्ध एवं उष्ण आहार लेना चाहिये। उग्रादित्य[३०] ने तो दिन के विभिन्न भागों को ही छह रितुओं में वर्गीकृत कर तदनुसार खानपान का सुझाव दिया है :

पूर्वाह्न : वसन्त; मध्याह्न : ग्रीष्म अपराह्न : वर्षा;
आद्यरात्रि : प्रावृट्; मध्यरात्रि : शरद; प्रत्यूष : हेमन्त।

भगवती आराधना[३१] में कहा है कि रितु आदि की अनुरूपता के साथ क्षेत्र विशेष की परंपरा भी आहार-काल व प्रमाण को प्रभावित करती है। मूलाचार[३२] तो आहार को व्याधि शामक मानता है। यही नहीं, आहार को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उत्साहवर्धक एवं भावनात्मकतः संतुष्टि कारक भी होना चाहिये। यह प्रक्रिया आहार द्रव्यों और उनके पकाने की विधि पर भी निर्भर करती है। साधु तो ४६ दोषों से रहित शुद्ध भोजन, विकृति-रहित पर द्रव-द्रव्य युक्त विद्ध भोजन एवं उबला हुआ प्राकृतिक भोजन कर आनन्दानुभूति करता है पर सामान्य जन इसके विपरीत भी योग्यायोग्य विचार कर भोजन करते हैं।

आयुर्वेदिक दृष्टि से उग्रादित्य[33] का मत है कि भोजन काल तब मानना चाहिये जब (i) मलमूत्र-विसर्जन ठीक से हुआ हो (ii) अपानवायु निसरित हो चुकी हो (iii) शरीर हल्का लगे और इन्द्रियाँ प्रसन्न हों (iv) जठराग्नि उद्दीप्त हो रही हो और भूख लग रही हो (v) हृदय स्वस्थ हो और त्रिदोष साम्य में हों। नेमीचन्द्र चक्रवर्ती ने भी मनोभावनात्मक क्षुधानुभूति, असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा, आहार-दर्शन से होने वाली रुचि एवं प्रवृत्ति को आहार काल बताया है। आशाधर ने सूर्योदय से पैंतालीस मिनट बाद से लेकर सूर्यास्त से पौन घंटे पहले तक के काल को सामान्य जनों के लिये आहार काल बताया है। इसके विपर्यास में, मूलाचार में साधुओं के लिये सूर्योदय से सवा घंटे बाद तथा सूर्यास्त से सवा घंटे पूर्व के लगभग १० घंटे के मध्य काल को आहार काल बताया गया है। उत्तम पुरुष दिन में एक बार और मध्यम पुरुष उपरोक्त समय सीमा में दिन में दो बार आहार लेते हैं। रात्रिभोजन तो जैनों में स्वीकृत ही नहीं है। इस प्रकार सामान्य मनुष्य का लगभग आधा जीवन उपवास में ही बीतता है।

मूलाचार और उत्तराध्ययन के अनुसार, मध्याह्न या दिन का तीसरा प्रहर आहार काल बैठता है। कृषकों के देश में यह काल उचित ही है। पर वर्तमान से आहार काल प्रायः पूर्वाह्न १२ बजे के पूर्व ही समाप्त हो जाता है। महाप्रज्ञ[३४] का मत है कि वास्तविक आहार काल रसोई बनने के समय के अनुरूप मानना चाहिये जो क्षेत्रफल के अनुरूप परिवर्ती होता है।

शास्त्रों में रात्रि भोजन के अनेक दोष बताये गये हैं। प्रारम्भ में आलोकित-पान-भोजन के रूप में इसकी मान्यता थी। तैल-दीपी रात्रि में विद्युत् की जगमगाहट आ जाने से प्राचीन युग के अनेक दोष काफी मात्रा में कम

हो गये हैं। इसलिये यह विषय परम्परा के बदले सुविधा का माना जाने लगा है। फिर भी, स्वस्थ, सुखी एवं अहिंसक जीवन की दृष्टि से इसकी उपयोगिता को कम नहीं किया जा सकता। इसीलिये इसे जैनत्व के चिह्न के रूप में आज भी प्रतिष्ठा प्राप्त है।

आहार काल और अन्तराल की जैन मान्यता विज्ञान-समर्थित है।

आहार का प्रमाण

सामान्य जन के आहार का प्रमाण कितना हो, इसका उल्लेख शास्त्रों में नहीं पाया जाता। परन्तु भगवती आराधना, मूलाचार, भगवती सूत्र, अनागार धर्मामृत आदि ग्रन्थों में साधुओं के आहार का प्रमाण बताते हुए कहा है कि पुरुष का अधिकतम आहार-प्रमाण ३२ ग्रास प्रमाण एवं महिलाओं का २८ ग्रास प्रमाण होता है। औपपातिक सूत्र[३५] में आहार के भार का 'ग्रास' यूनिट एक सामान्य मुर्गी के अण्डे के बराबर माना गया है जब कि वसुनन्दि ने मूलाचार वृत्ति[३६] में इसे एक हजार चावलों के बराबर माना है। अण्डे के भार को मानक मानना आगम युग में इसके प्रचलन का निरूपक है। बाद में सम्भवतः अहिंसक दृष्टि से यह निषिद्ध हो गया और तण्डुल को भार का यूनिट माना जाने लगा। यह तण्डुल भी कौन-सा है, यह स्पष्ट नहीं है। पर तण्डुल शब्द से कच्चा चावल ग्रहण करना उपयुक्त होगा। सामान्यतः एक अंडे का भार ५०-६० ग्राम माना जाता है, फलतः मनुष्य के आहार का अधिकतम दैनिक प्रमाण ३२×५०=१६०० ग्राम तथा महिलाओं के आहार-प्रमाण २८×५०=१४०० ग्राम आता है। बीसवीं सदी के लोगों के लिये यह सूचना अचरज में डाल सकती है, पर पद यात्रियों के युग में यह सामान्य हो मानी जानी चाहिये। इसके विपर्यास में एक हजार चावल के यूनिट का भार १२-१५ ग्राम होता है, इस आधार पर पुरुष का आहार प्रमाण ३२×१५=४८० ग्राम और महिला का आहार-प्रमाण २०×१५=४२० ग्राम आता है। यह कुछ अव्यावहारिक प्रतीत होता है। यह 'यूनिट' संशोधनीय है। प्रमाण के विषय में 'ग्रास' के यूनिट को छोड़कर शास्त्रों में कोई मतभेद नहीं पाया जाता।

आहार का यह प्रमाव प्रमाणोपेत, परिमित व प्रशस्त कहा गया है। एक भक्त साधु के लिये यह एक बार के आहार का प्रमाण है, सामान्य जनों के लिये यह दो बार के भोजन का प्रमाण है। चतुःसमयी आहार-युग में यह दैनिक आहार प्रमाण होगा। संतुलित आहार की धारणा के अनुसार, एक सामान्य प्रौढ़ पुरुष और महिला का आहार-प्रमाण १२५०–१५०० ग्राम के बीच परिवर्ती होता है। आगमिक काल के चतुरंगी आहार में संभवतः जल भी सम्मिलित होता था।

शास्त्रों में आहार प्रकरण के अन्तर्गत आहार के विभाग भी बताये गये हैं। मूलाचार[३७] में, उदर के चार भाग करने का संकेत है। उसके दो भागों में आहार ले, तीसरे भाग में जल तथा चौथा भाग वायु-संचार के लिये रखे। इसका अर्थ यह हुआ कि भोजन का एक-तिहाई हिस्सा द्रवाहार होना चाहिये। इससे स्वास्थ्य ठीक रहेगा और आवश्यक क्रियायें सरलता से हो सकेंगी। उग्रादित्य ने आहार-परिमाण तो नहीं बताया, पर उसके विभाग अवश्य कहे हैं। सर्वप्रथम चिकने मधुर पदार्थ खाना चाहिये, मध्य में नमकीन एवं अम्ल पदार्थों को खाना चाहिये, उसके बाद सभी रसों के आहार करना चाहिये, सबसे अन्त में द्रवप्राय आहार लेना चाहिये। सामान्य भोजन में दाल, चावल, घी की बनी चीजें, कांजी, तक्र तथा शीत/उष्ण जल होना चाहिये। भोजनान्त में जल अवश्य पीना चाहिये। सामान्यतः यह मत प्रतिफलित होता है कि भूख से आधा खाना चाहिये। यह मत आहार की सुपाच्यता की दृष्टि से अति उत्तम है। शास्त्रों में यह भी बताया गया है कि पौष्टिक खाद्य, अधपके खाद्य या सचित्त खाद्य खाने से वातरोग, उदरपीड़ा एवं मदबुद्धि होते हैं।[३८] नेमिचंद्र सूरि ने उदर के छह भाग किये हैं।[४३]

सामान्य आहार घटकों में उपरोक्त विभाग निश्चित रूप से आधुनिक आहार विज्ञान के अनुरूप नहीं प्रतीत होता। इसमें सन्तुलित आहार की धारणा का समावेश नहीं है। इसी कारण अधिकांश साधुओं में पोषक तत्वों का अभाव बना रहता है और उनका शरीर तप व साधना के तेज से दीपित नहीं रहता है। वह प्रभावक एवं अन्तःशक्ति गर्भित भी नहीं लगता। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से यह तथ्य महत्वपूर्ण नहीं है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से यह तथ्य महत्वपूर्ण नहीं है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से इसकी महान् भूमिका है।

भक्ष्याभक्ष्य विचार

जैन शास्त्रीय आहार विज्ञान में विभिन्न खाद्य पदार्थों की एषणीयता पर प्रारम्भ से ही विचार किया गया है। आचारांग, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक, भास्करनन्दि, आशाधर और शास्त्री[32] ने अभक्ष्यता के निम्न आधार बताये हैं। (सारणी ५)। इससे स्पष्ट है कि अभक्ष्यता का आधार केवल हिंसात्मकता ही नहीं है, इसके अनेक लौकिक आधार भी हैं। मानव के परपोषी होने के कारण इन सभी आधारों पर विचारणा स्वतन्त्र शोध का विषय है।

सारणी ५. अभक्ष्यता के आधार (शास्त्रीय)

आधार	कारण	उदाहरण
१. त्रसजीवघात, बहुजन्तुयोनिस्थान बहुघात। बहुवध।	दो या अधिकेन्द्रिय जीवों की स्थिति से हिंसा। त्रस-जीव हिंसा।	पंचोदुंबरफल, चलित रस, आचार-मुरब्बादि, मधु, मांस, द्विदल, रात्रिभोजन
२. स्थावर जीव घात (अनंतकायिक)	प्रत्येक/अनंतकाय वनस्पति जीवों को हिंसा।	कंदमूल, बहु बीजक, कोंपल, कच्चे फल
३. प्रमाद/मादकता वर्धक	आलस्य, उन्मत्तता, चित्त विभ्रम	मद्य, गाँजा, भाँग, चरसादि
४. रोगोत्पादकता/अनिष्टता	स्वास्थ्य के लिये अहितकर	—
५. अनुपसेव्यता/लोकविरुद्धता	—	प्याज, लहसुन आदि
६. अल्प फल-बहु विघात, अल्प भोज्य-बहु-उज्झणीय	वनस्पति घात	गन्ने की गड़ेरी, तेंदू, कलौंदा, फली-दार पदार्थ, भाजी, सूरण
७. अपक्वता/अग्नि प्रतिहतता/ अनग्निपक्वता	सभी वनस्पति प्रारम्भ में सजीव रहते हैं, अप्रासुक हैं	जल

इन आधारों पर शास्त्रों में अभक्ष्य पदार्थों की बाइस श्रेणियाँ बताई गई हैं। यह संख्या तेरहवीं सदी में स्थिर हुई है। इसके पूर्व शास्त्रों में अभक्ष्यों की कोटियाँ तो बताई गई, पर निश्चित संख्या का संकेत नहीं था। साध्वी मंजुला[40] के अनुसार, इनका सर्वप्रथम उल्लेख धर्मसंग्रह नामक ग्रन्थ में मिलता है। सारणी ६ में तीन स्रोतों में प्राप्त बाइस अभक्ष्यों को दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक सूची में कुछ अन्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सूची में समय-समय पर नाम जोड़े गये हैं, इसीलिये इसमें अनेक नामों कोटियों में पुनरावृत्ति भी है। उदाहरणार्थ, चलित रस में मद्य, मक्खन, द्विदल, आचार मुरब्बा समाहित होते हैं और बहुबीजक में बैंगन आ जाता है। इन्हें चार कोटियों में वर्गीकृत कर वैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षित किया जाना चाहिये। अनेक प्रकार के प्राकृतिक एवं संश्लेषित खाद्य पदार्थों का युग है। उनकी भक्ष्याभक्ष्य विचारणा भी आवश्यक है। इस पर अन्यत्र[41] चर्चा की गई है।

सारणी ६. विभिन्न स्रोतों में बाईस अभक्ष्य

धर्मसंग्रह	जीव विचार प्रकरण[४१]	दौलतराम[४२] क्रियाकोष
(अ) किण्वित		
१. मद्य	मद्य	मद्य
२. मक्खन	मक्खन	मक्खन
३. चलित रस	चलित रस	किण्वन-पदार्थ
४. द्विदल	—	घोल बड़ा, दही बड़ा, द्विदल
(ब) परिरक्षित : ५. आचार-मुरब्बा	आचार-मुरब्बा	आचार-मुरब्बा
(स) त्रस-स्थावर जीवघात		
६–१०. पंचोदुंबर फल	पंचोदुंबर फल	पंचोदुंबर फल
११. मांस	मांस	मांस
१२. मधु	मधु	मधु
१३. अनंतकायिक	अनंतकायिक	कंदमूल
१४. बहुबीजक	बहुबीजक	बहुबीजक
१५. बैंगन	बैंगन	बैंगन
(द) विविध		
१६. विष	विष	विष
१७. बर्फ	बर्फ	बर्फ
१८. ओला	ओला	ओला
१९. तुच्छफल	तुच्छफल	—
२०. अज्ञातफल	अज्ञातफल	अज्ञातफल
२१. मृत जाति–लवण	कच्चे लवण	—
२२. रात्रि भोजन	रात्रि भोजन	रात्रि भोजन
— —	कच्ची माटी	—

निर्देश

१. स्वामी सत्यभक्त; संगम, मई १९८७।

२. शास्त्री, कैलाशचंद्र, पं०; सागार धर्मामृत (सं०), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८, पेज ४०।

३. आचार्य, कुंदकुंद; अष्पाहुड़, दि० जैन संस्थान, महावीरजी, १९६७, पेज ६९-७७।

४. आचार्य, उमास्वामी; तत्वार्थ सूत्र, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १९४९ पेज ३३७-५८।

५. आचार्य, समन्तभद्र; रत्नकरंडश्रावकाचार, ए० एल० जैन ट्रस्ट, मेलसा, १९५१।

६. जैन, डॉ० सागरमल; श्रावकधर्म की प्रासंगिकता का प्रश्न, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, १९८३, पेज ७।

७. जैन, डॉ० नेमीचंद्र (सं०); तीर्थंकर, जनवरी, १९८७।

८. भट्ट, अकलंक; तत्वार्थ राजवार्तिक-२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७, पेज ५-७६।

९. वही; तत्वार्थ राजवार्तिक-१, वही, १९५३, पेज १४०।

१०. — उत्तराध्ययन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७२, पेज १७।

११. आचार्य, बट्टकेर; **मूलाचार**, भारतीय ज्ञानपीठ, १९८४, पेज ३६९-७१ ।
१२. पंडित, आशाधर; **अनगार धर्मामृत**, वही, १९७७, पेज ४९५ ।
१३. — **ठाणं**, जैन विश्वभारती, लाडनूं, १९८२ ।
१४. स्वामि, कुमार; **स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा**, रायचंद्र आश्रम, अगास, १९७८, पेज २६४ ।
१५. आचार्य, कुंदकुंद; **समयसार**, सी० जे० पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, १९३०, पेज १०९ ।
१६. देखिये, निर्देश १० पेज १५७ ।
१७. आर्य श्याम; **प्रज्ञापनासूत्र**, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८३ ।
१८. मेहता, मोहनलाल; **जैन आचार** पार्श्वनाथ विद्याश्रम, काशी, १९६६, पेज १६६ ।
१९. पंडित, आशाधर; **सगार धर्मामृत**, मा० ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८१ ।
२०. देखिये, निर्देश ११, भाग १ पेज ३६१ एवं भाग २ पेज ६५ ।
२१. सेन, मधु; **कल्चरल स्टडी आव निशीथचूर्णि**, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, काशी, १९७५, पेज १२५ ।
२२. श्रुतसागर, सूरि; **तत्वार्थवृत्ति**, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९४९, पेज २५१ ।
२३. मुनि नथमल (सं०); **दशवैकालिक: एक समीक्षात्मक अध्ययन**, तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६७, पेज २०७ ।
२४. देखिये निर्देश ३, पेज ३३३ ।
२५. आचार्य, शिवकोटि; **भगवती आराधना**, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर १९१८, पेज ४१८ ।
२६. लोढा कन्हैयालाल; **मधुकर केसरी अभि० ग्रन्थ**, १९६८, पेज १३७–५४ ।
२७. स्वामी वीरसेन; **धवला**, खण्ड १–१, एस० एल० ट्रस्ट, अमरावती, १९३९, पेज ४०९ ।
२८. पाइक, आर० एल० एवं ब्राउन, पिरटिल; **न्यूट्रीशन**, वाइली-ईस्टर्न, दिल्ली, १९७०, अध्याय २-४ ।
२९. देखिये, निर्देश १२ पेज ४०९ ।
३०. उग्रादित्य, आचार्य; **कल्याण कारक**, सखाराम नेमचन्द्र ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९४०, पेज ५६ ।
३१. देखिये, निर्देश २५ पेज ६०७ ।
३२. देखिये, निर्देश ११ पेज ३७४ ।
३३. देखिये, निर्देश ३० पेज ५५ ।
३४. महाप्रज्ञ, युवाचार्य (सं० ; **दशवैकालिक**, जैन विश्वभारती, लाडनूं, १९७४, पेज १९५ ।
३५. स्थविर; **औपपातिक सूत्र**, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२, पेज ४७,५२ ।
३६. देखिये निर्देश ११ पेज २८६ ।
३७. वही, पेज ३६८ ।
३८. देखिये, निर्देश १४ पेज २५५ ।
३९. शास्त्री, पं० जगन्मोहनलाल (अनु०); **श्रावकधर्म प्रदीप**, वर्णीशोध संस्थान, काशी, १९८०, पेज १०७ ।
४०. साध्वी मंजुला; **अनुसंधान पत्रिका-९**, १९७५, पेज ५३ ।
४१. शान्तिसूरि; **जीवविचार प्रकरण** जैन मिशन सोसाइटी, मद्रास, १९५०, पेज ५७ ।
४२. दौलतराम, पंडित; **जैन क्रियाकोष**, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता १९२७ ।
४०. जैन, एन० एल०; **जैन शास्त्रों में भक्ष्याभक्ष्य विचार**, (प्रेस में)
४१. युवाचार्य महाप्रज्ञ; **किसने कहा मन चंचल है**, तुलसी अध्यात्म नीडं, लाडनूं, १९८५, पेज १२७ ।
४२. कुंदकुंदाचार्य; **प्रवचनसार**, पाटनी ग्रंथमाला, मारोठ, १९५६, पेज २८ ।
४३. नेमिचन्द्र सूरि; **प्रवचनसारोद्धार**, एल० डी० पु० संस्था, बम्बई, १९२२, पेज २५२ ।

शाकाहारी आहारों से ऊर्जा

डा० मधु ए० जैन, एम० डी०

प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, बमनी (मंडला)

अहिंसा-प्रधान जैनधर्म के अनुसार, हमारा आध्यात्मिक विकास कुछ नैतिक आचरण और प्रवृत्तियों पर ही आधारित है। हमारा जीवन आहार के बिना अधिक दिनों तक नहीं चल सकता और आहार भी हमारी अनेक प्रवृत्ति-मनोवृत्ति को प्रभावित करने वाला घटक है, फलतः इसके सम्बन्ध में जैनों ने शाकाहार का प्रवर्तन एवं संवर्धन किया है। आज का वैज्ञानिक जगत भी इस विचार को प्रयोगिक समर्थन दे रहा है। यह प्रसन्नता की बात है कि इस साक्ष्य से शाकाहार की व्यापकता बढ़ रही है। इससे इस सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियां भी दूर हो रही हैं।

१. आहार के कार्य और गुणवत्ता

मनुष्य को आहार की आवश्यकता निम्न कारणों से होती है : (i) शरीर के आधारभूत कार्य (ii) शरीर की भौतिक और विशिष्ट गतिशील क्रियायें (iii) शरीर कोशिकाओं का विकास, संरक्षण, पुनर्जनन (iv) शरीर-क्रियातन्त्र का नियमन (v) रोग-प्रतीकार क्षमता। आहार शरीरतन्त्र में होनेवाली अनेक रासायनिक क्रियाओं के माध्यम से उपरोक्त क्रियाओं को संपन्न करने के लिये समुचित ऊर्जा प्रदान करता है। यह ऊर्जा किलोकैलोरी (किकै०) में व्यक्त की जाती है। यह पाया गया है कि सामान्य स्थिति में आधारभूत क्रियाओं के लिये ०·८ किकै०/किग्रा-शरीर भार/घंटे की ऊर्जा आवश्यक होती है। यह विश्रान्ति तथा निद्रा के समय के लिये सही है। शारीरिक क्रियाओं में १.२ किकै०/किग्रा घंटे की दर से अतिरिक्त ऊर्जा आवश्यक होती है। विशिष्ट गतिशील क्रियाओं में भी लगभग ७% अतिरिक्त ऊर्जा चाहिये। इस प्रकार, पचपन किलो भार एवं १·६ वर्गमीटर क्षेत्रफल वाले सामान्य भारतीय के लिये दैनिक ऊर्जा की औसत आवश्यकता निम्न होगी :

(अ) निद्रा, ८ घंटे (आधारी) :	५५×०·८×८ :	३५२·०० कै०
(ब) अन्य क्रियायें, १६ घंटे :	५५×(०·८+१·२)×१६ :	१७६०=०० कै०
		२११२·००
(स) विशिष्ट गतिशील क्रिया	७%	१४८=००
		२२६०=००

इस परिकलन में जलवायु, शरीर-संघटन, आकार, वय, लिंग या अन्य कारणों से १०% परिवर्तन हो सकता है। ऊर्जा की यह आवश्यकता ३५–५५ वर्ष की उम्र में प्रति दस वर्ष में ५% कम हो जाती है। उत्तरवर्ती उम्र में यह १०% प्रति दस वर्ष कम होती है।[1] आदर्श आहार वह है जो न केवल उपरोक्त ऊर्जा की पूर्ति करे, अपि उसमें वे आवश्यक तत्व भी समुचित मात्रा में होने चाहिये जो हमारे जीवन को स्वस्थ, उत्साहपूर्ण एवं विकासी बनाते हैं। आहार का यह कार्य उसके शरीर-क्रियात्मक कार्य का प्रतीक है। इसके अतिरिक्त, आहार के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कार्य भी होते हैं।

२. विभिन्न आहार तंत्रों का तुलनात्मक मूल्यांकन

यह देखा गया है कि गुणात्मक रूप से तथा परिमाणात्मक रूप से शरीर-तंत्र के लिये उपरोक्त कार्य किसी भी एक आहार पदार्थ से संपन्न नहीं हो सकते। इसलिये हमें अनेक खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है जो हमें समुचित पोषक तत्त्व एवं ऊर्जा प्रदान कर सकें। इसलिये आहार-शास्त्रियों ने संतुलित आहार के लिये सात मूल खाद्य पदार्थ ज्ञात किये हैं : कार्बोहाइड्रेट (अन्न), वसायें, दुग्ध—दुग्ध उत्पाद, प्रोटीन (दाल), कन्दमूल, पत्तेदार शाकें एवं फल (खनिज एवं विटामिन)। इसमें से अन्तिम तीन शरीर तंत्र की क्रियाविधि के नियमन एवं संरक्षण का काम करते हैं। ये ऊर्जा की नगण्य पूर्ति ही करते हैं। लेकिन किसी भी संतुलित या आदर्श आहार के लिये ये अनिवार्य घटक हैं। इन खाद्यों की आपूर्ति प्राकृतिक, परिष्कृत या नव-विकसित आहारों पर निर्भर करती है। ये शाकाहारी और अ-शाकाहारी-दोनों स्रोतों से प्राप्त हो सकते हैं। यह विश्व के विभिन्न भागों में विद्यमान भौगोलिक एवं कृषि-सुविधा की परिस्थितियों पर निर्मित आहार-रुचियों पर निर्भर करता है। पश्चिम ने अपने आहार-पदार्थों की पूर्ति के लिये मिश्र-स्रोत अपनाये हैं। पर भारत प्रमुखतः शाकाहारी है। फिर भी, इसके ७१% निवासियों को हम आदर्श शाकाहारी नहीं कह सकते क्योंकि वे वर्ष में अनेक बार अंडे एवं मांसाहार का उपयोग करते हैं।[3] पश्चिम को शाकाहार के विरुद्ध अनेक शिकायतें हैं।[4] जिनका समर्थन अनेक भारतीय विद्वानों[5] ने भी किया है (उन्होंने समुचित शोध एवं वैज्ञानिक विचारणा की होगी, इसमें सन्देह है) इससे नयी पीढ़ी में अ-शाकाहार की प्रवृत्ति बढ़ी है। इसी कारण शाकाहार की सही परिभाषा का भी प्रश्न उपस्थित हुआ।[6] भारतीय परम्परा में 'वैगन' समिति की अतिवादी मान्यता अव्यावहारिक मानी जाती है, इसमें दुग्ध-अंड-शाकाहार तथा दुग्ध-अंड-विहीन शाकाहार के बदले दुग्ध पूर्ण शाकाहार को मान्यता दी जाती है। इसके अनुसार, शाकाहार में ऐसे खाद्य पदार्थ आते हैं जिनके प्राप्त करने में या तैयार करने में किसी भी स्तर पर किसी के जीवन को कोई कष्ट न हो या किसी का जीवन समाप्त न हो। इस परिभाषा में दूध और उसके उत्पाद समाहित हो जाते हैं, पर अंडे आदि नहीं।

बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में, पश्चिम ने गैर-शाकाहारी आहार तन्त्र को उत्तम माना। लेकिन अब यह दुग्ध-शाकाहारवाद को वैज्ञानिक आधार पर स्वीकृत कर रहा है। ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा तथा अन्य एशियाई देशों में अब शाकाहार के सुरक्षित लाभों के प्रति लोग आश्वस्त हो रहे हैं। वे इस ओर न केवल आर्थिक या धार्मिक दृष्टि से ही आकृष्ट हो रहे हैं, अपितु वे इसे स्वास्थ्य, पर्यावरण, अहिंसा एवं सुरुचि का भी प्रतीक मानते हैं। ट्रैपिस्ट मोंक्स, सेवेन्थ डे एडवेन्टिस्ट क्रिश्चियन्स, जेन माइक्रोबायोटिक्स, अनेक देशों के केरिस्ट और जी० बी० शा के समान अनेक व्यक्तियों और समूहों ने इस भारतीय परम्परा को स्वीकार किया है।[6] अब यह भली भाँति स्वीकार किया जाता है कि शाकाहार आर्थिक, ऊर्जात्मक एवं खाद्यघटकों की दृष्टि से सारणी १ की सूचनानुसार उत्तम होता है। यह सही है कि वैज्ञानिक आहार शास्त्र के विकास के प्रारम्भिक दिनों में शाकाहार में B_{12} एवं दो आवश्यक ऐमिनो-अम्लों की अपूर्णता का बोध हुआ था, पर इन्हें आहारों में सोया दूध, मूंगफली-चूर्ण, दूध उत्पाद तथा पत्तेदार शाकों के अनिवार्य समाहरण द्वारा पूरी तरह से दूर किया जा चुका है। अनेक अन्य तथाकथित शाकाहार की कमियां उसके लाभों को ही प्रकट करती हैं (सारणी)। वस्तुतः इन लाभों के कारण ही पश्चिम अब शाकाहार की ओर अधिकाधिक आकृष्ट हो रहा है। यही स्थिति भारत के युवा वर्ग की भी सम्भावित है।

३. शरीर की ऊर्जकीय एवं पोषक तत्त्वों की आवश्यकतायें

सांख्यिकीय आधार पर औसत भारतीय के लिये, एफ० ए० ओ० तथा डब्लू० एच० ओ० के १९६४ के विवरण के विपर्यास में, दैनिक रूप से २२४० कै०[7] ऊर्जा की आवश्यकता है। अनेक प्रकार की समर्थक विवेचना देते हुए डा० दांडेकर, रथ, आचार्य और सुखात्मे ने भी इस मत का समर्थन किया है। यह ५५ किग्रा० औसत भार वाले भारतीय

सारणी १. दुग्ध-शाकाहार तथा अ-शाकाहार तंत्रों की तुलना

		अ-शाकाहार तंत्र		शाकाहार तंत्र
१.	कैलोरी	उच्च कैलोरी क्षमता		निम्न पर उपयुक्त कैलोरी
२.	वसा-मान	उच्च वसीय		निम्न वसीय
३.	प्रोटीन	उच्च प्रोटीन		निम्न प्रोटीन
		उच्च पचनीयता		समुचित पचनीयता
		उच्च जैविकमान		मध्यम जैविकमान
		नेट प्रोटीन उपयोग : ७५–९५		ने० प्रो० उ० : ५०–६५
४.	कोलस्टेरोल अन्तर्गम	अधिक		सामान्यत: नहीं
५.	रेशे	नहीं		पर्याप्त मात्रा
६.	विटमीन एवं ऐमीनो अम्ल	$B_{१२}$, ट्रिप्टोफेन, मीथियोनीन व राइबोफ्लेविन पर्याप्त मात्रा में		इनकी मात्रा अपर्याप्त, पर पूरक/प्रचलित खाद्यों द्वारा पूरित
७.	वसीय अम्ल	संतृप्त अम्लों की मात्रा अधिक		असंतृप्त अम्लों की मात्रा अधिक
८.	विटमीन C	पर्याप्त		पर्याप्त पर कुछ अतिरिक्त लेना आवश्यक
९.	विषाक्तता	संभावित		वस्तुत: असंभव
१०.	विविधता	सीमित		असीमित
११.	सामान्य स्वास्थ्य प्रभाव			
	(१) भार वृद्धि, मोटापा	पर्याप्त		२०% कम, मोटापाहीनता
	(२) हृदय रोग-संवेदन	पर्याप्त संवेदनशील		नगण्य
	(३) रक्त चाप	उच्च		नियंत्रित करता है।
	(४) कोलोन कैंसर	संवेदनशील		असंभव
	(५) ओस्ट-योपेरोसिस	संवेदनशील		असंभव
	(६) नशेबाजी (व्यसन) पर प्रभाव	नगण्य		व्यसन को कम करता है
	(७) दीर्घ जीविता	प्रभावित होती है		बढ़ती है
	(८) जीवन धारा	जटिल		सरल और स्वस्थ
	(९) मधुमेह	नियंत्रण कठिन		रेशों के कारण संभव
१२.	उत्पादन मूल्य	शाकाहार की तुलना में ३–१० गुना		बहुत कम
१३.	औसत कैलोरी			
	वितरण का प्रतिशत	कार्बोहाइड्रेट	४७	५२
		वसायें	४१	२७
		प्रोटीन	१२	१७
		शर्करा	—	०४
१४.	संतुलित आहार का मूल्य	२५% अधिक		२५% कम
१५.	कैलोरी मूल्य	(i) प्रोटीन कैलोरी मंहगी (ii) शाक-कैलोरी मंहगी		दोनों ही ½—⅓ मंहगी

के लिये ०.८ ग्राम प्रोटीन, १.२५ ग्राम वसा तथा ६.५ ग्राम कार्बोहाइड्रेट प्रति किग्रा० शरीर-भार के आधार पर परिकलित भी किया जा सकता है। विशेष प्रकरणों में अतिरिक्त ऊर्जा आवश्यक होती है। कैलोरियों के अतिरिक्त, आहार को आवश्यक पोषक तत्वों की भी समुचित मात्रा में पूर्ति करनी चाहिये। इनकी दैनिक आवश्यकतायें सारणी २ में दी गई हैं।

यह स्पष्ट है कि शाकाहार से शरीर को ऊर्जा और पोषण- दोनों ही समुचित मात्रा में मिलते हैं। फिर भी, यह पाया गया है कि आय के उच्च होने पर लोग प्रोटीन और वसायें अधिक खाने लगते हैं। ग्रामीण जनता का आहार ऊर्जा की दृष्टि से समुचित होता है जब कि शहरी जन खनिज और विटामिनों की दृष्टि से पूर्ण आहार लेता है। संतुलित आहार पोषण-विज्ञान के समुचित ज्ञान और उसके अर्थशास्त्र की जानकारी के अभाव में यह असन्तुलन रहता है।

४. संतुलित शाकाहारी भोजनों के लिये सुझाव

अनेक पूर्वी और पाश्चात्य विद्वानों ने विभिन्न समूहों के लिये सन्तुलित और मितव्ययी शाकाहारी भोजनों के सुझाव के लिये प्रयोग किये हैं। इनमें से दो सारणी ३ में दिये गये हैं। यह स्पष्ट है कि भा० चिकित्सा अनु० परिषद्

सारणी २. कैलोरी और पोषक पदार्थों की न्यूनतम दैनिक आवश्यकता

कैलोरी/पोषक	न्यूनतम आवश्यकता	स्रोत
१. कैलोरी	२२४०	आधारभूत सात खाद्य
२. प्रोटीन	५५ ग्राम	दाल, सेम; ०.८ ग्रा/किग्रा.
३. कार्बोहाइड्रेट	३५८ ग्राम	अन्न, कंदमूल; ६.५ ग्रा/किग्रा.
४. वसा	६९ ग्राम	घी, तैल; १.२५ ग्रा./किग्रा.
५. नमक, सोडि. क्लोराइड	५.४–६.२ ग्राम	बाह्य और अंतःस्रोत
६. कैल्सियम	०.८ ग्राम	अन्न, दूध, फली
७. फास्फोरस	०.८ ग्राम	अन्न, दूध, फली
८. पोटेशियम	२.० ग्राम	मटर, सेम
९. आयरन, लोहा	०.०१८ ग्राम	पत्तेदार शाक
१०. कापर, तांबा	०.००२–०.००४० ग्राम	सेम, ईस्ट, चाय, फल्ली
११. जिंक	०.०१५ ग्राम	काली मिर्च, कंद
१२. मेंगेनीज	०.००४ ग्राम	पूर्ण अन्न, फली
१३. मैगनीसियम	०.३–०.४ ग्राम	चाय, काफी, पूर्णअन्न
१४. कोबाल्ट, बी–१२	०.००१–०.००३ ग्राम	आलू, अन्न, दूध
१५. आयोडीन	०.१०–०.१५ ग्राम	आयोडीनित नमक
१६. फ्लुओरीन	०.००३–०.०३ ग्राम	दूध, सेम, चाय निष्कर्ष
१७. सल्फर, गंधक	—	दाल, फली
१८. मोलिबडीनम	—	अन्न, काले रंग की शाकें
१९. क्रोमियम	सूक्ष्म मात्रा	यीस्ट, पूर्ण अन्न
२०. सेलीनियम	,,	अन्न, फली
२१. निकेल, टिन, सिलिकन तथा वैनेडियम	,,	कार्य अज्ञात

सारणी ३. प्रौढ़ों के लिये प्रस्तावित दुग्ध-शाकाहारी आहार

आहार, जाति	भा० चि० अ० प०, १९८०			पार्क और गोपालन		
	परिमाण	कै०	मूल्य	परिमाण	कै०	मूल्य
१. अन्न, ग्राम	३६०	१३४०	१.२०	४००	१६००	१.००
२. चीनी, गुड़	३०	१२०	०.२०	३०	१२०	०.२०
३. दाल	४०	१६०	०.३०	७०	२८०	०.५०
४. मूंगफली	—	—	—	५०	२५०	०.५०
५. पत्तेदार शाक	४०	२०	०.१०	१००	५०	०.१५
६. अन्य शाक	६०	२५	०.१५	७५	२५	०.२०
७. कन्दमूल	५०	५०	०.१०	७५	७५	०.१५
८. फल	—	—	—	३०	१५	०.१५
९. दूध	१५०	९५	०.७५	२००	१२०	१.००
१०. घी/तेल	४०	३६०	१.००	३५	३१५	०.७५
११. योग	८७० ग्राम	२६६५ कै०	३.८९	१०६५	२०५० कै०	४.६०

सारणी ४. विभिन्न प्रस्तावित भोजनों में ऊर्जा वितरण

आहार, जाति	सैद्धान्तिक, सारणी २	भा० चि० अ० प०	पार्क/गोपालन	जैन
१. कार्बोहाइड्रेट	६२%	६५%	६०%	६०%
२. वसायें	२८%	१५%	१७%	१४.५%
३. प्रोटीन	८%	६%	१६%	२०%
४. शाक/फल आदि	२%	४%	७%	६%

द्वारा १९८० में प्रस्तावित आहार ऊर्जात्मक दृष्टि से ठीक है पर इसमें परम्परागत शाकाहार की अपूर्णता के पूरक के रूप में फल और फलियां समाहित नहीं हैं।[8] सारणी ४ से यह भी स्पष्ट है कि इसका ऊर्जा-वितरण भी संतोष जनक नहीं है।

इसमें खनिज भी कम हैं। पार्क[9] ने गोपालन[10] का अनुसरण कर इन दोनों ही दिशाओं में सुधार किया है। इस लेखक ने भी सारणी ५ में एक आहार योजना सुझाई है। यह न केवल मितव्ययी ही है, अपितु यह आहार के सभी घटकों की सन्तोषजनक रूप से पूर्ति करती है। यह आधारभूत सात घटकों को पूर्ण मितव्ययिता के रूप में समाहित करती है। यदि इसमें १०% श्रम व्यय भी जोड़ा जावे, तब भी यह मितव्ययी रहेगी। इस योजना का पूर्ण विश्लेषण सारणी ५ में दिया गया है। यह स्पष्ट है कि शाकाहारी खाद्य पूर्णतः पोषक होते हैं। विशेष आवश्यकता के अनुरूप इसके अन्न और फलियों की मात्रा में परिवर्तित कर इसे संवर्धित किया जा सकता है।

दुग्ध-शाकाहारी भोजन से ऊर्जा और पोषक तत्वों की पर्याप्त पूर्ति का तथ्य अब निर्विवाद प्रमाणित हो चुका है। फिर भी, पूर्व और पश्चिम इस आहार-तन्त्र को और भी प्रचलित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। वे सोयाबीन,

सारणी ५ : औसत भारतीय के लिये दुग्ध-शाकाहारी आहार का विवरण* : एक प्रायोजना

क्र० आहार घटक	मात्रा (ग्राम)	कैलोरी	मूल्य	कार्बो०	प्रोटीन	वसा	रेशे	खनिज	Ca, mg.	P mg.	Fe, mg.	था०	रीबो०	निया०	विटा० A	वि० C
अ. कार्बोहाइड्रेट																
१. पूर्ण गेहूँ का आटा	३००	१०५०	०.६०	२१०	३.७	५.१	५.७	८.१	१५०	११६५	३५	८७	१.५	१३	८७	०
२. चावल	५०	१८०	०.२०	३५	३.२	०.२	०.१	०.४	५	८६	१६	०.२१	०.१६	३.५	२	०
३. गुड़/चीनी	३०	१२०	०.२०	३०	—	—	—	—	१००	६५	—	—	—	—	—	—
४. कन्दमूल (आलू)	५०	५०	०.१०	१२	०.८५	०.५	०.५	०.३	५	२०	०.३५	०.०५	०.०५	०.६	१२	९
	४३०g	१४००	१.१०													
ब. प्रोटीन																
५. दाल	६०	२४०	०.४०	३०	२२.३	०.९	०.७५	१.८	३६	१५०	२.९	०.२३	०.१०	१–५	६६	—
६. दूध	२००	१२०	१.००	१०	८.६	१७.५	—	१.६	४२०	२६०	०.४	०.०८	०.२०	०.२०	३२०	१
७. मूंगफली	२५	१२५	०.२५	७	७	१०.०	०.७५	०.६	३००	१४०	२.५	०.५	०.१७	२२	१५	०
	२८५g	४८५	१.६५													
स. वसा/तैल																
८. घी/तैल	२५	२२५	०.५०	—	—	२५	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
द. खनिज/विटामिन																
९. पत्तेदार शाक	१००	५०	०.१५	३.०	२.०	०.७	०.६	१.७	१००	३५	८.०	०.३५	०.२६	०.५०	३५००	४०
१०. अन्य शाक	५०	२५	०.१६	१.८	०.९	०.५	०.३	०.६	१०	१८	०.५	०.०४	०.०१	०.२०	१९२	१६
११. फल	३०	२०	०.१५	४.३	०.२	०.७	०.३	०.१	३	३५	०.३३	—	—	—	—	१
१२. मसाले	१०	३०	०.१०	२.१	१.४	१.६	३.२	०.४५	६३	३९	१.८	०.०२	०.०३	०.१	९५	०
	१९०g	१२५	१.०५													
योग	९३०g	२२३५	४.३०	३४५.२	८३.५	६१.१७१	१.४०	१५.६५	११३२	१९३८.५	६८.१८	८८.१६	२.४८	२१	४२८९	६७
इ. दैनिक न्यूनतम आवश्यकता		२२४०	—	३५८	५५	६९	—	—	१०००	१०००	३०	२	१.५	१६	३०००	४०

* इस सारणी में खनिजों की मात्रा मिलीग्रामों में व विभिन्न विटैमिनों की मात्रा अन्तर्राष्ट्रीय इकाइयों में दी गई है।

सारणी ६. शाकाहारी एवं मांसाहारी खाद्य-घटकों के कैलोरी-मूल्य प्रति पैसा

खाद्य घटक	शाकाहारी			मांसाहारी	
	गोपालन	भा.चि.प.	जैन	राव	अमेरिका
१. कार्बोहाइड्रेट	१२'५ पैसा	१३'४	१२'७	१३'७	२'२
२. प्रोटीन	३'२५	२'४	२'	२'०	१'८
३. वसा	४'५०	४'००	४'५०	४'४	६'३
४. फल/शाक	३'००	२'०	२'२०	०'३०	०'५

मक्का, यीस्ट, काई, अल्फाल्फा आदि के समान गैर-परम्परागत शाकाहारी स्रोतों से नये-नये खाद्यों का विकास कर रहे हैं।[११] शासन स्वयं भी इस ओर ध्यान दे रहा है और उसकी एजेन्सियों ने भी अनेक बहु-उद्देश्यीय सस्ते खाद्यों का विकास किया है। उन्होंने मूंगफली, मक्का, चना और सोयाबीन के आटे तथा दुग्ध-चूर्ण से उच्च प्रोटीनी पौष्टिक खाद्य तैयार किया है। मक्का, सोर्घम एवं बिनौले के आटे से मध्य अमेरिका में इनकैप्रिना नामक खाद्य विकसित किया गया है। इनकी सुस्वादुता उत्साहवर्धक पाई गई है। इन खाद्यों का ऊर्जामान एवं प्रोटीनमान पर्याप्त उच्च होता है। विभिन्न देशों में स्कूली भोजन या मध्याह्न भोजन के समय इन्हें दिया जा रहा है। यही नहीं, आहारशास्त्री तो पेट्रोलियम-स्रोतों से १:३ ब्यूटेन डायोल तथा १:३ डाइमेथिल हैप्टानोइक अम्ल के समान ६ कै०/ग्राम के समान सान्द्रित ऊर्जा वाले कार्बोहाइड्रेट-प्रतिस्थापी खाद्यों के विकास की दिशा में काम कर रहे हैं। इस प्रकार, वे कृषि पर आधारित खाद्यों पर निर्भरता को कम करने के प्रयत्न में लगे हैं। आज के अन्तरिक्ष-युग में ऐसे सान्द्रित-ऊर्जा के खाद्यों की महती आवश्यकता है।[१२]

दुग्ध-शाकाहारी खाद्यों के सम्बन्ध में उपरोक्त तथ्य एवं विकास जैनों की इस धारणा को बल देते हैं कि शाकाहार न केवल एक धार्मिक विश्वास है अपितु यह स्वस्थ, सुखी एवं दीर्घजीवन के लिये तुलनात्मकतः सरल एवं वैज्ञानिकतः समर्थ आहार तन्त्र है। इसके प्रचार हेतु आयोजित होने वाले अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों की लोकप्रियता भी इस तथ्य का प्रमाण है।

५. कैलोरीमान का अर्थशास्त्र और आहार-मानों में प्रचलन

किसी भी आहार के ऊर्जामानों के विकास का अर्थ उससे उत्पन्न कैलोरियों के अर्थशास्त्र से सम्बन्धित है। खाद्यों की प्रत्येक कोटि से प्राप्त होने वाली कैलोरी का विशिष्ट मूल्य होता है। सारणी ४ से स्पष्ट है कि हमारे आहार का लगभग २/३ कैलोरीमान कार्बोहाइड्रेटी खाद्यों से प्राप्त होता है। ये सस्ते होते हैं, इसलिये इन्हें 'निस्सार कैलोरी समूह' कहते हैं। उपरोक्त प्रस्तावित भोजनों के मूल्य विश्लेषण से स्पष्ट है कि कार्बोहाइड्रेटी कैलोरियाँ एक पैसे में १२-१३ तक प्राप्त होती हैं। इसके विपर्यास में, प्रोटीन एवं शाकों से प्राप्त कैलोरी लगभग छह गुनी मंहगी होती है—२–२'४ कै०/पैसा। वसीय कैलोरी तिगुनी मंहगी पड़ती है—४ कै०/पैसा। इस कैलोरी-मूल्य से ज्ञात होता है कि यदि हमें आहार की कैलोरी बढ़ाना है, तो अन्न अधिक खाना चाहिये। इसी प्रकार, यदि हमें मोटापा कम करना है, तो हमें अन्न कम और प्रोटीन अधिक खाना चाहिये। इस दृष्टि से मांसाहारी प्रोटीन की कैलोरी बहुत मंहगी है। यही बात इस कोटि की शाक-कैलोरी की है।[१३] इसीलिये मांसाहारी भोजन, शाकाहारी भोजन से मंहगा होता है। यह देखा गया है कि शाकाहारी प्रोटीन, मांसाहारी प्रोटीन की तुलना में १/२–१/३ सस्ता होता है। इस प्रकार भोजन का मूल्य इसके प्रोटीन पर निर्भर करता है। अमेरिकी वैज्ञानिकों का भी यही निष्कर्ष है लेकिन वहाँ वसीय कैलोरी कुछ सस्ती

पड़ती हैं।[१४, १५] कैलोरियों के इस अर्थशास्त्र से हमें अपने आहार के प्रोटीन और ऊर्जामानों को उन्नत करने में सहायता मिल सकती है। आजकल शाकाहारी खाद्यों की अधिकतम उपयोगिता के लिये भार/मूल्य के अनुपात में मितव्ययिता की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। इससे शाकाहार को तो प्रोत्साहन मिलेगा ही, अहिंसाधर्म का भी घोष होगा।

●

निर्देश

१. विल्सन डी० एवा आदि; **प्रिंसिपल्स आव न्यूट्रीशन**, जॉन वाइली, न्यूयार्क, १९६६, p. १००–१२२

२. फ्लैक हेरीता; **इन्ट्रोडक्शन टू न्यूट्रीशन**, मैकमिलन, न्यूयार्क, १९७६, पेज १९

३. राव, ह्वी० के० आर० ह्वी०; **फुड, न्यूट्रीशन ऐंड पोवर्टी इन इंडिया**, विकास, दिल्ली, १९८२, p. १४६

४. (a) देखिये, निर्देश २, पेज ४२१–२६;
   (b) आलिम, मेरियन; **साइंस आव न्यूट्रीशन**, मैकमिलन, न्यूयार्क, १९७७, पेज ९२–९८

५. गोपालन, सी०; **न्यूट्रीटिव वेल्यूज आव इण्डियन फुड्स** (हिन्दी), चण्डीगढ़, १९७४

६. देखिये, निर्देश ४ पेज ९२–९३

७. देखिये, निर्देश ३, पेज १३८

८. वही, पेज १०४

९. पार्क, जे० ई० और पार्क, के०; **टेक्स्ट बुक आव पी० एस० एम०**, मानोत, जबलपुर, १९८७

१०. देखिये, निर्देश ५, पेज १४०

११. देखिये, निर्देश ४, पेज २८८–८६

१२. देखिये, निर्देश १, पेज ४९७–५०२

१३. देखिये, निर्देश २, पेज ४४७

१४. देखिये, निर्देश २, पेज ४४३

१५. किंडर, फाया; **मील मैनेजमेन्ट**, मैकमिलन, न्यूयार्क, १९७३, पेज ३९

जैन सिद्धान्तों के सन्दर्भ में वर्तमान आहार-विहार

आचार्य राजकुमार जैन

भारतीय चिकित्सा परिषद्, नई दिल्ली

प्रगतिशील कहे जाने वाले वर्तमान वैज्ञानिक एवं भौतिकवादी युग में आज मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी अधिक हैं। इसी प्रकार मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियों का आकर्षण केन्द्र वर्तमान में जितना अधिक भौतिकवाद है, उतना अध्यात्मवाद नहीं है। यही कारण है कि आज का मनुष्य भौतिक नश्वर सुखों में ही यथार्थ सुख की अनुभूति करता है, जिसमें अन्तिम परिणाम विनाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वर्तमान में किया जा रहा सतत चिन्तन, अनुभूति की गहराई, अनुशीलन की परम्परा और तीव्रगामी विचार प्रवाह—सब मिलकर भौतिकवाद के विशाल समुद्र में इस प्रकार विलीन हो गए हैं कि जिससे अन्तर्जगत की समस्त प्रवृत्तियाँ अवरुद्ध हो गई हैं। इसका एक यह परिणाम अवश्य हुआ है कि वर्तमान मनुष्य समाज की अनेक वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हुई हैं, जिससे सम्पूर्ण विश्व में एक अभूतपूर्व भौतिकवादी वैज्ञानिक क्रान्ति का प्रसार लक्षित हो रहा है। इस वैज्ञानिक क्रान्ति ने जहाँ धर्म और समाज को प्रभावित किया है, वहाँ मनुष्य जीवन का कोई भी अंश उसके प्रभाव से अछूता नहीं रहा है। यही कारण है कि मनुष्य के आचार विचार एवं आहार-विहार में आज अपेक्षाकृत परिवर्तन दिखलाई पड़ रहा है। आज मनुष्य पुरानी परम्पराओं का पालन करते हुए स्वयं रूढ़िवादी कहलाना पसन्द नहीं करता है, क्योंकि हमारी प्राचीन परम्पराएँ आज रूढ़िवादी का पर्याय बन चुकी हैं। इस परिस्थिति ने हमारे आहार-विहार तथा आचार-विचार को भी अछूता नहीं रखा। इसी सन्दर्भ में हमें अपने वर्तमान खान-पान एवं आचरण को देखना परखना है।

जैनधर्म में मनुष्य के आचरण की शुद्धता को विशेष महत्व दिया गया है। जब तक मनुष्य अपने आचरण को शुद्ध नहीं बनाता, तब तक उसका शारीरिक विकास महत्वहीन एवं अनुपयोगी है। मनुष्य के आचरण का पर्याप्त प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर पड़ता है। विपरीत आचरण या अशुद्ध आचरण मानव स्वास्थ्य को उसी प्रकार प्रभावित करता है जिस प्रकार उसका आहार विहार। आचरण से अभिप्राय यहाँ दोनों प्रकार के आचरण से है—शारीरिक और मानसिक। शारीरिक आचरण शरीर को और मानसिक आचरण मन को तो प्रभावित करता ही है, साथ में शारीरिक आचरण मन को और मानसिक आचरण शरीर को भी प्रभावित करता है। इन दोनों आचरणों से मनुष्य की आत्म-शक्ति भी निश्चित रूप से प्रभावित होती है। आचरण की शुद्धता आत्मशक्ति को बढ़ाने वाली और आचरण की अशुद्धता आत्मशक्ति का ह्रास करने वाली होती है। इसका स्पष्ट प्रभाव मुनिजन, योगी, उत्तम साधु और संन्यासियों में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसे गृहस्थ श्रावकों में भी आत्मशक्ति की वृद्धि का प्रभाव दृष्टिगत हुआ है जिन्होंने अपने जीवन में आचरण की शुद्धता को विशेष महत्व दिया। ऐसे सन्त पुरुषों में महान आध्यात्मिक सन्त पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी आदि तथा गृहस्थ जीवन यापन करने वालों में महात्मा गाँधी, विनोबा भावे, गुरु गोपालदास जी वरैया, पं० जैन सुखदास जी न्यायतीर्थ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

जैनधर्म का महत्व आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से है। चिकित्सा की दृष्टि से उसका कोई महत्व नहीं है और न ही जैनधर्म में चिकित्सा के कोई निर्देशक सिद्धान्त निरूपित हैं। किन्तु चिकित्सा का सम्बन्ध मानव स्वास्थ्य से

है और स्वास्थ्य की दृष्टि से अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्त जैनधर्म द्वारा प्रतिपादित किए गए हैं। स्वास्थ्योपयोगी जैनधर्म के वे सिद्धान्त यद्यपि भले ही स्वास्थ्य की दृष्टि से वर्णित न किए गए हों, किन्तु मानव मात्र के लिए मानव शरीर की दोषों से रक्षा के निमित्त आध्यात्मिक शुद्धि हेतु प्रतिपादित वे नियम निश्चय ही महत्वपूर्ण हैं। आध्यात्मिक शुद्धि एवं आत्म कल्याण की भावना से अभिभूत मनुष्य के लिए भले ही उसके शारीरिक स्वास्थ्य का कोई महत्व न हो, किन्तु एक गृहस्थ एवं श्रावक को तो शरीर की रक्षा का उपाय करना पड़ता है। जिस प्रकार अन्यान्य दोषों से आत्मा की रक्षा करना उसका परम कर्तव्य है, उसी प्रकार रोगों से शरीर की रक्षा करना भी परम कर्तव्य है। शरीर की रक्षा के बिना अथवा स्वस्थ शरीर के बिना धर्म साधना सम्भव नहीं है। धर्म का अभिप्राय मानव जीवन की निष्क्रियता भी नहीं है कि धर्म के नाम पर मनुष्य स्वयं को समस्त लौकिक कर्मों से विरत कर ले, अपितु आचरण की शुद्धता एवं संयम पूर्ण जीवन ही वास्तविक धर्म है। जीवन की उपयोगिता शरीर के बिना नहीं है। अतः व्यवहारिक जीवन में शरीर की रक्षा करना तथा शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य रक्षण हेतु सदैव सजग रहना मानव मात्र का परम कर्तव्य है। चारों ही पुरुषार्थ की सिद्धि शरीर के ही माध्यम से होती है और शरीर का स्वास्थ्य ही इनका मूल आधार है। आचार्यों के शब्दों में—"धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।"

यह महत्वपूर्ण तथ्य है जो आचार्यों की गहन दृष्टि का परिणाम है, लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टि से उपयोगी एवं सार्थक है। अतः अपने शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा हेतु सतत प्रयत्नशील रहना हमारा नैतिक दायित्व हो जाता है। शरीर के प्रति मोह नहीं रखना आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, किन्तु इसका यह भी अभिप्राय नहीं है कि शरीर की पूर्ण उपेक्षा की जाय। जानबूझ कर शरीर की उपेक्षा करना एक प्रकार का आत्मघात है और आत्मघात को शास्त्रों में सबसे बड़ा दोष माना गया है। अतः धर्म साधना हेतु आहार आदि के द्वारा शरीर का साधन करना तथा अहित विषयों से उसकी रक्षा करना और विकार एवं रोगों से उसे बचाना आवश्यक है। एकान्ततः शरीर की उपेक्षा करने का उल्लेख किसी शास्त्र में नहीं है। जैनधर्म में भी आत्म साधना के समक्ष शरीर को यद्यपि नगण्य माना गया है, किन्तु पूर्णतः उसकी उपेक्षा का निर्देश नहीं किया गया। अतः यावत् काल शरीर की आयु है, तावत् काल उसे स्वस्थ रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ पर यह ध्यान रखने योग्य है कि शरीर को स्वस्थ रखना और उसे रोगों से बचाना एक भिन्न बात है और शरीर से मोह रखते हुए उसके माध्यम से भौतिक सुखों का उपयोग करना एक भिन्न बात है। जैनधर्म शरीर का भौतिक सुखों से विरत रखने का निर्देश तो देता है, किन्तु स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी सात्विक उपायों के सेवन का निषेध नहीं करता।

मानव शरीर के स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से तथा अहित विषयों में शरीर की प्रवृत्ति को रोकने के लिए जैनधर्म ने मनुष्य के दैनिक आचरण तथा उसके व्यक्तिगत एवं सामाजिक व्यवहार में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जो शारीरिक व मानसिक दृष्टि से तो उपयोगी हैं ही, आत्मशुद्धि, आध्यात्मिक विकास एवं सात्विक जीवन निर्वाह के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जैनधर्म में प्रतिपादित सिद्धान्त जहाँ मनुष्य के आध्यात्मिक मार्ग को प्रशस्त करते हैं, वहाँ लौकिक किंवा व्यावहारिक जीवन के उत्थान में भी सहायक होते हैं। सात्विक जीवन निर्वाह हेतु मनुष्य को प्रेरित करना उनका मुख्य लक्ष्य है। अतः स्वास्थ्य रक्षा एवं आरोग्य की दृष्टि से जैन धर्म आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अत्यन्त निकट है। जीवन की कसौटी पर कसे हुए सिद्धान्त विज्ञान की तुला में जब समानता प्राप्त कर लेते हैं, तो जीवनोपयोगी उन सिद्धान्तों को वैज्ञानिक आधार प्राप्त हो जाता है। अतः मानव जीवन की सार्थकता का निर्वाह करने वाले, मन-वचन-काय में शुद्धता उत्पन्न करने वाले, सात्विक एवं मानवोचित विशुद्ध भावों का उद्भव करने वाले नियम और सिद्धान्त जब प्रकृति के साँचे में ढल जाते हैं, तो स्वतः ही वैज्ञानिकता की परिधि में आ जाते हैं। उनकी पूर्णता ही वैज्ञानिकता है।

प्रकृति और विकार के सन्दर्भ में कहा जाता है कि प्राणि संसार में मृत्यु ही प्रकृति है और जीवन विकार है। इस कथन की सार्थकता वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक है। लौकिक दृष्टि से विकार (जीवन) की प्रकृति आरोग्य है और आरोग्य का आधार शरीर है। शरीर का विनाश अवश्यंभावी है। अतः उसका अन्तिम परिणाम मृत्यु है। निष्कर्ष रूपेण दृष्टि की भिन्नता होते हुए भी लक्ष्य केवल एक ही रहता है। इसी प्रकार स्वास्थ्य साधन, शरीर रक्षा एवं आरोग्य लाभ के समन्वित लक्ष्य हेतु जैन धर्म एवं आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की पारस्परिक दूरी होते हुए भी आंशिक रूपेण ही सही, बहुत कुछ निकटता एवं पारस्परिक एकता अवश्य है।

व्यवहारिक जीवन में प्रयुक्त किये जाने वाले सामान्य नियम कितने उपयोगी और स्वास्थ्य के लिए हितकारी होते हैं, यह उनके आचरित करने के बाद भली भांति स्पष्ट हो जाता है। एक जैन गृहस्थ के यहाँ साधारणतः इसका तो ध्यान रखा ही जाता है कि वह जल का उपयोग छानकर करे, सूर्यास्त के पश्चात् भोजन न करे, यथासम्भव गड़न्त वस्तुओं (आलू, अरबी, आदि) का उपयोग न करे, मद्यपान, धूम्रपान आदि व्यसनों का सेवन न करे, जो वस्तुएँ दूषित या मलिन हों और जिनमें जन्तु आदि उत्पन्न हो गए हों, उनका सेवन न करे इत्यादि। स्वयं को अत्यधिक प्रगतिशील कहने वाले व्यक्ति भले ही जैन धर्म के उपर्युक्त नियमों को रूढ़िवादी, धर्मान्धतापूर्ण, थोथे एवं निरुपयोगी कहें, किन्तु स्वास्थ्य के लिए उनकी उपयोगिता को वैज्ञानिक आधार पर अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। जो नियम जीवन को सात्विकता की ओर ले जाकर जीवन ऊंचा उठाने वाले हों, शरीर की रक्षा और स्वास्थ्य का सम्पादन करने वाले हों, वे नियम केवल इसी आधार पर अवहेलना किए जाने योग्य नहीं है कि धार्मिक या सात्विक दृष्टि से ही उनका महत्व है।

आधुनिक विज्ञान के प्रत्यक्ष परीक्षणों द्वारा यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि जल में अनेक सूक्ष्म जीव एवं अनेक अशुद्धियाँ होती हैं। अतः जल को शुद्ध करने के पश्चात् ही उसका उपयोग करना चाहिये। जल की कुछ भौतिक अशुद्धियाँ तो वस्त्र से छानने के बाद दूर हो जाती हैं, कुछ जीव भी इस प्रक्रिया द्वारा जल से पृथक किये जा सकते हैं। अतः काफी अंशों में जल की अशुद्धि छानने मात्र से दूर हो जाती है और कुछ समय के लिए जल शुद्ध हो जाता है। किन्तु जल की शुद्धि वस्तुतः जल को उबालने से होती है। छने हुए जल को अग्नि पर उबालने से जलगत सभी प्रकार की अशुद्धियाँ दूर हो जाती हैं और जल पूर्ण शुद्ध होकर निर्मल बन जाता है। जैन धर्म मानव शरीर को जल सम्बन्धी समस्त दोषों से बचाने और शरीर को निरोग रखने की दृष्टि से शुद्ध, ताजे, छने हुए और यथासम्भव उबाल कर ठण्डा किए हुए जल के सेवन का निर्देश देता है। क्या इस निर्देश और नियम की व्यवहारिकता अथवा उपयोगिता को अस्वीकार किया जा सकता है ?

गृहस्थ के व्यावहारिक जीवन को उन्नत बनाने हेतु तथा शरीर को स्वस्थ रखने के लिए शुद्ध ताजे और निर्दोष भोजन की उपयोगिता स्वास्थ्य विज्ञान द्वारा निर्विवाद रूप से स्वीकार की गई है। मानव जीवन एवं मानव शरीर को स्वस्थ, सुन्दर व निरोग रखने के लिए तथा आयु पर्यन्त शरीर की रक्षा के लिए निर्दुष्ट, परिमित, सन्तुलित एवं सात्विक आहार ही सेवनीय होता है। आहार में कोई भी वस्तु ऐसी न हो जो स्वास्थ्य के लिए अहितकर अथवा रोगोत्पादक हो। अतः सदैव शुद्ध और ताजा भोजन ही हितकर होता है। आहार सम्बन्धी विधि विधान के अनुसार उचित समय पर भोजन करने का बड़ा महत्व है। जो लोग समय पर भोजन नहीं करते, वे अक्सर आहार एवं उदर सम्बन्धी व्याधियों से पीड़ित रहते हैं। आहार (भोजन) के समय के विषय में जैन धर्म का दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह तो निर्देशित नहीं किया गया है कि मनुष्य को भोजन किस समय कितने बजे तक कर लेना चाहिए, किन्तु उसकी मान्यता एवं दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य को सूर्यास्त के पश्चात् अर्थात् रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए। इसका धार्मिक महत्व तो यह है ही कि रात्रिकाल में भोजन करने से अनेक जीवों की हिंसा होती है, किन्तु इसका

वैज्ञानिक महत्व एवं आधार यह है कि हमारे आसपास के वातावरण में अनेक ऐसे सूक्ष्म जीवाणु विद्यमान रहते हैं जो दिन में सूर्य की किरणों से नष्ट हो जाते हैं। रात्रि में सूर्य किरणों के अभाव में वे सूक्ष्म जीवाणु विद्यमान रहते हैं और वे हमारे भोजन को दूषित, मलिन व विषमय कर देते हैं। वे भोजन के माध्यम से हमारे शरीर में प्रविष्ट होकर शरीर में विकृति उत्पन्न कर देते हैं।

दूसरी एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वास्थ्य विज्ञान एवं आहार पाचन सम्बन्धी नियमानुसार हम जो आहार ग्रहण करते हैं, वह मुख से, गले के मार्ग द्वारा सर्वप्रथम आमाशय में पहुँचता है, जहाँ उसकी वास्तविक परिपाक क्रिया प्रारम्भ होती है। परिपाक हेतु वह आहार आमाशय में लगभग चार घण्टे तक अवस्थित रहता है। उसके बाद ही वह आमाशय से नीचे क्षुद्रान्त में पहुँचता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब तक भोजन आमाशय में रहता है तब तक मनुष्य को जाग्रत एवं क्रियाशील रहना चाहिए। मनुष्य की जाग्रत एवं क्रियाशील अवस्था में ही आमाशय की क्रिया पूर्णतः संचालित रहती है। मनुष्य की सुप्त अवस्था में आमाशय की क्रिया मन्द हो जाती है जिससे भुक्त आहार के पाचन में बाधा एवं विलम्ब होता है। अतः यह आवश्यक है कि मनुष्य को अपने रात्रि कालीन शयन से लगभग ४-५ घण्टे पूर्व ही भोजन कर लेना चाहिए, ताकि उसके शयन करने के समय तक उसके भुक्त आहार का विधिवत् सम्यक् पाक हो जावे। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को सायंकाल ६ बजे या उसके कुछ पूर्व ही भोजन कर लेना चाहिए। क्योंकि मनुष्य के शयन का समय सामान्यतः रात्रि को १० बजे या उसके आसपास होता है। अतः जैन धर्म का यह दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण एवं वैज्ञानिक आधार लिए हुए है।

इसी प्रकार जब वह सायंकाल ६ बजे या उसके आसपास भोजन करता है तो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार दो भोजन कालों का अन्तर सामान्यतः न्यूनातिन्यून आठ घण्टे का होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो व्यक्ति सायंकाल ६ बजे भोजन करना चाहता है, उसे आवश्यक रूप से प्रातःकाल १० बजे या उसके आसपास भोजन कर लेना चाहिए। जो व्यक्ति प्रातः १० बजे भोजन करता है, वह स्वाभाविक रूप से सायंकाल ६ बजे तक बुभुक्षित हो जायगा। अतः स्वास्थ्य के नियमों में ढला हुआ और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरने वाला जैन धर्म के द्वारा प्रतिपादित आहार सम्बन्धी नियम न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य का विकास करने वाला है, अपितु उसके स्वास्थ्य की रक्षा करता हुआ मानव शरीर को निरोग बनाने वाला और उसे दीर्घायुष्य प्रदान करने वाला है।

आहार सेवन के क्रम में शुद्ध एवं सात्विक आहार के सेवन को विशेष महत्व दिया गया है। इस प्रकार का आहार शारीरिक स्वास्थ्य रक्षा में तो सहायक है ही, इससे मानसिक परिणामों की विशुद्धता भी होती है। दूषित, मलिन एवं तामसिक आहार स्वास्थ्य के लिए अहितकारी और मानसिक विकार उत्पन्न करने वाला होता है। कई बार तो यहाँ तक देखा गया है कि आहार के कारण मनुष्य शारीरिक रूप से स्वस्थ होता हुआ भी मानसिक रूप से अस्वस्थ होता है और जब तक उसके आहार में समुचित परिवर्तन नहीं किया जाता तब तक उसके मानसिक विकार का उपशम भी नहीं होता।

इसके अतिरिक्त यह विचारणीय है कि जैनधर्म में सभी कन्दमूल अभक्ष्य बतलाए गए हैं और किसी भी रूप में उन्हें सेवन योग्य नहीं माना गया है। इसके पीछे धार्मिक मान्यता यह है कि सभी कन्द मूल में अनन्तकाय जीव विद्यमान रहते हैं। उनको कच्चा खाने में उन जीवों का घात होता है। इससे उन्हें खाने वाला व्यक्ति हिंसा का भागी होता है। धार्मिक दृष्टि से यह बात उपादेय हो सकती है, क्योंकि वहाँ जीवों के प्रति दया भाव रखना और उनका घात नहीं होने देना मुख्य लक्ष्य है। किन्तु क्या यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक माना जा सकता है? विशेष रूप से उस समय जब कि औषध रूप में उनमें से किसी द्रव्य का सेवन अपरिहार्य हो। यहां यह ज्ञातव्य है कि जैन धर्म में

धार्मिक दृष्टि से जो द्रव्य असेव्य एवं अभक्ष्य बतलाए गए हैं, आयुर्वेद में उन्हीं द्रव्यों का सेवन स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी बतलाया गया है। वे द्रव्य स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से तो उपयोगी होते ही हैं, उनके सेवन से शरीर में रोग-प्रतिरोध क्षमता उत्पन्न होती है जिससे अनेक व्याधियाँ उत्पन्न ही नहीं हो पाती।

कौन से कच्चे वानस्पतिक शाक द्रव्य भक्षण योग्य नहीं है, उनका उल्लेख निम्न श्लोक में मिलता है :

अल्पफलम्बहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगबेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकामत्येवमवहेयम् ॥

अर्थात् अल्पफल और बहुविघात के कारण (अप्रासुक) मूलक–मूली–गाजर आदि, आर्द्र शृंगबेर (अदरक) आदि, नवनीत-मक्खन, नीम के फूल, केतकी के फूल आदि द्रव्य तथा इसी प्रकार के अन्य द्रव्य त्याज्य हैं।

यहाँ "मूलक" पद मूल मात्र का द्योतक है जिसमें गाजर, मूल, शलजम, आलू, प्याज, शकरकन्द, जमींकन्द आदि खाए जाने वाले कन्दों तथा अन्य वनस्पतियों की जड़ों का समावेश होता है। शृंगबेरादिपद में अदरक के अतिरिक्त हरिद्रा (हल्दी) आदि ऐसे कन्द सम्मिलित हैं जो अपने अंग पर किंचित उभार लिए हुए होते हैं और उपलक्षण से उनमें ऐसे द्रव्यों का भी ग्रहण हो जाता है जो शृंग की भाँति उभार युक्त तो न हो, किन्तु अनन्त काय–अनन्त जीवों के आश्रय भूत हों। बीच में "आर्द्राणि" पद अपना विशेष महत्व रखता है जो अपने अर्थ से मूलक और शृंगबेर दोनों पदों को अनुप्राणित करता है, जिसका सामान्य अभिप्राय यह है कि ऐसे मूल कन्द आदि द्रव्य जो सामान्यतः गीले, हरे और अशुष्क हों। किन्तु विशिष्टार्थ की दृष्टि से सजीव या जीव सहित द्रव्य ग्राह्य हैं जो सचित्त एवं अप्रासुक कहलाते हैं। ऐसे द्रव्य जब तक अपक्व (अनग्निपक्व) होते हैं, तब तक वे सचित्त एवं अप्रासुक होते हैं, अतः वे खाने योग्य नहीं होते हैं। जिन द्रव्यों को अग्नि पर अच्छी तरह से पका लिया जाता है, वे जीव रहित होने से अचित्त हो जाते हैं, अतः प्रासुक हो जाते हैं। इसीलिए प्रासुक के भक्षण में कोई दोष या पाप नहीं लगता है।

जैनधर्म में कन्द मूल आदि सचित्त वानस्पतिक शाक द्रव्यों के सेवन का सर्वथा निषेध हो, ऐसी भी बात नहीं है। श्री समन्तभद्र स्वामी ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में कच्चे द्रव्यों के सेवन में पाप दोष बतलाया है क्योंकि वे सचित्त (जीव सहित) होते हैं, किन्तु यदि उन्हें उबाल कर जीव रहित याने अचित बना लिया जाता है, तो उनके सेवन में कोई दोष नहीं है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार का निम्न श्लोक यही भाव व्यक्त करता है :

मूल–फल–शाक–शाखा–करीर–कन्द–प्रसून–बीजानि ।
नाऽमानि सोऽत्ति तोऽयं सचित विरतो दयामूर्तिः ॥

यहाँ "आमानि" पद अपक्व एवं अप्रासुक अर्थ का द्योतक है। "न अत्ति" पद भक्षण के निषेध का वाचक है। यदि उन द्रव्यों को अग्नि में पका कर प्रासुक कर लिया जाता है, तो उनके सेवन में कोई दोष नहीं है, क्योंकि ग्रंथाकार ने "प्रासुकस्य भक्षणे नो पापः" कह कर गृहस्थों की एक बड़ी समस्या का समाधान कर दिया है।

वर्तमान समय में अदरक, आलू, प्याज, गोभी, अरबी, गाजर, मूली आदि अनेक ऐसे वानस्पतिक द्रव्य हैं जो हमारे दैनिक भोजन में शाक के अनिवार्य अंग हैं। उनके बिना वर्तमान में शाक की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इनमें प्याज और आलू का प्रयोग इतना अधिक सामान्य है कि इनके उपयोग के बिना स्वादिष्ट साग की कल्पना ही नहीं की जा सकती। ये सभी ऋतुओं में सभी समय सर्व सुलभ हैं। आयुर्वेद की दृष्टि से इनके औषधीय गुण धर्म को देखें :

रसोन (लहसुन)

रसोन उष्णः कटुपिच्छिलश्च स्निग्धो गुरूः स्वादुरसोऽतिबल्यः ।
वृष्यश्च मेधास्वरचक्षु भंग्नास्थिसन्धानकरः सुतीक्ष्णः ॥
हृद्रोगजीर्णज्वरकुक्षि शूलविबन्धगुल्मारूचि कृच्छ्रशोफान् ।
दुर्नामकुष्ठानलसादजन्तु कफामयान् हन्ति महारसोनः ॥

रसोन उष्ण वीर्य वाला, कटु रस वाला, पिच्छिल, स्निग्ध और गुरु गुणवाला, मधुर रस वाला, अति बल कारक, पुष्टिकारक, मेधा-स्वर और चक्षु, के लिए हितकारी, भग्नास्थि का संधान करने वाला और अत्यन्त तीक्ष्ण होता है। यह रसोन हृदय रोग, जीर्णज्वर, कुक्षिशूल, विबन्ध (कब्ज), गुल्म, अरूचि, मूत्रकृच्छ्र, शोफ, अर्श, कुष्ठ, मन्दाग्नि, कृमिरोग और कफ जनित विकारों का नाश करता है। व्यवहार में देखा गया है कि यह वात जनित विकारों (जैसे आमवात, जोड़ों का दर्द, पेट में अफरा होना, गैस की शिकायत आदि) में विशेष लाभकारी होता है।

पलाण्डु (प्याज)

पलाण्डुस्तद्गुणैर्न्यूनो विपाके मधुरस्तु सः ।
कफं करोति नो पित्तं केवलो निलनाशनः ॥

पलाण्डु रसोन के गुणों से अल्प गुण वाला होता है। यह विपाक में मधुर रस वाला, कफ की वृद्धि करने वाला, पित्त के प्रति उदासीन, केवल वायु नाशक होता है।

गाजर

गर्जरं मधुरं रुच्यं किञ्चित्कटु कफापहम् ।
आध्मानकृमिशूलघ्नं दाहपित्त ज्वरापहम् ॥

गाजर मधुर एवं किंचित् कटु (चरपरा) रस वाली होती है। यह रुचि कारक, कफ का शमन करने वाला, आध्मान् (अफरा), कृमि, (पेट में कीड़े) और शूल का नाश करने वाला, दाह, पित्त, और ज्वर को दूर करने वाला होता है।

मूली

मूलकं गुरू विष्टम्भि तीक्ष्णमामत्रिदोषनुत् ।
तदेव स्विन्नं स्निग्धं च कटूष्णं कफवातनुत् ॥
त्रिदोष शमनं शुष्कं विषदोषहरं लघु ॥

मूली गुण में गुरु, विष्टम्भी (मलावरोधक) और तीक्ष्ण होती है। यह आम दोष तथा त्रिदोष (वात, पित्त एवं कफ) नाशक है। वही मूली उबाल कर सेवन करने पर स्निग्ध, कटु, रस और उष्ण गुण वाली, कफ एवं वायु नाशक होती है। शुष्क मूली त्रिदोष का शमन करने वाली, विष दोष नाशक और लघु होती है।

अदरक

कफानिलहरं स्वर्यं विबन्धानाहशूल जित ।
कटूष्णं रोचनं वृष्यं हृद्यं चैवाऽऽर्द्रकं स्मृतम् ॥

अदरक कफ एवं वात का शमन करने वाला, स्वर के लिए हितकारी, विबन्ध (कब्ज), अहाँह (आफरा) और शूल का नाश करने वाला, कटु रस वाला, उष्ण गुण वाला, रुचिकारक, वृष्य (पुष्टि कारक) एवं हृदय के लिए हितकारी होता है।

सौंठ

स्निग्धोष्णा कटुका शुण्ठी वृष्या शोफ कफारुचीन्।
हन्तिवातोदरश्वास पाण्डु श्लीपदनाशिनी ॥

सोंठ स्निग्ध गुणवाली, उष्ण वीर्य वाली, कटु रस वाली वृष्या (पुष्टि कारक), शोफ, कफ और अरुचि, वातोदर, श्वास, पाण्डु और श्लीपद रोग का नाश करने वाली होती है।

हींग

हिंगूष्णं कटुकं हृद्यं सरं वातकफौ कृमीन्।
हन्ति गुल्मोदराध्मानबन्धशूलहृदामयान् ॥

हींग उष्ण वीर्य वाली, कटु रस वाली, हृदय के लिये बल कारक, मल निःसारक, वात-कफ और कृमि नाशक होती है। यह गुल्म उदर रोग, आध्मान, बन्ध (कब्ज), शूल और हृदय के रोगों का नाश करती है।

इस प्रकार उपर्युक्त द्रव्य औषधीय गुणों से सम्पन्न होते हैं जो शरीर में आवश्यक तत्वों की पूर्ति तो करते ही हैं, अनेक प्रकार के रोगों का नाश करने में भी सहायक हैं। ये धार्मिक दृष्टि से त्याज्य होते हुए भी स्वास्थ्य की दृष्टि से ग्राह्य एवं उपादेय हैं। वैसे भी श्री समन्तभद्र स्वामी ने इन द्रव्यों के सेवन-ग्रहण का पूर्णतः निषेध नहीं किया है। केवल अपक्व कच्चे रूप में इनका सेवन नहीं करना चाहिये (आमानि न अस्ति)। यदि उन्हें अग्नि पक्व कर लिया जाय, तो जीव रहित एवं निर्दोष हो जाते हैं। प्रासुक द्रव्यों का सेवन वर्ज्य नहीं है, अतः गृहस्थ श्रावक जीवों के घात (संकल्पी हिंसा) से बचते हुए अपने आहार विहार को शुद्ध एवं सात्विक रखें, यह धर्मशास्त्र सम्मत है।

●

Similarities Between Jaina Astronomy & Vedanga Jyotisa

Dr. SAJJAN SINGH LISHK

Govt. In-Service Teachers Training Centre, Patiala-147001

Vedanga jyotisa has often been compared with Siddhantic astronomy and B. G. Tilak (Vedic Chronology And Vedanga Jyotisa, p. 42, 1925) has expounded some similarities between them. Most likely the common features between Vedanga Jyotisa and Siddhantic astronomy must also be exhibited in the intervening period of Jaina astronomy. Some of the prominent resemblances between Jaina astronomy and Vedanga Jyotisa are elucidated as given below :

1. The Vedanga Jyotisa Quinquennial cycle continued to be in vogue down to the time of fag end of Jaina astronomy. Jainas had however strived for reforming the five-year cycle but they could not dispense with its use, albeit they had propounded the theory of some other cycles like twelve-year cycle of Jupiter and twentyeight year cycle of Saturn. Sixty-year cycle (Jovian years) seems to be a hybrid form of the five-year cycle and twelve-year cycle of Jupiter.

Besides it is worthy of note that Jaina five-year cycle is distinguishable from Vedanga Jyotisa five-year cycle in several factors like different ayana system, first point of the commencement of the year, seasons and the reckoning of the zodiacal circumference, use of fifteen-day cycle of days instead of twentyseven-day cycle of days. It is to be emphasized that Jaina five-year cycle should not be mistaken for Vedanga Jyotisa five-year cycle at any cost.

2. There were four time measures in Vedanga Jyotisa, viz. savana (civil), saura (solar), lunar and naksatric (sidereal). Jaina had used in addition laksana (symptomatic) and pramana (authentic) measures also, e. g. laksana samvatsara (symptomatic year) and pramana samvatsara (authentic) etc. In Siddhantic astronomy only Vedanga Jyotisa measures are found.

3. Both in Vedanga Jyotisa and Jaina astronomy, calculations were made for the whole yuga or five-year cycle and this period comprises of integral numbers of lunar cycles, solar cycles, decayed lunar days etc. Jainas had howaver tended to devise a 780-year (156 times the five-year cycle) cycle which also contains an integral number of abhivardhana samvatsara (lustfully increased year with an intercalary lunar month). Similar traditions were followed during Siddhantic period and bigger cycles like mahayuga (big cycle) etc. were found out.

4. According to both Vedanga Jyotisa and Jaina astronomy, maximum and minimum lengths of daylight are eighteen and twelve muhurtas (one muhurta = 48 minutes) respectively. The length of daylight increases or decreases by 2/61 muhurta a day.

5. Atharva Veda Jyotisa records some shadow-lengths of a gnomonic experiment that was devised for standardisation of muhurta (= 48 minutes) as the fundamental unit of time. We find gnomonic data in Jaina canonical texts also. Jainas had used gnomonic shadow-lengths for the determination of the time of the day and of the seasons as well. It is worthy of note that Atharva Veda Jyotisa records shadow-lengths as a function of time whereas Jainas had measured time as a function of shadow-length.

6. Vedanga Jyotisa employs a linear zigzag function to determine the length of any day in the year. In addition to it, Jaina astronomy employs linear zigzag functions at several other places also, e. g., to determine the declination of the sun and that of the moon, to determine the rate of change of moon-shadow-length at the end of a month in connection with determination of seasons etc.

7. The Vedic trandition of observation of celestial phenomena was also preserved by exponents of Jaina School of astronomy. According to Aittareya Brahmana, solstices were determined upto a span of three days but Jainas had determined summer solstice upto thirty muhurtas a day only. Jainas had also made several observations regarding some other celestial phenomena like lunar occultations, chatratichatra yoga (lunar occultation with chitra, i.e , alpha Virginis), heliacal motion of venus, and the phenomena of eclipse formation. Besides Jains had classified Jyotisikas (astral bodies) and developed the concept of taraka grahas (star planets) etc.

8. Arithmatical treatment was employed in both Vedanga Jyotisa and Jaina astronomy. A similar practice was also continued down to the period of development of Siddhantic astronomy.

9. Both Vedanga Jyotisa and Jaina astronomy are interwoven with the systems of twentyseven and twentyeight naksatras (lunar mansions of the Hindus) respectively. Any diect use of rasis (signs) has not so far been unearthed therein.

These are the few aspects which exhibit similarities between Vedanga Jyotisa and Jaina astronomy. However need it be emphasized that Vedanga Jyotisa traditions have not only been continued by the exponents of Jaina School of astronomy, but they have also been advanced ahead and some of them reached more perfection or the higher stage of learning in Siddhantic astronomy. Jaina texts, as O. P. Jaggi (Scientists of Ancient India and their Achievements, p. 144, 1966) also opines, have rather helped to elucidate certain passages in Jyotisa Vedanga. Evidently Jaina astronomy holds an intermediary stage in between Vedanga Jyotisa and Siddhantic astronomy. However it is worthy of note that Jaina School of astronomy played a vehement role in the development of Siddhantic astronomy as the present author Dr. S. S. Lishk (Role of Pre-Aryabhata I Jain School of

Astronomy in the Development of Siddhantic Astronomy. Indian Journal of History of Science, Vol. 11, No. 2, pp. 106-113) has firstever exposed in a compact manner.

Now we may have a little recourse to the absence of certain elements of Siddhantic astronomy in Jaina astronomical texts, which are given as below :

i. The use of Siddhantic rasis (ecliptic signs) has not been made in Jaina astronomy.

ii. Jainas have used algebraic methods instead of geometrical methods used in Siddhantic astronomy.

iv. No signs of epicyclic theory have so far been traced. But still it is our conjecture that Jainas might have strived for arriving at better methods fo computing longitudinal and latitudinal positions of astral bodies as is evidenced by their trends towards kinematical studies of sun, moon and venus etc. However comparison of Surya Siddhanta radii of epicycles with those of Ptolemy shows origination of Surya Siddhanta constants. Constants of Surya Siddhanta epicycles radii may be generatable. Relevant texts of Bhadrabahu Samhita etc. are yet to be analysed in this connection.

It is worthy of note that the above mentioned astronomical notions of Siddhantic astronomy are traditionally ascribed to the Greek influence upon ancient Indian astronomy. It is however to be emphasized that the pre-Siddhantic Jaina School of astronomy has been chiefly characterised by its own symbolism, terminology and other peculiar notions; and it is still in want of exposition of all compendimum of Jaina astronomical knowledge before the extent of link between Siddhantic astronomy and Western astronomy can properly be discerned. It is of course easily discernible that Jaina astronomical system does not show any distinct indications of influences of Western systems of astronomy. The most disputable in this context, is the origination of the ratio 3 : 2 of the greatest and the shortest lengths of daylight. This ratio holds equally good for both Gandhara and Babylon. Gandhara, an ancient seat of learning might have been used for purposes like those of a standard place for the purposes of time reckoning for the whole of ancient India. So this ratio has no sublimity in attributing the provenance of Jaina astronomical system to Mesopotamia. In this context, it is however worthy of note that by applying Bernoulli's theorem for rectifying error due to rate of flow of water through an orifice of a cylindrical water clepsydra, it is revealed that the ratio 3 : 2 is actually the ratio of amounts of water to be poured into the water clepsydra on the maximum and the minimum lengths of daylight and the corresponding ratio of actual time lengths comes to be $\sqrt{3} : \sqrt{2}$ which suits for a place near to that of Ujjaini, a renowned seat of learning in ancient Indian culture. The present author (Length of the Day in Jaina Astronomy, Centaurus, Vol. 22, No. 3, pp. 165, Aarhus University, Denmark) opines that it is however yet to be ascertained who borrowed this ratio 3 : 2 from whom. Besides Jaina astronomical system incorporates no fringe of any non-explicit helio-centric hypothesis as is dimly said to have been postulated by Aristarchus of Samos in c. 280 B. C. Absence of week days, rasis (ecliptic signs) and

the Greek epicyclic theory is also indicative of non-assimilation of any Greek influence upon Jaina School of astronomy. Thus any claims about Western influences upon the Jaina astronomical system are quite, of course, questionable.

In the light of these investigations, the idea that Siddhantic astronomy had in toto been borrowed from the Greeks is rightly questionable. Such an idea was de facto the product of a spontaneous jump from Vedanga Jyotisa to Siddhantic astronomy. Certain peculiarities between Vedanga Jyotisa and Paitamaha Siddhanta such as five-year cycle, beginning of five-year cycle from the conjunction of sun and moon at the first point of Dhanistha (Beta Delphini) and ratio of greatest and shortest lengths of daylight etc. have been misleading as regards the use of Vedic astronomical system (Vedanga Jyotisa) upto the epoch of Paitamaha Siddhanta (A. D. 80) when the vedic astronomical system underwent a radical change with the emergence of Siddhantic astronomy. It may also be noted that Paitamaha Siddhanta (system of Paitamaha) of Varahamihira's Pancasiddhantika (five systems) represents Indian astronomy as not yet influenced by Greeks and in this respect it belongs to the same category as Jyotisa Vedanga, Surya prajnapti and similar works. The present author ('JAINA ASTRONOMY' published by Vidya Sagar Publications, B-5/263, Yamuna Vihar, Delhi-110053, 1987) has tried to clarify several links in unearthing the systematic emergence of ancient Indian astronomy right from Vedanga Jyotisa to Siddhantic astronomy. Still more revelations are due to corroborate the role of Jaina School of astronomy in the development of Aryabhata and other Siddhantic Schools of astronomy.

FURTHER SCOPE OF WORK

There is an ample scope of further research work in this field. Some other Jaina non-canonical works like Tiloyasara, Jyotisa Karandaka and Bhadrabahu Samhita etc. remain as the unlimited sources of astronomical data for some more investigations into the so-called dark period in the history of ancient Indian astronomy. Bhadrabahu Samhita alone has ample data regarding planetary kinematical studies like those of mercury, mars and jupiter etc. The study of these texts would unravel some mysteries of Jaina astronomical system. Some new vistas of research are also open, e. g., a critical study of achievements of the contemporary Buddhistic School of astronomy is of an utmost importance. It is suggested that a project should be started to study the process of export of Indian calendaric systems in other countries with the spread of Buddhism. The present day tradition of celebration of Vega (Abhijit or alpha lyrae) star function among the Japanese highlights the scope of any such possibilities of export of some Jaina astronomical notions also alongwith the spread of Buddhism. Some contacts as pointed out by B. N. Puri (Jainism in Mathura in the early centuries of the Christian Era, Srimahavira Jaina Vidyalay Golden Jubilee Volume, p. 157, 1968) established between Jaina saints and foreigners some of whom may have been attracted to Jainology in the early centuries of Christian era, also need a through investigation. An exhaustive study, "Jaina astronomy", has paved the way for execution of each types of research programmes which would lead on completion to brighten the dark period (post-Vedanga pre-Siddhantic period) in the history of ancient Indian astronomy.

जैनाचार्य नागार्जुन

प्रो० एम० एम० जोशी,
भौतिकी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ० प्र०

अलबेरूनी ने अपने ग्रन्थ **"भारतवर्णन"** में रसविद्या के आचार्य नागार्जुन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे सौराष्ट्र में सोमनाथ के निकट देहक में रहते थे। वे रसविद्या में बहुत निपुण थे। उन्होंने इस विषय पर एक ग्रन्थ भी लिखा, जो अलबेरूनी के कथनानुसार दुर्लभ हो गया था, परन्तु उसने यह भी लिखा है कि नागार्जुन उससे कोई सौ साल ही पहिले हुए थे। इस उल्लेख से सौराष्ट्र वाले नागार्जुन का काल दसवीं शताब्दि के आस-पास माना जायगा। यदि यह स्थापना सत्य हो तो प्रश्न उठता है कि यह उल्लेख बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन, जिनका काल ईसा पूर्व पहिली शती निश्चित किया जा चुका है, के बारे में अथवा सिद्ध नागार्जुन, जो सातवीं शताब्दी में हुए, के बारे में तो हो नहीं सकता, अतः क्या यह किसी तीसरे नागार्जुन से सम्बन्धित है ? कुछ विद्वानों का अभिमत है कि अलबेरूनी का तात्पर्य बौद्ध नागार्जुन से नहीं हो सकता, क्योंकि वे तो उससे कम से कम हजार-बारह सौ वर्ष पूर्व हुए थे। हाँ, सिद्ध नागार्जुन के बारे में वह अवश्य लिख सकता था, क्योंकि वे अलबेरूनी के आने से तीन-चार सौ वर्ष पूर्व ही हुए थे, परन्तु इस स्थापना को मानने में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि सातवीं शती वाले सिद्ध नागार्जुन नालन्दा से सम्बन्धित थे और उनका उल्लेख चौरासी सिद्धों में मिलता है। पर अलबेरूनी ने तो नागार्जुन को सौराष्ट्र का निवासी लिखा है। अतः यह प्रश्न उठना उचित है कि क्या कोई तीसरा नागार्जुन भी हुआ था ? कुछ विद्वानों की राय में अलबेरूनी ने प्राप्त सूचनाओं की प्रामाणिकता पर काफी ऊहापोह के बाद ही उनका समावेश अपनी पुस्तक में किया है, अतः सौराष्ट्र क्षेत्र में किसी तीसरे नागार्जुन के अस्तित्व को ढूंढ़ने का प्रयत्न स्वाभाविक ही कहा जायगा।

हाल ही में, प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक परम्परा के अध्ययन के सिलसिले में कुछ जैन ग्रन्थों का अवलोकन करने का अवसर मिला तथा उदयपुर के डा० राजेन्द्रप्रकाश भटनागर की जैन आयुर्वेद से सम्बन्धित पुस्तक भी पढ़ने का सुयोग मिला। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में भी एक नागार्जुन हुए हैं और उन्हें भी सिद्ध नागार्जुन ही कहा जाता था। मेरुतुङ्गाचार्य रचित प्रबन्ध चिन्तामणि के "नागार्जुनोत्पत्तिस्तम्भनक तीर्थावतार प्रबन्ध" में नागार्जुन के जन्म एवं सिद्ध पुरुष बनने का वर्णन किया गया है। उसके अनुसार अनेक प्रकार की औषधियों के प्रभाव से नागार्जुन सिद्ध पुरुष बने तथा पादलिप्ताचार्य के शिष्य बनकर कोटिवेधी रस के निर्माण की विधि भी जान गये। जैन ग्रन्थों के अनुसार नागार्जुन "ढंक-गिरि", जो सौराष्ट्र प्रान्त में था, के निवासी थे, किन्तु उन्हें सातवाहन नरेश का आश्रय मिला था, जिसे रसवेध द्वारा उन्होंने दीर्घायु प्राप्त कराई थी। "ढंक-गिरि" गुफाएँ प्राचीन इतिहासविदों के शोध के परिणामस्वरूप तीसरी शताब्दि ईस्वी की समझी जाती है। अतः ईसा की दूसरी या तीसरी शती में नागार्जुन सौराष्ट्र में रसायनशास्त्री के रूप में विख्यात थे। जैन साहित्य में ढंक गिरि को शत्रुंजय पर्वत का भाग माना जाता है, यह सौराष्ट्र में बल्लभीपुर के निकट है। 'नागार्जुनी-वाचना' या 'बल्लभी वाचना' के नाम से जैन आगमों के पाठों का उल्लेख तो यत्र-तत्र मिलता है, पर पाठ अनुपलब्ध है। अतः बल्लभीपुर में नागार्जुन की उपस्थिति ईसा की तीसरी शती के आस-पास होने के संकेत तो स्पष्ट हैं।

डा० भटनागर के मतानुसार यही वह तीसरे नागार्जुन है, जो बौद्ध नागार्जुन एवं नालन्दा के सिद्ध नागार्जुन से भिन्न हैं तथा इन्हों का उल्लेख अलबेरूनी ने किया है, किन्तु इनका समय बताने में उसने भूल की है। उनकी दृष्टि से

नागार्जुन, आचार्य पादलिप्तसूरि के शिष्य थे। जैन ग्रन्थों में पादलिप्तसूरि जी का जीवन वृत्त विस्तार से मिलता है। प्रभावक चरित्र, प्रबन्धकोष, प्रबन्ध चिन्तामणि प्रभृति के अवलोकन से यह विदित होता है कि आचार्य पादलिप्तसूरि ईसा की पहिली शती में हुए थे। डा० नेमिचंद्र शास्त्री के अनुसार "विशेषावश्यक भाष्य" एवं "निशीथ-चूर्णि" जैसे ग्रन्थों में पादलिप्तसूरि जी के उल्लेख के कारण उनका काल पर्याप्त प्राचीन माना जाना चाहिए। आचार्य पादलिप्त को ऐसा लेप ज्ञात था कि जिसे पैरों पर लगाने से वे आकाश गमन कर सकते थे। इसी कारण इन्हें पादलिप्त कहा गया। पादलिप्त के एक शिष्य स्कन्दिल भी थे। जैन साहित्य के बृहद् इतिहास के अवलोकन से पता चलता है कि नागार्जुन भी इन्हीं के शिष्य थे। प्रबन्धकोष के अनुसार दक्षिण के प्रतिष्ठानपुर का सातवाहन राजा आचार्य पादलिप्त का समकालीन था। उसके समय में पाटलिपुत्र का राजा मुरुंड था। प्रश्न है कि प्रतिष्ठानपुर का कौन सा राजा पादलिप्त का समवर्ती था।

अब एक अन्य दृष्टि से भी विचार करें। जयचंद्र विद्यालंकार कृत **भारतीय इतिहास के उन्मीलन** नामक ग्रंथ में कहा गया है कि जैनवाङ्मय के अनुसार प्रतिष्ठानपुर के शालिवाहन या सातवाहन राजा ने भरुकच्छ के राजा नहपान पर विजय प्राप्त की थी और यही राजा बाद में विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा प्रतिष्ठानपुर से आकर उसने उज्जयिनी पर विजय प्राप्त की थी। इस विक्रमादित्य का वास्तविक नाम गौतमीपुत्र शातकर्णि था। इसी राजा ने जब मालवगण के सहयोग से शकों को ई० पू० ५७ में हटाया, तब से विक्रमी संवत् प्रारम्भ हुआ।

अब यदि इस तथ्य पर विचार किया जाय कि शातवाहन राज्य का उत्कर्ष कब हुआ, तो यह निर्धारण करना सम्भव हो सकता है कि आचार्य पादलिप्त कब हुए थे। शातवाहन राज्य ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दि से ईस्वी प्रथम-द्वितीय शताब्दि के आस-पास रहा। उसमें भी चरमोत्कर्ष पर ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दि से ईस्वी प्रथम शती में लगभग १०० वर्षों तक रहा। इन्हीं दिनों सातवाहनों का दरबार विद्या का केन्द्र बन गया। अतः जैन ग्रन्थों के अनुसार राजा हाल के दरबार में पादलिप्त जैसे आचार्य को आदरपूर्वक रखा जाना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। कुछ विद्वानों के मत में ढंकगिरि गुफाएँ ईस्वी प्रथम-द्वितीय शती की होनी चाहिए। यह अभिमत अधिक युक्तिसंगत लगता है। तब जैन नागार्जुन का काल ईस्वी प्रथम-द्वितीय शती के आस-पास होना सम्भव है और उनकी गुरु-परम्परा से मेल खा जाता है। ऐसा लगता है कि गौतमी बालश्री के नासिक अभिलेख में पुत्र एवं पौत्र दोनों के कार्यों का एक साथ उल्लेख करने से विद्वज्जनों ने यह समझा कि पिता एवं पुत्र एक साथ ही राज्य कर रहे थे। यद्यपि ऐसा होना असम्भव नहीं है, किन्तु यह भी तो हो सकता है कि गौतमी बालश्री सामान्य से अधिक दीर्घायु प्राप्त कर सकी हों और पौत्र के राज्यकाल में भी अरसे तक जीवित रही हों, अतः नासिक अभिलेख में दोनों के कार्यों का उल्लेख हो। अतः यह निश्चित करना आवश्यक है कि आचार्य पादलिप्तसूरि किसके समकालिक थे? विक्रमादित्य के समवर्ती होने पर, और दीर्घजीवी होने पर तो तीसरी शती ईस्वी में नागार्जुन के गुरु होने की सम्भावना अटपटी सी लगती है। यदि ऐसा होता तो दीर्घजीवन की चमत्कारिक उपलब्धि का उल्लेख इतिहास ग्रन्थों या आयुर्वेद साहित्य में होना चाहिए था, पर अभी तक ऐसा विवरण मेरी जानकारी में नहीं है।

यद्यपि बील नामक विद्वान ने बौद्ध नागार्जुन का समय ई० पू० ३३ निर्धारित किया है, किन्तु रेनो और फिलियोजे के मत में बौद्ध नागार्जुन ईस्वी प्रथम शताब्दि के अन्त में हुए थे। यदि यह स्थापना मान्य हो, तब बौद्ध एवं जैन नागार्जुन लगभग समकालीन होंगे। जैन ग्रन्थों के अनुसार नागार्जुन ने ढंक पर्वत की गुफा में रसकूपिका स्थापित की थी और रस-सिद्धि तथा सुवर्ण-सिद्धि के प्रयोग भी किये थे। उन्होंने जैन आगमों की वाचना तैयार कराई। कई बातों में बौद्ध नागार्जुन एवं जैन नागार्जुन के व्यक्तित्वों में काफी साम्य भी दृष्टिगोचर होता है। दोनों ही रसायन शास्त्र के ज्ञाता थे, दोनों ने ही विभिन्न ग्रंथों के शुद्ध रूप को प्रस्तुत किया था। ज्ञातव्य है कि बील ने नागार्जुन को बुद्ध के चार सौ वर्ष बाद होना बताया है। अतः बील का मत बुद्ध के काल-निर्धारण पर निर्भर करता है। यदि महात्मा बुद्ध का ही काल पीछे खिसक जाये, तब क्या होगा? बहुत से विद्वानों के अभिमत में ईसा पूर्व भारतीय इतिहास की अनेक गुत्थियाँ ऐसी

हैं कि जो विभिन्न घटनाओं के काल-निर्धारण को उलझा देती हैं। बौद्ध नागार्जुन एवं जैन नागार्जुन के बारे में प्राप्त जानकारी का सही उपयोग करके उनका स्पष्ट काल-निर्धारण करना उन गुत्थियों को सुलझाने में सहायक तो होगा ही, साथ ही भारतीय ज्ञान-विज्ञान के उन्नयन में जैन मनीषियों के योगदान का भी स्पष्ट उन्मीलन करने में सहायक होगा।

जैन साहित्य के शोधकों से मेरा अनुरोध है कि वे मात्र पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रस्तावित तिथियों को ही सदा सत्य न मान लें, अपितु जैन परम्परा तथा अन्य सम-सामयिक परम्पराओं के मिलान के बाद ही काल-निर्धारण करें। यदि जैन नागार्जुन के सम्बन्ध में समस्त उपलब्ध सामग्री का समीक्षात्मक विवरण तैयार हो सके तथा उनका ठीक काल निर्णय हो सके, तो वह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जायगा। इस दृष्टि से आयुर्वेद के इतिहास विशारद, जैन साहित्य शोधक एवं प्राचीन इतिहास तथा पुरातत्व वेत्ताओं का सामूहिक प्रकल्प लिया जाना उपयोगी होगा।

●

अविद्या और उसका परिवार

अविद्या मोहवृक्ष की बेल है, विष-बेल है, दुःखफला है, कुलटा स्त्री है, पिशाची है, असती है, वेगवती नदी है एवं विषकन्या है।

इस अविद्या का पुत्र अहंकार है। इसकी पुत्रवधू ममता है। अहंकार के दो पुत्र हैं—स्व-पर संकल्प-विकल्प। इन पुत्रों की रति और अरति नामक स्त्रियाँ (पौत्रवधू) हैं। इनके दो पुत्र हैं—सुख और दुःख।

इस प्रकार अविद्या का विशाल और अक्षय परिवार है। इसके कारण वह दिनोंदिन आनन्दपूर्वक बढ़ रही है।

—आत्मप्रबोध (कुमार कवि)

कवि हस्तिरुचि और उनकी वैद्यक कृतियाँ

डॉ० राजेन्द्रप्रकाश भटनागर
उदयपुर (राज०)

जैन विद्वानों द्वारा विरचित वैद्यक-ग्रन्थों में हस्तिरुचि-कृत 'वैद्यवल्लभ' का अन्यतम स्थान है। यह ग्रन्थ उत्तर-मध्ययुगीन जैन यति एवं वैद्यों की परम्परा में बहुत समादृत हुआ। राजस्थान एवं गुजरात में इसका पर्याप्त प्रचार-प्रसार रहा। अरावली पर्वतमाला के पश्चिम में गुजरात और मारवाड़ का क्षेत्र परस्पर जुड़ा हुआ है। प्राचीन समय में दोनों क्षेत्रों में एक ही अपभ्रंश भाषा बोली जाती थी, जिससे कालान्तर में, सम्भवतः चौदहवीं शती के बाद, प्रदेशों व राज्यों की भिन्नता के आधार पर गुजरात में गुजराती एवं मारवाड़ में मरुभाषा विकसित हुई। परन्तु सांस्कृतिक आदान-प्रदान तो बहुत समय बाद तक प्रचलित रहा। मारवाड़ क्षेत्र के जैन यति-मुनि मारवाड़ एवं गुजरात में विचरण करते रहते थे। हस्तिरुचि का विहार भी पश्चिमी भारत में रहा। अतः उनका यह ग्रन्थ इस क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध रहा।

कवि-परिचय

हस्तिरुचि तपागच्छीय रुचि शाखा के श्वेताम्बर जैन यति थे। इन्होंने स्वयं को 'कवि' कहा है। ''चित्रसेन पद्मावति रास' (गुजराती) के अन्त में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा दी है :

तपागच्छ में 'हीरविजयसूरि' हुए, जिन्होंने बादशाह अकबर को प्रतिबोध दिया था। उनके पट्टधर 'विजयसेन-सूरि' हुए, उनके पट्टधर 'विजयदेवसूरि' हुए। उनके गच्छ मे 'कवियों को परम्परा में 'लक्ष्मीरुचि' कवि हुए, उनके शिष्य विजयकुशल' कवि हुए, उनके शिष्य 'उदयरुचि' कवि हुए। उदयरुचि के सत्ताईस शिष्य थे जो जप, तप और विद्या में निपुण थे। उनमें से एक 'हितरुचि' हुए। उनके ही शिष्य 'हस्तिरुचि' हुए। ये प्रकाण्ड विद्वान् और प्रसिद्ध चिकित्सक थे[1]। हस्तिरुचि की गुजराती भाषा में 'चित्रसेन पद्मावति रास' नामक काव्य-रचना मिलती है। इसकी रचना कवि ने अहमदाबाद में संवत् १७१७ (१६६० ई०) विजयादशमी के दिन पूर्ण की थी। 'हस्तिरुचि गणि' के अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं। मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने इनका ग्रन्थ-प्रणयनकाल संवत् १७१७ से १७३९ माना है[2]। परन्तु इनकी 'षडावश्यक' पर वि० सं० १६९७ में लिखी व्याख्या भी मिलती है। अतः इनका ग्रन्थरचनाकाल सं० १६९५ से १७४० तक मानना उचित होगा। निश्चितरूप से कहा नहीं जा सकता कि हस्तिरुचि किस क्षेत्र के निवासी थे। जैन-मुनि विहार करते हुए अन्यत्र भी जाते रहते हैं। कुछ इन्हें मारवाड़ क्षेत्र का मानते हैं। परन्तु इनका गुजरात-निवासी होना प्रमाणित होता है।

वैद्यक पर इनकी दो रचनाएँ मिलती हैं :

१. वैद्यवल्लभ और २. वन्ध्याकल्पचौपई।

१. जैन गुर्जर कविओ (गुज०), भाग २, पृ० १८५-८६ पर उद्धृत।

२. मो० द० देसाई, 'जैन साहित्यनो इतिहास', पृ० ६६४।

वैद्यवल्लभ[1]

यह ग्रन्थ मूलतः संस्कृत में पद्यबद्ध लिखा गया था। फिर उसका संभवतः लेखक (हस्तिरुचि) ने ही गुजराती में अनुवाद किया था। मूल-ग्रन्थ का रचनाकाल वि० संवत् १७२६ (१६६९ ई०) दिया है[2] :

"तेषां शिशुना हस्तिरुचिना सद्वैद्यवल्लभो ग्रन्थः।
रसनयनमुनिदुवर्षे (६२७१ = १७२६)परोपकाराय विहितोयं॥"

ग्रन्थ के अन्त में किसी-किसी पाण्डुलिपि में निम्न दो पद्य मिलते हैं[3], जिनसे ज्ञात होता है कि तपागच्छ के उदयरुचि हितरुचि आदि अनेक शिष्य हुए जो 'उपाध्याय' पदवी धारण करते थे। हितरुचि के शिष्य हस्तिरुचि हुए।

"श्रीमत्तपागणांभोजनायकेन नभोमणि।
प्राज्ञो**दयरुचि**र्नाम बभूव विदुषाग्रणी॥ ५५॥
तस्यानेके महाशिष्या **हितादिरुचयो** वरा।
जगन्मान्यारुपाध्यायपदस्य धारकाऽभवन्" ॥ ५६॥

ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार मिलती है :

"इति श्रीमत्तपागच्छे महोपाध्याय **श्री हितरुचि**गणितच्छिष्यकविहस्तिरुचिकृत **वैद्यवल्लभे** शेषयोगनिरूपणा विलासः॥" "इति श्री कविहस्तिरुचिकृतवैद्यवल्लभो ग्रन्थ सम्पूर्णं॥ श्री॥"

इस ग्रन्थ में आठ 'विलास' (अध्याय) हैं :

१. सर्वज्वरप्रतीकारनिरूपण (२८ पद्य)
२. स्त्रीरोगप्रतीकार (४१ पद्य)
३. कास-क्षय-शोक-फिरंग-वायु-पामा-दद्रु-रक्तपित्त-प्रभृति रोगप्रतीकार (३० पद्य)
४. धातु-प्रमेह-मूत्रकृच्छ्र-लिंगवर्धन-वीर्यवृद्धि-बहुमूत्र-प्रभृतिरोगप्रतीकार (२९ पद्य)
५. गुद-रोगप्रतीकार (२४ पद्य)
६. विरेचि-कुष्ठविषगुल्ममन्दाग्नि-पाडु-कामलोदररोगप्रभृतिप्रतीकार (२६ पद्य)
७. शिरःकर्णाक्षिभ्रममूर्च्छासंधिवात ग्रंथिवात रक्तपित्तस्नायुकादिप्रभृतिप्रतीकार (४२ पद्य)
८. पाक-गुटिकाद्यधिकार-शेषरोगनिरूपण-सन्निपात-हिक्का-जानुकम्पादि-प्रतीकार (४० पद्य)।

इसमें रोगानुसार योग का संग्रह है। सब योग अनुभूत, सरल और विशिष्ट हैं।

'प्रोक्तोऽयं कवि हस्तिना' (१।१०), 'एतद् हस्तिकवेर्मतम्' (२।१, २), 'कविहस्तिना मतः' (२।१८), 'दत्तं सुहस्तिकविना' (६।२४), 'कारितं कविना' (२।३३, ३।१३), 'हस्तिना कथितं' (२।२९) आदि कहने से ज्ञात होता है कि ये योग हस्तिरुचि के अनुभूत और निर्दिष्ट थे। श्वेतप्रदर को इसमें 'स्त्रियों का धातुरोग' (२।१७) कहा गया है तथा रक्त-

१. यह ग्रन्थ मथुरा निवासी पं० राधाचन्द्र शर्मा कृत ब्रजभाषा टीका-सहित वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से सं० १९७८ में प्रकाशित हुआ था।

२. दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री ने लिखा है :
"यह ग्रंथ सं० १६७० में रचा गया था, ऐसा गोंडल के इतिहास में लिखा है, कर्ता का नाम हस्तिरुचि के स्थान पर हस्तिसूरि दिया है।" ('आयुर्वेदनो इतिहास', पृ० २४४)।

३. भण्डारकर ओरियण्टल रिचर्स इन्स्टीट्यूट, पूना के ग्रन्थागार में पाण्डुलिपि क्र० ५९९।१८९९-१९१५।

प्रदर को केवल 'प्रदर' कहा गया है। कुछ लौकिक एवं पारिवारिक कार्यसिद्धि के प्रयोग भी दिए हैं—जैसे–'अथ श्वसुरगृहे तरुणी तिष्ठति तत्र प्रयोगः' यह स्त्री की योनि में धूप देने का योग है। पुरुषलिंगवृद्धिकर प्रयोग भी दिए हैं। वाजीकरणप्रयोगों में 'मदनवृद्धिपाक' (८।१५-१७) विशेष महत्वपूर्ण है। मेथी के पाक को 'मागधीपाक' (७।३०-३४) कहा है। विजया (५।४), अहिफेन (४।२८, ५।४) और अकरकरा (४।२३) का योगों में प्रयोग हुआ है। लिंगलेप' (४।१९-२०) 'कामेश्वरगुटिका' (४।२४-२५) अफीम, जायफल और जावित्री का योग है। 'नागभस्म विधि' (४।२८-२९) भी दी है।

उदर रोग में 'वज्रभेदीरस' (६।१-२) बताया है, परन्तु यह रसयोग नहीं है, केवल काष्ठौषधियाँ हैं। रसयोग भी दिए हैं, जैसे—सर्वकुष्ठारुरस (६।३-४), इच्छाभेदीरस (६।५-७) मन्दाग्निहा गुटिका (६।१७-१८)। 'स्रोतवृद्धिरोग' से सम्भवतः वृद्धिरोग (आमवृद्धि) लिया गया है (५।२१)।

विभिन्न रोगों में इस ग्रन्थ के विषिष्ट एकौषधि-योग अत्यन्त उपयोगी हैं :

१. एकान्तरज्वर (विषमज्वर) में	धत्तूरपत्रस्वरस और दही (१।१४)।
२. गर्भधारकयोग	सगर्भामहिषीदुग्ध और अजामूत्र (२।९)।
३. पुत्रप्रदयोग	ऋतुकाल मे पारसपीपलबीज, मिश्री, शर्करा (२।८)।
४. गर्भपातरोधक	धाय के फूल, मिश्री (२।९)।
५. गर्भवृद्धिकर	जाशुकी पुष्प-शीतल जल में पीसकर (२।१२)।
६. गर्भपातकर	सोंठ व उससे पाँच गुना रसोन का क्वाथ (२।१८)।
	अलसी का तेल व गुड़ (२।२१)।
	अलसी का तेल व गुग्गुल (२।२२)।
७. गर्भरोधक	पलाशबीज की राख, शीतल जल में (२।२७)।
८. कास-श्वास-क्षय-हृद्रोग	स्नुहीदुग्ध व गुड़ (३।११)।
९. श्वास-कास	वासास्वरस व मधु (३।१२)।
१०. क्षयरोग	अर्कदुग्धभावित सैंधव लवण (३।१५)।
११. रक्तपित्त रोग मे	मृतताल (हरताल भस्म), सिम्रुरस के साथ दें (३।२९)।
१२. ,,	मिश्री मिला हुआ बकरी का दूध (२।३०)।
१३. वाजीकरण	कृष्ण मुशलीकन्द-चूर्ण व गो घृत (४।८)।
१४. प्रमेहरोग	पलाश के फूल व वंग भस्म (४।१२)।
१५. नपुंसकता	बैंगन में रखकर पकाया हुआ हिंगुल (४।१५)।
१६. उष्णवात मूत्रकृच्छ्र	सूर्यक्षार (शोरा) और मिश्री (४।१६)।
१७. अश्मरी	यवक्षार, शर्करा, गाय का तक्र (४।१८)।
१८. बहुमूत्र	भृंगराज व काले तिल, बासी जल से (४।२६)।
१९. लिंगव्याधि	नागभस्म व मिश्री (४।२७)।
२०. अर्शरोग	थूहरके दूध का लेप (५।९)।
२१. ,,	इन्द्रजव व बड़ के दूध का सेवन (५।९)।
२२. भिलावे के बिकार मे (सूजन)	मक्खन और तिल; दूध और मिश्री, घी और मिश्री का लेप करें (५।१२)।

२३. क्रमिरोग	महानिम्बपत्रस्वरस का सेवन (५।१४)।
२४. कामला (पीलिया)	गधे की लीद और दही मिलाकर सेवन करें (६।२१)।
२५. शिरोव्यथा	आम्र के छाल को जल में पीस लेप करें (७।७)।
२६. मुखपिडिका (जवानी की फुंसियाँ)	माजूफल को चावल के धोवन में घिसकर लेप करें (७।२०)।
२७. दाँतों का हिलना	अनार की छाल के चूर्ण का मंजन (७।२३)।
२८. स्नायुकरोग (नाहरु)	गोन्दी की जड़ को मनुष्य मूत्र में पीसकर लेप करें (७।२४)।
२९. ,, ,,	महुएँ के पत्ते बाँधें (७।२५)।
३०. ,, ,,	आक के दूध का लेप करें (७।२६)।
३१. संखिया का विष	चौलाई का रस व मिश्री अथवा नींबू का रस सेवन करें (८।५)।
३२. पादव्रण (बिवाई फटना)	मोम, राल, साबुन को मक्खन में मिलाकर लेप करें अथवा तिल और बड़ का दूध पीसकर लेप करें (८।२६)।

ग्रन्थ के अन्त मे 'ज्वरातिसार नाशक गुटिका' 'मुरादशाह' द्वारा निर्मित होने का उल्लेख है :

"क्षौद्रेण वा पत्ररसेन कार्या ज्वरातिसारामयनाशिनी वटी।
रूपाग्निबलवीर्यवर्द्धनी 'मुरादिसाहेन' विनिर्मिता वटी ॥ ४० ॥"

यह मुरादशाह औरंगजेब का भाई था, जो १६६१ ई० में मारा गया था।

शीघ्र ही यह ग्रन्थ लोकप्रिय हो गया था। इसकी लोकप्रियता इस तथ्य से ज्ञात होती है कि इस ग्रन्थ की रचना के तीन वर्ष बाद अर्थात् सं० १७२९ में मेघभट्ट नामक विद्वान् ने इस पर संस्कृत-टीका लिखा थी, इसकी पुष्पिका में लिखा है :

"वि० सं० १७२९ वर्षे भाद्रपदमासे सिते पक्षे भट्टमेघविरचितसंस्कृतटीकाटिप्पणीसहितः सम्पूर्णः ॥"

यह टीकाकार शैव था। इसके प्रपितामह का नाम नागरभट्ट, पितामह का नाम कृष्णभट्ट और पिता का नाम नीलकण्ठ दिया है। मेघभट्ट की संस्कृत टीका के अतिरिक्त इस पर हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती में 'स्तबक' और 'विवेचन' लिखे गये हैं।

वन्ध्याकल्पचौपई

नागरी-प्रचारिणी सभा के खोज-विवरण पृ० ३३ पर इनकी इस रचना का उल्लेख है। इसके अन्तिम भाग में यह लिखा है—'कहि कवि हस्ति हरिनों दास।' अतः सम्भवतः यह किसी अन्य की रचना भी हो सकती है। वस्तुतः हस्तिरुचि जैनयति-मुनियों की परम्परा में ऐसी बिभूति हैं जिनका आयुर्वेद के प्रति महान् योगदान है।

रोगोपचार में गृहशांति एवं धार्मिक उपायों का योगदान

डा० ज्ञानचन्द्र जैन

रीडर, शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, लखनऊ

इस अनादिनिधन सृष्टिचक्र में प्राणिमात्र सदैव से पण्डित दौलतराम के अनुसार, दुःख से भयभीत होकर सुख प्राप्ति की अभिलाषा हेतु निरन्तर प्रयास करता आ रहा है। जीव की इस दुःख-कातरता को देखकर हमारे करुणा-निधान निर्ग्रन्थ गुरु-प्रवरों ने भी उसे सुखकर मार्ग का दिशा निर्देश किया है। अनन्त-सुखागार मोक्ष प्राप्ति हेतु भी धर्म साधना के लिये शरीर धारणार्थ आहार लेना अनिवार्य आवश्यकता है। यही आहार रोगोत्पत्ति में भी कारण होता है। इसी से साधना में बाधा पड़ती है। इसलिये धर्म-साधना में सहायक शरीर को स्वस्थ रखने के लिये आचार्यों ने दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या के अनुसार आहार-विहार का पालन करते हुए पथ्यापथ्य-पूर्वक रहने का भी उपदेश किया है। यदि व्यक्ति कदाचित अस्वस्थ भी हो जावे, तो औषधि के साथ ही पथ्य व्यवस्था पूर्वक शीघ्र स्वस्थ हो सके। अपथ्याहार से स्वास्थ्य-लाभ न हो पाने से जीव अभीष्ट सिद्धि नहीं कर पायगा। हमारे आचार्यों ने तात्विक दृष्टि से गम्भीर चिन्तन करते हुए सुखप्राप्ति हेतु ग्रहण की अपेक्षा त्याग या दान को अत्यधिक महत्व दिया है। दोनों में भी धर्म-साधना-सहायक स्वास्थ्य के लिये औषध दान को श्रेष्ठ बताया है। इन्द्रिय सुख-रसी जीव की प्रवृत्ति के विषय में गुरु प्रवर सम्यक्-रीत्या यह जानते थे कि कितना भी समझाने पर कर्म बन्धाधीन यह जीव विषयसुख के आकर्षण में फँसकर अपना अहित करता रहेगा। वस्तुतः विवेक बुद्धि तो कठिन साधना तथा सद्गुरु कृपा से ही व्यक्ति को प्राप्त होती है। यही कल्याण पथ में अग्रसर होने में सहायक होती है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हमें स्पष्टतया गोचर हो रहा है कि आज का मानव बुद्धि एवं धर्मशून्य आचरण कर नाना प्रकार की व्याधियों को आमन्त्रित कर सदैव दुःखी बना रहता है। अवस्था एवं परिस्थिति के अनुसार आचार्यों ने चिकित्सा-सौकर्यार्थ व्याधियाँ चार प्रकार की मानी हैं : सुखसाध्य, कष्टसाध्य, याप्य तथा असाध्य। इनमें सबसे महत्व-पूर्ण व्याधि 'श्वास रोग' की चिकित्सा का विवेचन यहाँ अपेक्षित है। हम क्षण-क्षण यह प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि यदि हमें थोड़े समय के लिये भी वायु उपलब्ध न हो, तो श्वासावरोध के कारण दम घुटने लगता है और हमारी मृत्यु हो सकती है। इसलिये जीवन धारण के लिये वायु अत्यन्त आवश्यक तत्व है। यह तत्व हमें श्वास क्रिया द्वारा प्राप्त होता है। श्वास क्रिया की विकृति ही 'श्वास व्याधि' की जनक है। इस व्याधि के महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्नश्वास, तमक-श्वास तथा क्षुद्रश्वास नामक पाँच भेद हैं। इनमें प्रथम तीन असाध्य होने के कारण अ-चिकित्स्य हैं। क्षुद्रश्वास श्रमजन्य होने से चिकित्सा द्वारा सुगमता से ठीक हो जाती है। तमक श्वास याप्य होने से रोगी और चिकित्सक—दोनों के लिये महत्व की है। याप्य व्याधि का शमन चिकित्सा एवं पथ्य—दोनों पर निर्भर करता है। कभी-कभी चिकित्सा से लाभ होने पर रोगी अपने को स्वस्थ मान लेता है और पुनः अपथ्य सेवन करने लगता है। इससे रोग बिगड़ जाता है और 'दमा दम के साथ जाता है' जैसी कहावत चरितार्थ होने लगती है। इसलिये श्वास रोग का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

(अ) संप्राप्ति : यह कफ-वातात्मक दुर्जर महाव्याधि है। इसका उद्भव आमाशय या पित्त स्थान से होता है। इसकी अभिव्यक्ति प्राणवह स्रोतस फुफ्फुस-स्थित श्वास नलिका द्वारा होती है। रोगी द्वारा अधिक मात्रा में पर्याप्त समय तक अम्ल-लवणात्मक शीत-स्निग्ध-गुरु-पिच्छिल गुणी आहार ग्रहण करने से उसका सम्यक् परिपाक नहीं हो पाता। अपरिपक्व आहार-रस से आमदोष की उत्पत्ति होती है। इससे अग्नि मन्दता होती है जिससे विकृत कफ उत्पन्न होता है। यही विकृत कफ अपक्व रसों के साथ शरीर तन्त्र में संवहन और परिभ्रमण करता हुआ फुफ्फुस में आता है और श्वास-नलिका में विकृत या मलकफ के रूप में एकत्र होकर श्वास क्रिया का अवरोध कर प्राणवह स्रोतस में स्रोतोरोध के द्वारा श्वास रोग की उत्पत्ति करता है। श्वास न ले पाने से दम फूलने लगता है, घबराहट होती है, कासवेग आने लगते हैं। अधिक समय तक श्वासरोध के कारण आँखों के आगे अन्धेरा छाने लगता है तथा प्राण संकट की सम्भावना प्रतीत होने लगती है। खाँसते-खाँसते यदि प्रयत्न पूर्वक थोड़ा-सा भी कफ निकल जाता है तो किंचित् लल एवं सुख की अनुभूति होती है। कुछ समय पश्चात् श्वास कष्ट की प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ हो जाती है।

आधुनिक चिकित्सक यह मानते हैं कि कफ निकाल देने से रोगी ठीक हो जायेगा। इसलिये श्वास रोग में कफ निःसारक, श्वास नलिका विस्फारक या कफशामक औषधियों का आवश्यकतानुसार उपयोग कर वे रोगी को स्थायी लाभ पहुँचा देते हैं। पर इस चिकित्सा विधि से रोगोन्मूलन नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि उत्पादित कफ तो चिकित्सा द्वारा निकल जाता है परन्तु कफोत्पादन की प्रक्रिया की चिकित्सा तो होती ही नहीं है। इसलिये रोग और कष्ट—दोनों ही बने रहते हैं। यह स्थिति ठीक उसी प्रकार की है जैसे वृक्ष की शाखा या पत्र तो काट दिये, पर जड़ नहीं काटी। फलतः वह समुचित पोषण मिलने पर अंकुरित एवं पल्लवित होने लगता है।

इस समस्या को दृष्टिगत रखते हुए रोग की शमन और संशोधन—दो प्रकार की चिकित्सा का विधान किया है। उपरोक्त चिकित्सा विधि शमनात्मक है। संशोधन चिकित्सा द्वारा दोषोन्मूलन होकर पुनः व्याधि की सम्भावना नहीं रहती। इस विधि में वमन चिकित्सा विधि द्वारा आमाशय के विकृत कफ की उत्पादन प्रक्रिया का उन्मूलन किया जाता है। इससे इस दुर्जर व्याधि से छुटकारा पाया जा सकता है। रोगियों की चिकित्सा के समय कभी-कभी ऐसी स्थिति भी परिलक्षित होने लगती है कि अनेक रोगियों को लाभ होने के बावजूद भी, अनेकों को लाभ नहीं हो पाता। ऐसी परिस्थितियों में मन में इस प्रकार के विचार आने लगते हैं कि योग्य निदान एवं चिकित्सा के पश्चात् भी कुछ ऐसे विचार बिन्दु हैं जिनसे सफल चिकित्सा की अधिक संभावना प्रतीत होती है। ऐसे विषयों में चिकित्सा की अंगभूत आथर्वणी या ज्योतिष चिकित्सा विधि महत्वपूर्ण है। इस विधि में ग्रह प्रभाव-शांत करने के उपाय तथा कर्म-विपाक शमन रूप धार्मिक पक्ष की विधियाँ महत्वपूर्ण हैं।

श्वास रोग के अनेक रोगियों की चिकित्सा के समय उपरोक्त परिस्थियाँ उत्पन्न हुई हैं। इनमें उक्त सहयोगी चिकित्सा विधियों के सहयोग से चिकित्सा करने पर अनुकूल परिणाम भी परिलक्षित हुए हैं। इनमें से ही एक श्वास रोगी की चिकित्सा विधि का उल्लेख प्रस्तुत करना उपयोगी होगा।

कन्हैया लाल नामक एक रोगी १९७७ से श्वास रोग से पीड़ित था। चिकित्सा कराते रहने पर उसे लाभ रहता है पर कालान्तर में वह पुनः व्याधिग्रस्त हो जाता है। रोगी को श्वास-कृच्छता रहती है, कभी-कभी दम घुटने जैसी स्थिति पैदा हो जाती है। अधिक खाँसने पर कुछ कफ निकल जाने के बाद अल्पकालिक किंचित् सुखानुभूति होती है। उसकी अन्य स्थितियाँ भी प्रचण्ड श्वास रोग को निरूपित करती हैं। कभी-कभी वह मूर्छित भी हो जाता है। इन सब आधारों पर उसके तमक श्वास होने का निदान किया गया। एक्स-किरण परीक्षा में भी फुफ्फुस स्थित श्वास नलिका शोथ पाया गया। श्रवण-परीक्षा में फुफ्फुस एवं श्वास नली में घुर्घुरक ध्वनि पाई गई जो कफ बाहुल्य एवं

स्रोतों-रोध का प्रतीक है। रोगी के अन्य लक्षणों में ज्वरानुबंध, अग्निमन्दता, अरुचि, अशक्ति आदि पाये गये। इनके कारण रोगी के तमकश्वास के रोगनिदान में सहायता मिली।

इस रोगी की चिकित्सा में प्रतिदिन प्रातः, सायं एवं मध्यान्ह मधु के साथ निम्न मिश्रण लेने के लिये प्रयोग किया गया :

(i) श्वासकास चिन्तामणि रस	१ डेग्रा०
लक्ष्मी विलास रस	४ डेग्रा०
श्वास कुठार रस	४ डेग्रा०
सोम चूर्ण	१ ग्राम
प्रवाल पचामृत रस	२ डेग्रा०
सितोपलादि चूर्ण	२ ग्राम

(ब) प्रातः एवं सायं दूध के साथ १० ग्राम वासावलेह लेने के लिये कहा गया।

(स) प्रातः एवं सायं १०० मिली० श्वासवासांतक क्वाथ लेने के लिये कहा गया।

(द) भोजनपूर्व प्रतिदिन जल के साथ २×२ अग्नितुंडी बटी का उपयोग किया गया।

(य) भोजनोत्तर प्रतिदिन जल के साथ २० मिली० द्राक्षारिष्ट एवं २० मिली० अश्वगंधारिष्ट का प्रयोग किया गया।

(र) कुछ अंग्रेजी दवाइयों का भी उपयोग किया गया :

(१) टर्बुटेलीन टेबलेट, 500 mg, दिन में तीन बार

(२) एमोक्सिलीन केपसूल, ,,　　दिन में चार बार

(३) बेनाड्रिल कफ एक्सपेक्टोरेन्ट सिरप, २ चम्मच, चार बार

इस चिकित्सा व्यवस्था से रोगी को शीघ्र लाभ होने लगा। रोगी और रोग की स्थिति का आवश्यकतानुसार परीक्षण करते हुए चिकित्सा व्यवस्था में समुचित परिवर्तन किये जाते रहे। यह चिकित्सा लगभग तीन माह तक चलती रही। इससे आशानुकूल लाभ होते हुए भी रोगोन्मूलन हेतु पूर्ण सफलता में न्यूनता परिलक्षित हुई। इस पर विचार करने पर चिकित्सा के अंगभूत ज्योतिष शास्त्र के अनुसार रोगी के निम्न जन्मांग का अध्ययन किया गया।

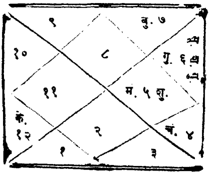

जन्म तिथि, समय व स्थान

आश्विन कृष्ण ११ मंगलवार, विक्रम १९७८

८-४० प्रातः

होशियारपुर, पंजाब।

ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'जातक तत्व' के अनुसार, यदि मंगल और शनि ग्रह जन्म लग्न को देखते हों, तो श्वास व क्षय की व्याधि होती है। प्रस्तुत जन्मांग में लग्न मंगल से चतुर्थ होने से तथा शनि से तृतीय होकर पूर्ण पृष्ट होने से श्वास रोग की पुष्टि होती है। साथ ही, कन्या राशि में गुरु होने पर फुफ्फुस-अवरोध-जन्य विकार तथा क्षय रोग होता है। पाश्चात्य ज्योतिषी रोफीरियल के अनुसार भी, कन्याराशि में गुरु तथा तुला राशि में बुध होने पर फुफ्फुसावरोधजन्य श्वास-रोग होता है।

इक जन्मांग में फुफ्फुसांग संबंधी तृतीयभाव की राशि-मकर-का स्वामी शनि भावेश होकर स्वयं ही क्रूर ग्रह है तथा क्रूर ग्रह सूर्य से युक्त भी है, यह पापी ग्रह राहु से भी युक्त है तथा केतु से सप्तम होने से पूर्ण दृष्ट है। ये सभी लक्षण व्याधि की उग्रता के द्योतक हैं। ज्योतिष विज्ञान के अनुसार, ऐसी स्थिति में ग्रहों की दृष्टि की कोटि के अनुसार, व्याधि उग्र, मध्यम, मंद या मृदु कोटि की हो सकती है। ग्रहशांति के उपायों द्वारा मृदु, मद और मध्यम कोटि की व्याधि को ठीक किया जा सकता है। परन्तु उग्र या दारुण रोग को मन्द रूप में तो परिवर्तित किया जा सकता है किन्तु उसके पूर्णतः शमित होने की सम्भावना बलवती नहीं रहती। हाँ, ग्रह-प्रकोप की कालावधि व्यतीत होने पर व्याधि के स्वरूप में परिवर्तन होने लगता है। चिकित्सोपचार भी इसमें सहायक होता है। ग्रह-प्रकोप की उग्र स्थिति को 'मारकेश' कहा जाता है। यह अनिष्ट का सूचक होता है।

उपरोक्त रोगी का रोग उग्र अवस्था में होने से उक्त चिकित्सा के साथ ग्रहशान्ति के उपाय किये गये। इस हेतु ज्योतिष चिकित्सा ग्रंथ में वर्णित निम्न प्रकार मंत्रों के जाप किये गये :

(अ) मंगल ग्रहशान्ति हेतु :	ॐ आं अंगारकाय नमः	७००० जाप
(ब) बुध–शान्त्यर्थ :	ॐ बुं बुधाय नमः	१००० जाप
(स) गुरु–शान्त्यर्थ :	ॐ बृं वृहस्पत्तये नमः	१००० जाप
(द) शनि–ग्रहशान्ति हेतु :	ॐ शं शनैश्चराय नमः	२३००० जाप

इन जपों के अतिरिक्त धार्मिक शान्ति उपायों मे जैन साहित्य में वर्णित कविवर मनसुखसागर-रचित 'नवग्रहारिष्ट विधान' के अनुसार (१) मंगल ग्रह शान्त्यर्थ मगल अरिष्ट निवारक श्री वासुपूज्य जिनपूजा, (२) बुध ग्रह शान्ति हेतु बुध-अरिष्ट निवारक श्री अष्टजिनपूजा, (३) गुरु ग्रह शान्त्यर्थ गुरु अरिष्ट निवारक श्री अष्टजिनपूजा तथा (४) शनि ग्रह शान्त्यर्थ शनि अरिष्ट निवारक श्री मुनिसुव्रत जिनपूजा का विधान किया गया।

चिकित्सा एवं ग्रहशान्ति के प्रयासों से रोग शमन हो गया, परन्तु ग्रहों की उग्रता के कारण रोगोन्मूलन नहीं हो पाया। भविष्य में उपचार करते रहने से पूर्ण लाभ हो जाने की सम्भावना है। इस प्रकार चिकित्सा एवं ज्योतिषीय विधियों के प्रयोग के संयुक्त प्रयासों से व्याधियों के उन्मूलनकी सम्भावना बलवती प्रतीत होती है। यदि मारकेश के कारण किन्हीं व्याधियों का उन्मूलन सम्भव न भी हो पाया, तो उनके मन्द या मृदु होने में तो कोई शंका ही नहीं है। कालान्तर में उनका शमन भी सम्भव है।

कुछ और प्रयोग : इसी आशा से एक सौ रोगियों के जन्मांगों में व्याधिजनक ग्रहयोगों की स्थिति प्रमाणित हो जाने पर एवं व्याधि का निदान यथाविधि कर लेने के पश्चात् भैषजोपचार के साथ ही 'वीरसिंहावलोक' तथा 'नवग्रहारिष्ट-निवारक विधान' में वर्णित मंत्र–जाप, पूजा तथा विधानों का अनुष्ठान कराया गया। इस उपचार के फलस्वरूप प्राप्त परिणामों को सारणी १ में दिया गया है। इनके प्रकाश में इस क्षेत्र में अधिक अध्ययन एवं अनुशीलन की प्रेरणा मिलती है और यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान चिकित्सा विज्ञान में अन्य विधियों के समान ज्योतिषी चिकित्सा भी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

सारणी १ : ज्योतिष-चिकित्सीय प्रयोगों के परिणाम

रोग	रोगी संख्या	रोगोन्मूलन	रोग-शमन	कोई लाभ नहीं
१. श्वांस रोगी	७	४, ५७%	३, ४२%	—
२. यक्ष्मा	८	—	७, ८७·५%	१, १२·५%
३. कुकुसावरण शोथ	१	१, १००%	—	—
४. जन्तवह स्रोत	७	४	३	—
५. रसवह स्रोत	१८	२	१५	१
६. मूत्रवह स्रोत	६	३	२	१
७. पुरीषवह स्रोत	९	८	१	—
८. रक्तवह स्रोत	१३	४	६	३
९. अर्न्तवह स्रोत	१८	३	१०	५
१०. मनोवह स्रोत	६	१	५	—
११. वातवह स्रोत	७	४	१	२
	१००	३४	५३	१३

●

साधारण जन की श्रद्धा और चिंतक की श्रद्धा में अंतर होता है। साधारणजन श्रद्धेय की प्रत्येक वाणी में श्रद्धा करता है। चिंतक श्रद्धेय की आध्यात्मिक उपलब्धि के प्रति श्रद्धानत होने पर भी उसके प्रत्येक वचन की श्रद्धा-स्वीकृति का आग्रह नहीं करता। सिद्धसेन ने बताया है कि भ० महावीर ने दो प्रकार के तत्व कहे—(१) हेतुगम्य और (२) अहेतुगम्य। जो व्यक्ति अहेतुगम्य तत्वों को आगम की प्रमाणता से और हेतुगम्य तत्वों को तर्क की प्रमाणता से प्रतिपादित करता है, वह आगम के हार्द को यथार्थ समझता है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु इसी मत के प्रस्तोता रहे हैं।

—मुनि नथमल

दार्शनिक गणितज्ञ आचार्य यतिवृषभ की कुछ गणितीय निरूपणायें

अनुपम जैन

सहायक प्राध्यापक, गणित, शासकीय महाविद्यालय, सारंगपुर (राजगढ़)

जैन साहित्य के अन्तर्गत गणितीय सामग्री से युक्त करणानुयोग समूह के ग्रंथों के रचनाकारों में आ० यतिवृषभ का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। तिलोयपण्णत्ती आपकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति है किन्तु इस कृति का गणितीय अध्ययन पाश्चात्य गणित इतिहासज्ञों के सम्मुख समीचीन रूप में प्रस्तुत न हो पाने के कारण आपको अद्यावधि विश्व गणित इतिहास की पुस्तकों में समुपयुक्त स्थान नहीं प्राप्त हो सका है।

आ० यतिवृषभ के जीवन के बारे में हमारा ज्ञान अत्यल्प है। आ० वीरसेन एवं आ० जिनसेन प्रणीत जयधवला टीका तथा आ० इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार में उपलब्ध सामग्री के आधार पर आ० यतिवृषभ, कषाय प्राभृत के कर्ता आ० गुणधर के शिष्य आ० आर्यमंखु एवं आ० नागहस्ति के शिष्य थे। संभवत: वे आ० नागहस्ति के अन्तेवासी थे। आ० आर्यमंखु अप्रवाह्यमान एवं आ० नागहस्ति प्रवाह्यमान श्रुतज्ञान के धारक थे। उल्लेखानुसार उपरोक्त दोनों आचार्यों को कषायपाहुड की रचना के मूल स्रोत महाकम्मपयडिपाहुड एवं पंचम पूर्वगत पेज्जदोस पाहुड का भी ज्ञान था। आ० यतिवृषभ उपरोक्त दोनों आचार्यों के शिष्य थे, अत: इस बात की पर्याप्त संभावना है कि आपको भी इनका ज्ञान हो। शास्त्री[1] ने एतदविषयक उपलब्ध समस्त अन्तर्बाह्य साक्ष्यों का विश्लेषण कर यह स्थिर किया है कि यतिवृषभ आठवें कर्मप्रवाद पूर्व तथा द्वितीय पूर्व के पंचम वस्तु के चतुर्थ प्राभृत कर्मप्रकृति के भी ज्ञाता थे। उनका समय 176 ई० के आसपास है। तिलोयपण्णत्ती के वर्तमान संस्करण में उपलब्ध पाँचवीं शताब्दी तक के राजवंशों की नामावली किसी परवर्ती आचार्य द्वारा तिलोयपण्णत्ती के मूल संस्करण के पुनर्सम्पादन के समय क्षेपक रूप मे जोड़ दी गयी है। इन्हीं क्षेपक अंशों के आधार पर कई विद्वान आ० यतिवृषभ को आर्यभट्ट-I के समकालीन अथवा समीपवर्ती, 473-609 ई० के मध्य का स्वीकार करते हैं।[2]

आपका परम्परा के आधार पर त्रिकालवर्ती विश्व-रचना को व्यक्त करने वाला 9 अध्यायों में विभक्त ग्रंथ तिलोयपण्णत्ती मूलत: गणितीय ग्रंथ नहीं है, तथापि सूत्रबद्ध प्ररूपणाओं में फलों के वर्णन तथा यत्र-तत्र विवेचन में गणितीय विधियों का उपयोग गणित इतिहासज्ञों हेतु बहुमूल्य है। लक्ष्मीचन्द्र जैन के अनुसार, कर्मसिद्धान्त एवं अध्यात्म-सिद्धांत विषयक ग्रन्थों में प्रवेश करने हेतु इस ग्रंथ का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। कर्म परमाणुओं द्वारा आत्मा के परिणामों का दिग्दर्शन जिस गणित द्वारा प्रबोधित किया जाता है, उस गणित की रूपरेखा का विशेष दूरी तक इस ग्रंथ में परिचय कराया गया है। इस प्रकार यह ग्रंथ अनेक ग्रंथों को भलीभाँति समझने हेतु सुदृढ़ आधार बनता है।[3]

तिलोयपण्णत्ती के गणितीय वैशिष्ट्यों को निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत संयोजित किया जा सकता है :

मापन पद्धति : खगोलीय ग्रंथ होने के कारण क्षेत्र की माप की सूक्ष्मतम इकाई की आवश्यकता के साथ ही लोक की माप बताने हेतु विशाल संख्याओं एवं इकाईयों की आवश्यकता पड़ी। विविध मापों के परस्पर सम्बद्ध होने तथा विविध प्रकार की जीवराशियों की आयु आदि स्पष्ट करने हेतु काल की इकाईयों को भी परिभाषित करना पड़ा है।

क्षेत्रमान परमाणु से प्रारंभ होकर योजन और जगत श्रेणी तक जाते हैं और कालमान सूक्ष्मतम यूनिट 'समय' से प्रारंभ होकर अचलात्म [$= 84 \times 10^{31} \times 10^{90}$ वर्ष] तक जाते हैं। इसके बाद असंख्यात या उपमा-मान आते हैं। इनका विवरण अन्यत्र उपलब्ध है।

यही नहीं, धवला (816 ई०) में जिन लघुगुणक (logarithms) के सूत्रों का पल्लवन अर्द्धच्छेद एवं वर्गशलाका के रूप में हुआ है, उनके बीज इस ग्रंथ में विद्यमान हैं। बड़ी संख्याओं को सूक्ष्म रूप में व्यक्त करने में अर्द्धच्छेद एवं वर्गशलाकायें[4] बहुत उपयोगी हैं। यदि $2^a = b$, तो b के अर्द्धच्छेद a होंगे अर्थात् $\log_2 b = a$, एवं यदि $2^{2^a} = b$, तो b की वर्गशलाका a होगी अर्थात् $\log_2 \log_2 b = a$

विशाल संख्याओं को लघु रूप में व्यक्त करने की इस रीति के अतिरिक्त, विशाल राशियों को व्यक्त करने की एक अन्य रीति, वर्गित संवर्गित के रूप में भी उपलब्ध है।[5] इसके अन्तर्गत जब किसी राशि पर उसी राशि की घात चढ़ा दी जाती है, तो इस रीति को वर्गित संवर्गित कहते हैं। उदाहरणार्थ,

$$2 \text{ का द्वितीय वर्गितत संवर्गित} = \overline{2}|^2 = [2^2]^{[2^2]}$$

संख्या सिद्धान्त—कर्म संबंधी विविध घटनाओं के परिमाणात्मक निर्वचन हेतु आचार्य ने अनन्तों सहित संख्याओं के 21 भेदों का निरूपण किया। संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त के रूप में किये गये इस विभाजन का एक विशिष्ट पहलू ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में संख्यात एवं अनन्त के मध्य में असंख्यात की अवधारणा तथा अनन्त से बड़े अनन्त का स्थिर करना है। ग्रंथ में विभिन्न प्रकार की राशियों के उदाहरण एवं प्राप्त करने की विधियाँ भी दी हैं।

ज्यामितीय सूत्र—परम्परानुमोदित लोक संरचना का ग्रंथ होने के कारण इसमें लोक के विविध क्षेत्रों, पर्वतों का क्षेत्रफल, विविध प्रकार के सांद्रों का घनफल निकालने के प्रकरण अनेकश: आये हैं। ग्रंथ में अनेकानेक प्रकार की आकृतियों के क्षेत्रफल, वृत्ताकार आकृतियों की परिधि, वाण, जीवा आदि ज्ञात करने के सूत्र उपलब्ध हैं। सरस्वती के शब्दों में त्रिलोक प्रज्ञप्ति के पहले चार महाधिकार गणितीय सूत्रों के भंडार हैं।[6]

लोक को वेष्ठित करने वाले विविध स्फान सदृश आकृतियों, क्षेत्रों से युक्त वातवलयों का आयतन, उनका Topological defarmation कर, धनादि रूप में लाकर ज्ञात किया गया है। यह विधि ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

इस ग्रंथ में अनुपात के सिद्धान्त का भी व्यापक प्रयोग हुआ है।

तिलोयपण्णत्ती में जम्बूद्वीप का व्यास 100000 योजन तथा परिधि 316227 योजन, 3 कोश, 128 दण्ड, 1 वितस्ति, 1 अंगुल, 3 अवसन्नासन्न $\frac{23213}{105409}$ ख ख...... दिया गया है।

ग्रंथ के अनुसार यह दृष्टिवाद से उद्धृत सूक्ष्मतम मान है। यह गणना परिधि $= \sqrt{10}$ व्यास सूत्र से की गई बताई गयी है। किन्तु यदि $\sqrt{10}$ का वास्तविक मान लेकर इसकी गणना की जाये, तो परिधि का मान कुछ कम प्राप्त होता है। क्या यह त्रुटि है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए प्रो. गुप्ता[7] ने स्थिर किया कि यह परिकलन,

$$\sqrt{N} = \sqrt{a^2+x} = a + \frac{x}{2a}, \text{ जहाँ } x < 2a \text{ लगभग मान के आधार पर किया गया है।}$$

तिलोयपण्णत्ती में प्रयुक्त कतिपय प्रमुख करण सूत्र निम्न हैं। यदि वृत्त की परिधि, p, वृत्त की जीवा, c, वृत्त खंड के चाप की लम्बाई, s, वृत्त खंड की ऊँचाई (वाण), h, वृत्त की त्रिज्या, r, वृत्त का व्यास, d, वृत्त का क्षेत्रफल, a, है, तो

1. लम्बवृत्तीय बेलन का आयतन[8] $= \sqrt{10}\, r^2 h$
2. लम्ब प्रिज्म के छिन्नक आयतन[9] = आधार का क्षेत्रफल × प्रिज्म की ऊँचाई
   (यहाँ आधार का क्षे.[10] $= \frac{\text{मुख} + \text{भूमि}}{2}$ × दोनों सतहों के मध्य लम्ब दूरी)
3. वृत्त की परिधि[11] (P) $= \sqrt{d^2 \times 10}$
4. वृत्त के चतुर्थांश की जीवा का वर्ग $= 2r^2$
5. वृत्त की जीवा[12] $\equiv c = \left[4 \left(\frac{d}{2}\right)^2 - \left(\frac{d}{2} - h\right)^2 \right]^{1/2}$
6. वृत्त खंड का चाप[13] $\equiv s = [2\{(d+h)^2 - d^2\}]^{1/2}$
7. वृत्त खंड की ऊँचाई[14] $\equiv h = \frac{d}{2}\left[\frac{d^2}{4} - \frac{c^2}{4}\right]^{1/2}$
8. वृत्त खंड का क्षेत्रफल[15] $\equiv a = \frac{h\,c}{4}\sqrt{10}$
9. शंख (Conch) आकृति का आयतन[16] $= \left[(\text{विस्तार})^2 - \left(\frac{\text{मुख}}{2}\right) + \left(\frac{\text{मुख}}{2}\right)^2 \right] \times \frac{2}{4}$

स्पष्टतः यतिवृषभ ने π का जैन परम्परानुमोदित स्थूल मान 3 तथा सूक्ष्म मान $\sqrt{10}$ स्वीकार किया है।

प्रतीकात्मकता—तिलोयपण्णत्ती में यत्र-तत्र अनेक बीज रूप प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। इसकी अनेक संदृष्टियों (प्रतीकों) का आशय न समझ पाने के कारण वे अद्यावधि अपरिभाषित हैं। इन प्रतीकों का अतिविकसित रूप हमें टोडरमल के अर्थसंदृष्टि अधिकारों में देखने को मिलता है। इस ग्रंथ में रिण के लिए 'रि' एवं 1, मूल के लिए 'मू', जगश्रेणी के लिए '–', जग प्रतर के लिए '=', घन लोक के लिए '≡', रज्जु के लिए 'र', पल्य के लिए 'प', सुच्यंगुल उत्सेधांगुल के लिए '2', आवलि के लिए '2', प्रतरांगुल के लिए '4', घनांगुल के लिए '6', गुणा के लिए '।' प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। प्रकरणों के साथ प्रतीकों के अर्थ में परिवर्तन अनेक असुविधाओं को भी जन्म देता है।

श्रेणी व्यवहार गणित—ग्रंथ में व्यापक रूप से समान्तर एवं गुणोत्तर श्रेणियों की चर्चा है। विभिन्न स्थलों पर श्रेणियों के मुख (First Term), चय, गच्छ, सर्वधन (Sum of n Terms) निकालने के सूत्र एवं तत्सम्बन्धी उदाहरण दिये हैं। कुछ नवीन प्रकार की श्रेणियों की भी चर्चा है। इस ग्रंथ में समान्तर श्रेणी के लिए निम्नलिखित सूत्र उपलब्ध हैं :[17]

I $S_n = \frac{n}{2}[2a+(n-1)d]$

II $d = \frac{a-l}{n-l},\ 1<a$

III $a_n = a+(n-1).\ d$

समान्तर श्रेणी के इन सूत्रों को स्पष्ट करने वाले प्रयोग भी ग्रन्थ में उपलब्ध हैं।

सन्दर्भ

1. नेमिचन्द्र जैन, शास्त्री, तीर्थंकर महावीर एवं उनकी आचार्य परम्परा, 2, अ. भा. दि. जैन विद्वत् परिषद्, सागर, 1974, पृ. 85, 77-78, 87.
2. L. C. Jain, *Exact Sciences from Jaina Sources*, Vol. I, Rajasthan Prakrita Bharti Sansthan, Jaipur, 1982.
3. लक्ष्मीचन्द्र जैन, तिलोयपण्णत्ती एवं उसका गणित, अन्तर्गत तिलोयपण्णत्ती, भा. दि, जैन महासभा, कोटा, 1984, पृ. 49-68।
4. तिलोयपण्णत्ति 1/131, 132, 5/280-81.
5. वही 4/310-312.
6. Geometry in Ancient & Medieval India, P. 76.
7. R. C. Gupta, Circumference of Jambudvipa in Jaina Cosmography. I. J. H. S. 10 (1). 1975, PP. 38-44.
8. तिलोयपण्णत्ती, 1/116।
9. वही, 1/165।
10. वही, 4/6।
11. वही, 4/170।
12. वही, 4/180।
13. वही, 4/180।
14. वही, 4/181।
15. वही, 4/2374।
16. वही, 5/3191।
17. वही. 2/58-105।

खंड ५

इतिहास एवं पुरातत्त्व

बंधो क्रोध ! विधेहि किंचिदपरं, स्वस्याधिवासास्पदं ।
भ्रातर् मान ! भवानपि प्रचलतु, त्वं देवि माये, व्रज ॥
हं हो लोभ सखे ! यथाभिलषितं गच्छ द्रुतं वश्यतां ।
नीतः शांतरसस्य संप्रति लसद्वाचा गुरूणामहं ॥

—सुभाषित

स्वर्गसुखानि परोक्षाणि, अत्यंतपरोक्षमेव मोक्षसुखं ।
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं, न परवशं, न च व्ययप्राप्तं ॥

आ० उमास्वाति

जह णवि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा दु गाहेवुं ।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवदेसण मसक्कं ॥

—कुंदकुंदाचार्य

मिथिला और जैनमत

डा० उपेन्द्र ठाकुर
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

बौद्धधर्म के इतिहास में मिथिला (उत्तर बिहार) की जो महत्वपूर्ण भूमिका रही है, वही जैनधर्म के इतिहास में भी रही है। इस देश में मिथिला जैसे कम क्षेत्र हैं जिन्हें बौद्धों और जैनियों—दोनों का एक-सा सम्मान प्राप्त हुआ हो। जैनियों के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर वैशाली के ही एक सम्भ्रान्त परिवार में पैदा हुए थे और उन्होंने जीवन के प्रारम्भिक वर्ष वहीं बिताये थे। वैशाली प्राचीन काल में मिथिला का ही एक अभिन्न अंग थी, किन्तु खेद की बात यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों और परम्पराओं में वैशाली की उपेक्षा की गयी है और हिन्दू धर्म के इतिहास में कहीं भी ऐसी कोई महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं है जो इस क्षेत्र से सम्बन्धित हो। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग जब सातवीं शताब्दी में यहाँ आया था, तो उसने इस स्थान में अनेक ध्वंसावशिष्ट हिन्दू मन्दिर, बौद्ध मठ और जैन प्रतिष्ठान देखे थे जहाँ काफी संख्या में निर्ग्रन्थ संन्यासी निवास करते थे। आश्चर्य तो यह है कि इसके बावजूद भी आधुनिक काल में पावापुरी अथवा चम्पा (भागलपुर) की भांति वैशाली न तो जैनियों का तीर्थ-स्थल ही बन सकी और न ही किसी ने अब तक यहाँ जैन पुरातात्विक अवशेषों की खोज करने की ही चेष्टा की है। पुरातत्वविदों ने तो इस दिशा में घोर उदासीनता दिखायी है। उन्होंने आज तक ह्वेनसांग—जैसे बौद्ध यात्रियों के द्वारा प्रस्तुत विवरणों तथा बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित बौद्ध तीर्थ-स्थलों एवं पुरातात्विक अवशेषों की खोज में ही अपना समय लगाया है और जैन पक्ष को घोर उपेक्षा की है। अब तक बसाढ़ (वैशाली) को जैनधर्म की जन्म-स्थली सिद्ध करने में ही वे लगे रहे जबकि इसके समर्थन में हमें पर्याप्त साहित्यिक साक्ष्य मिलते हैं जो अपने आप में पूर्ण माने जा सकते हैं[1]। प्रस्तुत निबन्ध में हम उन पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्यों पर विचार करेंगे जिनसे मिथिला (उत्तर बिहार) में जैनधर्म के उत्थान और विकास पर प्रकाश पड़ता है।

भारत के इतिहास में वैशाली का स्थान एक शक्तिशाली एवं सुनियोजित गणतंत्र और धार्मिक आन्दोलनों के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप में काफी ऊँचा है। लिच्छवि गणतंत्र की पवित्र भूमि तथा विदेह गणराज्य की राजधानी—वैशाली-भगवान् महावीर की पवित्र जन्मभूमि के रूप में छठी सदी ई० पूर्व में हमारे समक्ष आती है। उनके पिता सिद्धार्थ ज्ञातृक वंश के प्रधान थे और उनकी पत्नी का नाम त्रिशला था जो वैशाली के राजा चेतक की बहन थी। उसे 'वैदेही' अथवा 'विदेहदत्ता' भी कहते हैं क्योंकि वह विदेह (मिथिला) के राजवंश की थी। इसीलिए महावीर 'विदेह', 'वैदेहदत्ता', विदेहजात्ये' तथा 'विदेहसुकुमार'[2] के नाम से भी विख्यात हैं। वे वैशालिक तो थे ही। फलतः महावीर जहाँ एक ओर वैशाली के निवासी (पितृ-पक्ष से) थे, वहीं दूसरी ओर विदेह अथवा मिथिला के नागरिक (मातृ-पक्ष से) भी थे[3]। यही कारण है कि महावीर पर मिथिला का अधिकार कहीं अधिक था, क्योंकि उनके व्यक्तित्व एवं चरित्र-निर्माण में इस को सर्वाधिक देन थी, जिसके फलस्वरूप कुछ ही वर्षों में जैनमत तथा आध्यात्मिक अनुशासन एवं संन्यास के प्रमुख केन्द्र के रूप में वैशाली की ख्याति समस्त उत्तर भारत में फैली। भगवान् महावीर के अतिरिक्त, बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य का भी चम्पापुर (भागलपुर, जो उस समय विदेह का ही अंग था) में निर्वाण प्राप्त हुआ था तथा इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ का जन्म भी मिथिला में ही हुआ था। स्वयं महावीर ने वैशाली में बारह तथा मिथिला में छह वर्षा-वास बिताये थे[4]।

इसी प्रकार बुद्ध के जीवन-काल में भी लिच्छवि, मल्ल तथा काशी-कोसल के राज्य ही महावीर तथा अन्य निर्ग्रन्थ अनुयायियों के कार्य-क्षेत्र थे। बौद्ध-ग्रन्थों से भी यह ज्ञात होता है कि राजगृह, नालन्दा, वैशाली तथा पावापुरी और सावत्थी (श्रावस्ती) भगवान् महावीर तथा उनके अनुयायियों के समस्त धार्मिक कार्यों के क्षेत्र थे। यही कारण है कि वैशाली में महावीर के बहुत से लिच्छवि और विदेह समर्थक थे[५]। उनके कुछ अनुयायी समाज के काफी उच्च वर्ग के थे। 'विनयपिटक' के अनुसार, लिच्छवि सेनापति 'सिंह' पहले महावीर के अनुयायी थे, बाद में बौद्ध हो गये। पाँच सौ लिच्छवियों की सभा में सच्चक नाम के एक निगण्ठ (निर्ग्रन्थ) ने बुद्ध को दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा करते समय चुनौती दी थी।[६] बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त अनेक दृष्टान्तों[७] से पता चलता है कि बुद्ध के समय में वैशाली और विदेह के नागरिकों पर महावीर का कितना अधिक प्रभाव था। जैनियों का मत है कि विदेह अथवा मिथिला भी जैन आर्य देशों का ही एक अभिन्न अंग थी क्योंकि यहीं तित्थयरों, चक्कवट्टियों, बलदेवों और वासुदेवों का जन्म हुआ था, यहीं सिद्धि मिली थी और उनके उपदेशों के फलस्वरूप इन क्षेत्रों के अनेक नागरिकों ने संन्यास लेकर ज्ञान-प्राप्ति की थी[८]। इस प्रकार भारत के धार्मिक क्षेत्र में वैशाली की ख्याति बहुत पहले ही फैल चुकी थी और महावीर द्वारा दीक्षित वहाँ के धर्मोपदेशक अपनी सदाचारित एवं आनुशासनिक कट्टरता के फलस्वरूप तत्कालीन समाज में दूर-दूर तक ख्याति प्राप्त कर चुके थे। वैशाली की इसी ख्याति के फलस्वरूप 'गुरू' की खोज में सिद्धार्थ (बोधिसत्व) वहाँ पहुँचे थे और वहाँ के ख्यातिलब्ध साधक आलार-कलाम से दीक्षित हुए थे। आलार-कलाम के सम्बन्ध में ऐसी जनश्रुति है कि "वह अपनी साधना में इतने आगे बढ़ चुके थे कि मार्ग पर बैठे रहने पर यदि ५०० बैलगाड़ियाँ उनके बगल से गुजर जातीं, तो भी उनकी घरघराहट को वह नहीं सुन पाते[९]।" श्रीमती रिज डेविड्स का तो ऐसा मत है कि वैशाली में ही बुद्ध को दो 'गुरू' मिले—आलार तथा उद्दक। इनकी शिक्षा से प्रभावित होकर उन्होंने अपना धार्मिक जीवन एक जैन की भाँति प्रारम्भ किया।[१०] एक जैनी के रूप में अत्यन्त कठोर अनुशासनित जीवन व्यतीत करने के फलस्वरूप उनके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने जैन-मार्ग त्यागकर मध्यम-मार्ग अपनाया और शीघ्र ही उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई। यही मार्ग बाद में चलकर बौद्धमत की आधार-शिला बना। फलतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बौद्धधर्म के उत्थान और विकास के बहुत पूर्व से ही वैशाली और विदेह (मिथिला) जैनधर्म के प्रमुख केन्द्र के रूप में काफी ख्यात हो चुके थे।

: २ :

महावीर और बुद्ध के समय उत्तरी भारत की सामाजिक और धार्मिक नीति एक-सी थी। जाति-व्यवस्था, जन्म-सुविधाओं का दुरुपयोग तथा धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मणों का एकाधिकार—इनके फलस्वरूप जिस नयी संस्था (पुरोहितवाद) का जन्म हुआ था, वह समाज के अंग-अंग को अपने खूँखार चंगुल में जकड़ चुकी थी। उससे मुक्त होने के लिए सामान्यजन छटपटा रहे थे। ठीक, उसी समय जनक, विदेह और याज्ञवल्क्य—जैसे उपनिषद-युगीन क्रान्तिकारी ऋषियों और दार्शनिकों ने इस 'पुरोहितवाद' पर भयंकर आघात किया, उसकी घोर भर्त्सना की। फलस्वरूप ब्राह्मण-धर्म के क्षेत्र में एक नयी क्रान्ति आयी, यज्ञ तथा धर्म के नाम पर सदियों से फैली कुरीतियों को भयंकर आघात पहुँचा। ठीक इसी समय महावीर भी भारत के धार्मिक क्षितिज पर अवतरित हुए।[११] ब्राह्मण ऋषियों और दार्शनिकों द्वारा चलाये गये इस धार्मिक आन्दोलन के फलस्वरूप, कुछ साधारण परिवर्तनों के साथ पार्श्वनाथ के धर्म का प्रचार-प्रसार करने का महावीर को विलक्षण संयोग प्राप्त हुआ। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य को शान्ति और सहायता के लिए कहीं और देखने की आवश्यकता नहीं है, वह उसका निदान अपने अन्दर ही ढूंढ़ सकता है। उनके उपदेश इतने प्रभावोत्पादक थे कि ब्राह्मणों के एक वर्ग ने भी महान् शिक्षक के रूप में उनका सम्मान किया, उन्हें मान्यता दी[१२]। वास्तविकता तो यह है कि बुद्धिजीवी ब्राह्मणों ने समय-समय पर जैनियों को भी वैसी ही सहायता की, जिस प्रकार उन्होंने बौद्धों की सहायता की थी और विद्या के क्षेत्र में उनकी प्रेरणा से जैनियों की प्रतिष्ठा को काफी

बल मिला था। किन्तु प्रारम्भ में जाति-व्यवस्था के फलस्वरूप उत्पन्न कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाने के कारण जैनधर्म की लोकप्रियता समाज के निर्धन तथा निम्न वर्गों में उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। महावीर की दृष्टि में चाहे ब्राह्मण हों अथवा शूद्र, उच्च वर्ग का हो अथवा निम्न वर्ग का—सभी समान थे। उनके अनुसार कोई भी व्यक्ति जन्म से नहीं, अपितु सुकार्यों एवं सद्गुणों से ब्राह्मण होता है। चाण्डाल भी अपनी प्रतिभा और सद्कार्यों द्वारा समाज में उच्चतम स्थान प्राप्त कर सकता है। ब्राह्मणधर्म की भाँति ही जैनधर्म आत्मा के स्थानान्तरण और पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्ति में विश्वास करता है[13] किन्तु, इसके लिये ब्राह्मणधर्म में जिस संयम और तपस्या की अवस्था है, उसे वह नहीं मानता। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दोनों में अन्तर बहुत कम है और वह भी बहुत कुछ जाति-व्यवस्था के प्रति दोनों धर्मों के दृष्टिकोण से स्पष्ट हो जाता है। महावीर ने वास्तव में न तो जाति-व्यवस्था का विरोध किया और न ही उससे सम्बन्धित सभी बातों को स्वीकार किया। उनका कहना था कि पूर्वजन्म के अच्छे या बुरे कार्यों के फलस्वरूप ही किसी मनुष्य का जन्म ऊँची अथवा नीची जातियों में होता है, किन्तु वह अपने पवित्र आचरण और प्रेम द्वारा आध्यात्मिकता को प्राप्त कर निर्वाण के अन्तिम सोपान तक पहुँच सकता है। महावीर के अनुसार जाति-व्यवस्था तो परिस्थितिगत है और किसी भी आध्यात्मिक व्यक्ति के लिये इसके बन्धन को सदा के लिये तोड़ देना आसान है[14]। ईश्वरीय अवदान किसी सम्प्रदाय-विशेष, अथवा संघ-विशेष का एकाधिकार नहीं है और इस दृष्टि से नर व नारी में कोई अन्तर नहीं है[15]। यही कारण है कि एक ओर जहाँ बौद्धों और ब्राह्मण दार्शनिकों में लगभग एक सदी तक दार्शनिक वाग्युद्ध चलता रहा, वहीं दूसरी ओर जैनियों के प्रति ब्राह्मण अपेक्षाकृत अधिक उदार और संवेदनशील रहे।

: ३ :

यह सही है कि जैन और ब्राह्मण दार्शनिकों ने एक दूसरे के मतों का खण्डन किया है, किन्तु यह आलोचना मात्र प्रसंगवश जान पड़ती है, न कि सुनियोजित रूप में एक दूसरे के सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिए। इसीलिए उनकी भाषा में कहीं कटुता अथवा उग्रता के भाव नहीं दिखायी पड़ते। महावीर ने अपने अनुयायियों को पूर्व-मीमांसा का अध्ययन करने के लिए उत्साहित किया था, ताकि वे दार्शनिक वाद-विवाद में सही-सही ढंग से तर्क उपस्थित कर सकें। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार निर्ग्रन्थ मुनियों और उनके अनुयायियों में कई ऐसे दार्शनिक थे जो अपनी प्रतिभा के कारण काफी प्रख्यात थे[16]। मध्यकालीन तर्क-शास्त्र वस्तुतः जैन और बौद्ध नैयायिकों के हाथ में था और लगभग एक हजार वर्षों तक (ई० पू० ६०० से ४०० ई० तक) धर्म तथा आत्मतत्त्वज्ञान से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों के निरूपण तथा व्याख्या में ये दार्शनिक लगे रहे, यद्यपि इनके ग्रन्थों में तर्क-शास्त्र का उल्लेख यदा-कदा ही मिलता है। लगभग ४०० ई० और उसके बाद से इन्होंने तर्क-शास्त्र के विभिन्न पक्षों का गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ किया और यही कारण है कि तर्कशास्त्र से सम्बन्धित जितने भी जैन और बौद्ध ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे चौथी सदी ई० के बाद के हैं[17]। आठवीं शताब्दी में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अधिकांश नैयायिकों का कार्यक्षेत्र उज्जयिनी' (मालवा) तथा बल्लभी (गुजरात) में था जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय के नैयायिकों के कार्य-कलाप पाटलिपुत्र और द्रविड़ (कर्नाटक सहित) क्षेत्रों में सीमित थे। सिद्धसेन दिवाकर प्रणीत 'न्यायावतार' (लगभग ५३३ ई०) को जैन-न्याय का प्रथम वैज्ञानिक तथ्य सम्बद्ध ग्रन्थ माना जा सकता है[18], जबकि मध्यकालीन तर्कशास्त्र (न्यायशास्त्र) के वास्तविक संस्थापक बौद्ध नैयायिक ही थे[19]।

इसी समय पाटलिपुत्र में दिगम्बर जैन नैयायिक विद्यानन्द (८०० ई०) हुए थे जिन्होंने 'आप्तमीमांसा' पर 'आप्तमीमांसालंकृति' ('अष्टसहस्री') नाम की एक विशद् टीका लिखी थी। इसमें सांख्य, योग, वैशेषिक, अद्वैत, मीमांसक तथा सौगत, तथागत अथवा बौद्ध दर्शन की कटु आलोचना की गयी है। विद्यानन्द ने इस प्रसंग में दिग्नाग, उद्योतकर, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, शबरस्वामी, प्रभाकर तथा कुमारिल की भी चर्चा की है[20]। उनके उत्तरवर्ती जैन नैयायिकों ने अपने ग्रन्थों में हिन्दू तथा बौद्ध दार्शनिकों के सिद्धान्तों का खण्डन किया है।

उस समय बौद्ध, जैन और ब्राह्मण नैयायिकों में निरन्तर दार्शनिक वाद-विवाद होते रहते थे। बौद्ध और ब्राह्मण नैयायिकों के बीच कभी-कभी तो यह विवाद बहुत ही उग्र हो जाता था पर जैन और ब्राह्मण दार्शनिकों के बीच इस प्रकार की कटुता कभी भी उत्पन्न नहीं होती थी। वास्तविकता तो यह है कि श्रमण-मुनि (जैन) तथा वैदिक ऋषि इतिहास के प्रारम्भ से ही एक साथ अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करते रहे, यद्यपि उनके आदर्शों और कार्य-प्रणाली में भिन्नता रही। यह सही है कि कभी-कभी दोनों पक्षों के बीच प्रतिस्पर्धा और असहिष्णुता तीव्र हो उठती क्योंकि उनके आदर्श बहुत हद तक एक दूसरे से भिन्न थे, फिर भी सामान्य जनों में उनकी प्रतिष्ठा बनी रही। इसके परिणामस्वरूप शनैः शनैः ये दोनों शब्द 'ऋषि' और 'मुनि'—एक दूसरे के पर्यायवाची हो गये[२१]। और, एक समय ऐसा भी आया जब श्रमण मुनियों ने यह दावा किया कि वास्तव में वे ही सच्चे ब्राह्मण हैं[२२]। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये दार्शनिक वाद-विवाद, भारतीय दर्शन के लिए अमूल्य वरदान सिद्ध हुए जिसके फलस्वरूप भारतीय तर्कशास्त्र का असाधारण विकास एवं प्रचार हुआ।

: ४ :

यद्यपि किसी अशोक अथवा हर्षवर्धन द्वारा जैन धर्म का प्रचार-प्रसार नहीं किया गया, फिर भी ऐसे कई शासकों के दृष्टान्त हमारे सामने हैं जिन्होंने इस धर्म को स्वीकार कर लिया था। जैन सूत्रों के अनुसार पार्श्वनाथ काशी-नरेश अश्वसेन के पुत्र थे। 'सूत्रकृतांग' और अन्य जैन ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि राजघरानों में पार्श्वनाथ का काफी प्रभाव था और महावीर के समय में भी मगध तथा आसपास के क्षेत्रों में बहुत बड़ी संख्या में उनके अनुयायी थे[२३]। स्वयं महावीर का परिवार भी पार्श्वनाथ का ही अनुयायी था[२४]। छठी सदी ई० पूर्व में जब महावीर ने जैन संघ में सुधार किये, तो उन्हें पार्श्वनाथ के इन अनुयायियों को सन्तुष्ट कर अपने नये संशोधित समुदाय में सम्मिलित होने के लिये काफी प्रयास करना पड़ा था।

पार्श्वनाथ की भाँति ही महावीर का भी सम्बन्ध राजवंशों से था। तत्कालीन षोडश महाजनपद में जो 'अट्ठकुल' (अष्टकुल) थे, उनमें विदेह, लिच्छवि, ज्ञात्रिक तथा वज्जि वंशों का प्रमुख स्थान था। इसके अतिरिक्त, जैन सूत्रों में ऐसे बहुत साक्ष्य हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि जैनमत में विदेहों की काफी रुचि थी। मिथिला के जनक राजवंश के संस्थापक निमि (नामि अथवा नेमि) के बारे में जैन सूत्रों में ऐसा उल्लेख आया है कि उन्होंने जैन धर्म को स्वीकार कर लिया था[२५]। इसके अतिरिक्त, महावीर ने मिथिला में छह वर्षा-वास बिताये थे। वास्तविकता चाहे जो भी हो, इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि मिथिला में कम से कम एक वर्ग तो ऐसा था जो महावीर का अनन्य भक्त था।

प्राचीन अंग (आधुनिक भागलपुर जो प्राचीन भारत में विदेह का ही एक अंग था) की राजधानी चम्पा भी जैन-कार्यकलापों का एक प्रमुख केन्द्र थी जहाँ महावीर ने तीन 'वर्षा-वास' किये थे। 'उवासगदसाओं' तथा 'अंतगडदसाओ' से हमें ज्ञात होता है कि महावीर के शिष्य सुधर्मन—जो उनके निर्वाण के पश्चात् जैन समुदाय के प्रधान हुए[२६]—के समय में चम्पा में पुण्णभद्द (पूर्णभद्र) मन्दिर का निर्माण किया गया था। कहते हैं, कुणिक अजातशत्रु के शासन-काल में सुधर्मन का इस नगर में पदार्पण हुआ था और गणधर के दर्शन के लिए स्वयं अजातशत्रु नंगे पाँव नगर से बाहर उनका स्वागत करने गया था। बाद में सुधर्मन के उत्तराधिकारियों ने भी इस नगर का भ्रमण किया[२७]। अतः इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि वैशाली के लिच्छवियों की सहायता के फलस्वरूप महावीर को सभी दिशाओं से समर्थन मिला और देखते-देखते जैनधर्म का प्रभाव इस समय के प्रमुख शक्तिशाली राज्यों—सौवीर, अंग, वत्स, अवन्ति, विदेह (मिथिला) और मगध में उत्तरोत्तर बढ़ता गया। यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थों में वैशाली की काफी चर्चा के बावजूद भी, चेतक का कोई उल्लेख नहीं मिलता। जैकोबी का यह कथन सही जान पड़ता है कि बौद्धों ने उसकी उपेक्षा जानबूझ कर की है। उसने अपने प्रतिद्वन्द्वियों (जैनियों) की समृद्धि में अधिक अभिरुचि नहीं दिखायी। किन्तु जैनियों ने अपने तीर्थंकर के उस

निकट सम्बन्धी तथा संरक्षक (चेतक) की यत्र-तत्र ससम्मान चर्चा की है। यह उन्हीं के अथक प्रयास का फल था कि वैशाली उस समय जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र थी जिसके फलस्वरूप बौद्ध संन्यासी उसे हेय दृष्टि से देखते थे।

जैन सूत्रों से यह भी ज्ञात होता है कि विदेहों और लिच्छवियों की भाँति मल्ल भी महावीर के अनन्य भक्त थे। 'कल्पसूत्र' के अनुसार 'परम जिन' के निर्वाण के अवसर पर लिच्छवियों की भाँति मल्लों ने भी उपवास व्रत रखा और सर्वत्र दीप जलाये। 'अन्तगडद्साओ' में भी इस बात की विशद् चर्चा की गयी है कि बाइसवें तीर्थंकर अरिट्ठेमि अथवा अरिष्टनेमि (विदेह राजा) के बारवइ-आगमन पर उग्रों, भोगों, क्षत्रियों तथा लिच्छवियों के साथ मल्ल भी उनका स्वागत करने गये थे[२८]। इसी प्रकार काशी तथा कोसल गणराज्यों में भी जैनधर्म की लोकप्रियता थी और बिम्बसार, नन्द, चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्प्रति, खारवेल आदि के समान अन्य कई शासक इस धर्म से काफी सम्बन्धित थे।

गुप्तकाल में जैनधर्म के इतिहास में एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटना घटी। इसी युग में जैनियों के धार्मिक एवं अन्य साहित्य का संग्रह और सम्पादन हुआ था। इससे यह स्पष्ट है कि जैनी करीब-करीब समस्त भारत में इस समय तक फैल चुके थे। साथ ही, छठी शताब्दी और उसके बाद के अभिलेखों में जैन सम्प्रदाओं की काफी चर्चा मिलती है। ह्वेनसांग ने भी अपने विवरण में लिखा है कि जैनधर्म भारत में तो फैल ही चुका था, उसके बाहर भी उसका प्रभाव धीरे-धीरे फैल रहा था। लेकिन तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक आते-आते हम देखते हैं कि उत्तर बिहार (मिथिला) और उसके आस-पास के क्षेत्र में जैनधर्म और बौद्धधर्म का काफी ह्रास हो चुका था। तेरहवीं सदी के स्वनामधन्य तिब्बती बौद्ध यात्री धर्मस्वामी के विवरण में कहीं भी बौद्धों और जैनों का उल्लेख नहीं मिलता। उसने तिरहुत (मिथिला) को "बौद्ध-विहीन राज्य" कहा है।[२९]

: ५ :

साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त पूरे उत्तरी भारत में जैन कला और स्थापत्य कला के पर्याप्त अवशेष मिले हैं। स्थापत्य कला को जैनियों की जो देन है, उसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती। यद्यपि बिहार में जैन कला-कृतियाँ पर्याप्त संख्या में मिली हैं, फिर भी उत्तर बिहार (मिथिलांचल) में उनकी संख्या बहुत ही कम है, इसलिये इस क्षेत्र की जैन कला का सम्बद्ध इतिहास प्रस्तुत करना बड़ा ही कठिन है। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि वैशाली क्षेत्र में भी जैन कला-कृतियों के अवशेष उपलब्ध नहीं हैं। स्मिथ महोदय के अनुसार १८९२ ई० में बनिया ग्राम से ५०० गज पश्चिम जमीन में लगभग ८ फीट नीचे गड़ी हुई तीर्थंकरों की दो मूर्तियाँ—एक बैठी और दूसरी खड़ी—प्राप्त हुई थीं।[३०] किन्तु ब्लाक महोदय ने इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया है[३८] : गैरिक महोदय ने[३२] भी उन मूर्तियों की चर्चा करते हुए कहा है कि जब वह उस गाँव में पहुँचे, तो इतनी रात हो चुकी थी कि अंधेरे में उन मूर्तियों का सही-सही अध्ययन और मूल्यांकन सम्भव नहीं था।

किन्तु साहित्यिक साक्ष्य इससे भिन्न हैं। जैन साहित्य में वैशाली-स्थित अनेक जैन कलाकृतियों के प्रसंग मिलते हैं। जैन ग्रन्थ उवासगड-दसाओं[33] से ज्ञात होता है कि जैन ज्ञात्रिकों ने अपने कोलाग-स्थित क्षेत्र में एक जैन-मन्दिर बनवाया था जिसे 'चइय' कहा गया है। इसका अर्थ है 'मन्दिर' अथवा 'पवित्र स्थान' जहाँ पर उद्यान अथवा पार्क (उज्जआन', 'वनसण्ड' या 'बन-खण्ड), मन्दिर तथा सेवक-गृह हो। वहीं कुण्डपुर में महावीर यदा-कदा अपने शिष्यों के साथ आकर विश्राम करते थे।[३४]

बौद्ध परम्पराओं की भाँति ही जैन-परम्पराओं में भी तीर्थंकरों (जिन) की समाधि पर स्तूप-निर्माण की प्रथा थी। इसी कोटि का एक स्तूप जिन मुनि-सुव्रत की समाधि पर वैशाली में बना था और दूसरा मथुरा में सुपार्श्वनाथ का।[३५] जैनधर्म में स्तूप-पूजा की प्रधानता थी। वैशाली-स्थित उक्त स्तूप का उल्लेख करते हुए "आवश्यकचूर्णि" में 'पारिणामिकी बुद्धि' की व्याख्या के सन्दर्भ में 'थुभ' की कथा दी है जिससे यह स्पष्ट है कि 'निर्युक्ति' के लेखक

को वैशाली-स्थित मुनि-सुव्रत स्तूप की पूरी जानकारी थी। कौशाम्बी और वैशाली में जो उत्खनन हुए हैं, उनसे पता चलता है कि तथाकथित 'नार्थर्न ब्लैक पॉलिस्ड वेयर' विभिन्न रंगों में उपलब्ध था और कभी-कभी चित्रित भी किया जाता था। यद्यपि हमें इस तकनीक अथवा शैली का निश्चित उद्भव-स्थल ज्ञात नहीं है, फिर भी पुरातत्वविदों का ऐसा अनुमान है कि सम्भवतः इस शैली की उत्पत्ति और विकास मगध में ही हुआ था।

'महापरिनिब्बाणसुत्त' में जिस 'बहुपुत्तिका-चेतियम्' की चर्चा की गयी है, सम्भवतः वह विशाला (वैशाली) और मिथिला-स्थित वही चैत्य है जिसका उल्लेख जैन 'भगवती' और 'विपाक' सूत्रों में किया गया है। यह 'चैत्य' हारीति नाम की देवी को समर्पित किया गया था जिसकी बाद में बौद्धों ने देवी के रूप में पूजा आरम्भ की। 'औपपातिक सूत्र' में जिस पूर्णभद्र चैत्य का वर्णन किया गया है, अधिकांश बौद्ध चेतिय अथवा चैत्य उसी के अनुरूप थे। होएर्नलेने 'चेतिय' की जो व्याख्या की है, उसकी पुष्टि 'औपपातिकसूत्र' में पूर्णभद्र चैत्य के वर्णन से हो जाती है। कहते हैं, यह चैत्य चम्पा नगर के उत्तर-पूर्व स्थित आम्रशालवन के उद्यान में था। यह अत्यन्त पुरातन (चिरातीत) था जो प्राचीन काल के लोगों द्वारा 'ज्ञात' मान्य एवं प्रशंसित था। इसे छत्र, शंख, ध्वज, 'अतिपताका', मयूर-पंख (लोमपत्थग) तथा घंटों (वितर्दिका-वेदिका) से सुसज्जित किया गया था। इस पर चारों ओर सुगन्धित जल का सिंचन होता रहता था और चतुर्दिक पुष्प-मालाएँ सजी रहती थीं। विभिन्न रंगों और सुगन्धि के फूल बिखेरे जाते थे और नाना प्रकार की धूपबत्तियाँ (कालागुरु, कुंथु, हवक तथा रुक्क) जलती रहती थीं। यहाँ एक-से-एक अभिनेता, विडम्बक, संगीतज्ञ, वीणा-वादक आदि आकर अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। लोग तरह-तरह का उपहार लेकर यहाँ श्रद्धापूर्वक आते थे। चतुर्दिक विशाल वनखण्ड फैला था जिसके मध्य में एक बहुत बड़ा अशोक वृक्ष (चैत्य-वृक्ष) खड़ा था जिसकी शाखा में एक 'पृथ्वी-शिला-पट्ट' जुड़ा हुआ था।

कुछ समय पूर्व पालकालीन कृष्ण प्रस्तर-निर्मित महावीर की एक मूर्ति वैशाली में पायी गयी थी जो तालाब के निकट वैशाली गढ़ के पश्चिम-स्थित एक आधुनिक मन्दिर में सम्प्रति रखी हुई है। यह मूर्ति अब 'जेनेन्द्र' के नाम से विख्यात है और देश के कोने-कोने से जैन श्रद्धालु वैशाली आकर इसकी पूजा करते हैं।[36] वैशाली उत्खनन में प्राप्त एक दूसरी जैन मूर्ति का भी हमें उल्लेख मिलता है। सामान्य लोगों का ऐसा विश्वास है कि उत्तर मुंगेर-स्थित जयमंगलगढ़ जैनियों के कार्य-कलापों का एक प्राचीन केन्द्र था, पर उसकी पुष्टि में कोई भी ठोस साहित्यिक अथवा पुरातात्विक प्रमाण आजतक नहीं मिला है। जनश्रुति के अनुसार मौर्य शासक सम्प्रति भी जैनधर्म का बहुत बड़ा पोषक एवं संरक्षक था जिसने कई जैन मन्दिर बनवाये थे[37] जिनके अवशेष दुर्भाग्यवश अब नहीं मिलते।

प्राचीन अंग (आधुनिक भागलपुर जिला, जिसके कुछ अंश प्राचीन काल में मिथिला के अंग थे) में हमें जैन कलाकृतियों के कुछ अवशेष मिलते हैं। मंदार पर्वत जैनियों का बहुत पवित्र तीर्थ-स्थल माना जाता है। यहीं पर बारहवें तीर्थंकर वासु पूज्यनाथ को निर्वाण प्राप्त हुआ था। यहाँ का पर्वत-शिखर जैन सम्प्रदाय के लिये अत्यन्त पवित्र एवं आदृत है। कहते हैं, यह भवन खंड श्रावकों (जैनों) का था और उसके एक कमरे में आज भी 'चरण' सुरक्षित रखा हुआ है। इस पर्वत-शिखर पर और भी कतिपय जैन-अवशेष प्राप्त हुए हैं।[38] १९६१ ई० में वैशाली उत्खनन में भी कुछ जैन पुरातात्त्विक अवशेष मिले थे। भागलपुर के निकट कर्णगढ़ पहाड़ी में भी पर्याप्त जैन अवशेष प्राप्त हुए हैं। यहाँ के प्राचीन दुर्ग के उत्तर में स्थित एक जैन बिहार का भी प्रसंग आया है। यदि उत्तर बिहार के अबतक उपेक्षित किन्तु महत्वपूर्ण प्राचीन ऐतिहासिक स्थलों पर बड़े पैमाने पर उत्खनन कार्य किये जायँ, तो इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि इन क्षेत्रों से पर्याप्त संख्या में जैन पुरातात्त्विक अवशेष प्रकाश में आयेंगे।

वास्तुकला की दृष्टि से, मिथिला में ऐसा कोई महत्वपूर्ण अवशेष अबतक प्राप्त नहीं हो पाया है। वास्तुकला के अधिकांश अवशेष दिगम्बर सम्प्रदाय के ही हैं।

सन्दर्भ

१. व्हि० ए० स्मिथ, 'इनसाइक्लोपेडिया ऑफ रिलिजन एंड एथिक्स, भाग–१२, पृ० ५६८–६८, न्यूयार्क, १९२१ ।
२. आचारांग सूत्र, ३८९ ।
३. जैकोबी, 'जैन-सूत्र', भाग–२; सी० जे० शाह, 'जैनिज्म' इन नार्थ इंडिया, पृ० २३–२४ ।
४. 'कल्पसूत्र' (बी० सी० लॉ० सम्पादित) पृ० ३२ ।
५. बी० सी० लां, 'महावीर', पृ० ७ । ६. 'विनयपिटक', ('सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट', भाग–१७) पृ० १०८ ।
७. 'मज्झिमनिकाय', १, २२७–३७ ।
८. 'अंगुत्तरनिकाय', २, पृ० १९०–९४ तथा पृ० २००–२; 'संयुत', ५, पृ० ३८९–९०; 'अंगुत्तर', ३, पृ० १६७ ।
९. महापरिनिब्बाण सुत्तन्त, ४।३५ । १०. आर० के० मुकर्जी, उपरिवत्, पृ० ५ ।
११. एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, भाग–१, पृ० २०; मुनि रत्नप्रभा,विजय, 'श्रमण भगवान् महावीर', भाग–१, खण्ड–१, पृ० ५ ।
१२. 'कल्पसूत्र (सुखबोधिका टीका), पृ० ११२, १८ ।
१३. 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, भाग–२२, पृ० २१३ ।
१४. सी० जे० शाह, 'जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया', पृ० २० ।
१५. बी० सी० लॉ, 'महावीर', पृ० ४४ । १६. 'मज्झिमनिकाय', १।२२७, ३७४-७५ ।
१७. एस० सी० विद्याभूषण, 'इण्डियन लाजिक : मेडिवल स्कूल', प्रस्तावना, पृ० १८ ।
१८. एस० सी० विद्याभूषण, 'इण्डियन लाजिक : मेडिवल स्कूल', प्रस्तावना, पृ० १९ ।
१९. उपेन्द्र ठाकुर, 'जैनिज्म एण्ड बुद्धिज्म इन मिथिला; अध्याय ३ । २०. अष्टसहस्री, अध्याय–१ ।
२१. एच० एल० जैन, उपरिवत्, पृ० २ । २२. उपरिवत्, पृ० २ ।
२३. सी० जे० शाह, उपरिवत्, पृ० ८२-८३ । २४. उपरिवत्, पृ० ८३-८४ ।
२५. 'उत्तराध्ययन सूत्र, ९; ६१ । २६. 'उवासगदसाओ', (होएर्नले सम्पादित), २, पृ० २ ।
२७. सी० जे० शाह, 'उपरिवत्, पृ० ९४-९५, ३२२, ११-१००, १०८-१११, २०४-१६ ।
२८. एल० डी० बार्नेट, 'दि अंतगड-दसाओ' तथा 'अणुत्तरोववाइय-दसाओ', पृ० ३६ ।
२९. 'बायोग्राफी आफ धर्मस्वामिन्', (जी० रोरिक सम्पादित), पृ० ६० ।
३०, जर्नल आफ दि रौयल एशियाटिक सोसोइटो, १९०२, पृ० २८२ ।
३१ आर्किओलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, रिपोर्ट, १९०३–०४, पृ० ८७ ।
३२. आर्किओलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग १६, पृ० ९१ ।
३३. हॉरनैले, उपरिवत्, भाग–१, पृ० २, भाग २, पृ० २ ।
३४. यू० पी० शाह, 'स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ० ४३–४५, ७१,५५ ।
३५. यू० पी० शाह, उपरिवत्, पृ० ९ ।
३६. उपेन्द्र ठाकुर, स्टडीज इन जैनिज्म एण्ड बुद्धिज्म इन मिथिला, अध्याय ३ ।
३७. बृहत् कल्प-भाष्य, भाग ३, गाथा ३२८५–८९, पृ० ७१७–२१ ।
३८. बेगलर, आर्कियोलौजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, भाग–३; कुरेशी, एँसियेंट मोन्युमेंट्स ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा, (भागलपुर खण्ड) ।

बुन्देलखंड के जैन तीर्थ :
जिनमूर्ति-लेख-विश्लेषण : तीर्थंकर मान्यता एवं भट्टारक परम्परा

डॉ० एन० एल० जैन,
जैन केन्द्र, रीवाँ

विश्व के इतिहास में सदैव ही विभिन्न क्षेत्रों में ऐसे महापुरुषों का जन्म होता रहा है जिन्होंने दुखी मानव को सांसारिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से सुख और शान्ति की प्राप्ति के लिये मार्गदर्शी एवं प्रेरक उपदेश दिये। संसार को समुद्र की उपमा देकर उसकी अथाह एवं भयंकर गहराई को पार करने में इन उपदेशों ने मानव की महान् सेवा की है। ऐसे व्यक्तियों द्वारा उपदिष्ट मार्ग धर्मतीर्थ कहलाया। ये महापुरुष जंगम तीर्थ कहलाते हैं। इसके क्रिया-कलापों से, पञ्चकल्याणकों से सम्बन्धित विशिष्ट स्थान, क्षेत्र व भूमियां स्थावर तीर्थ कहलाते हैं। ये स्थावर तीर्थ अनेक प्रकार के होते हैं और उन्हें मंगलमय माना जाता है। उनकी यात्रा को पुण्यमय एवं ध्यानसाधक कहा जाता है। इनकी यात्रा के समय महापुरुषों के पुण्य कार्यों का स्मरण और तदनुरूप आचरण की शुभ प्रेरणा प्राप्त होती है, अन्तरंग उदार होता है, भावनायें निर्मल होती हैं। भावशुद्धि के प्रेरक ये तीर्थस्थान जैन संस्कृति के प्रतीक के रूप में सदा-से ही माने जाते रहे हैं। यही कारण है कि भारत में सर्वत्र इनका सद्भाव पाया जाता है। इनके अस्तित्व से यह भी अनुमान लगता है कि जैन धर्म एवं संस्कृति समग्र भारत में व्यापक रूप से प्रतिष्ठित रही है। वर्तमान में तो इसका महत्व और विस्तार और भी व्यापक होता जा रहा है।

प्रारम्भ में तीर्थ स्थान शब्द धार्मिक दृष्टि से प्रेरक स्थानों को निरूपित करता रहा है। सामान्यतः दो प्रकार के तीर्थस्थानों को इस दृष्टि से महत्व प्राप्त है : सिद्ध तीर्थ और अतिशय तीर्थ। आजकल 'तीर्थ' शब्द के स्थान पर 'क्षेत्र' शब्द अधिक प्रयुक्त होता है। सिद्ध क्षेत्र ऐसे स्थान हैं जहाँ से व्यक्तियों एवं महामानवों ने अपना चरम आध्यात्मिक विकास कर परम पद पाया हो। ऐसे क्षेत्रों में पारसनाथ, चम्पापुर पावापुर (बिहार), गिरिनार, तथा कैलाश (गुजरात) प्राचीनता की दृष्टि से प्रसिद्ध हैं। बुन्देलखण्ड के कुंडलगिरि, द्रोणगिरि, नयनगिरि तथा श्रमणगिरि के नाम सिद्ध क्षेत्रों में गिने जाते हैं। यह सिद्धक्षेत्रों की कोटि का उत्तरवर्ती विकास है। इनके विपर्यास में, अतिशय क्षेत्र ऐसे स्थान हैं जहाँ भक्तों, श्रद्धालुओं या दैवी कारणों से धर्म की प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाली कुछ प्रभावक घटनाएँ हुई हों, होती हों, या हो रही हों। इन क्षेत्रों की संख्या सिद्ध क्षेत्रों की तुलना में अधिक है। श्री महावीर जी, पपौरा, अहार, खजुराहो आदि के नाम इस कोटि के क्षेत्रों में लिये जा सकते हैं। इन अतिशय क्षेत्रों की यात्रा भी शास्त्रों में पुण्यकारी मानी गई है। वादीभ सिंह, शुभचन्द्र एवं वसुनन्दि ने इनका महत्व बताया है।

भारत का अतीत धर्मप्रधान एवं आध्यात्मिक गरिमा का संवर्धक रहा है। लेकिन इसका वर्तमान कुछ परिवर्धित प्रतीत होता है। आज धर्मक्षेत्रों के साथ कुछ अन्य प्रकार के क्षेत्रों का भी ज्ञान एवं उद्भावन हुआ है। इनमें ऐतिहासिक, पुरातात्विक (देवगढ़), एवं कलाक्षेत्र तो आते ही हैं, अब इनमें शिमला, कश्मीर आदि के समान प्राकृतिक सुषमामय पर्यटन क्षेत्र एवं भिलाई, टाटानगर, विशाखापटनम्, रूरकेला के समान औद्योगिक क्षेत्र भी समाहित होते लगे हैं। इनकी यात्रा हमारे वर्तमान की प्रगति एवं मनोरमता का अनुभव कराती है और भविष्य को और भी सुन्दर बनाने के लिये प्रेरित करती है। सम्भवतः यही प्रेरणा हमारी आध्यात्मिक प्रगति को उत्प्रेरित करती है। प्रस्तुत लेखन केवल धर्मप्रधान क्षेत्रों तक सीमित है और उसका भौगोलिक सीमांकन भी बुन्देलखण्ड तक रखा गया है।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र

इस क्षेत्र के भू-भाग का प्राचीन नाम चेदि देश था। इसके पड़ोस में वत्स जनपद था। राजा वसु और महाराजा शिशुपाल चेदि वंश के ही राजा थे। ईसापूर्व पहली-दूसरी सदी के कलिंग नरेश खारवेल के पूर्वज भी चेदिवंशी थे। उत्तरवर्ती काल में यहाँ कलचुरि चन्देल एवं बुन्देल राजाओं का शासन रहा। इस क्षेत्र का नाम भी डाहल (त्रिपुरी), जैजाक भुक्ति और बुन्देलखण्ड के रूप में परिवर्तित होता रहा। वर्तमान में यह क्षेत्र बुन्देलखण्ड कहा जाता है। इसकी सीमायें सामान्य और वृहत्तर बुन्देलखण्ड के आधार पर परिभाषित की जाती है। यह क्षेत्र चम्बल (ग्वालियर) और नर्मदा (हुशंगाबाद), वेत्रवती (देवगढ़) तमस और सोन (अमरकंटक) नदियों का मध्यवर्ती क्षेत्र है। इसके अन्तर्गत वर्तमान मध्यप्रदेश के ग्वालियर, हुशंगाबाद, सागर, जबलपुर तथा रीवा कमिश्नरी क्षेत्र एवं उत्तरप्रदेश के झाँसी कमिश्नरी के क्षेत्र समाहित होते हैं। इसके अन्तर्गत लगभग १५–१८ जिले आते हैं। यह क्षेत्र अपनी वीरता, धर्मप्रियता, धार्मिक सहिष्णुता, स्थापत्यकला एवं मूर्तिकला के लिये पिछले एक हजार वर्ष से विख्यात हैं।

इस क्षेत्र के सांस्कृतिक विहंगावलोकन से ज्ञात होता है कि यहाँ जैन धर्म सदा से महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली रहा है। यही कारण है कि इस क्षेत्र में जैन धर्म से सम्बन्धित अनेक धर्मतीर्थ एव कलातीर्थ पाये जाते हैं। नित नये उत्खननों से इस क्षेत्र में जैन संस्कृति के व्यापक प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। तीर्थ किसी भी कोटि का क्यों न हो, वहाँ मंदिर और मूर्तियाँ अवश्य पाये जाते हैं। जहाँ प्राचीन मन्दिर स्थापत्यकला के वैभव को निरूपित करते हैं, वहीं मन्दिरों में प्रतिष्ठित जिन मूर्तियाँ और उनपर उत्कीर्ण लेख मूर्तिकला के विकास एवं तत्त्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। इस क्षेत्र की जैन स्थापत्यकला पर अनेक शोधकों ने महत्वपूर्ण विवरण दिये हैं, पर जिन मूर्तिलेखों के विवरणों का समीक्षापूर्ण अध्ययन कम ही हुआ है। अभी जैन[3] और सिद्धान्तशास्त्री[4] के कुछ निरीक्षण-समीक्षण प्रकाशित हुए हैं। इस कार्य को और भी आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। प्रस्तुत विश्लेषण इसी क्रम में एक और प्रयत्न है।

जिनमूर्ति-लेखों का रूप और उसके फलितार्थ

विभिन्न क्षेत्रों एवं ग्राम-नगरों में स्थित जैन मूर्तियों पर जो लेख पाये जाते हैं, उनमें निम्न सूचनाओं में से कुछ या पूरी सूचनायें रहती हैं :

(१) **प्रतिष्ठा का संवत् एवं तिथि**—(संवत् मुख्यतः विक्रमी होता है जो ईस्वी सन् से ५७ वर्ष अधिक होता है।)

(२) **जैन-संघ एवं अन्वय परम्परा का नाम**—इनमें मूलसंघ एवं कुंदकुंदान्वय प्रमुख पाया गया है। अनेक लेखों में काष्ठासंघ का भी नाम पाया जाता है। इसके अवान्तर गण और गच्छों की भी सूचना रहती है।

(३) **प्रतिष्ठाकारक भट्टारक और उनकी गुरु परंपरा का विवरण**—यह परंपरा अतिप्राचीन लेखों में (जब इस परंपरा का प्रारंभ ही नहीं हुआ था अथवा यह प्रारंभ हो हुई होगी) एवं उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशकों में प्रतिष्ठित मूर्तियों पर प्रायः नहीं पाई जाती (जब यह परंपरा ह्रासमान होने लगी हैं)।

(४) **प्रतिष्ठापक श्रेष्ठियों, पुरुषों एवं उनके कुटुम्ब का विवरण**—इस विवरण में कुटुम्ब के मुख्य व्यक्ति का नाम, उसकी पत्नी एवं पुत्रों आदि का विवरण रहता है। साथ ही, उनकी जैन जाति-उपजातियों का नाम व विवरण भी पाया जाता है। बुन्देलखंड क्षेत्र की जैनमूर्तियों में प्रायः गोलापूर्व, पौरपट्ट या परवार, अग्रोतक या अग्रवाल एवं गोलाराड़ या गोलालारे जातियों के नाम पाये जाते हैं। इन्हें 'अन्वय' कहा गया है।

(५) **तत्कालीन राजाओं और उनके वंशों का उल्लेख**—ये उल्लेख उपरोक्त चार की तुलना में पर्याप्त उत्तरवर्ती प्रतीत होते हैं। फिर भी, इनसे क्षेत्र-विशेष के राजनीतिक इतिहास के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। यह भी ज्ञात होता है कि प्रतिष्ठाकालीन राजा उदारवृत्ति के थे और सभी धर्मों का आदर करते थे।

(६) **मूर्तिकार का नाम एवं विवरण एवं प्रतिष्ठा का स्थान विशेष**

यह पाया गया है कि प्रायः मूर्तिलेखों में उपरोक्त छहों कोटि की सूचनायें एकसाथ विरले ही पाई जाती हैं। छतरपुर के दि० जैन बड़े मंदिर जी में भ० पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उत्तीर्ण एक ऐसा ही विरल लेख निम्न है[3] :

(अ) **तिथि व सम्वत्** : सम्वत् १५४२ वर्षे फागुन सुदी ५ गुरौ।

(ब) **स्थान** : श्री गोपाचल दुर्गे।

(स) **राजन्य नाम** : महाराजाधिराज श्री मांड्यसिंह राजा।

(द) **जैन संघ नाम** : श्री काष्ठासंघे।

(य) **भट्टारक नाम** : भट्टारक श्री गुणनदेवः।

(र) **प्रतिष्ठापक विवरण** : तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गर्गगोत्रे सामहराजा तत्भार्या कोल्ही, पुत्र ४ साहणि। इसमें शिल्पकार के नाम को छोड़कर अन्य सभी सूचनायें पाई जाती है। अन्य मूर्तियों पर उपरोक्त में तीन-चार प्रकार की ही सूचनायें मिलती है। सम्वत् १५४८ में मुंडासा (राजस्थान) निवासी जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तियों के लेख इसी श्रेणी के हैं। इनमें राजाओं एवं शिल्पकार के नाम नहीं हैं। एक लेख देखिये[८] :

(अ) **तिथि व संवत्** : संवत् १५४३ वैशाख सुदी ३ (वार नहीं है)।

(ब) **स्थान** : सह मु (मु) रासा श्री (मुडासा राजस्थान में है)

(स) **जैन संघ नाम** : श्री मूलसंघे

(द) **भट्टारक नाम** : श्री जिनचंद्रदेव शाह

(य) **प्रतिष्ठापक नाम** : जीवराज पापडीवाल नित्यं प्रणमते

इन लेखों के सामान्य एवं तुलनात्मक अध्ययन से हमें जो जानकारी मिलती है, वह हमारे सामाजिक, धार्मिक एवं ऐतिहासिक महत्व का सम्वर्धन करती है। इन लेखों की उपयोगिता वर्तमान में अनेक प्रकार से सिद्ध हो रही है। उदाहरणार्थ, शास्त्री[९] ने केसरिया–ऋषभदेव एवं कुंभोज–बाहुबली क्षेत्रों के दिगम्बर होने की पुष्टि इन्हीं लेखों के आधार से की है। अनेक विवादों के समय ऐसे लेख काम आते हैं। इसीलिये उन्होंने सुझाया है कि भारत के सभी स्थानों पर विद्यमान जैन-मूर्तियों के लेखों को मुद्रित कराया जावे।

बुन्देलखण्ड के जैनतीर्थों तथा अन्य स्थानों पर स्थित मन्दिरों की जिनमूर्तियों के लेखों के आधार पर शास्त्री ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रारम्भ में बारहवीं सदी तक इस क्षेत्र में गोलापूर्व जाति का महत्व रहा है क्योंकि इस अन्वय के श्रेष्ठियों द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमायें ही यहाँ अधिकांश में उपलब्ध होती हैं। नैनागिर (११०९), बहोरीबन्द (११८७), पपौरा (१२०२) एवं अहार (१२३७) के लेखों से यह तथ्य पुष्ट होता है। बाद में इस भूभाग में परवार आदि अन्य जातियों के द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमायें मिलने लगती हैं। इससे यह अनुमान सहज लगता है कि इस क्षेत्र में परवार जाति के लोग सम्भवतः गुजरात से बाद में आए। इसी प्रकार इन लेखों के सूक्ष्म या गहन अध्ययन से अन्य निष्कर्ष भी प्राप्त किये जा सकते हैं। हम यहाँ तीर्थंकर-मान्यता और भट्टारक-परम्परा पर, इन लेखों के आधार से, कुछ चर्चा करेंगे।

बहुमान्य तीर्थंकर

जैन धर्म वर्तमान युग में चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा को स्वीकार करता है। इनकी मूर्तियाँ ईसा-पूर्व सदियों में बनना प्रारम्भ हुईं। विद्वानों की यह मान्यता है कि मूर्तियों पर तीर्थंकर-पहिचान-परक लांछनों की परम्परा पर्याप्त उत्तरवर्ती है। इसीलिये अनेक प्राचीन प्रतिमाओं में लांछन (चिह्न) नहीं पाये जाते। कुछ लोगों का ऐसा भी कथन है कि अन्य धर्मों (हिन्दू, बुद्ध, पारसी एवं ईसाई) के समान जैनों में भी चौबीसी की परम्परा उत्तरकाल में विकसित हुई है। इसके विकास के उपरान्त ही लांछनों की प्रक्रिया चली होगी। सारणी १ से प्रकट होता है कि इस बुन्देलखण्ड क्षेत्र में

जिन मूर्तियों पर उत्कीर्ण लेख विक्रमी ९१९ (देवगढ़, ८६२ ई०) से प्राप्त होने लगते हैं। यह देखा गया है कि देवगढ़, बानपुर[९], मदनपुर, बजरंग गढ़, बहोरीबन्द[८], अहार, खजुराहो आदि स्थानों पर ९१९-१२३७ वि० (८६२-११८० ई०) के बीच भ० शान्तिनाथ और शान्ति-कुन्थु अरहनाथ की ही मुख्य प्रतिमायें पाई जाती हैं, पपौरा एवं नैनागिर (आदिनाथ, पार्श्वनाथ) इसके अपवाद हैं। पपौरा के पड़ोसी क्षेत्र जब भ० शान्तिनाथ के पूजक हों, तब पपौरा में आदिनाथ की मूल प्रतिमा स्थापित हो, यह तथ्य ऐतिहासिक और अन्य कारणों से शोध का विषय है। डा० ज्योतिप्रसाद जी[९] ने इस क्षेत्र में भ० शान्तिनाथ की प्रतिमाओं की बहुलता का कारण तत्कालीन युद्ध एवं अशान्तिबहुल युग में शान्तिप्रदाता की

सारणी १ : बुन्देलखंड के कतिपय क्षेत्रों एवं नगरों के जिनमन्दिरों की प्रमुख प्रतिमाओं का प्रशस्ति विवरण

क्रमांक	क्षेत्र/नगर	प्रतिष्ठा वि०	ई०	तीर्थंकर	संघ	भट्टारक	प्रतिष्ठापक	राज्य	शिल्पकार
१.	देवगढ़	९१९	८७२	शांतिनाथ	—	कमलदेव शिष्य श्रीदेव	—	—	—
२.	बानपुर	१००१	९४४	शांतिनाथ	—	—	—	—	—
३.	खजुराहो	१०११	९५४	पार्श्वनाथ	—	—	पाहिलश्रेष्ठी	धंगराज	—
४.	खजुराहो	१०८५	१०२४	शांतिनाथ	—	—	—	—	—
५.	नैनागिर	११०९	१०५७	पार्श्वनाथ	—	—	गोलापूर्वान्वयी पतरिया श्रेष्ठी	—	—
६.	डेरा पहाड़ी	११४९	१०९२	शांतिनाथ	—	—	—	—	—
७.	कुंडलपुर	११८३	११२७		—	—	सि० मनसुख	—	—
८.	मदनपुर[१०]	१२००	११४३	शांतिनाथ	—	—	—	—	—
९.	पपौरा	१२०२	११४५	आदिनाथ	—	—	गोलापूर्वान्वय साहू टडा सुत	मदनवर्म देव	—
१०.	पपौरा	१२०२	११४५	आदिनाथ	—	—	गोपाल साहू मल्ले सुत अल्पफन	—	—
११.	चौधरी मंदिर, छतरपुर	१२०२	११४५	नेमिनाथ	—	—	लक्ष्मादित्य, कुलादित्य	मदनवर्म देव	—
१२.	बहोरीबंद	१२०५	११४८	शांतिनाथ	—	आसुभद्र	गोला पूर्वान्वयी महाभोज श्रेष्ठि	गयकर्ण देव	—
१३.	खजुराहो	१२१५	११५८	संभवनाथ	—	—	साल्हे गृहपति	मदनवर्म देव	रामदेव
१४.	अहार	१२३७	११८०	शांतिनाथ	—	—	जाहड, उदयचन्द्र श्रेष्ठि	परमर्द्धि देव	पापट
१५.	बजरंगगढ़/ घूबौन	१२३६	११७९	शांतिनाथ	—	—	पाणाशाह	—	—

उपासना की कामना बताया है। भ० शान्तिनाथ के साथ भ० आदिनाथ और भ० पार्श्वनाथ की प्रतिमायें भी पाई गई हैं, पर संख्या की दृष्टि से ये कम ही हैं। खजुराहो की सम्भवनाथ की प्रतिमा भी एक अपवाद ही माननी चाहिये। यहाँ

मनोरञ्जक तथ्य यह है कि ८६२–११८० ई० के बीच इस क्षेत्र में, भ० महावीर की मूल प्रतिमा नहीं पाई जाती। क्या महावीर इस समय तक इस क्षेत्र के लिये सुज्ञात नहीं हुए थे—यह विषय शोचनीय है।

उपरोक्त प्राचीन प्रतिमाओं के लेखों के आधार पर निम्न निष्कर्ष और दिये जा सकते हैं :

(i) यद्यपि जैनसंघ में मूलसंघ, काष्ठासंघ, नन्दिसंघ और अन्य संघों की स्थापना बहुत पहले हो चुकी थी, पर इस क्षेत्र में बारहवीं सदी तक उनका विशेष महत्व नहीं था। यही कारण है कि प्राचीन प्रतिमाओं में ११८० तक किसी में भी संघ का उल्लेख नहीं है। संघ का नाम एवं अन्य विवरण उत्तरवर्ती काल से ही उल्लिखित मिलते हैं।

(ii) सारणी १ से यह भी प्रकट होता है कि बारहवीं सदी तक इस क्षेत्र में लेखों में प्रतिष्ठाकारक भट्टारकों के नाम नहीं हैं। देवगढ़ या बहोरीबन्द के प्रतिष्ठाकारक, सम्भवतः भट्टारक नहीं थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि भट्टारक परम्परा इस क्षेत्र में इस समय तक प्रभाव में नहीं आई थी। विद्वानों की यह धारणा है कि भट्टारक परम्परा का प्रारम्भ मुस्लिम शासन काल में सम्भवतः तेरहवीं सदी में हुआ है। भ० प्रभाचन्द्र के प्रगुरु भ० धर्मचन्द्र का पहला नाम प्रतिष्ठित भट्टारक के रूप में आता है जिन्होंने १२७५ ई० में प्रतिष्ठायें कराई थी[11]।

मूर्तिलेखों के आधार पर भट्टारक परम्पराओं का अनुमान

बुन्देल खण्ड क्षेत्र में स्थित अनेक स्थानों के जिन मन्दिरों की मूर्तियों पर उत्कीर्ण लेखों में भट्टारक परम्परा के सम्बन्ध में अनेक सूचनायें मिलती हैं। सर्वप्रथम हमें १२०३ (११४६ ई०) में छतरपुर में प्रतिष्ठित भ० नेमिनाथ की मूर्ति पर त्रिकाली पंडित देवकीर्ति के शिष्य प्राकृत चक्रवर्ती माणिक्यनन्दि का प्रतिष्ठाकार के रूप में उल्लेख मिलता है। इसमें भट्टारक पद अंकित नहीं है। इसी प्रकार छतरपुर में ही प्राप्त १२०९ (११५२ ई०) में प्रतिष्ठित एक मूर्ति पर सकलकीर्ति नाम का उल्लेख है, पर वहाँ भी भट्टारक पद अंकित नहीं है, लेकिन नाम से ये भट्टारक प्रतीत होते हैं। उत्तरवर्ती काल में इस नाम से अनेक भट्टारक हुए हैं जिनमें भट्टारक पद्मनन्दि के शिष्य (१३९९–१४५६ ई०) सकलकीर्ति अत्यन्त प्रतिभाशाली हुए हैं। इसके बाद भ० धर्मचन्द्र, भ० जिनचन्द्र आदि का उल्लेख पाया जाता है। अनेक मूर्तियों पर भट्टारक-परम्परा (शिष्य-प्रशिष्य) का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः ऐसे उल्लेख अल्पमात्रा में ही मिलते हैं पर ये ही हमारे लिये सर्वाधिक उपयोगी हैं। इनसे ज्ञात होता है कि जैनाम्नाय के विभिन्न संघों (मूल, काष्ठा, देवसेन, नन्दि आदि) में भट्टारक परम्परा स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई होगी। बुन्देल खण्ड के क्षेत्र के जिनमूर्ति लेखों से तीन प्रकार की भट्टारक परम्पराओं का पता चलता है :

(i) मूलसंघ कुंदकुंदान्वय
(ii) काष्ठासंघ
(iii) देवसेन संघ

इनमें मूलसंघी भट्टारक परम्परा इस क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभावशाली रही है। काष्ठा संघ के कुल छह भट्टारकों का नाम १३८९–१५४२ (१३३१–१४८५ ई०) के बीच पाया गया है :

(अ) भट्टारक सहस्रकीर्ति—गुणकीर्ति—यशःकीर्ति (१४१६ ई०)।
(ब) भट्टारक गुणनदेव (१४६५ ई०), ग्वालियर।
(स) भट्टारक विशाल कीर्ति—भट्टारक विश्वसेन (१५१९ ई०)।

यह संघ मुख्यतः अग्रोतकान्वय (अग्रवाल) या गृहपत्यन्वय (गहोई) उपजातियों से सम्बन्धित है, ऐसा प्रतीत होता है। ये जातियाँ इस क्षेत्र में कम ही हैं, अतः इनके विषय में न तो अधिक उल्लेख ही मिले हैं और न ही इन पर अभी कोई विवरण ही प्रकाशित हुआ है।

सारणी २ : मूर्तिलेखों में भट्टारक परंपरा

मूर्तिलेख संवत् विक्रमी	भट्टारक नाम या परंपरा	मूर्तिलेख संवत् विक्रमी	भट्टारक नाम या परंपरा
१२०९	सकलकीर्ति	१६९४	भ० देवकीर्ति
१२७२	भ० धर्मचंद्र शाह	१६९४	भ० ललितकीर्ति–धर्मकीर्ति–पद्मकीर्ति
१३१०	भ० नरेन्द्रकीर्ति		
१३४२	भ० देवेन्द्रकीर्ति–क्षेमकीर्ति	१६९७	भ० धर्मकीर्ति–शीलभूषण–ज्ञानभूषण–जगतभूषण
१३४५	भ० प्रभाचंद्र		
१४२०	भ० जिनचंद्र	१७१३, १६, १८	भ० पद्मकीर्ति–सकलकीर्ति
१४८०	भ० जिनचंद्र	१७१८	भ० धर्मकीर्ति–पद्मकीर्ति–सकलकीर्ति
१५०९	भ० धर्मचंद्र—कनकसागर		
१५२१	भ० भुवनकीर्ति (१५०८–३५)	१७२५, २६	भ० सकलकीर्ति
१५३५	भ० भुवनकीर्ति	१७३५	भ० जगद्भूषण–विश्वभूषण–देवेन्द्रभूषण
१५२१	भ० सिंहकीर्ति		
१५४२	भ० पद्मचंद्र–जिनचंद्र	१७४२	भ० जगद्भूषण
१५४८	भ० जिनचंद्र	१७४४	भ० सुरेन्द्रकीर्ति
१५४७	भ० जिनेन्द्रभूषण	१७४४	भ० पद्मकीर्ति–सकलकीर्ति–सुरेन्द्रकीर्ति
१५५१	भ० त्रिभुवनकीर्ति	१७४६	भ० सुरेन्द्रकीर्ति
१५८०	भ० जिनचंद्र	१७४६	भ० जगत्कीर्ति
१५८०	भ० श्रुतचंद्र पाटनी	१७५४	धर्मकीर्ति–पद्मकीर्ति–सकलकीर्ति–सुरेन्द्रकीर्ति
१६१५	भ० पद्मनंदि		
१६४६	भ० यशकीर्ति–ललितकीर्ति	१७५५	सकलकीर्ति–सुरेन्द्रकीर्ति
१६६४	भ० जिनेन्द्र भूषण	१७६५	सकलकीर्ति
१६६४	भ० जीवराज	१७६६	भ० जगत्कीर्ति
१६६५	भ० धर्मकीर्ति (नैनागिर)	१७७३	भ० विश्वभूषण, देवेन्द्रभूषण, सुरेन्द्रभूषण, लक्ष्मीभूषण
१६६९	भ० सकलकीर्ति		
१६७८	यशकीर्ति, ललितकीर्ति, चक्रकीर्ति, चंद्रकीर्ति	१७७९	भ० धर्मकीर्ति, पद्मकीर्ति, सकलकीर्ति, कीर्तिदेव
१६८२	भ० ललितकीर्ति	१७९३	भ० देवेन्द्रकीर्ति, क्षेमकीर्ति
१६८४	भ० धर्मकीर्ति	१७९८	सुरेन्द्रकीर्ति, जिनेन्द्रकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति
१६८७	भ० ललितकीर्ति–रत्नकीर्ति		
१६८७, ८९	भ० धर्मकीर्ति, शीलभूषण, ज्ञानभूषण, जगत्भूषण	१७९९	सुरेन्द्रकीर्ति शिष्य पं० भीमसेन
		१८३०	भ० जिनवर जी
१६८८	भ० शीलभूषण–जगत्भूषण	१८३५	भ० महेन्द्रकीर्ति
१६९३	भ० सुरेन्द्रकीर्ति, जिनेन्द्रकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति	१८३९	भ० जिनेन्द्रभूषण
		१८७६	भ० नरेन्द्रकीर्ति
१६९४	भ० पद्मकीर्ति	१८९३	भ० सुरेन्द्रकीर्ति

साडोरा (गुना) से प्राप्त एक मूर्तिलेख से यह प्रकट होता है कि संवत् ६१० (५५३ ई०) से ही मूल संघ और पौरपाटान्वय का उल्लेख प्रारम्भ हो गया था। फिर भी, इस क्षेत्र में उसका उल्लेख पर्याप्त उत्तरवर्ती दिखता है। वस्तुतः जैन आम्नाय में अनेक संघों की स्थापना, दक्षिण एवं उत्तर भारत में, विभिन्न समयों में हुई है। जब उस ओर के लोग इधर आये, उसके सदियों बाद इन संघों का उल्लेख यहाँ प्रारम्भ हुआ। यहीं नहीं, इन संघों का गच्छ और गण के रूप में विशिष्टीकरण भी हुआ। यह विशिष्टीकरण भी सर्वप्रथम १००७ (९५० ई०) में सिरोज में प्रतिष्ठित मूर्ति के लेख में पाया गया है। बुन्देल खंड क्षेत्र की अधिकांश मूर्तियों में मूलसंघ के सरस्वती गच्छ एवं बलात्कार गण का उल्लेख मिलता है नन्दिसंघ और काष्ठासंघ उत्तरवर्ती हैं। मूलसंघ में ही भट्टारक परम्परा, सम्भवतः सर्वप्रथम मुस्लिम शासन काल—११-१२वीं सदी में प्रचलित हुई होगी। इस परम्परा ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये जिनमें (i) धर्म प्रभावना (ii) प्रतिष्ठायें (iii) साहित्य-निर्माण (iv) साहित्य-संरक्षण के कार्य मुख्य हैं। इन कार्यों से ही यह परम्परा लगभग ६०० वर्ष तक चली। वि० १८९३ (१८३६ ई०) के बाद भट्टारकों के उल्लेख इस क्षेत्र में कम ही मिलते हैं। अब यह दक्षिण भारत को छोड़कर शेष भारत में समाप्तप्राय है। जिनमूर्ति लेखों में प्रतिष्ठापक भट्टारक और उनकी गुरु-शिष्य परम्परा का उल्लेख मिलता है। इन उल्लेखों से भट्टारक परम्परा के विकास का अनुमान सहज लगाया जा सकता था। पर इस परम्परा में प्रारम्भिक काल को छोड़कर बाद में अनेक स्थानों पर शिष्य-प्रशिष्यों ने अपने पृथक् पीठ स्थापित कर लिये। उनके अनेक उत्तराधिकारियों के नामों में समानता होने से प्रत्येक परम्परा का सही रूप निश्चित कर पाना कठिन हो गया है। भट्टारक परम्परा के इतिहास एवं पट्टावलियों से पता चलता है कि दिल्ली, नागौर, जयपुर, अजमेर, डूंगरपुर, बाँसवाड़ा, सूरत, खंभात, कारंजा, नागपुर, श्रवणबेलगोल, सोनागिरि, ग्वालियर, चंदेरी एवं अन्य स्थानों पर समय-समय पर भट्टारक गादियाँ स्थापित हुई जिनके अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र रहे। बुन्देल खंड क्षेत्र में प्राप्त मूर्ति लेखों से पता चलता है कि इस क्षेत्र में काष्ठासंघ की ग्वालियर गद्दी तथा मूलसंघ की अनेक गद्दियों का प्रभाव रहा है। सारणी २ में इस क्षेत्र में विभिन्न मूर्तियों पर उल्लिखित भट्टारक और उनकी परम्परा के उल्लेखों को संक्षेपित किया गया हैं। इस आधार पर ही आगे का समीक्षण किया गया है।

रीवा, छतरपुर, कुंडलपुर और पपौरा की अनेक मूर्तियों पर भट्टारक परंपरा का विवरण मिलता है। इन्हें यहाँ दिया जा रहा है। सबसे स्पष्ट विवरण कुंडलपुर के बड़े बाबा के मंदिर के प्रवेश द्वार पर अंकित शिलालेख में पाया जाता है[५]। यह वि० सं० १७५७ (१७०० ई०) का है। इस आधार पर बुन्देलखंड क्षेत्र की निम्न भट्टारक-परंपरा मुख्यतः प्रतीत होती है :

(अ) कुंडलपुर क्षेत्र पर अंकित भ० परंपरा	(ब) पपौरा की भ० परंपरा	(स) रीवा की भ० परंपरा	(द) छतरपुर
यशःकीर्ति			यशःकीर्ति
ललितकीर्ति (१५९१-१६४०)	ललितकीर्ति	ललितकीर्ति	ललितकीर्ति
धर्मकीर्ति (१५९१-१६३६)	रत्नकीर्ति	धर्मकीर्ति	धर्मकीर्ति
पद्मकीर्ति (सकलकीर्ति)	पद्मकीर्ति	सकलचंद्र	पद्मकीर्ति
सुरेन्द्रकीर्ति	सकलकीर्ति	पद्मकीर्ति	सकलकीर्ति
सुचंदगण एवं नमिसागर	(सुरेन्द्रकीर्ति)	सकलकीर्ति	सुरेन्द्रकीर्ति
(१७५७)	कीर्तिदेव	गुणकर	जिनेन्द्रकीर्ति
			देवेन्द्रकीर्ति
			क्षेमकीर्ति

(य) छतरपुर के मूर्तिलेखों की वैकल्पिक परंपरा में (अटेरशाखा)

(i) भ० जिनचंद, भ० सिंहकीर्ति, भ० धर्मकीर्ति, भ० शीलभूषण, भ० ज्ञानभूषण, भ० जगत्भूषण, भ० विश्वभूषण, भ० देवेन्द्रभूषण, भ० सुरेन्द्रभूषण, भ० लक्ष्मीभूषण।

अन्य परम्परायें भी हैं, पर विरल है। ये परम्परायें मूलसंघी हैं और भ० पद्मनन्दि (१३००–९४ ई०) के शिष्य प्रशिष्यों ने प्रारम्भ की हैं। मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय की जेरहट (मालवा) शाखा इनके साक्षात् शिष्य भ० देवेन्द्रकीर्ति ने भ० सकलकीर्ति के प्रभाव को नियन्त्रित करने के लिये सूरत से प्रारम्भ की थी। इसकी अनेक उपशाखायें हुईं। इसमें भ० त्रिभुवनकीर्ति, सहस्रकीर्ति, पद्मनन्दि, यशःकीर्ति, ललितकीर्ति (रत्नकीर्ति), धर्मकीर्ति, पद्मकीर्ति एवं अन्य भट्टारक समाहित हैं। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में पाये जाने वाले अधिकांश मूर्तिलेखों में यही परम्परा पाई जाती है। दूसरी मूलसंघी नई शाखा भ० पद्मनन्दि के प्रशिष्य भ० जिनचन्द्र के शिष्य सिंहकीर्ति ने प्रारम्भ की थी। इसे अटेर शाखा कहा जाता है। इसके कम से कम दस भट्टारकों के नाम सुज्ञात हैं। इन शाखाओं के भट्टारकों के विषय में मनोरंजक तथ्य यह है कि सम्भवतः इन शाखाओं के अधिकांश भट्टारकों के जीवन एवं क्रियावृत्त के विषय में अभी तक सही जानकारी नहीं है। जो भी जानकारी उपलब्ध है, वह मूर्तिलेखों के आधार पर ही संग्रहीत है।

इन मूर्तिलेखों से प्रथम तो यह बात स्पष्ट होती है कि भट्टारक-प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तेरहवीं सदी के प्रारम्भ से प्रमुखता से मिलती हैं। इनमें भ० धर्मचन्द्र (१२१५ ई०), प्रभाचन्द्र (१२३३–१३५१), पद्मनन्दि (१४०८) का समय एवं कार्य अधिकांश में ज्ञात है। इनके बाद पद्मनन्दि के शिष्य-प्रशिष्यों ने अनेक स्थानों पर पृथक्-पृथक् शाखायें या गादियाँ स्थापित कीं। राजस्थानी गादियों का तो कुछ इतिहास मिलता भी है, पर अन्य स्थानों की गादियों का इतिहास प्रायः अस्पष्ट हैं। जैन संस्कृति के विकास, संरक्षण एवं प्रभावकत्व हेतु भट्टारकों के योगदान को जानने के लिए इसका महत्व स्पष्ट है। इस दिशा में प्रयत्न आवश्यक है। उदाहरणार्थ, बुन्देलखण्ड क्षेत्र के जिनमूर्ति लेखों में जेरहट और अटेर शाखा के महत्वपूर्ण भट्टारकों के विषय में जोहरापुर, शास्त्री एवं कासलीवाल द्वारा प्रदत्त जानकारी नितान्त अपूर्ण है। अटेर शाखा के संस्थापक भ० सिंहकीर्ति के गुरु भ० जिनचन्द्र (१४८०–१५८०) का पर्याप्त विवरण उपलब्ध है। इनके माध्यम से सेठ जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमायें प्रायः प्रत्येक जैन मन्दिर में पाई जाती है। पर इनके विषय में जानकारी का अभाव है। पर इस शाखा के भट्टारकों की परम्परा छतरपुर की मूर्तियों में मिलती है। यहाँ १७१६ ई० में प्रतिष्ठित यन्त्र पर भ० लक्ष्मीभूषण की अटेर-परम्परा के नाम दिये हुए हैं। इसके बाद इस परम्परा का उल्लेख नहीं मिलता। इसीप्रकार भ० जिनेन्द्रभूषण के द्वारा १७८२ ई० में महत्वपूर्ण प्रतिष्ठा कराई गई थी। इनका विवरण भी अनुपलब्ध है।

जेरहट शाखा का सम्बन्ध भ० पद्मनन्दि के शिष्य भ० देवेन्द्रकीर्ति से है। ये भ० सकलकीर्ति के समकालीन थे, पर इनका पूर्ण विवरण उपलब्ध नहीं होता। इनके शिष्य भ० त्रिभुवनकीर्ति के द्वारा प्रतिष्ठित एक मूर्ति १४९४ की इस क्षेत्र में पाई गई है। इनके प्रशिष्य भ० पद्मनन्दि के द्वारा १५४२ ई० में प्रतिष्ठित एक मूर्ति भी यहाँ पाई गई है। इन भ० पद्मनन्दि के विषय में भी जानकारी अपूर्ण है। इनके शिष्य भ० यशःकीर्ति १५९१ ई० के पूर्व रहे होंगे, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि इस समय से भ० ललितकीर्ति द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ मिलने लगती हैं। ये १५९१–१६४० ई० तक अत्यन्त विश्रुत भट्टारक रहे हैं, पर इनके विषय में कोई विवरण नहीं मिलता। शास्त्री[१२] ने अनेक प्रकरणों के विपर्यास में, यह भी नहीं बताया कि ललितकीर्ति नामक अनेक भट्टारक भी थे। वस्तुतः सकलकीर्ति के समान ललितकीर्ति नाम के अनेक भट्टारक हुए हैं। इनमें एक भ० प्रभाचन्द्र के प्रशिष्य एवं भ० धर्मचन्द्र के शिष्य हैं जो १५१४–७५ ई० के बीच रहे हैं और इनका प्रमुख कार्यक्षेत्र राजस्थान रहा है। एक अन्य ललितकीर्ति काष्ठासंघ की दिल्ली गादी में हुए हैं। इनका भी विवरण नगण्य ही उद्धृत है। जेरहट गादी के भट्टारक ललितकीर्ति तीसरे ही हैं। कुंडलपुर, पपौरा, छतरपुर आदि में इनकी परम्परा का उल्लेख है। मूर्ति-प्रतिष्ठा के समय के आधार पर इस परम्परा के भट्टारकों का समय अनुमानित किया जा सकता है। भ० ललितकीर्ति के दो प्रमुख शिष्य थे, धर्मकीर्ति और रत्नकीर्ति। इन दोनों ने ही मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराई है। पपौरा क्षेत्र पर रत्नकीर्ति और धर्मकीर्ति दोनों के द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ हैं। कुंडलपुर, रीवा एवं छतरपुर की मूर्तियाँ धर्मकीर्ति परम्परा में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ललितकीर्ति के पट्टशिष्य धर्मकीर्ति ही रहे होंगे।

भ० रत्नकीर्ति अल्पज्ञात होंगे। भ० धर्मकीर्ति का कार्यकाल अल्प ही रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। उन्होंने ललितकीर्ति के समय में ही सम्भवतः मण्डलाचार्य के रूप में स्वतन्त्र प्रतिष्ठायें कराई होंगी। इनके द्वारा प्रतिष्ठित एक मूर्ति नैनागिर में १६०९ ई० की है। कुछ मूर्तियाँ १६२७ ई० की भी मिलती हैं। इनके शिष्य भ० पद्मकीर्ति थे। इनके द्वारा १६३७ में प्रतिष्ठित एक मूर्ति छतरपुर के मन्दिरों में पाई गई है। इनका कार्यकाल भी अल्प ही रहा होगा। इनका विवरण भी उपलब्ध नहीं होता। इनके शिष्य भ० सकलकीर्ति (१६५६-१६७०) के द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मूर्तियाँ इस क्षेत्र में पाई जाती हैं, पर इनका जीवनवृत्त उपलब्ध नहीं होता। इनके शिष्य भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति रहे हैं जिनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ १६८७-१७१० ई० के बीच पाई जाती है। इससे अनुमान लगता है कि भ० सकलकीर्ति १६८५ ई० तक रहे होंगे। भ० सुरेन्द्रकीर्ति के शिष्यों में जिनेन्द्रकीर्ति प्रमुख थे। इनके शिष्य भ० देवेन्द्रकीर्ति हुए। इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ सन् १७४१-६१ की प्राप्त होती हैं। इनके शिष्य क्षेमकीर्ति हुए। उन्होंने भी सम-सामयिक प्रतिष्ठायें कराई हैं। इनके काफी दीर्घकाल बाद भ० सुरेन्द्रकीर्ति का नाम आता है जिनके द्वारा सन् १८३६ की एक प्रतिष्ठित प्रतिमा पाई गई है। इसके बाद भट्टारक-परम्परा का मूर्तिलेखों में उल्लेख अल्प ही मिलता है।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि बुन्देल खण्ड क्षेत्र में प्रभावी अटेर और जेरहट की भट्टारक परम्परा के विषय में सन्तोषपूर्ण जानकारी का अभाव है। इसके लिये प्रयत्न किया जाना चाहिये। इस क्षेत्र के सभी जैन केन्द्रों (तीर्थों एवं संस्थाओं आदि) को अपनी आय के कुछ प्रतिशत को ऐसे ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक कार्य में सत्प्रयुक्त करना चाहिये।

मूर्तिलेखों से अन्य जानकारियाँ

उपरोक्त जानकारी के अतिरिक्त मूर्तिलेखों से राजवंश, मूर्तिकार एवं लेखकार, प्रतिष्ठाकारक गृहस्थों के के परिवारों की नामावली एवं जैन उपजातियों के विवरणों का भी ज्ञान होता है। इस आधार पर सिद्धान्तशास्त्री जैनों की परवार-उपजाति के इतिहास को लेखबद्ध कर रहे हैं। इन जानकारियों की समीक्षा अगले निबन्ध में की जायेगी। •

सन्दर्भ

१. डा० कस्तूरचन्द्र काशलीवाल (प्र० सं०); **पं० बाबूलाल जमादार अभि० ग्रन्थ**; शास्त्री परिषद्, बड़ौत, १९८१ पेज ३५३-४००।

२. कमलकुमार शास्त्री; **पपौरा दर्शन**, पपौरा क्षेत्र, टीकमगढ़, १९७६।

३. कमलकुमार जैन; **जिनमूर्ति प्रशस्ति लेख**, दि० जैन बड़ा मन्दिर, छतरपुर, १९८२।

४. कैलाश मड़वैया; **बानपुर**, दि० जैन अतिशय क्षेत्र, बानपुर (ललितपुर), १९७८।

५. नीरज जैन; **कुंडलपुर**, सुषमा प्रकाशन, सतना, १९६४।

६. — **बहोरीबन्द वैभव**, दि० जैन अतिशय क्षेत्र, बहोरीबन्द, जबलपुर, १९८४।

७. — **पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभि० ग्रन्थ**, काशी, १९८५।

८. सन्दर्भ ३ पेज २८ देखिये।

९. वही, पेज १३।

१०. विमलकुमार सोंरया, देखिये सन्दर्भ १ पेज ३९२।

११. काशलीवाल, के० सी० और जोहरापुरकर विद्याधर; **वीर शासन के प्रभावक आचार्य**, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७५ पेज १२१।

१२. नेमचन्द्र शास्त्री; **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा**, दि० जैन विद्वत् परिषद्, सागर, १९७४ पेज ४१२।

•

जैन संस्कृति प्रतिष्ठापक–आचार्य कुंदकुंद प्राग्वैदिक पुरुष व्रात्य (द्रविड 'श्रमण') थे

गोरावाला खुशालचंद्र
काशी

आधुनिक इतिहास पद्धति पश्चिम की है। पाश्चात्य इतिहासज्ञों की पहुँच आर्यों के आव्रजन तक ही रहती, यदि भारत में प्राग्वैदिक या द्रविड़-संस्कृति का अस्तित्व मोहनजोदड़ो और हारप्पा ने मूर्तिमान न किया होता। इस उत्खनन ने विश्व की मान्यता बदल दी है क्योंकि इन अवशेषों ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्राग्वैदिक-संस्कृति 'सुविकसित-नागरिकता' थी तथा आर्य लोग द्रविड़-संघ से कम सभ्य तथा दक्ष थे। वेद भी अपने इन विरोधियों को दास, व्रात्य आदि नामों से याद करते हैं।

व्रात्यों का स्वरूप संक्षेप में यह है कि वे यज्ञ, ब्राह्मण और बलि को नहीं मानते। ऋग्वेद सूक्तों में व्रात्य का उल्लेख है किन्तु यजुर्वेद और तैत्तिरीय ब्राह्मण उसे नरमेध के बलि-प्राणी रूप से कहता है। तथा अथर्ववेद कहता है कि 'पर्यटक व्रात्य ने प्रजापति को शिक्षा और प्रेरणा दी' (१५–१)। वैदिक और ब्राह्मण साहित्य का अनुशीलन एक ही स्पष्ट निष्कर्ष की घोषणा करता है कि 'दास या व्रात्य वे 'जन' थे जिनका वैदिकों से विरोध था। इसलिए ही वेद गोमेध के बैल के समान नरमेध में (व्रतात् समूहात् च्यवति यः स व्रात्यः) 'व्रात्य' को बलि का प्राणी मानते थे।

उत्तर-वैदिक साहित्य की समीक्षा वेद विरोधियों के विषय में एक स्पष्ट उल्लेख करती है। पाणिनीय के सूत्रों पर रचित पातंजलि की वृत्ति में द्वन्द्व समास के स्थलों को मुखोक्त करते हुए पातंजलि कहते हैं—जिनमें शाश्वत अर्थात् नैसर्गिक विरोध होता है, यथा सांप और नेवला, ब्राह्मण और श्रमण, ('येषां च शाश्वतिको विरोधः। अहिनंकुलयोः ब्राह्मणश्रमणयोः'।) वहाँ भी द्वन्द्व समास होता है। स्पष्ट है कि प्राग्वैदिक-जन व्रात्य द्रविड़ या श्रमण थे। और ये पशुपालक ऋ गतौ ण्यत् प्रत्यये आयः, भ्रमणशील (आर्यों) जनों की अपेक्षा अध्यात्म, सन्यास, कायक्लेश या तप, मोक्ष और दर्शन की दृष्टि से, कर्मकाण्डी बलि (हिंसामय यज्ञ), सोमपायी और स्वर्गकामी आर्यों से आगे थे। ये घोड़ा, बाण, सोमपान, रुद्रता और पत्रंतीय-सहिष्णुता के बल पर जीतने वाले आर्यों की श्रेष्ठता मानने के लिए सहमत नहीं हुए थे। परिणाम यह हुआ कि तीर्थंकर सुव्रत (रामायण युग) और नेमियुग (महाभारतकाल) में भी इनका वैदिकों या ब्राह्मणों से संघर्ष रहा तथा राक्षस (रक्षस् शब्दात् स्वार्थेऽण्) का अर्थ यज्ञादि विरोधी तथा पातकी (५-३५-४६) उसी तरह कर दिया, जिस प्रकार बेघर या खानाबदोश अर्थवाले 'आर्य' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ कर दिया गया था क्योंकि ये विजेता थे।

द्रविड़ व्रात्य-श्रमण थे

पाश्चात्य विद्वानों (श्री वेबर तथा हावर) ने प्रारम्भ में आर्हत धर्म की अनभिज्ञता के कारण बौद्धों को व्रात्य कहा था। किन्तु अद्यतन-परिशीलन से स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध के आविर्भाव (तीर्थंकर महावीरयुग) के बहुत पहिले रामायण और महाभारत काल में व्रात्यों (श्रमणों) का गुरु-सम्प्रदाय था तथा वेदों के हिरण्यगर्भ अर्थात् ऋषभदेव से ही प्रजापति की सृष्टि हुई थी। ये शिवनदेव या दिगम्बर थे। ये प्रव्रज्या अर्थात् ज्ञान-ध्यान-तप की, विहार करते हुए साधना करते थे। 'उनके गर्भ में आते ही सुवर्ण की वृष्टि हुई थी, अतः वे पहिले हिरण्यगर्भ कहलाये और बाद में द्रुणि

मात्र की असि-मसि-कृषि शिक्षा देने तथा करुणा या मैत्री के द्वारा वे भूतों के अद्वितीय नाथ हुए थे (हिरण्यगर्भः समवर्ततागे, भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्)। उनकी भाषा प्राकृत या जनभाषा थी जो कि अपने सरल रूप के कारण वैदिक-संस्कृत का पूर्वरूप वैसे ही है, जैसे कि लौकिक (क्लासीकल) संस्कृत का पूर्वरूप वैदिक-संस्कृत है। यह प्राकृत भाषामय मोक्षोन्मुख व्रात्य या श्रमण संस्कृति अपने मूलरूप में आर्हतो या आधुनिक जैनियों में ऋषभयुग से चलती आयी। आजीवक आदि विविध सम्प्रदाय तथा गौतमबुद्ध की प्रारम्भिक कठोरसाधना स्पष्ट बताती है संयम-नियम-यम-प्रधान यह श्रमण संस्कृति ही भारत की आद्य या मौलिक संस्कृति थी तथा अन्तिम श्रमण केवली महावीर ने भी उसका ही उपदेश आचरणपूर्वक किया था। मौर्ययुग के मगध के बारह वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण आयी सुखशीलता और उपाश्रय-निवास के कारण श्रमण परम्परा में आगे भेद (स्थविरकल्प या श्वेताम्बरत्व) का निराकरण करके जिनकल्प या दिगम्बरत्व के मूलरूप की प्रतिष्ठा आम्नायाचार्य कुंद-कुंद स्वामी ने की थी, जो भारत ही नहीं अपितु विश्वसमाज को जीव-उद्धार कला की अनुपम देन है।

वीरोत्तरकाल

जयधवल, तिलोयपण्णाति, जम्बूदीपपण्णत्ति से लेकर श्रुतावतार आदि में तीर्थाधिराज महावीर स्वामी से लेकर लगभग ६८३ वर्ष तक हुए भारत की मूल (श्रमण) संस्कृति के संरक्षकों की नामावलि, थोड़े से वर्ष-प्रमाण में भेद के साथ उपलब्ध है। आर्यपूर्व काल में भारत के मूलसंघ में नामोल्लिखित चारों (द्रविड, नन्दि, सेन तथा काष्ठा) संघों में से द्वितीय-नन्दिसंघ की पट्टावलि भी न्यूनाधिक उक्त तालिकाओं का अनुकरण करती हुई केवली, श्रुतकेवली, एकादशांग-दशपूर्वधारी, एकादशांगधारी और केवल आचारांगवेत्तारों के उल्लेख के बाद अर्हद्बलि, माघनन्दी, गुणधर, धरसेन और पुष्पदन्तभूतबलि का भी समावेश करती है। श्रुतावतार के अनुसार कषायपाहुड और षट्खंडागम के विषय को लेकर लिखने वालों में सर्वप्रथम कुंदकुंदचार्य ही हैं। शामकुण्ड की 'पद्धति', तुम्बुलुराचार्य की 'व्याख्या' और समन्तभद्र की कृति के समान टीका न होकर आचार्य कुंदकुंद का 'परिकर्म' ग्रन्थ था। यह विस्तृत व्याख्या या भाष्य परमोपकारी आचार्य श्री वीरसेन के सामने था और इतना महत्वपूर्ण था कि उन्होंने अपनी टीकाओं (धवल, जयधवल) में इसके सिद्धान्तों को सर्वाधिक महत्व दिया है।

कुंदकुंद की कृतियां

यद्यपि आम्नायाचार्य की प्रथम कृति 'परिकर्म' इस समय उद्धरण रूप से ही उपलब्ध है, तथापि यह उन्हें श्रुत-केवलियों की अन्तरंग परम्परा का सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग के प्रथम प्ररूपक कुंदकुंदाचार्य की करणानुयोग-दक्षता को सिद्ध करने में समर्थ है क्योंकि आचार्य श्री की मूलाचार, ८४ पाहुड़ों में से उपलब्ध अष्ट प्राभृत, रयणसार, दसभक्ति, बारस अणुवेक्खा, नियमसार, पंचत्थिकायसंग्रह और प्रवचनसार कृतियां ब्राह्मण, बौद्धादि वाङ्मयों में दुर्लभ द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्वज्ञान, स्पष्ट आचार-संहिता तथा लोक या जगत के स्वरूप, आदि की आद्य प्ररूपक हैं। ब्राह्मण-संस्कृति के ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषत् आदि चिन्तन के प्रेरक हैं। ये कुंदकुंदाचार्य को भारत की मूल द्रविड़ या श्रमण-संस्कृति के आद्य प्ररूपक रूप में दिखाते हैं।

गुरुपरम्परा

भारतीय शिष्टाचार की सनातन परम्परा के अनुसार आचार्य कुंदकुंद ही अपने विषय में मौन नहीं है, अपितु प्रमुख टीकाकार भी उनके विषय में विशेष भिज्ञता नहीं देते हैं। दर्शनसार अवश्य कहता है कि आचार्यश्री के विदेहगमन सूचक गाथाएँ पूर्वप्रचलित गाथाओं का संकलन है। पचास्तिकाय की टीका में भी जयसेनाचार्य ने आम्नायाचार्य के विदेहगमन और सीमन्धर स्वामी से समाधान प्राप्त करने का उल्लेख किया है। प्रवचनसार की एक गाथा भी इसका संकेत करती है। इसकी टीका में जयसेनाचार्य का इन्हें कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव का शिष्य लिखने की अपेक्षा नन्दिसंघ

की पट्टावलि के जिनचन्द्र का गुरुत्व संभव हो सकता है, क्योंकि जिनचन्द्र माघनन्दि के शिष्य थे और माघनन्दि गुणधर-धरसेन के पूर्ववर्ती थे एवं अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के उत्तरकालीन प्रमुख श्रुतधरों में थे। आम्नायाचार्य स्वयमेव अपने बोधपाहुड़ में कहते हैं :

'तीर्थाधिराज वीर प्रभु ने अर्थरूप से जो आगम कहा था, उसे शब्दरूप से गणधरादि ने गुंथा था। भद्रबाहु के इस शिष्य कुंदकुंद ने उसे वैसा ही जाना है और कहा है। द्वादशांग के विशदवेत्ता—और चौदहपूर्व के विस्तृत ज्ञाता, श्रुतज्ञानी मेरे 'गमकगुरू' भगवान भद्रबाहु की जय हो।' इसके सिवा कुंदकुंदाचार्य अध्यात्म विश्व में उपलब्ध एकमात्र कृति समयसार के प्रारम्भ में ही सिद्धवंदना करके स्पष्ट लिखते हैं 'श्रुतकेवली द्वारा कथित इस समयप्राभृत को कहता हूँ।'

आम्नायाचार्य के गुरुवंदनासूचक ये दोनों उल्लेख अविकार-पूर्वक घोषित करते हैं कि वे उसी विद्या का उपदेश दे रहे हैं जो भगवान वीर को अर्धमागधी से निकलकर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित थी। भारत की मूल (श्रमण) परम्परा में मगध के दुर्भिक्ष के कारण आये विकार (सम्प्रदाय भेद) के फलित रूप श्वेताम्बर सम्प्रदाय को भी भद्रबाहु स्वामी अन्तिम श्रुतकेवली रूप से मान्य हैं जैसा कि पाटलिपुत्र की वाचना के समय ग्यारह अंगों का यथा-तथा संकलन करने के बाद दृष्टिवाद के लिए स्थूलभद्र स्वामी का उनके पास जाना और अपनी शिथिलता के कारण पूर्ण शिक्षण पाने की असफलता से स्पष्ट है।

अन्तिम श्रुतकेवली ने कृपा करके स्थूलभद्र को बारहवें अंग के विद्यानुवाद पूर्व तक का शिक्षण दिया था और आदेश दिया था कि इसका उपयोग चमत्कार या लौकिक स्वार्थ के लिए मत करना क्योंकि इसकी सिद्धि होते ही लघु तथा महाविद्याएँ तुम्हारे सामने आकर कहेंगी 'प्रभो क्या आज्ञा है ?' किन्तु स्थूलभद्र इस प्रलोभन का पार न पा सके और बहुरूपिणी विद्या को जगा कर अपनी गुफा में सिंह रूप से बैठे, अपनी बहिन के द्वारा ही गुरुवर को निवेदित हुए। परिणाम यह हुआ कि भद्रबाहु स्वामी ने आगे पढ़ाना रोक दिया और स्थविरकल्पियों को जैसे-तैसे ग्यारह अंगों से ही सन्तोष करके, बारहवें अंग को लुप्त घोषित करना पड़ा। किन्तु मूल आम्नाय या संघ में आचारांगधारियों के समय से ही बारहवें अंग के करणानुयोग के मुख्य विषय, मोहनीय की मुख्य तथा उसकी भूमिका को दृष्टि में रख कर गुणधराचार्य ने 'कसायपाहुड' को गाथा रूप से लिपिबद्ध किया तथा धरसेनाचार्य ने आचार्य भूतबलि-पुष्पदंत को पढ़ाकर कम्म पाहुड (जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्त, वेदणा, वग्गणा और महाबंध) को लिपिबद्ध कराया था। तात्पर्य यह है कि मूल श्रमण-परम्परा में बारहवें अंग की महत्ता, गूढ़ता तथा उपयोगिता को समक्ष कर श्रुतधर आचार्यों ने मूल उद्गम तीर्थंकरों की वन्दना करके, दिव्यध्वनि की आराधना और उसके ग्रन्थक गणधरादि को प्रणाम करके शास्त्रकार आचार्यों को तीर्थंकर ज्ञान (आगम) की अनुकूलता की शपथ पूर्वक ही शास्त्रों की रचना की थी।

मूलसंघ एवं कुन्दकुन्दान्वय

भगवान् महावीर के समय में श्रमणों या आर्हतों को 'निगंठ' या निर्ग्रन्थ नाम से जाना जाता था जो कि दिगम्बरत्व का द्योतक है। श्रमण संस्कृति का लक्ष्य मोक्ष था और मोक्ष के लिए सर्वांश अपरिग्रही होना अनिवार्य है। फलतः इस कालचक्र में हिरण्यगर्भ ऋषभ से चला धर्म मूलरूप में दिगम्बरत्व या जिनकल्प को ही मोक्ष का चरम बाह्य साधन मानता है। श्वेताम्बर अंगों में भी ऋषभदेव को विशुद्ध जिनकल्पी या दिगम्बर ही माना है तथा बीच में अचेल-सचेल मानकर वीर प्रभु को भी विशुद्ध जिनकल्पी लिखा है। फलतः वीर निर्वाण संवत् ६०९ में बोटिकों का उद्भव लिखना, श्वेताम्बरों के लिए स्व-बाधित है। वे भूल जाते हैं कि यह अवसर्पिणी अर्थात् 'हीयमान' काल-क्रम है। इसीलिए रामायणयुग से महाभारतयुग की मर्यादाएँ हीयमान हैं। आगमों के मूल शब्द अचेल की अल्प-चेल व्याख्या उत्तरकालीन है। यह व्याख्या श्रमण संस्कृति के लिए आत्मघात के समान है, क्योंकि अन्यमती कह सकते हैं कि अहिंसा

का अल्प-हिंसा, असत्य का अल्प-सत्य, आदि करके याज्ञिकी हिंसा, अल्पहिंसा होने के कारण, श्रमण धर्म-सम्मत क्यों नहीं है ? अर्थात् इसे मानने पर 'व्रात्य' या 'अव्रिज' (वर्जन) के मूलरूप का ही विघात हो जायेगा।

मूल आम्नायाचार्य

भारत की सनातन या मूल संस्कृति मोक्षोन्मुख जिनकल्प दिगम्बर धर्म था। इसके लिए ही मूलसंघ शब्द का उपयोग हुआ था। यह कुन्दकुन्दाचार्य के प्ररूपण के बाद ईसा की चौथी शती तथा पूर्व के शिलालेखों से भी सिद्ध है। यही कारण है कि उत्तरकालीन मुख्य चारों (द्रविड़ नन्दि, सेन तथा काष्ठा) संघ अपने आपको कुन्दकुन्दान्वयी मानकर कुन्दकुन्दचार्य से ही सम्बद्ध करते हैं। अतः गमक गुरुवर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के धुरन्धर शिष्य कुन्दकुन्द का समय स्थविरकल्पी श्वेताम्बरों को प्रथम (पाटलिपुत्र) आगमवाचना अर्थात् अंगसंकलन प्रयास का समकालीन हो सकता है। श्वेताम्बर वाङ्मय सम्मत स्थूलभद्रादि द्वारा प्रस्तावित छेदोपस्थापना प्रयास की विफलता के बाद उत्तर भारतीय जैन श्रमणों में सचेलता ही नहीं, १४ उपकरणों का चलन हो चुका था तथा दुर्भिक्ष के कारण आहार-संकलन तथा उपाश्रय में आकर गोल बनाकर खाना तथा भिक्षा को दूसरे समय के लिए बचा कर रखना तथा बुद्ध की मज्झिमा वृत्ति से प्रभावित होकर स्त्री-प्रव्रज्या तथा मुक्ति की मान्यता भी बद्धमूल हो गयी थी। इसीलिए जिनदेव के अनुयायी आम्नायाचार्य अपने बोधप्राभृत में कहते हैं—'जिनमार्ग या कल्प में वस्त्रधारी की मुक्ति नहीं है चाहे वह तीर्थंकर हो क्यों न हो। दिगम्बरता ही विशुद्ध मोक्षमार्ग है, शेष उन्मार्ग हैं। अनगार होने के लिए समस्त परिग्रह का त्याग अनिवार्य है। जो अल्प (फालक) या बहुत (चौदह उपकरण) परिग्रह रखता है, वह जिन शासन (कल्प) में गृहस्थ ही है।"

शास्त्राविरोधी

बोधपाहुड और समयपाहुण में श्रुतकेवली का स्मरण केवल गुरुभक्तिपरक ही नहीं है, अपितु यह कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा मूलधर्म प्रतिपादन की प्रामाणिकता का उद्घोष है। वे कहते हैं कि वीरमुख से निकल कर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी तक अविच्छिन्नरूप से प्रवाहित, जिनवाणी ही उनकी कृतियों का उद्गम स्रोत है। ब्राह्मण संस्कृति के साथ आये भाषागत चौकापन्थ (जन्मना श्रेष्ठता) के, संस्कृतरूप से चलने पर जैनाचार्यों ने भी संस्कृत को अपनाया एवं मूलाम्नायाचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्राकृत में ग्रथित श्रमण-तत्त्वज्ञान की अजस्र धारा बहायी थी तथा उन्हीं (ब्राह्मणों) की मान्यता में उनकी मान्य भाषा में समझाने के लिए कहा था :

'मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तुमंगलम् ॥

श्रमण या निर्ग्रन्थ के 'आगम-चक्खू साहू' के समान गृहस्थ के भी षडावश्यकों में साधुओं के 'स्वाध्याय' तप का विधान है। फलतः शास्त्रप्रवचन के आरम्भ में हो उक्त श्लोक को कहकर प्रवचनीय या पाठ्यग्रन्थ के प्रारम्भ में यह शपथ (अस्य मूलकर्ता श्री सर्वज्ञदेवः तदुत्तर ग्रन्थकर्ता गणधर देवाः, प्रतिगणधरदेवा, तेषां वचोऽनुसारं श्री कुन्दकुन्दाचार्येण विरचितमिदं—वाचकः सावधानतया वाचयतु तथा श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु) कही जाती है। गुणधर, पुष्पदंत-भूतबलि ने भी यही किया है। किन्तु स्थविरकल्प में ऐसा नहीं है। बलभी-वाचना के बाद स्थविरकल्पियों को मान्य ग्यारह अंगों के संग्राहक देवर्द्धिगणि स्पष्ट लिखते हैं 'वीरनिर्वाण के ९८० वर्ष बाद हुए दुर्भिक्ष के कारण बहुत से मुनियों के मर जाने पर तथा श्रुत का बहुभाग खण्डित हो जाने पर श्रुतभक्ति से प्रेरित होकर भावी भव्यों के उपकार के लिए श्रीसंघ के आग्रह पर (मैंने) आचार्यों में से बचे उस समय के साधुओं को बलभी में बुलाया और उनके मुख से खण्डित होने से कम-बढ़ टूटे या पूरे आगम के वाक्यों को अपनी समझ के अनुसार संकलन करके पुस्तकरूप दिया है।'

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत की मूल श्रमण संस्कृति के सनातन उत्तररूप आर्हत या निर्ग्रन्थ या जैन संस्कृति में मगध के लम्बे दुर्भिक्ष के कारण आरम्भ तथा उत्तरकालीन दुर्भिक्षों से आयी सुखशीलता या शिथिलता तथा बनवास के स्थान पर ग्रहीत उपाश्रय-निवास के कारण सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, किन्तु आम्नायाचार्य कुन्दकुन्द की दृढ़ता ने मूलसंघ या संस्कृति को समग्र नियन्त्रण द्वारा बचाया था। इसका फल यह हुआ कि शाश्वतिक विरोधियों में भी समन्वय हुआ और ब्राह्मण संस्कृति ने आरण्यक तथा उपनिषद् काल में मोक्ष, तप, अध्यात्म, शिश्नदेवत्व तथा दर्शन को मूल (श्रमण) संस्कृति से . लिया और अध्यात्म ज्ञान-ध्यान-तप मय श्रमण संस्कृति ने भी कर्मकाण्ड को ब्राह्मण या वैदिक संस्कृति से लिया। इस आदान-प्रदान द्वारा दिगम्बर बाबा शिव 'महादेव' हो गये। यद्यपि ब्राह्मण संस्कृति उन्हें संहार (विनाश) का देव कहती है, किन्तु उनका रूप स्पष्ट कहता है कि संसार को समाप्ति निर्ग्रन्थता द्वारा ही होती है। सृष्टि (प्रजापतित्व) रक्षक (विष्णुत्व) संसार को बढ़ाने वाली हो हैं। यांत्रिक हिंसा-प्रधान ब्राह्मण संस्कृति ने हो महाभारतयुग तक आते-आते 'अहिंसा परमोधर्मः' उद्घोष किया।

स्पष्ट है कि श्रमणजन इस भारतभूमि के मूल निवासी या प्रागवैदिक पुरुष थे तथा उनकी संस्कृति वही थी जिसे मूलसंघ के प्रथम व्याख्याता तथा पालक कुन्दकुन्दाचार्य की उपलब्ध कृतियाँ करतलामलक करती है। इस कालचक्र में हिरण्यगर्भ ऋषभदेव से आरम्भ तथा ऐतिहासिक तीर्थंकर सुव्रत, नेमि, पार्श्व तथा महावीर एवं इनके समकालीन गौतमबुद्ध के पूर्ववर्ती आजीवक, आदि भारतीय मतों का विविध-प्राकृतों में उपलब्ध आंशिक विवरण ही स्पष्ट कहता है कि आर्य (आव्रजक = नोमेड) पशुपालक, कर्मकाण्डी तथा आक्रमक ब्राह्मणों या वैदिक संस्कृति के पूर्ववर्ती श्रमण थे और उनकी मूल विकसित वैज्ञानिक संस्कारों का तत्त्वज्ञान वही था जो गुणधर, धरसेन, भूतबलि-पुष्पदन्त, भद्रबाहु के गमक शिष्य आ० कुन्दकुन्द की जनभाषा (प्राकृत) में उपलब्ध है। ●

मैं पुराने आचार्यों की अवज्ञा नहीं करना चाहता, किंतु यह कहना अवश्य चाहूँगा कि जिन आचार्यों ने विशिष्ट उपलब्धियों के न होने का प्रतिपादन किया, उन्होंने जैन परंपरा का हित नहीं किया। उससे अहित ही हुआ। साधकों के मन में हीनभावना पैदा हो गई और उनका प्रयत्न शिथिल हो गया।

—आचार्य तुलसी

●

जैनों का सामाजिक इतिहास

डा० विलास ए० संगवे

मानद निदेशक, साहू शोध संस्थान, कोल्हापुर, (महाराष्ट्र)

अध्ययन का एक उपेक्षित क्षेत्र

जैनों का सामाजिक इतिहास महत्वपूर्ण होते हुए भी अब तक अध्ययन की दृष्टि से लगभग पूर्णतः उपेक्षित रहा है। अभी तक जैनों का इतिहास राजनीतिक या सांस्कृतिक दृष्टि से ही लिखा गया है। जैनों के राजनीतिक इतिहास के अन्तर्गत (i) राजाओं, मन्त्रियों एवं सैन्याधिकारियों की प्रशासकीय एवं युद्धगत निपुणतायें (ii) जैनों द्वारा देश के भिन्न-भिन्न भागों में राज्याश्रय के विवरण तथा (iii) राष्ट्र एवं राज्यों के राजनीतिक स्थायित्व या स्वाधीनता संग्राम में जैन व्यापारियों या सामान्य जैन समाज द्वारा किये गये विशिष्ट योगदान का विवरण दिया जाता है। जैनों का सांस्कृतिक इतिहास अध्ययन की दृष्टि से पर्याप्त विकसित है। इसके अन्तर्गत भाषा, साहित्य, स्थापत्य, पुरातत्व, संगीत एवं चित्रकला के क्षेत्रों में जैनों द्वारा किये गये महत्वपूर्ण योगदान का विवरण और मूल्यांकन किया जाता है। दुर्भाग्य से, जैन विद्या-विशारदों ने जैनों के सामाजिक इतिहास पर समुचित ध्यान नहीं दिया है। जैनों ने प्राचीन काल से लेकर आज तक जैनधर्म की प्रतिष्ठा को न केवल सुरक्षित ही रखा है, अपितु उसे एक जीवन्त धर्म भी बनाये रखा है। इसका कारण यह रहा है कि उन्होंने जैनधर्म द्वारा प्रतिष्ठित चारित्र एवं व्यवहार के नियमों का श्रद्धापूर्वक अविरत रूप से पालन एवं प्रदर्शन किया है. इस दृष्टि से उनके सामाजिक जीवन के विविध पक्षों का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वस्तुतः जैनों का इतिहास तबतक पूर्ण नहीं माना जा सकता जबतक उनकी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्रियाशीलता एवं सफलताओं के साथ उस समाज के सामाजिक पक्ष का विवरण भी उसमें समाहित न किया जावे।

जैन : एक महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक समाज

भारत के ईसाई, बुद्ध, सिख, मुस्लिम तथा अन्य अल्पसंख्यक समुदायों की तुलना में जैन समाज अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण स्थान पर आती है। १९८१ में प्रकाशित भारतीय जनगणना के अनुसार, भारत में विद्यमान छह प्रमुख धर्मावलंबियों में इसके अनुयायियों की संख्या सबसे कम है। भारत की समग्र जनसंख्या में इसकी आबादी का प्रतिशत लगभग ०·६ है अर्थात् प्रत्येक दस हजार भारतीयों में ८२०० हिन्दू, ११०० मुस्लिम, २५० ईसाई, १९० सिख, ७० बुद्ध हैं जब कि जैन केवल ६० ही हैं।

इनकी जनसंख्या अल्प अवश्य है, पर ये भारत के सभी प्रान्तों में फैले हुए हैं। सिखों के समान ये किसी एक क्षेत्र में सघनता से नहीं पाये जाते। सिखों के समान न तो उनकी कोई विशेष वेशभूषा है और न ही उनकी अपनी कोई विशेष भाषा ही है। इस तरह जैन, वास्तव में, भारतीय हैं और इसीलिये, अल्पसंख्यक होते हुए भी, उन्हें सर्वत्र आदर एवं प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता है।

यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जैन समाज गांवों की तुलना में शहरों में ही अधिक बसतो है। जनगणना के आंकड़ों से पता चलता है कि नगरो व ग्रामीण जैनों की जनसंख्या का अनुपात लगभग ६० : ४० है। इसलिये अधिकांश जैन नगरीकृत हैं। लेकिन वे फारसी या यहूदियों के समान उच्चतः नगरीकृत नहीं हैं।

यह भी स्मरणीय है कि जैन समुदाय भारत का एक प्राचीनतम समुदाय है। जैन धर्म का अस्तित्व भारतीय इतिहास के प्रारम्भ से ही माना जा सकता है। उनकी यह प्राचीनता भी उनकी विशेषता है। यह तथ्य भारत के अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों पर लागू नहीं होता। यही नहीं, वे शत प्रतिशत भारतीय चरित्र के हैं। ये इस देश के सहज निवासी हैं और उनकी भाषा, धर्मस्थल, मिथक एवं महापुरुष--सब इसी देश के हैं। जैनों की, भारत से बाहर, किसी अन्यधर्म या संस्था से संबंद्धता नहीं है।

संख्या में अल्प होते हुए भी जैनों का सदैव पृथक् अस्तित्व रहा है और अपनी विशेषताओं के कारण उन्होंने इसे बनाये भी रखा है। एक स्वतन्त्र धर्म होने के नाते, इसके अनुयायियों का पवित्र विशाल साहित्य है, दर्शन है, और अहिंसा के मूलभूत सिद्धान्त पर आधारित आचरण संहिता है। वस्तुतः जैनों की आचार-विचार सरणी अहिंसा की धारणा पर ही आधारित है। भारत के अनेक धर्म अहिंसा के सिद्धान्त को महत्व देते हैं, पर जैन उसके आधार पर निर्मित नियमों के परिपालन को सर्वाधिक महत्व देते हैं।

प्राचीनता के अतिरिक्त जैनों की एक विशेषता और है--यह सदा से अविच्छिन्न रही है। विश्व में बहुत कम समुदाय ऐसे होंगे जो इतने दीर्घकाल तक अविच्छिन्न बने रहें हों। सचमुच ही, यह आश्चर्य की बात है कि भूतकाल के अनेक धर्मों और पन्थों का नामोनिशां नहीं बचा, जैन कैसे अपनी अविच्छिन्नता बनाये हुए हैं। उनका यह सुदीर्घ अस्तित्व उनकी विशेषता ही मानी जानी चाहिये।

जैनों की अतिजीविता

जैनों की सुदीर्घकालीन अविच्छिन्नता उनकी एक प्रशंसनीय सफलता है। जैन और बौद्ध भारत में श्रमण संस्कृति के प्रमुख स्तम्भ रहे हैं! फिर भी, इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि बौद्ध धर्म भारत में लुप्त हो गया और अन्य देशों में फैला, पर जैन धर्म अभी भी भारत का एक जीवन्त धर्म है और संभवतः श्रीलंका का छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं फैल पाया। जैनों की इस अविच्छिन्न अतिजीविता के अनेक कारण हैं।

(अ) सामाजिक संगठन

जैनों की अतिजीविता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण उनकी उत्तम सामाजिक व्यवस्था रही है। इस संगठन का केन्द्रबिन्दु जनसाधारण रहा है। जैन समुदाय परम्परागत रूप से चार अंगों में विभाजित हैं--साधु या पुरुष तपस्वी, साध्वी या स्त्री-तपस्वी, श्रावक या पुरुषजन एवं श्राविका या स्त्री जन। इन सभी अंगों में परस्पर में प्रगाढ़ सम्बन्ध है। जैनों में साधु और सामान्य जन के लिये एक ही प्रकार के व्रत या धर्म-नियम माने गये हैं। यह अवश्य है कि साधु को गृहस्थ की तुलना उनका पालन अधिक कठोरता एवं ईमानदारी से करना पड़ता है। गृहस्थ का यह कर्त्तव्य है कि वह साधुओं के आहार-विहार की पूरी तरह व्यवस्था करे। इस दृष्टि से साधु-संघ पूर्णतः गृहस्थ समाज पर आश्रित है। इन साधुओं ने प्रारम्भ से ही जैनों के धार्मिक जीवन को नियन्त्रित किया है और इसी प्रकार गृहस्थों ने भी साधु के चरित्र को उत्तम बनाये रखने में अपना योगदान किया है। इसीलिये यह आवश्यक है कि साधु भौतिक समस्याओं से पूर्णतः बिलगित रहे और वह अपने तपस्वी जीवन के अन्य स्तर को कठोरता पूर्वक बनाये रखे। यदि साधु इस स्तर के लिये कमजोर प्रमाणित होता है, तो उसे इस पद से विमुक्त किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में जर्मन विद्वान्

एच. जेकोबी ने सही कहा है, "यह स्पष्ट है कि समुदाय का सामान्य जन जैन संगठन में बौद्ध संगठन के समान बाहरी, हितैषी या संरक्षक के रूप में नहीं माना जाता था। उसकी स्थिति धार्मिक कर्त्तव्य और अधिकारों से पूर्णतः परिभाषित रही है। सामान्य जन एवं साधुओं के बीच का सम्बन्ध अत्यन्त प्रभावी था। यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि इस सुदृढ़ सम्पर्क के कारण ही जैन साधुओं एवं गृहस्थों के आचार में समानता आई जिसमें केवल गुणात्मकता का ही अंतर रहा। इसीसे जैन संघ के भीतर कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हो पाये और यह बाहरी प्रभावों से दो हजार साल तक बचा रह सका। इसके विपर्यास में, बौद्धों में गृहस्थों के प्रति इतनी कठोरता नहीं थी और उन्होंने असाधारण विकास पथ का अनुसरण किया। इससे वह अपनी जन्मभूमि से ही लुप्त हो गया।"

(ब) अपरिवर्तनीयता का संरक्षण

जैनों की अतिजीविता का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण उनकी अपरिवर्तनीयता के संरक्षण की वृत्ति भी रही है। इस कारण ही वे अनेक सदियों से अपनी मूलभूत संस्थाओं और सिद्धान्तों को दृढ़ता से पकड़े हुए हैं। जैनों के आधारभूत महत्वपूर्ण सिद्धान्त आज भी लगभग ज्यों के त्यों बने हुए हैं। यह संभव है कि गृहस्थ और साधुओं की जीवन पद्धति एवं व्यवहार से सम्बन्धित कुछ कम महत्वपूर्ण नियम आज उपेक्षणीय या अनुपयोगी हो गये हों, फिर भी इस बात में शंका नहीं है कि आज के जैन समुदाय का धार्मिक जीवन तत्वतः वैसा ही है जैसा आज से दो हजार वर्ष पूर्व था। अपने सिद्धान्तों के प्रति कठोर लगाव की यह प्रवृत्ति जैन स्थापत्यकला और मूर्तिकला में भी प्रतिबिम्बित होती है। जैन मूर्तियों के निर्माण की शैली वस्तुतः आज भी पूर्ववत् बनी हुई है। इसलिये परिवर्तन के प्रति निश्छल अस्वीकृति की वृत्ति जैनों के लिये सुदृढ़ सुरक्षा कवच रही है।

(स) राज्याश्रय

भारत के विभिन्न भागों में प्राचीन और मध्यकाल में अनेक राजाओं ने जैनधर्म को संरक्षण प्रदान किया। इस संरक्षण ने निश्चितरूप से जैनों की अतिजीविता में सहायता की है। गुजरात और कर्नाटक तो प्राचीन काल से जैनों के प्रभावशील क्षेत्र रहे हैं क्योंकि इन दोनों क्षेत्रों में अनेक शासक, मंत्री एवं सेनाध्यक्ष स्वयं जैन रहे हैं। जैन शासकों के अतिरिक्त, अनेक जैनेतर शासकों ने भी जैन धर्म के प्रति उदार दृष्टिकोण रखा। राजपूताना के इतिहास से पता चलता है कि अनेक राजाओं ने जैन सिद्धान्तों से प्रभावित होकर प्राणि-वध पर प्रतिबंध लगा दिया। अनेक राजाओं ने बरसात के चार महीनों के लिये तेलघानी और कुम्हार के चके चलाने पर प्रतिबंध लगा दिया। दक्षिण में प्राप्त अनेक शिलालेखों से पता चलता है कि अनेक जैनेतर राजाओं ने जैनों के प्रति धार्मिक उदारता दिखाई और धर्म-पालन के लिये सुविधायें दीं। इन शिलालेखों में विजयनगर के राजा बुक्क राय-प्रथम का १३६८ ई० का शिलालेख अत्यंत महत्वपूर्ण है। जब विविध क्षेत्रों के जैनों ने राजा से यह शिकायत की कि उन्हें वैष्णवों के अत्याचारों से सुरक्षा प्रदान की जावे, तब राजा ने सभी सम्प्रदायों के नेताओं को बुलाकर कहा कि मेरे लिये सभी संप्रदाय समान हैं। सभी को अपने धार्मिक आचार पालन की स्वतन्त्रता है।

(द) साधु-संस्था की प्रवृत्तियां

अनेक प्रसिद्ध जैन सन्तों के विविध प्रकार के क्रियाकलापों ने भी जैनों की अतिजीविता में योगदान किया है। इन क्रियाकलापों ने सामान्य जन पर जैन संतों की विशेषताओं की छाप डाली। ये सन्त ही जैन धर्म के समग्र भारत में फैलने के लिये उत्तरदायी हैं। श्रीलंका के इतिहास से पता चलता है कि जैन धर्म वहाँ भी फैला। जहाँ तक दक्षिण भारत का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में पूरे दक्षिण भारत में जैन साधु-संघ फैले हुए थे। वे अपने देशभाषा में निर्मित साहित्य के माध्यम से धीरे-धीरे जैन धर्म के नैतिक सिद्धान्तों का दृढ़तापूर्वक

प्रचार करते रहे। जैन सन्तों की साहित्यक एवं धर्मोपदेशक प्रवृत्तियों ने हिन्दू पुनरुत्थान के समय में भी दक्षिण में जैनों की स्थिति को सुदृढ़ बनाये रखा। कभी-कभी तो ये सन्त राजनीतिक घटनाओं में भी रुचि लेते थे और आवश्यकता के अनुसार जनता को मार्गनिर्देश करते थे। यह सुज्ञात है कि गंग और होयसल राजाओं को नये राज्य की स्थापना की प्रेरणा जैनाचार्यों ने ही दी थी। इन क्रियाकलापों के बावजूद भी जैनाचार्य अपने तपस्वी जीवन को भी उन्नत बनाये रखते थे। सामान्यत: जनता एवं शासक जैन साधुओं के प्रति आस्था एवं आदर भाव रखते थे। दिल्ली के मुसलिम शासक भी उत्तर और दक्षिण के विद्वान् जैन साधुओं का आदर और सम्मान करते थे। इसमें कोई अचरज की बात नहीं है कि ऐसे अनेक प्रभावकारी संतों की विशेषताओं एवं क्रियाकलापों ने जैन समुदाय की अतिजीविता में सहायता की हो।

(य) चार दानों की प्रवृत्ति

अल्प संख्यक समुदाय को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये अन्य लोगों की सदिच्छा पर निर्भर करना पड़ता है। यह शुभेच्छा तभी प्राप्त हो सकती है जब हम कुछ सर्वजनोपयोगी क्रियाकलाप करें। जैनों ने इस दिशा में काम किया और आज भी कर रहे हैं। उन्होंने शिक्षण संस्थायें खोलकर जनसाधारण को शिक्षित बनाने में योग दिया। सार्वजनिक औषधालय या चिकित्सालय खोलकर लोगों का दुख-दर्द दूर किया। प्रारम्भ से ही जैनों ने आहार, निवास, औषध और विद्या के रूप में चार दानों का सिद्धान्त बनाया और उसका पालन किया। कुछ लोगों का कथन है कि जैन धर्म के प्रचार और प्रभाव में इस प्रवृत्ति का बड़ा हाथ है। इस हेतु जहाँ जैनों की पर्याप्त संख्या रही, वहाँ उन्होंने बाल आश्रम, धर्मशाला, औषधालय और स्कूल खोले। जैनों के लिये यह प्रशंसा की बात है कि उन्होंने शिक्षा-प्रसार के क्षेत्र में बहुत काम किया है। दक्षिण देश में जैन साधु बच्चों को पढ़ाया करते थे। इस सन्दर्भ में डा० अल्तेकर ने सही लिखा है कि वर्णमाला के ज्ञान के पहले बच्चों को श्री गणेशाय नमः के माध्यम से गणेश को नमस्कार करना चाहिये। हिन्दुओं के लिये यह उचित ही है, लेकिन दक्षिण में आज यह परम्परा है कि श्री गणेशाय नमः के पहले "ॐ नमः सिद्धं" का जैन वाक्य कहा जाता है। इससे यह पता चलता है कि जैन साधुओं ने सामान्य शिक्षा पर अपना इतना प्रभाव डाला कि हिन्दुओं ने इसे, जैनधर्म के अवनमन काल के बाद भी, चालू रखा। आज भी जैनों में चार दान की प्रवृत्ति सारे भारतवर्ष में देखी जा सकती है। वस्तुत: किसी राष्ट्रीय एवं परोपकारी कार्य में सहायता के मामले जैन कभी किसी से पीछे नहीं रहते।

(र) अन्य धर्मावलंबियों से मधुर संबंध

जैनों की अतिजीविता का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि उन्होंने हिन्दुओं एवं अन्य जैनेतरों के साथ मधुर और घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखा। पहले यह सोचा जाता था कि जैन धर्म बुद्ध या हिन्दू धर्म की एक शाखा है। लेकिन अब यह सामान्यत: मान लिया गया है कि जैनधर्म एक स्वतन्त्र और विशिष्ट धर्म है और यह हिन्दुओं के वैदिक धर्म जितना ही पुराना है। जैन, बौद्ध एवं हिन्दू धर्म भारत के तीन प्रमुख धर्म हैं। इनके अनुयायी सदैव एक-दूसरे के साथ रहे हैं। इसलिये यह स्वाभाविक है कि उनका एक-दूसरे पर प्रभाव पड़े। इन तीनों ही धर्मों में इसीलिये निम्न बातों के संबंध में लगभग समान विचार पाये जाते हैं :

(i) मुक्ति और पुनर्जन्म

(ii) पृथ्वी, स्वर्ग और नरक का वर्णन

(iii) धर्म गुरुओं या तीर्थंकरों का अवतार

भारत से बौद्धधर्म के विलोपन के पश्चात् जैन और हिन्दू परस्पर में और निकट आये। यही कारण है कि सामान्य सामाजिक जीवन में जैन और हिन्दुओं में कोई अन्तर ही नहीं मालूम होता। इस तथ्य से यह नहीं समझना चाहिए कि जैन हिन्दुओं के अंग हैं या जैन धर्म हिन्दू धर्म की शाखा है। वास्तव में, यदि हम जैन धर्म-हिन्दू धर्म की तुलना करें तो पता चला है कि इनमें अन्तर बहुत है। इनमें जो एक रूपता है, वह सामान्य जीवन-पद्धति की विशेष बातों के सम्बन्ध में ही है। यदि अच्छी तरह देखा जावे, तो दोनों के विभिन्न उत्सवों के उद्देश्य भी भिन्न ही होते हैं।

यह स्पष्ट है कि जैन और हिन्दुओं के अनेक सामाजिक और धार्मिक व्यवहारों में मौलिक अन्तर है। ये अन्तर आज तक बने हुए हैं। इसके साथ ही, हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जैनों के अनेक सामाजिक और धार्मिक व्यवहारों में जैनेतर तत्वों का भी समाहरण भी होता रहा है। ऐसी बात नहीं है कि यह प्रक्रिया अन्धरूप में अपनाई गई हो। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनों को जैनेतर तत्वों का समाहरण जटिल परिस्थितियों के साथ समायोजन के लिये करना पड़ा था। यह उनके सुरक्षा या अतिजीवन के लिये स्वेच्छया स्वीकृति के रूप में माना गया। लेकिन ऐसा करते समय यह ध्यान रखा गया कि इस प्रक्रिया से धार्मिक व्यवहारों की शुद्धता पर विशेष प्रभाव न पड़े। सोमदेव के समान मध्य युग के दक्षिण देशीय जैनाचार्यों ने लौकिक परम्पराओं और व्यवहारों को अपनाने की तब तक स्वीकृति दी जब तक उनसे सम्यक्त्व की हानि और व्रतों में दूषण न हो पावे। लौकिक परंपराओं के पालन की स्वीकृति से जैनों के दो लाभ हुए। जैन और हिन्दुओं के सम्बन्ध सदैव मधुर रहे। संभवतः इसी कारण वे अनेक विषम एवं जटिल परिस्थितियों में भी सदियों से इन्हें सुरक्षित बनाये हुये हैं। वास्तव में जैनों ने सदैव ही न केवल हिन्दुओं से अपि तु अन्य अल्पसंख्यकों से भी सदैव अच्छे संबंध बनाये रखने के संकल्पबद्ध प्रयत्न किये। यही कारण है कि जब जैन शासक के रूप में रहे, उन्होंने कभी भी जैनेतर समुदायों को त्रास नहीं दिया। इसके विपरीत, जैनेतर शासकों द्वारा जैनों के सताये जाने के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

शोध के प्रमुख क्षेत्र

प्राचीन काल से लेकर अब तक जैनों का अविरत सातत्य भारत में उनके सामाजिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण पहलू है। इसलिये हमारे लिये न केवल यह आवश्यक है कि हम उनकी अतिजीविता के प्रमुख कारकों की छान बीन करें, अपि तु हमें उन कारकों पर भी ध्यान, अध्ययन और शोध करनी होगी जिनसे जैन भविष्य में भी अतिजीवित रह सकें। इस दृष्टि से हमें भारत के विभिन्न क्षेत्रों के जैन और बहुसंख्यक समुदाय के बीच वर्तमान संबंधों की प्रकृति और आयामों पर शोध तो करनी ही होगी। यही नहीं, इसी आधार पर भविष्य के संबंधों से संबंधित नीति भी हमें निर्धारित करनी होगी। इसके अतिरिक्त, दक्षिण राजस्थान, पश्चिमी मध्य प्रदेश, उत्तरी गुजरात, दक्षिणी महाराष्ट्र उत्तरी कर्नाटक के समान जैन-बहुल क्षेत्रों में जैनों के सामाजिक जीवन के विविध आयामों का अध्ययन करना होगा जिससे जैन जीवन पद्धति एवं उनकी समाजिक संस्थाओं का एकीकृत स्वरूप हमें ज्ञात हो सके। यही नहीं, बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद, दिल्ली, इन्दौर, जयपुर, बंगलोर आदि बड़े-बड़े नगरों के जैनों का भी, उपर्युक्त आधारों पर वैज्ञानिक रीति से अध्ययन करना होगा। इसके साथ ही, उन कुटुंबों के विशेष योगदानों का विश्लेषणात्मक अध्ययन भी करना होगा जिन्होंने जैन जीवन पद्धति को प्रभावित और समृद्ध किया है। इसी प्रकार हमें उन परिवारों एवं व्यक्तियों के योगदान का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना होगा जिन्होंने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक, राजनीतिक, एवं सांस्कृतिक जीवन को नया विस्तार दिया है। जैनों के द्वारा स्थापित और संचालित शिक्षा, स्वास्थ्य एवं समाज कल्याण की संस्थाओं के भारतीय समाज के लिये योगदान की दृष्टि से भी यह अध्ययन करना सामान्य जन के हित में होगा।

●

रीवा के कटरा जैन मन्दिर की मूर्तियों पर प्रशस्तियाँ

पुष्पेन्द्र कुमार जैन

कटरा, रीवा, म० प्र०

रीवा नगरी विन्ध्य क्षेत्र का शीर्ष है। १९४८ तक यह बघेल वंशीय राजाओं की राजधानी रही। तदुपरान्त भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति पर, इसे ३६ राज्यों के एकीकरण से बने विन्ध्य प्रदेश की राजधानी बनाया गया। १ नवंबर १९५६ से राज्य पुनर्गठन आयोग की अनुशंसा पर विन्ध्य प्रदेश को मध्य प्रदेश नामक वृहत् राज्य में संविलयित किया गया। तबसे यह मध्य प्रदेश का प्रमुख संभाग है और उत्तर प्रदेश से लगने वाला प्रमुख सीमान्त क्षेत्र है। वर्तमान में इसकी जनसंख्या लगभग एक लाख है। इसके चारों ओर बाणसागर, सिंगरौली, टोंस, चुरहट एवं अन्य स्थानों पर बहुमुखी योजनायें विकसित हो रही हैं जिनसे यह नगरी भविष्य में भारत के औद्योगिक मानचित्र पर महत्वपूर्ण स्थान पा सकती है। कुछ ही वर्षों में यहाँ से रेल-सम्पर्क भी हो जायेगा।

राजनीतिक महत्व के साथ रीवा का शैक्षिक एवं साहित्यिक महत्व भी है। तुलनात्मकतः अल्पकाय इस नगरी में विश्वविद्यालय, चिकित्सा एवं इंजीनियरी महाविद्यालय, सैनिक एवं केन्द्रीय विद्यालय, शिक्षा एवं कृषि महाविद्यालय, शिक्षक-प्रशिक्षण विद्यालय एवं अन्य सभी प्रकार की शैक्षिक सुविधायें उपलब्ध हैं। व्यापारिक दृष्टि से यह इलाहाबाद, सतना, कटनी, जबलपुर नगरों से प्रभावित है। ऐसा कहा जाता है कि निकट भविष्य में यह अपने क्षेत्र का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र बन सकेगी।

जैन समाज मुख्यतः व्यापार-प्रधान समाज है। व्यापार की अल्पता के कारण इस नगरी में जैनों ने अपना समुचित स्थान नहीं प्राप्त कर पाया। वृद्ध जैनों से जानकारी मिलती है कि आज के रीवावासी जैनों के कुछ मूल परिवार लगभग एक सौ पचास या दो सौ वर्ष पहले छतरपुर जिले से आये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय छतरपुर जिले में कोई न कोई ऐसी घटना अवश्य हुई होगी जिससे वहाँ के जैनों को अन्यत्र जाना पड़ा हो। यह अन्वेषणीय है। जबलपुर के प्रमुख जैन परिवार भी छतरपुर-मूल के ही हैं। उनमें से कुछ की संपत्ति आज भी वहाँ है। इन मूल परिवारों के ही अनेक उपपरिवार अब रीवा में हो गये हैं। इनका प्रारम्भिक व्यवसाय वस्त्र-विक्रय एवं लेन-देन रहा है। पर कुछ वर्षों से किराना, सामान्य उपयोगी-वस्तु एवं औषध व्यवसाय में भी स्थानीय जैन लग रहे हैं। कुछ उच्चशिक्षित होकर शासकीय नियोजन में भी उच्च पदों पर कार्य कर रहे हैं।

रीवा नगर में जैनों के दो मंदिर हैं—एक कटरा में और दूसरा किला मार्ग पर। कटरा का मन्दिर लगभग दो सौ वर्ष पुराना है। किला मार्ग का मन्दिर लगभग ३०–३५ वर्ष पुराना है। कटरे के मन्दिर में दो वेदियाँ हैं। एक वेदी पर मऊगंज के हिलकी ग्राम से प्राप्त १००८ भगवान् शान्तिनाथ की खड्गासन मूर्ति है। उसके साथ कुछ अन्य मूर्तियाँ भी है। इस वेदी का निर्माण वीर निर्वाण संवत् २४४१ (१९१४) में किया गया था। इस विशालकाय आकर्षकमूर्ति पर कोई लेख उत्कीर्ण नहीं है। ऐसी ही एक मूर्ति सतना के दिगम्बर जैन मन्दिर में है। इन मूर्तियों के प्रति जैनों में बड़ा श्रद्धाभाव है।

कटरा जैन मन्दिर की दूसरी वेदी का निर्माण बहुत पुराना नहीं है, फिर भी उस पर विराजमान अनेक धातुमय, पाषाण एवं संगमरमर की ३२ मूर्तियों में संवत् १६९४ (१६३७ ई०) से लेकर सन् १९५५ तक की प्रतिष्ठित मूर्तियाँ हैं। इनमें एक पीतल की चौबीसी भी है। इनमें अनेक मूर्तियों पर महत्त्वपूर्ण लेख हैं जिनसे तत्कालीन भट्टारक परम्परा एवं जैन कुल परम्पराओं का पता चलता है। प्रस्तुत विवरण में इनमें से कुछ मूर्तियों पर टंकित महत्वपूर्ण लेख दिये जा रहे हैं।

पीतल की चौबीसी का लेख

इस चौबीसी का लेख इस वेदी की प्रतिमाओं में सबसे प्राचीन है। यह लेख सं० १६९४ (१६३७ ई०) का है: संवत् १६९४ वैसाख वदी ६ बुध, भट्टारक ललित कीर्ति, तत्पट्टे भट्टारक धर्मकीर्ति, तत्पुत्र सकलचंद्र भट्टारक आचार्य श्री पद्मकीर्ति तत्पट्टे गुणकरमे, हुजरतशाह उग्रसेन मूल संघे बलात्कार गणे धनामूर कासल्ल गोत्र राघोबा, आसादास, द्वारिकी तत्पुत्र राममनोहर स० वन्दे प्रणमति लेखक हीरामनि।

इस लेख में ललितकीर्ति, धर्मकीर्ति, सकलचन्द्र, पद्मकीर्ति एवं गुणकर भट्टारकों की परंपरा दी गई है। यही परंपरा छतरपुर के चौधरी मंदिर की मेरु प्रशस्ति (१२२४) में कुछ परिवर्तन के साथ है। साथ ही राघोबा आशादास के मूर-गोत्र देने से ज्ञात होता है कि यह चौबीसी पौरपट्टान्वयी भक्त ने प्रतिष्ठित कराई है। इसमें प्रतिष्ठा या प्रतिष्ठापक का स्थान—विशेष उल्लिखित नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस लेख के भ० ललितकीर्ति दिल्ली गद्दी के १८६१ के भट्टारक से भिन्न है।

पद्मासन पार्श्वनाथ की मूर्ति का लेख

यह संवत १७१३ (१६५६ ई०) का लेख है। इसमें भट्टारक परंपरा और प्रतिष्ठापक कुल-परंपरा का उल्लेख है।

संवत् १७१३ मार्गशीर्ष सुदी ४ देशस्य रविवासरे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे दत्तांदावनान्वये तत्परायोगे भट्टारक श्री ललितकीर्ति तत्पट्टे धर्मकीर्ति देवजू, तत्पट्टे पं० पद्मकीर्ति देव ······ पं० सकलकीर्ति गुरूपदेशात् पौरपट्टे अष्टसाखान्वये सं० ग्राहकदास चौ० फड़न समावते पं० श्री द्वारकादास सं० परसोत्तम साहू बहे चोपड़ागामे निरमौली कपूरचंद ८४ नली सौ० वनिता भवि तदेतद् प्रणमति। चतुरनसिंह कमलकली जणोले रामचंद्र प्रणोति सः एवद् प्रणमति।

इस लेस में ललितकीर्ति, धर्मकीर्ति, पद्मकीर्ति और सकलकीर्ति (पं०) की परंपरा दी गई है। नेमचंद्र शास्त्री के अनुसार धर्मकीर्ति का समय १५८८–१६२५ ई० माना जाता है। इस आधार पर पं० सकलकीर्ति का और प्रतिष्ठा का समय भी सही बैठता है। लेकिन पं० सकलकीर्ति एवं पद्मकीर्ति के विषय में पूर्ण जानकारी उपलब्ध नहीं है। यह मूर्ति भी चोपड़ा ग्राम के अष्टशाखान्वयी पौरपट्ट भक्त ने प्रतिष्ठित कराई थी।

३. पीतल के मानस्तंभ पर लेख

यह लेख सं० १८७१ (१८१४ ई०) का है। इसमें भट्टारक परंपरा तो नहीं दी गई है, पर चन्द्रपुरी भट्टारक का नाम अवश्य है। प्रतिष्ठापक भक्त के गोत्र मूर से उसका पौरपट्टान्वयी होना सिद्ध होता है।

सं० १८७१ फागुन वदी ४ श्री मूलसंघे सरस्वतीबलात्कारगणे श्री आचार्य कुंदकुंदान्वये मखावली चंद्रपुरी भट्टारक जी श्री चौधरी उमरावजी, चौधरी कुंवर जू पद्मामूरी कोछल्ल गोत्र हटा धीवाले

४. १८७२ की दो प्रतिष्ठित मूर्तियों पर पूर्ण विवरण नहीं है। फिर भी वहां चौधरी उमराव, मधु कुंवर, बहादुर कुंवर के नामों के साथ अमान सिंह का भी उल्लेख है।

५. एक पद्मासन मूर्ति पर केवल १५६८ मूलसंघे वैसाख सुदी ९ प्रणमतिकी मर उत्कीर्ण है।

६. अन्य अनेक मूर्तियों पर केवल तिथि और संवत् मात्र अंकित है।

जैन[1] ने छतरपुर के मंदिरों की मूर्तियों के लेखों का संकलन किया है। उन लेखों को देखने पर ज्ञात होता है कि रीवा को मूर्तियों की तुलना में वहां मूर्तियों की प्रतिष्ठा का समय-परिसर सं० ११०२–१९८० तक जाता है। पर रीवा में प्राप्त १६९४, १७१३ एवं १९७१–७२ के लेखों के समान ही छतरपुर की तत्कालीन मूर्तियों पर लेख पाये जाते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः ये मूर्तियां उसी क्षेत्र से यहां आई हों। इस विषय में पुरातत्वतों एवं इतिहास-विदों द्वारा अन्वेषण आवश्यक है।

संदर्भ

१. जैन, कमलकुमार; जिनमूर्ति प्रशस्ति संग्रह, बड़ा मंदिर, छतरपुर, १९८२

हमारा शरीर स्थूल है, किंतु इसमें गजब की सूक्ष्मता है। हमारा मस्तिष्क शरीर का केवल दो प्रतिशत भाग है लेकिन इसमें एक खरब 'न्यूरान्स' हैं। हमारे शरीर में साठ खरब कोशिकायें हैं। ये स्वनियंत्रित हैं। शरीर में विद्यमान ज्ञानतंतुओं के जाल को यदि एक रेखा में बिछाया जाय, तो वे एक लाख वर्गमील तक पहुँच जाते हैं। ये ज्ञानतंतु हमारी विद्युत् के संवाहक हैं। हम अपने शरीर को अभी भी पूरे तौर से नहीं जान पाये हैं। जब हम स्थूल शरीर को ही पूरा नहीं जानते, तो फिर सूक्ष्म शरीर की बात तो दूर ही रही। आत्मा के जानने की बात तो और भी सुदूर होगी।

बीसवीं सदी की एक जैनेतर जैन विभूति : कुँवर दिग्विजय सिंह

डॉ० के० एल० जैन

संस्कृत महाविद्यालय रायपुर, म० प्र०

जैनेतर विद्वानों का जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में योगदान

भगवान् महावीर के युग से जैन संस्कृति का इतिहास बताता है कि जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में जैनेतर धर्मावलम्बियों ने बहुमुखी योगदान किया है। महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम प्रारम्भ में स्वयं एक वैदिक विद्वान् थे। उनके अन्य गणधर भी जैनेतर विद्वान् ही थे। हमारी द्वादशांगी इन्हीं गणधरों की देन है। यह अचरज की बात है कि महावीर के गणधरों में एक भी पार्श्वापत्य नहीं था। उत्तरवर्ती सदियों में हमें समन्तभद्र, पूज्यपाद, पात्रकेसरि, अकलंक, विद्यानन्द, हरिभद्रसूरि, आदि पुराणकार जिनसेन, कुन्दकुन्द के टीकाकार अमृतचन्द्र एवं अन्य आचार्यों के नाम मिलते हैं। उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में भी हमें वर्णी-बन्धु, स्वामी कर्मानन्द और कुँवर दिग्विजय सिंह की गाथाएँ मिलती हैं। पूर्व के साथ पश्चिम के भी डा० हर्मन याकोबी, शूब्रिंग, ऐल्सडोर्फ, डा० चन्द्रभाल त्रिपाठी, डा० नाकामुरा और यूनो, अर्नेस्ट वेंडर, मैडम कोलेकैले, प्रो० डेलू, डा० ए० एल० बाशम आदि विद्वानों के नाम सुज्ञात हैं। महावीर काल से लेकर अबतक उपरोक्त और अन्य सभी जैनेतर जैन मान्यताओं की तर्कगर्भिता, सामयिक उपयोगिता एवं व्यापकता से प्रभावित हुए। अनेकों ने जैनधर्म ग्रहण कर उसके प्रसार और अध्ययन में योगदान किया। अनेक अपने पन्थ में रहकर ही जैन विद्याओं के प्रकाशन एवं सम्वर्धन में योगदान कर रहे हैं।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ के प्रमुख जैन-संस्कृति उन्नायक जैनधर्म से प्रभावित होकर जैन ही बन गये थे। इनमें से वर्णी-बन्धुओं - आ० गणेश वर्णी, आ० भगीरथ वर्णी को कौन नहीं जानता? उन्होंने जैन एवं जैनेतर समाज को आध्यात्मिक उत्थान की सरिता में निमिज्जित कर सत्पथ की ओर उन्मुख कराया। इस लेख में हम ऐसी ही एक अन्य विभूति का परिचय दे रहे हैं जो जैन जगत में आज प्रायः अज्ञात है, पर जिसने इस सदी के लगभग तीन प्रारम्भिक दशकों में सारे उत्तर भारत में जैनधर्म की दुन्दुभि बजाई थी एवं आर्यसमाज के आरोपों का सप्रमाण उत्तर देकर अनेक क्षेत्रों में जैनधर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाई थी। इस विभूति का नाम है : ब्र० कुँवर दिग्विजय सिंह।

जन्म एवं शिक्षा

कुँवर दिग्विजय सिंह का जन्म मंगलवार, ५ अगस्त १८८५ को बीधूपुर (जिला इटावा, उ० प्र०) में हुआ था। उनके पिता ठाकुर भगत सिंह जी अपने गाँव के रईस एवं जमींदार थे। उस समय कुँवर साहब के चाचा ठाकुर रघुबीर सिंह महाराजा बीकानेर के प्रधानमन्त्री थे। वे क्षत्रिय वर्ण के अग्निकुल के भदौरिया वंश की कुल्हैया शाखा में उत्पन्न हुए थे। उन दिनों इनका परिवार धन-धान्य-सम्पन्न, विद्यावान् एवं राजसम्मान आदि से प्रतिष्ठित था। हमारे मित्र नन्दलाल ने इनके गाँव का पर्यटन किया है। कुँवर परिवार की गढ़ी आज भी मौजूद है पर बोधूपुरा गाँव ने कोई विशेष प्रगति की हो, ऐसा नहीं लगता। कुँवर साहब दो भाई थे। आपके अनेक प्रपौत्र आज भी इटावा, दिल्ली एवं जयपुर में रहते हैं। आपके एक प्रपौत्र ने दिल्ली में 'भादोरिया उद्योग' नामक एक ख्यातिप्राप्त संस्थान स्थापित किया है।

कुँवर साहब ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा अपने गाँव के स्कूल में ही पाँच वर्ष की उम्र से प्रारम्भ की। कुछ समय पश्चात् वे अपने नाना बाबू ब्रह्मासिंह के घर गये। वे छोटी जुही, कानपुर में रहते थे। वहाँ इन्होंने जिला स्कूल में दसवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। इन्होंने संस्कृत का भी अध्ययन किया। उनका हृदय विचारक एवं विवेकवान् था। उनकी धर्म, देश और सदाचार पालन में गहरी आस्था थी। अपने कुलधर्म के प्रति अगाध आस्था के कारण उन्होंने भागवत, रामायण, महाभारत, गीता और वेदान्त का भी अच्छा अध्ययन किया।

उन दिनों उनके क्षेत्र में आर्यसमाज के विद्वानों द्वारा धर्म प्रचार किया जाता था। कुँवर साहब उनके सम्पर्क में आये। उनकी रुचि आर्यसमाज के प्रति जगी। तदनुसार, वे सन्ध्या-वन्दन आदि की दैनिक क्रियायें करने लगे।

जैनधर्म के प्रति आकर्षण का सुयोग

वे सन् १९०९ के फाल्गुन मास में अपनी जमींदारी के अधिकार-सम्बन्धी रजिस्ट्री कराने इटावा आए थे। तब इटावा के जैन-विद्वान् पं० पुत्तूलाल जी से उनका सम्पर्क हुआ। उनसे उन्होंने जैनधर्म की जानकारी प्राप्त की। उनकी पंडित जीसे जैनधर्म के विषय में चर्चा होने लगी। उनमें उन्हें अनेक शंकाओं का समाधान मिलता था। उनकी जिज्ञासा को भाँपकर पण्डित जी ने कुँवर साहब को दशलक्षण पर्व में इटावा आमन्त्रित किया। उन दिनों दशधर्मों का विवेचन तथा तत्वार्थसूत्र का प्रवचन सुनकर उन्हें जैनधर्म-विषयक विशेष रुचि जागृत हुई। तब से वे जैनधर्म के अध्ययन में समय देने लगे।

इसके पूर्व वे आर्य-समाज के समर्थन में भाषण देते थे। कभी-कभी वे आर्यसमाज की ओर से जैनधर्म के सिद्धान्तों पर प्रहार भी किया करते थे। कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी, सन् १९१० को आर्यसमाज, इटावा का वार्षिक उत्सव होने वाला था। उसमें आर्यसमाज के स्वामी सत्यप्रिय सन्यासी, पं० रुद्रदत्त शर्मा, स्वामी ब्रह्मानन्द आदि अनेक विद्वान् आए थे। उस समय कुँवर साहब ने इन विद्वानों के समक्ष अनेक शंकायें रखीं। ये अधिकतर वे ही थीं जो जैनियों की ओर से आर्यसमाज के विद्वानों के सामने रखी जाती थीं। वे इन शंकाओं का समुचित समाधान न कर सके। इससे कुँवर साहब के मन में जैनधर्म के प्रति और भी गहरी श्रद्धा हो गई।

इटावा में आर्यसमाज से शास्त्रार्थ करने के लिये वहाँ के वैद्य चन्द्रसेन जी ने पण्डित गोपालदास बरैया को आमन्त्रित किया था। उस शास्त्रार्थ के समय कुँवर साहब वहाँ उपस्थित थे। बरैयाजी की युक्तियों से वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने आर्यसमाज का परित्याग कर जैनधर्म में दीक्षित होने की घोषणा कर दी।

सोमवार, दिनांक १४ मार्च १९१० को इटावा में एक जैन सम्मेलन आयोजित किया गया। इसमें कुँवर दिग्विजय सिंह जी का जैनधर्म पर सर्वप्रथम हृदयग्राही एवं प्रभावक भाषण हुआ। न्याय दिवाकर पं० पन्नालाल जी एवं पं० गोपालदास जी बरैया ने उनके भाषण की सराहना करते हुए उनका माल्यार्पण द्वारा सम्मान किया। जैनतत्व प्रकाशिनी संस्था, इटावा ने कुँवर साहब की जीवनी और उनका भाषण प्रकाशित किया। यह अब अनुपलब्ध है।

ब्रह्मचर्य व्रत और जैनधर्म प्रचार

जैनधर्म की दीक्षा लेने के पश्चात् उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार किया। अनेक वर्ष तक वे ऋषभ दि० जैन ब्रह्मचर्याश्रम (गुरुकुल), मथुरा में सेवा करते रहे और बाद में उन्होंने अपनी सेवायें भारतवर्षीय दि० जैन शास्त्रार्थ संघ को समर्पित कर दीं। उन्होंने अपना जीवन जैनधर्म के प्रचार हेतु लगा दिया।

भा० दि० जैन संघ ने पहले तो शास्त्रार्थ संघ के नाम से अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ किये। पर जब आर्य समाज के विद्वान् स्वामी कर्मानन्द जैन बन गये, तब ये शास्त्रार्थ प्रायः बन्द हो गये। इसके बाद संघ ने जैनधर्म के

प्रचार का कार्य अपने हाथ में लिया। आधुनिक ढंग से प्रचार करने की दृष्टि से संघ ने एक उपदेशक विभाग स्थापित किया, एक उपदेशक प्रशिक्षण विद्यालय भी चलाया। इस विभाग में कार्य करने वालों में प्रमुख कुंवर साहब ही थे। अन्य सहयोगी विद्वानों में पं० हरिप्रसाद न्यायतीर्थ, पं० विद्यानन्द शर्मा, स्वामी कर्मानन्द, पं० अजित कुमार शास्त्री, वाणीभूषण पं० तुलसीराम काव्यतीर्थ, वेद विद्याविशारद पं० मंगलसेन एवं बाबू जयभगवान वकील आदि थे। तभी से कुंवर साहब ने जैन समाज की ओर से आर्यसमाज विद्वानों के साथ अनेक शास्त्रार्थ किये। सन् १९२७ में मई माह में बिल्सी (बदायूं) में आर्यसमाज के विद्वान् पं० वंशीधर जी शास्त्री के साथ भी उनका एक शास्त्रार्थ हुआ था। भा० दि० जैन संघ के उपदेशक विभाग के विद्वान् के रूप में उन्होंने देश भर में भ्रमण कर धर्मप्रचार किया। वे सिंह की तरह निर्भीक थे और उन्होंने शास्त्रार्थ द्वारा दिग्विजय भी प्राप्त की। इस कारण उनका दिग्विजय सिंह नाम 'यथानाम तथागुण' के अनुसार सार्थक था।

कुंवर साहब जन्मना जैन नहीं थे। उन्होंने परीक्षापूर्वक विवेक से जैनधर्म को उत्कृष्ट समझ जैनत्व ग्रहण किया। अतः वे रूढ़िवाद के विरोधी थे। यही कारण है कि जब १९२७ में दिल्ली में सुधारवादी जैनों द्वारा भा० दि० जैन परिषद् की स्थापना हुई, तब कुंवर साहब ने इस कार्य में प्रेरक महत्वपूर्ण भूमिका निबाही थी। इस परिषद् की स्थापना दि० जैन महासभा के पुराणपंथी लोगों की अनुदारता के फलस्वरूप की गई थी। इसके प्रमुख कर्णधारों में अजितप्रसाद जैन, बैरिस्टर चम्पतराय, म० भगवानदीन, ब्र० शीतलप्रसाद आदि थे। इस कार्य में कुंवर साहब की भूमिका से स्पष्ट होता है कि वे उदारता, प्रगतिशीलता एवं समाज सेवा की प्रतिमूर्ति थे। वे न केवल जैनधर्म में विश्वास ही करते थे, अपितु वे जैन समाज से उसके सिद्धान्तों के अनुरूप प्रवृत्ति करने के कार्य में रुचि रखते थे।

जैनधर्म के प्रचार एवं शिक्षण हेतु विन्ध्यांचल यात्रा

प्रारम्भ में जैन संघ प्रचारकों द्वारा ही धर्म प्रचार करता था। वे प्रायः संस्था विशेष के लिये चन्दा मांगने के उद्देश्य से आते थे। वे भी शहरों में आते थे, गांवों का क्षेत्र उनसे अछूता था। पर उपदेशक-विभाग के निर्माण एवं कुंवर दिग्विजय सिंह जी के सक्रियण के कारण धर्म प्रचार यात्राओं का स्वरूप ही बदल गया। उपदेशक के रूप में कुंवर साहब ने उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, दिल्ली, हरयाणा एवं मध्य क्षेत्र की यात्रा की और जैनधर्म की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाये।

ब्रह्मचारी कुंवर दिग्विजय सिंह

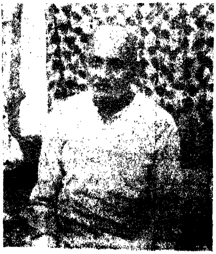

श्री मूलचन्द्र बड़कुर, बड़ा शाहगढ़

कुंवर साहब एक सुयोग्य एवं ओजस्वी वक्ता थे। क्षत्रिय कुलोत्पन्न होने से उनमें तेज था। उपदेशक के रूप में वे श्वेत चादर ओढ़ते थे और चाँदी के फ्रेम वाला सफेद चश्मा लगाते थे। उनकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी। इससे उनका व्यक्तित्व और भी मनमोहक हो गया था। उनके आकर्षक व्यक्तित्व ने उनकी भाषण कला को और भी चमकाया। वे जैन-जैनेतर समाज को जैनधर्म की प्रशंसा द्वारा अत्यन्त मनोमोहक रूप से प्रभावित करते थे। वे सिंह और लौह-पुरुष के समान स्थान-स्थान पर श्रोताओं को जैनधर्म की शिक्षा लेने हेतु बालकों और नवयुवकों को प्रेरित करते थे। जिस प्रकार आर्य-विद्वान् स्वामी कर्मानन्द के जैन धर्मावलम्बी बन जाने से जैनधर्म के प्रचार में बड़ा बल मिला, उससे भी अधिक प्रभाव कुंवर साहब के जैन-धर्म प्रचार का पड़ा। वे जीवन के अन्त तक जैनधर्म के श्रद्धानी एवं अनुयायी रहे। इसके विपर्यास में, स्वामी कर्मानन्द अन्तिम समय में जैनधर्म त्याग कर अरविन्दाश्रम चले गये थे।

उपदेशक के रूप में अनेक क्षेत्रों की यात्रा के अतिरिक्त कुंवर साहब ने विन्ध्य क्षेत्र के अनेक स्थानों की यात्रा की थी। सतना, शहडोल, छतरपुर और अन्य स्थानों के लोग आज भी उनकी धवल वेशभूषा एवं प्रभावी भाषणों का स्मरण करते हैं। सतना नगर में उन्होंने एक चौमासा बिताया और धर्म शिक्षा हेतु कक्षायें चलाई थीं। उनके भाषणों से प्रभावित होकर सतना नगर से दो व्यक्ति उनके साथ कुछ दिनों तक उनकी धर्म प्रचार-यात्रा में रहे। उनमें से एक बड़ा शाहगढ़ (छतरपुर) निवासी श्री मूलचन्द्र बढ़कुर भी थे। वे लगभग एक वर्ष तक उनके साथ रहे। उनके सत्संग से उनके मन में विचार आया था कि वे अपने पुत्रों को कुंवर साहब-जैसा बनायेंगे। सम्भवतः उनकी धार्मिक प्रेरणा ही श्री बढ़कुर के पुत्रों में धार्मिक एवं समाज सेवा के क्षेत्र में कार्य करने के लिये फलवती हुई है। यह सुखद संयोग ही है कि मेरी सूचना के अनुसार, उनके ही एक पुत्र प्रस्तुत साहित्य यज्ञ के होता है।

श्री दशरथ जैन एडवोकेट के अनुसार, कुंवर साहब को एक बार छतरपुर महाराज विश्वनाथ सिंह ने एक सर्व धर्म सम्मेलन के लिये जैनधर्म के प्रतिनिधि के रूप में छतरपुर आने के लिये निमन्त्रित किया था। उनके भाषणों का जैनेतरों के साथ जैनों पर भी प्रभाव पड़ा एवं छतरपुर में एक समाँ बँध गया था। वे मूर्तिपूजा के मनोवैज्ञानिकतः समर्थक थे। छतरपुर के तत्कालीन समैयाजन उनके मूर्तिपूजा-सम्बन्धी तर्कों से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उस समय अपने चैत्यालय में मूर्तिपूजा प्रारम्भ कर दी थी।

कर्मणा जैन की विशेषता

कुंवर साहब जन्मना जैन नहीं थे, कर्मणा जैन थे। जैनेतर कुल से सम्बद्ध होने के कारण उनकी कर्मठता और भी प्रभावी एवं प्रेरक बन गई थी। इसका कारण उनका बहु-दर्शनी ज्ञान एवं बहु-आयामी परिवेश रहा है। इससे उसकी अनेकांत दृष्टि, अहिंसा भावना तथा ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व-सम्बन्धी जैन विचार उन्हें जम गये। पूज्य गणेशप्रसाद वर्णी पर भी यह तथ्य लागू होता है। वस्तुतः जैनेतर व्यक्ति किंचित् तटस्थ रहकर विषय का वस्तुगत विश्लेषण करता है, इसलिये वह प्रभावी हो जाता है। ऐसे ही व्यक्ति प्रेरणा-स्रोत होते हैं।

'अनेकान्त' के वर्तमान संपादक पं० पद्मचन्द्र शास्त्री के व्यक्तित्व और अभिव्यक्तित्व का निर्माण कुंवर साहब की प्रेरणा से ही हुआ है। उन्होंने पद्मचन्द्र जी के पिताजी से १९२७ में कहा था "पद्मचन्द्र को विद्वान् बनाओ।" बालक के सिर पर हाथ रखकर प्ररणा एव आशीर्वाद भी दिया था। इसी कारण पं० पद्मचन्द्र जी ब्रह्मचर्याश्रम, मथुरा में और बाद में संघ के उपदेशक विद्यालय में अध्ययन हेतु भेजे जा सके। पण्डितजी ने अपने एक लेख में यह बात स्वीकार की है कि मैं निर्भीकतापूर्वक ऐसी बात लिख देता हूँ जिससे स्थितिपालक तथा अन्य लोग, सहन नहीं कर पाने के कारण, रुष्ट हो जाते हैं। उनकी यह स्पष्टवादिता की वृत्ति कुंवर साहब की ही देन है। वे 'अनेकान्त' के 'जरा सोचिये' स्तम्भ के अन्तर्गत ऐसे अनेक विषयों एवं प्रकरणों पर प्रकाश डालते हैं जिनसे समाज के वर्तमान के साथ भविष्य भी कीर्तिमान बन सकता है।

वर्तमान में, सामान्य जैन यह मानता है कि उसे अपना धर्म जन्मना उत्तराधिकार के रूप में मिला है। अतः उसकी धर्म में गहरी आस्था एवं प्रवृत्ति नहीं होती। यह ठीक उसी प्रकार की बात है कि जिन लोगों को पर्याप्त धन का उत्तराधिकार मिलता है, वे उसका महत्व नहीं आँक पाते। इसके विपर्यास में, जो अपने परिश्रम से संपत्ति अर्जित करते हैं, वे ही उसका सही मूल्यांकन करते हैं। उसके संरक्षण एवं अभिवर्धन के लिये दत्तचित्त रहते हैं। कुंवर साहब ने भी जैनधर्म को अपने विवेक से अपनाया था, अतः उन्होंने इसकी महत्ता और उपयोगिता का अपने लिये तथा समाज के लिये सदुपयोग किया।

मैंने आचार्य रजनीश के एक प्रवचन में एक लघु कथा पढ़ी थी। एक बार अमरीका का सर्वाधिक सम्पन्न व्यक्ति हैनरी फोर्ड लन्दन गया। वहाँ स्टेशन पर उसने सर्वाधिक सस्ते होटल के बारे में जानकारी की। पूछताछ के दौरान होटल वाले ने कहा, "आपका चेहरा अमरीका के हैनरी फोर्ड के प्रकाशित फोटो से मिलता है।" हैनरी ने कहा, "हाँ, मैं वही व्यक्ति हूं।"

"महोदय, पर आपके लड़के जब यहाँ आते हैं, तो सबसे मँहगा होटल पूछते हैं। और आप..........सबसे सस्ता होटल पूछ रहे हैं ?

"मैं गरीब बाप का बेटा हूं। मैंने अपने श्रम एवं सूझ-बूझ से यह सम्पत्ति अर्जित की है। इसे मैं यों ही खर्च नहीं कर सकता। मेरे बेटे अमीर बाप के बेटे हैं। उन्हें बिना श्रम किये उत्तराधिकार में धन मिला है। अतः वे मँहगे होटलों में खर्च कर सकते हैं।"

इस घटना से हमें शिक्षा लेना चाहिये कि उत्तराधिकार में मिले धर्म में जो अच्छाइयाँ या विशेषताएँ हैं, उन्हें हम अध्ययन एवं विवेक से जानें-पहचानें। उनके प्रति आस्थावान् बनकर अपने जीवन में उतारें। हम जन्मना तो हैं ही, कर्मणा भी जैन बनने का प्रयत्न करें। कर्मणा जैन बनने का विशेष महत्व है।

असामयिक निधन

सन् १९१० से कुंवर साहब ने निरन्तर जैनधर्म की सेवा की। इस कार्य में उनके परिवार-जनों ने कोई बाधा नहीं डाली। उनकी पत्नी हिन्दूधर्म का ही पालन करती रही पर उसने उनके जैन बनने एवं उसके प्रचार में संलग्न रहने के लिये किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की। हाँ, कुंवर साहब के कारण समूचे परिवार में उदारता के बीज अवश्य पनपे। यह सही है कि उनके पुत्रों ने उनके मार्ग का अनुकरण नहीं किया। शास्त्रार्थ संघ और फिर जैन संघ में रहकर कुंवर साहब के जैनधर्म का जितना प्रचार किया, उसके प्रति जैन समाज जितनी भी कृतज्ञता व्यक्त करे, कम है।

धर्मप्रचार के अतिरिक्त, उन्होंने कुछ साहित्य भी रचा था। हमारे मित्र श्री जैन ने इस साहित्य की प्राप्ति के लिये यत्न भी किया, पर वह उन्हें नहीं मिल सका। कहते हैं कि छोटी-मोटी कुल मिलाकर उनकी बाईस पुस्तकें हैं। इनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व अनुसन्धान-विषय के रूप में लेना चाहिये। ऐसे कर्मठ, सेवाभावी व्यक्ति का निधन शास्त्रार्थ संघ के अम्बाला छावनी केन्द्र पर धर्मप्रचार करते हुए ७ अप्रैल १९३५ को हो गया। मेरे श्रद्धासुमन उन्हें समर्पित हैं*।

---

*. "जैन दर्शन" संघांक, 'वीर' के भिलाई अंक, पं० पद्मचन्द्र शास्त्री, एन० एल० जैन, डा० डी० के० जैन, भिंड आदि के लेखों-सूचनाओं एवं सहयोग के आधार पर साभार लिखित।

पौरपाट (परवार) अन्वय—१

पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री
रुड़की

१. जैन जातियों का प्रारम्भिक काल

भारतवर्ष अगणित जातियों का देश है। जिन धर्मों के अनुयायियों ने जातिप्रथा को स्वीकार नहीं किया, उनकी संख्या की दृष्टि से वृद्धि हुई है, यह प्रत्यक्ष है। वस्तुतः जातिप्रथा वैदिक धर्म की देन है। वही एक ऐसा धर्म है जो 'जन्मना' जातिप्रथा को मानता है। जैनधर्म में उसकी नकल हुई है। यद्यपि इस धर्म में आचार की दृष्टि से भेद किया जाता है, पर उसका स्थान जन्मना जातिप्रथा ने ले लिया है।

ऐसा लगता है कि इस प्रथा ने महावीर के काल में भी समाज में अपना स्थान बना लिया था। यद्यपि मूल पुराणों पर दृष्टिपात करने से इसका आभास नहीं होता कि महावीर-काल में जैन समाज में जातिप्रथा चालू हो गई थी, पर उनमें वंशों और कुलों के नाम आये हैं। अपेक्षा विशेष के कारण धर्मग्रन्थों में भी कुलों और गणों के नाम मिलते हैं। उदाहरणार्थ, महावीर का जन्म 'ज्ञातृक' वंश में हुआ था, इसने ही वर्तमान में 'जथरिया' नाम से एक प्रचलित जाति का रूप ले लिया है। यद्यपि जैन पुराणों में प्रचलित जातियों का उल्लेख कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता, पर उसका कारण अन्य है। अभी तक आगमों में जितने भी उल्लेख मिलते हैं, उनके अनुसार पूरा जैन संघ चार भागों में विभक्त था—मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका।

जैन परम्परा के अनुसार, इस अवसर्पिणी युग में समवशरण की व्यवस्था इतिहासातीत काल से ही चली आ रही है। इसमें मनुष्य, देव और तिर्यंचों को धर्मसभा में बैठने के लिये बारह कक्षों की रचना होती थी। उसमें सभी प्रकार की स्त्रियों के बैठने के लिये अलग-अलग कक्षों की रचना के बावजूद भी सभी प्रकार के मनुष्यों के लिये एक ही कक्ष निश्चित रहता था। इस आधार पर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में तीर्थंकर महावीर के बाद ही जातिप्रथा को स्थान मिल सका है। इसके पूर्व वर्तमान जातियों में से कुछ रही भी हों, तो भी समाज में धार्मिक दृष्टि से उनका कोई स्थान नहीं था।

इस परम्परा में जातिप्रथा के प्रारम्भ के ज्ञान के लिये हमें धार्मिक दृष्टि से लिखे गये पुराणों के अतिरिक्त अन्य जैन साहित्य पर भी दृष्टिपात करना होगा। इस दृष्टि से, सबसे पहले हमारी दृष्टि सम्यक् दर्शन के पच्चीस दोषों पर जाती है। इनमें समाहित आठ मदों में कुल और जाति मद के नाम हैं। मूल परम्परा के सभी ग्रन्थों में इनका निषेध पाया जाता है। रत्नकरंड श्रावकाचार लगभग प्रथम शताब्दि की रचना है। इसके आठ मदों में समाहित कुल-जाति मदों के निरूपण से विदित होता है कि जैनों में जाति-प्रथा इस काल से पहले ही प्रविष्ट हो चुकी थी। कुल-परम्परा तो पुराण काल में भी प्रचलित थी, इसलिये उसका निषेध तो समझ में आता है पर जातिप्रथा पुराण काल में नहीं थी। इससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः इस शब्द का अर्थ ब्राह्मणादि जातियों से रहा होगा। मनुस्मृति आदि पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि जैनधर्म में जिन वर्णों को कर्म से स्वीकार किया गया है, उन्हें ही ब्राह्मण धर्म में जाति शब्द से स्वीकार किया गया है। फलस्वरूप जातिनाम और उच्च-नीच का व्यवहार लोक में चालू हो गया। जैनधर्म

भी इससे अछूता नहीं रह सका। इसीलिये समन्तभद्र ने कुलमद के साथ जातिमद का भी निषेध किया है। मूलाचार के पिंडशुद्धि अधिकार में वर्णित आहार सम्बन्धी आजीवनामक दोष के समाहरण से भी इसकी पुष्टि होती है।

मूलाचार और रत्नकरण्ड श्रावकाचार—दोनों ही ईसा की प्रथम सदी या इससे पूर्व लिखे जा चुके थे। इससे लगता है कि इस काल में किसी न किसी रूप में जातिप्रथा चालू होकर प्रदेशभेद और आचारभेद से प्रचलित हो चुकी थी। तिर्यंच योनि के हाथी, घोड़ा, गौ आदि वर्गों के समान मनुष्य भी अनेक वर्गों में विभक्त किये गये। एक-एक वर्ण के अन्तर्गत दृश्यमान अनेक जातियाँ और उपजातियाँ इसी व्यवस्था का परिणाम है। यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त ग्रन्थों में उल्लिखित जातियाँ वर्तमान में एक-एक वर्ण के भीतर प्रचलित अनेक जातियाँ न होकर उन वर्णों को ही जाति शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। इसलिये वर्तमान में प्रचलित अनेक जातियों को तत्तत् कुलगत ही मानना चाहिये। परन्तु अनेक इतिहासज्ञों का मत है कि वर्तमान में प्रचलित जातियों की पूर्वावधि अधिक-से-अधिक सातवीं-आठवीं सदी हो सकती है। आचार्य क्षितिमोहन सेन इनमें मुख्य हैं। अगरचन्द नाहटा और चिन्तामणि विनायक वैद्य का भी यही मत है। उनके अनुसार, ईसा की सातवीं-आठवीं (विक्रम की आठवीं) सदी तक ब्राह्मण और क्षत्रियों के समान सारे भारत में वैश्यों की एक ही जाति थी। सत्यकेतु विद्यालंकार ने भी भारतीय इतिहास में आठवीं सदी को महत्वपूर्ण परिवर्तन की सदी माना है। इस काल में पुराने मौर्य, पांचाल, अन्धकवृष्णि, भोज आदि राजकुलों का लोप हो गया और चौहान, राठौर, परमार आदि नये राजकुलों की शक्ति प्रकट हुई। पूर्णचन्द्र नाहर ने भी ओसवाल जाति की स्थापना के सम्बन्ध में इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है।

इस प्रकार जातिप्रथा के प्रचलित होने के विषय में विभिन्न विद्वानों के लगभग एक ही प्रकार के मत अवश्य है, किन्तु ७–८वीं सदी के पूर्व वर्ण ही जाति शब्दवाच्य रहे हों, ऐसा एकान्त से तो नहीं कहा जा सकता। यह सही है कि ब्राह्मणों ने अपने वर्ण की उत्कृष्टता मानने के लिए पाणिनि-काल में ही उसे कर्मणा न मानकर जन्मना मानना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार वर्णों के स्थान पर जाति शब्द का प्रयोग होने लगा था। इतना ही नहीं, ८–९वीं सदी के पूर्व प्रदेशभेद और आचरणभेद भी इन भेदों का कारण रहा हो, यह सम्भव है। जितने ही हम पूर्वकाल को ओर जाते हैं, उतना ही उनमें प्रदेश व आचरण से भेद होता हुआ दीखता है। अग्रवाल ने बताया है कि भिन्न-भिन्न देशों में बस जाने के कारण ब्राह्मणों के अलग-अलग कामों की प्रथा चल पड़ी थी। इसी प्रकार क्षत्रियों के सम्बन्ध में भी उन्होंने कहा है कि पहले जनपदों के नाम उनमें बसने वाले क्षत्रियों के आधार पर रखे गये, जैसे पञ्चाल। बाद में जब जनपद नाम की प्रधानता हुई, तब जनपरिषद् लोकप्रसिद्ध हुए।

पाणिनि व्याकरण में गृहस्थ के लिये 'गृहपति' शब्द है। मौर्य-शुंग युग में 'गृहपति' समृद्ध वैश्य व्यापारियों के लिए प्रयुक्त होता था। इन्हीं में गहोई वैश्य प्रसिद्ध हुए।

पतंजलि के अनुसार चाण्डाल आदि निम्न शूद्र जातियाँ प्रायः ग्राम, घोष, नगर आदि आर्य बस्तियों में घर बनाकर रहती थीं। पर जहाँ ग्राम-नगर बहुत बड़े थे, वहाँ उनके भीतर भी वे अपने मुहल्लों में रहने लगे थे। समाज में सबसे नीची कोटि के शूद्र थे। बढ़ई, लुहार, बुनकर, धोबी, अयस्कार, तन्तुवाय आदि की गणना शूद्रों में थी पर ये यज्ञ सम्बन्धी कुछ कार्यों में सम्मिलित हो सकते थे। लेकिन इनके साथ खाने-पीने के बर्तनों की छुआछूत बरती जाती थी। इनसे भी ऊँची जाति के शूद्र वे थे जो निमन्त्रण होने पर आर्यों के बर्तनों में ही खाते-पीते थे।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि तीर्थंकर महावीर के काल में या उसके कुछ काल बाद आजीविका के आधार पर भी जातियाँ बनने लगी थीं। तत्वार्थसूत्र में परिग्रहपरिमाण के प्रसंग से कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं कि कर्म के आधार पर विभक्त यह मानव समाज उस युग में नीच-ऊँच के गर्त्त में फँसकर कई भागों में बँट गया था। इस व्रत के अतीचारों में

एक दासी-दास प्रमाणातिक्रम भी है जिससे स्पष्ट है कि उस युग में दास प्रथा थी और व्रती श्रावक को इसकी मर्यादा करना आवश्यक था। कौटिल्य ने भी दासप्रथा का उल्लेख कर उससे छूटने के उपाय का भी निर्देश किया है—छुटकारे के रूप में नकद रुपया देना। अनेक प्रकरणों से पता चलता है कि जैन श्रावक इस प्रथा को बन्द करने में सहायक होते रहे हैं। दो हजार वर्ष पूर्व के भारत की इस साधारण झाँकी से स्पष्ट है कि जातिप्रथा की नींव ७–८वीं सदी के पूर्व ही पड़ गई थी।

जातिप्रथा विरोधी जैनधर्म अपने को इस बुराई से न बचा सका, इसके कारण हैं। यह स्पष्ट है कि महावीर काल के बाद धीरे-धीरे वैदिक धर्म का प्रभुत्व बढ़ने लगा था और जैनधर्म का प्रभाव घटने लगा था। इसके दो कारण मुख्य है—(१) जैनधर्म के प्रचारकों और उपदेशकों का अभाव। पहले ज्ञानी-ध्यानी मुनिजन गाँव-गाँव विचर कर धर्म का सन्देश जन-जन को देते थे। पर कालदोष एवं त्यागवृत्ति की हीनता से उनका अभाव हो गया था। गृहस्थ उनकी त्यागवृत्ति के भार को ठीक से सम्हाल नहीं पाये। समाज की धारणा दूसरी, उपदेशों की दूसरी। इसका मेल न बैठने से जैनधर्मियों की संख्या उत्तरोत्तर कम होती गई। (२) समाज द्वारा प्रदत्त आजीविका के समुचित साधनों के बल पर ब्राह्मण पण्डित गाँव-गाँव बस कर वैदिक धर्म की प्रभावना में लगे रहे। इस धर्म ने समाज से आजीविका लेना धर्म का ही अंग बना दिया। इन दोनों कारणों से जैनाचार्यों को जातिप्रथा का समाहरण करने के लिये बाध्य होना पड़ा। सोमदेव के निम्न श्लोक से यही पुष्ट होता है :

सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम्॥

इससे स्पष्ट है कि जैनधर्म में जातिप्रथा को लौकिक विधि के रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः इसमें इस प्रथा को स्वीकार करने का कोई अन्य कारण स्पष्ट नहीं है। यह अध्यात्मप्रवण धर्म होते हुए भी इसमें आचार की मुख्यता है। इस प्रथा को स्वीकार कर लेने का ही यह फल है कि हमें बाह्य में और उसके साथ अभ्यन्तर में धर्म की छाया मिली हुई है। कहने के लिये तो इस समय जैनों में ८४ जातियाँ हैं, पर मेरी राय में कतिपय जातियाँ तो नामशेष हो गई हैं और कतिपय ऐसी भी हैं जो दो हजार वर्ष पूर्व भी अस्तित्व में आ चुकी थीं। इस दृष्टि से हम यहाँ पौरपाट अन्वय पर विचार करेंगे क्योंकि एक तो यह पूरा अन्वय दिगम्बर है और दूसरे यह मूलसंघ कुन्दकुन्द आम्नाय को छोड़कर अन्य किसी भी आम्नाय को जीवन में स्वीकार नहीं करता। इसीलिये इस अन्वय का सांगोपांग अनुसन्धान आवश्यक प्रतीत होता है।

२. पौरपाट अन्वय : संगठन के मूल आधार

अनुसन्धानों से पता चलता है कि इस अन्वय के संगठन के निम्न तीन मुख्य आधार हैं : (i) पुराने जैन (ii) प्राग्वाट अन्वय और (ii) परवार अन्वय

(i) पुराने जैन

वर्तमान में जो 'परवार अन्वय' कहा जाता है, उसका पुराना नाम 'पौरपाट या पौरपट्ट' या जो बदलते 'परवार' क्यों कहलाने लगा, इसका ऊहापोह स्वतन्त्र लेख का विषय है। मुख्य प्रश्न यह है कि यदि यह अन्वय महावीर काल में भी पाया जाता था, तो इसका उल्लेख पुराणों में अवश्य होता। यह तर्क उचित नहीं लगता कि जातिमद निषेध के कारण इसका नामोल्लेख नहीं है क्योंकि यह तर्क वर्णों, वंशों व कुलों पर भी लागू होता है। इससे केवल यही अर्थ स्पष्ट होता है कि ये अन्वय महावीर काल में नहीं रहे। यह मानी हुई बात है कि महावीर काल के चतुर्विध संघ में विभक्त तो जैन थे, उन्हीं में से विशिष्ट प्रदेशों में रहने के कारण इस या अन्य अन्वयों का संगठन हुआ होगा।

इस अन्वय के पुरुषों के मूलसंघी होने के कारण श्वेतपट-संघ में न जाकर मूलसंघ में ही रहना स्वीकार किया होगा एवं यह प्रारम्भ से ही मूलसंघ को स्वीकार करनेवाला बना रहा। फिर भी, उत्तरकाल में इसने कुन्दकुन्दाम्नाय को ही क्यों स्वीकार किया, इसका अनूठा इतिहास है। यह भी एक स्वतन्त्र लेख का विषय है। फिर भी, यहाँ इतना जानना पर्याप्त है कि कुन्दकुन्द दक्षिण प्रदेश के सपूत होकर भी उन्होंने उसी परम्परा का पुरस्कार किया जो भ० महावीर के काल से निरपवाद रूप से चली आ रही थी और जिसको केवल पौरपाट ने ही स्वीकार किया। वह अन्य परम्परा के व्यामोह में नहीं पड़ा। इस परम्परा के नामकरण में "पौर" शब्द के साथ 'वाट', 'वाड' शब्द न लगाकर 'पाट' या 'पट्ट' शब्द लगा हुआ है, उसका भी यही कारण प्रतीत होता है। इसका ऊहापोह आगे किया जायगा।

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस काल में जितने भी अन्वय उपलब्ध होते हैं, वे केवल नवदीक्षित जैनों के आचार से ही नहीं, अपितु उनके निर्माण में पुराने जैनों के आचार-विचार के साथ उनका भी सम्मिलित होना प्रमुख है। उससे प्रभावित होकर ही कुछ अजैन परिवारों ने पुराने जैनों से मिलकर एक-एक नये संगठन का निर्माण किया होगा। आचार भेद एवं प्रदेश भेद तो कारण रहे ही होंगे।

(ii) प्राग्वाट अन्वय

तथ्यों के आधार पर यह निर्णीत होता है कि पौरपाट अन्वय के संगठन का एक मूल आधार प्राग्वाट अन्वय है। बड़ोह (मध्य प्रदेश) में प्राप्त जीर्णशीर्ण वनमन्दिर इसका साक्ष्य है। इस वनमन्दिर के समान ही बुन्देलखण्ड के जंगलों अगणित जैन मंदिर एवं तीर्थंकर मूर्तियां मिलती हैं। ये पुराने जैनों के जीवन के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ये सब जैन आचार-विचार की पुरानी संस्कृति के प्रतीक हैं।

यह वन मंदिर अनेक मंदिरों का समूह है और इसका पूरा निर्माण अनेक वर्षों में हुआ है। ये मंदिर भट्टारक काल की याद दिलाते हैं। इस मंदिर के गर्भगृहों का निर्माण प्राग्वाट वंश के भाइयों द्वारा कराया गया जैसा कि इस मंदिर के एक गर्भगृह की चौखट पर खुदे लेख से स्पष्ट है :

कारदेव वासल प्रणमति।
श्री देवचंद आचार्य मंत्रवादिन् संवत ११३४॥

यह स्पष्ट है कि वासल गोत्र प्राग्वाट अन्वय की संतान हैं। यह कोरा अनुमान नहीं है क्योंकि अनेक गर्भगृहों के मूर्तिलेख इसके साक्षी हैं। 'भट्टारक संप्रदाय' में पेज १७२ पर अंकित एक अन्य शिलालेख में कहा गया है कि सूरत पट्ट के द्वितीय भट्टारक प्राग्वाट वंश अष्टशाखान्वय में उत्पन्न हुए थे। वे अपने काल के अनेक राजाओं द्वारा पूजित प्रभावशाली विद्वान् थे।

पौरपाट अन्वय के विकास का अनुसन्धान करते समय मैं बुन्देलखण्ड के अनेक गाँवों और नगरों में गया हूँ। मेवाड़ और गुजरात प्रदेश से इस अन्वय का विकास हुआ है, इसलिये इन क्षेत्रों में भी घूमा हूँ। पर मेरे ख्याल में 'प्रान्तिज' को छोड़कर अन्य किसी नगर के जिनमन्दिर अपेक्षाकृत नवीन हैं। 'प्रान्तिज' के जिनमन्दिर में ११३६ ई० (११९३ वि०) में भी एक शिलापट में उत्कीर्ण चौबीसी पाई जाती है। इसे एक बहिन ने स्थापित कराया था। वहाँ ११६२ ई० का एक शिलालेख भी है जिसमें पांच बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकरों की मूर्तियाँ अंकित हैं। उसके पादपीठ पर एक लेख अंकित है। इसे यद्यपि अच्छी तरह से नहीं पढ़ा जा सका, फिर भी उससे ऐसा लगता है कि यह प्राग्वाट अन्वय के किसी भाई द्वारा स्थापित कराया गया था।

इस तीन प्रमाणों के अतिरिक्त प्राग्वाट वंश से ही पौरपाट अन्वय का विकास हुआ है, इस विषय के अन्य शिलालेखी पोषक प्रमाण यहाँ दिये जा रहे हैं।

(१) मिति अषाढ शुक्ल १० वि० चौसखा पोरवाड़ जात्युत्पन्न श्री जिनचंद्र हुए। इनका गृहस्थावस्था काल २४ वर्ष ९ माह, दीक्षाकाल ३२ वर्ष ३ माह, पट्टस्थ काल ८ वर्ष ९ माह एवं विरह दिन ३ रहे। पूर्णायु ६५ वर्ष ९ माह ९ दिन। इनका पट्टस्थक्रम ४ है।

(२) मिति आश्विन शुक्ला १० वि० ७६५ में पोरवाल द्विसखा जात्युत्पन्न श्री अनंतवीर्य मुनि हुए। इनका गृहस्थकाल ११ वर्ष, दीक्षाकाल १३ वर्ष, पट्टस्थकाल १९ वर्ष ९ माह २५ दिन एवं विरहकाल १० दिन रहा। इनकी पूर्णायु ४३ वर्ष १० माह ५ दिन की थी। इनके पट्टस्थ होने का क्रम ३१ है।

(३) मिति आषाढ शुक्ल १४ वि० १२५६ में अठसखा पोरवाल जात्युत्पन्न श्री अकलंकचंद्र मुनि हुए। इनका गृहस्थावस्थाकाल १४ वर्ष, दीक्षाकाल ३३ वर्ष, पट्टस्थकाल ५ वर्ष ३ माह २४ दिन, अंतरालकाल ७ दिन रहा। इनकी पूर्णायु ४८ वर्ष ४ माह १ दिन की थी। इनके पट्टस्थ होने का क्रम ७३ है।

(४) मिति आश्विन शुक्ला ३ वि० १२६५ में अठसखा पोरवाल जात्युत्पन्न श्री अभयकीर्ति मुनि हुए। इनका गृहस्थावस्था काल ११ वर्ष २ माह, दीक्षाकाल ३० वर्ष, पट्टस्थकाल ४ माह १० दिन और अंतरालकाल ७ दिन का रहा। इनकी संपूर्ण आयु ४१ वर्ष ११ माह १० दिन की थी। इनका पट्टस्थ-क्रमांक ७८ है।

ये दिगंबर जैन समाज, सीकर द्वारा १९७४–७५ में प्रकाशित चारित्रसार के अन्त में प्राचीन शास्त्रभंडार से प्राप्त एक पट्टावली के उपरोक्त कतिपय शिलालेख हैं। इनसे ज्ञात होता है कि पौरपाट अन्वय का भी विकास पुराने जैनों के समान प्राग्वाट अन्वय से भी हुआ। पोरवाड़ या पुरवार भी वहीं हैं। फिर भी, श्री दौलत सिंह लोढा और श्री अगरचंद्र नाहटा इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते। लोढा जी ने 'प्राग्वाट इतिहास, प्रथम भाग' के पृष्ठ ५४ पर बताया है :

"इस जाति के कुछ प्राचीन शिलालेखों से सिद्ध होता है कि परवार शब्द 'पौरपाट' या पौरपट्ट' का अपभ्रंश रूप है। 'परवार', 'पोरवाल', 'पुरवाल' शब्दों में वर्णों की समानता देखकर बिना ऐतिहासिक एवं प्रमाणित आधारों के उनको एक जातिवाचक कह देना निरी भूल है। कुछ विद्वान् 'परवार' और 'पौरवाल' जाति को एक मानते है, परंतु यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। पूर्व में लिखी गई शाखाओं के वर्णनों में एक दूसरे की उत्पत्ति, कुल, गोत्र, जन्म-स्थान, जनश्रुति एवं दन्तकथाओं में अतिशय क्षमता है, वैसी परवारजाति के इतिहास में उपलब्ध नहीं है। यह जाति समूची दिगंबर जैन है। यह निश्चित है कि परवार जाति के गोत्र ब्राह्मणजातीय हैं। इससे यह सिद्ध है कि यह जाति ब्राह्मणजाति से जैन बनी है। प्राग्वाट, पौरवाल, पौरवाड़ कहो जाने वाली जाति इससे सर्वथा भिन्न है एवं स्वतंत्र है। इसका उत्पत्तिस्थान राजस्थान भी नहीं है।"

ये लोढाजी के स्वतंत्र विचार हैं। संभवतः उन्हें मालूम नहीं कि जो दिगंबर जैन परिस्थितिवश गुजरात और मेवाड़ के कुछ भागों में बच गये थे, वे अन्त में श्वेतांबरों में मिल गये। विक्रम की १४-१५ वीं सदी तक तो उनका बुंदेलखंड में आकर बसने वाले दिगंबर जैनों के साथ संपर्क बना रहा, परंतु भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के बुंदेलखंड में आ जाने के बाद धीरे-धीरे उनका संपर्क शेष सजातीय जैनों से छूटता गया। यह हमारी कल्पना मात्र नहीं है। श्वेतांबर विद्वान् अपने तद्-युगीन साहित्य में यह स्वीकार करते हैं। मुनि जिनविजय ने 'कुमारपाल प्रतिबोध' की प्रस्तावना में अन्य ग्रन्थ का उल्लेख देते हुए बताया है कि श्रीपुरपत्तन में कुमुदचंद्र आचार्य को शास्त्रार्थ में हराकर वहाँ दिगंबरों का प्रवेश ही निषिद्ध कर दिया था (११४७ ई०)। गलोढा जी ने स्वयं लिखा है कि कर्नाटकवासी वादी कुमदचंद को 'देवसूरि' ने वाद में हरा दिया। परास्त होकर भी उन्होंने अपनी कुटिलता नहीं छोड़ी। वे मंत्रादि का प्रयोगकर श्वेतांबर साधुओं को कष्ट पहुँचाने लगे। अंत में उनको शांत न होता हुआ देखकर देवसूरि ने अपनी अद्भुत मंत्रशक्ति का प्रयोग किया। वे तुरंत ठिकाने आ गये और पत्तन छोड़कर अन्यत्र चले गये। उन्होंने एक प्रकरण में इस स्थिति का संकेत भी दिया है कि वहाँ

यदि दिगंबराचार्य हारेंगे, तो एक चोर के समान उनका तिरस्कार कर पत्तनपुर से बाहर निकाल दिया जायगा। के० एम० मुंशी ने भी अपने 'गुजरातनो नाथ' में इस प्रकरण का चित्रण किया है। कवि बख्तावरमल के कथन के अनुसार, परवारों के एक भेद-सोरठिया को गति भी संभवतः यही हुई होगी। श्वेतांबरों में भूतकाल की यह प्रकृति अब भी चालू है और यदाकदा उसके विकृत रूप सुनने-पढ़ने को मिल जाते हैं।

इस समय बुंदेलखंड में जो पौरपाट (परवार) अन्वय के कुटुंब रह रहे हैं, उनका मूल निवास स्थान गुजरात और मेवाड़ का प्राग्वाट प्रदेश ही है। इसमें कोई संदेह नहीं। वहाँ से उनके स्थानांतरित होने का मूल कारण उनकी आजीविका नहीं है, अपितु श्वेतांबर समाज और उनके साधुओं का धार्मिक उन्माद ही है। इसके कारण अपने आम्नाय की की रक्षा के लिये इन्हें उस स्थान को छोड़कर चंदेरी और उसके आस-पास के क्षेत्र में बसने के लिये बाध्य होना पड़ा।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार पौरपाट (परवार) अन्वय में भ० महावीर के काल में पाये जाने वाले पुराने जैनों को लीन करके इस अन्वय को मूर्तरूप दिया गया था, उसी प्रकार उत्तरकाल में प्राग्वाट अन्वय को लेकर भी इस अन्वय का संगठन हुआ है।

इसके अतिरिक्त, अनेक तथ्यों से ज्ञात होता है कि इस अन्वय के निर्माण में मुख्यतः परमार वंश का भी बड़ा योगदान है। यदि यह कहा जाय कि प्राग्वाट अन्वय का विकास भी परमार वंश से ही हुआ है, तो भी कोई आपत्ति नहीं। प्राग्वाट इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि इसका संगठन परमार क्षत्रियों के अनेक उपभेदों को लेकर हुआ था। अनेक क्षत्रिय एवं ब्राह्मण कुलों में से उन्हें प्राग्वाट अन्वय में दीक्षित किया गया है। इसलिये यहाँ यह विचारणीय हो जाता है कि ये क्षत्रिय कुल पहले किस अन्वय को मानने वाले थे। प्रमाणों के प्रकाश में विचार करने पर ऐसा लगता है कि वे परमार अन्वय के क्षत्रिय होने चाहिये। इसकी पुष्टि अनेक पट्टावलियों से भी होती है।

'गुजरातनो नाथ' में कीर्तिदेव नामक युवक का जिक्र आया है। यह पाटन महामात्य 'मुंजाल प्राग्वाट' का पुत्र था। इसे उसके मामा सज्जन मेहता ने उसकी रक्षा के अभिप्राय से उन दिनों यात्रा पर आये हुए अवंती के सेनापति 'उबक परमार' को सौंप दिया था। इस घटना से प्राग्वाट अन्वय के विकास में परमारों के योगदान का पता लगता है।

स्व० पं० झम्मनलाल जी तर्कतीर्थ ने 'लमेचू दि० जैन समाज का इतिहास' के पृष्ठ ३८ पर सूरीपुर (उ० प्र०) से प्राप्त पट्टावली के आधार से लिखा है :

"प्रमार (परमार) वंश में राजा विक्रम हुए। उनका संवत् चालू है। उनके नाती (पोता) गुप्तिगुप्त मुनि थे। जिन्होंने सहस्र परवार थापे। गुप्तिगुप्त परमार जाति क्षत्रिय वंश में विक्रम संवत् २६ में हुए हैं। यह चन्द्रगुप्त राजा का वंश होता है—यह भी यदुवंश ही है।"

पूर्व उल्लिखित चारित्रसार के परिशिष्ट में नागौर के शास्त्रभंडार से प्राप्त एक पट्टावली मुद्रित है। इसमें पट्टधर आचार्य गुप्तिगुप्त के विषय में लिखा है—श्री मिती फाल्गुन सुवल १४ विक्रम संवत् २६, जाति राजपूत पंवारोत्पन्न श्री गुप्तिगुप्त हुए। इनका गृहस्थावस्थाकाल २२ वर्ष, दीक्षाकाल २४ वर्ष, पट्टस्थकाल ९ वर्ष ६ माह २५ दिन एवं विरह काल ५ दिन रहा। इनकी सपूर्ण आयु ६५ वर्ष ७ दिन की थी।

डा० हरीन्द्रभूषणजी के विशेष अनुरोध पर पं० मूलचंद्र शास्त्री उज्जैन ने मुझे एक पट्टावली भेजी थी। उसमें मुनिजन और भट्टारकों की दिगंबर पट्टावली है। उसमें सर्वप्रथम भद्रबाहु द्वितीय (ब्राह्मण) का विशेष परिचय देने के बाद क्रमांक २ पर पट्टधर आचार्य गुप्तिगुप्त की जाति परवार कहते हुए उपरोक्त नागौरी पट्टावली के अनुसार ही परिचय दिया गया है।

उपरोक्त पट्टावलियों में से पहली और दूसरी पट्टावली में गुप्तिगुप्त को प्रमार या पंवार स्वीकार किया है। पहली पट्टावली में उनके द्वारा 'परवार अन्वय' में एक हजार घर दीक्षित करने की बात कही गई है। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने स्वयं 'परवार' अन्वय में दीक्षित होने के बाद मुनि अवस्था में अन्य कुटुंबों के श्रावक कुलों को इस अन्वय में दीक्षित किया होगा। इस घटना से ऐसा लगता है कि अधिकतर ये कुटुंब परमार क्षत्रिय ही होने चाहिये क्योंकि इनके गुरु परमार वंश के ही थे। यद्यपि प्राग्वाट इतिहास का बारीकी से अध्ययन करने पर यही सिद्ध होता है कि प्राग्वाट अन्वय का संघटन अनेक ब्राह्मण कुलों, सोलंकी कुलों, चौहान कुलों, गहलोत कुलों, परमार कुलों और बोहरा कुलों से किया गया है, पर मूल में ये सब क्षत्रिय कुल परमार राजपूत ही थे। उनका अलग-अलग नामकरण बाद में हुआ है।

इस समय परवारों के अनेक कुटुंब 'पांडे' कहलाते हैं। बहुत संभव है कि वे ब्राह्मण कुलों से 'पौरपाट' अन्वय में दीक्षित हुए हों। पट्टधर आचार्यों में भी अनेक आचार्य ब्राह्मण रहे हैं। स्वयं गौतम गणधर भी ब्राह्मण कुल के थे। नागौरा पट्टावली में भद्रबाहु २ को ब्राह्मण कहा ही गया है। इसलिये संभव है कि उनके साथ अनेक ब्राह्मण कुल जैनधर्म में दीक्षित हुए हों।

जबलपुर, म० प्र० से प्रकाशित होने वाले 'परवार बन्धु' मासिक (अब बन्द) के मई-जून, १९४० के अंक में स्व० श्री नाथू राम जी प्रेमी ने परमार क्षत्रियों से परवार जाति के विकास की बात का निषेध करते हुए कहा है कि 'परमार' से 'पंवार' तो ठीक अपभ्रंश है, पर यह 'परवार' नहीं हो सकता। इसलिये 'परवार' शुद्ध शब्द 'पल्लीवाल, ओसवाल, जैसवाल'' जैसा ही है और उसमें नगर एवं स्थान का संकेत सम्मिलित है। यदि प्रेमी जी ने इस तथ्य पर अनुसंधान किया होता कि कई शताब्दियों से प्रचलित 'परवार अन्वय' पहले किस नाम से संबोधित किया जाता था, 'परवार' शब्द किस मूल शब्द का अपभ्रष्ट रूप है, तो शायद उनका यह मंतव्य कुछ भिन्न ही होता।

यह तो हम मानते ही हैं कि इस अन्वय का मूल नाम 'परवार' नहीं था। प्रेमीजी भी यह मानते हैं। उन्होंने अतिशय क्षेत्र पचराई के शांतिनाथ के मन्दिर के १०६५ ई० के शिलालेख देने के बाद 'पौरपाट' या 'पौरपट्ट' अन्वय के तीन लेख और अपने लेख में दिये हैं। अन्त में उन्होंने लिखा है, 'इससे स्पष्ट मालूम होता है कि इन लेखों में 'पौरपट्ट या पौरपाट' शब्द 'परवारों' के लिये ही आया है। इसकी पुष्टि में उन्होंने और भी प्रमाण दिये हैं। प्रेमीजी के इन प्रमाणों से यह तो स्पष्ट होता ही है कि इस अन्वय का मूल नाम 'परवार' न होकर 'पौरपाट' या 'पौरपट्ट' ही था। अतः यह उनकी कल्पना ही है कि परमार क्षत्रिय कुलों से परवार अन्वय का विकास नहीं हुआ। यह सही है कि किसी अन्वय को नया नाम देते समय जैसे ग्राम, नगर आदि का ख्याल रखा जाता है, वैसे ही उस प्रदेश का भी ख्याल रखा होगा जिसमें 'प्राग्वाट' अन्वय का संगठन हुआ था।

'प्राग्वाट इतिहास' के अनुसार, श्रीमालपुर के पूर्ववाट (पूर्वभाग) में जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बसते थे, उनमें से ९०,००० स्त्री-पुरुषों ने जैनधर्म की दीक्षा अंगीकार की। वे नगर में पूर्वभाग में रहते थे, अतः उन्हें 'प्राग्वाट' नाम से प्रसिद्ध किया गया। नेमिचन्द्रसूरि कृत महावीर चरित्र की प्रशस्ति में भी इस अन्वय की प्रसिद्धि का यही कारण बताया गया है।

इसके विपर्यास में, श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का मत है कि 'पुर' शब्द से 'पुरवाड' और 'पौरवाड' शब्दों की उत्पत्ति हुई है। 'पुरा शब्द मेवाड़ के 'पुर' जिले का सूचक है। मेवाड़ के लिये प्राग्वाट शब्द भी लिखा मिलता है। उनके इस मत से तो ऐसा लगता है कि मेवाड़ में 'पुर' नामक कोई जिला (मंडल) था। इसलिये या तो इस नाम को आधार बनाकर या मेवाड़ के अमुक भाग के 'प्राग्वाट' नाम के आधार पर उस क्षेत्र या प्रदेश में बसने

वाले ब्राह्मण-क्षत्रिय कुलों को मिला कर इस पौरवाड़ (प्राग्वाट) अन्वय का संगठन हुआ है। इस अन्वय के दो नाम होने का कारण भी यही प्रतीत होता है।

इस विवेचन से निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं :

(i) प्राग्वाट या पौरवाड़ का संगठन जिन ब्राह्मण-क्षत्रियों के कुलों को मिला कर हुआ है, उनमें परमार क्षत्रियों का प्रमुख स्थान था।

(ii) प्राचीन पट्टावलियों में पट्टधर आचार्य गुप्तिगुप्त के 'पवार या प्रमार' अन्वय का अर्थ पौरपाट (परवार) अन्वय ही है। उज्जैन से प्राप्त पट्टावली तो उन्हें स्पष्टतः 'परवार' बताती है।

(iii) सूरीपुर पट्टावली के अनुसार, इन्हीं पट्टधर आचार्य गुप्तिगुप्त के द्वारा एक हजार परवार कुटुम्बों की स्थापना का उल्लेख यथार्थ है।

कुछ पुरातत्त्वज्ञ इन पट्टावलियों की प्रामाणिकता में शंका करते हैं। यह समीचीन नहीं है। प्राचीन आचार्य वीतराग होते थे, वे अपने कुल और जाति के विषय में मौन रहते थे। प्रयोजनवश ही उन्होंने प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में वर्ण, कुल एवं वंशों का उल्लेख किया है। जब श्वेताम्बरों ने अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता के लिए इन अन्वयों के प्रति पक्षपाती रुख अपनाया, तब भट्टारकों ने भी पुरानी अनुभूतियों के आधार पर पट्टावलियों का संकलन प्रारम्भ किया। इनमें उल्लिखित जातियों का मूल ये अनुश्रुतियाँ ही हैं। इन्हें अप्रामाणिक मानना भूल होगी। पूर्व-उद्धरित नागौर पट्टावली में पट्टधर गुप्तिगुप्त के अतिरिक्त क्रमांक ४, ३३, ७३ व ७८ पर पौरवाड़ जातीय चार पट्टधरों का विवरण दिया है। यही हमारे गौरवपूर्ण इतिहास के स्रोत हैं। न तो सीकर और न नागौर ही बुन्देलखण्ड में हैं। पूर्व-उल्लिखित पट्टावलियों का संकलन भी बुन्देलखण्ड के भट्टारक या आचार्य ने नहीं किया है। फिर भी, उनमें आचार्यों के जाति एवं अन्वय का उल्लेख है। इसी से इन पट्टावलियों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इन पट्टावलियों का मिलान शुभचन्द्र १ की गुर्वावली से भी होता है—एकाध क्रम में कुछ अन्तर है।

(iv) पौरपाट या पौरवाड़ अन्वय के श्रावक कुल मूल में बुन्देलखण्ड के निवासी न होकर मेवाड़ और गुजरात से परिस्थितिवश इधर आकर चन्देरी को केन्द्र बनाकर बसते गये। इस अन्वय के श्रावकों का जंगली पहाड़ी या ग्रामीण क्षेत्रों में नहीं पाये जाने का भी यही कारण है कि वे इस क्षेत्र के मूल निवासी नहीं हैं।

(v) नन्दिसंघ बलात्कार गण सरस्वती गच्छ की 'महावीर की आचार्य परम्परा' ग्रन्थ में मुद्रित पट्टावली में गुप्तिगुप्त के तीन नाम बताये हैं—अर्हद्बलि, विशाखाचार्य और गुप्तिगुप्त १ इन्होंने निम्न चार संघ स्थापित किये :

१. नन्दि संघ	नन्दिवृक्षमूल से वर्षा योग	माघनन्दि
२. वृषभ संघ	तृण तल वर्षा योग	जिनसेन वृषभ
३. सिंह संघ	सिंह गुफा में वर्षा योग	—
४. देव संघ	देवदत्ता वेश्या की नगरी में वर्ण योग	—

नंदिसंघ में ही आचार्य धरसेन का क्रम आता है। वस्तुतः गुप्तिगुप्त ने ही धरसेन और पुष्पदन्त-भूतबलि संयोग कराकर श्रुतरक्षा का आधार बनाया।

३. पौरपाट (परवार) अन्वय के संगठन का स्थान

पूर्वोक्त ऐतिहासिक तथ्य प्रकट करते हैं कि इस अन्वय का संगठन प्रदेश की अपेक्षा 'प्राग्वाट' प्रदेश में तथा नामान्तर 'पौरवाड़ या पौरपाट' को कारण इस प्रदेश के अन्तर्गत पुरमण्डल में हुआ है। अतः यह आवश्यक है कि प्राग्वाट प्रदेश और उसके पुरमण्डल स्थानों के विषय में ऊहापोह करें।

'प्राग्वाट इतिहास' में लोढा ने लिखा है कि वर्तमान सिरोही राज्य, पालनपुर राज्य का उत्तर-पश्चिम भाग, गौड़वाड (गिरिवाड़) तथा मेरपाट प्रदेश का कुम्भलगढ और पुरमण्डल तक का भाग कभी प्राग्वाट प्रदेश के नाम से ख्यात रहा है। यह प्रदेश प्राग्वाट क्यों कहलाया, इस प्रश्न पर आज तक विचार नहीं किया गया। यदि किसी ने विचार किया भी हो, तो वह प्रकाश में नहीं आया। उनके अनुसार, 'उक्त प्राग्वाट प्रदेश अर्बुदांचल का ठीक पूर्वभाग अथवा पूर्ववाट समझना चाहिए। श्रीमालपुर के पूर्ववाट में बसने के कारण जैसे वहाँ के जैन बनने वाले कुल अपने वाट के अध्यक्ष का नेतृत्व स्वीकार करके उनके 'प्राग्वाट' पद नाम के अनुकूल सभी प्राग्वाट कहलाये, इसी दृष्टि से आचार्यश्री ने भी पद्मावती में अर्बल प्रदेश के पूर्ववाट क्षेत्र की जो पाट नगरी थी, उसमें जैन बनने वाले कुलों को भी प्राग्वाट नाम ही दिया है। वैसे अर्थ में भी अन्तर नहीं पड़ता। पूर्ववाड़ का संस्कृत रूप पूर्ववाट है। और पूर्ववाट का' 'प्राच्यां वाटो इति प्राग्वाट' पर्यायवाची शब्द ही तो है। पद्मावती नरेश की अधीश्वरता के कारण तथा पद्मावती में जैन बने बृहत् प्राग्वाट श्रावकवर्ग की प्रभावशीलता के कारण तथा अक्षुण्ण वृद्धिगत प्राग्वाट परम्परा के कारण यह प्रदेश ही पूर्ववाट से प्राग्वाट नामधारी हुआ हो।

उपरोक्त अनुमानों से यह आशय ग्रहण करना समुचित लगता है कि अर्वली पर्वत का पूर्वभाग (जिसे मैंने पूर्ववाट लिखा है) उन वर्षों में अधिक प्रसिद्धि में आया। तब उसका कोई नाम अवश्य ही दिया गया होगा। प्राग्वाट श्रावक वर्ग के पीछे ही उक्त प्रदेश सम्भवतः प्राग्वाट कहलाया हो। यदि यह नहीं भी माना जाय, तो भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि प्राग्वाट श्रावक वर्ग की उत्पत्ति और मूल विकास के कारणों का तथा धीरे-धीरे उनकी विस्तारित परम्परा की प्रभावशीलता तथा प्रमुखता का इस प्रदेश के प्राग्वाट नामकरण पर अत्यधिक प्रभाव रहा है। आज भी प्राग्वाट जाति अधिकांशतः इस भाग में बसती है और गुर्जर, सौराष्ट्र, से और मालवा तथा संयुक्त प्रदेश में इसकी जो शाखायें ग्रामों में थोड़े कुछ अन्तर से बसती है, वे इसी भूभाग से गई हुई है। ऐसा वे भी मानती है।

लोढा ने स्वयं के उपरोक्त विचारों के साथ अपने ग्रन्थ के पादटिप्पण में अन्य पुरातत्त्वविदों के भी निम्न विचार दिये हैं :

(१) वर्तमान में गौड़वाड़, सिरोही राज्य के भाग का नाम कभी प्राग्वाट प्रदेश रहा था। (स्व० अगरचन्द नाहटा)।

(२) अर्बुद पर्वत से लेकर गौड़वाड़ तक के लम्बे प्रान्त का नाम पहले प्राग्वाट था (मुनिश्री जिनविजय)।

इससे उनके आश्रय में जाकर मैंने भी उनसे चर्चा की है और उन्होंने मुझसे भी अपना यही मत व्यक्त किया।

इस प्रसंग में हम गौरीशंकर हीराचन्द ओझाजी का मत पहले ही व्यक्त कर चुके हैं। उन्होंने, इसके अतिरिक्त अपने 'राजपूताना का इतिहास–१' ग्रन्थ में लिखा है," करमवेल (जबलपुर के निकट) के एक विशाल लेख में प्रसंगवशात् मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा हंसपाल, वैरिसिंह और विजयसिंह का वर्णन आया है जिसमें उनको प्राग्वाट का राजा कहा है। अतएव प्राग्वाट मेवाड़ का ही नाम होना चाहिये। संस्कृत शिलालेखों तथा पुस्तकों में 'मेवाड़' महाजनों के लिये 'प्राग्वाट' नाम का प्रयोग मिलता है और वे लोग अपना निवास मेवाड़ के 'पुर' नामक कस्बे से बताते हैं। इससे सम्भव है कि प्राग्वाट देश के नाम पर वे अपने को प्राग्वाट वंशी कहते रहे हों।"

"प्राग्वाट इतिहास–१" में श्रीमालपुर में बसनेवाली जातियों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस नगरी में बसनेवाले जो 'धनोत्कटा' थे, वे धनोत्कटा श्रावक कहलाये। उनमें जो कम श्रीमन्त थे, वे श्रीमाल श्रावक कहलाये और जो पूर्ववाट में रहते थे, वे प्राग्वाट श्रावक कहलाये।

विक्रम १२३६ (११७९ ई०) में नेमिचन्द्र सूरि कृत "महावीर चरित्र' प्रशस्ति में एक श्लोक आया है जिसका निम्न अर्थ है :

"पूर्व दिशा के उस भाग में जो प्रथम पुरुष अध्यक्ष के निमित्त बना, उसी नाम (प्राग्वाट) से एक स्थल बनाया गया। उत्तरकाल में उसकी जो सन्तान हुई, वे लक्ष्मीसम्पन्न थीं और वे 'प्राग्वाट' नाम से प्रसिद्ध हुईं।"

'जातिभास्कर' (वेंकटेश्वर प्रिन्टिंग प्रेस, बम्बई) के पृष्ठ २६३ पर लिखा है," पुरावाल गुजरात के पोरवा (पोरबन्दर) के पास होने से ये **पुरावाल** कहकर प्रसिद्ध हुए हैं। इस समय ललितपुर, झाँसी, कानपुर, आगरा, हमीरपुर, बांदा जिलों में इस जाति के बहुत से लोग रहते हैं। वे यज्ञोपवीत धारण नहीं करते। श्रीमाली ब्राह्मण इनका पौरोहित्य करते हैं। अहमदाबाद के विख्यात धनी श्री भायूभाई पुरोवाल वंशोत्पन्न हैं।

डा० विलास ए० संगवे ने अपने पी० एच० डी० शोधप्रबन्ध 'सामाजिक सर्वेक्षण' में किस अन्वय का किस नगर आदि में संगठन हुआ, इसकी सूची दी है। उसमें बताया है कि 'परवार' अन्वय का संगठन **'पारानगर'** में और पौरवार अन्वय का संगठन **पोरवा** नगर में हुआ है।

उपरोक्त दस उद्धरणों में से कई तो प्राग्वाट प्रदेश की सीमा में **पुरमण्डल** को सम्मिलित करते हैं और कई नहीं भी। इसमें एक मत यह भी है कि गुजरात के पोरबन्दर के समीप जो 'पोरवा' गाँव है, उसको माध्यम बनाकर इस अन्वय का गठन हुआ है। अन्तिम मत यह है कि पारानगर में परवार अन्वय का संगठन हुआ। इन चार मतों पर दृष्टि डालने से यह तथ्य फलित होता है कि **प्राग्वाट प्रदेश से लेकर पोरबन्दर तक का प्रदेश इस अन्वय के संगठन का स्थान होना चाहिए।** पोरबन्दर नाम भी समुद्री तट के यातायात के साधनरूप से प्रयुक्त होने के कारण पड़ा प्रतीत होता है। यह अवश्य है कि प्राग्वाट प्रदेश की मुख्यता होने से सर्वप्रथम इस अन्वय का संगठन 'प्राग्वाट' नाम से ही हुआ होगा। साथ ही, पुरमण्डल में रहने वाले क्षत्रिय कुलों की विशेषता होने से प्राग्वाट अन्वय को **'पौरपाट'** या **'पौरवाड'** नाम से भी सम्बोधित करते होंगे। बाद में प्राग्वाट नाम लुप्त हो गया और **पौरवाड़** नाम प्रसिद्धि में आया होगा।

किन्तु इस अन्वय के संगठन का समय प्रथम श्रुतकेवली भद्रबाहु का काल होना चाहिये क्योंकि तबतक संघ भेद न होने से सभी एक ही आम्नाय के मानने वाले होंगे और प्राग्वाट कुलों में कोई भेद नहीं रहा होगा। परन्तु भद्र-बाहु के काल में संघभेद हो जाने के कारण जो पुराने आम्नाय के अनुसार चले, वे मूलसंघी कहलाये और जिन्होंने वस्त्र-पात्र को स्वीकार किया, वे श्वेतपट कहलाये। दिगम्बर आम्नाय को माननेवाले ही मूलसंघी हैं।

इस प्रकार प्राग्वाट अन्वय के संगठन का स्थान निर्णीत होने के बाद यह अन्वय दो भागों में कब विभक्त हुआ, इसके कारण का भी पता लग जाता है। यह निश्चित है कि आचार्य भद्रबाहु के काल में ही यह विभक्त हुआ, किन्तु मूलसंघ का सेहरा केवल पौरवाट अन्वय के सिर पर बँधा, यह हम नहीं कह सकते। फिर भी, दूसरे संघ का नाम श्वेतपट संघ हुआ। उत्तराध्ययन में केशी-गौतम सम्वाद की जो कथा आती है, उसका प्रयोजन यही प्रतीत होता है कि श्वेतपट संघ अपने को पार्श्वनाथ-संतानीय घोषित कर प्राचीन कहे। परन्तु यह श्वेताम्बर शास्त्रों से ही स्पष्ट है कि सभी तीर्थंकर वस्त्रालंकार त्याग मुनिधर्म में दीक्षित हुए। ऐसी स्थिति में अपने अनुयायी शिष्यों को उन्होंने अंशतः वस्त्र रखकर मुनिधर्म में दीक्षित होने की स्वीकृति कैसे दी होगी क्योंकि वस्त्र भी तो राग का प्रतीक है और निर्वाण में बाधक है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मूल श्रीसंघ विभक्त होने के बाद प्राग्वाट अन्वय भी दो भागों में विभक्त हो गया—मूलसंघ तो पूर्ववत् दिगम्बर ही रहा, विभक्त हुए परिवार श्वेतपट कहलाये बहुतों ने कालान्तर में अजैन सम्प्रदाय को भी स्वीकार किया। ऐसे बहुतेरे पौरवाड़ परिवार हैं जिन्होंने जैनधर्म को दूर से ही नमस्कार कर लिया है।

वर्तमान में प्राग्वाट अन्वय के नौ भेद पाये जाते हैं: (१) पौरपाट या पौरपट्ट अन्वय, (२) सौरठिया पौरवाल, (३) कपोला पौरवाल, (४) पद्मावती पौरवाल, (५) गुर्जर पौरवाल, (६) जांगड़ा पौरवाड़, (७) मेवाड़ी और मलकापुरी पोरवाड़, (८) मारवाड़ी पौरवाल और (९) पुरवार। यहां पौरपाट या पौरपट्ट अन्वय मुख्यतः अनुसंधेय है। यह निश्चित

है कि प्राग्वाट अन्वय ही 'पौरवाड़' अन्वय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसे पौरपट्ट या पौरपाट क्यों कहा जाता है। इस प्रश्न का सम्यक् समाधान अपेक्षित है।

प्राग्वाट के स्थान पर पौरवाड़ कहने का तो यह कारण है कि प्राग्वाट प्रदेश के अन्तर्गत 'पुरमण्डल' की मुख्यता से या 'पोरबन्दर' के 'पोरवा' नगर की मुख्यता से इस अन्वय को 'पौर' शब्द से सम्बोधित किया गया है। इस अन्वय के 'पौर' शब्द के साथ 'वाड़' शब्द लगाने के अनेक कारण हो सकते हैं क्योंकि 'वाड़' शब्द का एक अर्थ 'बाट' भी होता है, दूसरे बारी-कांटे आदि से की जाने वाली सुरक्षा-परिधि को भी 'वाड़' कहा जाता है। तीसरा अर्थ परिधि के भीतर का स्थान भी होता है। इनमें से कोई भी अर्थ लिया जा सकता है। इससे **पौरवाड़** शब्द का स्वयं ही यह अर्थ फलित होता है कि प्राग्वाट प्रदेश के अन्तर्गत 'पुरमण्डल' या 'पोरवा' नगर की सीमा के कारण इस अन्वय को 'पौरवाड़' या 'पौरपाट' कहा गया है।

जो लोग यह मानते हैं कि श्रीमाल के पूर्व में निवास करनेवाले जो कुटुम्ब जैनधर्म में दीक्षित हुए, उन्हें "पौर-वाड़" कहा जाता है, उन्हें ओझाजी ठीक नहीं मानते। इसपर उन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रकाश डाला है। इससे हम जानते हैं कि **प्राग्वाट,** पौरवाड़ कैसे हुए? किन्तु 'परवार' अन्वय को **पौरपाट या पौरपट्ट** कैसे कहा गया, यह विचारणीय है।

४. पौरपाट या पौरपट्ट नामकरण का आधार

यह तो सुनिश्चित है कि व्याकरणानुसार, 'वाड़' शब्द से 'वाट' तो बन जाता है, परन्तु 'पाट' शब्द की निष्पत्ति संगत नहीं है। इसलिये 'पौरपाट' या 'पौरपट्ट' शब्द दूसरे अर्थ में निष्पन्न होना चाहिये। यह तो हमने कहा ही है कि वर्तमान परवार अन्वय को प्रतिमा लेखों आदि में 'पौरपाट' या 'पौरपट्ट' नाम से उल्लिखित किया गया है। प्रमाणस्वरूप, 'साढोरा' नगर के जिनमन्दिर को एक प्रतिमा (पार्श्वनाथ) के पादपीठ में अंकित किये गये एक लेख को हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं:

संवत् ६१० वर्षे माघ सुदि २२ मूलसंघे पौरपाटान्वये पाटनपुर संघई··· ।

यह मूर्ति इस समय भी साढोरा के मन्दिर में मूलवेदी के बगल के कमरे में एक वेदी पर विराजमान है। पुराने समय में साढोरा नगर दिल्ली से गुजरात और महाराष्ट्र जानेवाले मार्ग पर बसा हुआ है। यह उन दिनों सेनाओं का पड़ाव-स्थल रहता था। यहाँ की टकसाल से 'साढोरा' सिक्का चलाया जाता है। यह सम्भव है कि गुजरात के पाटन से आनेवाले सौदागरों ने इस जिनबिम्ब को लाकर यहाँ विराजमान किया या जाते समय किसी कारण छूट गया हो।

इस अन्वय का दूसरा नाम पौरपट्ट भी रहा है। वस्तुतः **पौरपट्ट** से ही **पौरपाट** निष्पन्न हुआ है। यह व्याकरण सम्मत भी है। यद्यपि इसका पोषक हमें बहुत पुराना लेख तो नहीं मिला है, फिर भी मूर्तिलेखों आदि में ये दोनों शब्द चलते रहे हैं जैसा कि निम्न लेख से स्पष्ट है:

सम्वत् १५१२ चन्देरी मण्डलाचार्यान्वये भ० श्री देवेन्द्र कीर्तिदेवाः त्रिभुवनकीर्तिदेवा पौरपट्टान्वये अष्टासखे···· ।

इन लेखों में परवार अन्वय को या तो 'पौरपाट' कहा गया है या 'पौरपट्ट' कहा गया है। यद्यपि यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि इन दोनों से परवार अन्वय का अर्थ हो कैसे समझा जावे? इसके समाधानस्वरूप हम यहाँ ऐसा प्रतिमालेख उपस्थित कर रहे हैं जिनसे यह निष्कर्ष समझने में सरलता होगी:

सम्वत् १५०३ वर्षे माघ सुदी ९ बुधौ (धे) मूलसंघे भट्टारक श्री पद्मनन्दिदेव शिष्य देवेन्द्रकीर्ति पौरपाट अष्टसखा आम्नाय सं० थणऊ भार्या पु तत्पुत्र सं० कालि भार्या आमिण्डि तत्पुत्र सं० जैसिंघ भार्या महीसिरि तत्पुत्र सं०····।

इससे स्पष्ट है कि जिसे हम पहले 'पौरपाट, पौरपट्ट' कह आये हैं, वह परवार को छोड़कर अन्य अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि अठसखा, चौसखा आदि भेद इसी अन्वय में पाये जाते हैं। अब यह विचारणीय है कि इस अन्वय को 'पौरवाड़' या 'पुरवार' न कहकर 'पौरपाट या पौरपट्ट' क्यों कहा गया है।

श्री लोढा जी ने अपने ग्रन्थ में यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'पौरपाट या पौरपट्ट' (परवार) अन्वय को मानने वाले मात्र दिगम्बर जैन ही पाये जाते हैं। इस उल्लेख से यह जान पड़ता है कि इस अन्वय के नामकरण में यह ध्यान रखा गया है कि उससे दिगम्बरत्व की मूलसंघ परम्परा का भी बोध हो !

'पौरपाट या पौरपट्ट' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है : पौर + पाट या पट्ट। पौर शब्द पुर शब्द से भी बना हो सकता है, पोरवा से भी बना हो सकता है तथा पुरा शब्द से भी बना हो सकता है। 'पुर' या पोरवा' स्थान विशेष को सूचित करता है और 'पुरा' शब्द प्राचीनता सूचक है। यह अन्वय के संगठन कर्त्ताओं ने इसके नामकरण में इन दोनों ही बातों का ध्यान रखा है। संगवे के उल्लेख से यह तो नहीं मालूम पड़ता कि इस अन्वय का मूल स्थान धारानगर कहाँ है। पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह तो पोरवा नगर है या पुरमण्डल ही है।

यहाँ यह प्रश्न किया जाता है कि बुन्देलखण्ड में बसा हुआ यह अन्वय प्राग्वाट और उससे लगे हुए पोरबन्दर तक के प्रदेश का मूल निवासी है, यह कैसे माना जाय ? इसका एक समाधान तो यही है कि जब अन्वय का मूल स्थान ये ही क्षेत्र हैं, तो उसके लोग अन्यत्र कहाँ से आ सकते हैं ? दूसरे, भ० देवेन्द्र कीर्ति (जिन्होंने बुन्देलखण्ड में परवार भट्टारक पद स्थापित किया) मूल में गुजरात के निवासी एवं परवार थे। इतना ही उन्होंने स्वयं सूरत के पास गान्धार में मूलसंघ कुंदकुंद आम्नाय का भट्टारकपट्ट स्थापित किया, स्वयं उसके प्रथम भट्टारक बने और वहाँ अपने स्थान पर एक परवार बालक विद्यानन्दि को भट्टारक के रूप में स्थापित कर स्वयं चंदेरी में आकर परवार भट्टारक पट्ट की स्थापना कर स्वयं उसके प्रथम भट्टारक बने।

गुजरात और उसके आस-पास के प्राग्वाट प्रदेश का बुन्देलखण्ड के साथ निकट का सम्बन्ध रहा है। इसका उदाहरण बडोह का जिनमन्दिर है। वहाँ प्राग्वाट अन्वय के अनेक गर्भगृहों में एक वासल्ल गोत्रीय प्राग्वाट-परिवार का भी है। इसके मध्यवर्ती जिनालय में भ० शान्तिनाथ की एक खड्गासन प्रतिमा है। यही एक ऐसा मन्दिर है जो यह प्रख्यापित करता है कि प्राग्वाट अन्वय के श्रावक कुल ही उत्तर काल में 'परवार' नाम से प्रसिद्ध हुए।

सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में हुए श्री जिन तारण-तरण ने १४ ग्रन्थों में से एक 'नाममाला' भी रचा है। इसमें ऐसे पुरुषों के भी नाम आये हैं जो श्री तारण-तरण से सम्पर्क साधकर गुजरात-प्राग्वाट प्रदेश से चलकर बुन्देलखण्ड में आये और अनेक यहीं बस गये। इसी सम्बन्ध में 'जाति भास्कर' का उद्धरण पहले ही दिया जा चुका है। इसी प्रकार, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से १९६२ में प्रकाशित शाह बखतराम की ऐतिहासिक पुस्तक 'बुद्धि-विलास' में पृष्ठ ८६ पर परवार अन्वय को 'पुरवार' लिखा है।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि परवार अन्वय के श्रावक कुल पोरबन्दर तक के प्राग्वाट-मेवाड़ प्रदेश के मूलवासी हैं और वे प्राग्वाट या पौरवाड़ ही है। फिर भी, उनको पौरवाड़ या पुरवार न कहकर परवार, पौरपाट, पौरपट्ट के नाम से क्यों अभिहित किया गया ? उसके पीछे कोई हेतु तो होना ही चाहिये। मेरे विचार से इसका कारण सांस्कृतिक ही प्रतीत होता है। श्वेताम्बर साधुओं के राज्याश्रय से श्वेताम्बर श्रावक कुलों का प्रभाव बढ़ने लगा और मूल दिगम्बर श्रावक कुलों का प्रभाव घटने लगा। यहीं नहीं, दिगम्बरों का अपमान भी होने लगा, तब उन्हें विवश होकर अपनी आम्नाय की रक्षा के लिये धीरे-धीरे वहाँ से निकलकर बुन्देलखण्ड में शरण लेने के लिये बाध्य होना पड़ा। इस स्थिति में जो दिगम्बर कुल गुजरात एवं प्राग्वाट में शेष रह गये होंगे, उन्होंने श्वेताम्बर परम्परा स्वीकार कर ली होगी। परवार अन्वय की लोक-प्रसिद्ध सात खाँपें हैं, उनमें सोरठिया और जाँगड़ कुलों का यही हाल हुआ होगा, यह निश्चित है। यही कारण है कि इसके नामकरण में प्राग्वाट या पौरवाड़ शब्द का प्रयोग न कर इसे 'पौरपट्ट या पौरपाट' कहा गया है। इन पौरपाटों ने बुन्देलखण्ड में भी अपना आम्नाय सुरक्षित रखा क्योंकि अबतक प्रास मेरी जानकारी के प्रतिमा लेखों में कोई भी ऐसा नहीं मिला है जिसमें इस कुल श्रावकों ने मूलसंघ कुंदकुंद आम्नाय के अन्तर्गत बलात्कारगण और सरस्वती गच्छ को छोड़कर अन्य आम्नाय ग्रहण किया हो। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह समूचा

पौरपाट अन्वय सदा से अपने संगठन के मूल काल से 'मूलसंघ कुंदकुंद आम्नाय को मानने वाला रहा है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि इस अन्वय ने ही इस आम्नाय को जीवित रखा है। इसीलिये सात-आठ सौ वर्ष पूर्व के चन्द्र-कीर्ति नामक मुनि या भट्टारक ने मूलसंघ का उपहास किया है। ये १२-१३वीं सदी में हुए हैं और सम्भवतः काष्ठासंघी

मूल गया पाताल, मूल न मले न दीसे।
मूलहि सद् व्रत भंग, किम उत्तम होसे॥
मूल पिठां परवार, तेने सब काढो।
श्रावक यतिवर धर्म, तेह किम आवी आडो॥
सकल शास्त्र लिखतां, यह संघ दीसे नहीं।
चन्द्रकीर्ति एवं वदति, मोर पीछ काढे नहीं॥

थे। उसकी समझ से उन्हें मूलसंघ कहीं दिखाई नहीं दिया, वह पाताल में चला गया है। यह उत्तम कैसे हो सकता है जबकि इसमें भी व्रत-क्रिया कहीं भी दिखाई नहीं देती। मूलसंघ की पीठ (आश्रयदाता) परवार अन्वय ही है, उसके द्वारा ही मूलसंघ की यह सब खुराफात चालू की गई है। यह श्रावकधर्म और यतिधर्म के विरोध में खड़ा कैसे हो सकता है।

वस्तुतः यह एक ऐसा उल्लेख है जिससे स्पष्ट है कि परवार अन्वय के लिये जो 'पौरपाट, पौरपट्ट' कहा गया है, वह सार्थक तो है ही, साथ ही ऐतिहासिक भी है। इस नाम से हमारी मूलसंघ की अनुयायिता की विशेषता का भान होता है जो लगभग दो हजार वर्ष पूर्व से चली आ रही है।

५. परवारों के भेद-प्रभेद

कविवर बखतराम कृत 'बुद्धि विलास' में परवारों (पुरवारों) के सात भेद बताये हैं—१. अठसरवा, २. चौसखा, ३. सेडसरहा (छैसखा), ४. दो सखा, ५. सोरठिया, ६. गांगड़ और ७. पद्मावती। प्राग्वाट इतिहास की भूमिका में श्री नाहटा ने कुछ काट-छाँट के बाद वैश्यों की चौरासी जातियों का नाम निर्देश करते हुए एक सूची दी है जिसमें परवार अन्वय के गांगड़ को छोड़कर बाकी उपरोक्त छह नाम मिले। उस सूची में एक भेद का नाम कुंडलपुरी भी है। यदि इसे 'गांगड़' के स्थान पर परवार अन्वय में गिन लिया जावे, यहाँ भी सात भेद हो जाते हैं। कोल्हापुर के डा० संगवे ने 'जैन सम्प्रदाय—एक सामाजिक सर्वेक्षण' नामक पुस्तक में पी० डी० जैन, प्रो० एच० एच० विल्सन तथा अन्य-कुल मिलाकर परवार के भेदों को चार सूचियाँ प्रस्तुत की हैं। पी० डी० जैन के अनुसार, परवार अन्वय के पाँच भेद हैं—(१) परवार (२) पद्मावती पुरवाल (३) सोरठिया (४) दसहा और (५) माली परवार। प्रो० विल्सन की सूची में परवार, सोरठिया और गंगाड नामक तीन नाम ही हैं। इसमें एक जाति का नाम 'बहरिया' दिया है। परवार अन्वय के १४४ या १४५ मूलों मे एक मूल का नाम बहुरिया है जो सम्भवतः बहरिया अन्वय के अर्थ में हो आया है, इससे संकेत मिलता है कि बहुतेरे मूल जाति के अर्थ में बदलकर स्वतन्त्र अन्वय (जाति) बन गये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं।

संगवे द्वारा प्रस्तुत गुजरात की सूची में परवार, पुरवार या पोरवाल—किसी भी अन्वय का नाम नहीं है। उसमें एक अन्वय का नाम सिर्पोरा अवश्य है। संभवतः इससे पौरवाड़, पौरपट्ट और पुरवारों का ग्रहण किया गया है। उनकी दक्षिण प्रदेश की सूची में परवार अन्वय के अर्थ में 'परवाल' नाम आया है। उसमें अठसखा के स्थान पर 'अस्टवार' तथा सोरठिया के स्थान पर सारठिया नाम पाये जाते हैं। इसमें एक अन्वय का नाम पवारछिया भी आया है।

इन सूचियों पर दृष्टिपात करने से ऐसा लगता है कि संकलन करते समय जिन्हें जो नाम उपलब्ध हुए, उन्हें तत्तत् सूची में सम्मिलित कर लिया गया। इन भेदों का विवरण और उनकी वर्तमान स्थिति विचारणीय है।

(i) **अठसखा परवार :** बुन्देलखण्ड में और अन्य प्रदेशों में इस समय जो परवार अन्वय के श्रावक कुल उपलब्ध हैं, वे सब अठसखा परवार हैं और मूलसंघ कुंदकुंद आम्नाय के अन्तर्गत सरस्वती गच्छ और बलात्कार गण को मानने वाले हैं।

(ii) **छहसखा परवार :** इन श्रावक कुलों का क्या हुआ, कुछ पता नहीं चलता। ऐसा अनुमान होता है कि सम्भवतः उन्हें अठसखा परवारों में विलीन कर लिया गया होगा। हाँ, मुझे यह स्मरण आता है कि अपनी जिनमूर्ति और प्रशस्तिलेख एकत्रण की यात्रा के समय सिरोंज (सरोजपुर) के बड़े मन्दिर में एक मूर्ति ऐसी अवश्य थी जिसकी पादपीठ पर प्रतिष्ठाकारक के नाम के आगे 'छैसखा' पद अंकित था। वर्तमान में परवार अन्वय का यह भेद नाम-शेष मात्र है।

(iii) **चौसखा परवार**—इस समय इनका अस्तित्व अवश्य है पर वे किसी कारण से तारणपंथी हो गये हैं। एक-दो बार उनको मूलधारा में लाने का प्रयत्न अवश्य हुआ है। वे इसके लिये उद्यत भी थे, पर कुछ प्रमुख भाइयों की अदूरदर्शिता के कारण ऐसा न हो सका। इतना अवश्य है कि दोनों ओर से वह कट्टरता अब नहीं देखी जाती। संभव है, कभी इनमें एकरूपता हो जावे। मुझे स्मरण है कि १९२८ में जब मैं बीना की जैन पाठशाला का प्रधान अध्यापक होकर गया था, उस समय वहाँ एक चौसखा परवार कुटुंब रहता था। उस समय एक प्रीतिभोज लेकर उस परिवार को अठसखा परवारों में मिला लिया गया था। इससे मालूम पड़ता है कि परवार समाज के जितने भेद हैं, उनमें एकरूपता होने पर भी परस्पर में बेटी-व्यवहार तो होता ही नहीं था, कच्चा खान-पान भी नहीं होता होगा। इसके फलस्वरूप परवार समाज उत्तरोत्तर क्षीण होता गया और उसके अनेक भेद नाम शेष हो गये।

(iv) **दो सखा परवार :** हमने जितने जिनमंदिरों से मूर्तिलेख एकत्र किये हैं, उनमें ऐसी एक भी प्रतिमा नहीं मिली जिससे इस उपभेद विषयक जानकारी मिले। हाँ, तारण समाज के संगठन में एक अन्वय का नाम दो सखा भी है। इससे हम जानते हैं कि चौ सखा परवारों के समान इन्हें भी तारण-समाज को स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ा होगा। यह प्रसन्नता की बात है कि इस समय परवार समाज में चौसखा के समान दो सखा का अस्तित्व तो बना हुआ है।

(v) **गांगड़ परवार :** परवार समाज के १४४-४५ मूलों में एक मूल पद्मावती मूल के समाज का 'गांगरे' मूल भी है। इस मूल का गोत्र गोइल्ल है। ऐसा लगता है कि गांगड़ परवार इसी मूल के होने चाहिये। पहले यह एक स्वतंत्र उपजाति बनी, बाद में समझा-बुझाकर अठसखा परवारों में सम्मिलित कर लिया गया। इसे ही 'गांगड़' मूल दे दिया गया जो सामान्य भाषा में 'गांगरे' हो गया।

(vi) **पद्मावती परवार**—परवार समाज के मूलों में एक पद्मावती भी है। इसका गोत्र वासल्ल है। पूरे समाज से यह कब अलग पड़ गया, इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस आम्नाय में बीस पन्थ के उपासक भी पाये जाते हैं, इसी कारण सम्भवतः ये मुख्य शाखा से अलग पड़ गये हों। इनमें जैन-अजैन दोनों प्रकार के परिवार पाये जाते हैं। कहते हैं कि उनमें रोटी-बेटी व्यवहार भी होता है। इस विषय में हमने एक स्वतन्त्र लेख में विचार किया है।

(vii) **सोरठिया परवार**—सोरठिया परवार वे हैं जो मुख्यतः सौराष्ट्र में निवास करते रहे। परन्तु सौराष्ट्र में इस समय जितने भी श्रावक कुल पाये जाते हैं, वे सब प्रायः श्वेताम्बर हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सोरठिया परवारों का श्वेतांबरीकरण हो गया है।

पौरपाट अन्वय के विषय में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार अन्य जातियों में कोई उपभेद नहीं देखा जाता, वह स्थिति इस अन्वय की नहीं रही है। इस अन्वय में अनेक उपभेद थे। परन्तु उनमें एक

जातिपने का व्यवहार पहले कभी नहीं रहा। इससे इस जाति को जो हानि हुई है, उसकी कल्पना करने मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। प्रारम्भ में मुझे यह अनुमान भी न था कि इस अन्वय में अठसखा के अतिरिक्त अन्य और भी भेद होंगे। परन्तु अब उपरोक्त भेदों को ध्यान में देने से यह अवश्य ज्ञात होता है कि मूल पौरपाट अन्वय की अनेक शाखायें और उपशाखायें वटवृक्ष के समान फैली हुई है। अपनी जन्मभूमि गुजरात और मेवाड़ से निकल कर पहले ये अपने आम्नाय की रक्षा हेतु मालवा और चन्देरी (म० प्र०) आये और आज ऐसी स्थिति है कि भारत का ऐसा कोई प्रदेश नहीं जहाँ इस अन्वय में श्रावक कुल नहीं पाये जाते हों। ये आजीविका आदि कारणों से सर्वत्र बसते जा रहे हैं और अब तो विदेशों में भी इस अन्वय के श्रावक कुल पाये जाते हैं और अनेक वहीं के वासी हो गये हैं। वे कहीं भी बसें, अपने आम्नाय को न भूलें, यही हम चाहते हैं।

६. नाम परिवर्तन

इसमें सन्देह नहीं कि इस समय यह बहुत कम लोग जानते हैं कि परवारों का पुराना अन्वयनाम 'पौरपाट या पौरपट्ट' था। इस नाम में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आधार छिपे हुए हैं। ऐसा लगता है कि हम अपने पुराने इतिहास को भूल गये हैं और अब हम कहीं के नहीं रहे। मेरी सूचना के अनुसार, एक नगर में संचित द्रव्यों से, गंधमाल्यों से जिनबिंब की पूजा होने लगी है, एक अन्य नगर के बड़े मन्दिर की मुख्य वेदी के बगल में एक देवी की स्थापना कर दी गयी है और अनेक श्रावक उनकी पूजा भी करते हैं। ऐसा क्यों हो रहा है? जिस मूल संघ की रक्षा के लिए हमने गुजरात और मेवाड़ छोड़ा, उस परिवेश को हमने भुला दिया है। मुझे तो लगता है कि ऐसी स्थिति का मूल कारण अपने पुराने सांस्कृतिक नाम को भुला देना ही है।

हमारे समाज का पुराना नाम 'पौरपाट, पौरपट्ट' था। उसमें परिवर्तन होकर 'परवार' नाम प्रचलित हो गया है, यह हम भूल गये हैं। मूर्तिलेखों में हम अनेक नामों से अंकित किये गये हैं।

(अ) सोनागिर पहाड़ से उतरते समय अन्तिम द्वार के पास एक कोठे में एक भग्न जिनबिंब है जिसके पादपीठ पर निम्न लेख है :

(संवत् ११०१ बका गोत्रे परवार जातिम)।

इससे मालूम होता है कि 'परवार' नाम बारहवीं सदी में चालू हो गया था। इस लेख में ब का गोत्र कहा गया है। बका मूल का गोत गोहिल्ल है।

(आ) विदिशा (भेलसा, भट्टलपुर) के बड़े मन्दिर से प्राप्त एक जिनबिम्ब के पाठपीठ पर निम्न लेख अंकित है :

'संवत् १५३४ वर्षे चैत्रमासे त्रयोदश्यां गुरुवासरे भट्टारक श्री महेन्द्रकीर्ति भद्दलपुरे श्री राजारामराज्ये महाजन परवाल'''श्री जिनचन्द्र।

(इ) एक वर्ष आगरा में शिक्षण शिविर लगा था। उसमें अनेक विद्वानों के साथ मैं भी गया था। उस समय जयपुर से पुराने शास्त्रों की प्रदर्शनी लगाई गई थी। उसमें एक हस्तलिखित 'पुण्यास्रव' शास्त्र भी था। उसके अन्त में निम्न प्रशस्ति अंकित थी :

संवत् १४७३ वर्षे कार्तिक सुदी ५ गुरुदिने श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे नन्दिसंघे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनन्दिदेवा स्तच्छिष्य मुनि श्री देवेन्द्रकीर्ति देवाः। तेन निजज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थं लिखितं शुभं। श्री मूलसंघे भट्टारक श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे श्री भट्टारक ज्ञानभूषण पठनार्थं, नरहड़ो वास्तव्य **परवाडज्ञातीय** सा० काकल, भा० पुण्य श्री, सुत सा० नेमिदास ठाकुर एतैः इदं पुस्तकं दत्तं।

यह एक ऐतिहासिक जिनबिम्ब लेख है। इसमें गांधार और सूरत पट्ट के प्रथम भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का नाम आया है। दूसरे, इसमें ईडर पट्ट के भी दो भट्टारकों का उल्लेख किया गया है। इसलिए यह निश्चित है कि **नरहड़ो** नगर गुजरात में होना चाहिये क्योंकि इस लेख का सम्बन्ध गुजरात प्रदेश से ही है। इस लेख से दो बातें ज्ञात होती हैं :

(i) जिनबिम्ब के प्रतिष्ठाकार सा० काकल परवार (पौरपाट) जातीय थे।

(ii) इन्हें ठाकुर कहा गया है। इससे यह निश्चित होता है कि इस अन्वय का विकास प्रधानरूप से क्षत्रिय वंशों से हुआ है।

(ई) यह उल्लेख किया जा चुका है कि शाह बखतराम ने अपने 'बुद्धिविलास' में जातियों की सूची में 'परवार' को 'पुरवार' बताया है। इससे पता चलता है कि लेखक की दृष्टि में 'पुरवार' और 'परवार' अन्वय में कोई भेद नहीं था।

(उ) 'परवार बंधु' के मार्च १९४० के अंक में स्व० बाबू ठाकुरदास जी टीकमगढ़ ने कतिपय मूर्तिलेख प्रस्तुत किये हैं, उनमें एक लेख ऐसा भी मुद्रित हुआ है जिसमें इस अन्वय को परपट कहा गया है।

परपटान्वये शुभे साधुनाम्ना महेश्वरः।

यह लेख लगभग ११-१२ वीं सदी का है।

इस प्रकार, प्रतिमा लेखों में इस अन्वय के लिए अनेक नामों का उल्लेख हुआ है। पर उन सबका आशय एकमात्र 'पौरपाट' अन्वय से ही रहा है। यह स्पष्ट है कि इस अन्वय के लिए बारहवीं सदी से 'परवार' नाम का प्रयोग होने लगा था। ●

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. लोढ़ा, दौलत सिंह, प्राग्वाट इतिहास, १-२।
२. वैद्य, चिंतामणि विनायक; मध्ययुगीन भारत।
३. जोहरापुरकर, विद्याधर; **भट्टारक सम्प्रदाय।**
४. नाथूराम प्रेमी; **परवार बंधु**, परवार सभा, जबलपुर, अप्रैल-मई, १९४०।
५. ठाकुर दास जैन; पूर्वोक्त, मार्च, १९४०।
६. — **जातिभास्कर,** वेंकटेश्वर प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई।
७. मुंशी, के० एम; **गुजरातनोनाथ।**
८. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द्र; **राजपूताना का इतिहास—।**
९. शास्त्री, नेमचन्द्र; **महावीर और उनकी आचार्य परम्परा,** दि० जैन विद्वत् परिषद्, सागर, १९७४।
१०. समंतभद्र, स्वामी; **रत्नकरंड श्रावकाचार।**
११. वट्टकेर, आचार्य; **मूलाचार,** भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९८४।
१२. विद्यालंकार सत्यकेतु; **अग्रवाल जाति का इतिहास।**
१३. आचार्य, सोमदेव; **उपासकाध्ययन,** भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
१४. मुनि जिनविजय; **कुमारपाल प्रतिबोध।**
१५. नेमिचंद्र, सूरि; **महावीर चरित्र।**
१६. — **चरित्रसार,** दि० जैन समाज, सीकर, १९४४।

●

● आ० पंडित जी का यह लेख उनके एक पूर्ण लेख का एक अंश है। सम्पादक मण्डल को यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि पूर्ण लेख शीघ्र पुस्तकाकार रूप में दि० जैन परवार सभा, जबलपुर की ओर से प्रकाशित होने वाला है। हमारे ग्रन्थ के लिए व्यक्तिगत रूप से इस लेख को देने के लिए समिति पण्डित जी का आभारी है। ●

सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि

सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द शास्त्री
हस्तिनापुर, उ० प्र०

भारतवर्ष आर्यावर्त का वह भाग है जहाँ से अवसर्पिणी के चौथे काल में और उत्सर्पिणी के तीसरे काल में अनन्तानन्त मुनि मोक्ष गये हैं, जाते रहते हैं और जाते रहेंगे। इसलिये इस देश के प्रायः सभी प्रदेशों में जैन सिद्ध क्षेत्रों का पाया जाना निश्चित है। इस काल में भगवान् महावीर स्वामी के मोक्षगमन के अनन्तर गौतम स्वामी, सुधर्माचार्य और जम्बू स्वामी मोक्ष गये हैं। ये तीनों अनुबद्ध केवली थे। त्रिलोक प्रज्ञप्ति के उल्लेख से मालूम पड़ता है कि श्रीधर नाम के एक मुनिराज श्री कुण्डलगिरि से मोक्ष गये हैं। ये अननुबद्ध केवली थे। ये पूर्वोक्त तीन केवलियों से भिन्न हैं। त्रिलोक प्रज्ञप्ति का यह उल्लेख इस प्रकार है—

(१) कुण्डलगिरिम्मि चरिमो केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो।
चारणरिसीसु चरिमो सुपासचन्दाभिधाणो य॥ ४–१४७९॥

(२) त्रिलोक प्रज्ञप्ति के इस पाठ की पुष्टि प्राकृत निर्वाण भक्ति के "णिवणकुण्डली वन्दे" पाठ से भी होती है।

इसी के अनुरूप संस्कृत निर्वाणभक्ति के निम्न श्लोक में भी कुण्डलगिरि को सिद्धक्षेत्र स्वीकार करते हुए वह गिरि कहाँ पर है, इसका भी भले प्रकार निदेश कर दिया गया है :

(३) द्रोणीमति प्रबलकुण्डलमेढ्के च, वैभारपर्वततले वरसिद्धकूटे।
ऋष्याद्रिके च विपुलाद्रिबलाहके च, विन्ध्ये च पोदनपुरे वृषदीपके च॥ २९॥

अर्थात् द्रोणीगिरि, कुण्डलगिरि, मुक्तागिरि, वैभारगिरि का तल भाग, सिद्धवरकूट, ऋषिगिरि, विपुलगिरि, वलाहकगिरि, विन्ध्य, पोदनपुर और वृषदीप में जो सिद्ध हुए, उनकी मैं वन्दना करता हूँ।

इस पाठ में द्रोणगिरि और मुक्तागिरि के मध्य में कुण्डलगिरि का नाम आया है। आचार्य पूज्यपाद का यह कथन सोद्देश्य होना चाहिये। इससे निश्चित होता है कि इन दानों गिरियों के मध्य में कहीं कुण्डलगिरि अवस्थित है। इस प्रकार उक्त तीन उल्लेखों से हम जानते हैं कि इनमें जिस कुण्डलगिरि को सिद्ध क्षेत्र स्वीकार किया गया है, वह यही कुण्डलगिरि है और श्रीधर मुनिराज यहीं से मोक्ष गये हैं।

प्रदेश का निर्णय

निर्वाण भक्ति के उक्त उल्लेख से यह तो निर्णय हो जाता है दमोह के पास का कुण्डलगिरि ही श्रीधर स्वामी का निर्वाण स्थान है। फिर भी, अन्य प्रमाणों से भी हम यह निर्णय करेंगे कि यह कुण्डलगिरि दमोह जिले में ही अवस्थित है या उसका अन्य प्रदेश में होना सम्भव है।

पहले मध्यप्रदेश में दमोह के पास के सिद्धक्षेत्र को कुण्डलपुर कहा जाता था। इसलिए कुण्डलगिरि कहाँ पर है, यह विवाद का विषय बना हुआ था। अभी तक कुण्डलपुर नाम के चार स्थान स्वीकार किये जाते रहे हैं। उनमें से प्रकृत कुण्डलपुर कहाँ पर है, उस पर यहाँ विचार किया जाता है।

(१) जहाँ भगवान् महावीर स्वामी का जन्म हुआ था, उसका नाम तो वास्तव में कुण्डल ग्राम है किन्तु लोकभाषा में इसे कुण्डलपुर कहा जाता है। कुछ आचार्यों ने भी इसे कुण्डलपुर नाम से स्वीकार किया है।

(२) नालन्दा के निकट बड़ागाँव को कुण्डलपुर मानकर उसे वर्तमान में भगवान् महावीर का जन्मस्थान माना जाता है। वहाँ एक जिन मन्दिर भी बना हुआ है। साधारण जनता वन्दना की दृष्टि से वहाँ पहुँचती रहती है।

(३) एक कुण्डलपुर सतारा जिले में स्थित है। यह पूना से सतारा वाले रेलमार्ग पर किर्लोस्कर बाड़ी से ७ किमी० पर स्थित है। यहाँ स्थित पहाड़ पर दो जिन मन्दिर भी बने हुए हैं, इसलिए यह तीर्थक्षेत्र के रूप में माना जाता है।

(४) मध्यप्रदेश के दमोह जिले के अन्तर्गत ३५ किमी० दूर ईशान दिशा में जो क्षेत्र अवस्थित है, उसके पास कुण्डलपुर नाम का गाँव होने से, क्षेत्र को भी कुण्डलपुर कहा जाता रहा है। पर वहाँ स्थित क्षेत्र का नाम वास्तव में कुण्डलगिरि ही है।

इस प्रकार कुण्डलपुर नाम के ये चार स्थान प्रसिद्ध हैं। इनमें से दो ही ऐसे स्थान हैं जो विचार कोटि में लिये जा सकते हैं। एक महाराष्ट्र में सतारा जिले के अन्तर्गत कुण्डल स्थान और दूसरा म० प्र० में दमोह जिले के अन्तर्गत कुण्डलपुर स्थान। इन दोनों स्थानों पर जो पर्वत है, उन पर जिन मन्दिर बने हुए हैं। इसलिए दोनों ही स्थान क्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध हैं। अब देखना यह है कि इन दोनों स्थानों में से सिद्धक्षेत्र कौन हो सकता है।

१—त्रिलोक प्रज्ञप्ति के प्रमाण से तो यही मालूम पड़ता है कि जो कुण्डलाकार गिरि है, वही सिद्धक्षेत्र हो सकता है, दूसरा नहीं। इस बात को ध्यान में रखकर जब हम विचार करते हैं, तो इससे यही प्रतीत होता है कि दमोह जिले में कुण्डलपुर के अति निकट का पहाड़ ही कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र होना चाहिए। यह गिरि स्वयं तो कुण्डलाकार है ही, किन्तु इस गिरि से लगकर कुण्डलाकार गिरियों की एक शृंखला चालू हो जाती है। दमोह से कटनी के लिए जो सड़क जाती है, उस पर अवस्थित जो प्रथम कुण्डलाकार गिरि है, वही प्राचीन काल से सिद्धक्षेत्र माना जा रहा है। इसलिए उस गिरि पर स्थित पूरे सिद्धक्षेत्र के दर्शन हो जाते हैं। किन्तु उससे लगकर जुड़ा हुआ जो कुण्डलाकार दूसरा गिरि मिलता है, उसकी रचना भी ऐसी बनी हुई है कि उसके मध्य में स्थित सड़क से चार-पाँच जिन मन्दिरों के दर्शन हो जाते हैं। यही स्थिति तीसरे, चौथे और पाँचवें कुण्डलाकार गिरियों की है। मात्र उन गिरियों पर स्थित जिन मन्दिरों का दर्शन सड़क से उत्तरोत्तर संख्या में कम होता जाता है। इसलिए इन गिरियों की ऐसी प्राकृतिक रचना को देखकर यह निश्चय होता है कि त्रिलोक प्रज्ञप्ति में जिस कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र का उल्लेख है, वह यही होना चाहिए।

२—इण्डियन एन्टीक्वेरी में नन्दिसंघ की एक पट्टावलि अंकित है। यह जैन सिद्धान्त भास्कर १, ४, पृष्ठ ७९ १९१२ में मुद्रित की गयी है। यह पट्टावलि द्वितीय भद्रबाहु से चालू होती है। इसमें बतलाया गया है कि विक्रम सं० ११४० (१०८३ ई०) में महाचन्द्र या माघवचन्द्र नाम के जो पट्टधर आचार्य हुए हैं, उनका मुख्य स्थान कुण्डलपुर (दमोह जिला) था। इनका पट्टस्थ क्रमांक ५२ है। यह भी एक प्रमाण है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि दमोह जिले में कुण्डलपुर के पास का कुण्डलगिरि ग्यारहवीं सदी में भी इसी रूप में माना जाता रहा है।

यहाँ उल्लिखित पट्टावलि गौतम गणधर से प्रारम्भ होती है फिर भी, इस पट्टावलि को जो द्वितीय भद्रबाहु से प्रारम्भ किया गया है—इसका कारण यह प्रतीत होता है कि द्वितीय भद्रबाहु के काल में ही बलात्कारगण की स्थापना हो गयी थी। इसीलिए इस पट्टावलि को बलात्कारगण की पट्टावलि भी कहा जाता है।

पहिले तो पट्टधर जितने भी आचार्य होते थे, वे सब मुनि ही होते थे। यह परम्परा १३ वीं सदी तक अक्षुण्ण रहती आई। किन्तु बसन्तकीर्ति मुनि के काल में पट्ट पर बैठने वाले मुनियों द्वारा वस्त्र ग्रहण करना प्रारम्भ हो जाने से (भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० ९३) वे भट्टारक शब्द द्वारा अभिहित किये जाने लगे। इस पट्टावलि को केवल भट्टारक

पट्टावलि कहना उपयुक्त नहीं है। अतः १२ वीं शताब्दी में कुण्डलगिरि के जो पट्टधर आचार्य महाचन्द्र हुए हैं, वे भट्टारक न होकर मुनि ही थे, यह स्पष्ट है। इस विवेचन से भी निश्चित हो जाता है कि दमोह जिले के कुण्डलपुर के पास का कुण्डलगिरि ही सिद्धक्षेत्र है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति में जिस कुण्डलगिरि का उल्लेख है, वह यही है, अन्य नहीं।

३—कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र लगभग २५०० वर्ष पुराना है। यहाँ पहाड़ पर एक प्राचीन जिन मन्दिर है। इसे बड़े बाबा का मन्दिर कहते हैं। यहाँ एक कुण्डलपुर ग्राम के परिसर में और दूसरा कुण्डलगिरि पहाड़ के तलभाग में दो मठाकार प्राचीन जिन मन्दिर भी बने हुए हैं। सरकारी पुरातत्व विभाग द्वारा इन मन्दिरों को ब्रह्ममन्दिर कहा गया है। ये तीनों छठवीं शताब्दी या उसके पहिले के हैं। इन्हें सूचित करने वाला एक शिलापट्ट दमोह रेलवे स्टेशन पर लगा हुआ है। शिलापट्ट में जो इबारत लिखी गई है, उसका हिन्दी भाव इस प्रकार है :

> जैनियों का तीर्थस्थान कुण्डलपुर दमोह से लगभग २० मील ईशान की तरफ है। यहाँ पर छठवीं सदी के दो प्राचीन ब्रह्ममन्दिर हैं। इनके सिवाय ५८ जैन मन्दिर हैं। मुख्य मन्दिर में १२ फीट ऊँची पद्मासन महावीर की प्रतिमा है। यहाँ पर हर साल माघ महीने के अन्त में जैनियों का बड़ा भारी मेला लगता है।

इस शिलापट्ट में ५८ मन्दिरों के साथ दो ब्रह्ममन्दिरों का उल्लेख कर उन्हें पुरातत्व विभाग द्वारा छठवीं सदी का स्वीकार किया गया है। इतना अवश्य है कि ५८ जिनमन्दिरों में बड़े बाबा का मुख्य मन्दिर और दो ब्रह्ममन्दिर छठवीं सदी के हैं। शेष जिन मन्दिर अर्वाचीन हैं। इसलिए यहाँ "बड़े बाबा" के मुख्य मन्दिर सहित दो ब्रह्म मन्दिरों का परिचय देना इष्ट प्रतीत होता है।

(क) 'बड़े बाबा' के मुख्य मन्दिर का क्रमांक ११ है। जैसा उसका नाम है, उतना ही वह विशाल है। उसका गर्भालय पाषाण निर्मित है। पहले गर्भालय का प्रवेशद्वार पुराने ढंग का बहुत छोटा था। उसमें सिंहासन पर विराजमान 'बड़े बाबा' की मूर्ति को कई शताब्दियों तथा तीर्थंकर महावीर की मूर्ति कहा जाता रहा। गर्भालय के बाहर दीवाल में जो शिलापट्ट लगाया गया है, उसमें भी उसे भगवान् महावीर की मूर्ति कहा गया है। किन्तु वस्तुतः यह भगवान् महावीर की मूर्ति न होकर भगवान् ऋषभदेव की मूर्ति है क्योंकि बड़े बाबा की मूर्ति में दोनों कन्धों से से कुछ नीचे तक बालों की दो-दो लटें लटक रही हैं और आसन के नीचे सिंहासन में भगवान् ऋषभदेव के यक्ष-यक्षी अङ्कित किए गए हैं। मूर्ति पद्मासन मुद्रा में १२ फुट ६ इञ्च ऊँची है और उसकी चौड़ाई ११ फुट ४ इञ्च है। इसके दोनों पार्श्व भागों में ११ फुट १० इञ्च ऊँचे खड्गासन मुद्रा में सात फणी भगवान् पार्श्वनाथ के दो जिनबिम्ब अवस्थित हैं। साथ ही, प्रवेश द्वार को छोड़कर तीनों ओर दीवाल के सहारे प्राचीन जिनबिम्ब स्थापित किये गये हैं। मूल नायक बड़े बाबा अर्थात् भगवान् ऋषभदेव को छोड़कर ये सब जिनबिम्ब दोनों ब्रह्ममन्दिरों से और बर्रट गाँव से लाकर यहाँ विराजमान किये गए हैं। (क्षेत्र के अन्य जिनमन्दिरों में भी प्राचीन प्रतिमायें अवस्थित हैं। वे भी इन्हीं स्थानों से लायी गयी जान पड़ती है।) इस कारण गर्भालय की शोभा अपूर्व और मनोज्ञ बन गयी है। क्षेत्र की शोभा बड़े बाबा से तो है ही, अन्य भी ऐसी अनेक विशेषतायें हैं जिनके कारण यह क्षेत्र अपूर्व महिमा से युक्त प्रतीत होता है। इस कारण प्रत्येक वर्ष वहाँ माघ माह में मेला लगता है। श्री बलभद्र जी 'म०प्रदेश के जैनतीर्थ' पृ० १८९ में लिखते है कि 'ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि बड़े बाबा और पार्श्ववर्ती दोनों पार्श्वनाथ प्रतिमाओं के सिंहासन मूलतः इन प्रतिमाओं के नहीं हैं। बड़े बाबा का सिंहासन दो पाषाण खण्डों को जोड़कर बनाया गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार पार्श्वनाथ प्रतिमाओं के आसन किन्हीं खड्गासन प्रतिमाओं के अवशेष जैसे प्रतीत होते हैं। किन्तु यह सही नहीं लगता। बड़े बाबा का पृष्ठभाग, जिस शिला को काटकर यह मूर्ति बनाई गयी है, उससे जुड़ा हुआ प्रतीत होता है और यह हो सकता है

कि सिंहासन दो पाषाण खण्डों से बनाया गया हो। पर मेरी नम्र राय में उसे उसी स्थान पर निर्मित किया गया है। बारीकी से देखने पर जिस आसन पर बड़े बाबा विराजमान हैं, वह अन्यत्र से नहीं लाया गया है।

यहाँ आने वाले दर्शनार्थियों का कहना है कि सिंहासन में गोलक के लिए एक सुराख बना हुआ था। उस सुराख में रुपया पैसा डालने पर तलभाग में वह कहाँ जाता था, इसका आज तक पता नहीं चला। इस कारण अब यह सुराख बन्द कर दिया गया है। वह स्थान कुछ भाइयों ने हमें भी दिखाया था। इससे तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि बड़े बाबा का जिनबिम्ब और सिंहासन आदि जो कुछ भी निर्मित हुआ है, वह वहीं हुआ है। फिर भी हमारी राय है कि पुरातत्वविदों व इन्जीनियरों को बुलाकर इन सब बातों की समीक्षा एक बार अवश्य करा लेना चाहिए ताकि इस सम्बन्ध में होने वाले भ्रम को दूर किया जा सके।

(ख) प्रथम ब्रह्म मन्दिर कुण्डलगिरि की तलहटी में स्थित है। मैं अनेक भाइयों के साथ उसके अभ्यन्तर भाग का अवलोकन करने के लिए वहाँ गया था। उनमें समाज के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० जगन्मोहनलाल जी शास्त्री भी थे। किन्तु मन्दिर के द्वार पर कुछ भाइयों ने ताला लगा रखा है। इसलिये उसके भीतर प्रवेश करके उसके भीतर क्या है, यह हम नहीं देख सके। फिर भी, उन भाइयों का कहना था कि मन्दिर के भीतर जो देवी की मूर्ति है, वह पद्मावती देवी की ही है।

(ग) दूसरे ब्रह्ममन्दिर को रुक्मिणी मठ भी कहा जाता है। वह भी छठीं सदी का है। यह कुण्डलपुर ग्राम के परिसर में अवस्थित है। इसे रुक्मिणी मठ क्यों कहा जाता है, इसके पीछे एक इतिहास है। यह ब्रह्ममन्दिर जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। वहाँ पहले जो जिनबिम्ब विराजमान थे, उन्हें यहाँ से ले जाकर बड़े बाबा के मन्दिर में स्थापित कर दिया गया है। इस मन्दिर के मध्य भाग में ३ हाथ ४ अंगुल चौड़ा शिलापट्ट है। उसमें अंकित आम्रवृक्ष के मूल में भगवान् नेमिनाथ सहित यक्ष-यक्षिणी की एक मूर्ति प्रतिष्ठित है। यक्षिणी की गोदी में बालक है और दूसरा बालक आम्रवृक्ष पर चढ़ता हुआ दिखाया गया है। इस ब्रह्म मन्दिर में गिरदल रखा हुआ है। उसमें भी जैन मूर्तियाँ अंकित है। बड़े बाबा का मन्दिर तो समाज के अधिकार में होने से उसकी भले प्रकार देख-रेख होती रहती है। परन्तु इन दोनों ब्रह्म मन्दिरों की नहीं होती। यद्यपि कुण्डलगिरि की तलहटी में जो ब्रह्ममन्दिर है, उस पर अन्य भाइयों ने कब्जा अवश्य कर रखा है, परन्तु दूसरे ब्रह्ममन्दिर के समान इसकी भी समुचित देखरेख नहीं हो पाती। न तो समाज का इस ओर ध्यान है और न पुरातत्व विभाग का ही।

(घ) बड़े बाबा के मन्दिर का जो गर्भालय है, उससे लग कर जो मण्डप है, उसके मध्य में एक चबूतरा बना हुआ है। उस पर मध्य में पुराने चरण-चिह्न विराजमान हैं। वे कितने प्राचीन हैं, यह कहना कठिन है। पर जिस पाषाण खण्ड को काटकर उन्हें बनाया गया है, उसे देखते हुए ये चरण-चिह्न हजार-आठ सौ वर्ष पुराने नियम से होने चाहिये, ऐसा प्रतीत होता है। सम्भव है कि यहाँ पर सन् ११४० में महाचन्द्र नाम के जो पट्टधर आचार्य हो गये हैं, उनके अनुरोध पर ही, यह निश्चय होने से कि यही वह कुण्डलगिरि है जहाँ से श्रीधर स्वामी मोक्ष गये हैं, इन चरण चिह्नों की स्थापना की गयी हो। उन पर 'कुण्डलगिरौ श्रीधर स्वामी' यह लिखा होने से भी यही प्रतीत होता है कि उन्होंने ही श्रीधर स्वामी के इन चरण चिन्हों की स्थापना कराई होगी। श्री पं० बलभद्रजी ने 'मध्यप्रदेश के दिगम्बर जैन तीर्थ' के पृ० १९३ पर जो इन चरण चिह्नों को १२-१३वीं शताब्दी का सूचित किया है, उससे भी इस बात की सत्यता प्रमाणित होती है।

(च) दोनों ब्रह्म मन्दिरों से जो प्रतिमायें लाई गई थीं, उनमें से बहुत-सी प्रतिमायें तो गर्भालय में ही स्थापित कर दी गई हैं। उनके आकार और निर्माण शैली को देखते हुए इस कथन को स्वीकार कर लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती कि ये सब मूर्तियाँ कम से कम उतनी प्राचीन प्रतीत होती हैं जितने प्राचीन ब्रह्ममन्दिर हैं। वे सब मूर्तियाँ पद्मासन हैं, संख्या में १४ हैं और प्रत्येक में पुष्पवर्षी देव और चरमवाहक हैं।

(छ) इनके सिवाय, बरंट आदि स्थानों से लाई गई मूर्तियाँ अन्य मन्दिरों में स्थापित की गई हैं। उनमें खड्गासन और पद्मासन— दोनों प्रकार की प्रतिमायें हैं। उदाहरणार्थ, ८, ९, ११, १३, १४, १६, १९, २०, २९, ४० और ५० संख्यांक जिन मन्दिरों में देशी पाषाण निर्मित प्रतिमायें विराजमान हैं। इस प्रकार ३, ५, और ६ संख्यक मन्दिरों में देशी पाषाण निर्मित चरण चिह्न हैं।

(ज) इन सब प्रमाणों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस क्षेत्र का निर्माण छठवीं सदी से पहले हो हो गया था। यह ठीक है कि यहाँ के मन्दिरों में बरंट से देशी पाषाण निर्मित बहुत-सी मूर्तियां लाकर प्रतिष्ठित की गयीं हैं, परन्तु इससे क्षेत्र की प्राचीनता में कोई बाधा नहीं पड़ती। इनमें बहुत सी मूर्तियाँ अङ्ग-भङ्ग भी हैं। साथ ही, बड़े मन्दिर की परिक्रमा के पीछे खुले भाग में चबूतरे पर दीवाल से लग कर बहुत-सी मूर्तियाँ यहाँ वहाँ से लाकर रखी हुई हैं। इससे भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

कोठिया जी के मत पर विचार

डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य ने 'अनेकान्त' वर्ष ८, किरण ३, मार्च १९४६ में 'कौन-सा कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र है" शीर्षक से एक लेख लिखा था। उसे पढ़ कर पत्र द्वारा मैंने उन्हें ऐसे लेख न लिखने का आग्रह किया था। उस समय जहां तक मुझे याद है, उन्होंने मेरी यह बात स्वीकार भी कर ली थी। किन्तु पुनः कुछ परिवर्तन के साथ उसी लेख को जब मैंने उनके अभिनन्दन ग्रन्थ में देखा, तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। इससे ही मुझे इस विषय पर सांगोपांग विचार करने की प्रेरणा मिली।

इस लेख में उन्होंने बताया है कि सन् १९४६ के पूर्व विद्वत्परिषद के कटनी अधिवेशन में 'क्या दमोह जिले का कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र है' इसका निर्णय करने के लिए तीन विद्वानों की एक उपसमिति बनाई गई थीं। उसी आधार पर अपने अनुसन्धान, विचार और उसके निष्कर्ष को विद्वानों के सामने रखने के लिए डॉ० साहब ने उस समय वह लेख लिखा था। उनके अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित उनका एतद्विषयक दूसरा लेख भी उन्होंने इस विषय के 'अनुसन्धेय' भाव से लिखा है।

त्रिलोक प्रज्ञप्ति के अनुसार अन्तिम अननुबद्ध केवली श्रीधर स्वामी कुण्डलगिरि से मोक्ष गये हैं। आचार्य पादपूज्य (पूज्यपाद) ने भी स्वलिखित निर्वाण-भक्ति में कुण्डलगिरि को निर्वाण क्षेत्र स्वीकार किया है। परन्तु यह कुण्डलगिरि किस केवली को निर्वाणभूमि है, यह कुछ भी नहीं लिखा है। वही स्थिति 'क्रियाकलाप' में संगृहीत प्राकृत निर्वाण भक्ति की भी है, इस प्रकार इन तीन उल्लेखों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र है। अब विचार यह करना है कि वह कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र किस प्रदेश में अवस्थित है। आचार्य पूज्यपाद ने अपने स्वलिखित संस्कृत निर्वाण भक्ति के ९ संख्यक श्लोक में द्रोणीगिरि के अनन्तर कुण्डलगिरि का उल्लेख करके बाद में मुक्तागिरि का उल्लेख किया है। साथ ही, इसमें राजगृही के पाँच पहाड़ों में से वैभारगिरि, ऋषिगिरि, विपुलगिरि और वलाहकगिरि का भी उल्लेख करते हुए इन निर्वाण भूमि स्वीकार किया है। इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पूज्यपाद की दृष्टि में राजगृही के पाँच पहाड़ों में से चार पहाड़ ही सिद्धक्षेत्र हैं, पाण्डुगिरि सिद्धक्षेत्र नहीं है। उन्होंने अपने दूसरे लेख में जो यह लिखा है कि 'पूज्यपाद के उल्लेख से ज्ञात होता है कि उनके समय में पाण्डुगिरि, जो वृत्त (गोल) है, कुण्डलगिरि भी कहलाता था।' सो इस सम्बन्ध में हमारा इतना कहना पर्याप्त है कि इसकी पुष्टि में उन्हें कोई प्रमाण देना चाहिये था। सभी आचार्यों ने पाण्डुगिरि को ही लिखा है। उन्होंने भी वही किया है। इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि उनके समय पाण्डुगिरि कुण्डलगिरि भी कहलाता था। प्रत्युत् उससे यही सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टि में ये दो स्वतन्त्र पहाड़ थे। चार पहाड़ों के सिद्धक्षेत्र होने का उल्लेख आ० पूज्यपाद रचित संस्कृतनिर्वाणभक्ति में भी है। यह उल्लेख न तो त्रिलोक प्रज्ञप्ति में ही दृष्टिगोचर होता है और न प्राकृत निर्वाण भक्ति में ही। किन्तु कोठिया जी का विचार है कि जब आचार्य पूज्यपाद ने राजगृह के पाँच पहाड़ों में से चार को सिद्धक्षेत्र मानी है, तो पाण्डुगिरि भी

सिद्धक्षेत्र होना चाहिये। इसे सिद्धक्षेत्र सिद्ध करने के लिये उन्होंने जो तर्क प्रणाली अपनायी है, वह अवश्य ही विचारणीय हो जाती है। उन्होंने त्रिलोक प्रज्ञप्ति, हरिवंश पुराण और धवला-जयधवला के प्रमाण देकर पाँच पहाड़ों का विशेष वर्णन प्रस्तुत किया है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति के अनुसार ऋषिगिरि, वैभारगिरि, विपुलगिरि, छिन्नगिरि और पाण्डुगिरि ये पाँच पहाड़ों के नाम हैं। धवला व जयधवला के अनुसार भी पाँच पहाड़ों के नाम त्रिलोक प्रज्ञप्ति के अनुरूप हैं। मात्र हरिवंशपुराण के अनुसार, छिन्नगिरि के स्थान में बलाहकगिरि कहा गया है। शेष चार पहाड़ों के नाम वही हैं जो त्रिलोक प्रज्ञप्ति में स्वीकार किये गये हैं। यहाँ इतना विशेष जानना कि त्रिलोक प्रज्ञप्ति में पाण्डुगिरि का कोई आकार नहीं दिया गया है, किन्तु शेष उल्लेखों में उसे गोल लिखा है। एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि इन सभी ग्रन्थों में जो ये पाँच पहाड़ों के नाम आये हैं, वे उनका परिचय कराने के अभिप्राय से ही आये हैं। वे सिद्ध क्षेत्र हैं, इस अभिप्राय से उनका उल्लेख उन ग्रन्थों में नहीं किया गया है। इसलिए उन ग्रन्थों का आधार देकर पाण्डुगिरि को सिद्धक्षेत्र ठहराना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

इसके विपर्यास में, त्रिलोक प्रज्ञप्ति में जहाँ कुण्डलगिरि को श्रीधर स्वामी का निर्वाण क्षेत्र कहा गया है, वह प्रकरण ही दूसरा है। वहाँ यह बतलाया गया है कि भगवान् महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के बाद कितने केवली मोक्ष गये हैं। यहाँ इस भारत भूमि में कितने सिद्धक्षेत्र हैं और वे कहाँ-कहाँ हैं, यह नहीं बतलाया गया है। मात्र प्रसङ्गवश कुण्डलगिरि को पाण्डुगिरि सिद्ध करके उसे सिद्धक्षेत्र ठहराना उचित प्रतीत नहीं होता। इसे दृष्टिओझल करके कोठिया जी प्रथम लेख में लिखते हैं कि—यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि बलाहक को छिन्न भी कहा जाता है। अतः एक पर्वत के ये दो नाम हैं और इनका उल्लेख ग्रन्थकारों ने दोनों नामों से किया है। जिन्होंने बलाहक नाम दिया है, उन्होंने छिन्न नाम नहीं दिया और जिन्होंने छिन्न नाम दिया है, उन्होंने बलाहक नाम नहीं दिया और अवस्थान सभी ने एक-सा बतलाया तथा पंच पहाड़ों के साथ उसकी गिनती की है। अतः बलाहक और छिन्न दोनों पर्यायवाची नाम हैं। इसी तरह 'ऋष्याद्रिक और ऋषिगिरि—ये भी पर्याय नाम हैं।'

"अब इधर ध्यान दें कि जिन वीरसेन और जिनसेन स्वामी ने पाण्डुगिरि का नामोल्लेख किया है, उन्होंने फिर कुण्डलगिरि का नामोल्लेख नहीं किया। इसी प्रकार पूज्यपाद ने जहाँ सभी निर्वाण क्षेत्रों को गिनाते हुये कुण्डलगिरि का नाम दिया है, फिर उन्होंने पाण्डुगिरि का उल्लेख नहीं किया। हाँ, यतिवृषभ ने अवश्य पाण्डुगिरि और कुण्डलगिरि दोनों नामों का उल्लेख किया है। लेकिन दो विभिन्न स्थानों में किया है। पाण्डुगिरि का तो पाँच पहाड़ों के साथ प्रथम अधिकार में और कुण्डलगिरि का चौथे अधिकार में किया है। अतएव पाण्डुगिरि-भिन्न कुण्डलगिरि अभीष्ट हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि यतिवृषभ ने पूज्यपाद की निर्वाणभक्ति देखी होगी और उसमें पूज्यपाद के द्वारा पाण्डुगिरि के लिये नामांतर रूप में प्रयुक्त कुण्डलगिरि को पाकर इन्होंने कुण्डलगिरि का भी नामोल्लेख किया है। प्रतीत होता है कि पूज्यपाद के समय में पाण्डुगिरि को कुण्डलगिरि भी कहा जाता था। अतएव उन्होंने पाण्डुगिरि के स्थान में कुण्डलगिरि नाम दिया है।"

इस उल्लेख से ऐसा लगता है कि पंच पहाड़ों में सभी पहाड़ सिद्धक्षेत्र हैं। ऐसा मानकर ही कोठिया जी कुण्डलगिरि को पाण्डुगिरि समझकर उसे (पाण्डुगिरि को) सिद्धक्षेत्र सिद्ध कर रहे हैं। अपने इस कथन की पुष्टि में जैसे छिन्नगिरि का दूसरा नाम बलाहकगिरि है, वैसे ही पाण्डुगिरि का दूसरा नाम कुण्डलगिरि कुण्डलाकार है और पाण्डुगिरि गोल है, यह बता करके भी दोनों को एक लिखा है। किन्तु उनके ये तर्क तभी संगत माने जा सकते हैं जब अन्य किसी ग्रन्थ में वे पाण्डुगिरि का पर्याय नाम कुण्डलगिरि बता सकें। रही कुण्डलाकार और गोल आकार की बात, सो पाण्डुगिरि गोल होकर ठोस है और कुण्डलगिरि ऐसा ठोस नहीं है। बलाहक (छिन्न) पहाड़ को अवश्य ही धनुषाकार बतलाया गया है। यदि पाण्डुगिरि भी धनुषाकार होता, तो उसे गोल नहीं लिखा जाता। इसलिए जहाँ पाण्डुगिरि को कुण्डलगिरि ठहराना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता, वहाँ पाण्डुगिरि को धनुषाकार ठहराना भी तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

इसलिए प्रकृत में यही समझना चाहिये कि कुण्डलगिरि ही सिद्धक्षेत्र है, पाण्डुगिरि नहीं। भले ही उसकी गणना राजगृहों के पंच पहाड़ों में की गई हो।

आगे परिशिष्ट लिखकर कोठियाजी लिखते हैं कि 'जब हम दमोह के पार्श्ववर्ती कुण्डलगिरि या कुण्डलपुर की ऐतिहासिकता पर विचार करते हैं, तो उसके कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। केवल विक्रम की १७वीं शताब्दी का उत्कीर्ण हुआ शिलालेख प्राप्त होता है जिसे महाराज छात्रसाल ने वहाँ चैत्यालय का जीर्णोद्वार कराते समय खुदवाया था। कहा जाता है कि कुण्डलपुर में भट्टारक की गद्दी थी। इस गद्दी पर छत्रसाल के समकाल में एक प्रभावशाली मन्त्रविद्या के ज्ञाता भट्टारक तब प्रतिष्ठित थे। तब उनके प्रभाव एवं आशीर्वाद से छत्रसाल ने एक बड़ी भारी यवन सेना पर काबू करके उस पर विजय पाई थी। इससे प्रभावित होकर छत्रसाल ने कुण्डलपुर का जीर्णोद्धार कराया था, आदि।'

उनके इस मत को पढ़कर ऐसा लगता है कि वे एक तो कभी कुण्डलपुर गये ही नहीं और गये भी हैं तो उन्होंने वहाँ का बारीकी से अध्ययन नहीं किया है। वे यह तो स्वीकार करते हैं कि छत्रसाल के काल में वहाँ एक चैत्यालय था और वह जीर्ण हो गया था। फिर भी, वे कुण्डलगिरि की ऐतिहासिकता को स्वीकार नहीं करते। जबकि पुरातत्व विभाग कुण्डलगिरि की ऐतिहासिकता को आठवीं शताब्दी तक का स्वीकार करता है। उसके प्रमाण रूप में कतिपय चिह्न आज भी वहाँ पाये जाते हैं। और सबसे बड़ा प्रमाण तो भगवान् ऋषभदेव (बड़े बाबा) की मूर्ति ही है। उसे १८वीं सदी से १०० वर्ष पुरानी बताना किसी स्थान के इतिहास के साथ न्याय करना नहीं कहा जायगा।

जिन लोगों का क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं, जो जैन धर्म के उपासक भी नहीं, वे पुरातत्व का भले प्रकार अनुसन्धान करके क्षेत्र को छठीं शताब्दी का लिखें और उसके प्रमाण स्वरूप दमोह स्टेशन पर एक शिलापट्ट द्वारा उसकी प्रसिद्धि भी करें और हम हैं कि उसका सम्यक् प्रकार से अवलोकन तो करें नहीं, वहाँ पाये जानेवाले प्राचीन अवशेषों को बुद्धिगम्य करें नहीं, फिर भी उसकी प्राचीनता को लेखों द्वारा सन्देह का विषय बनायें, वह प्रवृत्ति अच्छी नहीं कही जा सकती।

कोठियाजी ने अपने दोनों लेखों में प्रसंगतः दो विषयों का उल्लेख किया है। एक तो निर्वाणकाण्ड के विषय में चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'प्रभाचन्द्र (११ वीं शती) और श्रुतसागर (१५वीं-१६वीं शती) के मध्य में बने प्राकृत निर्वाणकाण्ड के आधार से बने, भैया भगवतीदास (सं० १७४१) के भाषा निर्वाणकाण्ड में जिन सिद्ध व अतिशय क्षेत्रों की परिगणना की गई है, उसमें भी कुण्डलपुर को सिद्धक्षेत्र या अतिशयक्षेत्र के रूप में परिगणित नहीं किया गया। इससे यही प्रतीत होता है कि यह सिद्धक्षेत्र तो नहीं है, अतिशय क्षेत्र भी १५ वीं-१६ वीं शताब्दी के बाद प्रसिद्ध होना चाहिए।' यह कोठियाजी का वक्तव्य है। इससे मालूम पड़ता है कि उन्होने निर्वाणकाण्ड के दोनों पाठों का सम्यक् अवलोकन नहीं किया है। निर्वाणकाण्ड का एक पाठ **ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि** में छपा है। उसमें कुल २१ गाथाएँ हैं। दूसरा पाठ **क्रियाकलाप** में छपा है। उसमें पूर्वोक्त २१ गाथायें तो हैं ही, उनके सिवाय ८ गाथायें और हैं इसलिए कोठियाजी का यह लिखना कि निर्वाणकांड में कुण्डलगिरि का किसी भी रूप में उल्लेख नहीं है, ठीक प्रतीत नहीं होता। निर्वाणकाण्ड का जो दूसरा पाठ मिलता है, उसकी २६ वीं गाथा में 'णिवणकुण्डली वन्दे' इस गाथा के चौथे पाद (चरण) द्वारा निर्वाण क्षेत्र कुण्डलगिरि की वन्दना की गई है। यहाँ 'णिवण' पद निर्वाण अर्थ को सूचित करता है और 'कुण्डली' पद कुण्डलगिरि अर्थ को सूचित करता है। 'णिवणं पद में आइमअपन्तवण्णसरलोवो' इस नियम के अनुसार 'ब' व्यंजन और 'आ' का लोप होकर णिवण पद बना है जो प्राकृत के नियमानुसार ठीक है। रही भैया भगवतीदास के भाषा निर्वाणकाण्ड की बात, सो उन्हें इक्कीस गाथा वाला निर्वाण काण्ड मिला होगा। इसलिए यदि उन्होंने भाषा निर्वाणकाण्ड में किसी भी रूप के कुण्डलगिरि का उल्लेख नहीं किया, तो इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि वह निर्वाण क्षेत्र नहीं है। आप प्राकृत या भाषा निर्वाणकाण्ड पढ़िये, उनमें यदि ऊपर वर्णित राजगृहों के पाँच

पहाड़ों में से वैभार आदि चार पहाड़ों को सिद्धक्षेत्र रूप में स्वीकार नहीं किया गया है, तो क्या यह माना जा सकता है कि उक्त चार पहाड़ सिद्धक्षेत्र नहीं ही हैं। वस्तुतः सिद्धक्षेत्रों या अतिशय क्षेत्रों के निर्णय करने का यह मार्ग नहीं है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह मान कर चला जाता है कि जिन आचार्य को जितने सिद्धक्षेत्रों या अतिशय क्षेत्रों के नाम ज्ञात हुए, उन्होंने उतने सिद्धक्षेत्रों और अतिशय क्षेत्रों का संकलन कर दिया।

दूसरे सोनागिरि के विषय में चर्चा करते हुए उन्होंने अपने प्रथम लेख के अन्त में लिखा है कि 'अतः मेरे विचार और खोज से कुण्डलगिरि को सिद्धक्षेत्र घोषित करने या कराने की चेष्टा की जायगी, तो एक अनिवार्य भ्रान्त परम्परा इसी प्रकार की चल उठेगी जैसी कि वर्तमान के रेसिंदीगिर और सोनागिर की चल पड़ी है।' उसी में हेरफेर करके उनके दूसरे लेख का निष्कर्ष भी यही है।

इन दो उल्लेखों से ऐसा लगता है कि पहले तो वे रेसिंदीगिर, सोनागिर और कुण्डलगिरि इन तीनों को सिद्धक्षेत्र नहीं मानते रहे और बाद में उन्होंने रेसिंदीगिर और सोनागिर को तो सिद्धक्षेत्र मान लिया है। मात्र कुण्डलगिरि को सिद्धक्षेत्र मानने में उन्हें विवाद है। पर किस कारण से उन्होंने सिंदीगिर और सोनागिर को सिद्ध क्षेत्र मान लिया है, इस सम्बन्ध में वे मौन हैं। मात्र कुण्डलगिरि को सिद्धक्षेत्र न मानने में उन्होंने जो तर्क दिये हैं, वे कितने प्रमाणहीन हैं, यह हम पहले ही स्पष्ट कर आये हैं। अतः हमारे लेख में दिये गये तथ्यों के आधार पर यही मानना शेष रह जाता है कि सब ओर से विचार करने पर कुण्डलगिरि भी सिद्धक्षेत्र सिद्ध होता है।

अब केवल बड़े बाबा के गर्भालय के बाहर दीवाल पर एक शिलापट्ट में जो प्रशस्ति उत्कीर्ण है, उसे अविकल देकर उससे जो तथ्य सामने आते हैं, उन पर प्रकाश डाल देना क्रम प्राप्त है।

जिसे भट्टारक सम्प्रदाय ग्रन्थ में जेहरट शाखा कहा गया है, वह वास्तव में जेहुरटशाखा न होकर चन्देरी शाखा है। यह शाखा भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति से प्रारम्भ होती है। इसके छटे पट्टधर भट्टारक ललितकीर्ति थे। उसी पट्ट पर बैठने वाले ७ वें भट्टारक धर्मकीर्ति और ८ वें भट्टारक पद्मकीर्ति हुए हैं। धर्मकीर्ति ने ही श्रीरामदेव पुराण की रचना की है। यह पट्ट मूलसंघ कुन्दकुन्दाम्नाय के अन्तर्गत सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण के आम्नाय को मानने वाला था। चाँदखेड़ी के एक शिलालेख में इसे परवार भट्टारक पट्ट भी कहा गया है। श्री भट्टारक पद्मकीर्ति के समकक्ष दूसरे भट्टारक का नाम चन्द्रकीर्ति था। सम्भवतः ये पट्टधर भट्टारक थे। चन्देरी पट्ट के १० वें भट्टारक श्री सुरेन्द्रकीर्ति थे। उन्होंने ही अपने गुरु श्री सुरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से भिक्षाटन द्वारा बड़े बाबा के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने का विचार किया था। बाद में उनकी आयु पूर्ण हो जाने पर जो वेदी आदि का कार्य थोड़ा न्यून रह गया था, उसे नमिसागर ब्रह्मचारी ने पूरा कराया।

जिस समय यह कार्य सम्पन्न हो रहा था, बुन्देलखण्ड के प्रसिद्ध राजा छत्रसाल वहीं रह रहे थे। मुसलमानों के आक्रमण से त्रस्त-होकर वहाँ उन्हें बहुत काल तक रहना पड़ा। इससे प्रभावित होकर उन्होंने कुण्डलगिरि के तलभाग में एक विशाल सरोवर का निर्माण कराया और श्री मन्दिर के लिए अनेक उपकरण भेंट किये। उनमें दो मन का पीतल का घण्टा भी था।

बड़े बाबा के मन्दिर के बाहर दीवाल में लगे हुए विशाल पट्ट का यह सामान्य परिचय है। इससे इतना ही ज्ञात होता है कि वहाँ कुण्डलगिरि के ऊपर एक प्राचीन जिनमन्दिर था, उसमें जो बड़े बाबा की मूर्ति विराजमान थी, उसे ब्रह्मचारी नमिसागर ने भगवान् महावीर की मूर्ति कहा है। यह जिनमन्दिर और दोनों ब्रह्ममन्दिर, इस लेख से मालूम पड़ता है कि उसी काल से प्रसिद्धि में आये हैं और उसके फलस्वरूप वहाँ जनता का आना जाना प्रारम्भ हुआ है।

श्रीधर स्वामी की निर्वाण-भूमि : कुण्डलपुर

पंडित जगन्मोहनलाल शास्त्री
कुंडलपुर

अंतिम केवली श्रीधर स्वामी की निर्वाण-भूमि का नामोल्लेख तिलोयपण्णति, निर्वाण काण्ड आदि में आया है। इन्हीं के आधार पर उक्त निर्वाण भूमि का निर्णय करने का प्रयास कुछ विद्वानों द्वारा पिछले बीस, बाइस वर्षों में किया गया है। इस संबंध के प्रायः सभी शास्त्रीय उल्लेखों को दृष्टि में रखकर तत्सम्बन्धी उपलब्ध लेखों का मनन करके तथा कुछ नवीन उद्घाटित प्रमाणों पर विचार करते हुए इस लेख में भगवान् श्रीधर स्वामी के निर्वाण स्थल पर विचार करते हुये मध्यप्रदेश के दमोह जिले में स्थित प्रसिद्ध और मनोरम क्षेत्र कुण्डलपुर को उनकी सिद्धभूमि मानने के कारण और साक्ष्य प्रस्तुत करने का मैं प्रयास कर रहा हूँ। इस लेख का प्रारम्भ शास्त्रोक्त प्रमाणों से करते हुए सर्वप्रथम हम तिलोय-पण्णति की संदर्भित गाथा पर विचार करेंगे। इस यतिवृषभाचार्य द्वारा रचित ग्रंथ के स्वाध्याय काल में देखो (गाथा संख्या १४७९)। इस गाथा के पढ़ने के बाद अनेक प्रश्न उठ खड़े हुए। ये श्रीधर केवली कब हुए ? अन्तिम केवली तो जम्बू स्वामी कहे गये हैं, फिर ये चरम केवली कैसे हुए ? कुण्डलगिरि कौन-सा स्थान है ? इत्यादि। ग्रन्थ के अवलोकन से यह जाना जाता है कि केवली तो अनेक प्रकार के होते हैं पर प्रत्येक तीर्थंकर के समय दो तरह के केवली मुख्यतया कहे गये हैं : १. अनुबद्ध केवली और २. अननुबद्ध केवली। अनुबद्ध केवली वे हैं जो भगवान् के समवशरण में स्थित अनेक शिष्यों में भगवान् के पश्चात् मुख्य उपदेष्टा परंपरा में केवलज्ञानी होकर हुए। जो परिपाटी क्रम में नहीं हुए किन्तु केवली हुए, वे अननुबद्ध केवली कहलाते हैं। इनकी संख्या प्रत्येक तीर्थंकर के समय अलग-अलग बताई गई है। उदा-हरणार्थ, भगवान् ऋषभदेव के समवशरण में केवली संख्या २०००० पर अनुबद्ध केवली केवल ८४। श्री अजितनाथ तीर्थंकर के समवशरण में सम्पूर्ण केवल ज्ञानियों की संख्या २०००० पर अनुबद्ध केवली केवल ८४। इसी प्रकार प्रत्येक तीर्थंकर के अनुबद्ध और अननुबद्ध केवली को संख्यायें भिन्न हैं। भगवान् महावीर के समवशरण में केवली ज्ञानी ७०० थे और अनुबद्ध केवली केवल तीन थे।

इसका यह अर्थ है कि भगवान् महावीर के पट्टशिष्य श्री गौतम गणधर थे, भगवान् महावीर के पश्चात् कार्तिक कृष्ण १५ को ही श्री गौतम केवली हुए। उनके पट्ट पर रहने वाले सुधर्माचार्य थे जो गणधर तो भगवान् महावीर के थे पर उनको पट्ट श्री गौतम स्वामी के बाद प्राप्त हुआ। सुधर्माचार्य भी केवली हुए। उनके पट्ट पर श्री जम्बू स्वामी हुए जो केवली हुए। जम्बू स्वामी के पट्ट पर श्री विष्णुनन्दि तथा विष्णुनन्दि के पट्ट पर श्री नन्दिमित्र, नन्दिमित्र के पट्ट पर अपराजित, फिर गोवर्धन और उनके पट्ट पर श्रीभद्रबाहु (प्रथम) हुए, पर ये सब श्रुतकेवली हुए, केवली नहीं हुए। इनकी शिष्य-प्रशिष्य परम्परा आगे भूतबलि आचार्य तक ६८३ वर्ष प्रमाण चली। यद्यपि आचार्य परम्परा आगे भी चली परन्तु यहाँ तक अंगज्ञान रहा। इसके बाद अंगधारी नहीं हुए।

इस प्रकार पट्टधर शिष्यों की परम्परा में ३ केवली हुए। वे भगवान् महावीर के अनुबद्ध केवली थे। इनके सिवाय जो ७०० केवली समवशरण में थे, वे अननुबद्ध केवली थे। उनमें सभी केवली अपनी-अपनी आयु के अन्त में सिद्ध पद को प्राप्त हुये होंगे। यद्यपि इनका समयोल्लेख नहीं है, तथापि पञ्चम काल की आयु १२० वर्ष कहीं है तब इनकी आयु भी अधिक से अधिक इतनी अथवा चतुर्थकाल में इनका जन्म होने से कुछ वर्ष अधिक भी रही हो, तो भी भगवान् के मुक्तिगमन काल के बाद प्रथम शताब्दी में ही इनका मुक्तिगमन सिद्ध है। इन ७०० केवलियों में अन्तिम श्री श्रीधर स्वामी थे जिनका तिलोयपण्णति में कुण्डलगिरि में मुक्तिगमन बताया है।

ग्रन्थ में उक्त उल्लेख पढ़ने पर मेरा ध्यान सर्वप्रथम दमोह (मध्यप्रदेश) के निकट स्थित कुण्डलपुर ग्राम पर गया। यह पर्वत कुण्डलाकार (गोल) है, अतः कुण्डलगिरि हो सकता है। अन्यत्र ऐसा पर्वत नहीं है और न ऐसे ग्राम की ही प्रसिद्धि है। मूलनायक विशाल प्रतिमा भगवान् महावीर की है, ऐसी प्रसिद्धि है। तथापि चिह्न के स्थान पर इसमें कोई चिह्न नहीं है। अब यह प्रतिमा आदिनाथ को मानी जाती है और बड़े बाबा के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थान श्री १००८ श्रीधर केवली की निर्वाण-भूमि है, यह नीचे लिखे प्रमाणों से स्पष्ट है :

१. पूज्यपादकृत दशभक्ति में निर्वाण भक्ति के प्रकरण में निर्वाण क्षेत्रों के नामों की गणना है। ऋष्याद्रि-मेढ़क-कुण्डल-द्रोणीमति-विंध्य-पोदनपुर आदि अनेक निर्वाण भूमियों के नाम हैं। इनमें पंच पहाड़ियों में सभी के नाम नहीं हैं। केवल उनके नाम हैं जो सिद्ध स्थान हैं। वे हैं वैभार-विपुलाचल-ऋष्याद्रिक। कुण्डल शब्द के साथ मेढ़क शब्द है। इन दोनों के पूर्व प्रबल शब्द और उसके बाद ही पंचपहाड़ियों में उसका नाम है। इससे सिद्ध है कि जिस प्रकार मेढ़क मेढ़गिरि के लिए अलग से आया है, इसी प्रकार कुण्डल शब्द कुण्डलगिरि के लिये अलग से आया है। फलतः मेढ़गिरि की तरह कुण्डलगिरि स्वतन्त्र निर्वाण भूमि है। अन्यथा निर्वाण भूमि में उसका उल्लेख न पाया जाता। निर्वाण भूमियों में उसका नाम आना उस स्थान को सिद्ध-भूमि मानने के लिये पर्याप्त प्रमाण है।

निर्वाण भक्ति में इसके पूर्व के श्लोकों में तीर्थंकरों की निर्वाण भूमियों के नाम देकर आठवें श्लोक के पूर्व निम्न उत्थानिका भी है :

"इदानीं तीर्थकरेभ्योऽन्येषां निर्वाणभूमिम् स्तोतुमाह"

आठवें श्लोक में शत्रुञ्जय तुङ्गीगिरि का नामोल्लेख है—दसवें श्लोक में भी कुछ नाम हैं। इन सभी श्लोकों का अर्थ निम्न होता है :

द्रोणीमति (द्रोणगिरि), प्रबलकुण्डल, प्रबलमेढ़क ये दोनों, वैभार पर्वत का तलभाग, सिद्धकूट, ऋष्याद्रिक, विपुलाद्रि, बलाहक, विंध्य, पोदनपुर, वृषदीपक, सह्याचल, हिमवत्, लम्बायमान गजपंथ आदि पवित्र पृथ्वियों में जो साधुजन कर्मनाश कर मुक्ति पधारे, वे स्थान जगत् में प्रसिद्ध हुए। आगे के श्लोकों में इन स्थानों की पवित्रता का वर्णन कर स्तुति की है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में कुण्डल शब्द पर विचार करना है। टीका में कुण्डल और मेढ़क की "प्रबल कुण्डले प्रबल मेढ़के च" ऐसा लिखा गया है जिसका अर्थ स्वतन्त्रता से श्रेष्ठ कुण्डलगिरि और श्रेष्ठ मेढ़गिरि होता है। पांच पहाड़ियों में केवल ३ नाम आए हैं। ऋष्याद्रिक को टीकाकार ने श्रमणगिरि लिखा है। पांच पहाड़ियों के नाम निम्न हैं : (१) रत्नागिरि (ऋषिगिरि), (२) वैभारगिरि (३) विपुलाचल (४) बलाहक (५) पाण्डु। बौद्ध ग्रन्थों में पांच पहाड़ियों के नाम इस प्रकार है—(१) वेपुल्ल (२) वैभार (छिन्न श्रमणगिरि) (३) पाण्डव (४) इसगिरि (उदयगिरि, ऋषिगिरि) और (५) गिज्झकूट। धवला टीका में इनके निम्न नाम हैं—(१) ऋषिगिरि (२) वैभार (३) विपुलगिरि (४) छिन्न (बलाहक) (५) पांडु। इन तीनों नामावलियों से सिद्ध है कि पांचों पहाड़ियों में कुण्डलगिरि किसी का भी नाम नहीं था और न आज भी है। तब पञ्च पहाड़ियों में उसकी कल्पना का कोई आधार नहीं रह जाता। फलतः कुण्डलगिरि स्वतन्त्र निर्वाण भूमि है, यह सिद्ध होता है। नीचे लिखा प्राकृत निर्वाणभक्ति का उल्लेख भी इसे सिद्ध करता है :

अग्गल देवं वंदमि वरणधरे निवण कुण्डली वंदे।
पासं सिरपुरि-वंदमि होलागिरि संख देवम्मि ॥

वरनगर में अर्गलदेव (आदिनाथ) की तथा निर्वाण कुण्डली क्षेत्र की, श्रीपुर में श्री पार्श्वनाथ की तथा होलागिरि शंखद्वीप में श्री पार्श्वनाथ की वंदना करता हूँ।

यहाँ इस सिद्धक्षेत्र का उल्लेख 'णवण कुण्डली वन्दे' के रूप में उल्लिखित है। यहाँ कुंडली के साथ निर्वाण शब्द भी है। उस शब्दों पर विचार करने पर पर्वत कुण्डली (सर्प के) आकार है, ऐसा भी अर्थ होता है। क्षेत्र के दर्शक इसे सहज ही समझ सकेंगे। छैवरिया का मन्दिर सर्प के फणाकार है, उसके बाद यह पर्वत सर्प की तरह बल खाता हुआ कुछ उतार के रूप में है जहाँ एक जिन मंदिर है, फिर ऊपर चढ़ाव है जिस चढ़ाव की समाप्ति पर दो जिन मन्दिर हैं, फिर दो मंदिरों के बाद पर्वत पर बलखाते हुये उतार है। जहाँ बड़ा मन्दिर (मुख्य मन्दिर) है, फिर चढ़ाव पर एक मन्दिर है, पश्चात् पांडे के मन्दिर तक समान जाकर पीछे सर्प की पूंछ की तरह लंबायमान चला गया है। सर्पाकृति भी पर्वत की कुण्डलाकार के रूप में है। फलतः इसी आकार के कारण संभव है इसे "कुंडली" लिखा गया है। पर्वत के पीछे भाग से अनेक पर्वत भी कुण्डलाकार इससे जुड़े हैं।

संस्कृत निर्वाण भक्ति के उल्लेख पर यदि 'प्रबलं' शब्द पर विचार किया जाय, तो "श्रेष्ठ" के अतिरिक्त प्रबल का अर्थ 'अनेक' भी होता है। अतः जिसमें अनेक कुंडल हों उसे प्रबल कुंडल भी कहा जा सकता है। इन दोनों उल्लेखों से दमोह का कुंडलगिरि ही कुंडलाकार या सर्पाकार होने से 'कुंडलगिरि' सिद्ध क्षेत्र प्रमाण सिद्ध होता है।

प्रायः अनेक सिद्ध क्षेत्रों का परिचय आकार के आधार पर वर्णित है जैसे मेढ़ागिरि-मेढ़ के आकार, चूलगिरि चूल के आकार, द्रोणगिरि-द्रोण (दोना) के आकार, अथवा भौगोलिक स्थिति के अनुसार द्रोणगिरि का अर्थ होता है, जिस पर्वत के दोनों ओर पानी हो, उसे द्रोणगिरि कह सकते हैं। द्रोणगिरि सिद्ध क्षेत्र के दोनों ओर नदियां बहती हैं। अतः उसका इस अर्थ में भी सार्थक नाम है। इसी प्रकार कुंडल के समान गोलाकार या कुंडली (सर्प) के समान सर्पाकार होने से इस क्षेत्र का परिचय कुंडलगिरि या कुंडली पर्वत के रूप में दिया गया है। दोनों आकारों के कारण दमोह का कुंडलपुर "कुंडलगिरि" ही सिद्ध क्षेत्र है, यह सिद्ध होता है।

इसकी प्रसिद्धि कुंडलपुर के नाम से है, अतः इसे कुंडलगिरि नहीं मानना चाहिये। यह भी तर्क किन्हीं सज्जनों द्वारा उपस्थित किया जाता है। पर इतनी साधारण बात तो प्रत्येक बुद्धिमान् समझता है कि कुण्डलगिरि के समीप ग्राम को 'कुंडलपुर' ही कहा जायेगा। इस क्षेत्र के बदले पांडुगिरि (रामगिरि) को कुंडलगिरि मानने के संबंध में कोठिया जी के मंतव्यों की समीक्षा हमारे सहयोगी पूर्व में कर चुके हैं। अतः उसकी पुनरावृत्ति करने में कोई लाभ नहीं है। यदि पांच पहाड़ियों में इस सिद्ध क्षेत्र का उल्लेख करना अभीष्ट होता तो वे आचार्य अपने उल्लिखित पांच पहाड़ियों में से ही इसका नाम अवश्य लिखते। पांडुगिरि को वृत्ताकार (गोल) लिखा है, इससे कुंडलगिरि हो सकता है—ऐसी कल्पना तो भारत में पाये जाने वाले सभी गोलाकार पर्वतों पर की जा सकती है। यतिवृषभाचार्य ने स्वयं अपने उक्त ग्रंथ में 'पाण्डु' और 'कुंडलगिरि' का दो अलग-अलग नामों से विभिन्न स्थानों पर उल्लेख किया है। अतः यह सूर्य की तरह स्पष्ट है कि ये दोनों स्थान भिन्न-भिन्न ही उन्हें इष्ट थे। अतः पाण्डुगिरि को कुण्डलगिरि मानने की बात स्वयं निरस्त हो जाती है। इस पर हमारे सहयोगी ने अन्यत्र विचार किया है। फिर भी यदि किसी अन्य क्षेत्र को कुंडलगिरि प्रमाणित करने के इनसे अधिक कोई स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं, तो विद्वज्जन उसकी परीक्षा कर समुचित मत ग्रहण कर सकते हैं।

प्रस्तुत प्रमाणों से "कुण्डलगिरि कोई निर्वाण क्षेत्र है" यह सिद्ध हो गया। प्रश्न अब यह है कि वह स्थान कहाँ है ? कुण्डलगिरि मङ्गलाष्टक में आता है। वह मनुष्य लोक के बाहर कुण्डलगिरि द्वीप में है। वह तो निर्वाण भूमि नहीं हो सकता। अन्य चार स्थानों के विषय में मेरे सहयोगी पं० फूलचंद्र जी ने पिछले लेख में विचार किया ही है। इनमें दमोह जिले का कुंडलपुर ही यहाँ अभीष्ट है। यह स्थान श्री श्रीधर स्वामी की निर्वाण भूमि है, ऐसा मेरा वर्षों से मत चला आ रहा है। राजगृह की पंच पहाड़ियों में कुण्डलगिरि होने की आशंका उक्त प्रमाणों में निरस्त हो जाती है।

इसे अतिशय क्षेत्र कहा जाता है। एक अत्याचारी मुगल शासक ने मूर्तिखण्डन करने का यहाँ प्रयास किया था। पर उसके सेवकों पर तत्काल मधुमक्खियों का ऐसा आक्रमण हुआ कि वे सब भाग खड़े हुए। इस अतिशय के कारण यह अतिशय क्षेत्र माना जाता है। निर्वाण-भूमि अभी तक नहीं माना जाता था। यहाँ प्रश्न है कि मुगल काल में यह अतिशय क्षेत्र माना जाए, पर क्षेत्र तो उससे बहुत पूर्व का है। यह छठवीं शताब्दी की कला का प्रतीक है। वहाँ जैनेतर मन्दिर भी, जिसे ब्रह्म मन्दिर कहते हैं, छठी शताब्दी से है ऐसा कहा जाता है। तब छठी शताब्दी से मुगल काल तक १००० वर्ष तक यह कौन-सा क्षेत्र था? यह कुण्डलाकार पर्वत ऐसा स्थान नहीं है जहाँ किसी राजा का किला या गढ़ी है जिससे यह माना जाए कि उसने मन्दिर और मूर्ति बनवाई होगी। कोई प्राचीन विशाल नगर भी वहाँ नहीं है कि किन्हीं सेठों ने या समाज ने मन्दिर निर्माण कराया हो। तब ऐसी कौन-सी बात है जिसके कारण यहाँ इतना विशाल मन्दिर और मूर्ति बनाई गई। तर्क से यह सिद्ध है कि यह सिद्ध-भूमि ही थी जिसके कारण इस निर्जन जंगल में किसी ने यह मन्दिर बनाया तथा अन्य ५७ जिनालय भी समय-समय पर यहाँ बनाये गये हैं। ये जिनालय वि० सं० ११०० से १९०० तक के पाये जाते हैं। सन् संवत् लेख रहित भी बीसों खंडित जिनबिम्ब वहाँ स्थित हैं। वहाँ १७५७ का जो शिलालेख है, वह मन्दिर के निर्माण का नहीं बल्कि जीर्णोद्धार का है। लेख संस्कृत भाषा में है जिसमें यह उल्लेख है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य के अन्वय में यशःकीर्ति नामा मुनीश्वर हुए। उनके शिष्य श्री ललितकीर्ति तदनंतर धर्मकीर्ति पश्चात् पद्मकीर्ति पश्चात् सुरेन्द्रकीर्ति हुए। उनके शिष्य सुचन्द्रगण हुए जिन्होंने इस स्थान को जीर्ण-शीर्ण देखकर भिक्षावृत्ति से एकत्रित धन से इसका जीर्णोद्धार कराया। अचानक उनका देहावसान हो गया, तब उनके शिष्य ब्र० नेमिसागर ने वि० सं० १७५७ माघ सुदी १५ सोमवार को सब छतों का काम पूरा किया।

ऐसी किंवदन्ती चली आ रही है कि चन्द्रकीर्ति (सुचन्द्रगण) नामक कोई भट्टारक भ्रमण करते-करते यहाँ आये, उनका दर्शन करके ही भोजन का नियम था, किन्तु कोई मन्दिर पास न होने से वे निराहार रहे। तब मनुष्य के छद्मवेश में किसी देवता ने उन्हें कुण्डलगिरि पर ले जाकर स्थान का निर्देश किया। वे वहाँ पर गये और उस विशालकाय प्रतिमा का दर्शन किया तथा उन्होंने ही इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया। किंवदन्ती शिलालेख के लेख से मेल खाती है, अतः सत्य है। यह जीर्णोद्धार प्रसिद्ध बुन्देलखण्ड-केसरी महाराज छत्रसाल के राज्यकाल में हुआ। कहते हैं अपने आपत्तिकाल में महाराज छत्रसाल इस स्थान में कुछ दिन प्रच्छन्न रहे हैं और पुनः राज-पाट प्राप्त करने पर उनकी तरफ से ही तालाब सीढ़ियाँ आदि का निर्माण भक्ति-वश कराया गया है।

इन सब प्रमाणों के होते हुए भी लोग संदेह करते थे कि वस्तुतः यही स्थान श्रीधर केवली की निर्वाण भूमि है, इसका कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। सन् ६७ में, मैं वीर निर्वाण महोत्सव पर कुण्डलगिरि गया था। वहाँ बड़े मन्दिर के चौक में एक प्राचीन छतरी बनी है और उसके मध्य ६ इन्च लम्बे चरण-युगल हैं। अनेकों बार दर्शन किये इन चरणों के। ये भट्टारकों के चरण चिन्ह होंगे, ऐसा मानते रहे। सोचा, चरण चिन्ह तो सिद्ध-भूमि में स्थापित होने का नियम है, यह तो अतिशय क्षेत्र है, सिद्धभूमि नहीं है, अतः यहाँ चरणों पाया जाना यह बताता है कि किन्हीं 'भट्टारकों' ने अपने या अपने गुरु के चरण स्थापित किये होंगे। कभी विशेष ध्यान नहीं दिया पर इस बार हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब पुजारी ने हमें बताया कि चरणों के नीचे की पट्टी पर कुछ लेख है। हमने तत्काल उसे ले जाकर जमीन में सिर रखकर उसे बारीकी से पढ़ा तो घिसे अक्षरों में कुछ स्पष्ट पढ़ने में नहीं आया, तब जल से स्वच्छ कर कपड़े से प्रक्षालन कर उसे पढ़ा तो उन चरणों के पाषाण से सामने की पट्टी पर लिखा है :

"कुण्डलगिरौ श्री श्रीधर स्वामी"

इस लेख को पढ़ अपनी वर्षों की धारणा सफल प्रमाणित हो गई। इस प्रमाण की समुपलब्धि में कोई सन्देह नहीं रह गया। यह सूर्य की तरह सप्रमाण सिद्ध है कि ये चरण श्री श्रीधर स्वामी के हैं और यह क्षेत्र श्री कुण्डलगिरि है।

संभवतः कुंडलगिरि के नाम के कारण नीचे बसे छोटे से ग्राम का नाम कुंडलपुर पड़ा होगा। इसके पूर्व इस ग्राम को 'मन्दिर टीला' नाम से कहते थे। शिलालेख में इसे इसी नाम से उल्लिखित किया गया है। संभवतः ब्र० नेमिसागर जी का ध्यान भी चरणों के उस छोटे लेख पर नहीं गया, जैसे कि पचासों बरसों से उनके दर्शन करने वाले हजारों व्यक्तियों का नहीं गया। यह लेख इसके बाद क्षेत्र के अध्यक्ष श्री राजाराम जी बजाज, सिंघई बाबूलाल जी कटनी तथा वहाँ के एक मन्दिर निर्माणकर्ता ऊँचा के सिंघई तथा अन्य कई लोगों ने पढ़ा है।

चौक में छतरी प्रारम्भ से ही है, नवीन नहीं है। उससे चौक में स्थान की कमी आ जाती है पर प्राचीन होने से अभी तक सुरक्षित चली आई है। यह भी इस बात का प्रमाण है कि यह श्रीधर केवली का मुक्ति स्थान ही है। छतरी बिना प्रयोजन नहीं बनाई जाती। १५०१ के संवत् की एक जीर्ण प्रतिमा में उस स्थान का नाम निषधिका (नसियाँ) भी लिखा है। कटनी के स० सि० धन्यकुमार जी ने श्रीधर केवली के नवीनचरण भी पधराए हैं।

इन प्रमाणों के प्रकाश में यह बिल्कुल स्पष्ट है कि 'कुन्डलगिरि' (दमोह, म० प्र०) ही श्रीधर केवली की निर्वाण-भूमि है।

●

अध्यात्म का क्षेत्र वैज्ञानिक क्षेत्र है। इस यात्रापथ के पथिक को वैज्ञानिक होना और बनना ही पड़ता है। ऐसा नहीं होता कि आचार्य वैज्ञानिक बन जाय, सत्य की खोज करे और उसके अनुयायी उस खोजे हुए सत्य का उपभोग करें। प्रत्येक साधक को वैज्ञानिक बनना होता है, परीक्षण करना होता है और सत्य को ढूढ़ निकालना होता है।

—महाप्रज्ञ

दिगम्बर जैन परवार समाज, जबलपुर : संस्कारधानी के लिये अवदान

सिघई नेमिचन्द्र जैन
जबलपुर

राष्ट्रसंत विनोबा भावे ने जबलपुर को 'संस्कारधानी' कहा था। इसके धार्मिक, लौकिक-सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिवेश की प्रगति में स्थानीय दिगम्बर जैन परवार समाज का अपना विशिष्ट एवं ऐतिहासिक योगदान है। यह समाज प्रारम्भ से ही जबलपुर के सुख-दुःख का साथी रहा है। इसकी प्रत्येक यात्रा में इस समाज के व्यक्ति सदैव सक्रिय रहे हैं। भारतीय स्वातन्त्र्य-युग में इस समाज ने सदैव कन्धे-से-कन्धा मिलाकर अग्रणी कार्य किया। इस समाज द्वारा जबलपुर नगर के उत्थान में अपने विशिष्ट श्रम, धन और लगन से धार्मिक मन्दिरों के अतिरिक्त अस्पताल, धर्मशाला, विद्यालय एवं पाठशालायें, कूप-बावड़ी और अनेक सार्वजनिक कोटि की सुविधायें उपलब्ध कराई हैं और अपनी धार्मिक सामाजिकता को प्रतिष्ठित रूप से अक्षुण्ण रखा है। इन गौरवपूर्ण सेवाओं का कुछ विवरण यहाँ दिया जा रहा है :

(अ) **विविध जैन मन्दिर :** वैसे तो जबलपुर में जैन मन्दिर अनेक हैं, पर हनुमानताल, जवाहरगंज, राइट टाउन एवं मढ़िया जी के मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। १८८६ में निर्मित हनुमानताल के दुमंजिले किलेनुमा मन्दिर में २२ वेदियाँ हैं जिसमें एक वेदी में काँच की आकर्षक पच्चीकारी है। यह काँच मन्दिर सिघई भोलानाथ जी ने बनवाया था। इस मन्दिर के अधीन एक धर्मशाला, कुँआ, व्यायामशाला भी है। इसी मन्दिर का एक विशाल भवन फुहारे पर है जिसमें नगर-प्रसिद्ध महावीर पुस्तकालय, जैन क्लब और कुछ दूकानें भी हैं। ये मन्दिर को स्वावलम्बी बनाती है। इस मन्दिर में प्रातः-सायं शास्त्रसभा एवं रात्रिकालीन पाठशाला की भी व्यवस्था है।

बड़े फोहारे एवं त्रिपुरीगेट के मध्य स्थित दो मंजिला जवाहरगंज जैन मन्दिर अपनी सुषमा के लिये विख्यात है। इसमें १० वेदियाँ है। यहाँ भी शास्त्र-सभा एवं रात्रि पाठशाला चलती है। एक-सौ पचास वर्ष पुराने इस मन्दिर में प्रतिदिन पाँच सौ पुरुष-महिलायें पूजन करते हैं तथा प्रातः ५ बजे से रात्रि ११ बजे तक कोई २००० भक्त दर्शन करने आते हैं। इस मन्दिर के साथ अब एक चार मंजिली आधुनिक धर्मशाला भी बन गई है। मन्दिर की ओर से एक व्यायामशाला की व्यवस्था भी की जा चुकी है।

राइटटाउन, गोल बाजार का आदिनाथ जैन मन्दिर अपनी केन्द्रीय स्थिति के लिए प्रसिद्ध है। स० सिं० दालचन्द नारायणदास जी ने इस मन्दिर के साथ एक हाईस्कूल, जैन महाविद्यालय एवं जैन छात्रावास बनाया है। कुछ समय पूर्व यहाँ एक सभाकक्ष-सत्यार्थ भवन भी बनाया गया है। इन्हीं सिघई जी ने जवाहरगंज जैन मन्दिर में एक सगमरमरी सुन्दर वेदी का निर्माण कराया है। इनके ही द्वारा निर्मापित धर्मशाला के एक खण्ड में पिछले साठ वर्षों से श्रीमती काशीबाई जैन औषधालय का सञ्चालन भी हो रहा है। इसमें प्रतिदिन प्रायः दो सौ रोगी आते हैं।

परवार समाज की एक निर्धन वृद्धा के द्वारा ही आज से लगभग १०८५ वर्ष पूर्व गढ़ा के पास की पहाड़ी पर मन्दिर का निर्माण कराया गया था। इसे **पिसनहारी की मढ़िया** कहते हैं। वर्तमान में यह समस्त जैन समाज का संगम-स्थल, तीर्थस्थल, मुनिस्थल एवं विद्या-स्थल बन गयी है। इस मढ़िया के पीछे प्रवेशद्वार के बायें तरफ स० सिं० बेनी प्रसाद जो धर्मचन्द्र जी ने १९५८ में महावीर स्वामी का मन्दिर बनवाया था। वहीं फिर छिकौड़ी लालजी, भागचन्द्रजी

व खादीवाले खूबचन्द्रजी के सहयोग से चौबीस तीर्थंकरों की लघु मन्दरियाँ बनवाई गईं। पहाड़ के नीचे चौ० गनपतलाल सुरखीचन्द द्वारा एक विशाल कक्ष वाला मन्दिर बनवाया गया और फिर उसी के सामने श्रीमती लक्ष्मीबाई जैन ने संगमरमरी मान-स्तम्भ की रचना कराई। श्री धनपतलाल मूलचन्द्र प्रतिष्ठान ने मढ़िया जी के दक्षिण-प्रवेश द्वार के पहाड़ पर आदिनाथ मन्दिर बनवाया। इसकी पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा १९५८ में हुई थी। इन्होंने एक धर्मशाला भी बनवाई और आज नन्दीश्वर द्वीप के निर्माण में भी एक लाख रुपये दान देकर अपनी धार्मिक परम्परा जागृत रखी है।

उपरोक्त चार मन्दिरों के अतिरिक्त (i) मिलौनीगंज का स्व० वंशीधरजी ड्योढ़िया द्वारा निर्मित जैन मन्दिर, (ii) हनुमानताल का नन्हें मन्दिर, (iii) हजारीलाल रूपचन्द्र ड्योढिया द्वारा निर्मित मन्दिर, (iv) मैयालाल नेमचन्द्र चौधरी द्वारा निर्मित मन्दिर, (v) क्षमाधर परमानन्द एवं गरीबदास गुलझारीलाल द्वारा निर्मित पुरानी बजाजी का मन्दिर तथा (vi) दि० जैन मन्दिर भेड़ाघाट के मन्दिर भी इस समाज ने निर्मित एवं जीर्णोद्धारित किए हैं। मन्दिरों के विवरण से स्पष्ट है कि जैन मन्दिर केवल पूजा या धार्मिक स्थलमात्र नहीं होते, वे शिक्षा, संस्कृति एवं सामाजिकता के जीवन्त संचारक होते हैं।

(ब) शिक्षा-संस्थान : जैन मन्दिरों में मुख्यतः धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था रहती है, पर हमारे समाज ने आधुनिक युग के अनुरूप शिक्षण की व्यवस्था की उपेक्षा नहीं की। स० सि० भोलानाथ रामचन्द्र जी ने संस्कारधानी को तीन ऐसे भवन उपलब्ध कराये जिनसे जबलपुर का शिक्षा जगत् उपकृत हुआ है। इनमें एक (i) कस्तूरचन्द्र जैन हितकारिणी सभा हाईस्कूल, (ii) दूसरा भोलानाथ रतनचन्द लॉ कालेज और तीसरा (iii) सि० सोनाबाई छात्रावास के रूप में उपयोग में आ रहा है। आज हितकारिणी सभा १५ विद्यालय चला रही है जिसमें लगभग दस हजार छात्र शिक्षा ले रहे हैं।

हमारा समाज बालिकाओं की शिक्षा के प्रति भी सचेष्ट रहा है। इस हेतु सिंघई धनपतलाल मूलचन्द्र ने जवाहरगंज में एक तीन-मंजिला विशाल भवन बनवाकर प्रायः चालीस वर्ष पूर्व पुत्रीशाला को दे दिया था। इसे एक ट्रस्ट आज भी चला रहा है। इसमें प्राय० ५०० छात्रायें अध्ययनरत हैं।

गोलबाजार के जैन मन्दिर से सम्बन्धित हाईस्कूल एवं डी० एन० जैन महाविद्यालय की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। बालकों को संस्कृत एवं सुशिक्षित बनाने के लिये हमारा समाज मढ़ियाजी के ही एक बहुत बड़े मैदान में गणेश प्रसाद वर्णी गुरुकुल का सञ्चालन करता है। आजकल वहाँ २७ छात्र अध्ययन करते हैं। इसी क्षेत्र में वर्णी व्रती आश्रम भी है। यहाँ आ० विद्यासागरजी की अनुकम्पा से ब्राह्मीविद्या आश्रम की स्थापना की गयी है जहाँ प्रायः छयालीस ब्रह्मचारिणियाँ एवं अनेक ब्रह्मचारी अध्ययन कर रहे हैं। इसी क्षेत्र में आ० विद्यासागर शोध संस्थान भी स्थापित है जिसके निदेशक जैन गणित के प्रसिद्ध विद्वान् एल० सी० जैन हैं।

(स) चिकित्सीय सुविधायें : स० सि० गरीबदास गुलजारीलाल के सुपुत्र रायबहादुर मुन्नालाल रामचन्द्र ने जबलपुर स्टेशन के पास एक बहुत बड़ा बंगला और प्लाट, महिलाओं के अस्पताल के लिये, सरकार को खरीदकर दिया था। यहीं पर आज एम० आर० एल्गिन अस्पताल बना हुआ है। यह नगर का प्रमुख महिला चिकित्सालय है।

ब० चौ० गुलाबचन्द्र कपूरचन्द्र ने नगर कोतवाली के समक्ष एक अस्पताल तयार कराकर शासन को दान दिया था। उन्होंने नगर के विक्टोरिया अस्पताल के दो वार्डों के बीच एक लोह-सेतु भी बनवाया। इन्होंने ही हितकारिणी सभा के मैदान में विज्ञान भवन बनाकर सभा को समर्पित किया।

श्री धनपतलाल मूलचन्द्र ने पिसनहारी की मढ़िया के नीचे सड़क के किनारे एक धर्मशाला बनवाई। अन्य दानवीरों ने भी अस्पताल धर्मशालायें बनवाई हैं। इनमें मेडिकल कालेज के अस्पताल में चिकित्सा कराने वाले लोग एवं उनके परिवारजन सुरक्षापूर्वक रहकर रोगियों की चिकित्सा कराते हैं।

(ब) साहित्यिक एवं राजनीतिक योगदान : इस समाज के अनेक साहित्यकारों तथा राजनीतिज्ञों ने नगर को गौरवान्वित किया है। स्व० रूपवती किरण, स्व० सुन्दरदेवी इसी समाज की साहित्यिक विभूतियाँ रही हैं। वर्तमान में सुरेश सरल, निर्मल आजाद, श्रीमती विमला चौधरी, हुकुमचन्द्र अनिल आदि इस नगर को स्थान-स्थान पर प्रतिष्ठित कर रहे हैं। कवियों के साथ, विद्वानों की भी यहाँ कमी नहीं है। बाबू फूलचन्द्रजी, पं० रामचन्द्रजी, पं० ज्ञानचन्द्र शास्त्री, पं० राजेन्द्रकुमार जी, पं० विरधीचन्द्रजी आदि की ज्ञानगंगा से श्रावक प्रतिदिन आप्लावित होते हैं। शैक्षिक क्षेत्र में श्री सुशीलकुमार दिवाकर, एल० सी० जैन, गुलाबचन्द दर्शनाचार्य, के० सी० जैन० आदि के नाम विश्रुत हैं। पत्रकारिता के क्षेत्र में बड़कुर एवं नारद-बन्धुओं के नाम उल्लेख्य हैं। राजनीतिक क्षेत्र में श्री निर्मलचन्द्रजी एडोवकेट भू० पू० सांसद, मुलायमचन्द्रजी, हंसमुखजी व अशोक बड़कुर के नाम तो सुख्यात ही हैं। इन सभी व्यक्तियों ने अपने अपने क्षेत्रों में महनीय योगदान देकर हमारे समाज एवं नगर का गौरव बढ़ाया है। हमें अपने समाज पर विश्वास है कि भूत एवं वर्तमान के समान वह भविष्य में भी संस्कारधानी को उच्चतः संस्कृत करने में अपना योगदान करता रहेगा।

●

हमारा शरीर साधनसम्पन्न प्रयोगशाला है। प्रयोग के साधन और उपकरण भी हमारे पास हैं। चैतन्य के सारे प्रयोग हमारी खोज के सूक्ष्मतम उदाहरण हैं। आज प्रयोगशालाओं में जितने भी सूक्ष्म तरंग, सूक्ष्म ऊर्जा या उच्च आकृतिवाले उपकरण हैं, उससे भी सूक्ष्मतम उपकरण हमारे शरीर में प्राप्त हैं। वे स्वतः सञ्चालित हैं। उनको काम में न लेने के कारण वे निष्क्रिय हो गये हैं। हम उनकी जंग हटाने का, विभिन्न ध्यान विधाओं के अभ्यास से, प्रयास कर रहे हैं।

—किसने कहा, मन चंचल है।

शहडोल जिले की प्राचीन जैन कला और स्थापत्य*

डा० राजेन्द्र कुमार बंसल
कार्मिक प्रबन्धक, अमलाई पेपर मिल्स, अमलाई, शहडोल

शहडोल जिले की भौगोलिक एवं प्राकृतिक स्थिति तथा महत्व[1]

शहडोल जिला, रीवा संभाग (मध्य प्रदेश) का एक प्रमुख ऐतिहासिक एवं उद्योग प्रधान जिला है। इसके पूर्व में सुरगुजा, पश्चिम में जबलपुर, उत्तर में सतना एवं सीधी तथा दक्षिण में मण्डला एवं बिलासपुर जिले हैं। इस जिले का अधिकांश भाग वन, पहाड़, कंदरा, गुफा, नदी, नाले, घाटी, जल-प्रपात एवं प्राचीन टीलों से आच्छादित है। प्रकृति ने वरदहस्त से इसे प्राकृतिक सौन्दर्य के उपहार प्रदान किये है। आधुनिक युग का काला सोना अर्थात् कोयला जिले के भूगर्भ में विशाल मात्रा में भरा पड़ा है। कोयले के अलावा यहाँ अग्निरक्षक मृत्तिका, बाक्साइट, गारनेट, जिप्सम, कच्चा लोहा, चूना, पत्थर, तांबा एवं अभ्रक आदि खनिज सम्पदा विपुल मात्रा में उपलब्ध है। औद्योगिक महत्व के अतिरिक्त इस, जिले का धार्मिक एवं ऐतिहासिक महत्व भी है।

पुण्य सलिला नर्मदा, सोन एवं जुहिला के उद्गम-स्थल का सौभाग्य इसी जिले में मेकल की पर्वत श्रेणियों को प्राप्त है। अमरकंटक का उल्लेख मत्स्य-पुराण के १८६ एवं १८८ वें अध्याय में हुआ है। महाकवि कालीदास ने भी मेघदूत में आम्रकूट के नाम से अमरकंटक का उल्लेख किया है। इसी कारण अमरकंटक पौराणिक काल से मानव की उदात्त एवं धार्मिक भावनाओं का प्रेरणास्थल बना हुआ है।

प्राकृतिक वैभव तो जिले को उदारतापूर्वक मिला ही है, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं कलात्मक वैभव की दृष्टि से भी यह जिला अत्यन्त समृद्ध एवं सम्पन्न रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस जिले के पुरातत्वीय वैभव एवं प्राचीनता की जड़ें प्रागैतिहासिक काल की परतों को गहराई में छिपी है। इस जिले को पाषाणकालीन मानव के आश्रयदाता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जिले के गजवाही ग्राम के समीप "लिखनामाड़ा" नामक स्थल है। यहाँ एक डोंगरी में हाल की छापें है जो गेरुआ रंग को है जिसे स्थानीय लोकदेवता के रूप में पूजते हैं। वस्तुतः ये छापें हाल की सामान्य छापें न होकर दोहरी ज्यामितिक रेखाओं से घिरे कई चतुर्भुज या चक्रयन्त्र हैं जो श्री देवकुमार मिश्र द्वारा पाषाण कालीन चित्रित शैलाश्रय निरूपित किये गये हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वैदिक सभ्यता के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में नर्मदा नदी एवं विन्ध्याचल का नामोल्लेख नहीं है। अमरकंटक पुराण काल में प्रसिद्ध हुआ। नन्द-मौर्य काल के पश्चात् विन्ध्यक्षेत्र सातवाहन राजाओं के अन्तर्गत रहा। बांधवगढ़ के निकटवर्ती स्थानों में कुषाणकालीन ताम्र मुद्रायें एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय की स्वर्ण मुद्रायें मिलीं। इसमें यह ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में इनका राज्य रहा होगा।

ईसा की सातवीं शताब्दि के मध्य में वामराज ने डाहल मंडल में कलचुरी साम्राज्य की नींव डाली। बाद में इसकी राजधानी त्रिपुरी बनी। यह राजवंश त्रिपुरी के चेदी या कलचुरी के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ। इसी राजवंश के अधीन शहडोल जिला ईसा की १२ वीं शताब्दि तक रहा। इस राजवंश के पतन के साथ १३ वीं शताब्दी से जिले

में राजनैतिक अस्थिरता का ताण्डव प्रारम्भ हुआ जो सन् १८६८ तक चला। बाद में ब्रिटिश शासकों द्वारा १८५७ के गदर में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति वफादारी के पुरस्कार स्वरूप इसे रीवा राज्य में विलीन कर दिया गया।[२]

त्रिपुरी के कलचुरी शासक और उनकी कला

कला एवं स्थापत्य के विकास की दृष्टि से शहडोल का कलचुरी काल ही विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कलचुरी शासक साहित्य, कला एवं धर्मप्रेमी थे। उन्होंने राजकोष से अनेक कलात्मक शैव मन्दिरों का निर्माण किया। उनके काल में कला एवं कलाकारों को राज्य का संरक्षण प्राप्त था।[3] अमरकंटक का स्वर्ण मन्दिर ११ वीं सदी में राजा कर्ण द्वारा बनवाया गया। इसी प्रकार, भेड़ाघाट का वैद्यनाथ मन्दिर राजा नरसिंहदेव द्वारा निर्मित किया गया। इनके काल में जैन, वैष्णव एवं शैव मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण भी राजकीय संरक्षण में हुआ। भेड़ाघाट, कारीतलाई, बिलहरी, त्रिपुरी, पनागर, नोहटा, रीठी, सोहागपुर, सिंहपुर, अमरकंटक, मऊबेला, बैजनाथ, मड़ई एवं रीवा के निकट चिद्रेह, गुर्गी, मंहसांव आदि ऐसे स्थान हैं जहाँ कलचुरी कला का उन्मुक्त विकास हुआ। इन स्थानों से प्राप्त मूर्तियाँ कलचुरी कला के प्रतीकात्मक उत्कृष्ट नमूने कहे जा सकते हैं।

कलचुरी-कालीन जैन स्थापत्य कला

यह एक रोचक तथ्य है कि यद्यपि कलचुरी शासक गण शैव मतावलम्बी थे, परन्तु उनकी यह शैव श्रद्धा जैनधर्म के विकास में बाधा नहीं बनी। कलचुरी कालीन अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि उस काल में जैन मन्दिर निर्मित हुये थे। तीर्थंकरों एवं उनके शासन देवी-देवताओं के स्थापत्य अवशेषों से ज्ञात होता है कि उस काल में जैनधर्म को राजकीय एवं व्यक्तिगत, दोनों ही संरक्षण प्राप्त थे। उनकी प्रजा का एक प्रभावशाली वर्ग जैन धर्मावलम्बी था। इस काल में शहडोल जिले के सोहागपुर या उसके आस-पास जैन मन्दिर विद्यमान थे। पुरातत्वीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि कलचुरी नरेशों के काल में जैनधर्म अतिसमृद्ध अवस्था में था।[४]

जैन धर्मावलम्बियों द्वारा इस काल में अनेक भव्य जैन मन्दिर, धर्मशालाएँ, स्तूप, स्मारक एवं साधुओं के लिये गुफाएँ आदि निर्मित कीं। शहडोल जिले के सोहागपुर, सिंहपुर, अनुपपुर, पिपरिया, अरा (कोतमा), सिंहवाड़ा, अर्जुली, मऊग्राम, बिरसिंहपुर पाली, उमरिया, सीतापुर, बरबसपुर, पथरहटा, चिटोला, विक्रमपुर, अँतरिया, झगरहा, बघवापरा, चुआ, पावगाँव, लखबरिया, सिलहरा, आदि स्थानों में जैन स्थापत्य एवं मूर्तिकला के अवशेष रूप में तीर्थंकरों एवं उनके शासन देवी-देवता (यक्ष-यक्षियों) की मूर्तियाँ विपुल मात्रा में उपलब्ध हुई हैं। सोहागपुर की गढ़ी में या उसके आस-पास जैन मन्दिर विद्यमान थे। इस तथ्य की पुष्टि सोहागपुर के ठाकुर के महल में संग्रहीत अनेक जैन मूर्तियों से होती है। इसमें शासन देवी-देवताओं मूर्तियाँ भी सम्मिलित हैं। इस महल के निर्माण में अधिकांश रूप से जैन मन्दिरों के अलंकृत अवशेषों का उपयोग किया।[५] रीवा राज्य गजेटियर के अनुसार पाली के एक हिन्दू मन्दिर (बिरासनी देवी) में अनेक प्राचीन जैन प्रतिमाएँ थीं। शहडोल नगर के पांडव नगर, राजाबाग, सोहागपुर-गढ़ी, जिलाध्यक्ष कार्यालय, कोतवाली, शक्तिपीठ एवं दुर्गा मन्दिर, शाहंशाह आश्रम, बाण गंगा एवं विराट मन्दिर में जैनकला के अवशेष एवं खण्डित मूर्तियाँ अभी-भी विद्यमान हैं।

प्रारम्भ में जैन साधु अधिकतर वनों-कन्दराओं में रहते थे और भ्रमणशील होते थे। कलचुरी काल में इस क्षेत्र में श्रमण साधुओं का उन्मुक्त विहार होता था और वे निर्भय होकर नगरों से दूर एकान्त वनों में आत्मसाधना करते थे। क्षेत्र निरीक्षण के मध्य मुझे कनाड़ी ग्राम में एक जैन गुफा मिली। इसके अतिरिक्त, जिले में लखबरिया एवं सिलहरा (मालूमाड़ा) में भी गुफाएँ हैं। यहाँ जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ एवं कलावशेष हैं[६]। इससे प्रकट होता है कि ये गुफाएँ भी जैन साधुओं के आश्रम स्थल हेतु निर्मित की गयी होंगी।

पुरातत्त्वीय सर्वेक्षण के आलोक में जैन कला

सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वविद श्री बैगलर ने सन् १८७३ में शहडोल जिले का पुरातत्त्वीय सर्वेक्षण किया था। उनके प्रतिवेदन के अनुसार सोहागपुर के महल एवं इसके निकटवर्ती क्षेत्रों में जैन मन्दिरों के अवशेष, तीर्थंकर मूर्तियाँ एवं शासन देवी-देवताओं की अनेकों प्रतिमा बिखरी थीं। उनके अनुसार सोहागपुर प्रक्षेत्र १०-११ वीं शताब्दि में जैन धर्मावलम्बियों का विशाल केन्द्र रहा होगा। जैन कला से सम्बन्धित उनके प्रतिवेदन अवलोकनीय हैं*।

(१) सोहागपुर का महल (गढ़ी)

सोहागपुर के महल में जैन तीर्थंकर एवं जैन देवी-देवताओं की अनेकों मूर्तियाँ विद्यमान थीं। ये मूर्तियाँ दीवालों में लगी थीं। महल के प्रवेश द्वार के बाहर भी अनेक जैन मूर्तियाँ थीं। महल के प्रांगण की दीवाल पर १२ हाथों वाली देवी की मूर्ति थी जिसके ऊपर एक जैन नग्न मूर्ति बैठी थी। प्रतिमा के नीचे चिड़िया का चिह्न था। मस्तक पर एक विशाल नाग अपना फन फैलाये था। मूर्ति का लेख अपठनीय था। यह मूर्ति भगवान् पार्श्वनाथ एवं उनकी शासनदेवी पद्मावती की है। इस मूर्ति के निकट एक बहुत भव्य जैन सिंहासन (पेडेस्टल) एवं अन्य जैन मूर्तियां थीं। वर्तमान में, इस महल में चार तीर्थंकरों के अधिष्ठान शेष है, जिनका पंजीयन हुआ है।

(२) ११वीं सदी के विराटेश्वर मन्दिर की निर्माण शैली

लाल, पीले एवं गहरे कत्थई रंग के बलुआ पत्थरों से निर्मित यह मन्दिर सोहागपुर गढ़ी से लगभग एक किलोमीटर दूर स्थित है। बैगलर ने इस मन्दिर को खजुराहों के समकालीन ११वीं सदी का निरूपित किया है। इसकी विशाल शिखर पत्थर क्षरण के कारण पीछे की ओर झुकती जा रही है। इसकी सुरक्षा हेतु तत्काल समुचित उपाय अपेक्षित है।

स्थापत्य कला एवं शैली की दृष्टि से बैगलर ने इस मन्दिर को खजुराहो के जवारी मन्दिर के अनुरूप निरूपित किया। इसका विशाल शिखर खजुराहो के जैन मन्दिरों की शैली एवं स्थापत्य कला के अनुरूप है। बैगलर इस मन्दिर की भव्यता, कलात्मकता और शैली से बहुत प्रभावित हुआ और उसने इस मन्दिर के विस्तृत अध्ययन का सुझाव दिया। इस मन्दिर के महामंडप में दो जैन तीर्थंकर की प्रतिमाएँ भी संग्रहीत हैं।

(३) १०वीं सदी के दो जैन मन्दिर

विद्यमान विराट मन्दिर के पूर्वीखण्ड के विस्तृत मैदान में बैगलर ने मन्दिरों के भग्नावशेषों एवं खण्डहरों को देखा। नवीन सोहागपुर नगर के निर्माण में इन अवशेषों का उपयोग खदान के रूप में किया गया। बैगलर ने आठ मन्दिरों के समूह को देखा जिनमें दो मन्दिर निश्चित ही जैन थे। जैन मन्दिर के निकट एक मूर्ति रखी थी जिस पर 'श्रीचन्द्र' अंकित था। इस आकृति पर हिरण का चिह्न था। एक अन्य मूर्ति के पादमूल पर कुछ शब्द अंकित थे जो धारदार शस्त्रों के खरोंच दिये गये थे। बैगलर के अनुसार यह जैन मन्दिर दसवीं सदी के आसपास का होगा। इन आठ मन्दिरों में दो वैष्णव, दो शैव के थे। दो मन्दिरों को पहिचाना नहीं जा सका था। उत्तर खण्ड में एक विशाल मन्दिर का स्मारक था जिसके चारों ओर आरंग एवं भेड़ाघाट के चौसठ योगिनी मन्दिरों जैसी छोटी-छोटी कोठरियाँ थीं, मन्दिर थे जिसके दोनों ओर दो बावली थी। लगता है कि यह तपस्वियों का उपासना-गृह या यात्रियों का आश्रम स्थल रहा होगा।

(४) प्राचीन जैन भग्नावशेष: जैन मूर्ति एवं स्तूप स्मारक

उत्तर की ओर भग्न मन्दिरों के दो समूह थे। इन समूहों के मध्य एक एकांकी टीला था जिससे समीप जैन मूर्तियाँ थीं। एक मूर्ति के पीछे कुछ अंकित था। इसके दक्षिण-पूर्व में विशाल मन्दिरों का समूह था जिसमें अनेक

भुजाओं वाली एक देवी की मूर्ति थी। इसके मस्तक पर एक बैठी हुयी मूर्ति थी जो किसी जैन तीर्थंकर की थी। यह एकांकी टीला किसी जैन मन्दिर का खण्डहर रहा होगा।

बेगलर ने बावली के किनारे एक अर्द्धजैन स्तूप, खण्डित मूर्तियों सहित देखा। इसके अलावा अन्य अनेक जैन मूर्तियों के अवशेष बावली के किनारे विद्यमान थे। उस समय बेगलर ने यहाँ २१ स्मारक देखे। एक स्मारक में जैन शिल्प कला से उत्कृष्ट नमूने लगे थे और कुछ जैन मूर्तियाँ बिखरी पड़ी थीं।

व्यक्तिगत निरीक्षण

नगर में नवनिर्मित तीर्थंकर महावीर संग्रहालय हेतु मूर्तियों के संग्रह के लिये लेखक द्वारा वर्ष १९७८ में सिंहपुर, मऊ (ब्योहारी), कनाड़ी, सोहागपुर, बिरसिंहपुर, चिटाला, विक्रमपुर, अमरकंटक आदि स्थानों का निरीक्षण किया गया। इन स्थानों में जैन कला की दृष्टि से सिंहपुर, कनाड़ी एवं मऊ का उल्लेख करना यथोचित होगा।

(१) कनाड़ी की जैन गुफा

कनाड़ी ग्राम शहडोल से लगभग ६० किमी० दूर शहडोल-रीवा मार्ग पर स्थित टेटका ग्राम से ८ किमी० दूर जंगल में स्थित है। यहाँ कुलहरिया नाले के किनारे बलुआ पत्थर की चट्टान काटकर गुफायें निर्मित की गयी थीं। चट्टान को काटकर एक एक आँगन बनाया गया जिसके तीन ओर गुफायें थीं। इनमें से एक गुफा विद्यमान है जिसकी छत टूट चुकी है। यह गुफा बालू से भरी हुई है। मुख्यद्वार के दोनों ओर दो जैन पद्मासन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। मूर्तियों के ऊपर नागफण विद्यमान है जिसके मुद्रानुसार ये मूर्तियाँ जैन तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ की हैं। यह गुफा जैन शैल गुहा का सुन्दर उदाहरण है। गुफा की सफाई की जाने पर अन्य पुरातत्त्वीय जानकारी मिलने की सम्भावना है।

(२) मऊ ग्राम के १०-११ वीं सदी के भग्नावशेष

यह ग्राम ब्योहारी कस्बे से ६ किमी० दूर बघेरा नाले के किनारे शहडोल-रीवा मार्ग पर स्थित है। ग्राम से लगभग एक किमी० दूरी पर १५-२० प्राचीन टीलें भग्नावस्था में विद्यमान हैं जो प्राचीन गाथा को अपने अन्दर संजोये हैं। सोहागपुर के समान मऊ ग्राम भी १०-११ वीं शताब्दि में मन्दिर नगर कहलाता होगा। यहाँ पर जैन, वैष्णव एवं शैव मत की मूर्तियाँ प्राप्त होती रही हैं। सतना दि० जैन मन्दिर में भगवान् शान्तिनाथ की कार्योत्सर्ग मुद्रा में एक विशाल मूर्ति है जो मऊ ग्राम की अमूल्य धरोहर है। पहले ग्रामवासी उसे भीमबाबा की मूर्ति के नाम से पूजते थे। मऊ ग्राम की अन्य मनोहारी मूर्तियाँ ब्यौहारी के जैन मन्दिरों में स्थापित की गयीं। भग्न मन्दिरों के टीलों के समीप खेतों की सतह पर लाल मूर्तियाँ एवं मृद् खण्डों के अवशेष फैले हैं। उत्खनन एवं टीलों की सफाई में अनेक पुरावशेष मिलने की सम्भावना है। जनश्रुति के अनुसार साधुओं का बड़ा संघ यहाँ के पाषाणों में समाविस्थ हो गया था।

ग्रामवासियों ने कुछ मूर्तियाँ संग्रहित की हैं। इसमें एक तीर्थंकर फलक वाली ७था ६५ संमी० के शीर्ष युक्त जैन मूर्ति है जो १०-११ वा सदी की है। प्राप्त सूचनानुसार मऊ के निकट ३०-४० वर्ष पूर्व सैकड़ों जैन-अजैन मूर्तियाँ थीं जो धीरे-धीरे लुप्त होती गयीं।

(३) सिंहपुर

शहडोल से १५ किमी० दूरी पर दक्षिण दिशा में सिंहपुर ग्राम है। ईसा की १०वीं से १३वीं सदी में सिंहपुर एवं उसके निकटवर्ती ग्राम विभिन्न संस्कृतियों एवं कला के केन्द्र रहे। तालाब के किनारे एक भव्य मन्दिर जीर्ण-शीर्ण अवस्था में अभी भी विद्यमान है। यह मन्दिर पंचमढ़ी के नाम से प्रसिद्ध है। इस मन्दिर का प्रमुख द्वार अत्यन्त कलात्मक एवं मनोहारी है। उसके द्वार की बरणी (ऊपरी हिस्सा) में दरार आ जाने के कारण यह असुरक्षित हो गया है। इस

मन्दिर की जर्णोद्धार अजोली ग्राम के प्राचीन पुरावशेषों से किया गया। मन्दिर में एक गढ़ी के अवशेषों में जैन तीर्थंकरों एवं उनके शासन देवी-देवताओं की अनेक भव्य एवं कलात्मक मूर्तियाँ थीं। कालान्तर में इनमें से अधिकांश को निष्कासित कर तालाब पर डाल दिया गया ताकि उनका उपयोग (दुरुपयोग) कुल्हाड़ी घिसने, कपड़ा धोने एवं लड़कों को पानी में कूदने के काम में हो सके और इन मूर्तियों के स्थान पर मन्दिर में अन्य देवताओं की मूर्तियाँ प्रस्थापित कर दी गयी हैं।

पंचमढ़ी मन्दिरों को अनेक पुरातत्त्वविद् जैन मन्दिर मानते हैं। मन्दिर से भगवान् आदिनाथ के साथ खड्गासन एवं पद्मासन चौबीसी बनी हुई है। इस मन्दिर में और भी कई स्थानों पर शासन देवियों के ऊपर तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। मन्दिर के पृष्ठ भाग में भगवान् आदिनाथ और पार्श्वनाथ की खड्गासन प्रतिमायें हैं।

(४) राजाबाग संग्रहालय, सोहागपुर

सोहागपुर के कुँवर मृगेन्द्र सिंह का वर्तमान निवास "राजाबाग" कलचुरीकालीन स्थापत्य एवं मूर्तिकला का एक समृद्ध संग्रहालय है। पुरातत्व की दृष्टि से एक शताब्दि पूर्व जो स्थिति सोहागपुर के महल (गढ़ी) की थी, वही स्थिति आज राजाबाग की है। प्राप्त जानकारी के अनुसार, राजाबाग में जैन कला की १३ मूर्तियाँ एवं अधिष्ठान हैं। इनमें तीर्थंकर की मूर्तियाँ, जैन शासन देवी-देवता एवं अधिष्ठान सम्मिलित हैं।

इन मूर्तियों में प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ को मूर्ति उल्लेखनीय है। यह मूर्ति सफेद चलुआ पत्थर पर उत्कीर्ण की गयी है। यह ६८ सेमी० ऊँची है और ११-१२वीं सदी का है। अलंकृत पादपीठ पर प्रधान शासन देवी चन्द्रेश्वरी पद्मासन मुद्रा में है। वृषभचिन्ह सहित ऋषभदेव पद्मासन मुद्रा में ध्यानस्थ है। उनके घुंघराले केश उष्णीबद्ध है जो कन्धों पर लटक रहे हैं। हृदय पर श्रीवत्स का चिह्न है और गले में त्रिवलय है। पृष्ठभाग में अष्टदल कमल की आभायुक्त प्रभामण्डल है। मूर्ति के दायें-बांये पुष्पमाल लिये विद्याधर तथा चामरधारी इन्द्र हैं। मस्तक के ऊपर छत्र है। छत्र पर दुंदुभिक एवं शचि देवी बैठी है। मस्तक के दांये-बांये दो-दो तीर्थंकर प्रतिमाएँ पद्मासन मुद्रा में ध्यानरत है। यह मूर्ति सौम्य-मुद्रायुक्त, आकर्षक एवं वीतराग भाव सम्पन्न है। इस मूर्ति के समीप भ० शांतिनाथ का शिलापट्ट है जिसमें भगवान् शांतिनाथ को कार्योत्सर्ग मुद्रा में दर्शाया है। इस पर हिरण चिह्न अंकित है। हृदय पर श्रीवत्स का चिह्न है। केश घुंघराले एवं उष्णीबद्ध हैं। मूर्ति आजानुबाहु एवं प्रभावोत्पादक है। इसके दांये-बांये यक्ष-यक्षिणी की अलंकृत अलंकृत प्रतिमाएँ है।

(५) राजकीय संग्रहालय धुबेला में शहडोल का पुरातत्व

राजकीय संग्रहालय धुबेला में जैन तीर्थंकरों एवं उनके शासन देवी देवताओं की ५० से अधिक प्रतिमाएँ हैं। इनमें से कलचुरी कालीन प्रतिमाएँ मूलतः रीवा राज्य के विभिन्न स्थानों से संग्रहीत की गयी हैं[८]। व्यक्तिगत निरीक्षण के अनुसार २२ प्रतिमायें शहडोल जिले से संग्रहीत की गयी प्रतीत होती हैं जो लाल बलुए पत्थर से निर्मित है। इनमें अधिकतर ऋषभनाथ, नेमीनाथ, पार्श्वनाथ तीर्थंकरों एवं गोमेध, अम्बिका, चक्रेश्वरी एवं ब्रह्मा यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएँ है जो पद्मासन एवं कार्योत्सर्ग मुद्रा में है। इन प्रतिमाओं में बाइसवें तीर्थंकर नेमीनाथ की मूर्ति उल्लेखनीय है जो शहडोल जिले की जैन कलचुरी कला का सफल प्रतिनिधित्व करती है[९]। यह मूर्ति ११४ सेमी० ऊँची है जिसमें तीर्थंकर नेमीनाथ को पद्मासन मुद्रा में एक उच्च पाद पीठ पर ध्यानस्थ बैठे हुये दर्शाया गया है। प्रतिमा के ऊपर तीन पंक्तियों में ध्यान मुद्रा में इक्कीस तीर्थंकर बैठे हुये हैं। छत्र के दोनों ओर दो हाथी पुष्प वृष्टि कर रहे है जिनके दोनों ओर एक-एक तीर्थंकर कार्योत्सर्ग मुद्रा में अंकित हैं। प्रतिमा के अलंकृत पादपीठ पर नेमीनाथ का लांछन शंख अंकित है। पादपीठ के किनारों पर तीर्थंकर के उपासक गोमेध एवं यक्षिणी अंबिका की अलंकृत मूर्तियां प्रदर्शित है। यक्षी अंबिका की खड़ी मुद्रा में अलंकृत आकृति उल्लेखनीय है। समग्र रूप से यह मूर्ति प्रभावक, कलात्मक नैसर्गिक सौन्दर्य एवं सजीवता से ओत-प्रोत है।

बिरला पुरातत्व संग्रहालय, भोपाल में भी शहडोल जिले के अंतरा (सिंहपुर) नामक ग्राम से लाल बलुये पत्थर से निर्मित अंबिका की मूर्ति संग्रहीत की गयी है। इसकी ऊँचाई १०५ सेमी० है। यह मूर्ति जैन तीर्थंकर नेमीनाथ की उपासिका शासन देवी है। अंबिका ललितासन में द्वि-पंक्तिबद्ध कमल के ऊपर विराजमान है। इसके बांये हाथ में प्रियंकर (कनिष्ठपुत्र) उसकी गोदी में बैठा है। ज्येष्ठ पुत्र शुभंकर पाद पीठ पर खड़ा हुआ है। शुभंकर के बांये हाथ में आम्र फल है और दायां हाथ ऊँचा उठा है। अंबिका का दाया हाथ खंडित है। मस्तक पर मुकुट, कान में कुण्डल, गले में कपूरहार, हाथ में कड़ा, मेखला एवं ऊँगली में अँगूठी आदि आभूषण से यह मूर्ति अलंकृत है। प्रतिमा वस्त्रयुक्त है जिसकी लहरें पैरों में कलात्मक रूप से दर्शायी गयी हैं। अंग का ऊपरी भाग निर्वस्त्र है। कंधों पर उत्तरीय दर्शाया गया है। आम्रफलों के गुच्छे और आभामंडल दोनों ओर अंकित है। प्रतिमा के दोनों ओर हार लिये परिचारिका प्रदर्शित है। अम्बिका का वाहन सिंह पादपीठ के बायीं ओर दर्शाया गया है।

प्रतिमा के ऊपर मध्य में तीर्थंकर नेमीनाथ ध्यानस्थ बैठे हैं जिनके दोनों ओर उड़ते विद्याधर युगल दर्शाये गये हैं। देवी की मूर्ति यद्यपि खंडित है किन्तु उसकी वृत्ताकार मुखाकृति, पुष्ट वक्ष और क्षीण कटिभाग, आभामय मुखमडल एव सौम्य मुद्रा आदि से इस प्रतिमा के कलात्मक सौन्दर्य में वृद्धि हुयी है। यह प्रतिमा ९-१० सदी की कलचुरी जैनकला का श्रेष्ठ नमूना है।

(६) पार्श्वनाथ जैनमंदिर, शहडोल में जैन पुरातत्व

यह मंदिर शहडोल नगर के मध्य में स्थित है। मंदिर में अलंकृत तीन तोरण द्वार के अवशेषों सहित कुल बीस कलचुरी कालीन जैन पुरावशेष हैं। इनमें भगवान् आदिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर की मनोज्ञ मूर्तियाँ हैं जो पद्मासन ध्यानस्थ मुद्रा में हैं। एक छोटी मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा में है। ये मूर्तियाँ ९-१० सदी की हैं जो सोहागपुर के प्राचीन जैन मंदिरों के भग्नावशेषों से संग्रहीत की गयी हैं। इनमें १२२ सेमी० ऊँची भगवान् महावीर की अखंडित मूर्ति अतिशय युक्त कही जाती है जो मूलनायक के रूप में पूजनीय है। भगवान पार्श्वनाथ की सप्तफणों से युक्त १२२ सेमी० की कलात्मक मूर्ति भी उल्लेखनीय है जो ध्यानरत मुद्रा में है। इनके केश घुंघराले तथा उष्णीबद्ध हैं। हृदय पर श्रीवत्स का चिह्न है। यह इन्द्र, शासन देवी-देवता, लांछन एवं छत्र आदि से युक्त है। ये मूर्तियां दर्शक को सहज ही मोह लेती हैं। यहाँ भगवान् आदिनाथ की १०८ तीर्थंकरोंयुक्त मूर्ति उल्लेखनीय है।

यहाँ पद्मासन मुद्रा में जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ (ऋषभदेव) ध्यानस्थ हैं। ऋषभ चिह्न के ऊपर शासन देवी चन्द्रेश्वरी अंकित हैं। शासन देवी के ऊपर पुष्प पत्रों से अलंकृत पादपीठ आसन है और उसके दायें-बायें व्यक्ति उन्मुक्त मुद्रा में प्रदर्शित हैं। केश घुँघराले एवं उष्णीबद्ध हैं। हृदय पर श्रीवत्स का चिह्न एवं कण्ठ में त्रिवलय है। आदिनाथ नासाग्रदृष्टि किए हैं। पृष्ठ भाग पद्म मण्डल चक्र की आभा से शोभित है। पद्म मण्डल चक्र के ऊपर छत्र है जिसके दोनों ओर घटों को धारण किए हुए गजरत्नों द्वारा घटाभिषेक किया जा रहा है। घटों एवं गजों के नीचे चामरधारिणी गन्धर्व कन्यायें उत्कीर्ण हैं। मूर्ति के दोनों ओर सौधर्म एवं ईशानेन्द्र हैं।

भगवान् आदिनाथ की बायीं ओर १८ एवं दायीं ओर १९ तीर्थंकर पद्मासन मुद्रा में ६-६ पंक्तियों में दर्शाये गये हैं। प्रत्येक पंक्ति में ३-३ तीर्थंकर हैं। गज के बायीं ओर ६ एवं दायीं ओर ७ तीर्थंकर पद्मासन मुद्रा में हैं। मस्तक के ऊपर १५ तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रा में प्रदर्शित है। इनके ऊपर तीन पंक्तियों में ३० तीर्थंकर पद्मासन मुद्रा में दर्शाये गये हैं। इनके दोनों ओर ३-३ पंक्तियों में दो-दो तीर्थंकर पद्मासन मुद्रा में सुशोभित हैं। इस प्रकार मूल नायक सहित कुल १०८ तीर्थंकर पद्मासन एवं कायोत्सर्ग मुद्रा में प्रदर्शित हैं। यह मूर्ति ९-१० सदी की लाल बलुए पत्थर पर निर्मित है। यह बघवा ग्राम के आसपास के प्राप्त हुई है।

(७) दिगम्बर जैन मन्दिर, बुढ़ार

दि० जैन मन्दिर बुढ़ार में एक अलंकृत तोरण द्वार के अवशेष सहित दस प्राचीन जैन कलाकृतियाँ हैं। इनमें तीन मूर्तियाँ सात फणों युक्त भगवान् पार्श्वनाथ की एवं दो अन्य तीर्थंकरों की मूर्तियाँ कार्योत्सर्ग मुद्रा में है। एक मूर्ति में भगवान् पार्श्वनाथ का लांछन नाग पीठिका के रूप में कुण्डली मारे बैठा है। एक द्विमूर्तिका कलाकृति है जिसमें दो आजानुबाहु तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं। इनमें एक पद्मासन मुद्रा में है एवं दो अन्य छोटी मूर्तियाँ हैं। ये मूर्तियाँ लाल बलुए पत्थर से निर्मित हैं जो कहीं कहीं खण्डित हैं। ये मूर्तियाँ ९-१० सदी से सम्बन्धित हैं, जिन्हें हर्रो, करकटी, खिरौआ, सीतापुर, अर्जुला आदि ग्रामों एवं लखबरिया गुफाओं से प्राप्त कर संग्रहीत किया गया है। निश्चित ही, उस काल में इन स्थानों पर जैन मन्दिर रहे होंगे।

(८) तीर्थंकर महावीर संग्रहालय : शहडोल

जिले के पुरावशेषों की सुरक्षा एवं संरक्षण हेतु दो दशाब्दियों पूर्व शहडोल के तत्कालीन जिलाध्यक्ष श्री रामबिहारीलाल श्रीवास्तव की प्रेरणा एवं सहयोग से सिंहपुर एवं उनके निकटवर्ती क्षेत्रों से सैकड़ों जैन-अजैन मूर्तियाँ एवं कलावशेष एकत्रित कर राजेन्द्र क्लब, शहडोल के प्रांगण में संग्रहीत किये गए थे। राजकीय संरक्षण एवं सुरक्षा की व्यवस्था के अभाव में ये मूर्तियाँ शनैःशनैः लुप्त होती गयीं। वहाँ अब कुछ महत्वहीन अवशेष पड़े हैं।

अन्तिम तीर्थंकर भ० महावीर का २५००वाँ निर्वाण महोत्सव सन् १९७५ में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाया गया। उनकी पुण्य स्मृति में जिलाध्यक्ष शहडोल की अध्यक्षता में गठित जिला समिति ने तीर्थंकर महावीर संग्रहालय एवं उद्यान के निर्माण का संकल्प किया। फलस्वरूप नगर के मध्य में छत्तीस हजार वर्गफीट के भूभाग पर सार्वजनिक सहयोग से इसका निर्माण किया गया और महावीर के त्याग के मार्ग के अनुरूप उसे सर्व उपयोग हेतु जिला पुरातत्वीय संघ को समर्पित कर दिया गया। इस संग्रहालय में १०वीं–११वीं सदी के ३५ पुरावशेष एवं मूर्तियाँ हैं। इनमें ५९ सेमी० ऊँची एक मूर्ति भगवान् आदिनाथ की है जिसके दोनों ओर दो-दो तीर्थंकर क्रमशः पद्मासन एवं कार्योत्सर्ग मुद्रा में अंकित हैं। अलंकृत इन्द्र, गज विद्याधर आदि पूर्ववत् हैं। मूर्ति पुरातत्वीय महत्व की है। ●

सन्दर्भ—

१. शहडोल सूचना एवं प्रकाशन विभाग, मध्यप्रदेश, भोपाल।

1a. Prof. S. R. Sharma, Some Aspects of Archaeological Works in M. P. (Hindi), Govt. Degree College, Shahdol, English Section, Page 6. (1965–66).

2. Rewa State Gazetteer, Vol. IV, 1907, Page 18–87.

3. R. K. Sharma, "Royal Patronage to Art of Kalchuri Dynasty", Prachya Pratibha, Bhopal, Vol. V, No. 2, July 1977, Page 21.

४. शिवकुमार नामदेव, भारतीय जैनकला को म० प्र० की देन, सन्मतिवाणी, इन्दौर, मई ७५, पृ० १३।

5. Rewa State Gazetteer, Vol. IV, 1907, Page 104.

६. डॉ० राकेशकुमार उपाध्याय, 'शहडोल जिले की पुरातत्वीय संपदा' दैनिक जनबोध, शहडोल, दिनांक १९-३-७९, पृष्ठ ३।

7. A. Cunnighm, A. S. I. R., Vol. VII, P. 239–46.

८. बालचंद जैन, जैनकला एवं स्थापत्य, खण्ड ३, अध्याय ३८, पृष्ठ ५९६।

9. S. K. Dixit, A Guide to the State Museum—Dhubela, Nowgaon, P. 12.

● अवधेशप्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवाँ, म० प्र० की जैन विद्या संगोष्ठी में पठित शोधपत्र का सार।

खण्ड ६

साहित्य

Common Terminology in Early Buddhist and Jain Texts

K. R. NORMAN

Cambridge (*UK*)

Introduction

When Western scholars began to investigate Buddhism and Jainism in the nineteenth century, they very soon noticed that the two religions had much technical terminology in common, although the precise meanings of such terms did not necessarily coincide.

It is very interesting to make a comparative study of the terminology of the two religions, since it is possible thereby to gain some idea of the religious and cultural background in which Buddhism and Jainism came into being. The explanation for such parallels in terminology can sometimes be seen as a borrowing from one religion to the other or, perhaps more often, a common borrowing by both from a third religion or from the general mass of religious beliefs which we may assume were current at the time the two religious leaders lived c. 500 B. C.[1] To this general background of religious thought we can probably assign most of the vocabulary of the ascetic type of religion, e. g. such words as *śramaṇa*, *pravrajyā*, *pravrajita*, *tapas*, and *ṛṣi*.

It sometimes happens that one or other of the two religions, while retaining the use of a word or concept, has nevertheless lost its original meaning. The fact that words and ideas in this category have parallels in the other religion may perhaps help us, by examining the contexts in which such words occur, or by investigating the commentarial tradition about them, to discover the meaning which they had originally, or at some earlier time.

Technical terms

Although there are many technical terms common to the two religions, e. g. *brāhmaṇa*, *gati*, *mokṣa*, *nirvāṇa*, *bhāvanā*, *dhuta*, *tā*(*d*)*i*[2], *phāsu*(*ya*)[3], *yoga*, the meanings do not always

1. Or 400 B. C., if we adopt the later dating. See H. Bechert, "The date of the Buddha reconsidered", *Indologica Taurinensia* (=*IT*), X, 1982, pp. 29-36 and A remark on the problem of the date of Mahāvira", *IT*, XI, 1983, pp. 287-90.
2. For *tā*(*d*)*in*, see K. R. Norman, *Elders' Verses* I, London 1969, verses 41 and 1077, and *Elders' Verses* II, London 1971, verses 249-50; J. W. de Jong, "Notes on the *Bhikṣuṇi-Vinaya* of the Mahāsāṃghikas'', in L. Cousins et al. (edd.), *Buddhist Studies in Honour of I. B. Horner*, Dordrecht 1974, pp. 63-70 (p. 69 n. 8); and L. Alsdorf, Les *etudes jaina : etat present et taches futures* (=*Etudes*), Paris 1965, pp. 5-6.
3. See C. Caillat, "Deux etudes de moyen-indien", *JA* 1960, 1960, pp. 41-55, and "Nouvelles remarques sur les adjectifs moyen-indiens *phāsu*, *phāsuya*", *JA* 1961, pp. 497-502; and Alsdorf, *Etudes*, p. 45.

coincide precisely. It has been shown, for example, that both Buddhism and Jainism make use of the term *āsava*[4], but the Buddhist usage does not fit the etymology of the word, while the Jain usage does.

The words *kevalin*[5] and *pariññāya/parinnāya*[6] are found in both Buddhist and Jain texts, but they are not adequately explained in the Buddhist commentaries. The meanings given in the Jain commentaries help us to understand how the words are to be understood in their Buddhist contexts.

There are also less technical terms such as *māla-vihāra*[7], where the existence of the word in clearly defined contexts in one religion enables a meaning to be provided for the other religion. There are also such concepts as the Pratyeka-buddhas[8], including the details down to the names and the causes of their enlightenment. The two religions share with brahmanical Hinduism the idea of the *nidhis*[9], although the names and number of these are not the same in all three religions.

There are also a number of epithets found in Buddhist and Jain texts which are clearly taken over from some early soure, since they have the same good sense in both religions, whereas in later secular literature they have a somewhat pejorative sense, e. g. *yakṣa.*[10]

Literary parallels

The parallels between the two religions are found in such matters as texts, e. g. the Jātakas and the parallels in the Uttarādhyayanasūtra discussed by Alsdorf[11] and others[12]. The parallelism goes right down to metrical parallels—both religions use the Old Ārya (or Old

4. Alsdorf, *Etudes*, pp. 4-5.
5. See H. Nakamura, "Common elements in early Jain and Buddhist literature", *IT*, XI, 1983, pp. 318.
6. See Norman, *Elders' Verses* II, verse 168; and N. Tatia, "Parallel developments in the meaning of *parijñā* in the canonical literature of the Jainas and Buddhists", *IT*, XI, 1983, pp. 293-302.
7. Quoted by Alsdorf, *Etudes*, p. 7.
8. See K. R. Norman, "The Pratyeka-buddha in Buddhism and Jainism", in Denwood and Piatigorsky (edd.), *Buddhist Studies : ancient and modern*, London 1983, pp. 92-106.
9. See K. R. Norman, "The nine treasures of a *cakravartin*", *IT*, XI, 1983, pp. 183-93.
10. See Nakamura. *op. cit.* (in n. 5), p. 318.
11. See L. Alsdorf, "Uttarajjhaya Studies", in *Indo-Iranian Journal* (=*IIJ*), VI, 1962, pp. 110-36 and "The story of Citta and sambhuta", in the *Felicitation Volume for Prof. S. K. Balvalkar*, Benares 1957, pp. 202-208.
12. e. g. A. Mette, "Eine jinistische Parallele zum Mūsika-Jātaka", in *Studien zum Jainisms und Buddhismus*, Wiesbaden 1981, pp. 155-61.

Giti) metre[13]—and verbal parallels, of the sort discussed and listed by Nakamura.[14] We find similes used in common, e. g. the grass and its sheath.[15]

Sometimes the usage is just sufficiently different for us to be able to understand the original meaning, e g. *khaggi-visāṇaṃ va ega-jāe* [16], which Jacobi translates "single and alone like the horn of a rhinoceros."[17] Here the neuter form—*visāṇaṃ* makes it clear that it is the horn which is solitary. Despite the fact the Pāli commentators knew the point of the simile, there are still some who are reluctant to accept their explanation [18], since the usage in Pāli in the compound *khagga-visāna-kappa* is such that we cannot be certain whether it is the rhinoceros or its horn which is single.

The parallelism in literature and literary ideas can undoubtedly be ascribed to the whole mass of floating ascetic-type literature which we know was in existence at that time. This accounts for the fact that parallels can often be seen not just between Buddhist and Jain literature, but also between the literature of those two religions and that of brahmanical Hinduism.

Epithets of the prophets

Jacobi noted[19] that the Buddhists and Jains "give the same titles or epithets to their prophets", e. g. *Jina, arhat, Mahāvīra, sarvajña, Sugata, Tathāgata, Siddha, Buddha, Sambuddha, Parinivṛta, mukta.*

It is not known where the idea of a number of previous prophets came from, but it may be no conincidence that the Jains have 24 Jinas, while the Buddhists have 24 previous Buddhas[20], plus Gotama Buddha. The addition of three extra Buddhas is clearly a late addition to the general idea in Buddhism.

---

13. For discussions of the Āryā metre see L. Alsdorf, "Itthiparinnā", *IIJ* II, 1958, pp. 249-70; A. K. Warder, *Pali Metre*, London 1967, §§ 249-70; and K. R. Norman, "The origin of the Āryā metre", to appear in the *N. A. Jayawickrama Felicitation Volume.*
14. See Nakamura, *op. cit.* (in n. 5), pp. 304-14. For other lists of phrases and verses found in both Jain and Buddhist texts, see G. Roth, "Dhammapada verses in Uttarajjhāyā 9", *Sambodhi* V, 2-3, 1976, pp. 166-69; and W. B. Bollee, *Reverse index of the Dhammapada, Sutta-nipāta, Thera-and Therigāthā Pādas*, Reinbek 1983.
15. See K. R. Norman, "Kriyāvāda and the existence of the soul", in *Buddhism and Jainism*, Cuttack 1976, pp. 4-12. For other similes see Nakamura, *op. cit.* (in n. 5).
16. H. Jacobi, *The Kalpasūtra of Bhadrabāhu*, Leipzig 1879, Jinacaritra § 118 (p. 62).
17. H. Jacobi, *Jaina Sutras* Part 1, Sacred Books of the East, Vol. XXII, Oxford 1884, p. 261.
18. See N. A. Jayawickrama, "Sutta Nipāta. The Khaggavisāna Sutta", *University of Ceylon Review*, VII, 2, 1949, pp. 119-28.
19. See H. Jacobi, *op. cit.* (in n. 17), p. xix.
20. For the number of Buddhas see R. Gombrich : "The significance of former Buddhas in the Theravadin tradition", in Somaratna Balasooriya et. al. (edd.), *Buddhist Studies*

Great difficulties sometimes arise in the interpretation of the long ornate adjectives applied to the Buddha and Jina, for the words were probably adopted at a very early date, and then employed in stereotyped lists. As a result of this their meanings were forgotten. The antiquity of some of these long epithets is confirmed by the fact that they are sometimes examples of the *vedha* metre.[21]

One such epithet is *vāsī-candana-kalpa*[22] which occurs in Buddhist Sanskrit in a list of epithets of the Buddha. Its meaning was unclear and caused much discussion, but the problem of its interpretation was solved when it was observed that there was Jain parallel *vāsicaṃdaṇakappa* which occurs in a list of comparable epithets in a Jain canonical text.[23] The explanation given by the Jain commentators enables us to understand its meaning. Similarly we find *sama-losta-kañcana* in stock lists of epithets in Buddhist texts and *samu-leṭṭhu-kaṃcana* in comparable lists in Jain texts.[24] A longer, extended version of the first of these epithets occurs in the form *vāsi-caṃdaṇa-samāṇa-kappa*, and an extended version of the last occurs in the form *sama-tiṇa-maṇi-leṭṭhu-kaṃcaṇa* in some Jain texts.[25]

The interpretation of the Pāli canonical word *vivattacchadda*, which is applied to the Buddha, has caused difficulty, because the word which appears in parallel passages in Buddhist Sanskrit texts is *vighuṣṭaśabda*, which is sufficiently different to suggest that the ancient translators also had problems in understanding its meaning.[26] A parallel for the *chadda* (Sanskrit *chadma*) portion of the compound has been seen with the Jain technical term *chadmastha*,[27] which Jaini translates "one who is still in bondage,"[28] but it has recently become possible to

in honour of Valpola Rahula, London 1980, pp. 62-72 (p. 68), where he suggests the number 24 was taken over by the Buddhists from the Jains.

21. For *vedhas* see H. Jacobi, "Indische Hypermetra und hypermetrische Texte", *Indische Studien*, XVIII, 1885, pp. 389 foll.
22. See K. R. Norman, "Middle Indo-Aryan Studies (I)", *Journal of the Oriental Institute (Baroda)*, IX, 3, 269-71.
23. See Uttarādhyayanasūtra, XIX, 92.
24. For Buddhist *sama-losta-kañcana* see the *Buddhist Hybrid Sanskrit Dictionary, s. v.* vāsi-candana-kalpa. For Ardha-Māgadhī *sama-leṭṭhukaṃcaṇa* see B. Leumann, *Das Aupātika Sūtra*, Leipzig 1883, § 29 (p. 38).
25. The longer form *vāsi-caṃdaṇa-samāṇa-kappa* (Kalpasūtra § 119 (p. 631; Aupapātika Sutra § 29 (p. 371) scans --/-uu/u-u/-v; the longer version *sama-tiṇa-maṇi-leṭṭhu-kaṃcaṇa* (Kalpasūtra § 119 (p. 631) scans u u u u/u u-/u-u/v.
26. For *vivatta-cchadda* see K. R. Norman, "Two Pali etymologies", *Bulletin of the School of Oriental and African Studies*, 42, 1979, 321-28
27. See O. von Hinüber, "Die Entwicklung der Lautgruppnen *-tm-*, *-dm-* und *-sm-* im Mittel- und Neunindischen, *Münchener Studien zum Sprachwissenschaft*, 40, 1981, 61-71.
28. P. S. Jaini. *The Jaina Path of Purification*, Barkeley 1979, p. 27.

provide an explanation for it on the basis of a parallel form *viyaṭṭa-chauma*, which occurs in Jain texts.[29] Jacobi translates it as "have got rid of unrighteousness."[30] Since this word occurs in a list of epithets of the Jina it is very likely to be the equivalent of the Pāli word.[31] The city explains : *vyāvṛttachadmabhyaḥ ghāti-karmāṇi saṃsāro vā chadma tad vyāvṛttaṃ kṣīṇaṃ yebhyas te*.[32]

Even when there is no complete parallel, a similar expression sometimes helps with the interpretation of a difficult word or phrase. We find the compound *isi-sattama* used of the Buddha.[33] Here the Buddhist tradition gives two explanations : "best of the sages", and "seventh of the sages", since the Pāli word *sattama* can stand for either Sanskrit *sattama* "best" or *saptama* "seventh". This may well be an idea taken over from an earlier religion, and may be connected in some way with the brahmanical idea of seven sages (*ṛṣis*). In this context it is interesting to note that the Jain tradition has the term *jina-sattama*,[34] which gives only the meaning "best of *jinas*", since there is no stock list of seven *jinas*.

Conclusions

It is likely that comparative studies of this nature will help us to understand more details of the two religions, as well as the relationship between them and the other religions which were current at the same time.

---

29. For references see *Pāia-sadda-mahaṇṇavo*, s. v. *viaṭṭa*.
30. Jacobi, *op. cit.* (in n. 17), p. 225, translates : "have got rid of unrighteousness."
31. See K. R. Norman, "The influence of the Pāli commentators and grammarians upon the Theravādin tradition", *Buddhist Studies* (*Bukkyo Kenkyū*), XV, 1985, pp. 109-23.
32. Quoted by Jacobi, *op. cit.* (in n. 16), p. 103.
33. See O. von Hinüber, Upāli's verses in the Majjhimanikāya and the Madhyamāgama", in L. A. Hercus et al. (edd.), *Indological and Buddhist Studies* (*in honour of Prof. J. V. de Jong*), Canberra 1982, pp. 243-51 (p. 249).
34. See Norman, *Elders' Verses* I, verse 1240 (referring to *Jinasattama* at Isibhāsiyāiṃ 38. 12).

कनकसेन का स्वतंत्रवचनामृत

डा० पद्मनाभ एस० जैनी
दक्षिण एवं दक्षिण पूर्वी एशिया अध्ययन विभाग, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले, कै०, यू० एस० ए०

स्ट्रासबर्ग विश्वविद्यालय के राष्ट्रीय पुस्तकालय के संग्रहागार में इस अप्रकाशित लघु जैन कविता की एकल पांडुलिपि उपलब्ध है।[1] इस पांडुलिपि (के दो ताड़पत्रों) का संक्षिप्त विवरण 'दी केटेलाग आव जैन मेनुस्क्रिप्ट ऐट स्ट्रासबर्ग' में पृष्ठ २२२ व२४० में दिया गया है।[2] इसका मूलपाठ तथा अनुवाद नीचे दिया गया है। इससे पता चलता है कि यह कृति द्वात्रिंशिकाओं की शैली में लिखी गई है। इनमें ३२ श्लोकों में दार्शनिक मन्तव्य प्रकट किये जाते हैं। यह शैली चौथी सदी के सिद्धसेन दिवाकर के समय से ही लोकप्रिय है जो **एकविंशति द्वात्रिंशिकाओं**[3] के लेखक के रूप में ख्यात हैं। वर्तमान कृति का मूल कहीं भी उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ है और यद्यपि कनकसेन का नाम भी इस कविता के अन्त में पाया जाता है, पर उनका भी अन्य कोई विवरण (समय या व्यक्ति) उपलब्ध नहीं है। कर्ता के नाम में 'सेन' शब्द होने के कारण उसे सेनगण का माना जा सकता है जो दिगंबर संप्रदाय का साधुसंघ रहा है।

इस कविता के मूलपाठ को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भाग में १-९ श्लोक आते हैं। इनमें आत्मा की प्रवृत्ति के विषय में विभिन्न परंपरागत दर्शनों की मान्यतायें दी गई हैं। दूसरे भाग में १०-२४ श्लोक आते हैं। इनमें आत्मा के संबन्ध में जैन मान्यता तो दी ही गई है, साथ ही, स्याद्वाद की युक्ति का उपयोग करते हुए अन्य दर्शनों के परस्पर विरोधों का परिहार भी किया गया है। तीसरे भाग में २५-३१ श्लोक आते हैं। इनमें मोक्ष-प्राप्ति के साधन स्वरूप दर्शन, ज्ञान और चारित्र के त्रिरत्नी पथ का वर्णन हैं। यद्यपि स्वतंत्र-वचनामृत एक लघु कृति है, फिर भी इसके आत्मा को कर्मबंध से मुक्ति दिलाने के लिये उपयोगी जैन सिद्धान्त के पूरे वर्णन के कारण इसे पूर्ण ग्रन्थ माना जा सकता है।

स्वतंत्र वचनामृतः मूलपाठ और अनुवाद
SVATANTRAVACANĀMṚTA : TEXT AND TRANSLATION

श्री वीतरागाय नमः।

Salutations to the auspicious one who is free from passions !

जीवाजीवैक भावाय प्राणे भावितदन्यकैः।
कार्यंकारण मुक्तं तं मुक्तात्मानं उपास्महे ॥१॥

We venerate that free soul who is emancipated from the cycle of cause and effect [namely the defiled state of bondage] and from the signs of embodiment and vital life and one who illuminates with his knowledge the entire range of the sentient and the insentient (1).

अथ मोक्षस्वभावाप्ति रात्मनः कर्मणां क्षयः।
सम्यग्-दृग्-ज्ञान-चारित्रैः अविनाभावलक्षणैः ॥२॥

There is the attainment of the true nature of emancipation when there is the total destruction of the karmas accumulated by the soul. And such a state is not to be found without the simultaneous presence of true insight, right knowledge and pure conduct (2).

सति धर्मिणि तद्धर्माः चिन्त्यंते विबुधैरिह ।
मोक्ष्यभावे ततः कस्य मोक्षः स्यात् इति नास्तिकः ॥३॥

Here the nihilist [the Cārvāka] objects : The wise consider the qualities (dharmas) only when there is a substance (dharmin) indicated; in the absence of a soul who attains emancipation (i.e. whose freedom can be talked about ?) (3).

अस्ति आत्मा चेतनो द्रष्टा पृथ्व्यादेरनन्वयात् ।
पिशाचदर्शनादिभ्योऽनादि शुद्धः सनातनः ॥४॥

[The ātmavādin says] : There is a soul. He is sentient and being the perceiver cannot be subsumed under [such substances] as earth, etc. [He must be considered different from the body] on the analogy of perception of goblins, etc., [who do not have gross bodies]. This soul moreover is eternally and forever pure (4).

स निर्लेपः कथं सौख्य-स्मार-क्रोधादिकारणात् ।
देह एवादि हेतुभ्यः कर्ता, भोक्ता च नेश्वरः ॥५॥

The soul cannot however be [totally] free from blemishes because of the presence of such conditions as pleasure, sexual desire, anger, etc., which arise with the body. For these reasons the soul is the agent [of his actions] as well as the enjoyer [of the results]; he certainly is not the lord of himself (5).

ईश्वराभावतस्तस्मिन् न तद्वत्वं प्रसिद्धयति ।
साधना संभवात् सोऽपि ब्रूते योगमतिष्टिकृत् ॥६॥

In the absence of this lordship he cannot truly be established as endowed with thatness, [namely being the agent and the enjoyer], so says a disciple of the Yoga school, the performer of sacrifices, [namely, a devoted of the Lord] (6).

सत्वात् क्षणिक एवासौ तत्फलं कस्य जायते ।
अपि दुर्गृहीत एवैतत् प्रत्यभिज्ञादि बाधकात् ॥७॥

Here the Buddhist says : If the soul is an existent, then it must be momentary. Such being the case, to whom would the result accrue ? [The Jaina replies:] Surely this is wrongly perceived since your position is invalidated by recognition. etc. (7).

श्रुतप्रामाण्यतः कर्म क्रियते हिंसाविना युतं ।
वृथेति अर्थैति (?) न..................संभवात् ॥८॥

Here the Mimāṃsaka says : Actions are performed mixed with injury to beings as they are prescribed by the revealed scriptures (The Vedas). [The Jaina replies:] Surely that is futile [as injury cannot be the means of salvation] (8).

अद्वैत साधनं नास्ति, द्वैतापत्तिस्तवन्यथा।
न्यूनादिति आच्छबोधादे देहिनामिति जैनधीः ॥९॥

As for the Advaita-Vedānta if there is only one reality, there can be no means to establish it. And if it is established, duality will result. [Moreover, there must be plurality] because of the deficiencies perceived in the pure (i. e. normal) consciousness of sentient beings : The Jaina view on the soul therefore is (9) :

द्रष्टा ज्ञाता प्रभुः कर्ता, भोक्ता चेति गुणी च सः।
विस्रसोर्ध्वंगतिः ध्रौव्यव्ययोत्पत्तियुगंगमः ॥१०॥

The soul is the perceiver, the knower, the Lord, the agent the enjoyer and possessor of qualities. [When freed from the karmas and the conditions of embodiment] the soul is of the nature to rise upwards spontaneously [reaching the summit of the Universe]. [As an existent] the soul is enjoined simultaneously with production [of a new state], loss [of an old state] and the endurance [as a substance with its own qualities] (10).

अस्ति-नास्ति स्वभावोऽसौ, धर्मः स्वपरसंभवैः।
गुणागुण स्वरूपश्च, स्वविभाव गुणैर्भवेत् ॥११॥

The soul is characterized by positive and negative aspects which rise from the assertion of his own qualities and the denial of others' in him. In this way when we look at his innate nature he will be seen as endowed with [perfect] qualities. When his defilement [arising from the contact of karmas] are however perceived he would appear to be deviod of such [perfect] qualities (11).

व्यपदेशादिभि भिन्नः सुखादिभ्योऽपरस्तथा।
प्रदेशी बंन्धतो मूर्तिः अमूर्तस्स तदन्यथा ॥१२॥

Although truly speaking, he must be distinct from the states where he is designated [as human, divine, animal, etc.,] he must nevertheless be identical with the [changing] states of happiness, etc. Similarly, he has a form when bound by karmic matters and is formless when he is free from bondage (12).

जातिशक्त्यस्स चैतन्यैकः स स्यादनेकताम्।
आप्नोति वृत्तिमद्भावे नाना ज्ञानात्मना ततः ॥१३॥

The soul can truly be seen as "non-dual" when one perceives his consciousness in its universal aspect [that is when the objects reflected therein are seen as modifications of consciousness and not distinct from it]. But the same consciousness can be described as "manifold" when one perceives its multiple operation in relation to particular souls (13).

क्षणिकः स्वपर्यायैः नित्यैः गुणैरक्षणिकस्तथा।
शून्यः कर्मभिः आनंदात् अशून्यः स मतः सतां ॥१४॥

The soul is momentary [if one looks only at its modifications]; it is not momentary however if one perceives its eternal qualities. It can be called empty (*śūnya*) since it is devoid of karmas but the wise would call it "non-empty" also as it is filled with bliss (14).

चेतनः सोपयोगत्वात् प्रमेयत्वात् अचेतनः ।
वाच्यः क्रमविवक्षायां अवाच्यो युगपद्गिरः ॥१५॥

The soul is sentient because of its cognition but [in a way] it is insentient too since it becomes the object of knowledge. It can be called "describable" if one were to speak of it in a sequential order [asserting certain properties and denying certain others] but it would become "inexpressible" if one were to attempt to express both the positive and negative aspects simultaneously (15).

द्रव्याद्यैः स्वगतैः भावो भावाः परगतैस्सदा ।
नित्यः स्थिते रनित्यो मो व्ययोत्पत्तिप्रकारतः ॥१६॥

The soul is existent because of its own substance, etc. It can be called non-existent in as much as it lacks the substance (nature) of others. It is external [when one views] its durable snbstanc; non-external however, [when viewed purely] from the gain and loss of its modifications (16).

आकुंचनप्रसाराभ्यां, अघातेभ्यः तनुप्रमः ।
समुद्घातैः प्रदेशैः स्यात् स च सर्वगतो मतः ॥१७॥

Because of expansion and contraction—which do not however destroy it—the soul is said to be of the same measure as its body. However the same soul can be called "omnipresent" when it performs the act of "bursting forth" (*Samudghāta*) and extends itself throughout the universe [in order to thin out the karmic matter of the "nondestructive" type (i.e. the *Vedanīya Karma*)] (17).

कर्ता स्वपर्यायेण स्यात् अकर्ता पर पर्यायैः ।
भोक्ता प्रत्यात्मसंप्रीतेः, अभोक्ता करणात्ययात् ॥१८॥

The soul is the agent only of its own modifications. It is not the agent of the states of other existents. It can be called "the enjoyer" to the extent that it attaches itself to its own body and senses but it is not the enjoyer [if one perceives the fact that] it is not truly supported by the sense organs (18).

स्वसंवेदनबोधेन, व्यक्तोऽसौ कथितो जिनैः ।
अव्यक्तः परबोधेन, ग्राह्यो ग्राहकोऽप्यतः ॥१९॥

The Jinas have declared that the soul is "experienced" only in reference to self-cognition but the same soul can be called "beyond experience" when it becomes the object of others' cognition. For the very same reasons the soul is also described as the cognizer and the cognized (19).

इत्यनेकान्तरूपोऽसौ, धर्मैरेवंविधैः पदैः ।
ज्ञातव्योऽनतशक्तिभ्यो, स्वभावादपि योगिभिः ॥२०॥

Thus the soul indeed is characterized by a manifold nature and it is to be known by [such apparently contradictory] expressions. By the yogins, however, the soul can be known in its own nature [endowed] with its infinite qualities (20).

नयप्रमाणभंगिभिः सुस्थम् एतन्मतं भवेत् ।
नया स्युः स्वंशगास्तत्र, प्रमाणे सकलार्थगे ॥२१॥

Through the method of applying the partial and comprehensive means of knowledge [the manifoldness of the soul] is well established. The *nayas* apprehend only portions of realities whereas the two *pramāṇas*, [namely the direct and indirect perceptions] apprehend the totality of knowables (21).

भूताभूतनयो मुख्यो द्रव्यपर्यायदेशनात् ।
तद्भेदा नैगमादयः स्युः अन्तर्भेदस्तथापरे ॥२२॥

The nayas are primarily two-fold referring to the real and the relative, namely, the substantial and the modificational aspects. These are further divided as *naigama-naya*, etc. and each of these is further subdivided (22).

प्रत्यक्षं स्पष्ट निर्भासं, परोक्षं विशदेतरम् ।
तत् प्रमाणं विदुस्तज्ज्ञः स्वपरार्थ विनिश्चयात् ॥२३॥

The direct perception (i. e. the omniscient perception) is that which is clear and without blemish. The indirect perception [namely that which is mediated by mind and the senses] is partly clear and partly unclear. Both these are called valid means of knowledge by the wise since they determine the objects inclusive of the self and others (23).

स्यादस्ति-नास्ति युग स्यात् अवक्तव्य च तत् त्रयं ।
सप्तभंगा नयैर्वस्तु द्रव्यार्थिक पुरस्सरैः ॥२४॥

The object of knowledge is approached by the seven-fold viewpoints expressed as exists, does not exist, both, inexpressible, and the three combinations thereof, all statements qualified by the term *syāt* (in some sense). These seven statements will proceed [with having] in view [either] the substance [or the modes] (24).

निर्लेश्य निर्गुणस्थानं, सत्-चित्-ज्ञान-सुखात्मक ।
आत्यंतिकं अवस्थानं, स मोक्षोऽत्र यदात्मनः ॥२५॥

The emanicipation of the soul is that state when the soul becomes free from karmic "colouration", transcends the [fourteen][5] stages of the progress towards perfection, becomes the embodiment of pure being, pure consciousness, infinite knowledge and bliss and endures there eternally (25).

दृग्-ज्ञान-वृत्ति मोहाख्य विघ्ना विद्योदरान्वयः ।
कर्माणि द्रव्यमुख्यानि, क्षयश्चैषामसौ भवेत् ॥२६॥

The emancipation takes place when there is the total annihilation of nescience (*avidyā*) which is also known as the major karmic matter, the obscurer of perception and knowledge and the producer of delusion and obstruction (26).

निष्किष्टकालकं स्वर्णं तत् स्यात् अग्निविशेषतः ।
तथा रागक्षयात् एषः क्रमात् भवति निर्मलः ॥२७॥

Just as a piece of gold by coming into contact with a special kind of fire can become free from all dirt, similarly the soul gradually becomes free from [karmic] dirt by the destruction of attachment (27).

बाह्यांतरगसामग्रे परमात्मनि भावनां ।
योऽभ्युदेति आत्मनः सम्यक् (तत्) सम्यग्दर्शनं मतं ॥२८॥

The true insight is that which arises in the soul when there is the contemplation of the true self in the presence of the totality of the internal and the external efficient causes (28).

स्वपरिच्छित्तिपुराण यत्, तत् प्रतिच्छित्तिकारण ।
ज्योतिः प्रदीपवत् भाति, सम्यग् ज्ञानं तदीरितं ॥२९॥

The right knowledge is said to be that which shines like flame and is the immediate cause of perceiving the objects as well as discriminating between the self and non-self (29).

तत्पर्यायस्थिरत्वं वा स्वास्थ्यं वा चित्तवृत्तिषु ।
सर्वावस्थासु माध्यस्थ्यं तद् वृत्त अथ वा स्मृतम् ॥३०॥

The pure conduct is described as that which is firmness in that state [of discrimination], the complete stillness of all operations of the mind and the equanimity in all states (30).

एतत् त्रितयं एवास्य हेतुः समुदितं भवेत् ।
नान्यत् कल्पितं अन्यैः यद्वादिभिः युक्तिबाधितं ॥३१॥

Only the combination of these three may be considered the proper means of [attaining] this [emancipation] and not those imagined by the disputants whose arguments are opposed to reasoning (31).

इत्थं स्वतंत्रवचनामृतं आपिबन्ति
स्वात्मस्थितेः कनकसेनमुखेन्दु सूतम्
ये जिह्वया श्रुतिपुटे (त्रि) युगेन भव्याः
तेऽजरामरपदं सपदि श्रयन्ति ॥३२॥

These are the immortal words on the free soul coming from the moon-like mouth of Kanakasena [the poet], well established in his own self. Those devout souls, who with body, speech and mind recieve this ambrosia of words through their ears and taste it with their tongue [i. e. listen to it and repeat it] surely will instantly attain to the state free from decay and death (32).

॥इति स्वतंत्रवचनामृतं समाप्तं॥

Thus is Completed the Immortal Sayings on the Free Soul.

प्राचीन प्रश्नव्याकरण : वर्तमान ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन

निदेशक, पार्श्वनाथ
विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ यह स्वीकार करती हैं कि प्रश्नव्याकरण सूत्र (पण्हवागरण) जैन अंग-आगम साहित्य का दसवाँ अंग-ग्रन्थ है; किन्तु दिगम्बर परम्परा के अनुसार अंग-आगम साहित्य के विच्छेद (लुप्त) हो जाने के कारण वर्तमान से यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा अंग साहित्य का विच्छेद नहीं मानती है। अतः उसके उपलब्ध आगमों में प्रश्नव्याकरण नामक ग्रन्थ आज भी पाया जाता है। किन्तु समस्या यह है कि क्या इस परम्परा के वर्तमान प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु वही है, जिसका निर्देश आगम ग्रन्थों में है अथवा वह परिवर्तित हो चुकी है। प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु सम्बन्धी प्राचीन निर्देश श्वेताम्बर परम्परा के स्थानांग, समवायांग, अनुयोगद्वार एवं नन्दीसूत्र में और दिगम्बर परम्परा के राजवार्तिक, धवला एवं जयधवला नामक टीका ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

प्रश्नव्याकरण नाम क्यों ?

'प्रश्नव्याकरण' नाम को लेकर प्राचीन टीकाकारों एवं विद्वानों में यह धारणा बन गयी थी कि जिस ग्रन्थ में प्रश्नों के समाधान किये गये हों, वह प्रश्नव्याकरण है। मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरण के प्राचीन संस्करण की विषय-वस्तु प्रश्नोत्तरशैली में नहीं थी और न वह प्रश्न-विद्या अर्थात् निमित्तशास्त्र से ही सम्बन्धित थी। गुरु-शिष्य सम्वाद की प्रश्नोत्तर शैली में आगम-ग्रन्थ की रचना एक परवर्ती घटना है—व्याख्या-प्रज्ञप्ति इसका प्रथम उदाहरण है। यद्यपि समवायांग एवं नन्दीसूत्र में यह माना गया है कि प्रश्नव्याकरण में १०८ पूछे गये, १०८ नहीं पूछे गये और १०८ अंशतः पूछे गये और अंशतः नहीं पूछे गये प्रश्नों के उत्तर हैं।[1] किन्तु यह अवधारणा काल्पनिक ही लगती है। प्रश्न-व्याकरण की प्राचीनतम विषयवस्तु प्रश्नोत्तर रूप में थी या उसमें प्रश्नों का उत्तर देने वाली विद्याओं का समावेश था—समवायांग और नन्दीसूत्र के उल्लेखों के अतिरिक्त आज इसका कोई प्रबल प्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्राचीनकाल में ग्रन्थों को प्रश्नों के रूप में विभाजित करने की परम्परा थी। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण आपस्तम्बीय धर्मसूत्र है जिसकी विषयवस्तु को दो 'प्रश्नों' में विभक्त किया है। इसके प्रथम प्रश्न में ११ पटल और द्वितीय प्रश्न में ११ पटल हैं। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रश्नोत्तर रूप में भी नहीं है। इसी प्रकार बौधायन धर्मसूत्र की विषयवस्तु भी प्रश्नों में विभक्त है। अतः प्रश्नोत्तर शैली में होने के कारण या प्रश्नविद्या से सम्बन्धित होने के कारण इसे प्रश्नव्याकरण नाम दिया गया था—यह मानना उचित नहीं होगा। वैसे इसका प्राचीनतम नाम 'वागरण' (व्याकरण) ही था। ऋषिभाषित में इसका इसी नाम से उल्लेख है।[2] प्राचीनकाल में तात्त्विक व्याख्या को व्याकरण कहा जाता था।

प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु

स्थानांग को छोड़कर प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु के सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थों में जो निर्देश है, उससे वर्तमान प्रश्नव्याकरण निश्चय ही भिन्न है। यह परिवर्तन किस रूप में हुआ है, यहां विचारणीय है। यदि हम ग्रन्थों के कालक्रम को ध्यान में रखते हुए प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु के सम्बन्ध में उपलब्ध विवरणों को देखें, तो हमें कालक्रम में उसकी विषयवस्तु में उसमें हुए परिवर्तनों की स्पष्ट सूचना मिल जाती है :

(अ) **स्थानांग**—प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु के सम्बन्ध में प्राचीनतम उल्लेख स्थानांगसूत्र में मिलता है। इसमें प्रश्नव्याकरण की गणना दस दशाओं में की गई है तथा उसके निम्न दस अध्ययन बताये गये हैं—१. उपमा,

२. संख्या, ३. ऋषिभाषित, ४. आचार्यभाषित, ५. महावीरभाषित, ६. क्षौमकप्रश्न, ७. कोमलप्रश्न, आदर्शप्रश्न आद्रकप्रश्न, ९. अंगुष्ठप्रश्न, १०. बाहुप्रश्न।[३] इससे फलित होता है कि सर्वप्रथम यह दस अध्यायों का ग्रन्थ था। दस अध्यायों के ग्रन्थ दसा (दशा) कहे जाते थे।

(ब) समवायांग—स्थानांग के पश्चात् प्रश्नव्याकरण सूत्र की विषयवस्तु का अधिक विस्तृत विवेचन करनेवाला आगम समवायांग है। समवायांग में उसकी विषयवस्तु का निर्देश करते हुए कहा गया है कि 'प्रश्नव्याकरणसूत्र में १०८ प्रश्नों, १०८ अप्रश्नों और १०८ प्रश्नप्रश्नों का, विद्याओं के अतिशयों (चमत्कारों) का तथा नागों-सुपर्णों के साथ दिव्य संवादों का विवेचन है। यह प्रश्नव्याकरणदशा स्वसमय-परमसमय के प्रज्ञापक एवं विविध अर्थों वाली भाषा के प्रवक्ता प्रत्येक बुद्धों के द्वारा भाषित, अतिशय गुणों एवं उपशमभाव के धारक तथा ज्ञान के आकर आचार्यों के द्वारा विस्तार से भाषित और जगत् के हित के लिए वीर महर्षि के द्वारा विशेष विस्तार से भाषित है। यह आदर्श, अंगुष्ठ, बाहु, असि, मणि, क्षौम (वस्त्र) एवं आदित्य (के आश्रय से) भाषित है। इसमें महाप्रश्नविद्या, मनप्रश्नविद्या, देवप्रयोग आदि का उल्लेख है। इसमें सब प्राणियों के प्रधान गुणों के प्रकाशक, दुर्गुणों को अल्प करनेवाले, मनुष्यों की मति को विस्मित करने वाले, अतिशयमय, कालज्ञ एवं शमदम से युक्त उत्तम तीर्थंकरों के प्रवचन में स्थित करनेवाले, दुराभिगम, दुरावगाह, सभी सर्वज्ञों के द्वारा सम्मत सभी अज्ञजनों को बोध करानेवाले प्रत्यक्ष प्रतीतिकारक, विविध गुणों से और महान् अर्थों से युक्त जिनवरप्रणीत प्रश्न (वचन) कहे गये हैं।

प्रश्नव्याकरण अंक की सीमित वाचनायें हैं, संख्यात अनुयोगद्वार है, संख्यात प्रति पक्तियाँ हैं, संख्यात वेढ है, संख्यात श्लोक हैं, संख्यात नियुक्तियाँ हैं और संख्यात संग्रहणियाँ हैं।

प्रश्नव्याकरण अंगरूप से दसवाँ अंग है, इसमें एक श्रुतस्कन्ध है, पैंतालीस उद्देशन काल हैं, पैंतालीस समुद्देशन काल हैं। पद गणना की अपेक्षा संख्यात लाखपद कहे गये हैं। इसमें संख्यात अक्षर हैं, अनन्तगम हैं, अनन्तपर्याय हैं, परीत त्रस हैं, अनन्त स्थावर हैं। इसमें शाश्वतकृत, निबद्ध, निकाचित जिन-प्रज्ञप्त भाव कहे जाते है, प्रज्ञापित किये जाते है, प्ररूपित किये जाते है, निर्दशित किये जाते हैं और उपदर्शित किये जाते है। इस अंग के द्वारा आत्मा ज्ञाता होता है, विज्ञाता होता है। इस प्रकार चरण और करण की प्ररूपणा के द्वारा वस्तु-स्वरूप का कथन, प्रज्ञापन, निदर्शन और उपदर्शन किया जाता है।[४]

(स) नन्दीसूत्र—नन्दीसूत्र में प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का जो उल्लेख है; वह समवायांग के विवरण का मात्र संक्षिप्त रूप है। उसके भाव और भाषा दोनों ही समान हैं। मात्र विशेषता यह है कि इसमें प्रश्नव्याकरण के ४५ अध्ययन बताये गये हैं—जबकि समवायांग में केवल ४५ समुद्देशनकालों का उल्लेख है, ४५ अध्ययन का उल्लेख समवायांग में नहीं है।[५]

(द) तत्त्वार्थवार्तिक—तत्त्वार्थवार्तिक में प्रश्नव्याकरण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि आक्षेप और विक्षेप के द्वारा हेतु और नय के आश्रय से प्रश्नों के व्याकरण को प्रश्नव्याकरण कहते हैं। इसमें लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया जाता है।[६]

(इ) धवला—धवला में प्रश्नव्याकरण की जो विषयवस्तु बताई गई है, वह तत्त्वार्थ में प्रतिपादित विषयवस्तु से किंचित् भिन्नता रखती है। उसमें कहा गया है कि प्रश्नव्याकरण में आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार प्रकार की कथाओं का वर्णन है। उसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि आक्षेपणी कथा परसमयों (अन्य मतों) का निराकरण कर छह द्रव्यों और नव तत्त्वों का प्रतिपादन करती है। विक्षेपणी कथा में परसमय के द्वारा स्वसमय पर लगाये गये आक्षेपों का निराकरण कर स्वसमय की स्थापना करती है। संवेदनी कथा पुण्यफल की कथा है। इसमें तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती आदि की ऋद्धि का विवरण है। निर्वेदनी कथा पाप फल की कथा है। इसमें

नरक, तिर्यञ्च, जरा-मरण, रोग आदि सांसारिक दुःखों का वर्णन किया जाता है। उसमें यह भी कहा गया है कि प्रश्नव्याकरण प्रश्नों के अनुसार हत, नष्ट, मुक्ति, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का निरूपण करता है।[७] इस प्रकार प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु के सम्बन्ध में प्राचीन उल्लेखों में एकरूपता नहीं है।

प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु सम्बन्धी विवरणों की समीक्षा

मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरणसूत्र की विषयवस्तु के तीन संस्कार हुए होंगे। प्रथम एवं प्राचीनतम संस्कार, जो 'वागरण' कहा जाता था, ऋषिभाषित, आचार्यभाषित और महावीरभाषित ही इसकी प्रमुख विषयवस्तु रही होगी। ऋषिभाषित में 'वागरण' ग्रन्थ का एवं उसकी विषयवस्तु की ऋषिभाषित से समानता का उल्लेख है।[८] इससे प्राचीनकाल (ई० पू० ४ थी या ३री शताब्दी) में इसके अस्तित्व की सूचना तो मिलती ही है, साथ ही प्रश्नव्याकरण और ऋषि-का सम्बन्ध भी स्पष्ट होता है।

स्थानांगसूत्र में प्रश्नव्याकरण का वर्गीकरण दस दशाओं में किया है। सम्भवतः जब प्रश्नव्याकरण के इस प्राचीन संस्करण की रचना हुई होगी, तब ग्यारह अंगों अथवा द्वादश गणिपिटिक की अवधारणा भी स्पष्ट रूप से नहीं बन पाई थी। अंग-आगम साहित्य के पाँच ग्रन्थ—उपासकदशा, अन्तकृतदशा, प्रश्नव्याकरणदशा और अनुत्तरौपपातिक-दशा तथा कर्मविपाकदशा (विपाकदशा)—दस दशाओं से ही परिगणित किए जाते थे। आज इन दशाओं में उपर्युक्त पाँच तथा आचारदशा, जो आज दशाश्रुतस्कन्ध के नाम से जानी जाती है, को छोड़कर शेष चार—बन्धदशा, द्विगृद्धिदशा, दीर्घदशा और संक्षेपदशा उपलब्ध है। उपलब्ध छह दशाओं में भी उपासकदशा और आयारदशा की विषयवस्तु स्थानांग में उपलब्ध विवरण के अनुरूप है। कर्मविपाक और अनुत्तरौपपातिकदशा की विषयवस्तु में कुछ समानता है और कुछ भिन्नता है। जबकि प्रश्नव्याकरणदशा और अन्तकृतदशा की विषयवस्तु पूरी तरह बदल गई है। स्थानांग में प्रश्न-व्याकरण की जो विषयवस्तु सूचित की गई है, वही इसका प्राचीनतम संस्करण लगता है, क्योंकि यहां तक इसकी विषयवस्तु में नैमित्तिक विद्याओं का अधिक प्रवेश नहीं देखा जाता है। स्थानांग प्रश्नव्याकरण के जिन दस अध्ययनों का निर्देश करता है, उनमें भी मेरी दृष्टि में इसिभासियाइं, आयरियभासियाइं और महावीरभासियाइं—ये तीन प्राचीन प्रतीत होते हैं। उवमा और संखा की सामग्री क्या थी? कहा नहीं जा सकता। यद्यपि मेरी दृष्टि में 'उपमा' में कुछ रूपकों के द्वारा धर्म-बोध कराया गया होगा जैसा कि ज्ञाताधर्म कथा में कर्म और अण्डों के रूपकों द्वारा क्रमशः यह समझाया गया है कि जो इन्द्रिय-संयम नहीं करता है, वह दुःख को प्राप्त होता है और जो साधना में अस्थिर रहता है, वह फल को प्राप्त नहीं करता है। इसी प्रकार 'संखा' में स्थानांग और समवायांग के समान संख्या के आधार पर वर्णित सामग्री हो। यद्यपि यह भी सम्भव है कि संखा नामक अध्ययन का सम्बन्ध सांख्यदर्शन से रहा हो क्योंकि अन्य परम्पराओं के विचारों को प्रस्तुत करने की उदारता इस ग्रन्थ में थी। साथ ही, प्राचीनकाल में सांख्य श्रमणाधार का ही दर्शन था और जैन दर्शन से इसकी निकटता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अद्दागपसिणाइं, बाहुपसिणाइं आदि अध्यायों का सम्बन्ध भी निमित्तशास्त्र से न होकर इन नामवाले व्यक्तियों की तात्त्विक परिचर्चा से रहा हो जो क्रमशः आर्द्रक और बाहुक नामक ऋषियों की तत्वचर्चा से सम्बन्धित रहे होंगे। अद्दागपसिणाइं की टीकाकारों ने 'आदर्शप्रश्न' के रूप में संस्कृत छाया भी उचित नहीं है। उसकी संस्कृतछाया 'आर्द्रकप्रश्न' ऐसी होनी चाहिए। आर्द्रक से हुए प्रश्नोत्तरों की चर्चा सूत्रकृतांग में मिलती है, साथ ही वर्तमान ऋषिभाषित में भी 'अद्दाएण' (आर्द्रक) और बाह (बाहुक) नामक अध्ययन उपलब्ध है। हो सकता है कि कोमल और खोम = क्षोम भी कोई ऋषि रहे हैं। सोम का उल्लेख भी ऋषिभाषित में है। फिर भी यदि हम यह मानने को उत्सुक ही हों कि ये अध्ययन निमित्त शास्त्र से सम्बन्धित थे, तो हमें यह मानना

होगा कि यह सामग्री उसमें बाद में जुड़ी है, प्रारम्भ में उसका अंग नहीं थी क्योंकि प्राचीनकाल में निमित्त शास्त्र का अध्ययन जैनभिक्षु के लिए वर्जित था और इसे पापश्रुत माना जाता था।[९]

स्थानांग और समवायांग—दोनों में प्रश्नव्याकरण सम्बन्धी जो विवरण हैं, वे भी एक काल के नहीं हैं। समवायांग का विवरण परवर्ती है, क्योंकि उस विवरण में मूल तथ्य सुरक्षित रहते हुए भी निमित्तशास्त्र सम्बन्धी विवरण काफी विस्तृत हो गया है। स्थानांग में प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययन बताये गये हैं जबकि समवायांग उसमें ४५ उद्देशक होने की सूचना देता है। 'उवमा' और 'संखा' नामक स्थानांग में वर्णित प्रारम्भिक दो अध्ययनों का यहाँ निर्देश ही नहीं है। हो सकता है कि 'उवमा' की सामग्री ज्ञाताधर्मकथा में और 'संखा' की सामग्री—यदि उसका सम्बन्ध संख्या से था, तो स्थांग या समवायांग में डाल दी गई हो। 'कोमलपसिणाइं' का भी उल्लेख नहीं है। इन तीनों के स्थान पर 'असि' 'मणि' और 'आदित्य'—ये तीन नाम नये जुड़ गये हैं, पुनः इनका उल्लेख भी अध्ययनों के रूप में नहीं है। समवायांग का विवरण स्पष्टरूप से यह बताता है कि प्रश्नव्याकरण का वर्ण्य-विषय चमत्कारपूर्ण विविध विधाओं से परिपूर्ण है। यहाँ इसिभासियाइं, आयरियभासियाइं और महावीरभासियाइं—इन तीन अध्ययनों का विलोप कर यह निमित्तशास्त्र सम्बन्धी विवरण इनके द्वारा कथित है, यह कह दिया गया है।

वस्तुतः समवायांग का विवरण हमें प्रश्नव्याकरण के किसी दूसरे परिवर्धित संस्करण की सूचना देता है जिसमें नेमिशास्त्र से सम्बन्धित विवरण जोड़कर प्रत्येकबुद्धभाषित (ऋषिभाषित) आचार्यभाषित और वीरभासित (महावीरभाषित) भाग अलग कर दिए गये थे और इस प्रकार इसे शुद्धरूप से एक निमित्तशास्त्र का ग्रन्थ बना दिया गया था। उसे प्रामाणिकता देने के लिए यहाँ तक कह दिया गया कि यह प्रत्येकबुद्ध आचार्य और महावीरभाषित है।

तत्वार्थवार्तिक में प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का जो विवरण उपलब्ध है, वह इतना अवश्य सूचित करता है कि ग्रन्थकार के सामने प्रश्नव्याकरण की कोई प्रति नहीं थी। उसने प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु के सम्बन्ध में जो विवरण दिया है, वह कल्पनाश्रित ही है। यद्यपि धवला में प्रश्नव्याकरण के सम्बन्ध में जो निमित्तशास्त्र से सम्बन्धित कुछ विवरण हैं, वह निश्चय ही यह बताता है कि ग्रन्थकार ने उसे अनुश्रुति के रूप में श्वेताम्बर या यापनीय परम्परा से प्राप्त किया होगा। धवला में वर्णित विषयवस्तुवाला कोई प्रश्नव्याकरण अस्तित्व से भी रहा होगा, यह कहना कठिन है।

यद्यपि समवायांग का प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु सम्बन्धी विवरण स्थानांग की अपेक्षा परवर्ती काल का है, फिर भी इसमें कुछ तथ्य ऐसे अवश्य हैं जो हमारी इस धारणा को पुष्ट करते हैं कि प्रश्नव्याकरण की मूलभूत विषयवस्तु ऋषिभाषित, आचार्यभाषित और महावीरभाषित ही थी और जिसका अधिकांश भाग आज भी ऋषिभाषित आदि के रूप में सुरक्षित है। क्योंकि समवायांग में भी प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु को प्रत्येक बुद्धभाषित, आचार्यभाषित कहा गया है। स्थानांग में जहाँ ऋषिभाषित शब्द हैं, वहाँ समवायांग में प्रत्येक बुद्धभाषित शब्द है। यह स्पष्ट है कि ऋषिभाषित के प्रत्येक ऋषि को आगे चलकर जैनाचार्यों ने प्रत्येक बुद्ध के रूप में स्वीकार किया है।[१०] हमारे कथन की पुष्टि का दूसरा आधार यह है कि समवायांग में प्रश्नव्याकरण के एक श्रुतस्कन्ध और ४५ अध्याय माने गये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि समवायांग के प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु सम्बन्धी इस विवरण के लिखे जाने तक भी यह अवधारणा अचेतन रूप में अवश्य थी कि प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु प्रत्येक बुद्धों, धर्माचार्यों और महावीर के उपदेशों से निर्मित थी, यद्यपि इस काल तक ऋषिभाषित को उससे अलग कर दिया होगा और उसके ४५ अध्ययनों के स्थान पर नैमित्तशास्त्रसम्बन्धी विद्यायें समाविष्ट कर दी गई होंगी। यद्यपि निमित्तशास्त्र के विषय जोड़ने का ही ऐसा कुछ प्रयत्न सीमितरूप में स्थानांग प्रश्नव्याकरण सम्बन्धी विवरण लिखे जाने के पूर्व भी हुआ होगा। मेरी धारणा यह है कि प्रथम प्रश्नव्याकरण में निमित्तशास्त्र का विषय जुड़ा और फिर ऋषिभाषित वाला अंग अलग हुआ तथा बीच का कुछ काल ऐसा रहा जब वही विषयवस्तु दोनों में समानान्तर बनी रही।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि जहाँ स्थानांग में प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययन होने का उल्लेख है, वहाँ समवायांग में इसके ४५ उद्देशनकाल और नन्दी में ४५ अध्ययन होने का उल्लेख है—यह आकस्मिक नहीं है। यह उल्लेख प्रश्नव्याकरण और ऋषिभाषित के किसी साम्य का संकेतक है। वर्तमान प्रश्नव्याकरण में दस अध्ययन होना भी सप्रयोजन है—स्थानांग के पूर्व विवरण से संगति बैठाने के लिए ही ऐसा किया गया होगा। दस और पैंतालिस के इस विवाद को सुलझाने के दो ही विकल्प हैं—प्रथम सम्भावना यह हो सकती है कि प्राचीन संस्करण में दस अध्याय रहे हों और उसके ऋषिभाषित वाले अध्याय के ४५ उद्देशक रहे हों अथवा मूल प्रश्नव्याकरण में वर्तमान ऋषिभासित के ४५ अध्याय ही हों क्योंकि इनमें भी ऋषिभाषित के साथ महावीरभाषित और आचार्यभाषित का समावेश तो हो ही जाता है। यह भी सम्भव है कि वर्तमान ऋषिभाषित के ४५ अध्यायों में से कुछ अध्याय ऋषिभाषित के अन्तर्गत और कुछ आचार्यभाषित एवं कुछ महावीरभाषित के अन्तर्गत उद्देशकों-के रूप में वर्गीकृत हुए हों। महत्वपूर्ण यह है कि समवायांग में प्रश्नव्याकरण के ४५ अध्ययन न कहकर ४५ उद्देशनकाल कहा गया है, किन्तु प्रश्नव्याकरण से अलग करने के पश्चात् उन्हें एक ही ग्रन्थ के अन्तर्गत ४५ अध्यायों के रूप में रख दिया गया हो। एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि समवायांग में ऋषिभाषित के ४४ अध्ययन कहे गये हैं जबकि वर्तमान ऋषिभाषित में ४५ अध्ययन हैं। क्या वर्धमान नामक अध्ययन पहले इसमें सम्मिलित नहीं था। इसे महावीरभाषित में परिगणित किया गया था या अन्य कोई कारण था, हम नहीं कह सकते। यह भी सम्भव है कि उत्कटवादी अध्याय में किसी ऋषि का उल्लेख नहीं है। साथ ही, यह अध्याय चार्वाक का प्रतिपादन करता है। अतः इसे ऋषिभाषित में स्वीकार नहीं किया हो। समवायांग और नन्दीसूत्र के मूलपाठों में एक महत्वपूर्ण अन्तर है। नन्दीसूत्र में प्रश्नव्याकरण के ४५ अध्ययन हैं—ऐसा स्पष्ट पाठ है।[12] जबकि समवायांग में ४५ अध्ययन—ऐसा पाठ न होकर ४५ उद्देशन काल है, मात्र यही पाठ है। हो सकता है कि समवायांग के रचनाकाल तक वे उद्देशक रहे हों, किन्तु आगे चलकर वे अध्ययन कहे जाने लगे हों। यदि समवायांग के कालतक ४५ अध्ययनों की अवधारणा होती, तो समवायांग उसका उल्लेख अवश्य करता, क्योंकि समवायांग में अन्य अंग—आगमों की चर्चा के प्रसङ्ग में अध्ययनों का स्पष्ट उल्लेख है।

इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि क्या निमित्तशास्त्र एवं चमत्कारिक विद्याओं से मुक्त कोई प्रश्नव्याकरण बना भी था या यह सब कल्पना उड़ाते हैं ? यह सत्य है कि प्रश्नव्याकरण की पद संख्या का समवायांग, नन्दी, नन्दिचूर्णी और धवला में जो उल्लेख है, वह काल्पनिक है। यद्यपि समवायांग और नन्दी प्रश्नव्याकरण के पदों की निश्चित संख्या नहीं देते हैं—मात्र संख्यात शत-सहस्र-ऐसा उल्लेख करते है, किन्तु नन्दिचूर्णी एवं समवायांगवृत्ति[13] में उसके पदों की संख्या ९२१६००० और धवला[14] में ९३१६००० में बतायी गयी है, जो मुझे तो काल्पनिक ही अधिक लगती है।

मेरी अवधारणा यह है कि स्थानांग, समवायांग, नन्दी, तत्वार्थ राजवार्तिक, धवला एवं जयधवला में प्रश्नव्याकरण को विषयवस्तु का जिस रूप में उल्लेख है, वह पूर्णतः काल्पनिक चाहे न हो किन्तु उसमें सत्यांश कम और कल्पना का पुट अधिक है। यद्यपि निमित्तशास्त्र के विषय को लेकर कोई प्रश्नव्याकरण अवश्य बना होगा, फिर भी उसमें समवायांग और धवला में वर्णित समग्र विषयवस्तु एवं चामत्कारिक विधाएँ रही होंगी, यह कहना कठिन है।

इसी सन्दर्भ में समवायांग के मूलपाठ 'अद्दागंगुट्ठाबाहुअसिमणि खोमआइच्च भासियाणं'[15] के अर्थ के सम्बन्ध में भी यहाँ हमें पुनर्विचार करना होगा। कहीं उद्दांग, अंगुष्ठ, बाहु, असि, मणि, खोम, (क्षोभ) और आदित्य व्यक्ति या ऋषि तो नहीं है—क्योंकि इनके द्वारा भाषित कहने का क्या अर्थ है ? ऋषिभाषित में इनके उल्लेख हैं। आदित्य भी कोई ऋषि हो सकते हैं। केवल अंगुष्ठ, असि और मणि—ये तीन नाम अवश्य ऐसे हैं, जिनके व्यक्ति होने की सम्भावना धूमिल है।

क्या प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषयवस्तु सुरक्षित है ?

यहाँ यह चर्चा भी महत्वपूर्ण है कि क्या प्रश्नव्याकरण के प्रथम और द्वितीय संस्करणों की विषयवस्तु पूर्णतः नष्ट हो गई है या वह आज भी पूर्णतः या अंशतः सुरक्षित है। मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरण के प्रथम संस्करण में ऋषि-आचार्यभाषित और महावीरभाषित के नाम से जो सामग्री थी, वह आज भी ऋषिभाषित, ज्ञाताधर्मकथा, सूत्रकृतांग एवं उत्तराध्ययन में बहुत कुछ सुरक्षित है। ऐसा लगता है कि ईस्वी सन् के पूर्व ही उस सामग्री को वहाँ से अलगकर इसिभासियाइं के नाम से स्वतन्त्रग्रन्थ के रूप में सुरक्षित कर लिया गया था। जैन परम्परा में ऐसे प्रयास अनेक बार हुए हैं जब चूला या चूलिका के रूप में ग्रन्थों में नवीन सामग्री जोड़ी जाती रही अथवा किसी ग्रन्थ की सामग्री को निकालकर उससे एक नया ग्रन्थ बना दिया। उदाहरण के रूप में, किसी समय निशीथ को आचारांग की चूला के रूप में जोड़ा गया, और कालान्तर में उसे वहाँ से अलग कर निशीथ नामक नया ग्रन्थ ही बना दिया गया। इसी प्रकार, आयारदशा (दशाश्रुतस्कन्ध) के आठवें अध्याय (पर्युषणकल्प) की सामग्री से कल्पसूत्र नामक एक नया ग्रन्थ ही बना दिया गया। अतः यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि पहले प्रश्नव्याकरण में इसिभासियाइं के अध्याय जुड़ते रहे हों और फिर अध्ययनों की सामग्री का वहाँ से अलग कर इसिभासियाइं नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ अस्तित्व में आया हो। मेरा यह कथन निराधार भी नहीं है। प्रथम तो, दोनों नामों का साम्य तो है ही। साथ ही, समवायांग में यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि प्रश्नव्याकरण में स्वसमय और परसमय के प्रज्ञापक प्रत्येकबुद्धों के कथन हैं। इसिभासियाइं के सम्बन्ध में यह स्पष्ट मान्यता है कि उसमें प्रत्येक बुद्धों के वचन हैं। मात्र यही नहीं, समवायांग स्वसमय एवं परसमय के प्रज्ञापक प्रत्येकबुद्ध का उल्लेख कर इसकी पुष्टि भी कर देता है कि वे प्रत्येकबुद्ध मात्र जैन परम्पराओं के नहीं हैं, अपितु अन्य परम्पराओं के भी हैं। इसिभासियाइं में मंखलिगोशाल, देवनारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, उद्दालक आदि से सम्बन्धित अध्याय भी इसी तथ्य को सूचित करते हैं। मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरण का प्राचीनतम अधिकांश भाग आज भी इसिभासियाइं में तथा कुछ भाग सूत्रकृतांग, ज्ञाताधर्मकथा और उत्तराध्ययन के कुछ अध्यायों के रूप में सुरक्षित है। प्रश्नव्याकरण का इसिभासियाइं वाला अंश वर्तमान इसिभासियाइं (ऋषिभाषित) में महावीरभाषियाइं तथा आयरियाभासियाइं का कुछ अंश उत्तराध्ययन के अध्ययनों में सुरक्षित है। ऋषिभाषित के तेत्तलिपुत्र नामक अध्याय की विषयसामग्री ज्ञाताधर्मकथा के तेत्तलिपुत्र नामक अध्याय में आज भी उपलब्ध है।

उत्तराध्ययन के अनेक अध्याय प्रश्नव्याकरण के अंग थे—इसकी पुष्टि अनेक आधारों से की जा सकती है। सर्वप्रथम, उत्तराध्ययन नाम ही इस तथ्य को सूचित करता है कि यह किसी ग्रन्थ के उत्तर-अध्ययनों से बना हुआ ग्रन्थ है। इसका तात्पर्य है कि इसकी विषय सामग्री पूर्व में किसी ग्रन्थ का उत्तरवर्ती अंश रही होगी। इसी तथ्य की पुष्टि का दूसरा किन्तु सबसे महत्वपूर्ण प्रमाण यह है कि उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा ४ में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि उत्तराध्ययन का कुछ भाग अंग साहित्य से लिया गया है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति की इस गाथा का तात्पर्य यह है कि "बन्धन और मुक्ति से सम्बन्धित जिनभाषित और प्रत्येक कुछ सम्वादरूप इसके कुछ अध्ययन अंग ग्रन्थों से लिये गये हैं"। निर्युक्तिकार का यह कथन तीन मुख्य बातों पर प्रकाश डालता है। प्रथम तो यह कि उत्तराध्ययन के जो ३६ अध्ययन हैं, उनमें कुछ जिनभाषित (महावीरभाषित) और कुछ प्रत्येक बुद्धों के सम्वाद रूप हैं तथा अंग साहित्य से लिये गये हैं। अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि वह अंग ग्रन्थ कौन सा था, जिससे उत्तराध्ययन के ये भाग लिये गये ? कुछ आचार्यों ने दृष्टिवाद से इसके परिषह आदि अध्यायों को लिये जाने की कल्पना की है किन्तु मेरी दृष्टि में इसका कोई आधार नहीं है। इसकी सामग्री उसी ग्रन्थ से ली जा सकती है जिसमें महावीरभाषित और प्रत्येकबुद्धिभाषित विषयवस्तु हो। इस प्रकार विषयवस्तु प्रश्नव्याकरण की ही थी। अतः उससे ही इन्हें लिया गया होगा। यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा सकती है कि चाहे उत्तराध्ययन के समस्त अध्ययन तो नहीं, किन्तु कुछ अध्ययन तो अवश्य ही महावीर-

भाषित हैं। एक बार हम उत्तराध्ययन के छत्तीसवें अध्ययन एवं उसके अन्त में दी हुई उस गाथा को, जिसमें उसका महावीरभाषित होना स्वीकार किया गया है, परवर्ती एवं प्रक्षिप्त मान भी लें, किन्तु उसके अठारहवें अध्ययन की गाथा २४, जो न केवल इसी गाथा के समरूप है, अपितु भाषा की दृष्टि से भी उसकी अपेक्षा प्राचीन लगती है। प्रक्षिप्त नहीं कही जा सकती। यदि उत्तराध्ययन के कुछ अध्ययन जिनभाषित एवं कुछ प्रत्येकबुद्धों के सम्वादरूप हैं, तो हमें यह देखना होगा कि वे किस अङ्ग ग्रन्थ के भाग हो सकते हैं। प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषयवस्तु का निर्देश करते हुए स्थानांग, समवायांग और नन्दीसूत्र में उसके अध्यायों को महावीरभाषित एवं प्रत्येकबुद्धभाषित कहा गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन के अनेक अध्याय पूर्व में प्रश्नव्याकरण के अंश रहे हैं। उत्तराध्ययन के अध्यायों के वक्ता के रूप में देखें, तो स्पष्टरूप से उनमें नमिपव्वजा, कापिलीय, संजयीय आदि जैसे कई अध्ययन प्रत्येकबुद्धों के सम्वादरूप मिलते हैं जबकि विनयसुत्त, परिषह-विभक्ति, संस्कृत, अकामभरणीय, क्षुल्लक-निर्ग्रंथीय, दुमपत्रक, बहुश्रुतपूजा जैसे कुछ अध्याय महावीरभाषित हैं और केसी-गौतमीय, गद्दमीय आदि कुछ अध्याय आचार्यभाषित कहे जा सकते हैं। अतः प्रश्न-व्याकरण के प्राचीन संस्कार की विषयसामग्री से इन उत्तराध्ययन के अनेक अध्यायों का निर्माण हुआ है।

यद्यपि समवायांग एवं नन्दीसूत्र में उत्तराध्ययन का नाम आया है, किन्तु स्थानांग में कहीं भी उत्तराध्ययन का नामोल्लेख नहीं है। यही ऐसा प्रथम ग्रन्थ है जो जैन आगम साहित्य के प्राचीनतम स्वरूप की सूचना देता है। मुझे ऐसा लगता है कि स्थानांग में प्रस्तुत जैन साहित्य विवरण के पूर्व तक उत्तराध्ययन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में अस्तित्व में नहीं आया था, अपितु वह प्रश्नव्याकरण के एक भाग के रूप में था।

पुनः उत्तराध्ययन का महावीरभाषित होना उसे प्रश्नव्याकरण के ही अधीन मानने से ही सिद्ध हो सकता है। उत्तराध्ययन की विषयवस्तु का निर्देश करते हुए भी कहा गया है कि ३६ अपृष्ठ का व्याख्यान करने के पश्चात् ३७वें प्रधान नामक अध्ययन का वर्णन करते हुए भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। प्रश्नव्याकरण के विषयवस्तु की चर्चा करते हुए उसमें पृष्ठ, अपृष्ठ और पृष्ठापृष्ठ का विरोध होना बताया गया है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि प्रश्नव्याकरण और उत्तराध्ययन की समरूपता है और उत्तराध्ययन में अपृष्ट प्रश्नों का व्याकरण है।

हम यह भी सुस्पष्ट रूप से बता चुके हैं, कि पूर्व में ऋषिभाषित ही प्रश्नव्याकरण का एक भाग था। ऋषि-भाषित को परवर्ती आचार्यों ने प्रत्येकबुद्धभाषित कहा है। उत्तराध्ययन के भी कुछ अध्ययनों को प्रत्येकबुद्धभाषित कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि उत्तराध्ययन एवं ऋषिभाषित एक दूसरे से निकट रूप से सम्बन्धित थे और किसी एक ही ग्रन्थ के भाग थे। हरिभद्र (८वीं शती) आवश्यक-निर्युक्ति की वृत्ति (८१५) में ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन को एक मानते हैं। तेरहवीं शताब्दी तक भी जैन आचार्यों में ऐसी धारणा चली आ रही थी कि ऋषिभाषित का समावेश उत्तराध्ययन में हो जाता है। जिनप्रभसूरि की चौदहवीं सदी की विधिमार्गप्रपा में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि कुछ आचार्यों के मत में ऋषिभाषित का अन्तर्भाव उत्तराध्ययन में हो जाता है। यदि हम उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित को समग्र रूप में एक ग्रन्थ मानें, तो ऐसा लगता है कि उस ग्रन्थ का पूर्ववर्ती भाग ऋषिभाषित और उत्तरभाग उत्तरा-ध्ययन कहा जाता था।

यह तो हुई प्रश्नव्याकरण के प्राचीनतम प्रथम संस्करण की बात। अब यह विचार करना है कि प्रश्नव्याकरण के निमित्तशास्त्र प्रधान दूसरे संस्करण की क्या स्थिति हो सकती है—क्या वह भी किसी रूप में सुरक्षित है? मेरी दृष्टि में वह भी पूर्णतया विलुप्त नहीं हुआ है, अपितु मात्र हुआ यह है कि उसे प्रश्नव्याकरण से पृथक् कर उसके स्थान पर आश्रवद्वार और संवरद्वार नामक नई विषयवस्तु डाल दी गई है। श्री अगरचन्दजी नाहटा ने जिनवाणी, दिसम्बर १९८० में प्रकाशित अपने लेख में प्रश्नव्याकरण नामक कुछ अन्य ग्रन्थों का संकेत किया है। 'प्रश्नव्याकरणाख्य जयपायड' के नाम से एक ग्रन्थ मुनि जिनविजयजी सिंघी जैन ग्रन्थमाला ने ग्रन्थ क्रमांक ४३ में सम्वत् २०१५ में प्रकाशित किया

है। यह ग्रन्थ एक प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति के आधार पर प्रकाशित किया गया है। ताड़पत्रीय प्रति खरतरगच्छ के आचार्यशाखा के ज्ञानभण्डार, जैसलमेर से प्राप्त हुई थी और यह विक्रम सम्वत् १३३६ की लिखी हुई थी। ग्रन्थ मूलतः प्राकृत भाषा में है और उसमें ३७८ गाथाएँ हैं। उसके साथ संस्कृत टीका भी है। यह प्रकाशित ग्रन्थ पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी के पुस्तकालय में है। ग्रन्थ का विषय निमित्तशास्त्र से सम्बन्धित है। इसी प्रकार, जिनरत्नकोश में भी शान्तिनाथ भण्डार खम्भात में उपलब्ध जयपाहुड़ प्रश्नव्याकरण नामक ग्रन्थ की सूचना उपलब्ध होती है।[१७] यद्यपि इसकी गाथा संख्या २२८ बताई गई है। एक अन्य प्रश्नव्याकरण नामक ग्रन्थ की सूचना हमें नेपाल के महाराजा की लायब्रेरी से प्राप्त होती है। श्री अगरचन्दजी नाहटा की सूचना के अनुसार इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि तेरापन्थ धर्मसंघ के युवाचार्य मुनि श्री नाथमलजी ने प्राप्त कर ली है। इस लेख के प्रकाशन के पूर्व श्री जौहरीमलजी पारख, रावटी, जोधपुर के सौजन्य से इस ग्रन्थ की फोटो-कापी पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान को प्राप्त हो गई है। इसे अभी पूरा पढ़ा तो नहीं जा सका है, किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात हुआ कि इसकी मूलगाथाएँ तो सिन्धी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित कृति के समान ही हैं, किन्तु टीका भिन्न है। इसकी एक अन्य फोटो-कापी लालाभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद से भी प्राप्त हुई है। एक अन्य प्रश्नव्याकरण की सूचना हमें पाटन ज्ञान भण्डार की सूची से प्राप्त होती है। यह ग्रन्थ भी चूड़ामणि नामक टीका के साथ है और टीका का ग्रन्थांक २३०० श्लोक परिमाण बताया गया है। यह प्रति भी काफी पुरानी हो सकती है।[१८]

इन सब आधारों से ऐसा लगता है कि प्रश्नव्याकरण का निमित्तशास्त्र से सम्बन्धित संस्करण भी पूरी तरह विलुप्त नहीं हुआ होगा अपितु उसे उससे अलग करके सुरक्षित कर लिया गया है। यदि कोई विद्वान् इन सब ग्रन्थों को लेकर उनकी विषयवस्तु को समवायांग, नन्दीसूत्र एवं धवला में प्रश्नव्याकरण की उल्लिखित विषयसामग्री के साथ मिलन करें, तो यह पता चल सकेगा कि प्रश्नव्याकरण नामक जो अन्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे प्रश्नव्याकरण के द्वितीय संस्करण का ही अंश है या अन्य है। यह भी सम्भव है कि समवायांग और नन्दी के रचनाकाल में प्रश्नव्याकरण नामक कई ग्रन्थ वाचना-भेद से प्रचलित हों और उनमें उन सभी विषयवस्तु का समाहित किया गया हो। इस मान्यता का एक आधार यह है कि ऋषिभाषित, समवायांग, नन्दी एवं अनुयोगद्वार में 'वागरणगंथा' एवं 'पण्हावागरणाइं'—ऐसे बहुवचन प्रयोग मिलते हैं। इससे ऐसा लगता है कि इस काल में वाचनाभेद से या अन्य रूप से अनेक प्रश्नव्याकरण रहे होंगे।

इन प्रश्नव्याकरणों की संस्कृत टीका सहित ताड़पत्रीय प्रतियाँ मिलना इस बात की अवश्य सूचक है कि ईसा की ४–५वीं शती में ये ग्रन्थ अस्तित्व में थे क्योंकि ९–१०वीं शताब्दी में जब इनकी टीकाएँ लिखी गईं, तो उससे पूर्व भी ये ग्रन्थ अपने मूल रूप में रहे होंगे।

सम्भवतः ईसा की लगभग २-३ री सदी में प्रश्नव्याकरण में निमित्तशास्त्र सम्बन्धी सामग्री जोड़ी गई हो और फिर उसमें से ऋषिभाषित का हिस्सा अलग किया गया और उसे विशिष्ट रूप से एक निमित्तशास्त्र का ग्रन्थ बना दिया गया। पुनः लगभग सातवीं सदी में यह निमित्तशास्त्र वाला हिस्सा अलग किया गया और उसके स्थान पर पाँच आश्रव तथा पांच संवरद्वार वाला वर्तमान संस्करण रखा गया। प्रश्नव्याकरण के पूर्व के दो संस्करण भी, चाहे उससे पृथक् कर दिये गये हों, किन्तु वे ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन और प्रश्नव्याकरण नाम अन्य निमित्तशास्त्र के ग्रन्थों के रूप में अपना अस्तित्व रख रहे हैं। आशा है, इस सम्बन्ध में विद्वद्वर्ग आगे और मन्थन करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा।

प्रश्नव्याकरण और ऋषिभाषित की विषयवस्तु की समरूपता का प्रमाण

ऋषिभाषित और प्राचीन प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तुओं की एकरूपता का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण हमें ऋषिभाषित के पार्श्व नामक इकतीसवें अध्ययन में मिल जाता है। इसमें पार्श्व की दार्शनिक अवधारणाओं की चर्चा है। इस चर्चा के प्रसंग में ग्रन्थकार ने स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया है कि व्याकरणप्रभृति ग्रन्थों में समाहित इस

अध्ययन का एक दूसरा पाठ भी मिलता है। इसका तात्पर्य तो यह है कि ऋषिभाषित की विषयवस्तु प्रश्नव्याकरण में भी समाहित थी। यद्यपि यह एक विवादास्पद प्रश्न होगा कि प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु से ऋषिभाषित का निर्माण हुआ या ऋषिभाषित की विषयवस्तु से प्रश्नव्याकरण का। लेकिन यह सुस्पष्ट है कि किसी समय प्रश्नव्याकरण और ऋषिभाषित की विषयवस्तु समान थी और उनमें कुछ पाठान्तर भी थे। अतः वर्तमान ऋषिभाषित में प्राचीन प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का होना निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है। साथ ही, यह भी सिद्ध हो जाता है कि मूल प्रश्नव्याकरण में पार्श्व आदि प्राचीन अर्हत् ऋषियों के दार्शनिक विचार एवं उपदेश निहित थे।

प्रश्नव्याकरण और जयपायड की विषयवस्तु की आंशिक समानता

'प्रश्नव्याकरणाख्य जयपायड' नामक ग्रन्थ की विषयसामग्री निमित्तशास्त्र से सम्बन्धित है। पुनः उसमें कर्ता ने तीसरी गाथा में 'पण्हं जयपायड वोच्छं' कहकर प्रश्नव्याकरण और जयपायड की समरूपता को स्पष्ट किया है।[20] प्रस्तुत ग्रन्थ की इसी गाथा की टीका से ग्रन्थ की विषयवस्तु को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इसमें 'नष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखदुःखजीवनमरण' आदि सम्बन्धी प्रश्न हैं। इस उल्लेख से ऐसा लगता है कि धवलाकार ने प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का जिस रूप में उल्लेख किया है, उसकी इससे बहुत कुछ समानता है।[21] प्रस्तुत ग्रन्थ के विषयों में मुष्टिविभाग प्रकरण, नष्टिका चक्र, संख्या प्रमाण, लाभ प्रकरण, अस्त्रविभाग प्रकरण आदि ऐसे हैं जिनकी विषयवस्तु समवायांग में प्रश्नव्याकरण के वर्णित विषयों से यत्किञ्चित् साम्य रखती है।[22] दुर्भाग्य यह है कि प्रकाशित होते हुए भी विद्वानों को इस ग्रन्थ की जानकारी नहीं है। यह जैन निमित्तशास्त्र का प्राचीन एवं प्रमुख ग्रन्थ है।

ग्रन्थ की भाषा को देखकर सामान्यतया यह अनुमान किया जा सकता है कि यह ईस्वी सन् की चौथी-पाँचवी शताब्दी की हो सकती है। ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त पायड या पाहुड शब्द के भी यह फलित होता है कि यह ग्रन्थ लगभग पाँचवीं शताब्दी के आसपास की रचना होना चाहिए, क्योंकि कसायपाहुड एवं कुन्दकुन्द के पाहुड़ग्रन्थ इसी कालावधि के कुछ पूर्व की रचनाएँ हैं। सूर्य प्रज्ञप्ति में भी विषयों का वर्गीकरण पाहुडों के रूप में हुआ है। अतः यह सम्भावना हो सकती है कि जयपायड़ प्रश्नव्याकरण के द्वितीय संस्करण का कोई रूप हो, यद्यपि इस सम्बन्ध में अन्तिम रूप से तभी कुछ कहा जा सकता है कि जब प्रश्नव्याकरण के नाम से मिलने वाली सभी रचनाएँ हमारे समक्ष उपस्थित हों और इनका प्रमाणिक रूप से अध्ययन किया जाये।

विषय-सामग्री में परिवर्तन क्यों ?

यद्यपि यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविकरूप से उठता है कि प्रथम ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित आदि भाग को हटाकर इसमें निमित्तशास्त्र सम्बन्धी विवरण रखना और फिर निमित्तशास्त्र सम्बन्धी विवरण हटाकर आश्रवद्वार और संवरद्वार सम्बन्धी विवरण रखना—यह सब क्यों हुआ ? सर्वप्रथम ऋषिभाषित आदि भाग क्यों हटाया गया ? मेरी दृष्टि में इसका कारण यह है कि ऋषिभाषित में अधिकांशतः अजैन परम्परा के ऋषियों के उपदेश एवं विचार संकलित थे। इसके पठन-पाठन से एक उदार दृष्टिकोण का विकास तो होता था किन्तु जैनधर्म संघ के प्रति अटूट श्रद्धा खण्डित होती थी तथा परिणामस्वरूप संघीय व्यवस्था के लिए अपेक्षित धार्मिक कट्टरता और आस्था टिक नहीं पाती थी। इससे धर्मसंघ को खतरा था। पुनः यह युग चमत्कारों द्वारा लोगों को अपने धर्मसंघ के प्रति आकर्षित करने और उनकी धार्मिक श्रद्धा को दृढ़ करने का था, चूंकि तत्कालीन जैन परम्परा के साहित्य में इसका अभाव था, अतः उसे जोड़ना जरूरी था। समवायांग में प्रश्नव्याकरण सम्बन्धी जो विवरण उपलब्ध है, उससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है—उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि लोगों को जिन प्रवचन में स्थित करने के लिए, उनकी मति को विस्मित करने के लिए सर्वज्ञ के वचनों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए इसमें—महाप्रश्नविद्या, मनःप्रश्नविद्या, देव-प्रयोग

आदि का उल्लेख किया गया है। यद्यपि यह आश्चर्यजनक है कि एक और निमित्तशास्त्र को पापसूत्र कहा गया—किन्तु संघहित के लिए, दूसरी ओर, उसे अंग आगम में सम्मिलित कर लिया गया। अतः प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु में परिवर्तन करने का दोहरा लाभ था—एक और अन्यतीर्थिक ऋषियों के वचनों को उससे अलग किया जा सकता था, दूसरी ओर उसमें निमित्तशास्त्र सम्बन्धी नई सामग्री जोड़कर उसकी प्रमाणिकता को भी सिद्ध किया जा सकता था। किन्तु जब परवर्ती आचार्यों ने इसका दुरुपयोग होते देखा होगा और मुनिवर्ग को साधना से विरत होकर इन्हीं नैमित्तिक विद्याओं की उपासना में रत देखा होगा, तो उन्होंने यह नैमित्तिक विद्याओं से युक्त विवरण उससे अलग कर उसमें पाँच आस्रवद्वार और पाँच संवरद्वार वाला विवरण रख दिया। प्रश्नव्याकरण के टीकाकार अभयदेव एवं ज्ञानविमल ने भी विषय परिवर्तन के लिए यही तर्क स्वीकार किया है।[२३]

प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषयवस्तु कब उससे अलग कर दी गई और उसके स्थान पर पाँच आस्रवद्वार और पांच संवरद्वार रूप नवीन विषय रख दी गई, यह प्रश्न भी विचारणीय है ? अभयदेव सूरि ने अपनी स्थानांग और समवायांग की टीका में भी यह स्पष्ट निर्देश किया है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरण में इनमें सूचित विषयवस्तु उपलब्ध नहीं है।[२४] मात्र यही नहीं, उन्होंने पांच-पांच आस्रवद्वार और पांच संवरद्वार वाले वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण ही टीका लिखी है। अतः वर्तमान संस्करण की निम्नतम सीमा अभयदेव के काल (१०८० ई०) से पूर्ववर्ती होना चाहिए। पुनः अभयदेव ने प्रश्नव्याकरण में एक श्रुतस्कन्ध है या दो श्रुतस्कन्ध हैं, इस समस्या को उठाते हुए अपनी वृत्ति की पूर्वपीठिका में से अपने पूर्ववर्ती आचार्य का मत उधृत करते हुए उसे अस्वीकार किया हैं और यह भी कहा है कि यह दो श्रुतस्कन्धों की मान्यता रूढ़ नहीं है।[२५] सम्भवतः उन्होंने अपना एक श्रुतस्कन्ध सम्बन्धी मत समवायांग और नन्दी के आधार पर बनाया हो। इसका अर्थ यह भी है कि अभयदेव के पूर्व भी प्रश्नव्याकरण के वर्तमान संस्करण पर प्राकृत भाषा में हो कोई व्याख्या लिखी गई थी जिसमें दो श्रुतस्कन्ध की मान्यता को पुष्ट किया गया था। उसका काल अभयदेव से २–३ शताब्दी पूर्व अर्थात् ईसा की ८वीं शताब्दी के लगभग अवश्य रहा होगा। पुनः आचार्य जिनदासगणि महत्तर ने नन्दीसूत्र पर ६७६ ई० में अपनी चूर्णि समाप्त की थी। उस चूर्णि में उन्होंने प्रश्नव्याकरण में पंचसंवरादि को व्याख्या होने का स्पष्ट निर्देश किया है।[२६] इससे भी यह सिद्ध हो जाता है कि ६७६ ई० के पूर्व प्रश्नव्याकरण का पंच संवरद्वारों से युक्त संस्करण प्रसार में आ गया था, अर्थात् आगमों के लेखनकाल के पश्चात् लगभग सौ वर्ष की अवधि में वर्तमान प्रश्नव्याकरण अस्तित्व में अवश्य आ गया था। प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण की प्रथम गाथा, जिसमें 'वोच्छामि' कहकर ग्रन्थ के कथन का निश्चय सूचित किया है कि रचना शेष सभी अंग आगमों के कथन से बिलकुल भिन्न है। यह पांचवीं–छठी सदी में रचित ग्रन्थों की प्रथम प्राक्कथन गाथा के समान ही है। अतः प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण का रचनाकाल ईसा की छठी सदी माना जा सकता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रश्नव्याकरण का वह प्राचीनतम संस्करण है, जिसमें उसकी विषयवस्तु ऋषिभाषित की विषयवस्तु के समरूप थी और वह लगभग ईसा पूर्व तीसरी सदी की रचना होगी। फिर ईसा की दूसरी-सदी में उसमें निमित्तशास्त्र सम्बन्धी विवरण जुड़े जिनकी सूचना उसके स्थानांग के विवरण से मिलती है। इसके पश्चात् ईसा की चौथी शताब्दी में ऋषिभाषित आदि भाग अलग किये गये और उसे निमित्तशास्त्र का ग्रन्थ बना दिया, समवायांग का विवरण इसका साक्षी है। इस काल में प्रश्नव्याकरण के नाम से वाचनाभेद से अनेक ग्रन्थ अस्तित्व में थे, ऐसी भी सूचना हमें आगम साहित्य से मिल जाती है। लगभग ईसा की छठी सदी के उत्तरार्द्ध में इन ग्रन्थों के स्थान पर वर्तमान प्रश्नव्याकरणसूत्र का आस्रव एवं संवर के विवेचन से युक्त वह संस्करण अस्तित्व में आया है जो वर्तमान में हमें उपलब्ध है। इस सम्बन्ध में अभी विशेष एवं निर्णायक शोध की आवश्यकता है।

सन्दर्भ :

१. समवायांगसूत्र, ५४६ ।
२. इसीभासियाइं ३१ ।
३. स्थानांगसूत्र, १०।११६ ।
४. समवायांगसूत्र, ५४६–५४९ ।
५. नन्दीसूत्र, ५४ ।
६. तत्वार्थवार्तिक १।२० (पृष्ठ ७३–७४) ।
७. धवला, पुस्तक १, भाग १, पृष्ठ १०७–८ ।
८. इसिभासियाइं, अध्याय ३१ ।
९. स्थानांग, ९ स्थान ।
१०. इसिभासियाइं, पठमा संगहीणी गाथा, १ ।
११. समवायांगसुत्र, ४४।२५८ ।
१२. नन्दीसूत्र, ५४ ।
१३. (क) नन्दीचूर्णि ।
१३. (ख) समवायांगवृत्ति ।
१४. धवला, भाग १, पृ० १०४ ।
१५. समवायांग, ५४७ ।
१६. समवायांग, ५४७ ।
१७. प्रश्नव्याकरण जयप्राभृत, (ग्रन्थ० २२८), जैन ग्रन्थावली, पृ० ३५५ ।
(अ) चूड़ामणिवृत्ति (ग्रन्थ २१००), पाटन कैटलोग भाग १ पृ० ८ ।
(ब) लीलावती टीका, पाटन कैटलोग भाग १ पृ० ८ एवं इन्ट्रोडक्शन पृ० ६० ।
(स) प्रदर्शनज्योतिर्वृत्ति, पाटन कैटलोग भाग १ पृष्ठ ८ एवं इन्ट्रोडक्शन पृष्ठ ६० ।
बृहट्वृत्तटिप्पणिका (जैन साहित्य संशोधक, पूना १९२५ क्रमांक ५६०), जैन ग्रन्थावली पृ० ३५५, जिनरत्नकोश पृ० २७४ ।
१८. जिनरत्नकोश, पृ० २७४ ।
१९. इसिभासियाइं, अध्याय ३१ ।
२०. प्रश्नव्याकरणाख्यं जयपाहुडनाम निमित्तशास्त्रम् ३ ।
२१. (अ) प्रश्नव्याकरणाख्यं जयपाहुडनाम निमित्तशास्त्रम्, टीका ।
२१. (ब) धवला, भाग १, पृ० १०७–८ ।
२२. वेर्ले—प्रकरण १४, १७, २१, ३८, प्रश्नव्याकरणाख्यं जयपाहुडनाम निमित्तशास्त्र ।
२३. (अ) प्रश्नव्याकरण वृत्ति (अभयदेव), प्रारम्भ । (ब) प्रश्नव्याकरण टीका (ज्ञानविमल), प्रारम्भ ।
२४. (अ) प्रश्नव्याकरण वृत्ति (अभयदेव), प्रारम्भ । (ब) प्रश्नव्याकरण टीका (ज्ञानविमल), प्रारम्भ ।
२५. (अ) नन्दीचूर्णि (प्राकृत-टेक्स्ट-सोसायटी) । (ब) पाठान्तर, नन्दी चूर्णि (ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम) ।
२६. णंदीसुत्तं चूर्णि, पृ० ६९ ।

●

जैन मिथक तथा उनके आदि स्रोत भगवान् ऋषभ+

डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन
निदेशक—अनेकान्त शोधपीठ,
बाहुबली (कोल्हापुर)

'मिथ' शब्द अंग्रेजी भाषा का है जिसका अर्थ है—पुराकथा, कल्पितकथा या गप्प । इसमें संस्कृत भाषा का 'क' प्रत्यय जोड़कर 'मिथक' शब्द का निर्माण हुआ है । हमने यहाँ मिथक शब्द का व्यवहार पुराकथा अर्थात् 'पुराण' के रूप में किया है ।

जैन धर्म—परिचय एवं प्राचीनता

जैन शब्द का अर्थ है कर्म रूपी शत्रुओं को जीतनेवाला । अतः कर्मजयी सिद्धों, अरिहंतों और २४ तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट धर्म जैनधर्म के नाम से जाना जाता है । इसके अनुसार भगवान् ऋषभदेव इस युग के सबसे प्रथम तीर्थङ्कर हैं । उनके काल की अवधारणा शक्य नहीं है । इसी कारण, जैन धर्म को अत्यन्त प्राचीन माना जाता है । महावीर इस युग के अन्तिम तीर्थङ्कर हैं ।

जैन साहित्य

जैन साहित्य चार अनुयोगों में विभाजित है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग । पुराण-पुरुषों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला द्रव्यानुयोग है । लोक और अलोक का विवेचन करनेवाला करुणानुयोग है । गृहस्थ और साधु के आचार का प्रतिपादन करने वाला चरणानुयोग है । जीव-अजीव आदि सात तत्त्वों का प्रतिपादक प्रथमानुयोग है । प्रथमानुयोग ही जैन मिथक का साहित्य है ।

प्रथमानुयोग की परिभाषा करते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार (२. २.) में कहा है 'प्रथमानुयोग मुक्तिरूप परम अर्थ का व्याख्यान करनेवाला, पुण्यप्रद पुराण पुरुषों के चरित्र की व्याख्या करनेवाला श्रोता की बोधि और समाधि का निधान, समीचीन ज्ञानरूप है ।'

प्रथमानुयोग चरित्र एवं पुराणरूप से दो प्रकार होता है । किसी एक विशिष्ट पुरुष के आश्रित कथा का नाम चरित्र है तथा त्रेसठ शलाका पुरुषों के आश्रित कथा का नाम पुराण है । ये त्रेसठ शलाका पुरुष निम्न हैं : चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव तथा नौ प्रतिवासुदेव ।

षट्खण्डागम के अनुसार पुराण बारह प्रकार का है जो निम्नलिखित १२ वंशों की प्ररूपणा करता है । १ अरिहंत, २ चक्रवर्ती, ३ वसुदेव, ४ विद्याधर, ५ चारण ऋषि, ६ श्रमण, ७ कुरुवंश, ८ हरिवंश, ९ ऐक्ष्वाकुवंश' १० कासियवंश, ११ वादी और १२ नाथवंश ।

त्रेसठ शलाका पुरुषों के आश्रित कथाख्यात्मक रूप पुराण में इन आठ बातों का वर्णन होना चाहिए—लोक, पुर, राज्य, तीर्थ, दान, दोनों तप और गतिरूप फल । ऐसा कहा जाता है कि प्रारम्भ में चौवनशलाका पुरुषों की मान्यता रही है, इनमें नौ प्रतिवासुदेव जोड़कर कब यह संख्या त्रेसठ हो गई, यह अन्वेषणीय है ।

+ अखिल भारतीय मिथक संगोष्ठी, विक्रम विश्वविद्यालय में पठित लेख का संक्षेपित रूपान्तर ।

जैन मिथक साहित्य

जैन साहित्य में मिथक अर्थात् पुराण साहित्य की बहुलता है। यह संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश—तीनों भाषाओं में निम्न रूप में उपलब्ध है।

प्राकृत भाषा के पुराण ग्रन्थ—पउमचरिय, चउपन्नमहापुरिसचरिय, पासनाहचरिय, सुपासनाहचरिय, महावीरचरिय, कुमारपालचरिय, वसुदेवहिंडी, समराइच्चकहा, कालकाचरियकहा, जम्बुचरित्रं, कुमारपालपडिबोध आदि।

संस्कृत भाषा के पुराण ग्रन्थ—पद्मचरित, हरिवंशपुराण, पाण्डवपुराण, महापुराण, त्रिषष्ठिशलाकापुराणचरित, चन्द्रप्रभचरित, धर्मशर्माभ्युदय, पार्श्वाभ्युदय, वर्धमानचरित, यशस्तिलकचम्पू, जीवन्धरचम्पू आदि।

अपभ्रंश भाषा के पुराण ग्रन्थ—पउमचरिउ, महापुराण, पासणाहचरिउ, जसहरचरिउ, भविसयत्तकहा, करकंडुचरिउ, पउमसिरिचरिउ, बड्ढमाणचरिउ आदि। इस प्रकार जैन धर्म में अपार जैन मिथक साहित्य उपलब्ध है।

पुराण और महापुराण

जिनसेनाचार्य ने अपने महापुराण (आदि पुराण) में पुराण की व्याख्या 'पुरातन पुराणं स्यात्' की है। उन्होंने आगे यह भी बताया है कि वे अपने ग्रन्थ में त्रेसठ शलाका पुरुषों का पुराण कह रहे हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि जिसमें एक शलाका पुरुष का वर्णन हो, वह पुराण तथा जिसमें अनेक शलाका पुरुषों का वर्णन हो वह महापुराण है। उनके ग्रन्थ में जिस धर्म का वर्णन है, उसके सात अंग हैं—द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल, भाव, महाफल और प्रकृत। तात्पर्य यह है कि पुराण में षड्द्रव्य, सृष्टि, तीर्थस्थापना, पूर्व और भविष्यजन्म, नैतिक तथा धार्मिक उपदेश, पुण्य-पाप के फल और वर्णनीय कथावस्तु अथवा सत्पुराण के चरित का वर्णन होता हैं।

पुराण की उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर कहा जा सकता है कि पुराण में महापुरुषों का चरित, ऋतुपरिवर्तन और प्रकृति की वस्तुओं के अन्दर होनेवाले परिवर्तन, प्राकृतिक शक्तियों और वस्तुओं का वर्णन, आश्चर्यजनक एवं असाधारण घटनाओं का वर्णन, विश्व तथा स्वर्ग-नरकादि का वर्णन, सृष्टि के आरम्भ और प्रलय का वर्णन, पुनर्जन्म, पुण्य-पाप, वंश, जाति, राष्ट्रों की उत्पत्ति, सामाजिक संस्थाओं और धार्मिक मान्यताओं का वर्णन तथा ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन होना चाहिए।

पुराण और महाकाव्य

धीरे-धीरे जैनपुराणों में काव्यमय शैली का भी समावेश हो गया। यह तत्कालीन प्रभाव ही प्रतीत होता है। जिनसेनाचार्य के अनुसार, महाकाव्य वह है जो प्राचीन काल के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला हो, जिसमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती इत्यादि महापुरुषों का चरित्र-चित्रण हो तथा जो धर्म-अर्थ-काम के फल को दिखाने वाला हो, आचार्य जिनसेन ने अपने महापुराण को महाकाव्य भी माना है। कहने का तात्पर्य यह है कि महापुराण का रूप पुराण से वृहत्काय होता है और जैन पुराणों में काव्यात्मक शैली का भी समावेश हो गया है।

पुराणों का रचना को काल और भाषा

पुराण और महापुराण नामक रचनाओं का आधार क्या है? जिनसेनाचार्य के अनुसार, तीर्थंकरादि महापुरुषों के द्वारा उपदिष्ट चरितों को महापुराण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि इन पुराणों की कथाएँ तीर्थंकरों के मुख से सुनी गई और ये ही परम्परा से चली आ रही है। उपलब्ध पुराण-साहित्य पर दृष्टिपात करें तो मालूम होगा कि ये रचनाएँ विक्रम की छठीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक पनपती रहीं।

अपने धर्म प्रचार में साधारण जन को प्रभावित करने के लिए उन लोगों की जो बोल-चाल की भाषा थी, उसे ही अपने साहित्य का माध्यम बनाने में जैन लोग अग्रणी रहे हैं। इस कारण समय-समय पर बदलती हुई भाषाओं में जैन पुराण-साहित्य का सृजन हुआ है।

प्राकृत के बाद जब संस्कृत का अधिक प्रभाव बढ़ा, तो उस भाषा में भी पुराणों को रचना करने में जैन लोग पीछे नहीं रहे। पश्चात् जब अपभ्रंश-भाषाओं ने जोर पकड़ा, तब अपभ्रंश रचनाएँ भी होने लगी। इस प्रकार हम देखेंगे कि प्राकृत (महाराष्ट्री)—पुराणों का रचना काल छठीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक, संस्कृत-पुराणों का दशवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक तथा अपभ्रंश-पुराणों का काल दशवीं से १६वीं शताब्दी तक रहा है।

प्रचुरता की दृष्टि से प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश पुराणों का उत्कृष्ट काल क्रमशः १२वीं-१३वीं, १३वीं से १७वीं तथा १६वीं शती रहा है। इन सब में संस्कृत कृतियों की संख्या सर्वोपरि है।

जैन पुराण-शास्त्र की विशेषताएँ

जैन पुराणों में प्रारम्भ में तीन लोक, काल-चक्र व कुलकरों के प्रादुर्भाव का वर्णन होता है। पश्चात् जम्बूद्वीप व भारत देश का वर्णन करके तीर्थस्थापना तथा वंश विस्तार दिया जाता है। तत्पश्चात् सम्बन्धित पुरुष के चरित का वर्णन होता है। प्रारम्भ में उनके अनेक पूर्वभवों की कथाओं के साथ अन्य अवान्तर कथाओं का भी समावेश होता है। इस प्रकार उनमें उस समय प्रचलित लोक कथाओं के भी दर्शन होते हैं। इन कथाओं में उपदेशों की कहीं संक्षिप्तता, तो कहीं भरमार रहती है। उनमें जैन सिद्धान्त का प्रतिपादन, सत्कर्मप्रवृत्ति और असत्कर्मनिवृत्ति, संयम, तप, त्याग, वैराग्य आदि की महिमा, कर्मसिद्धान्त की प्रबलता आदि पर बल रहता है। इन प्रसंगों पर मुनियों का प्रवेश भी पाया जाता है। इनके अतिरिक्त शेष भाग में तीर्थंकर की नगरी, माता-पिता का वैभव, गर्भ, जन्म, अतिशय, क्रीड़ा, शिक्षा, दीक्षा, प्रव्रज्या, तपस्या, परीषह, उपसर्ग, केवलज्ञान की प्राप्ति समवशरण, धर्मोपदेश, विहार, निर्वाण इत्यादि का वर्णन संक्षेप या विस्तार से सरल रूप में या कल्पनामय अथवा लालित्य एवं अलंकृत रूप में पाया जाता है। सांस्कृतिक दृष्टि से इन ग्रन्थों में भाषातत्त्व का विकास, सामान्य जीवन का-चित्रण तथा रीति-रिवाज इत्यादि के दर्शन होते हैं जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं।

जैन रामायण और महाभारत

भारतीय जनता को रामायण और महाभारत बहुत ही प्रिय रहे हैं। जैन पुराण साहित्य का श्रीगणेश भी इन्हीं दो कथानकों के ग्रन्थों से होता है। उपलब्ध जैन पुराण साहित्य में प्राचीनतम कृति प्राकृत भाषा में है। यह विमल-सूरि (५३० वि० या ४७३ ई०) की पउमचरिउ (पद्मचरित) नामक रचना है। इसमें आठवें बलदेव दाशरथी राम (पद्म), वासुदेव लक्ष्मण तथा प्रतिवासुदेव रावण का चरित वर्णित है। इस रामकथा की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जो पारम्परिक रामचरित से भिन्न हैं। जैसे—वानर और राक्षस—ये मनुष्य जातियाँ हैं—पशु नहीं, राम का स्वेच्छापूर्वक वनगमन, स्वर्णमृग की अनुपस्थिति, सीता का भाई भामंडल, हनुमान के अनेक विवाह, सेतुबन्ध की अनुपस्थिति आदि। यह रचना गाथाबद्ध है। कहीं-कहीं पर अलंकारों के प्रयोग तथा रस-भावात्मक वर्णनों के होते हुए भी इसकी शैली रामायण व महाभारत जैसी है।

संस्कृत भाषा में भी प्रथम जैन पुराण राम सम्बन्धी ही है जो रविषेणाचार्य (७३५ वि० या ६७८ ई०) रचित पद्मपुराण है। इसी प्रकार अपभ्रंश भाषा में भी प्रथम उपलब्ध जैनपुराण 'पउमचरिउ' है जो स्वयंभूदेव (८९७–९७७ वि० या ८४०–९२० ई०) की रचना है।

काल की दृष्टि से रामायण के पश्चात् महाभारत सम्बन्धी कथा-कृतियों की गणना जैन पुराण साहित्य में होती है। जैन साहित्य में ये रचनाएँ हरिवंशपुराण या पाण्डवपुराण के नाम से विख्यात हैं। उपलब्ध साहित्य में

जिनसेन कृत (८४० वि० या ७८३ ई०) संस्कृत हरिवंशपुराण, तथा स्वयंभूदेव कृत अपभ्रंश का 'रिट्ठणेमिचरिउ' प्रथम रचनाएँ हैं। आचार्य विमलसूरि द्वारा प्राकृत भाषा में भी महाभारत से सम्बन्धित कोई रचना की गई थी, ऐसा 'कुवलयमाला' में उल्लेख है। इन रचनाओं में तीर्थंकर नेमिनाथ, उनके चचेरे भाई वासुदेव कृष्ण, बलदेव, जरासन्ध तथा कौरव-पाण्डवों के वर्णन, पारम्परिकता से समता और विषमता रखते हुए उपलब्ध हैं।

जैनशिल्पकों के आदि स्रोत भगवान् ऋषभ

रामायण और महाभारत के पश्चात् काल की दृष्टि से महापुराणों की बारी आती है जिनमें त्रिषष्टिशलाका पुरुषों अथवा चौबीस तीर्थंकरों आदि के चरित्र वर्णित हैं। संस्कृत भाषा में इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण रचना महापुराण है। इसका प्रथम भाग आदिपुराण जिनसेनाचार्य कृत है तथा उत्तरपुराण उनके शिष्य गुणभद्र की रचना है। आदिपुराण में प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तथा उनके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत का एवं उत्तरपुराण में शेष शलाका पुरुषों के चरित्र वर्णित हैं।

एक समय था जब भरत क्षेत्र में कल्पवृक्ष पूरित भोगभूमि रही। किन्तु समय में पलटा खाया, जीवन निर्वाह की सामग्री देने वाले कल्पवृक्ष स्वयं धीरे-धीरे नष्ट हो गए। उस समय जनता के समक्ष अनेक प्रकार की कठिन समस्याएँ क्रम-क्रम से आने लगीं। उन विकट समस्याओं को सुलझाने के लिए निम्न चौदह युग प्रधान नेताओं, मनुओं या कुलकरों का अवतार हुआ : १. प्रतिश्रुति, २. सन्मति, ३. क्षेमंकर, ४. क्षेमंधर, ५. सीमंकर, ६. सीमंधर, ७. विमलवाहन, ८. चक्षुष्मान्, ९. यशस्वान्, १०. अभिचन्द्र, ११. चन्द्राभ, १२. मरुदेव, १३. प्रसेनजित् और १४. नाभिराय। ये मनु जनसाधारण की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् थे। इस कारण इन्होंने मानव समाज की समस्याओं को अपने विशेष ज्ञानबल से सुलझाने का प्रयत्न किया। अन्तिम मनु नाभिराय की गुणवती पत्नी मरुदेवी थी। मरुदेवी के गर्भ में एक महान् तेजस्वी पुत्र आया। इसके गर्भ में स्थित होते ही नाभिराय के घर में हिरण्य अर्थात् स्वर्ण की वृष्टि हुई। इस कारण देवताओं ने 'हिरण्यगर्भ' कहकर स्तुति की। पुत्र के जन्म के समय उसके दाहिने पैर में बैल का चिह्न था, इस कारण उसका नाम ऋषभनाथ या वृषभनाथ रखा गया।

ऋषभनाथ जन्म से ही महान् ज्ञानी, अत्यन्त सुन्दर, प्रकृष्ट बलवान्, अतिशय दयालु तथा प्रबल पराक्रमी थे। युवा होने पर उनका विवाह नन्दा तथा सुनन्दा नामक दो परम सुन्दरी कन्याओं से हुआ। नन्दा के गर्भ से भरत आदि सौ पुत्र तथा ब्राह्मी नामक एक पुत्री हुई। सुनन्दा के गर्भ से बाहुबली नामक एक महाबलशाली पुत्र एवं सुन्दरी नामक एक कन्या का जन्म हुआ।

भगवान् ऋषभनाथ ने अपने ज्ञानबल से लोगों को कृषि करके अन्न उत्पन्न करने की और अन्न से भोजन बनाने की विधि सिखलायी। उन्होंने इक्षु से रस निकाल कर उसे काम में लेने की विधि भी बताई। वहीं से इक्ष्वाकु वंश का प्रारम्भ माना गया। उन्होंने कपास पैदा कर उससे वस्त्र बनाने के उपाय बतलाए। धातुओं तथा मिट्टी से बर्तन बनाने की प्रक्रिया समझायी। इसके अतिरिक्त ऋषभदेव ने मनुष्यों को अस्त्र-शस्त्र चलाने की विद्या तथा शिल्पकला सिखलाई। उन्होंने व्यापार करने का ढंग तथा परस्पर सहयोग से रहकर जीवन निर्वाह करने के उपाय जनता को बतलाए।

भगवान् ऋषभ ने अपने बड़े पुत्र भरत को नाट्य-कला सिखलाई। सम्भवतः उसी से भरत नाट्यशास्त्र के आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने बाहुबली को मल्लविद्या में निपुण किया एवं अन्य पुत्रों को राजनीति, युद्धनीति आदि कलाओं की शिक्षा दी।

एक दिन भगवान् आदिनाथ निश्चिन्त प्रसन्न मुद्रा में बैठे हुए थे। तब उनकी दोनों पुत्रियाँ आकर उनकी गोद में बैठ गईं। ब्राह्मी बाएँ घुटने पर बैठी तथा सुन्दरी दाहिने घुटने पर। दोनों पुत्रियों ने मीठी भाषा में कहा, "पिताजी, आपने हमको अनेक विद्याएँ सिखलाईं, हमें भी कोई अक्षय विद्या दीजिए।"

भगवान् ने कहा, "अच्छा बेटी, तुम अपना दाहिना हाथ खोलकर निकालो, मैं तुम्हें अक्षर विद्या सिखाता हूँ।" तब ब्राह्मी ने अपना दाहिना हाथ भगवान् के सामने कर दिया। भगवान् ने अपने दाहिने हाथ के अंगूठे से उसकी हथेली पर अ, इ इत्यादि १६ स्वर, क, ख इत्यादि ३३ व्यंजन एवं ४ योगवाह अक्षर लिखकर उसके अक्षर विद्या या लिपिबद्ध विद्या सिखलाई। उस पुत्री के नाम से ही उस आद्यलिपि का नाम जगत् में ब्राह्मीलिपि प्रसिद्ध हुआ।

सुन्दरी भगवान् के दाहिने घुटने पर बैठी थी। अतः उसकी उसकी हथेली पर भगवान् ने अपने बाएँ हाथ के अँगूठे से १, २, ३, आदि अंक लिखकर इकाई, दहाई, सैकड़ा आदि की अंक पद्धति तथा संकलन, विकलन, गुणा भाग आदि गणित सिखलाया। बाँया हाथ होने से उन अंकों के लिखने का क्रम अक्षरों से उलटा (दाहिनी ओर से इकाई आदि के रूप में प्रारम्भ होकर बाईं ओर लिखने की परिपाटी) बतलाया गया। अतः तभी से अंकों के लिखने की पद्धति अक्षरों की अपेक्षा उलटी चल पड़ी।

इस प्रकार भगवान् आदिनाथ ने जगत् में कर्मयुग (कृषि, शिल्प, विद्या, व्यापार आदि परिश्रम करके जीवन निर्वाह करने के उपाय) की सृष्टि की। इस कारण जगत् में उनके नाम 'आदि ब्रह्मा' 'प्रजापति' विधाता, आदिनाथ, आदीश्वर आदि विख्यात हुए।

एक दिन भगवान् ऋषभनाथ राजसभा में बैठे थे। उस समय नीलांजना नामक अप्सरा सभा में नृत्य करते करते आयु पूर्ण हो जाने से मृत्यु को प्राप्त हो गई। इस घटना से उन्हें वैराग्य हो गया। उन्होंने अपने बड़े पुत्र भरत को राज्य सिंहासन पर बिठाकर अपना समस्त राज्यसभा तथा गृहस्थाश्रम का भार उसे सौंप दिया। अपने अन्य पुत्रों को भी थोड़ा-थोड़ा राज्य देकर स्वयं सब कुछ त्यागकर वे वन की ओर चल दिए। वहाँ पर उन्होंने अपने शरीर के समस्त वस्त्र-भूषण उतार दिए और नग्न होकर छह मास का योग लेकर आत्म-साधना में बैठ गए। उस अचल आसन के समय उनके शरीर पर सर्प आकर चढ़ते उतरते रहते थे तथा गले में भी लिपटे रहते थे। उनके सिर पर बाल बहुत बढ़ गए थे। उस जटा में वर्षाऋतु का जलभर जाता था और बहुत समय तक जल की धारा बहती रहती थी। आगे चलकर वे शिव के प्रतीक बन गए। छह मास निराहार रहकर, कठोर तपश्चर्या के पश्चात् जब वे भोजन के लिए निकटवर्ती गांव में आए, तो वहाँ के स्त्री-पुरुष यह नहीं जानते थे कि साधु को किस प्रकार आहार दिया जाय। भगवान् अपने मुख से कुछ बोलते न थे। अतः उन्हें छह मास तक भोजन नहीं मिल पाया। इस तरह एक वर्ष तक निराहार रहकर उन्होंने तपस्या की।

एक वर्ष के पश्चात् हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस के यहाँ ठीक विधि से आहार मिला। उस समय भगवान् ने तीन चुल्लू इक्षु का रस पीकर पारणा की। तदनन्तर स्त्री-पुरुषों को साधु को भोजन कराने की विधि मालूम हो गई। एक हजार वर्ष की कठोर आत्म-साधना करने के पश्चात् भगवान् ऋषभ ने आत्मशत्रुओं—काम, क्रोध, मद, मोह, ईर्ष्या, राग, द्वेष आदि पर विजय प्राप्त की, संसार-भ्रमण के कारणभूत घातिया-कर्मों पर विजय प्राप्त की और वे शुद्ध-बुद्ध, वीत-राग, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा बन गए। आत्म-शत्रुओं पर विजय पाने के कारण उनका नाम 'जिन' (जीतनेवाला) विख्यात हुआ।

उसी समय उनका मौन भंग हुआ। उन्होंने जनता को धर्म का उपदेश देना प्रारंभ किया। उन्होंने संसार से मुक्त होने की विधि, जन्म-मरण से छुटकारा पाकर अजर-अमर परमात्मा बनने की प्रक्रिया सबको सरल सुबोध भाषा में समझाई। इस प्रकार उन्होंने सबसे प्रथम जिस धर्म का प्रचार किया, उसका नाम उनके प्रसिद्ध 'जिन' नाम के अनुसार जैनधर्म प्रसिद्ध हुआ। उनके धर्म-उपदेश से सर्वसाधारण को लाभ पहुँचाने के लिए देवताओं द्वारा एक गोल, सुन्दर, विशाल सभा-मण्डप (समवशरण) बनाया गया। उसमें १२ कक्ष बनाए, उन कक्षों में देव-देवियाँ, मनुष्य-स्त्रियाँ, साधुसाध्वियां, तथा पशु-पक्षी आदि सभी जीव बैठकर भगवान् का उपदेश सुनते थे। उस समवशरण (सभा-मण्डप) के बीच में एक तीन कटनी की वेदी बनी थी। उसके ऊपर सिंहासन था। सिंहासन के बीच कमल था, उस कमल पर भगवान् विराजते थे। भगवान् का मुख पूर्व या उत्तर दिशा की ओर होता था किन्तु दैवी चमत्कार से उनका मुख

चारों दिशाओं में दिखाई देता था। इस कारण जनसाधारण उन्हें 'कमलासन पर विराजमान चतुर्मुखी आदि ब्रह्मा' भी कहते थे।

भगवान् ने आचारांग आदि १२ अंगों का तथा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग का उपदेश दिया। उनके उपदेश का क्रमाचार विवेचन करनेवाला प्रथम गणधर उनका ही दीक्षित साधुपुत्र 'वृषभसेन' हुआ। वृषभसेन के बाद ८३ गणधर और भी हुए।

इस प्रकार भगवान् ऋषभ लम्बे समय तक मोक्षमार्ग का प्रचार करते हुए आत्मसाधना के लिए कैलास पर्वत पर विराजमान हुए। वहाँ उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्‌चारित्र रूप त्रिशूल के द्वारा अवशिष्ट कर्म-शत्रुओं का क्षय किया। उस समय उनका नाम कैलासपति प्रसिद्ध हुआ। पर्वतनिवासिनी जनता (पार्वती) उनको अपना प्रभु मानती थी, अतः वे पार्वतीपति भी कहे जाने लगे।

भरत की दिग्विजय

भगवान् ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने राज्यसिंहासन पर बैठर न्याय-नीतिपूर्वक बहुत दिनों तक शासन किया। कुछ समय पश्चात् वे अपनी विशाल सेना और 'चक्र' नामक दिव्यास्त्र लेकर दिग्विजय के लिए निकले। समस्त देशों तथा समस्त राजाओं को जीतकर वे प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् बने। उन्हों के नाम पर समस्त देशों का सामूहिक नाम 'भरतक्षेत्र' तथा इस देश का नाम 'भारत' प्रसिद्ध हुआ।

जैनशास्त्रों के इस कथन की पुष्टि अन्य जैनेतर पुराण तथा शास्त्र भी करते हैं। वेदों में भगवान् आदिनाथ का नाम ऋषभ, वृषभ तथा हिरण्यगर्भ के रूप में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। शिवपुराण आदि में ऋषभ का चरित्र वर्णित है। भागवत (प्रथम स्कंध, तृतीय अध्याय) में ऋषभ को विष्णु के २२ अवतारों में आठवाँ अवतार माना गया है। यहाँ उनके माता-पिता का नाम मरुदेवी और नाभिराय ही हैं।

बाबा आदम और रसूल

इस्लाम धर्म के अनुसार मनुष्यों को सन्मार्ग पर चलाने के लिए बाबा आदम ने धर्म का उपदेश दिया। क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति (वर्तमान नाम एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्दजी) ने विश्वधर्म की रूपरेखा (पृ० ३८) में लिखा है कि 'आदम' आदिनाथ का अपभ्रंश रूप है। इस्लाम जिस आदि पुरुष को 'आदम' शब्द से कहता है, वह बाबा आदम भगवान् ऋषभनाथ ही हैं जिनका अपर नाम आदिनाथ है। एलाचार्य ने कहा है कि इस्लामी ग्रन्थों में बताया गया है कि नबी का बेटा रसूल था जिसको खुदा ने ईश्वरीय उपदेश जनता तक पहुँचाने के लिए पैदा किया। इसका भी अभिप्राय यही है कि नबी (नाभि) का पुत्र (बेटा) रसूल (ऋषभ) हुआ जो मनुष्यों का पहला धर्मोपदेशक था।

भरत और भारत

हमारे देश का नाम भारत, अत्यन्त प्राचीन नाम है। देश का यह नाम भगवान् आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत के नाम पर प्रचलित हुआ है। इस बात का समर्थन मार्कण्डेयपुराण (अध्याय १२), तथा नारदपुराण (अ० ४८) आदि कहते हैं। विष्णुपुराण (अंश २ अध्याय १) में कहा गया है कि सौ पुत्रों में सबसे बड़ा पुत्र भरत ऋषभ से पैदा हुआ। उस भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। भगवान् ऋषभ के जीवन में, जैन संस्कृति के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति के भी अनेक मिथकीय तत्त्व प्रचुरता के साथ हमें दिखाई पड़ते हैं—जैसे, हिरण्यगर्भ की कल्पना, ब्रह्मा, प्रजापति और त्रिशूलधारी, जटाओं में गंगा को धारण करने वाले, पार्वतीपति शिव के स्वरूप, भरत का नाट्यशास्त्र और भरत नाम की कल्पना, ब्राह्मीलिपि और अंक विद्या का प्रादुर्भाव आदि।

इस प्रकार जैन तीर्थंकर भगवान् ऋषभ का जीवन, जैन मिथक के आदि स्रोत के रूप में तो प्रतिष्ठित है ही, भारतीय मिथकों के स्रोत के रूप में भी प्रतिष्ठित किया जा सकता है। ●

अजैन नाटककारों के हिन्दी नाटकों में जैन समाज दर्शन की अवधारणा

डा० लक्ष्मीनारायण दुबे
हिन्दी-विभाग, सागर विश्वविद्यालय

जैन समाज दर्शन की कतिपय आधुनिक हिन्दी नाटककारों ने स्वीकार किया है और जैनदर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर नाटकों के माध्यम से एक नवीन समाजसंरचना की अवधारणा प्रस्तुत की है। जैन-चिन्तन की समृद्ध तथा सुदीर्घ परम्परा के सामाजिक पक्ष को उपस्थित करने में कुछ अजैन नाटककारों ने सम्यक् एवं श्रेष्ठ कार्य किया है। ये नाटक प्रमाणित करते हैं कि नूतन समाज-विधान की कल्पना यहाँ प्रामाण्य है। किसी भी वैचारिक परम्परा द्वारा दिये गये आदर्शों को प्राप्त करने के लिए एक विशेष प्रकार के समाज की भी आवश्यकता होती है। जैन आदर्शों के अनुरूप जिस समाज की जरूरत है उन्हें हिन्दी नाटकों में प्रतिपादन मिला है। हिन्दी नाटकों में यत्र-तत्र बिखरे समाज दर्शन के तत्वों को एकत्र कर जैन समाज सम्बंधी कतिपय सिद्धान्तों की विवेचना की जा सकती है।

वर्तमान युग में समाजदर्शन को अधिक महत्ता दी जा रही है। जब हम हिन्दी नाटकों का समाजशास्त्रीय अध्ययन करते हैं तो हमारे समक्ष सुस्पष्ट रूप में, मूलाधार के तौर पर, जैन दर्शन भी उभरने लगता है। समाज सम्बंधी समस्याओं पर इन नाटकों में जो मनन और समाधान मिलता है—उसे जैन-चिंतन के परिप्रेक्ष्य में निरखा-परखा जा सकता है।

जैन-चिंतन में सत्य और अहिंसा को अपरिहार्य महत्व प्राप्त है। इन्हें श्रमण संस्कृति की अप्रतिम देन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस युग में जब समस्त विश्व दो महायुद्धों में प्रयुक्त वैज्ञानिक उपकरणों से त्रस्त था तब सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त को, विश्व में शांति उत्पन्न करने के लिए, समस्त संसार के सामने प्रस्तुत किया गया। इसमें महात्मा गांधी की अहम् एवं ऐतिहासिक भूमिका रही है जो कि स्वयं जैनदर्शन से प्रभावित थे। इस सिद्धान्त का प्रभाव इस युग के नाटककारों पर भी व्यापक रूप से पड़ा और उन्होंने इस विचार को अपने नाटकों में विवेचित किया। सेठ गोविन्ददास के 'विकास' नाटक में यही प्रतिपादित किया गया है कि समूची दुनिया में जो पाशविकता का साम्राज्य आच्छादित है, उसमें सत्य और अहिंसा के द्वारा ही विश्वशांति स्थापित हो सकती है, तभी मानव सुख से जीवन व्यतीत कर सकता है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'मेघनाद' नाटक में सत्य की विजय दिखलाई है। अहिंसा की दृष्टि से राधेश्याम कथावाचक के 'महर्षि वाल्मीकि', उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'छटा बेटा' और उदयशंकर भट्ट के 'मुक्तिदूत' के दृष्टान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'मुक्तिदूत' नाटक में यज्ञ में बलि का विरोध है। जयशंकर 'प्रसाद' ने 'अजातशत्रु' में अहिंसा धर्म की गरिमा की ओर अधिक ध्यान दिया है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने 'वत्सराज' नाटक में श्रमण को भी कर्मयोग में दीक्षित किया है।

सेठ गोविन्ददास के 'अशोक', विष्णु प्रभाकर के 'नवप्रभात', आचार्य चतुरसेन शास्त्री के 'धर्मराज', डा० रामकुमार वर्मा के 'विजय पर्व' एवं 'कला और कृपाण' आदि नाटकों में अहिंसात्मक दृष्टिकोण का आकलन किया गया है। आज विज्ञान की बढ़ती हुई शक्ति से मानव त्रस्त है और वह भविष्य में होने वाले तृतीय विश्वयुद्ध से भयभीत है। आज का व्यक्ति और समाज इस चिंता में है कि किसी प्रकार इस तीसरे महासमर का खतरा टल जाय और मानव शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करे। बीसवीं शताब्दी की साम्राज्य-लिप्सा ने समस्त मानवता को त्रस्त कर दिया है। शस्त्र ही शक्ति का एकमात्र अवलम्ब है और उसके संघर्ष से मनुष्यता घायल होकर सिसक रही है। इसका एकमात्र उपाय यदि कोई है तो वह अहिंसा है। आज भी भारत अपनी विदेश नीति में अहिंसात्मक दृष्टिकोण को विशेष स्थान दे रहा है।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने आधुनिक वैज्ञानिक युग में धर्म की महत्ता एवं उसके स्वीकार करने पर आवश्यक बल दिया है। उनके 'सूखा सरोवर' नाटक में राज्य की समस्त प्रजा धर्म विरुद्ध हो गयी और सरोवर के सूख जाने पर उसमें जो आवाज निकती है—उसमें जैन चिंतन की सात्विकता तथा समाजदर्शन की अवधारणा सर्वथा सांकेतिक हो गयी है—

मैं धर्मराज हूँ इस नगरी का, तुम सब धीरे-धीरे धर्मच्युत हो गये,
राजा से तर्क करने लगे तुम, राजा को व्यक्ति मानने लगे तुम ॥
दान-पुण्य, लोकाचार, धर्माचार, सबको छोड़ते गये तुम,
जो कुछ धर्म था, धर्मजनित कम था,
सबसे, सबकों, सब तरह-दौड़ते गये तुम।
सबको आडम्बर कहा, सबको अंध ज्ञान कहा,
ज्ञानी तुम बन गये, तभी धर्म ने सरोवर को सोख लिया ॥

आज के नाटककारों ने यह सिद्ध कर दिया है कि पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में आकर आज की नयी पीढ़ी नैतिक मूल्यों के प्रति आस्थावान् नहीं है और उन्हें नैतिकता का चोला व्यर्थ का जंजाल प्रतीत होता है। प्राचीनकाल में विद्यार्थी ब्रह्मचर्य का पालन करते थे परन्तु आज विद्यार्थियों का नैतिक पतन हो चुका है। डा० लक्ष्मीनारायण लाल के 'सुन्दर रस' नाटक में इसी तथ्य को रेखांकित किया गया है।

भगवान् महावीर स्वामी ने 'जागो और जगाओ' का मन्त्र दिया था और वे नारी जाग्रति के पुरोधा बने। सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा राष्ट्रीय आंदोलन इस आयाम को सर्वाधिक व्यापकता प्रदान किया। स्वातंत्र्योत्तर भारत में इस प्रवृत्ति की सम्पुष्टि हुई। महासती चन्दनबाला को इसीलिए नाटकों में बड़ी लोकप्रियता मिली। एक ओर तीर्थंकर महावीर चन्दनबाला को बेड़ियों से मुक्त करते हुए उसे दासी-जीवन से छुटकारा दिलाते हैं तो दूसरी ओर विनोद रस्तोगी के 'नये हाथ' नाटक की शालिनी कहती है—अपने समाज में पत्नी दासी को तरह तो होती ही है। मैं किसी की गुलामी नहीं कर सकती। भगवान् ने स्वतन्त्र पैदा किया है, फिर जानबूझ कर जंजीरों से क्यों बंधू?

आज के समाज की प्रमुख समस्याएँ हैं अनैतिक स्थिति, विघटन, पारिवारिक कलह, मानसिक अशांति, धार्मिक द्वेष, राजनीतिक झगड़े आदि। टी० एस० इलिएट तथा मैरिल ने लिखा है कि सामाजिक विघटन उस समय उत्पन्न होता है जब संतुलन स्थापित करने वाली शक्तियों में परिवर्तन होता है और सामाजिक संरचना इस प्रकार टूटने लगती है पहले से स्थापित नवीन परिस्थितियों पर लागू नहीं होते और सामाजिक नियन्त्रण के स्वीकृत रूपों का प्रभावपूर्वक कार्यान्वयन असम्भव हो जाता है।

इस पृष्ठभूमि में जैनचिंतन के मुद्दे व्यक्ति को समष्टिपरक संस्थिति को सम्पुष्ट करते हैं और समाज को अपने आदर्शों के अनुकूल नयी स्थिति प्रदान करने के लिए प्रतिबद्ध है। हिन्दी नाटकों में उन जैन तत्वों को उकेरने का प्रयास किया गया है जिन्हें हम सचमुच आज समाज की मूलभित्ति के रूप में मान्यता प्रदान कर सकते हैं। हिन्दी नाटक जैन समाजदर्शन से अनुप्राणित होते हुए भी एक नयी जमीन तैयार करने में अपनी अहम भूमिका का निर्वाह करते हैं। जैनदर्शन से मण्डित ये नाटक आधुनिक होते हुए ही परम्परा से सम्पृक्त हैं। यही उनके चिंतन की विशेषता है। तीर्थंकरों तथा जैनाचार्यों के तत्वचिंतन को कथानक, पात्र तथा सम्वाद की सरस स्थिति प्रदान करते हुए, ये नाटक सचमुच सामाजिक संचेतना की भूमि बनाते हैं। जैनचिंतन में जिन्हें पंचमहाव्रत माना गया है उन्हें आज जीवन मूल्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। व्यक्तिगत मोक्ष की सामाजिक परिपार्श्व में आबद्ध करने में इन नाटकों की अहमियत है।

□

ऐरावत-छवि

कुन्दन लाल जैन
श्रुतकुटीर, विश्वास नगर, दिल्ली

"दिल्ली-जिन-ग्रन्थ-रत्नावली" के लिए जब दिल्ली के ग्रन्थ भण्डारों का सर्वेक्षण कर रहा था तो किसी गुटके में उपर्युक्त शीर्षक से एक अष्टछन्दी रचना प्राप्त हुई, रचना पं० रूपचन्द्रजी (सं० १६५० के लगभग) के पंचमंगल पाठ में से जन्ममंगल के ऐरावत की भाँति ही गणित वाली थी, जिसे कभी बचपन में याद किया था, उपलब्ध रचना अच्छी लगी सो अपने संग्रह में सँजोकर रख ली थी।

अब सेवा निवृत्ति के बाद जब अपनी सामग्री को पुनः व्यवस्थित करने का विचार आया तो "ऐरावत-छवि" सहसा हाथ लग गई। चूंकि रचना सुपुष्ट और सुन्दर है अतः उस पर लेख लिखने को सोच रहा था कि सहसा श्री बहादुरचन्द्र जी छावड़ा का लेख "भारतीय कला में हाथी" पढ़ने में आया जिसमें उन्होंने जावाद्वीप के चाय बागान में एक बड़े भारी विस्तृत शिला-खंड पर विशाल हस्ति-चरण युगल के उत्कीर्ण होने का उल्लेख किया है और दोनों हस्ति-चरणों के बीच संस्कृत की एक पंक्ति भी उत्कीर्ण है जिसका भाव है कि "ये हस्ति चरण महाराज पूर्णवर्मन् (५वीं सदी) के हाथी 'जयविशाल' के हैं जो इन्द्र के ऐरावत के समान वैभवशाली एवं आकार-प्रकार वाला था"।

जावा के उपर्युक्त पुरातत्वीय अभिलेख ने मस्तिष्क की नसों को और अधिक उद्दीप्त किया तथा ऐरावत पर और अधिक अध्ययन के लिए प्रेरित हुआ। उपलब्ध जीव-जगत् में आकार, शक्ति आदि की दृष्टि से सामान्य हाथी भी बड़ा भारी माना जाता है, पर ऐरावत की कल्पना तो मानवातीत समझी जाने लगी है। जरा ध्यान दीजिए जब तीर्थंकर का जन्म होता है तो सौधर्मेन्द्र का आसन कंपित होता है और वह अवधि ज्ञान से तीर्थंकर को अवतारणा को जानकर भी पांडुक शिला पर अभिषेक के लिए ले जाने को मायामयी ऐरावत की रचना करता है, जो आकार में एक लाख योजना का लम्बा चौड़ा होता है, उसके बड़े-बड़े विशाल सौ मुख होते हैं, जिनमें से प्रत्येक मुख में आठ-आठ दाँत होते हैं, हर एक दाँत पर एक-एक बड़ा भारी सरोवर होता है। प्रत्येक सरोवर में एक सौ पच्चीस, १२५ कमिलिनी होती है और प्रत्येक कमिलिनी पर पच्चीस-पच्चीस कमल होते हैं और प्रत्येक कमल में १०८-१०९ पंखुड़ियाँ होती हैं और प्रत्येक पंखुडी पर एक-एक अप्सरा नृत्य करती हैं।

इस तरह २७ करोड़ नृत्य करती हुई अप्सराओं सहित ऐरावत पर भगवान् को बिठा कर सौधर्मेन्द्रपांडुक शिला पर जाता है और अभिषेक करता है। इस गणित वाले ऐरावत की चर्चा पं० रूपचन्दजी व श्री नवलशाह जो वर्धमानपुराण के कर्ता हैं ने हिन्दी में की है जो लगभग सं० १६५० के आसपास विद्यमान थे, ऐसा ही वर्णन निम्न 'ऐरावत छवि' में भी है पर पुन्नाट संघीय श्री जिनसेनाचार्य ने अपने "हरिवंशपुराण" में संस्कृत में तथा श्री पुष्पदन्त ने अपने "महापुराण" में अपभ्रंश में केवल अलंकारिक शैली में ही ऐरावत का वर्णन किया है जो कवि सम्मत लगता है। इनका समय ८वीं ९वीं सदी है। श्री जिनसेनाचार्य के ऐरावत की छवि देखिए :—

ततश्चंद्रावदातां गमिन्द्रस्तुंगमतंगजं। शृंगोघमिव हेमाद्रेर्मुक्ताभो मदनिर्झरं॥
कर्णांतरताम्रस्करकचामरसंतति । तं यथाधित्यकाधीन् रक्ताशोकमहावनं॥
सुवर्णरिक्षयाचोभ्यां परिवेष्टितविग्रहं। तमेव च यथोपात्त कनत्कनकमेखलं॥

अनेकरबसंबृत्य नृत्यसंगीत पोषितं। तमिवोत्तुंगमृंगाग्र नृत्यत्कायत्सुरागनं ॥
सुवृत्तदीर्घसंचारि करुद्धविगन्तरं। तमिवात्यायति स्थूल स्फुरद्भोग भुजंगमं ॥
ऐशान धारित स्फीत धवला तप वारणं। तमिवोष्वस्थिताभ्यर्णं संपूर्णशशिमण्डलं ॥
चामरेन्द्रभुजोत्क्षिप्त चलच्चामरहारिणं। तं यथाचमरी क्षिप्त बालव्यञ्जन वीजितं ॥
ऐरावतं समारोप्य जिनेन्द्रं तस्य मण्डनं। देवैः सह गता प्राप्त मंदरं स पुरन्दरः ॥

आचार्य जिनसेन के शब्दों में ही अन्यत्र :—

सौधर्मेन्द्रस्तदारूढो गजानीकाधिपं गजं। ऐरावतं विकुर्वाणमाकाशाकारवद्वपुः ॥
प्रोद्दंष्ट्रांतर विस्फारिकरास्फारितपुष्करं। प्रोद्दंशांकुरमभ्योद्यद् भोगीन्द्रमिव भूधरं ॥
कर्णचामरशंखांकं कक्षनक्षत्रमालिनं। बलाका हंस विद्युद्भिरिव तातं यहत्यथं ॥
आरूढ़ वानरेणेन्द्राणामिन्द्राणां निबहैर्युतः। जन्मक्षेत्रं जिनस्यासौ पवित्रं प्रापयाम् सुरैः ॥

अपभ्रंश के विख्यात कवि विबुध श्रीधर (सं० ११८९) के शब्दों में ऐरावत की अलंकृति पूर्ण सुन्दर छबि का रसास्वादन कीजिए :—

चित्तिओ महाकरीन्दु दाणं पीणियालि वंदु। सोवि तक्खणे पहुत्तु चारु लक्खामि जुनु।
लक्ख जोयणप्पमाणु कच्छमालिया समाणु। भूसणं सुभासमाजु सीयराइ मेल्लमाणु।
उद्ध संडु धावमाणु णीरही व गज्जमाणु। दन्त दीत्ति दीवयासु दिग्गइदं दिन्न तासु।
सायरब्भ कूर भासु पूरियामरेसरासु। कुम्भछित्त वोम सिंगु कण्णवाय धूव लिंगु।
देवया मणोहरंतु सामिणो पुरो सरं तु। तं निएवि हरि आणंदु करि तहि आरुहियउ जावेहि।
अवर वि अमर पयडिय उमर चलिय सपरियण तावेहि ॥

हिन्दी के अज्ञात कवि की ऐरावत-छबि का रसपान कीजिए जो इस लेख का मूल लक्ष्य है :—

छप्पय छन्द—जोजन लच्छ रचौ अैरापति वदनु एकु सौ बस रदधार।
दंत-दंत पर एक सरोवर सुरपति पद्मनि पच्च सतार ॥ (१२५)
पद्मनि पदम पच्चीस विराजै दल राजै बसु सत निरधार।
कोटि सत्ताईस दल दल ऊपर रचै अपछरा नचै अपार ॥ १ ॥

हाव भाव विभ्रम विलास श्रुत खड़ी अगरि गावै गंधार।
ताल म्रदंग किंकिनी कटि पर पग नेवर बाजै झंकार ॥
नैन बाँसुरी मुख खंजरी चंग उपंग बजै सब नार ॥ कोटि सत्ताईस० २ ॥

सीस फूल सीसन के ऊपर पग नूपुर भूपर सिंगार।
केस कुमकुम अगर अगरजा मलया सुभग ल्याइ घनसार ॥
चलनि हँसनि बोलनि चितवनि करि रति के रूप किया परिहार ॥ कोटि० ३ ॥

हीअ आसन सुखकीय पासना मुख फूल कमिलिनी की उनहार।
अंग उपंग कांति अति लखि करि मन मथती असनान की उनहार ॥
इन्द्र विन्द्र सबके मन मोहैं सोहैं सब लच्छिन सुभ सार ॥ कोटि० सत्ताईस ४ ॥

दम दम दमकत दसन दिपंती दंदन बंती दंदन धार।
झमझम झमकति झिझिक झकंती झंकनवंती झंकन कार॥
नग नमन करंती मुती चरंती पुनि भारंती जिन भंडार॥ कोटि सत्ताईस० ५॥

चमचम चमकती चरन चलंती चन्दनवन्ती चंचल मार।
छम छम छम कंती छुटि छेहै रती छिनकि निहार॥
नमि नमि उचरंती नमन करंती नैन चरंती नस परिहार॥ कोटि सत्ताईस० ६॥

प्रथम इन्द्र दन्ति केऊर तन प्रसन्न मन परम उदार।
आठ महादेवी करि मंडित एक लाख बलीत्रि कलार॥
मुकुट आदिभूवन भूषित तन सुरनर सिर सोहै सिरदार॥ कोटि सत्ताईस० ७॥

कुंद इंदु उज्जिल उतंग तन नाम दंत नाम गज साल। घंटा घनघन नत घनम घन घनन ननन बाजै घंटार॥
किनिनि निनिनि किंकिनि रटंति छुद्र घंट कारि टंकार। कामदेव छवि करग इन्द्रमुख रचै अप्छरा नचै अपार॥८॥
कोटि सत्ताईस दल दल ऊपर रचै अप्छरा नचै अपार॥

पं० रूपचन्द जी और कवि नवल शाह ने भी २७ करोड़ अप्सराओं वाले (मुख/१०० × दंत और सरोवर/८ × कमलिनी/१२५ × कमल/२५ × पंखुड़िया/१०८ और अप्सरा = २७ करोड़ अप्सरा) ऐरावत का सुन्दर पदावलियों में वर्णन किया है उसकी भी छटा देख लीजिए :—कवि नवल शाह (सं० १६५) के शब्दों में :—

"ओजन लाख ऐरावत भयौ सौ मुख तास दशौं दिशि ठयौ। मुख मुख प्रति वसु दन्त धरेह दन्त दन्त इक इक सरलेह।
सर सर मौहि कमिलिनी जान सवासौ है परमान। कमिलिनी प्रति प्रति कमल बखानै ते पचीस पचीसहिं जान।
कमल कमल प्रति दल सौभंत अष्टोत्तर शत है विकसंत। दल प्रति एक अप्सरा जान सब सत्ताईस कोटि प्रमान।
ता गज पै आरुढ़ जु इन्द्र अरु सब संग इन्द्राणि वृन्द।

इसी तरह पं० रूपचन्द जी आगरा (सं० १६८४) की पदावली निरखिए :—

घनराज तब गजराज मायामयी निरमय आनियो। ओजन लाख गयंद बदन सौ निरमये।
बदन बदन वसु दंत, दंत सर संठये। सर सर सोपन बीस कमिलिनी छाजहीं।
कमिलिनि कमिलिनी कमल पचीस विराजहिं। राजहिं कमिलिनी कमल अठोत्तर सौ मनोहर दल बने।
दल दलहिं अपछर नटहिं नवरज हाव भाव सुहावने। मणि कनक किंकिणि वर विचित्र सु अमर मण्डप सोहये।
घन घंट धुजा पताका देखि त्रिभुवन मन मोहये।

इस तरह हमने साहित्यिक दृष्टि से ऐरावत (हाथी) की विवेचना का रसपान किया अब सांस्कृतिक दृष्टि से भी हाथी के महत्व का अंकन करें। भारतीय जनजीवन में हाथी का बड़ा भारी महत्व रहा है। इसीलिए सिंधुघाटी एवं हड़प्पा के पुरावशेषों के उत्खनन में प्राप्त सीलों पर अंकित हाथी के चिह्न हमें भारत में पाँच हजार वर्ष की प्राचीनता तक हाथी के अस्तित्व का बोध कराते हैं। भारतीय चिन्तन परम्परा में हाथी एक सामान्य पशु या घरेलू प्राणी नहीं है अपितु मानवीय गुणों की सम्भावना से युक्त एक श्रेष्ठतम प्रतीक समझा जाता है। भारतीयों ने हाथी में शक्ति, सभ्यता, बुद्धि, प्रतिभा, भक्ति, स्नेह, साहस, धैर्य, वैभव, नेतृत्व, त्याग, अपनत्व, श्रद्धा, विश्वास आदि अनेक मानवीय गुणों के दर्शन किए हैं। इसीलिए प्राचीन भारत की सेना की सर्वश्रेष्ठ शक्ति आँकी गई थी और सेना के सभी कार्यों में हाथी का

प्रचुरता से प्रयोग किया जाता था। "हस्त्यायुर्वेद" नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना इस बात का द्योतक है कि भारतीय जन-जीवन में हाथी का कितना अधिक मूल्य एवं महत्व था। हस्ति-सेना भारतीय चतुरंग सेना का एक अभिन्न अंग थी, इसका भारतीय जीवन में इतना अधिक प्रचार-प्रसार हुआ कि यह 'चतुरंग' शब्द धीरे-धीरे "शतरंज" नाम से भारतीयों में मुखरित हो उठा जो बुद्धि और प्रतिभा का द्योतक एक सर्वश्रेष्ठ भारतीय खेल है। शतरंज खेल विशुद्ध भारतीय खेल है।

धार्मिक दृष्टि से भी हाथी भारतीय जन-समूह में अधिक पूज्य और आदरणीय माना जाता है। शिव और पार्वती के पुत्र गणेश जी गजानन और गजवक्त्र के नाम से पुकारे जाते हैं। गणेश जी का मुँह दीर्घ सुंड युक्त हस्तिमुख मुख है। गणेश जी स्वस्तिक की भाँति कल्याणदायक और शुभ सूचक हैं। अतः हर मंगल कार्य के प्रारम्भ में सर्वप्रथम उनका ही पुण्य-स्मरण किया जाता है तथा स्वस्तिक चिह्न अंकित किया जाता है जिससे कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो। बौद्ध जातकों से ज्ञात होता है कि जब शिशु बुद्ध का गर्भावतरण हुआ था तो माता माया देवी ने स्वप्न में सफेद हाथी देखा था, जो योनि मार्ग से उनके गर्भ में प्रविष्ट हुआ और उसी ने बुद्ध का रूप धारण किया। माया के लिए गजलक्ष्मी शब्द का भी प्रयोग होता है। जो हाथी से ही जुड़ा हुआ लक्ष्मी का चित्र प्रायः दो हाथियों द्वारा मंगल-कलश सूँड द्वारा लेकर अभिषेक सा करता हुआ दिखाया जाता है। जैन साहित्य में भी तीर्थङ्कर की माता तीर्थङ्कर के जन्म से पूर्व सोलह या चौदह स्वप्न देखती हैं जिनमें एक हाथी भी होता है और वही सफेद हाथी माता के मुंह प्रविष्ट होता हुआ दिखाया जाता है जिससे ज्ञात होता है कि तीर्थङ्कर का गर्भावतरण हो चुका है। गजेन्द्र-मोक्ष की कथा प्रायः सभी धर्मों के ग्रन्थों में किसी न किसी रूप में अवश्य पाई जाती है। जातकों में प्रयुक्त 'षड्दन्त' शब्द हाथी की विशालता का द्योतक है।

जैनाचार्यों ने जम्बू-द्वीप को सात क्षेत्रों में विभाजित किया है, जिसके प्रथम क्षेत्र का नाम भरत और अन्तिम क्षेत्र का नाम ऐरावत दिया है, लगता है ऐरावत शब्द विशालता का सूचक है। इसीलिए क्षेत्र की विशालता को दिखाने के लिए ही ऐरावत का प्रयोग किया गया हो यहाँ और भरत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का प्रभाव रहता है शेष पाँच क्षेत्रों में कालों का प्रभाव नहीं होता। भरत ऐरावत में कर्मभूमि होती है। हिमवन महाहिमवन आदि छः पर्वतों के आयताकार विस्तार से जम्बूद्वीप सात खण्डों में विभाजित होता है। अरब सागर में बम्बई के गेट वे ऑफ इण्डिया के पास समुद्र में हाथी गुफा (Elephanta caves) हस्ति गौरव की प्रतीक हैं जो बुद्धकालीन मानी जाती है। सम्राट् खारवेल का उड़ीसा के खण्डगिरि उदयगिरि स्थित हाथी गुफा प्रस्तर लेख पुरातत्व की बहुमूल्य धरोहर मानी जाती है। प्राचीन काल में हाथी प्रायः हर सम्पन्न व्यक्ति के घर की शोभा बढ़ाया करता था, राजा महाराजाओं के यहाँ तो सैकड़ों की संख्या में हुआ करते थे, पर अब इस विज्ञान के युग में जहाँ जेट विमान, टैंक, रोबर्ट का आविष्कार हो गया है वहाँ हाथी की उपयोगिता कम हो गई है। फिर भी पर्यावरण के सन्तुलन (Ecological Balance) एवं संरक्षण हेतु जंगली जीवन को प्रोत्साहित किया जा रहा है, इसलिए प्रतिवर्ष कर्नाटक राज्य में "खेड़ा" का आयोजन किया जाता है जिसमें जंगली हाथियों को पकड़कर पालतू बनाया जाता है जिससे वे भारतीय जन-जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध हों।

इस तरह ऐरावत (हाथी) का भारतीय जन-जीवन में साहित्यिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, पुरातत्त्वीय, ऐतिहासिक आदि अनेकों दृष्टियों से बड़ा भारी बहुमूल्य महत्त्व रहा है और आज भी विद्यमान है तथा भविष्य में भी इसका अस्तित्व ऐसा ही अक्षुण्ण बना रहे। ऐसी कामना है।

इति शम्

अपभ्रंश के खण्ड और मुक्तक काव्यों की विशेषताएँ

डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'
मंगल-कलश, अलीगढ़

अपभ्रंश का भारतीय वाङ्मय में महत्त्वपूर्ण स्थान है।[1] प्रसिद्ध भाषाविदों का मत है कि अपभ्रंश प्राकृत की अन्तिम अवस्था है।[2] छठीं शती से लेकर ग्यारहवीं शती तक इसका देश-व्यापी विकास परिलक्षित होता है।[3] अपभ्रंश भाषा का लालित्य, शैलीगत सरसता और भावों के सुन्दर विन्यास की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ है। चरिउ, महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा मुक्तक काव्यों से अपभ्रंश वाङ्मय का भण्डार भरा पड़ा है। यहाँ हम अपभ्रंश के खण्ड तथा मुक्तक काव्यों की विशेषताओं का[4] संक्षेप में अध्ययन करेंगे।

अपभ्रंश के महाकाव्यों में नायक के समग्र जीवन का चित्र उपस्थित न करके उसके एक भाग का चित्र अंकित किया जाता है।[5] काव्योपयुक्त सरस और सुन्दर वर्णन महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों में ही उपलब्ध होते हैं। अपभ्रंश में अनेक चरिउ ग्रन्थ इस प्रकार के हैं जिनमें किसी महापुरुष का चरित्र किसी एक दृष्टि से ही अंकित किया गया है। ऐसे चरित्र-चित्रण में कवि की धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति हुई है। अपभ्रंश में धार्मिक भावना के अतिरिक्त अनेक खण्डकाव्य ऐसे भी उपलब्ध हैं जिनमें धार्मिक चर्चा के लिए कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। धार्मिक भावना के प्रचार की दृष्टि से लिखे गये काव्यों में साहित्यिक रूप और काव्यत्व अधिक प्रस्फुटित नहीं हो सका है। इस प्रकार के काव्य हमें दो रूपों में उपलब्ध होते हैं। एक तो वे काव्य जो शुद्ध ऐहिलौकिक भावना से प्रेरित किसी लौकिक जीवन से सम्बद्ध घटना को अंकित करते हैं, दूसरे वे काव्य ऐतिहासिक तत्त्वों से परिपूर्ण हैं जिसमें धार्मिक या पौराणिक नायक के स्थान पर किसी राजा के गुणों और पराक्रम का वर्णन है और उसी की प्रशंसा में कवि ने समूचे काव्य की रचना की है[6] इस दृष्टि से अपभ्रंश वाङ्मय में तीन प्रकार के खण्डकाव्य प्रस्तुत हैं—[7]यथा—

(i) शुद्ध धार्मिक दृष्टि से लिखे गए काव्य, जिनमें किसी धार्मिक या पौराणिक महापुरुषों के चरित्र का वर्णन किया गया है।
(ii) धार्मिक दृष्टिकोण से रहित ऐहिलौकिक भावना से युक्त काव्य, जिनमें किसी लौकिक घटना का वर्णन है।
(iii) धार्मिक या साम्प्रदायिक भावना से रहित काव्य, जिसमें किसी राजा के चरित का वर्णन है।

अपभ्रंश वाङ्मय में प्रथम प्रकार के खण्डकाव्य प्रचुरता से मिलते हैं। 'णायकुमार चरिउ' पुष्पदंत द्वारा रचित है जिसमें नौ सन्धियाँ हैं। सरस्वती वन्दना से कथा प्रारम्भ होती है। कवि मगध देश के राजगृह और वहाँ के राजा श्रेणिक का काव्यमय शैली में वर्णन कर बतलाता है कि एक बार तीर्थंकर महावीर ने गृहराज मे बिहार किया और वहाँ के राजा श्रेणिक उनकी अभ्यर्थना में उपस्थित हुए। उन्होंने तीर्थङ्कर महावीर से श्रुत पचमी व्रत का माहात्म्य पूछा। महावीर के शिष्य गौतम उनके आदेशानुसार व्रत से सम्बद्ध कथा कहते हैं, जिसे कवि ने सरल तथा सुबोध शैली में अभिव्यक्त किया है।

कवि पुष्पदन्त द्वारा रचित चार सन्धियों/सर्ग का 'जसहरचरिउ' नामक खण्डकाव्य है जिसमें जैन जगत् की सुविख्यात कथा यशोधरचरित को काव्यायित किया गया है। कवि से पूर्व अनेक जैन कवियों ने संस्कृत काव्य मे इस चरित को अभिव्यञ्जित किया है; वादिराज कृत यशोधर चरित इस दृष्टि से उल्लेखनीय काव्यकृति है।

कविवर नयनन्दी कृत 'सुदंसणचरिउ' द्वादश संधियों में रचित खण्डकाव्य है। प्रत्येक संधि की पुष्पिका में कवि ने अपने गुरु का नाम लिया है। 'वीतरागाय नमः' से मंगलाचरण प्रारम्भ हुआ है। तदनन्तर एक दिन कवि मन में सोचता है कि सुकवित्व, त्याग और पौरुष से संसार में यश फैलता है। सुकवि में मैं अकुशल हूँ, धनहीन होने से त्याग करने की स्थिति में नहीं हूँ और रहा वीरता प्रदर्शन का सो एक तपस्वी के लिए उपयुक्त नहीं। ऐसी परिस्थिति में भी

मुझमें यश-ऐषणा विद्यमान है अस्तु मैं जिन शक्ति के अनुसार ऐसा काव्य रचता हूँ जो पद्धडिया छन्द में निबद्ध है। काव्य में जिन स्तवन करने से सारी बाधायें विसर्जित हो जाती हैं।

इसके अतिरिक्त मुनि कनकामर विरचित दस सन्धियों में 'करकण्ड चरिउ', पदकीर्ति विरचित अठारह सन्धियों का 'पास चरिउ', श्रीधर रचित बारह सन्धियों का 'पासणाहचरिउ', षट् सन्धियों में 'सुकुमालचरिउ', धनपाल[८] प्रणीत 'भविसयत्तकहा' जिसमें श्रुतपंचमी व्रत और उसके माहात्म्य का विवेचन उल्लिखित है। देवसेन गणि विरचित अठाइस सन्धियों का 'सुलोचनाचरिउ', हरिभद्र विरचित 'सनत्कुमारचरिउ'; कवि लक्खण कृत ग्यारह सन्धियों में 'जिनदत्तचरिउ'; लखमदेव कृत चार सन्धियों का 'नेमिणाहचरिउ'; धनपत रचित अठारह सन्धियों का 'बाहुबलिचरिउ'; यशकीर्ति कृत ग्यारह सन्धियों का 'चन्दप्पह चरिउ'; रइधू कृत 'सुकोसलचरिउ', पापणाहचरिउ, 'धण्णकुमारचरिउ' तथा भगवती दास विरचित 'मिगांक लेखाचरिउ' आदि चरिउ ग्रन्थ अपभ्रंश वाङ्मय में विख्यात हैं।[९]

उपर्युक्त चरिउ-खण्डकाव्यों के कथानकों में धार्मिक तत्त्वों की प्रधानता है। यदि कोई प्रेमकथा है तो वह भी धार्मिक आवरण से आवृत्त है। यदि किसी कथा में साहस तथा शौर्य वृत्ति व्यञ्जित है तो वह भी उसी आवरण से आवृत्त है। इस प्रकार इन विवेच्य खण्डकाव्यों में धार्मिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन करना इन कवियों को इष्ट रहा है। धर्मसापेक्ष खण्डकाव्यों के अतिरिक्त कतिपय धर्म-निरपेक्ष लौकिक प्रेम भावना से ओतप्रोत खण्डकाव्यों की रचना अपभ्रंश वाङ्मय में उपलब्ध हैं। ये काव्य-जन समाज के सच्चे लेखे हैं। इनमें विभिन्न रूपों में वर्णित सामाजिक स्वरूप तथा मानव की लोकमूलक क्रियाओं और विभिन्न दृश्यों के सुन्दर चित्र प्राप्त होते हैं।[१०] इस दृष्टि से श्री अद्दहमाण का 'सन्देशरासक' एक सफल खण्डकाव्य है। समग्र अपभ्रंश वाङ्मय में यही एक ऐसा काव्य है जिसकी रचना एक मुसलमान कवि द्वारा हुई है। कवि का भारतीय रीत्यानुभव, साहित्यिक तथा काव्यशास्त्रीय निकष नैपुण्य प्रस्तुत खण्डकाव्य में प्रमाणित होता है।

'सन्देशरासक' एक सन्देशकाव्य है। अन्य खण्डकाव्यों की भाँति इसका कथानक सन्धियों में विभक्त नहीं है। इसकी कथा तीन भागों में विभाजित है जिसे 'प्रक्रम' की संज्ञा दी गई है। इसमें दो सौ तेइस पद हैं। प्रथम प्रक्रम प्रस्तावना रूप में है। द्वितीय प्रक्रम से वास्तविक कथा प्रारम्भ होती है और तृतीय प्रक्रम में षडऋतु वर्णन है।

विद्यापति रचित 'कीर्तिलता' एक ऐतिहासिक चरित काव्य है जिसमें कवि ने अपने प्रथम आश्रयदाता कीर्तिसिंह का यशोगान किया है। अपभ्रंश वाङ्मय में इस प्रकार का एक मात्र यही काव्य उपलब्ध है।

चरित काव्यों के साथ ही अपभ्रंश में अनेक ऐसे मुक्तक काव्यों[११] की रचना भी हुई है जिनमें किसी व्यक्ति विशेष के जीवन का उल्लेख हुआ है। ऐसी कृतियों में धर्मोपदेश का प्राधान्य है। ये रचनायें मुख्यतया जैनधर्म, बौद्धधर्म तथा सिद्धों के सिद्धान्तों से अनुप्राणित हैं। अपभ्रंश में रचित मुक्तक कृतियों को निम्नफलक में व्यक्त किया जा सकता है—यथा—

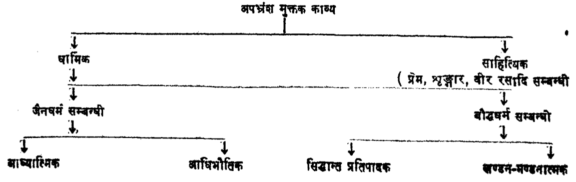

जैनधर्म पर आधारित मुक्तक काव्यों का जहाँ तक प्रश्न है पहिले यहाँ आध्यात्मिक काव्यों की चर्चा करेंगे। आध्यात्मिक रचना करने वाले कवि प्रायः जैन धर्मावलम्बी ही हैं। इस प्रकार के काव्यों में जैनधर्म की जो अभिव्यञ्जना हुई हैं, उसमें धार्मिक संकीर्णता, कट्टरता और अन्य धर्मों के प्रति विद्वेष भावना के अभिदर्शन नहीं होते। इन कवियों का लक्ष्य मनुष्य को सदाचारी बनाकर उसके जीवन स्तर को ऊँचा ऊठाकर श्रेयस्कर बनाना था। इनमें बाह्य-आचार, कर्म-कलाप, तीर्थयात्रा व्रत आदि की उपेक्षा जीवन में सदाचार एवं आन्तरिक शुद्धि के किए प्रेरित किया है। इन्होंने बताया कि परमतत्त्व इसी शरीर-मंदिर में सम्भव है और उसी की उपासना से मानव शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकता है। अपभ्रंश के इन कवियों का जीवन धार्मिक था। ये पहले सन्त थे पीछे कवि। इनके काव्य में भावों की प्रधानता रही है और कलापक्ष वस्तुतः गौण है।

कविवर योगीन्द्र कृत 'परमात्म-प्रकाश' तथा 'योगसार' नामक काव्य विख्यात हैं[१२]। इन काव्यों में कवि ने बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का विवेचन किया है साथ ही परमात्मा के ध्यान पर बल दिया है। सांसारिक बन्धनों तथा पाप-पुण्यों को त्याग कर आत्मध्यान लीन ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। मुनि रामसिंह रचित 'दोहापाहुड' जिसमें अध्ययन चिन्तन है, अपभ्रंश का आध्यात्मिक काव्य है[13]। कवि ने इस विख्यात रचना में आत्मानुभूति और सदाचरण के बिना कर्मकाण्ड की निस्सारता का प्रतिपादन किया है। सच्चासुख, इन्द्रियनिग्रह आत्मध्यान में विद्यमान है। इसके अतिरिक्त सुप्रभाचार्य कृत "वैराग्यसार" आदि उल्लेखनीय मुक्तक काव्य उपलब्ध हैं।[१४]

द्वितीय कोटि में आधिभौतिक रचनाएँ परिगणित की जा सकती हैं, जिनमें सर्वसाधारण के लिए नीति, सदाचार सम्बन्धी धर्मोपदेशों का प्रतिपादन किया गया है। इस दृष्टि से देवसेन कृत 'सावयधम्मदोहा' जिसमें आध्यात्म विवेचन के साथ श्रावकों, गृहस्थों के लिए आचार संहिता का प्रतिपादन हुआ है। ग्रंथारम्भ में मंगलाचरण है साथ ही खलवंदना भी है। इसका अपरनाम 'श्रावकाचार दोहक' भी है[१५]। जिनदत्तसूरि कृत 'उपदेस रसायनरास' महत्त्वपूर्ण कृति है जिनमें कवि ने आत्मोद्धार से मनुष्य जन्म सफल होने की बात कही है। सोमप्रभाचार्य कृत 'द्वादशभावना' नामक काव्य ग्रंथ में सांसारिक अनित्यता और क्षणभंगुरता का सम्यक् विवेचन हुआ है[१६]। 'संयममंजरी' महेश्वर सूरि विरचित ३५ दोहों की छोटी कृति उल्लेखनीय है।[१७] इसके अतिरिक्त ३१ पद्यों की लघु रचना 'चूनड़ी' भट्टारक विनयचन्द्र मुनि रचित है। इसमें कवि ने धार्मिक भावनाओं और सदाचारों से रंगी हुई चूनड़ी ओढ़ने का संकेत दिया है।[१८]

जैन कवियों की भाँति बुद्ध, सिद्धों द्वारा भी अपभ्रंश में मुक्तक काव्यों की रचना हुई है। सिद्धों के अनेक दोहों और गीतों का संग्रह राहुल जी द्वारा सम्पादित 'हिन्दी काव्यधारा' में प्राप्त है। विषय की दृष्टि से उसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—यथा—

(i) सिद्धान्त प्रतिपादनवाली रचनाएँ।   (ii) कर्मकाण्ड का खण्डन करने वाली रचनाएँ।

काव्यकला की दृष्टि से सिद्ध कवियों की रचनाएँ चाहे अधिक महत्त्व की न हो तथापि उनक कथ्य अपना स्थाई महत्त्व रखता है ऐसी रचनाओं के द्वारा चाहे प्राणी में आनन्दोद्रेक न होता हो तथापि जागतिक उन्मार्ग से सन्मार्ग की ओर सम्यक् प्रेरणा होती। सरहपा, लुईपा, काण्हपा तथा सान्तिपा नामक सिद्ध कवियों द्वारा अनेक मुक्तक काव्यों की रचना हुई है।

अपभ्रंश वाङ्मय में विविध साहित्यिक मुक्तक काव्यों की रचना भी द्रष्टव्य है। ऐसे मुक्तक काव्यों का कथ्य साधारण जीवन की घटनाओं और चर्चाओं पर आधारित है। ये मुक्तक प्रबन्ध काव्यों में चारण, गोप आदि पात्रों द्वारा सुभाषितों और सूक्तियों के रूप में व्यवहृत है। जहाँ तक सुभाषित रूप में प्राप्त मुक्तक पद्यों का प्रश्न है उनके अधिदानि निम्न रचनाओं में सहज हो जाते हैं—यथा—

१—विक्रमोर्वशीय नाट्य चतुर्थ अंक (कालिदास)। २—प्राकृतव्याकरण (हेमचन्द्र कृत)।
३—कुमारपालप्रतिबोध (सोमप्रभाचार्य)। ४—प्रबन्धचिन्तामणि (मेरुतुंगाचार्य)।
५—प्रबन्धकोश (राजशेखर)। ६—प्राकृत पैंगलम्।

इनके अतिरिक्त ध्वन्यालोक (आनन्दवर्द्धनकृत), काव्यालंकार (रूद्रट्कृत), सरस्वती काण्ठाभरण (भोजकृत), दशरूपक (धनंजय कृत) अलंकार ग्रंथों में भी कतिपय अपभ्रंश के पद्य उपलब्ध होते हैं। इन पद्यों शृंगार, वीर, वैराग्य, नीति-सुभाषित, प्रकृतिचित्रण, अन्योक्ति, राजा या किसी ऐतिहासिक पात्र का उल्लेख आदि विषय अंकित हुए हैं। इन पद्यों में काव्यत्व है, रस है, चमत्कार है और हृदय को स्पर्श करने की अपूर्व क्षमता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह सहज में कहा जा सकता है कि चरित तथा प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश का खण्ड तथा मुक्तक-काव्य भाव तथा कला की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। साहित्य के उन्नयन के लिए अपभ्रंश वाङ्मय के स्वाध्याय की आज परम आवश्यकता है।

सन्दर्भ-संकेत

१—नाट्यशास्त्र १८।८२

२—(i) भारत का भाषा सर्वेक्षण, डॉ० ग्रियर्सन, २४३।

(ii) पुरानी हिन्दी का जन्मकाल, श्री काशीप्रसाद जायसवाल, ना० प्र० स०, भाग ८, अंक २।

(iii) अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन, पृष्ठ २३-२५।

३—(i) हिन्दी साहित्य का आदिकाल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ २०-२१।

(ii) तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ ९३।

४—अपभ्रंश के खण्ड और मुक्तक काव्यों की विशेषताएँ, आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', अहिंसावाणी, मार्च-अप्रैल १९७७ ई०, पृष्ठ ६५-६७।

५—हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, भाग २, नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ २४।

६—भविसयत्तकहा का साहित्यिक महत्त्व, डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', जैनविद्या, धनपाल अंक, पृष्ठ २९।

७—अपभ्रंशसाहित्य, हरिवंशकोछड़, पृष्ठ १२९।

८—धनपाल नाम के तीन कवि, जैनसाहित्य और इतिहास, पं० नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ ४६७।

९—अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति, डॉ० अम्बादत्त पन्त, पृष्ठ २४९।

१०—साहित्य सन्देश, वर्ष १६, अंक ३, पृष्ठ ९०-९३।

११—(i) ध्वन्यालोक ३।७।

(ii) काव्यमीमांसा, पृष्ठ ११४।

१२—जैन शोध और समीक्षा, डॉ० प्रेमसागर जैन, पृष्ठ ५८-५९।

१३—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ८३।

१४—संस्कृत टीका के साथ जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १६, किरण दिसम्बर १९४९ ई० छपा है।

१५—जैन शोध और समीक्षा, डॉ० प्रेमसागर जैन, पृष्ठ ६०।

१६—कुमारपाल प्रतिबोध, पृष्ठ ३११।

१७—अपभ्रंश साहित्य, हरिवंश कोछड़, पृष्ठ २९५।

१८—जैन हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, श्री कामता प्रसाद जैन पृष्ठ ७०।

जैन कवियों द्वारा रचित हिन्दी काव्य में प्रतीक-योजना

विद्यावारिधि डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया डी० लिट्०,
अलीगढ़

हिन्दी का आदिम स्रोत अपभ्रंश की क्रोड में निहित है। काव्याभिव्यक्ति के अन्तर-बाह्य तत्त्वों का अवतरण अपभ्रंश से हिन्दी में हुआ है। काव्य में प्रतीकों की अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जैन कवियों द्वारा रचित हिन्दी काव्य में प्रतीक-योजना विषयक संक्षेप में चर्चा करना हमें यहाँ मूलतः ईप्सित रहा है।

वैय्याकरणों ने प्रतीक शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए स्पष्ट किया है—प्रत्येति प्रतीयते वा इति प्रतीकः प्रति इण्। अलीकादिश्यश्च इति औनादिक् सूत्रात् साधुः, आशय यह है कि यह शब्द प्रतिउपसर्गपूर्वक इण् (गतौ) धातु से उणादि निष्पन्न शब्द है। इस शब्द की व्युत्पत्ति कुछेक मनीषियों ने प्रतिपूर्वक इक् धातु से निष्पन्न मानी है और अर्थ किया है—आत्मा की ओर प्रवर्तन। जिस मूर्त वस्तु को किसी अमूर्त वस्तु के अभिज्ञान के निमित्त उपस्थित किया जाता है, उसे वस्तुतः प्रतीक कहते हैं।

वर्ण्य-विषय के भाव अथवा गुण की समता रखने वाले बाह्य चिह्नों को प्रतीक कहते हैं। प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य अथवा गोचर वस्तु के लिए किया जाता है जो किसी अदृश्य अथवा अप्रस्तुत विषय का प्रति-विधा। उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व कराने वाली वस्तु प्रतीक है। इस विवेचन से प्रतीक शब्द हमारे विवेच्य विषय में सहायक बनेगा।

प्रकृति क्रोड से गृहीत इन प्रतीकों को इन्द्रियगम्य कहा जाता है। इनके द्वारा अमूर्त भावनाएँ स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ करती है और उनका अर्थ-प्रभाव दूरगामी होता है। रससिद्ध कवियों द्वारा ऐसे अमूर्त भावरूपों को प्रतीकों द्वारा मूर्तायित किया जाता है कि इन्द्रियों द्वारा उनका सजीव तथा स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण सहज-सुगम हो जाता है। इस प्रकार प्रतीकों के सक्षम प्रयोग से अमूर्त भावनाओं का तलस्पर्शी गम्भीर प्रभाव पाठक अथवा श्रोता पर सहज में पड़ा करता है।

उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति तथा सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा के द्वारा प्रतीकों का परिपोषण हुआ करता है। सारोपा लक्षणा उपमान तथा उपमेय एक समान अधिकरण वाली भूमिका में वर्तमान रखते हैं। साध्यवसाना में उपमेय का उपमान के अन्तर्भाव हो जाता है। सादृश्यमूलक सारोपा लक्षणा की भूमिका पर रूपक अलंकार द्वारा प्रतीक विधान आधृत होता है तथा सादृश्यमूलक साध्यवसाना की भूमिका पर अतिशयोक्ति अलंकार के माध्यम से प्रतीक स्थिर किए जाते हैं। इस प्रकार इन प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त भाव-सम्पदा की गम्भीरता और उत्कृष्टता का सन्धान सम्पन्न होता है। मूर्त और अमूर्त भावनाओं की अभिव्यक्ति विभूति को विकसित करने का मुख्यतः श्रेय व्यवहृत प्रतीकों पर निर्भर करता है।

प्रतीक योजना की सफलता प्रतीकों के स्वाभाविक अर्थ-बोध पर आधारित है। ऐसा न होने पर व्यवहृत प्रतीक हमारे हृदय के आन्तरिक रागों एवं भावों को प्रभावित करने में असमर्थ रहते हैं। इस प्रकार भावाभिव्यंजना के लिए अप्रस्तुत का प्रयोग रस-बोध और भाव-प्रबोध में जब पूर्णतः सफलता प्राप्त करता है। वस्तुतः प्रतीक प्रयोग तभी समर्थ कहलाता है।

प्रतीक दो प्रकार के होते हैं—१. सन्दर्भीय, २. संघनित ।

सन्दर्भीय प्रतीकों के वर्ग में वाणी और लिपि से व्यक्त शब्द राष्ट्रीय पताकाएँ, तारों के परिवहन में प्रयुक्त होने वाली संहिता, रासायनिक तत्त्वों के चिह्न आदि हैं। संघनित प्रतीकों के उदाहरण धार्मिक कृत्यों में और स्वप्न तथा अन्य मनोवैज्ञानिक विवशताओं जन्य प्रक्रियाओं में मिलते हैं। ऐसे प्रत्येक प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति या व्यवहार के स्थानापन्नों के संघनित रूप होते हैं और चेतन या अचेतन संवेगात्मक तनावों के मुक्त प्रसरण में सहायता देते हैं। व्यवहारिक जीवन में इन दोनों प्रकार के प्रतीकों का मिश्रण मिला करता है।

विभिन्न संस्कृतियों के अनुसार प्रतीकों के रूप तथा अभिप्राय भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। साहित्य में रस के उत्कर्ष में नाना प्रकार के प्रतीकों को गृहीत किया जाता है। साम्यता, शिष्टाचार, आचार, व्यवहार, आध्यात्मिकता, दार्शनिकता, लोकरंजन तथा काव्यशास्त्र प्रभृति के अनुसार काव्य में प्रतीकों के प्रयोग हुआ करते हैं। प्रतीकों में भाव उद्‌बोधन की शक्ति आवश्यक होती है। प्रतीकों में केवल सादृश्य मूलक उपमानों से भाव-प्रबणता की क्षमता नहीं हुआ करती। यही कारण है कि सपक्ष कवि अपनी मार्मिक अन्तर्दृष्टि द्वारा ऐसे प्रतीकों का विधान करता है। जो प्रस्तुत की भावाभिव्यंजना में सफलता प्राप्त कर सके।

भाव और विचार की दृष्टि से प्रतीकों के दो भेद किए जा सकते हैं। यथा—

१. भावोत्पादक प्रतीक, २. विचारोत्पादक प्रतीक।

यद्यपि विचार और भाव में स्पष्ट अन्तर स्थिर करना सरल नहीं है। प्रभावोत्पादक और विचारोत्पादक प्रतीकों में पारस्परिक उपस्थिति बनी ही रहती है।

भावाभिव्यक्ति में सरलता, सरसता तथा स्पष्टता उत्पन्न करने के लिए रससिद्ध कवि प्रतीक-योजना का प्रयोग करते हैं। जैन कवियों की हिन्दी काव्यकृतियों से भी प्रतीक-योजना का व्यवहार हुआ है। इन कवियों के समक्ष काव्य-सृजन का लक्ष्य अपने भावों तथा दार्शनिक विचारों के प्रचार-प्रसार का प्रवर्तन करना प्रधान रूप से रहा है। इसलिए इन्होंने युगानुसार प्रचलित काव्यरूपों, लक्षणों तथा उन समग्र उपकरणों को गृहीत किया है जिनके माध्यम से इनकी काव्याभिव्यक्ति में सरसता और सरलता का संचार हो सके।

इस प्रकार हिन्दी जैन-काव्य में व्यवहृत प्रतीकों का हम निम्न रूपों में वर्गीकरण कर सकते हैं। यथा—

१. विकार और दुःख विवेचक प्रतीक, २. आत्मबोधक प्रतीक, ३. शरीरबोधक प्रतीक, ४. गुण और सर्वसुखबोधक प्रतीक।

आध्यात्मिक अनुचिन्तन तथा तत्त्व-निरूपण करते समय इन कवियों द्वारा अनेक ऐसे प्रतीकों का भी प्रयोग हुआ है जिन्हें उक्त विभागों में संख्यायित नहीं किया जा सकता है। यहाँ हम हिन्दी जैन-काव्य में व्यवहृत प्रतीकों की स्थिति का अध्ययन शताब्दि क्रम से करेंगे ताकि उनके विकास पर सहज रूप में प्रकाश पड़ सके।

पन्द्रहवीं शती में रची गई काव्यकृतियों को हम काव्यरूपों की दृष्टि से अनेक भागों में विभाजित कर सकते हैं—मुख्यतः प्रबन्ध और मुक्तक रूप में समूचे काव्य कलेवर को विभाजित किया जा सकता है—१. प्रबन्धात्मक-चरित, पुराण तथा रासपरक कृतियाँ और २. मुक्तक-अनेक काव्यरूपों में आराध्य की अर्चना तथा भक्ति-भावना की अभिव्यंजना हुई है।

प्रारम्भ में अभिधामूला अभिव्यक्ति का प्रचलन रहा है फिर भी मनीषी और सारस्वत क्षेत्र में अभिव्यक्ति के स्वर का उत्कर्ष हुआ है। किन्तु जैन कवियों के समक्ष अपने आध्यात्मिक माहात्म्य को अभिव्यक्त कर जन-साधारण

में उसका प्रचार-प्रसार करना अभीष्ट रहा है। यही कारण है कि उन्होंने काव्यकौशल की ओर अधिक जागरूकता का परिचय नहीं दिया है।

आध्यात्मिक अभिव्यक्ति को सरल और सरस बनाने के लिए इन कवियों द्वारा लोक में प्रचलित प्रतीकों का सफलतापूर्वक प्रयोग हुआ है। अपने समय में काव्य जगत् में प्रचलित काव्यरूपों-छन्दों तथा अलंकारों की नाईं इन कवियों ने प्रतीकात्मक शब्दावलि को भी गृहीत किया है।

पन्द्रहवीं शती के प्रसिद्ध कवि सधारु विरचित प्रद्युम्न चरित्र में अनेक प्रतीकात्मक प्रयोग परिलक्षित हैं। नायक प्रद्युम्न को जब केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है उस समय मोह, अज्ञानता का समूल खण्डन करने में वह समर्थ हो जाता है। यहाँ कवि ने तिमिर शब्द का मोह के अर्थ में प्रतीकात्मक व्यवहार किया है। ऐसी स्थिति में सांसारिक लाज से वह मुक्त हो जाता है। इस उल्लेखनीय उपलब्धि पर इन्द्र-गण जयजयकार बोलकर बधाइयाँ देते हैं। यहाँ पाश शब्द का संसार-जाल अर्थात् आवागमन के बन्धन परक प्रतीकार्थ प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग हिन्दी संत कवि कबीर तथा भक्त कवि सूर, तुलसी, मीरा आदि के द्वारा प्रचुरता के साथ हुआ है।

संसार के लिए सिन्धु शब्द का प्रतीकार्थ प्रयोग हिन्दी में पर्याप्त प्रचलित रहा है। कविवर मेरुनन्दन उपाध्याय विरचित सीमन्दर जिन स्तवन में सिन्धु प्रतीक का व्यवहार परिलक्षित है। इसीप्रकार सभी प्रकार के मनोरथों को पूर्ण करनेवाले भावार्थ में कामघट, देवमणि देवतरु शब्दावलि प्रतीक रूप में व्यवहृत हैं। हिन्दी में देवतरु के स्थान पर कल्पतरु का खूब प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार देवमणि के स्थान पर चिन्तामणि का व्यवहार पर्याप्त रूप में उल्लिखित है। कवि द्वारा इन शब्दावलियों का प्रयोग वस्तुतः नवीन ही कहा जाएगा।

विवाहला काव्यों में जैन कवियों ने नायक का किसी कुमारीकन्या के साथ में विवाह नहीं कराया है अपितु दीक्षाकुमारी अथवा संयमश्री के साथ उसे वैवाहिक संस्कार में दीक्षित किया है। यहाँ दीक्षा लेने वाला साधु या नायक दुल्हा है और दीक्षा अथवा संयमश्री दुल्हन है। जिनोदय सूर कृत विवाहला में आचार्य जिनोदय का दीक्षा कुमारी के साथ विवाह उल्लिखित है। इस अभिव्यक्ति में कुमारी शब्द प्रतीकार्थ है। जैन कवियों का यह प्रयोग वस्तुतः अभिनव है।

इसी प्रकार सोलहवीं शती के समर्थ कवि जिनदास हैं, जिन्होंने अनेक सुन्दर काव्यों का सृजन किया है। आदि पुराण नामक महाकाव्य में कर्मभूमि का उल्लेख है। भगवान् ऋषभदेव ने नष्ट कर्मों की स्थापना की थी। उन्होंने सांसारिक प्राणियों को धर्माधर्म का विवेक भी प्रदान किया था। ऐसा करने में उन्हें सफलता इसलिए प्राप्त हुई क्योंकि उन्होंने राजपुत्र होते हुए स्वयं भी संयम और तप-साधना के बलबूते पर मुक्तिवधु को वरण कर लिया था। मुक्ति वरण करने के कारण ही कवि उन भगवान् के गुणों को सद्गुरु के प्रसाद से जान पाता है और तभी प्रसन्न होकर भगवान् की भव-भव में अवसर पाकर सेवा करने की कामना करता है इस आध्यात्मिक तथा भक्त्यात्मक अभिव्यक्ति में कवि ने मुक्ति प्रतीक का सफल प्रयोग किया है। मुक्तिवधु का प्रतीकार्थ प्रयोग संतों द्वारा प्रचुरतापूर्वक हुआ है।

इसी प्रकार कवि ने शिवपुर का मोक्ष के लिए प्रतीक प्रयोग किया है। यह वस्तुतः लक्षणामूला प्रतीक प्रयोग है। शिवपुर का प्रतीक प्रयोग यशोधरचरित्र, सिद्धान्त चौपाई में सफलतापूर्वक हुआ है।

कविवर बूचराज ने परम्परानुमोदित सागर शब्द संसार अर्थ में अपने पदों की रचना में किया है। हिन्दी के संत कवियों द्वारा सागर शब्द संसार के अर्थ में प्रतीक स्वरूप अनेक बार व्यवहृत है।

कवि ने षट् लेश्या विषयक प्रतीक प्रयोग पंथी गीत नामक काव्य में किया है। सांसारिक सुख के लिए मधुकण का प्रयोग वस्तुतः जैन कवियों की अभिनव देन है। एक पंथी सिंहों के वन में पहुँचा। मगभ्रम में वह भटक गया और सामने से उसे एक हाथी दिखाई पड़ा। वह रौद्र रूपी तथा क्रोधी स्वभावी था—फलस्वरूप उसे देखकर पंथी

भयभीत हुआ और दौड़ता हुआ एक कुएँ में गया। जिसकी दीवाल में एक उगी टहनी को उसने पकड़ लिया। ऊपर हाथी, चार दिशाओं में सर्प, नीचे अजगर तथा टहनी को दो चूहे काट रहे थे, पास ही वटवृक्ष पर मधुमक्खियों का छत्ता था। हाथी ने उसे हिलाया और छत्ते से मधुकण चू पड़ा जो पंथी के मुँह में जा पहुँचा। उस आनन्द में वह घोर दुःखों को भूल गया। वस्तुतः यह मधु का स्वाद ही सांसारिक सुख है। पथिक जीव का प्रतीक है हाथी अज्ञान का प्रतीक है। चूहा संसार का प्रतीक है। सर्प गति का प्रतीक है। मक्खियाँ व्यक्तियों का प्रतीक है। अजगर विनोद का प्रतीक है। मधुकण सांसारिक क्षणसुख का प्रतीक है। यह प्रतीक प्रयोग आज भी जैन मंदिरों में सचित्र मिलता है, अत्यन्त लोकप्रिय है।

आगे कवि ने पंचेन्द्रिय बेलि नामक कृति में घट को प्रतीकार्थ में व्यवहृत किया है। घट प्रतीक है शरीर अथवा आत्मा का। अशुचि घट होने पर तप-जप तथा तीर्थ आदि करना वस्तुतः निस्सार ही है। कवि ने यहाँ घट की निर्मलता पर बल दिया।

प्रतीकार्थ काव्यसृजन करने में कविवर बूचराज का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पंथिगीत की भाँति इन्होंने भी समूचा काव्य ही प्रतीकार्थों में रचा है। टंडाणा टांड शब्द से बना है जिसका अर्थ है व्यापारियों का चलता हुआ समूह। यह विश्व भी प्राणियों का समूह है अस्तु तंडाणा संसार का प्रतीक है। इस काव्य में प्राणीमात्र को संसार से सजग रहने को कहा गया है।

मुनि विनयचन्द्र विरचित चूनड़ी काव्य भी प्रतीकात्मक रचना है। इसमें जैन शासन के विभिन्न सिद्धान्त रूपी बेल-बूटे प्रकाशित हैं जिसे रंगरेज रूपी पति ने सभाला है। यह प्रयोग भी कवि द्वारा अभिनव खोज है।

सोलहवीं शती के रससिद्ध कवि हैं ठकुसी। आपकी पंचेन्द्री बेलि नामक रचना भी प्रतीकात्मक काव्य है। बेलि वस्तुतः वासना का प्रतीक है। इस शती में प्रतीक प्रयोगों की अपेक्षा समूची कृति ही प्रतीकात्मक रची गई है।

पण्डित भगवतीदास सत्रहवीं शती के विद्वान् कवि हैं। मनकरहारास आपका प्रतीक काव्य ही है। इसमें मन को करहा अर्थात् ऊँट को चित्रित किया गया है, इसका स्रोत अपभ्रंश के मुनिवर रामसिंह से गृहीत हुआ है। उन्होंने पाहुड़ दोहा में करहा मन के रूप में उपमान रूप में गृहीत किया है। मनकरहारास में संसाररूपी रेगिस्तान में मन रूपी करहा के भ्रमण की रोचक कहानी कही गई है।

सत्रहवीं शती के दूसरे समर्थ कवि हैं भट्टारक रत्नकीर्ति जी। आपने एक पद में गिरिनार शब्द का प्रतीकात्मक सपक्ष प्रयोग किया है। जैन कथानकों में तीर्थंकर नेमिनाथ विषयक प्रसङ्ग में गिरिनार शब्द का व्यवहार हुआ है। जो वैराग्य स्थली के अर्थ में स्वीकृत हो गया है। चिन्तामणि शब्द का प्रतीकात्मक प्रयोग कविवर कुशल लाभ विरचित गौड़ी पार्श्वनाथ स्तवन नामक काव्य से परम्परानुमोदित हुआ है। चिन्तामणि का प्रयोग मनोकामना के उद्देश्य से हिन्दी में आरम्भ से ही हुआ है। विशेषकर हिन्दी भक्तिकालीन महात्मा तुलसीदास तथा सूरदास द्वारा चिन्तामणि शब्द का सफलता-पूर्वक प्रयोग हुआ है।

इस काल के विद्वान् कवि बनारसीदास जैन द्वारा प्रतीकात्मक प्रयोग द्रष्टव्य है। आपने नट शब्द का प्रतीक प्रयोग प्रचुरता के साथ किया है। जिसका अर्थ है आत्मा जो-जो कर्मानुसार नानारूप धारण करती है जिस प्रकार नट विविध स्वांग करता है। समयसार नामक कृति में कविवर ने अनेक प्रतीकों का सपक्ष प्रयोग किया है। कविवर यशोविजय उपाध्याय विरचित आनन्दघन अष्टपदी नामक काव्य में पारस शब्द प्रतीक रूप में व्यवहृत है और उसका प्रतीकार्थ है सद्संगति। कविवर हर्षकीर्ति द्वारा रचित पंचगतिबेलि पूरा ही प्रतीक काव्य है जिसमें इन्द्रियों के विजय आसक्तियों का विशद उल्लेख है।

कविवर कुमुदचन्द्र ने बनजारा गीत नामक प्रतीक काव्य की रचना की है। इस काव्य में बनजारा मनुष्य है जिस प्रकार बनजारा इधर-उधर विचरण करता है उसी प्रकार यह मनुष्य भी भव-भ्रमण करता है। भट्टारक रत्नकीर्ति ने नेमिनाथ बारहमासा में विरह शब्द प्रतीक रूप में व्यवहृत किया है इसका प्रतीकार्थ है काम। कविवर मनराम द्वारा हीरा शब्द प्रतीक रूप में व्यवहृत किया गया है जिसका अर्थ है अनमोल मानव जीवन।

अठारहवीं शती के सशक्त हस्ताक्षर भैय्या भगवतीदास द्वारा मधुबिन्दुक की चौपाई नामक ग्रन्थ में अजगर शब्द का व्यवहार प्रतीक रूप से हुआ है जिसका अर्थ है काल विकराल। शतअष्टोत्तरी नामक काव्य में कवि ने अनेक प्रतीकों का एक ही प्रसङ्ग में सफल प्रयोग किया है। सुआ, आत्मा का प्रतीक है, सेवर, संसार के कमनीय विषयों का प्रतीक है, आम, आत्मिक सुखों का प्रतीक है और तूल, सांसारिक विषयों को सारविहीनता का प्रतीक है। अन्त में काव्य में कवि द्वारा आत्मा को सांसारिक रीत्यानुसार चलने के लिए सावधान रहने की संस्तुति की है। इस प्रयोग में कवि की लौकिक और आध्यात्मिक अभिज्ञता सहज ही में प्रमाणित हो जाती है। अजयराज पाटनी द्वारा रचित चरखाचौपाई नामक काव्य में चरखा प्रतीक रूप में प्रयुक्त है। यहाँ चरखा मानव-जीवन का प्रतीक है।

कविवर द्यानतराय और वृन्दावनदास द्वारा अनेक काव्यों में प्रतीकात्मक प्रयोग हुए हैं। इनकी कविता में तम शब्द अज्ञान और मोह के लिए प्रयुक्त है। कुछ प्रतीक प्रयोग सार्वभौम हैं। इस दृष्टि से सिन्धु शब्द संसार अर्थ में प्रयुक्त है।

उन्नीसवीं शती में कल्पवृक्ष का प्रतीक प्रयोग उल्लेखनीय हैं। कविवर महाचन्द्र ने अपने एक पद में कल्पवृक्ष का व्यवहार धार्मिक अभिव्यक्ति से किया है। कल्पवृक्ष सार्वभौम प्रतीक है, जिसके अर्थ है सभी प्रकार के मनोरथों का पूर्णरूप। भागचन्द्रजी इस काल के मनीषी हैं, आपने गंगानदी रूपक में अनेक प्रतीक प्रयोग स्वीकार किए हैं। यहाँ पानी ज्ञान का प्रतीक है, पंक संशय का प्रतीक है, तरंग सप्तभंग न्याय का प्रतीक है और मराल सन्तजनों का प्रतीक है। कवि का कहना है कि ऐसी गंगाधारा में स्नान करना कितना हितकारी है जिससे प्राणी पूर्णतः विशुद्ध हो जाता है।

इस शती का सशक्त काव्यरूप है पूजा जिसमें कवियों ने अनेकविध प्रतीकात्मक प्रयोग किए हैं। इस दृष्टि से कवि वृन्दावनदास का उल्लेखनीय स्थान है। श्रीपद्मप्रभु की पूजा से तिमिर शब्द मोह अर्थ में प्रयुक्त है। इसी प्रकार कविवर बुधजन ने नींद शब्द का प्रयोग प्रतीक रूप में किया है जिसका अर्थ है मोह। इसी प्रकार शान्तिनाथ पूजा में शिवनगरी का प्रयोग प्रतीक रूप में हुआ है जिसका अर्थ है मोक्ष अर्थात् आवागमन से विमुक्त।

कविवर छत्रपति जी ने सिन्धु शब्द का प्रतीक रूप में प्रयोग किया है जिसका अर्थ है, दुःख। यह प्रयोग विरत ही है। कविवर मंगतराय ने सिंह शब्द प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया है जिसका अर्थ है, विकराल काल।

ऊपर किए गए शताब्दि-क्रम में विवेचन से हिन्दी जैन कवियों द्वारा व्यवहृत प्रतीक योजना का परिचय सहज में ही हो जाता है। पन्द्रहवीं शती के काव्य में प्रतीकात्मक शब्दावली का यत्र-तत्र व्यवहार हुआ है, जिनके प्रयोग से काव्याभिव्यक्ति में उत्कर्ष के परिदर्शन होते हैं। सोलहवीं शती में प्रतीक-प्रयोग में विकास के दर्शन होते हैं। इस समय के रचित काव्य में प्रतीक शब्दावलि के साथ-साथ प्रतीकात्मक रचनाएँ भी रची गयी हैं जिनमें जैन दर्शन अभिव्यक्त हुआ है। सत्रहवीं शती में जैन कवियों द्वारा सार्वभौम प्रतीकों का व्यवहार हुआ है, साथ ही नवीन प्रतीकात्मक शब्दावलि भी अपनी प्रयोगात्मक स्थिति में सम्पन्न है, यथा—मानस्तम्भ गिरिनार, नवकार, समयसार तथा बनजारा। एक ही कविता में प्रतीकों के प्रयोग दर्शनीय हैं इस काल के कवियों की कलात्मकता-क्षमता का परिचायक है। सत्रहवीं शती की भाँति अठारहवीं शती में भी प्रतीक-विषयक बातों का परिपालन हुआ है। पूरा का पूरा काव्य प्रतीक रूप में रचने का रिवाज यहाँ भी रहा है। इस दृष्टि से चरखा चौपाई उल्लेखनीय हैं। उन्नीसवीं शती में विरचित हिन्दी काव्य में जैन कवियों

द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों का प्रयोग उल्लेखनीय है। सार्वभौम प्रतीकों के अतिरिक्त पूर्ण प्रतीक-काव्य रचे गए हैं। इस दृष्टि से सम्मेद शिखर उल्लेखनीय काव्य है। साथ ही साथ एक शब्द में अनेक प्रतीक-प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

इस प्रकार यह सहज में कहा जा सकता है कि जैन कवियों की हिन्दी रचनाएँ भी प्रतीकों के प्रयोग से सम्पन्न हैं और कहीं-कहीं तो नवीन प्रयोगों से हिन्दी का भंडार भरने में सहायक की भूमिका निर्वाह करते हैं।

सन्दर्भित ग्रन्थों की तालिका—

१. अमरकोश टीका, भट्टोजी दीक्षित।

२. साहित्य कोश, सम्पादित डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रथम भाग।

३. पाइटिक इमेज, सी० डो० लेविस।

४. पाइटिक पेअन, रोपिझ स्वर्लटन।

५. जैन कवियों के हिन्दी काव्य का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया।

६. आधुनिक हिन्दी कविता में चित्र-विधान, डा० रामयतन सिंह भ्रमर।

७. आधुनिक हिन्दी काव्य में अप्रस्तुत विधान, डा० नरेन्द्र मोहन।

८. काव्यदर्पण, प० रामदहन मिश्र।

९. काव्यशास्त्र, डा० भगीरथ मिश्र।

१०. गुण ठाणा गीत, मनोहर दास।

११. गौडी पार्श्वनाथ स्तवन, कुशल लाभ।

१२. चरखा शतक, भूधर दास।

१३. चूनड़ी, ब्र० जिनदास।

१४. जम्बू स्वामी बिबाहुआ, हीरानन्द सूरि।

१५. जैन पदावलि, जगतराम।

१६. नेमिनाथ बारहमासा, लावण्य समय।

१७. प्रद्युम्न चरित्र, सधारु।

१८. बनारसी विलास, बनारसीदास।

१९. बारह भावना, मगत राय।

२०. बाइस परिणय, भैय्या भगवतीदास।

२१. मनकरहा रास, पं० भगवतीदास।

२२. विवाहलो काव्य, डा० पुरुषोत्तम मेनारिया।

२३. समयसार नाटक, बनारसीदास।

२४. साहित्य दर्पण, आचार्य विश्वनाथ।
२५. पूजा काव्य, मनरंग लाल।
२६. चूनड़ी काव्य, मुनि विनयचन्द्र।
२७. बनजारा गीत, कुमुदचन्द्र।
२८. मधुबिन्दु की चौपई, भैय्या भगवतीदास।
२९. बनजारा गीत, कुमुदचन्द्र।
३०. बारहमासा, रत्नकीर्ति।
३१. शत अष्टोत्तरी, भैय्या भगवतीदास।
३२. चरखा चौपई, अजयराज पाटनी।
३३. पदसंग्रह, भागचन्द्र।
३४. साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन, डा० गणपतिचन्द्र गुप्त।
३५. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान, डा० नामवर सिंह।
३६. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, नाथूराम प्रेमी।
३७. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, बाबू कामताप्रसाद जैन।
३८. ज्ञानपंचमी चौपई, विद्धणु कवि।
३९. ज्ञान छन्द चालीसी, भवानीदास।
४०. इमेजिनेशन, ई० जे० पत्रलोंग।

●

कविवर बनारसीदास की चतुःशती के अवसर पर विशेष लेख

अर्द्धकथानक[1] : पुनर्विलोकन*

डा० कैलाश तिवारी

प्राचार्य, राज० महाविद्यालय, मझौली

हिन्दी साहित्य में 'अर्द्ध कथानक' को हिन्दी का प्रथम आत्मचरित स्वीकार करते हुए[2] इसके रचनाकार को प्रथम आत्मकथा साहित्य का जन्मदाता भी कहा गया है।[3] साहित्य-इतिहास में इनका उल्लेख मध्यकाल के अन्य कवियों के साथ किया गया है। बनारसीदास ने इतिहास के तीन शासकों—अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के युग को देखा था। यह भी प्रमाणित है कि उन्हें शाहजहाँ से संरक्षण प्राप्त था।[4] अतः किसी न किसी रूप में इन शासकों की राज्य-व्यवस्था और समाज-दशा की झलक 'अर्द्धकथानक' में मिल जायेगी।

'अर्द्धकथानक' के अतिरिक्त लगभग २३ अन्य काव्य-रचनाएँ भी उनकी हैं। इन काव्य रचनाओं का विषय या तो धर्म है या उपदेश[5]। वस्तुतः इन रचनाओं के जरिये उन्होंने जैन-धर्म को सर्वसाधारण के लिए ग्राह्य बनाने का प्रयास किया है और इसके लिए उन्होंने बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है।[6] इन जैसे रचनाकारों के प्रयास के फलस्वरूप ही संस्कृत और प्राकृत के साथ ही साथ जनभाषा में भी जैनधर्म के सिद्धान्तों और केन्द्रीय विचारों को भी प्रस्तुत किया जाने लगा था।[7] इस तरह से उनकी दो उपलब्धियाँ हैं—एक तो जनभाषा के माध्यम से जैनधर्म के सिद्धांतों को लोक-सुलभ बनाना और दूसरा कवि के लिए आत्मकथा लेखन का मार्ग खोलना। यह सत्य है कि बनारसीदास के बाद भी मध्यकाल में किसी कवि या रचनाकार ने आत्म-कथा (लेखन) की ओर ध्यान नहीं दिया था।

हिन्दी रचनाकारों का यह दुर्बल पक्ष ही कहा जायेगा कि उन्होंने अपने व्यक्तिगत-जीवन की (प्रत्यक्ष) जानकारी आत्मकथा के रूप में नहीं दी है। परिणामस्वरूप कवियों के जीवन प्रेरक प्रसङ्गों की जानकारी के लिए हमें उनकी काव्य की अन्तर्धारा पर ही निर्भर रहना पड़ता है। बनारसीदास ने इस लीक से हट 'स्व-चरित' को 'विख्यात' करने की वांछा की है। यह इच्छा (आत्मचरित) अर्द्धकथानक के रूप में आयी है। 'संरक्षण-कवि' होने के नाते उनमें अपने 'चरित' को लिखने की प्रेरणा जागी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। उन्होंने जैसा 'सुना' और 'विलोका' वही कह दिया है। इस 'पूरब दसा चरित्र' में 'गुण-दोष' को भी निश्छल भाव से कहा गया है। यह सारा कथन 'स्थूल-रूप' में ही है।

'अर्द्धकथानक' के दो पक्ष हैं—व्यक्ति-पक्ष और समाज-पक्ष। व्यक्ति-पक्ष में कवि ने अपने जीवन-घटनाओं को निरावृत रूप में रखा है। चूंकि कथन के लिए उन्होंने 'थूल रूप' को ही तरजीह दी है, इसलिए उसमें आत्म-गोपन और

---

* 'अर्द्ध-कथानक' मध्यकाल की विशिष्ट कृति है—विशिष्ट इस दृष्टि से है कि इसने रचनाकारों में आत्म-चरित लिखने की प्रवृत्ति का श्रीगणेश किया। आत्म-चरित लेखन इतिहास पुरुषों का क्षेत्र नहीं रह गया। भारतीय कवि इस विधा से उस समय अनभिज्ञ होंगे—ऐसा तो नहीं कहा जा सकता पर उनमें आत्म-चरित लेखन के प्रति संकोच भाव हो सकता है। इस संकोच को तोड़ने का काम 'अर्द्धकथानक' करता है। 'अर्द्धकथानक' में सीधी-सपाट तथ्य-बद्ध शैली को अपनाया गया है जिसमें दृश्य-गतिशीलता है—संवेदन उद्वेग नहीं। आज भले ही यह रचना-विधि आदर्श न हो पर प्रारम्भिक कृति के लिए आदर्श ही मानी जायेगी।

आत्मश्लाघा नहीं है। आत्म-चरित में आत्मश्लाघा से बच निकलना कठिन काम होता है। इस मायने में बनारसीदास मुक्त रहे हैं।

'अर्द्धकथानक' में समाज-पक्ष प्रसंगवश है; इसलिए इसमें किसी गम्भीर ऐतिहासिक तथ्य को जान पाना कठिन है—आंशिक रूप में उल्लिखित इतिहास सन्दर्भों में जो भी सूचनाएँ मिलती हैं, उनकी उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

आत्मचरित की एक (साहित्यिक) उपलब्धि यह भी है कि हम कवि की अन्तर्दृष्टि से तादात्म्य के साथ ही साथ उसकी रचनाओं से भी परिचित होते हैं। कोई भी लेखक अपनी सृजनात्मक प्राप्तियों का अनुबोध आत्मकथा में अवश्य कराता है। ऐसा होने से किसी भी कवि के मूल्यांकन में सहायता मिलती है।

'अर्द्धकथानक' बनारसीदास की 'निजकथा' है।[8] जिसमें आत्मान्वेषण के स्थान पर आत्म-पीड़ा है; जीवन से जुड़ी स्थितियों की आत्म-स्वीकारोक्ति इसमें है[9]। इन आत्म-स्वीकारोक्तियों को देखकर इस आत्मचरित को 'आधुनिक' आत्मकथा लेखन के निकट मान लिया गया है।[10] उन्होंने इसमें अपने (व्यापारी) परिवार की आप बीती कही है। इन संयोजित वृत्तों में संयोगवश जग-बीति भी जुड़ गयी है और व्यापारिक यात्राओं में संस्मरण के तौर पर कुछ घटनाओं का इसमें जुड़ना भी जरूरी था। 'संस्मरण' के तौर पर जुड़े 'अर्द्धकथानक' में ये अंश इतिहास सन्दर्भ बन गए हैं।

अर्द्धकथानक में क्या है ?

इसमें रचनाकारों के आधे जीवन की गाथा है। उसने मनुष्य की आयु को एक सौ दस वर्ष माना है—चूँकि इसमें उसने अपने आधी जीवन-यात्रा को समेटा है, इसलिए इस नव-गाथा को 'अर्द्ध कथानक' कहता है; कृति का नाम भी यही रखा गया है।[11]

मूलदास-कथा

प्रारम्भ में वंश परिचय है और उसके बाद स्व-कथा। इनके दादा का नाम मूलदास था और पिता का नाम खरगसेन। दादा मूलदास मुगलों के मोदी थे और उसकी जागीर से उधारी देने का काम करते। संवत् १६०८ में बनारसी दास के पिता खरगसेन का जन्म हुआ।[12] संवत् १६१३ में मूलदास की मृत्यु हो गयी। मूलदास की सारी सम्पत्ति शासक (मुगल) ने राजसात् कर ली। खरगदास मालवा छोड़कर जौनपुर चले गए।

खरगसेन कथा

खरगसेन अपने मामा मदनसिंह श्रीमाल के यहाँ पहुँचे। आठ वर्ष की अवस्था होने पर उनकी व्यवसायिक शिक्षा शुरु हुयी।[13] बाद में सिक्के परखने और रेहन रखने का हिसाब करने लगे। बारह वर्ष की अवस्था में वे बंगाल में लोदी खाँ के दीवान 'धन्ना' राय श्रीमाल के पोतदार बने।[14] धन्ना की मृत्यु के बाद वे फिर जौनपुर लौटे।

संवत् १६२६ में आगरे में आकर वे सराफी करने लगे, २२ वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हुआ। आगरे में चचेरी बहन की ब्याह कर फिर वे वापस जौनपुर लौट आए और साझे में व्यापार करने लगे। संवत् १६४३ में बनारसीदास का जन्म हुआ।

बनारसीदास व्यथा

पिता के समान आठ वर्ष की अवस्था में शिक्षा शुरु हुई और बारह वर्ष (संवत् १६५४) की अवस्था में विवाह।[15] इसी वर्ष जौनपुर के हाकिम किलीच खाँ ने व्यापारियों से 'बड़ी वस्तु' (भेंट) न मिलने पर जौहरियों को

कोड़े लगवाए।[१६] व्यापारी भाग निकले। खरगसेन सइजादपुर चले गए। किलीच खाँ के आगरे चले जाने पर वे (संवत् १६५६) जौनपुर आए। बनारसीदास ने इसी वर्ष कौड़ी बेचकर व्यापार का शुभारम्भ किया था।

१४ वर्ष की अवस्था तक बनारसीदास ने नाममाला, अनेकार्थ, ज्योतिष और कोकशास्त्र पढ़ डाले और व्यापार छोड़ 'आशिकी' करने लगे। परिणाम—उपदेश। किसी प्रकार रोगमुक्त हुए फिर धर्म आस्था (जैनी) से जुड़े व्यापार से जुड़े।

संवत् १६६४–६७ तक व्यवसाय में घाटा उठाया। पर विभिन्न व्यवसायों से जुड़े रहे। व्यापार के सन्दर्भ में पटना/आगरा की यात्राएँ की। संवत् १६७३ में पिता की मृत्यु के बाद कपड़े का व्यापार किया। अपना हिसाब चुकाने आगरा गए, रास्ते में मुसीबतें झेलीं। यह उनकी अन्तिम यात्रा थी।

बनारसीदास के 'अर्द्धकथानक' से उस काल की कुछ सूचनाएँ मिलती हैं।

आध्यात्मिक गोष्ठियाँ

आगरा में उन दिनों आध्यात्मिक गोष्ठियाँ हुआ करती थीं। बनारसीदास भी ऐसी गोष्ठियों में शामिल होते थे। ये गोष्ठियाँ मुगल दरबार परम्परा की अंग थी। इन गोष्ठियों से अध्यात्म के प्रति रुझान उत्पन्न होता था। ये साधना को सही दिशा देने में असमर्थ रहती थी। बनारसीदास भी भटकाव में उलझे थे।[१७] संवत् १६८२ में सही पथ-प्रदर्शक रूपचन्द पाण्डे के कारण उन्हें सही ज्ञान मिला।

इतिहास और समाज

अर्द्धकथानक में ऐतिहासिक सूचनाएँ भी हैं जैसे—अकबर की मृत्यु, जहाँगीर का सिंहासनारूढ़ होना और उसकी मृत्यु; और शाहजहाँ का बादशाह होना ये सभी सूचनाएँ ऐतिहासिक तिथियों की पुष्टि करती हैं।

इसमें अनेक नगरों के नाम हैं पर जौनपुर नगर का विशेष परिचय दिया गया है। मध्यकाल में यह समृद्ध नगर था। बनारसीदास ने जौनासाह को इस नगर को बसाने वाला कहा।[१८] इतिहास के अनुसार सन् १३८९ में इसे फिरोज तुगलक के पुत्र सुल्तान मुहम्मद के दास ने इसे बसाया था।[१९] यह दास ही जौनाशाह हो सकता है। 'अर्द्धकथानक' में इसकी भव्यता की सूचना है। यहाँ सतमंजिले मकान, बावन सराय, ५२ परगने; ५२ बाजार और बावन मंडियाँ थीं। नगर में चारों वर्ण के लोग थे। शूद्र छत्तीस प्रकार के थे।

'अर्द्धकथानक' के माध्यम से समाज की हल्की सी झलक मिलती है। जौनपुर नगर-वर्णन में विभिन्न कारीगर-जातियों का जो ब्यौरा है, *उससे यही लगता है कि वाणिक वृत्तियों में लगे लोगों को समाज में नीचा दर्जा दिया गया था*—इन्हें शूद्र कहा जाता था। यहाँ तक कि चित्रकार, हलवाई और किसान भी शूद्रों की श्रेणी में आते थे। बनारसीदास ने शूद्रों को जौनपुर में उपस्थित कुछ जातियों (वर्गों) का उल्लेख किया है।[२०]

बनारसीदास ने मुगल-शासन-व्यवस्था के दो प्रसंग रखे हैं—किलीच खां[२१] द्वारा उगाही और यात्रा के समय मुसीबत में पड़ने पर हाकिमों द्वारा रिश्वत लेना। किलीच खाँ जब जौनपुर का हाकिम बना, तो मनचाही भेंट न मिलने पर जौहरियों को अकारण दण्डित किया।[२२] इन दिनों हाकिमों की मनमानी और स्व-इच्छा प्रमुख थी।

जौनपुर से आगरा की यात्रा में नकली सिक्कों के चलाने के अभियोग में बनारसीदास के साथियों को पकड़ा गया। रिश्वत देकर ही उन्हें और उनके साथियों को इस झूठे अभियोग से त्राण मिला था।[२३]

समाज में शिक्षा-व्यवस्था परम्परागत ढंग से की जाती थी। व्यापारियों के लिए अधिक पढ़ना-लिखना ठीक नहीं माना जाता था। पढ़ने-लिखने का काम ब्राह्मणों और भाटों के जिम्मे था। व्यापारी का अधिक पढ़ने का अर्थ था भीख माँगना :—

बहुत पढ़ै बामन और भाट । बनिक पुत्र तो बैठे हाट ।

बहुत पढ़ै सो माँगे भीख । मानहु पूत बड़े की सीख ॥ २३/२००

(वर्तमान सन्दर्भ में भी यह कथन आंशिक सही है)

इस काल में व्यापारी लम्बी यात्राएँ करते थे। पर ये यात्राएँ निरापद नहीं थी[२४]। यद्यपि बादशाह यात्राओं और यात्रियों की सुरक्षा-सुविधा का ध्यान रखते थे।[२५] चोर और डाकुओं का भय रहता ही था। खरगसेन लुट चुके थे और कवि स्वयं भी चोरों के गाँव पहुँच गया था।

'अर्द्धकथानक' में आगरे में पहली बार फैले 'गाँठिका रोग' (प्लेग) की बात कही है। गाँठ निकलते ही आदमी मर जाता था। भय के मारे लोग आगरा छोड़कर चले गये थे। बनारसीदास ने भी अजीजपुर गाँव में डेरा जमाया था।[२६] यह घटना संवत् १६७३ की है। तुजुक के जहाँगीरी में भी इसका जिक्र है[२७]। पर उसमें यह नहीं कहा गया है कि आगरे पर भी इसका प्रभाव हुआ था।

'अर्द्धकथानक' से पता चलता है कि बादशाहों की दृष्टि जैन सम्प्रदाय एवम् इनकी उपासना की आजादी के प्रति नरम एवम् उदार थी। दो संघ यात्राओं—हीरानन्द मुर्कीम, और धन्नाराय की—में जहाँगीर और पठान सुलतान ने सहयोग दिया था।[२८]

सन्दर्भ

१. इस निबन्ध के लिखने में 'अर्द्धकथानक' [तृतीय संस्करण], प्रकाशक अखिल भारतीय जैन युवा फेडरेशन, जयपुर का उपयोग किया गया है।
सन्दर्भ उल्लेख में पहले पृष्ठ संख्या और फिर छन्द संख्या दी गयी है।

२. हिन्दी का यह प्रथम आत्मचरित है ही, पर अन्य भारतीय भाषाओं में इस प्रकार की और इतनी पुरानी पुस्तक मिलना आसान नहीं है। बनारसीदास चतुर्वेदी भूमिका पृ० २९।

३. कविवर बनारसीदास : व्यक्तित्व और कर्तृत्व : अध्यात्म प्रभाजैन पृ० ६१।

४. बनारसीदास, भूषण, मतिराम, वेदांग राय, हरीनाथ आदि हिन्दी के विद्वान् शाहजहाँ से संरक्षण प्राप्त किए हुए थे। मध्यकालीन भारत : एल० पी० शर्मा पृ० ५०६।

५. हिन्दी साहित्य कोश भाग २, पृ० ३४१।

६. मध्य देस की बोली बोल। गर्भित बात कहौं हिय खोल। अर्द्धकथा २/७।

७. हिन्दी साहित्य कोश भाग २, पृ० ३४४।

८. सो बनारसी निज कथा। कहै आप सो आप : अ० कथा० २/३।

९. कहीं अतीत-दोष गुणवाद। वर्तमान नाई मरजाद।
जैसी सुनी बिलोकी नैन। तैसी कछू कहौ मुख बैन २/५।

१०. कविवर बनारसीदास का दृष्टिकोण आधुनिक आत्मचरित लेखकों के दृष्टिकोण से मिलता-जुलता था। बनारसीदास चतुर्वेदी पृ० २९ भूमिका से।

११. अर्द्धकथा ७४/६६४–६६५।

१२. वही० ३/१६।

१३. वही० ७/४६, ४७।

१४. वही० ८/५६।

१५. वही० १३/१०५।

१६. वही० १३/११०।

१७. वही० ६७/६०२, ६०५।

१८. कुल पठान जीनासह नाँउ। तिन तहाँ आई बसायो गाऊँ। वही–४/२६।

१९. मध्य कालीन भारत : एल० पी० शर्मा, पृ० १५० एवम् १९३।

२०. शूद्रों की श्रेणियां—सीसगर, दरजी, तंबोली, रंगवाल, ग्वाल, बाढ़ई, संगतरास, तेली, धोबी, धुनियाँ। कंदोई, कहार, काछो, कलाल, कुलाल (कुह्मार) माली, कुन्दीगर, कागदी, किसान, पट बुनियाँ, चितेरा, बिंधेरा, बारी, लखेरा, उठेरा, राज, पटुवा, छप्परबंध, बाई, भारमुनियाँ, सुनार, लुहार, सिकलीगर, हवाई भर, धीवर, चमार। अ० का ५/२९

२१. किलीच खाँ अकबर का विश्वस्त सेनापति था : अकबरनामा पृ० २८४ में इसका उल्लेख है।

२२. अ० कथा० १३/१११, ११३।

२३. अ० कथा० ६०/५४०, ५४१।

२४. (जहाँगीर) शासन व्यवस्था सुदृढ़ और व्यवस्थित नहीं थी। सड़कें तथा मार्ग असुरक्षित थे। चोरी और डाके जनी होती थी। प्रांतीय सूबेदार और अधिकारी निर्दयी और अत्याचारी होते थे।
म० का० भारत : पृ० १९४ शर्मा

२५. आदेशानुसार आगरे से अटक तक मार्ग के दोनों ओर वृक्ष लगाएँ जायें। प्रति कोस पर मील स्तम्भ खड़ा किया जाय; प्रति तीसरे मील पर एक कुआँ तैयार किया जाय, ताकि यात्री लोग सुख शांति से यात्रा कर सकें। तुजुक-ए-जहाँगीरी पृ० २५५ (अनु० मथुरा प्रसाद शर्मा)

२६. इस ही समय ईति बिस्तरी। परी आगरै पहिली मरी।
जहाँ तहाँ सब भागे लोग। परगट भया गाँठिका रोग ॥ ६३/५७२
निकसै गांठि मरै छिन मांहि। काहू की बसाइ किछु नांहि।
चूहे मरहिं बैद मरि जांहि। भय सौं लोग अंन न खिांहि ॥ ६४/५७३, ५७४

२७. इसी वर्ष या मेरे राज्यारोहरण (सन् १६११) के दसवें वर्ष हिन्दुस्तान के कुछ स्थानों पर एक बड़ा रोग (प्लेग) फैला। इसका प्रारम्भ पंजाब के परगनों से हुआ था फिर यह सरहिन्द और दोआब तक फैल गया और दिल्ली आ पहुँचा। उसने आसपास के परगनों और गाँवों में फैलकर सबको बरबाद कर दिया। इस देश में यह बीमारी कभी प्रकट नहीं हुई थी। तुजुक-ए-जहाँगीरी : पृ० १६३

२८. अ० कथा० २५/२२४।

□

कातन्त्र व्याकरण

डा० भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश' शास्त्री
संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

व्याकरण की परंपरा और कातन्त्र व्याकरण का स्थान

भारत में वेदार्थों की व्याख्या के लिये चिरकाल से प्रातिशाख्य, निरुक्त और व्याकरण के रूप में शब्दानुशासन की वृहत् परम्परा पाई जाती है। प्रातिशाख्यों में पद-विभाग आदि के रूप में वर्णित प्रक्रिया वेदों के शब्दानुशासन की अंशतः ही व्याख्या करती है। यास्कीय निरुक्त में बताया गया है कि निरुक्त के लिये व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। इसलिये व्याकरण-रूप शब्दानुशासन निरुक्त से प्राचीन है। यद्यपि प्राचीन भारतीय वाङ्मय व्याकरणों के नाम पाये जाते हैं, फिर भी प्रकरणाधारित होने से उस परम्परा के अनेक व्याकरण लुप्त हो गये। लेकिन इनमें माहेशी परम्परा आज भी जीवित है। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि माहेन्द्री परम्परा भी आंशिक रूप से जीवित है। शब्दानुशासन की यह परम्परा दो प्रकार की है मातृका पाठ-रूप (विस्तृत) और प्रत्याहार रूप संक्षिप्त। आजकल विद्यमान सभी व्याकरण ग्रन्थ प्रायः प्रत्याहर-रूप द्वितीय परम्परा का अनुसरण करते हैं।

तैत्तिरीय संहिता-अनुसार वाक्-व्याख्यान में लिये देवों ने इन्द्र से प्रार्थना की। इस आधार पर माहेन्द्री परम्परा महेन्द्र के गुरु वृहस्पति ने प्रचलित की है। उसका विस्तार देखकर भगवान् पतंजलि ने अपने महाभाष्य में बताया है कि वृहस्पति ने इन्द्र को यह व्याकरण एक हजार वर्ष तक पढ़ाया पर समाप्त नहीं हो पाया।

आठवीं के हरिभद्र सूरि ने बताया कि जैनेन्द्र व्याकरण (देवनंदि पूज्यपाद) ही ऐन्द्र-व्याकरण है। अठारवीं सदी में उत्पन्न राजर्षि ने अपने 'भगवत् वादिनो' नामक ग्रन्थ में बताया है कि ऐन्द्र व्याकरण (जै० व्या०) भगवान् महावीर-प्रणीत है और इसके समर्थन में अनेक तर्क दिये हैं। इस ग्रन्थ में जैनेन्द्र व्याकरण का सूत्रपाठ ही उपलब्ध है। पूज्यपाद ने पाणिनि के व्याकरण पर 'शब्दावतार न्यास' नामक टीका है। पाणिनि के पूर्ववर्ती व्याकरणों के अनेक सिद्धान्त भी जैनेन्द्र व्याकरण में पाये जाते हैं। लेकिन इससे 'जैनेन्द्र व्याकरण' को ऐन्द्र व्याकरण नहीं कहा जा सकता। जैनेन्द्र शब्द में इन्द्र-शब्द होने से ऐसा आभास हुआ है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि जैनेन्द्र व्याकरण देवनंदि आचार्य ने बनाया है जिनका दूसरा नाम जिनेन्द्र बुद्धि भी है।

महेन्द्र व्याकरण विस्तृत है और समय-साध्य है। इसलिये महामुनि पाणिनि ने महेश परम्परा में प्रत्याहार-रूप प्रथम संक्षिप्त शब्दानुशासन बनाया। इसलिये इसमें कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि महेन्द्र परम्परा के अन्य व्याकरण पाणिनीय व्याकरण से विस्तृत हैं। पाणिनि व्याकरण में भी प्राचीन व्याकरणों के अनेक सूत्र पाये जाते हैं। उसने इसे अनेक आचार्यों के नाम सादर दिये हैं जिनके मत उसने ग्रहण किये हैं। प्रत्याहर-सूत्रों के अतिरिक्त पाणिनि की अष्टाध्यायी में बहुतेरे सूत्र प्राचीन व्याकरणों से लिये गये हैं। यह तथ्य सूत्रों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है।

जैन और बौद्ध-व्याकरण अवैदिक हैं, फिर भी वे अंशतः महेन्द्र परम्परा का अनुकरण करते हैं। इसके बावजूद भी वे पाणिनीय व्याकरण के महत्व को स्वीकार करते हैं। इसीलिये अन्तरवर्ती वैयाकरण पाणिनि के प्रत्याहर-सूत्र क्रम को समाविष्ट करने का लोभ संवरण नहीं कर पाये।

कातन्त्र का नामकरण

वर्तमान में उपलब्ध कातन्त्र व्याकरण पाणिनि का उत्तरकालीन शब्दानुशासन है। यह विस्तृत महेन्द्र परम्परा का है। इसमें महेन्द्र परम्परा की संक्षिप्त प्रत्याहार-प्रक्रिया नहीं अपनाई गई है। कातंत्र-व्याकरण के नाम के विषय में

विद्वानों के अनेक मत हैं, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह किसी बृहत्तंत्र से संक्षेपित हुआ है। इसके नाम की व्याख्या निम्न रूपों में की गई है।

दुर्गसिंह	कु = लघु तंत्र	ही का तंत्र है।
	कुत्सि तंत्र	का तंत्र है।
	कार्तिकेय तंत्र	का तंत्र है।
दुर्गसिंह	कात्यायन तंत्र	का तंत्र है।
	काशकृत्स्न तंत्र	का तंत्र है।
हेमचन्द्र	कालापक तंत्र	का तंत्र है।
अग्निपुराण, वायुपुराण	कुमार-स्कन्द-प्रोक्त तंत्र	का तंत्र है।

यह स्पष्ट है कि कातंत्र में प्रथम अक्षर के साथ तंत्र शब्द जोड़कर कातंत्र नाम रखा गया है। इससे भिन्न-भिन्न मतवादी भिन्न-भिन्न व्याकरणों से इसके संक्षेपण की सूचना देते हैं। कातंत्र व्याकरण किसी बृहत्तंत्र से संक्षेपित किया गया है, यह मान्यता दसवीं सदी के वृत्तिकारों में प्रचलित रहती है। भगवत कुमार कार्तिकेय के द्वारा प्रणीत शास्त्र के बाद उनकी आज्ञा से सर्ववर्मन ने इसे बनाया, इसलिये इसे **कौमार तंत्र** भी कहा जाता है। इसकी प्रसिद्धि कौमार तंत्र के रूप में मानी जाती है, यह ज्ञातव्य है कि कुमार कार्तिकेय चौरशास्त्राचार्य के रूप में विश्रुत हैं, व्याकरणशास्त्राचार्य के रूप में नहीं। 'कुमार' के भी अनेक अर्थ लगाये गये हैं। कुमारी-सरस्वती से प्राप्त होने के कारण इसे कौमार तंत्र कहते हैं। मोर के पंखधारी को कलाप कहते हैं। त्रिविष्टपी परम्परा के अनुसार कातंत्र का उपदेश मयूरपिच्छियों के मध्य किया गया है। जैन साधु मोर-पंखों से बनी पीछी को धारण करते हैं और उपदेश देते हैं। इसलिये इसे कालापक तंत्र भी कहते हैं।

कातंत्र व्याकरण के कर्ता और इसका समय

भावसेन ने अपनी 'कातंत्र रूपमाला' में श्री शर्ववर्मन् को कार्तत्र व्याकरण का रचयिता माना है। शर्ववर्मा का ही दूसरा नाम वररुचि है। उन्होंने ही ऐन्द्र व्याकरण को संक्षिप्त कर कातंत्र व्याकरण बनाया है। यह त्रिविष्टपीय विद्वत् परम्परा मानती है। दुर्गसिंह ने बताया है कि कातंत्र का कृदन्त भाग वररुचि ने लिखा है। वह वार्तिककार कात्यायन से भिन्न है, उससे परवर्ती है। इन्होंने प्राकृतप्रकाश ग्रन्थ भी बनाया है। इनका दूसरा नाम श्रुतिधर भी था। ये तीसरी सदी में हुए थे। महाभाष्यकार शर्ववर्मन के बाद हुए हैं, यह कथन सत्य नहीं है। 'कथासरित् सागर' के अनुसार, प्राकृत भाषावेत्ता सात वाहन की राजसभा में गुणाढ्य और सर्ववर्मा नाम के ख्यातिप्राप्त विद्वान् थे। इसके ही अनुसार, राजा दीपकर्णि का पुत्र सातवाहन था जो संस्कृत भाषा नहीं जानता था। सम्भवतः यह सिंह की सवारी करता था, इसीलिये इसका नाम सातवाहन पड़ा। [इसके सात वाहन (अश्वादि, सप्तिवाहन) थे, इसलिये भी इसका नाम सातवाहन हो सकता है।] इसका एक अन्य नाम 'शक्तिवाहन' भी माना जाता है। 'शक्तिहोत्र' शब्द से शक्ति का भी वाहनार्थकत्व सिद्ध होता है। ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि आन्ध्र के राजाओं ने राज्य का विस्तार किया और 'सातवाहन' पदवी ग्रहण की। इनमें सातकर्णि द्वितीय छठा सातवाहन राजा हुआ। कथासरित् सागर के अनुसार, इसी का नाम 'दीपकर्णि' रहा है। सातवाहन वंश में सातवाँ राजा 'हाल' नामधारी हुआ। इसी प्राकृत प्रेमी राजा की राजसभा में गुणाढ्य और शर्ववर्मन थे। इसी राजा के राज्यकाल में कातंत्र व्याकरण का निर्माण हुआ। इस राजा का समय प्रथम सदी (२०-२४ ई०) निर्धारित है। इसी का समकालीन शूद्रक नाम का राजा हुआ जिसने पद्मप्राभृत में कार्तत्र व्याकरण का उल्लेख किया है। राजा पुष्यमित्र के समकालीन महाभाष्यकार पतंञ्जलि का समय ईसा पूर्व दूसरी

सदी निश्चित है। फलतः शर्ववर्मन पतंजलि का पर्याप्त उत्तरवर्ती है। फिर भी युधिष्ठिर मीमांसक इसे सातवाहन से भी पूर्ववर्ती मानते हैं।

इस ग्रन्थ के कर्ता जैन थे या अजैन, इस पर विद्वानों का मत स्पष्ट नहीं है। एक ओर सोमदेव शर्ववर्मन् को अजैन मानते हैं, वहीं भावसेन त्रैविद्य (१२–१३ सदी) और हेमचंद्र उन्हें जैन मानते हैं। इसके 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' नामक प्रथम सूत्र में 'सिद्ध' शब्द का होना इसे जैनकर्तृक प्रमाणित करता है। इसके सभी टीकाकार प्रायः जैन ही हुए हैं। इसका जैनों में ही प्रचार भी अधिक रहा है। इस व्याकरण के अन्तःपरीक्षण से भी इसके जैन-कर्तृक होने का आभास मिलता है।

कातन्त्र व्याकरण की टीकायें और वृत्तियां

ग्रन्थकर्ता के अनुसार, यह ग्रन्थ अल्पमति, आलसी, लोकयात्री, वणिक् आदि सामान्यजनों के 'शीघ्रबोध' के लिये लिखा गया है। इसीलिये यह इतना लघु, सरल एवं सहज कण्ठस्थनीय है। इसकी लोकप्रियता के कारण ही यह बौद्धों के लिये उपयोगी बना। इसका प्रचार भारत के बाहर तिब्बत में भी हुआ। पर वर्तमान में इसका प्रचलन मुख्यतः बंगाल में है। इसकी लोकप्रियता का एक प्रमाण यह भी है कि इस पर अनेकों टीकायें एवं वृत्तियाँ लिखी गई। इनका कुछ विवरण सारणी १ में है।

सारणी १ — कातंत्र व्याकरण की टीकायें/वृत्तियाँ

	टीकाकार/वृत्तिकार	समय, वि०	टीका/वृत्ति नाम
१.	दुर्गसिंह		कातंत्र-वृत्ति
२.	विजयानंद (विद्यानंद)	१२०८	कातंत्रोत्तर व्याकरण
३.	भावसेन त्रैविद्य	११५०–१२५०	कातंत्र रूपमाला
४.	जिनप्रबोधसूरि	१३२८	दुर्गपद प्रबोध
५.	संग्रामसिंह	१३३६	बालशिक्षा
६.	जिनप्रभ सूरि	१३५२	कातंत्र विभ्रम टीका
७.	प्रद्युम्न सूरि, आचार्य	१३६९	दौर्गसिंही वृत्ति
८.	मेरुतुंग सूरि	१४४८	बालबोध व्याकरण
९.	वर्धमान	१४४८	कातंत्र विस्तर
१०.	मुनि चरित्र सिंह	१६३५	कातंत्र विभ्रम टीका
११.	हर्षचन्द्र		कातंत्र-दीपक
१२.	धर्मघोष सूरि	१३००–१४००	कातंत्र निबंध
१३.	आचार्य राजशेखर सूरि		वृत्तित्रय निबंध
१४.	सोमकीर्ति		कातंत्र-वृत्तिपर पंजिका
१५.	पृथ्वीचंद्र सूरि		कातंत्र रूपमाला लघुवृत्ति
			कातंत्र रूपमाला-टीका
१६.	सकलकीर्ति–२		कातंत्र रूपमाला लघुवृत्ति
१७.	आचार्य रविवर्मा		कातंत्र व्याकरणवृत्ति
१८.	पन्नालाल बाकलीवाल		बाल बोध

इससे स्पष्ट होता है कि हेम और सारस्वत व्याकरण के समान यह अपने समय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याकरण रहा होगा जिससे समस्त संस्कृतवेत्ता प्रभावित हुए और इसे उपयोगी मानते रहे। ऐसा माना जाता है शाकटायन व्याकरण पर कातंत्र व्याकरण का गहन प्रभाव है, यद्यपि उसमें प्रत्याहार शैली को अपनाया गया है। हेमचंद्राचार्य भी शाकटायन से प्रभावित हैं। फलतः वे भी परोक्षरूप से कातंत्र से प्रभावित हैं। वस्तुतः हेमचंद्र ने ही इसे कलापक-तंत्र कहा है। उत्तरवर्ती वैयाकरण भी इससे प्रभावित रहे हैं।

कातंत्र व्याकरण अन्य व्याकरणों की अपेक्षा संक्षिप्त और सरल है। इसमें सूत्रों की संख्या भी कम है। इसमें पाणिनि के ४८११ सूत्रों की तुलना में कुल १४०० सूत्र ही हैं। इसमें संज्ञाओं का स्वतंत्र प्रकरण नहीं है, उन्हें सन्धिपाद में ही निरूपित किया गया है। इसमें व्याकरण में उपयोगी तद्धित, कृदन्त, तिङन्त आदि अन्य सभी प्रकरण संक्षेप में हैं। इसके तिङन्त प्रकरण में कालवाची क्रियाओं का नामकरण विशिष्ट रूप में किया है। इसका अनुकरण हेमचंद्राचार्य ने भी किया है। इसमें विराम में अनुस्वार होने की विशेषता भी पाई जाती है। इस बात की महती आवश्यकता है कि इसका वैज्ञानिक रूप से सुसंपादित संस्करण प्रकाशित किया जावे।

□

जैन व्याकरणों का संक्षिप्त विवरण

१.	ऐन्द्र व्याकरण	इन्द्र आचार्य	ई० पू० छठवीं सदी	
२.	कातंत्र व्याकरण	आ० सर्ववर्मन्/वररुचि	तीसरी सदी	८८५/१४०० सूत्र १८ टीका
३.	जैनेन्द्र व्याकरण	पूज्यपाद आचार्य	पांचवीं सदी	पंचाध्यायी, अनेकशेष ३०००/३७०० सूत्र
४.	क्षपणक व्याकरण	क्षपणक/सिद्धसेन	छठवीं सदी	
५.	शाकटायन व्याकरण	शाकटायन पाल्यकीर्ति	नवमी सदी	चार अध्याय १० वृत्ति/टीकायें
६.	पंचग्रन्थी व्याकरण	बुद्धिसागर सूरि	१०२३	१६ पाद, ३२३६ सूत्र
७.	सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन	आ० हेमचंद्र	१०८८	६ टीकायें ८ अध्याय ५६५१ सूत्र
८.	पंचग्रन्थी व्याकरण	बुद्धिसागर सूरि	१०८०	
९.	प्रेमलाभ व्याकरण	मुनिप्रेमलाभ	११२६	
१०.	मलयगिरि शब्दानुशासन	मलयगिरि	११३१–११९३	
११.	सारस्वत व्याकरण	अनुभूति स्वरूप	१५वीं सदी	२७ टीकायें ७०० सूत्र २३ टीकायें
१२.	जैन व्याकरण	यशोभद्र		
१३.	जैन व्याकरण	आर्य वज्रस्वामी		
१४.	जैन व्याकरण	भूतबली		
१५.	जैन व्याकरण	श्रीदत्त		
१६.	जैन व्याकरण	प्रभाचंद्र		
१७.	जैन व्याकरण	सिंहनन्दि		
१८.	विद्यानन्द व्याकरण	विद्यानंद	१२६५ ई०	
१९.	नूतन व्याकरण	जयसिंह सूरि	१३८३	
२०.	दीपक व्याकरण	भद्रेश्वर सूरि	तेरहवीं सदी	
२१.	चिन्तामणि व्याकरण	आचार्य शुभचंद्र	१५४८	
२२.	शब्दार्णव व्याकरण	मुनि सहजकीर्ति	१६२३	

कुवलयमालाकहा के आधार पर गोल्लादेश व गोल्लाचार्य की पहिचान

डा० यशवन्त मलैया

कोलराडो स्टेट विश्वविद्यालय, फोर्ट कॉलिंस (यू० एस० ए०)

पिछले दो सौ वर्षों के अनुसन्धान से भारतीय इतिहास की बहुत सी समस्यायें सुलझी है। नालन्दा, श्रावस्ती, तक्षशिला आदि स्थानों का निश्चित रूप से पहिचान लिया गया है। फ़िरोजशाह जिस स्तम्भ के लेख को पढ़ सकने वाला ढूंढ़ नही सका, वह आज बिना किसी सन्देह के पढ़ा जा सकता है। कई समस्यायें ऐसी है जिनका व्यापक अध्ययन तो हुआ है, पर कोई निर्विवाद हल नहीं मिला है। उदाहरणार्थ कालिदास के समय का निश्चय, गौतमबुद्ध की निर्वाण तिथि, सिंधु-सरस्वती सभ्यता की लिपि की पहचान आदि। यहाँ पर एक ऐसी समस्या पर विचार किया गया है जिसका महत्त्व जैन सामाजिक व धार्मिक इतिहास के लिए ही नहीं, बल्कि भारतीय इतिहास के लिए भी है। संयोग से इसका समाधान सन्तोषजनक रूप से हो सका है। अलग-अलग स्थानों पर, व अलग-अलग समय के जो सूत्र मिलते हैं, उनके अध्ययन से एक निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है जिसमें कोई विरोधाभास मालूम नहीं होता।

कई प्राचीन ग्रन्थों में गोल्लादेश नाम के स्थान का उल्लेख आता है। आठवीं सदी में उद्योतनसूरि द्वारा रचित **कुवलयमालाकहा** मे अठारह देश-भाषाओं का उल्लेख है। इनमें से एक गोल्लादेश की भाषा भी है। ये नाम लक्ष्मणदेव रचित नेमिणाहचरिउ (समय अनिश्चित), पुष्पदन्त रचित नयकुमारचरिउ (दसवीं शती उत्तरार्ध), राजशेखर की काव्यमीमांसा (दसवीं शती पूर्वार्ध) व रामचन्द्र-गुणचन्द्र के नाट्यदर्पण (बारहवीं शती) मे भी दिये हुए है। चूर्णिसूत्रों में भी इस स्थान का उल्लेख है। इस स्थान के उल्लेख बहुत कम पाये गये है। कुछ अपवादों को छोड़कर इसका शिलालेखों में भी उल्लेख नहीं है। ऐतिहासिक भूगोल की पुस्तकों मे इसका उल्लेख नहीं किया गया है। इस लेख मे इस स्थान की निश्चित पहिचान करने का प्रयास किया गया है।

गोल्लादेश की स्थिति पर पहले उहापोह किया गया है। एक विद्वान के मत से यह गोदावरी नदी के आस-पास का क्षेत्र है। यह मिलते-जुलते शब्द होने से अनुमान किया गया है। आगे के विवेचन से स्पष्ट है कि यह धारणा गलत है।

शिलालेखों में गोल्लादेश के स्पष्ट उल्लेख केवल श्रवणबेलगोला में पाये गये है। इनके अंश आगे दिये गये हैं। इनमे गोल्लाचार्य नाम के मुनि का उल्लेख है। ये गोल्लादेश के राजा थे व किसी कारण से इन्होंने दीक्षा ले ली थी। मैसूर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित **ऐपिग्राफिका कर्णाटिका : श्रवणबेलगोला** ग्रन्थ मे कहा गया है कि इन्हें पहिचानना सम्भव नहीं है।

सन् १९७२ में **अनेकांत** में प्रकाशित लेख 'गोलापूर्व जाति पर विचार' मे यह सम्भावना व्यक्त की गई थी कि श्रवणबेलगोला के लेखों मे जिस गोल्लादेश का उल्लेख है, यह वही स्थान है जहाँ से गोलापूर्व, गोलालारे व गोलसिंघारे जैन जातियाँ निकली हैं। प्रस्तुत उहापोह से भी यह सम्भावना सही सिद्ध होती है।

यहाँ निम्न प्रश्नों पर विचार किया गया है :

१. कुवलयमालाकहा के अनुसार कहाँ-कहाँ गोल्ला देश का होना असम्भव है? जहाँ-जहाँ इसकी स्थिति असम्भव है, वहाँ छोड़कर अन्य क्षेत्रों में ही इसकी स्थिति पर विचार किया जाना चाहिये।

२. श्रवणबेलगोला के लेखों में इस देश सम्बन्धी क्या जानकारी है ?

३. क्या प्राचीन काल में गोलापूर्व, गोलालारे व गोलसिंघारे जातियाँ एक ही प्रदेश की वासी थीं ? यह स्थान कहाँ था ?

४. यह क्षेत्र गोल्लादेश कब से व किस कारण से कहलाया ? इसके उल्लेख मिलना क्यों बन्द हो गये ?

५. गोल्लाचार्य कौन थे ? उनका समय क्या था ?

कुवलयमालाकहा आदि ग्रन्थों से गोल्लादेश की स्थिति का निर्धारण

इन ग्रन्थों से पता चलता है कि ८–१२ वीं सदी के आसपास भारत के अधिकांश भाग में करीब १८ प्रमुख देश-भाषायें बोली जाती थीं। इनमें से सभी देशों की (गोल्लादेश के छोड़कर) सही पहिचान की जा सकती है। आधुनिक भारत का जो भाषाशास्त्रीय विभाजन किया जाता है, वह इन ग्रन्थों के विभाजन से काफी मिलता है। यह सम्भव है कि अलग-अलग भाषाओं व बोलियों की सीमाओं में तब से अब तक कुछ परिवर्तन हो गया हो क्योंकि जन-समुदाय की अन्यत्र आस-पास जाकर बसने की प्रवृत्ति रही है। फिर भी, सुगमता के लिए यूनिवर्सिटी आफ शिकागो द्वारा प्रकाशित 'ए हिस्टारिकल ऐटलस आफ साउथ एशिया' में आधुनिक भाषाशास्त्रीय विभाजन के मानचित्र का प्रयोग किया जाता है। इन देशों की पहिचान इस तरह से की जा सकती है :

१. **आंध्र** : यह स्पष्ट ही वर्तमान तेलुगू भाषा क्षेत्र अर्थात् आंध्र प्रदेश हैं। इसमें तैलंगाना भी शामिल है।

२. **कर्णाटक** : कन्नड़ भाषी प्रदेश। कुछ उत्तरी भाग को छोड़कर वर्तमान समस्त कर्णाटक प्रदेश।

३. **सिंधु** : यह पाकिस्तान का सिंध प्रदेश है। मुलतानी हिन्दी-पंजाबी से मिलती है। अतः इसमें से मुल्तान निकाल देना चाहिए। कच्छी सिंधी से मिलती जुलती है। इसलिये कच्छ को सिंधु देश में मानना चाहिए।

४. **गुर्जर** : वर्तमान गुजरात। इसमें सौराष्ट्र शामिल है। वर्तमान राजस्थान का कुछ भाग भी इसमें माना जाना चाहिये। यह भाग प्राचीन काल में गुर्जर राष्ट्र का भाग माना जाता था क्योंकि यहाँ गुर्जर जाति का राज्य था।

५. **महाराष्ट्र** : मराठी भाषी। इसमें कोंकण भी माना जाना चाहिये। विदर्भ का काफी भाग गोंड आदि जातियों से बसा था, इसे प्राचीन महाराष्ट्र में नहीं माना जाना चाहिये।

६. **ताजिक** : वर्तमान सोवियत संघ व चीन-ताजिक भाषी प्रदेश। प्राचीन काल में यहाँ के यारकन्द व खोतान में पंजाब आदि से व्यापारिक सम्बन्ध थे। यहाँ अनेक प्राचीन ब्राह्मी व खरोष्ठी लेख पाये गये हैं।

७. **टक्क** : पंजाबी भाषी। पाकिस्तानी व भारतीय पंजाब, जम्मू व सम्भवतः हरियाणा का कुछ भाग। मुल्तान को भी इसी क्षेत्र में माना जाना चाहिए।

८. **मालव** : वर्तमान में इसे मध्यप्रदेश का मालवा ही माना जाता है। वास्तव में राजस्थान का कोटा के आसपास का कुछ दक्षिणी भाग भी प्राचीन मालव का भाग था। यहाँ प्राचीन काल में मालव जाति का राज्य था।

९. **मरु** : मारवाड़ी भाषी प्रदेश। राजस्थान से प्राचीन गुर्जर राष्ट्र, प्राचीन मालव व ब्रजभाषी क्षेत्र को निकाल कर जो शेष है, उसे ही मरु समझा जाना चाहिये।

१०. **मगध** : बिहारी व भोजपुरी (पूर्वी उत्तर प्रदेश) भाषी प्रदेश।

११. **कोशल** : इस नाम के दो स्थान थे। एक तो वाराणसी के आसपास व दूसरा मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ के आसपास। दूसरा क्षेत्र दक्षिण-कोशल कहा जाता है। वर्तमान में दोनों क्षेत्रों की भाषायें पूर्वी-हिन्दी के अन्तर्गत आती हैं। अतः कोशल देशभाषा का क्षेत्र पूर्वी हिन्दी (अवधी, बघेली व छत्तीसगढ़ी) का ही माना जाना चाहिये।

१२. अन्तर्वेद : गंगा-यमुना के बीच के दोआब का अधिकतर भाग ।

१३. मध्यदेश : इसमें वर्तमान मध्यप्रदेश मानना भ्रम ही होगा । इसकी पश्चिमी सीमा सरस्वती नदी (जो सूख चुकी है) व पूर्वी सीमा प्रयाग मानी गई है । अन्तर्वेद को अलग मानने से इसकी दक्षिणी सीमा गंगा नदी तक मानना चाहिये । यह वही क्षेत्र है जहाँ आजकल खड़ी-बोली बोली जाती है । अत्यन्त प्राचीन काल में यह आर्यों के निवास क्षेत्र के मध्य में था, इसीलिये मध्यदेश कहलाया ।

१४. कीर : हिमालय के क्षेत्र में बसने वालों की (किरात जाति की) भाषा । यह सम्भवतः वर्तमान नेपाली नहीं, परन्तु प्राचीनतर नेवारी आदि हैं । इसे अनार्य (अर्थात् इंडो-यूरोपियन नहीं) माना गया है ।

इस सूची में दक्षिण की तमिल, मलयालम व पूर्व की बंगाली का उल्लेख नहीं है । लेखक के उत्तर-पश्चिम भाग में रहने के कारण उसे सम्भवतः इन दूरस्थ देशों की जानकारी नहीं रही होगी । कुवलयमालाकहा में खस, पारस (फारसी क्षेत्र) व बर्बर (अज्ञात) का उल्लेख भी है ।

भारत में काफी बड़ा प्रदेश वनाच्छादित था, जहाँ गोंड आदि जातियों का निवास था । दक्षिणी मध्यप्रदेश, विदर्भ व उड़ीसा में आज भी बड़ी संख्या में इनका निवास है । यहाँ न तो महत्त्वपूर्ण स्थान थे, न अधिक आवागमन था । इसी कारण इस क्षेत्र को उपरोक्त देश-भाषाओं में शामिल नहीं किया गया ।

उपरोक्त क्षेत्रों के निकाल देने के बाद भारत में एक ही महत्त्वपूर्ण भूखण्ड बचता है । यह वह भाग है जहाँ ब्रज व बुन्देलखण्डी बोली जाती है । दोनों पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत हैं व आपस में काफी समान हैं । अतः प्राचीन गोल्लादेश की स्थिति यही होना चाहिये ।

श्रवणबेल्गोला के लेख से निष्कर्ष

श्रवणबेल्गोला में कुछ बारहवीं शती के लेख हैं, इनमें किसी गोल्लाचार्य का उल्लेख है । गोल्लादेश की स्थिति के निर्धारण में व गोल्लादेश के इतिहास के अध्ययन के लिये यह महत्त्वपूर्ण हैं । महानवमी मंडप में यादव-वंशी नारसिंह (प्रथम) के मंत्री हुल्ल द्वारा महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पण्डित के स्वर्गवास पर निषद्यानिर्माण किये जाने का उल्लेख है । शक् १०८५ (ई० ११६३) के इस लेख में देवकीर्ति की गुरु-परम्परा का निर्देश है । गोल्लाचार्य के बारे में कहा गया है कि गोल्लाचार्य गोल्लदेश के राजा थे जिन्होंने किसी कारण से दीक्षा ले ली थी । यहाँ इनके गुरु का नाम नहीं है । सिर्फ इतना कहा गया है कि ये अकलंक की परम्परा में नन्दिगण के देशीगण में हुए थे । इनकी शिष्य परम्परा (१) के अनुसार है—

(१) ११७३ ई० में शिष्यपरम्परा	(२) १११५ में शिष्यपरम्परा
गोल्लाचार्य	गोल्लाचार्य
अविद्धकर्ण पद्मनन्दि (कौमारदेव)	त्रैकाल्ययोगी
कुलभूषण	अभयनन्दि
कुलचन्द्रदेव	सकलचन्द्र
माघनन्दि मुनि (कोलापुरीय)	मेघचन्द्र त्रैविद्य
गण्डविमुक्तदेव	
देवकीर्ति ।	

एरडुकट्टे वसति के पश्चिम में एक मंडप के स्तम्भ में महाप्रधान दण्डनायक गंगराज द्वारा मेघचन्द्र त्रैविद्य के निधन पर शक् १०३७ (ई० १११५) में निषद्या के निर्माण का उल्लेख है । इसमें भी गोल्लाचार्य के गोल्लादेश के शासक होने

का उल्लेख है। यहाँ महत्त्व की बात यह है कि उन्हें किसी 'नूत्नचन्दिल' राजवंश का कहा गया है। गोल्लाचार्य के गुरु का उल्लेख नहीं है, पर उन्हें महेन्द्रकीर्ति के शिष्य वीरणंदी की परम्परा में बताया गया है। यहाँ गोल्लाचार्य की शिष्य परम्परा उपरोक्त (२) के अनुसार दी गई है।

सवतिगन्धावरण वसति के मंडप में शक् १०६८ (ई० ११४६) के लेख में उपरोक्त मेघचन्द्र त्रैविद्य की परम्परा में हुए प्रभाचन्द्र का उल्लेख है। इस लेख में वे प्रथम ४१ पद्य नहीं हैं जो एरडुकट्ट वसति के लेख में हैं। इनमें गोल्लाचार्य सम्बन्धी श्लोक भी हैं।

कर्णाटक में ही एक अन्य स्थान में एक भग्न स्तम्भ पर बारहवीं सदी का एक लेख है। इसमें गोल्लाचार्य, उनके शिष्य गुणचन्द्र व उनके शिष्य इन्द्रनन्दि, नन्दिमुनि व कन्ति का उल्लेख है। लेख या उसका शब्दशः अनुवाद उपलब्ध नहीं हो सका है।

फलतः यहाँ पर इतना जान लेना पर्याप्त है कि गोल्लाचार्य गोल्लादेश के थे व नूत्नचंदिल वंश के थे। चंदिल स्पष्ट ही चंदेल का रूपान्तर है। इसी प्रकार से खण्डेलवाल को खडिल्लवाल कहा गया है। नूत्न नन्नुक का रूपान्तर जान पड़ता है, ये चंदेल राजवंश के स्थापक माने गये हैं। अतः गोल्ल या गोल्लादेश चंदेलों के राज्य में होना चाहिये।

गोल्लापूर्व गोलालारे व गोलसिंघारे जातियों का मूल स्थान

इन जैन जातियों के बारे में ऐसा माना जाता रहा है कि इनका प्राचीन काल में कुछ सम्बन्ध था। आगे के अध्ययन से स्पष्ट है, यह धारणा सही मालूम होती है। इसके इतिहास के अध्ययन से गोल्लादेश के निर्धारण में भी मदद मिलती है।

किसी भी जाति के प्राचीन निवासस्थान को जानने के लिये निम्न बिन्दुओं का अध्ययन उपयोगी है.

१. जाति के नाम का विश्लेषण : जातियों के अध्ययन से यह मालूम होता है कि लगभग सभी जातियों का नाम स्थानों के नाम पर आधारित है। उदाहरणार्थ, अग्रवाल अगरोहा (अग्रोतक) के, श्रीमाल (ब्राह्मण व बनिया) श्रीमाल के, श्रीवास्तव (कायस्थ आदि) श्रावस्ती के, जुझौतिया ब्राह्मण जुझौत (जैजाकभुक्ति) के वासी रहे हैं। इस कारण एक ही स्थान से निकली कई वर्ग की जातियों का नाम एक ही है। उदाहरण के लिये :

कनौजिया (कान्यकुब्ज) : ब्राह्मण, अहीर, बहना, भड़भूंजा, भाट, दहायत, दर्जी, धोबी, हलवाई, लुहार, माली, नाई, पटवा, सुनार व तेली।

जैसवाल (जैस, जिला रायबरेली) : बनिया, बरई (पनवाड़ी), कुरमी, कलार, चमार व खटीक।

श्रीवास्तव (श्रावस्ती) : कायस्थ, भड़भूंजा, दर्जी, तेली।

खंडेलवाल (खंडेला) : ब्राह्मण, बनिया।

बघेल (बघेलखंड) : भिलाल, गोंड, लोधी, माली, पंवार।

२. बोली : जब एक जाति के लोग अन्यत्र जाकर बस जाते हैं, तब कई पीढ़ियों तक अपने पूर्वजों की भाषा का प्रयोग करते रहते हैं।

३. विस्थापन की दिशा : बहुत से परिवारों में सौ या दो सौ वर्ष पूर्व के पूर्वजों के स्थान की स्मृति बनी रहती है। एक ही जाति के अनेक परिवारों के इतिहास से यह मालूम हो सकता है कि यह किस दिशा से आकर बसी है।

४. वर्तमान में निवास : किसी जाति के दूर-दूर तक फैल जाने पर भी अक्सर उसके केन्द्रीय स्थान में उसका निवास बना रहता है। उदाहरणार्थ, हरियाणा के आसपास आज भी अग्रवाल काफ़ी संख्या में हैं।

५. प्राचीन शिलालेख : शिलालेख किसी जाति के प्राचीन निवास स्थान के सबसे महत्वपूर्ण सूचक हैं।

६. गोत्रों के नाम : अनेक जातियों के कई गोत्रों के नाम स्थान सूचक हैं। गोत्रों के नाम से सैकड़ों वर्ष पूर्व के निवास-स्थान की पहिचान की जा सकती है।

तीनों जातियों में गोलापूर्वों की संख्या सबसे अधिक है (लगभग २४०००)। इन पर काफी जानकारी भी उपलब्ध है। इस जाति का संक्षिप्त इतिहास आगे दिया गया है। गोलालारों की वर्तमान जनसंख्या करीब १२,००० है। सन् १९१५ में इनकी सबसे अधिक संख्या ललितपुर में (४००) थी। इससे कम जनसंख्या (२७०) भिंड में थी। इनका प्राचीन निवास भिंड के आसपास था, ऐसा माना गया है। इनके शिलालेख ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध से मिलते हैं जिनमें गोलाराडे नाम प्रयोग किया गया है। ये गोल्लाराष्ट्र के निवासी होने के कारण ही गोलाराडे कहलाये। इसी प्रकार से महाराष्ट्र के निवासी मराठे, सौराष्ट्र के निवासी सारठे व काराष्ट्र के निवासी कर्हाडे कहलाये। अहार के लेखों में एक गगंराट जाति का उल्लेख है। ये सम्भवतः गगराड (जि० झालावाड़) से निकले गंगराडे या गंगेरवाल हैं।

गोलसिंघारे लगभग १४०० की जनसंख्या की एक लघुसंख्य जाति हैं। इसके प्राचीन उल्लेख १७वीं शताब्दी से पूर्व देखने में नहीं आये। लेखों में इन्हें गोलशृंगार कहा गया है। सन् १९१२ में इनकी सबसे अधिक जनसंख्या (२९८) इटावा में थी। इनका प्राचीन स्थान भी भिंड के आसपास कहा जाता है।

गोलापूर्व जाति का बारहवीं सदी के आसपास का निवास स्थान निश्चित रूप से पहिचाना जा सकता है क्योंकि :

१. इनमें बुंदेलखंडी ही बोलने की परम्परा है।

२. कई गोलापूर्व परिवारों के पूर्वज टीकमगढ़, छतरपुर, सागर आदि जिलों से अन्यत्र पिछले १००–२०० वर्षों में जाकर बसे हैं।

३. सन् १९४० की गोलापूर्व डायरेक्टरी के अनुसार इनकी काफ़ी जनसंख्या टीकमगढ़ जिले में खरगापुर, बल्देवगढ़ व ककरवाहा के आसपास, छतरपुर जिले में गुलगंज, मलहरा व दरगुआँ के आसपास, ललितपुर जिले सोजना, मंडावरा व गिरार के आसपास व सागर जिले में सेरापुर, शाहगढ़ व बरायठा के आसपास बसता है। यह उल्लेखनीय है कि ये सब स्थान धसान नदी के दोनों ओर १५–२० मील के अन्दर-अन्दर ही हैं।

४. इन स्थानों में गोलापूर्व अन्वय के प्राचीनतम शिलालेख हैं। लेखों में कई बार गोल्लापूर्व्व शब्द प्रयुक्त हुआ है। कुछ लेखों की सूचनाएं निम्न हैं :

(अ) पपौरा (जि० टीकमगढ़)

(१) सं० १२०२ का टुड़ा के पुत्र गोपाल, उसकी पत्नी माहिणी व पुत्र सांठु का लेख।

(२) सं० १२०२ का गल्ले व उसके पुत्र अकलन का लेख।

(ब) छतरपुर

(१) सं० १२०५ का अरास्त, उसकी पत्नी लहुकण व पुत्र सांतन व आल्हण का लेख।

(२) संभवतः इसी समय का कक्का के पुत्र वासल आदि का लेख। छतरपुर में कुछ लेख पढ़े नहीं जा सके हैं।

(स) अहार

(१) सं० १२०३ का तावदे, पत्नी जसमती व पुत्र लंपावन का लेख।

(२) सं० १२१३ का जाल्हू, पत्नी मलका व पुत्र पोहावन का लेख।

(३) सं० १२१३ का जाल्ह पत्नी मलहा व पुत्र सोदेव, राजजस व बछल का लेख।

(४) सं० १२३१ का देवनन्द, पुत्र अमर व पत्नी प्रविणी का लेख।

(५) १२३७ के ३ लेख।

(ब) नाराई (ललितपुर)

(१) सं० १२०३ का नन्दे व अच्छे का मानस्तम्भों पर लेख ।

(य) ललितपुर

(१) सं० १२४३ का राल, पत्नी चम्पा, उनके पुत्र पोल्हे, उसकी पत्नी वादिणी व उनके पुत्र रामचंद्र, विजयचंद्र, उदयचंद्र व हाललचंद्र का लेख ।

(र) बहोरीबंद

(१) सं० १०१० या १०७० का चेदि के कलचुरि गयाकर्ण के राज्यकाल का, गोलापूर्व अन्वय के श्रीसर्वधर के पुत्र महाभोज का लेख । इस लेख का संवत् ठीक से नहीं पढ़ा गया है । गयाकर्ण का समय का ई० ११२३ से ई० ११५३ तक माना गया है । अतः १०७० शक संवत् ही होना चाहिये ।

बहोरीबंद का लेख संभवतः किसी प्रवासी परिवार का है जो व्यापार के लिये निकटस्थ कलचुरि राज्य में बस गया होगा ।

(ल) महोबा

१. सं० १२१९ का भस्म का आदिनाथ प्रतिमा पर लेख ।

२. सं० १२४३ का रालु पत्नी चंपा, उनके पुत्र पोल्हे, उसकी पत्नी वांछिहूणी व उनके पुत्र रामचंद्र व विजयचंद्र के लेख का अभिनंदन प्रतिमा पर लेख । यह वही परिवार है जिसका ललितपुर की प्रतिमा में उल्लेख है ।

३. सं० १२४३ की मुनिसुव्रत प्रतिमा पर लेख । यह पूरा पढ़ा नहीं गया है ।

यहाँ पर सं० ८२१, ८२२ (संभवतः दोनों कलचुरि सं० हैं), ११४४ व १२०९ की मूर्तियों के निर्माता की जाति का उल्लेख नहीं है । महोबा चंदेलों की राजधानी रही थी । संभवतः इस कारण से यहाँ अन्यत्र से गोलापूर्व आकर बसे हों ।

ऊपर धसान नदी के आस-पास जिस क्षेत्र का उल्लेख है, उसमें गोलापूर्वों के बारहवीं शताब्दी से अब तक के सभी सदियों के लेख हैं । कई अन्य लेख या तो अब तक पढ़े नहीं गये हैं या उनके निर्माणकर्ता की जाति का उल्लेख नहीं है ।

गोत्र

सं० १८२५ (ई० १७६८) में खटौरा (खटौला, छतरपुर) निवासी नवलसाह चंदेरिया ने वर्धमान पुराण की रचना की थी । ब्रिटिश राज्य के पूर्व का केवल यही एक ग्रंथ है जिसमें गोलापूर्व जाति के बारे में विशेष जानकारी दी गई है । इसमें गोलापूर्व जाति के ५८ गोत्र गिनाये गये हैं । इस ग्रंथ के विभिन्न पाठांतरों व अन्य गोत्रावलियों को मिलाने से करीब ७६ गोत्रों के नाम मिलते हैं । इनमें से अब केवल ३३ गोत्र शेष हैं । ७६ में से अधिकतर स्थानों के नाम पर आधारित हैं । इनमें से कुछ इस प्रकार पहचाने जा सकते हैं ।

चंदेरिया—चंदेरी (टीकमगढ़, बल्देवगढ़ के पास)
पपौरया—पपौरा (टीकमगढ़, बल्देवगढ़ के पास)
मिलसैयां—भेलसी (टीकमगढ़, बल्देवगढ़ के पास)
सोंरया—सोंरई (ललितपुर, मडावरा के पास)
दरगैयां—दरगुवां (जि० छतरपुर, हीरापुर के पास)
कनकपुरिया—कन्नपुर (टीकमगढ़, बल्देवगढ़ के पास)

हीरापुरिया—हीरापुर (सागर)
मझगैयां—मझगुवां (जि० छतरपुर, बक्स्वाहा के पास)
धमोनिया—धामोनी (सागर) ।

उपरोक्त ९ में से केवल चंदेरिया व मिलसैयाँ ही शेष हैं अन्य गोत्र नष्ट हो चुके हैं। ये सभी स्थान धसान नदी के दोनों ओर १५–२० मील के अंतर्गत ही हैं।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि ११–१२वीं से १८–१९वीं सदी तक गोलापूर्व जाति का मुख्य निवास धसान नदी के दोनों ओर, अक्षांश २५° से २४° तक, था। कई लेखकों का अनुमान था कि गोलापूर्वों का मूल स्थान ओरछा राज्य (वर्तमान टीकमगढ़ जिला) था। पर यह मत भ्रमजनक हो सकता है। ओरछा के अधिकतर भाग में (विशेषकर ओरछा के चारों ओर ४० मील तक) गोलापूर्वों का निवास नहीं था। ललितपुर, सागर व छतरपुर जिले के कुछ भागों में गोलापूर्वों का प्राचीनकाल से निवास स्पष्ट सिद्ध होता है।

११–१२वीं सदी से पूर्व गोलापूर्वों का निवास कहाँ था? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। नवलसाह चंदेरिया ने वर्धमान पुराण में ८४ वैश्य जातियों की नामावली के बाद लिखा है।

तिन में गोलापूर्व को उतपति कहौं बखान।
संबोधे श्री आदिजिन, इक्ष्वाक वंश परवान॥
गोयलगढ़ के वासी तेत, आए श्री जिन आदि जिनेश।
चरणकमल प्रणमैं धर सीस, अरु अस्तुति कीनी जगदीश॥
तब प्रभु कृपावंत अतिभये, श्रावक व्रत तिनहू को दये।
क्रियाचरण की दीनी सीख, आदर सहित गही निज ठीक॥
पूर्वहि थापी नैत नु एह, अरु गोयलगढ़ थान कहेह।
तातैं गोलापूरब नाम, भाष्यौ श्रीजिनवर अभिराम॥

अधिकतर विद्वानों ने गोयलगढ़ को ग्वालियर माना है। परमानन्द शास्त्री ने इसे गोलाकोट माना है। लेकिन ई० १७६८ के इस कथन को क्या महत्व दिया जा सकता है? ग्वालियर के आस-पास दूर-दूर तक गोलापूर्व जाति के निवास का कोई चिन्ह नहीं पाया गया है।

ऊपर कहा जा चुका है कि गोलालोर व गोलसिंघारे जातियों का प्राचीन निवास भिंड के आस-पास मालूम होता है। एटा (उ० प्र०) के सं० १३३५ (१२७८ ई०) के एक लेख में मूलसंघ के गोललतक अन्वय के कुछ व्यक्तियों द्वारा तीन मूर्तियों की स्थापना का उल्लेख है। इस जाति के बारे में कोई अन्य जानकारी उपलब्ध नहीं है। गोलापूर्व नाम की तीन अन्य अजैन जातियाँ हैं। इनमें गोलापूर्व दर्जी व गोलापूर्व कलार जातियों के बारे में भी कोई सूचना नहीं है। परंतु गोलापूर्व नाम की एक ब्राह्मण जाति के बारे में कुछ जानकारी प्राप्य है।

गोलापूर्व ब्राह्मणों की जनसंख्या संभवतः एक से छह लाख के बीच होगी। इनका प्रमुख काम पौरोहित्य आदि नहीं, बल्कि खेती, जमींदारी आदि है। इनका निवास आगरा जिले के आस-पास है। आचार व्यवहार आदि से इन्हें सनाढ्य ब्राह्मणों से संबंधित माना गया है। ग्वालियर राज्य के उत्तरी भाग में (अंबाह के आस-पास) इनके कुछ गाँव थे।

कई लेखकों ने इस बात की संभावना व्यक्त की है कि हो सकता है कि गोलापूर्व जैन व गोलापूर्व ब्राह्मण जातियाँ प्राचीनकाल में एक ही रही हों। परंतु विशेष अध्ययन से यह संभावित नहीं लगता। पर इस बात की पूरी संभावना है कि ये कभी एक ही स्थान की वासी रही होंगी। अगर गोलालारे, गोलसिंघारे, गोलापूर्व ब्राह्मण जातियाँ एक ही क्षेत्र के (आगरा, भिंड, इटावा आदि) निवासी थीं, तो गोलापूर्व जैन भी कभी उसी क्षेत्र के वासी होने चाहिये।

यहाँ दो प्रश्नों पर विचार महत्वपूर्ण है। क्या नवलसाह चंदेरिया का ऐतिहासिक ज्ञान विश्वास के योग्य है ? यदि है, तो गोयलगढ़ स्थान कौन सा है ?

पं० मोहनलाल काव्यतीर्थ (गोलापूर्व डायरेक्टरी के संपादक) ने नवलसाह के लेखन को विश्वसनीय नहीं माना था। परंतु ध्यान से परीक्षा करने पर नवलसाह के कथन अक्सर प्रामाणिक निकलते हैं। नवलसाह ने अपने से छह पीढ़ी पहले के पूर्वज भेलसी निवासी भीषमसाह द्वारा सं० १६९१ (अर्थात् १७४ वर्ष पूर्व) गजरथ चलवाकर सिंघई पद पाने का उल्लेख किया है। यह स्पष्ट ही सही है क्योंकि भीखमसाह चंदेरिया द्वारा निर्मित सं० १६९१ का मंदिर भेलसी में आज भी है। नवलसाह ने चंदेरिया बैंक (गोत्र) के चार खेरों (ग्रामों) का उल्लेख किया है। यह जानकारी तब की है जब चंदेरिया कुल के लोग केवल चार ग्रामों में बसते थे। नवलसाह के पूर्वज बड़खेरे के निवासी थे। इतना ही नहीं, नवलसाह ने अपने प्राचीन-काल के पूर्वज गोल्हनसाह (गोल्हण साहु) के बारे में भी लिखा है जो चन्देरी के निवासी थे। शिलालेखों से पता चलता है कि ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में इस प्रकार के नाम काफ़ी लोकप्रिय थे। नवल साह को गोल्हन साह से भीषम साह तक भी कुछ जानकारी उपलब्ध थी, परन्तु "तितने जौ सब वर्णन करौ, बाढ़ै ग्रंथ पार नहीं धरौ"। नवलसाह ने गोयलगढ़ का उल्लेख किसी श्रुत परम्परा के आधार पर किया था, यह मानना पड़ेगा।

गोयलगढ़ ग्वालियर ही मालूम होता है। गोयलगढ़ तो पद्य के लिए प्रयुक्त गोयलगढ़ का रूपान्तर है। यहाँ पर ग्वालियर के इतिहास व ग्वालियर शब्द की उत्पत्ति पर विचार आवश्यक है। ग्वालियर नाम किसी ग्वालिय ऋषि के नाम पर पड़ा कहा जाता है। पर यह आधुनिक कल्पना ही है। प्राचीन लेखों में इसे गोपाद्रि, गोपाचल आदि कहा गया है। इसका अर्थ है कि पर्वत का सम्बन्ध गोप जाति से या किसी गोप व्यक्ति से माना जाता था। गोप शब्द के कई रूपान्तर हैं—उत्तर भारत में ग्वाल, ग्वला, गावली, गावरी आदि। दक्षिण भारत में अनेक चरवाहा जातियाँ हैं—ये ये सब गोल्ला कहलाती हैं। ग्वालियर शब्द में प्रथम भाग ग्वाल अर्थात् गोप ही है। दूसरा भाग सम्भव है गढ़ का अपभ्रंश हो। यद्यपि यह प्रवृत्ति सन्देहरहित नहीं है। ग्वालियर के किले के प्राचीनतम लेख हूण (शक) तोरमाण व उसके पुत्र मिहिरकुल के हैं। तोरमाण पंजाब के शाकल स्थान का राजा था, स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद उसने मध्य भारत पर अधिकार कर लिया था। कुवलयमालाकहा के अनुसार तोरमाण हरिगुप्त नाम के जैन आचार्य का अनुयायी था। इसके एरण (जि० सागर) के पास ई० ४९५ का लेख व सिक्के मिले हैं।

५३५ के आसपास कौस्मस इंडिकोप्लूस्तस (अर्थात् भारत मार्गदर्शक) नाम के ग्रीक (यवन) लेखक ने अरब, फ़ारस, भारत आदि देशों की यात्रा का विवरण किया है। इसने गोल्लास् नाम के किसी शक्तिशाली राजा का उल्लेख किया है। ग्रीक भाषा में नामों के बाद स् लगता है (जैसे संस्कृत में विसर्ग लगता है), इस कारण से नाम गोल्ला होना चाहिए। इतिहासकारों का अनुमान है कि यह मिहिरकुल है जिसे ई० ५३३ के लेख के अनुसार यशोधर्मा ने परास्त किया था। मिहिरकुल को मिहिरगुल भी लिखा गया है, गोल्लागुल का ही रूप है, ऐसा अनुमान किया गया है। परन्तु यह भी सम्भव लगता है कि गोल्लादेश (ग्वालियर के आसपास) का अधिपति होने के कारण वह गोल्लास् कहलाया।

यदि नवलसाह का कथन माना जाए, तो गोल्लापूर्व जाति ग्यारहवीं-बारहवीं सदी से कई सौ वर्ष पहले ग्वालियर के आसपास के क्षेत्र से जाकर बसी थी यह मानने से एक अन्य समस्या का समाधान हो जाता है। गोलाराे, गोलसिंघारे व गोलापूर्व ब्राह्मण जातियाँ ग्वालियर के आसपास ही (भिंड, आगरा, इटावा आदि जिलों में) बसती हैं। गोलापूर्व जैन जाति का भी प्राचीनतम निवास यहीं होना चाहिये। दसवीं-ग्यारहवीं सदी के पूर्व मूर्तिलेखों का प्रचलन बहुत ही कम था। इसके पहिले के अधिकतर शिलालेख राजाओं के मिलते हैं, सामान्यजनों के नहीं। इसी कारण से ग्वालियर के आसपास गोलापूर्व जाति के लेख नहीं हैं।

●

हमारे सहयोगी : स्वागत समिति सदस्य-गण*

संस्थायें, ट्रस्ट एवं क्षेत्र

१. भा० दि० जैन विद्वत् परिषद्, सागर	२१००	००
२. भा० दि० जैन संघ, मथुरा	१०००	००
३. दि० जैन वर्णी शोध संस्थान, काशी	१०००	००
४. श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी	५०१	००
५. श्री दि० जैन परवार सभा, जबलपुर	१०००	००
६. मंत्री, भागचंद्र इटोरया न्यास, दमोह	५०१	००
७. श्री भगवानदास शोभालाल चेरिटेबुल ट्रस्ट, सागर	५०१	००
८. श्री हरिश्चंद्र महारानी देवी ट्रस्ट, जबलपुर	५०१	००
९. मंत्री, पपौरा क्षेत्र, टीकमगढ़	२५१	००
१०. मंत्री, अतिशय क्षेत्र, खजुराहो	५००	००
१०अ. सुभाष जैन, अध्यक्ष जैन शिक्षा संस्था, कटनी	२५०२	००
१०ब. टोडरमल कन्हैयालाल पारमार्थिक ट्रस्ट, कटनी	५०००	००
१०स. जैन ट्रस्ट, रीवा	२०१	००

15,558

समाजसेवी सहायक एवं शिष्य मंडली

११. साहू श्रेयांस प्रसाद जैन, बम्बई	१०००	००
१२. माणिकचंद्र चवरे, कारंजा	१०००	००
१३. श्री पंचमलाल जैन, अमलाई	५१	००
१४. श्री सगुनचन्द्र टडैया, उमरेड	१०१	००
१५. श्री एस० सी० जैन, रीवा	१०१	००
१६. डा० रूपचंद्र जैन, सतना	२५१	००
१७. डॉ० डी० के जैन, भिंड	२५१	००
१८. डा० एस० सी० लहरी, भोपाल	२५२	००
१९. श्री एस० सी० जैन, विदिशा	२५१	००
२०. श्री एस० एन० जैन, सतना	१०१	००
२१. श्री महेन्द्रकुमार मलैया, सागर	२५१	००
२२. श्री जीवनलाल बहेरिया, सागर	१०१	००
२३. श्री बाबूलाल जैन सागर	२०१	००
२४. ब० कल्याणदास जी, सीहोरा	१०१	००
२५. डॉ० ज्ञानचंद्र आलोक, बम्बई	२५२	००
२६. डॉ० धर्मचंद्र जैन, सिवनी	२५१	००
२७. श्री जयमाला जी जैन, दिल्ली	२५१	००
२८. डा० कपूरचंद्र जैन खकेरा, टीकमगढ़	२५१	००
२९. श्री खेमचंद्र जैन, शहडोल	२५१	००
३०. श्री केशरचंद्र जैन जी नायक	२५१	००
३१. श्री पूरनचंद्र जैन, पथरिया	२५१	००
	5771	
३२. श्री धर्मचंद्र जैन बाझल, पथरिया	२५१	००
३३. श्री सुमेरचंद जी बाझल ,,	२५१	००
३४. श्री साबूलाल जी पारा ,,	२५१	००
३५. डा० नेमीचंद्र जैन ,,	२५१	००
३६. श्री डालचंद्र जैन ,,	२५१	००
३७. श्री हेमचंद्र जैन ,,	२५१	००
३८. श्री नारायण प्रसाद जैन ,,	२५१	००
३९. श्री भागचंद्र जैन ,,	२५१	००
४०. श्री हरिश्चंद्र जैन ,,	२५१	००
४१. श्री कपूरचंद्र जैन पोतदार, टीकमगढ़	२५१	००
४२. श्री धन्नालालजी मोतीवाला, जबलपुर	१०१	०
४३. नरेशचंद्र जी गढ़ावाल, जबलपुर	२५१	००
४४. श्री पन्नालाल जैन, बरगी	२५१	००
४५. श्री डालचंद्र जैन ,,	२५१	००
४६. डा० सुरेशचंद्र जैन, लखनादौन	१०१	००
४७. श्री पी० सी० जैन, ,,	२५१	००
४८. श्री विजय कुमार जैन, सिवनी	२५१	००
४९. श्री शिखरचंद्र जैन, शहडोल	२५१	००
५०. श्री नंदन लाल जैन, शहडोल	२५१	००
५१. डॉ० के० एल० जैन, ,,	२५०	००
	4714	

५२.	पं० फूलचंद्र जी शास्त्री	२०१	००
५३.	डॉ० डी० सी० दानपति, जबलपुर	१५१	००
५४.	श्री नेमीचंद जैन, सी० ई० ,,	२५१	००
५५.	श्री रतनचंद्र जी जैन, पाटन	५००	००
५६.	श्री धन्यकुमार सिंघई, कटनी	२००१	००
५७.	डॉ० आर० के० जैन, रीवा	५१	००
५८.	श्री अजितकुमार जैन, छतरपुर	२५१	००
५९.	श्री प्रेमचंद्र जैन ,,	२५१	००
६०.	श्री बी० सी० जैन, एस० ई०, भोपाल	२५१	००
६१.	श्री कैलाशचंद्र जैन, करकेली	२५१	००
६२.	डॉ० एस० एल० जैन, वाराणसी	१०१	००
६३.	डॉ० फूलचंद्र प्रेमी ,,	१०१	००
६४.	श्री माणिकचंद्र जी कठनेरा, भोपाल	१०१	००
६५.	श्री पी० सी० जैन, एस० ई० भोपाल	२०१	००
६६.	श्री जे० पी० जैन, उपसचिव, भोपाल	२५०	००
६७.	श्री एस० के० सोनी, भोपाल	२६१	००
६८.	श्रीमती आशा सोनी ,,	२६१	००
६९.	श्रीमती मनोरमा नायक ,,	२६१	००
७०.	श्री आर० के० जैन, डी० ई०, सतना	२५१	००
७१.	डॉ० अरविन्दकुमार जैन, ललितपुर	२५१	००
७२.	श्री सुमतिप्रकाश जी जैन, दिल्ली	२५१	००
७३.	लाल मेहताब सिंह जी जैन, दिल्ली	२५१	००
७४.	श्रीमती माला जैन, रीवा	५१	००
७५.	श्री सुरेश जैन, उपसचिव, भोपाल	२५१	००
७६.	श्री निम्मी बाई, मातुश्री कमल कुमार जैन	२५१	००
७७.	शिखरचंद्र रमेशचंद्र जैन, कटनी	२५१	००
७८.	दसई लाल गिरधारी लाल जैन, कटनी	२५१	००
७९.	वंशीलाल जैन, कटनी	२५१	००
८०.	सिंघई विरधीचंद्र मगनलाल जैन	२५१	००
८१.	स० सिं० जयकुमार जैन, सनत एन्टरप्राइजेज	२५१	००
८२.	गोकुलचंद्र गिरधारीलाल जैन	२५१	००
८३.	खुशालचंद्र प्रेमचंद्र जी जैन, बघवार	२५१	००
८४.	लक्ष्मीचंद्र बाझल, हीरागंज, कटनी	२५१	००
८५.	स० सिं० लक्ष्मीचंद्र टेकचंद्र, कटनी	२५१	००
८६.	नीरज जैन, शांतिसदन, सतना	२५१	००
८७.	श्रीमती शांति जैन, सतना	२५१	००
८८.	प्रेमचंद्र जैन, ठेकेदार, जबलपुर	२५१	००
८९.	दयाचंद्र बाबूलाल जी मोदी, तेंदूखेड़ा	२५१	००
९०.	कंछेदी लाल प्रेमचंद्र गोयल, तेंदूखेड़ा	२५१	००
९१.	सुरेशचंद्र पांडे, तेंदूखेड़ा	२५१	००
९२.	डालचंद्र सुरेशचंद्र जैन, तेंदूखेड़ा	२५१	००
९३.	श्रीमती चन्द्रदेवी जैन, धर्मपत्नी मोती लाल जैन, सागर	१००१	००
९४.	दादा नेमिचन्द्र, जबलपुर	१०००	००
९५.	मुलायमचन्द्र जैन ,,	५०१	००
९६.	भूरमल जैन ,,	१०१	००
९७.	विजय कुमार जी मलैया, दमोह	११०१	००
९८.	रूपचंद जी बजाज, दमोह	५०१	००
९९.	डॉ० बाबूलाल जैन, अशोक नगर	२५१	००
१००.	बी० के० आयरन एंड स्टील प्राईवेट लि०, देहली	२५१	००
१०१.	श्रीमंत सेठ रिषभ कुमार जैन, खुरई	१०००	००
१०२.	देवकुमार सिंह कासलीवाल, इन्दौर	२५१	००
१०३.	एन० के० सेठी, मानद मंत्री महावीर जी	२५१	००
१०४.	सिंघई सुमतकुमार विवेककुमार जैन झांसी	५०१	००
१०५.	डॉ० बी० सी० जैन, न्यू देहली	२५१	००
१०६.	विमल कुमार जैन, बनारस	२५१	००
१०७.	निर्मलचंदजी जैन, एडवोकेट, जबलपुर	५०१	००
१०८.	जवाहर लाल जैन बम्बई	११०१	००
१०९.	सिंघई ताराचंद जी जैन, दमोह	२५१	००
११०.	सिं० प्रकाशचंद जैन, एडवोकेट, दमोह	२५१	००
१११.	मूलचंद गुलजारी लाल जैन, दमोह	२५१	००
११२.	लखमी चंद जी चौपरा वाले दमोह	२५१	००
११३.	खेमचंद जी बलेह वाले दमोह	२५१	००
११४.	गोकुल चंद जैन, करैंकी वाले दमोह	२५१	००
११५.	सतीशजी सराफ, प्रो० महावीर सायकल स्टोर्स, दमोह	२५१	००
११६.	अभिषेक वस्त्रालय, दमोह	२५१	००
११७.	नायक ब्रदर्स, दमोह	२५१	००

११८.	उदयचंद [illegible]कुमार बजाज, दमोह	२५१	००
११९.	धवल एंड कं०, दमोह	२५१	००
१२०.	खेमचंद जी लहरी, दमोह	२५१	००
१२१.	जमुना प्रसाद जी सुनार वाले, दमोह	२५१	००
१२२.	चौ० कपूर चंद जी लखमी चंद जी	२५१	००
१२३.	सेठ सुमतचंद देवेन्द्र कुमार जी दमोह	२५१	००
१२४.	सिंघई कस्तूर चंद जी एडवोकेट	२५१	००
१२५.	रूपचंद ज्ञानचंद जी सराफ दमोह	२५१	००
१२६.	रामसहाय नेमीचंद सराफ दमोह	२५१	००
१२७.	रतनचंद जी जैन हटा वाले दमोह	२५१	००
१२८.	सेठ धरमचंद जी दमोह	२५१	००
१२९.	सेठानी जमरानी बहू दमोह	२५१	००
१३०.	सिंघई कन्छेदी लाल जी जैन दमोह	५०१	००
१३१.	गोमती प्रसाद जी सेठ दमोह फुटेरा	२५१	००
१३२.	श्रीमति छबरानी बहू मोहन लाल जी करैली वाले दमोह	२५१	००
१३३.	खूबचंद जी रतनचंद जी सराफ दमोह	२५१	००
१३४.	विमलकुमार संजयकुमार मोदी, दमोह	२५१	००
१३५.	सिं० खेमचंद अशोक कुमार जी दमोह	२५१	००
१३६.	गुलाब चंद अजीत कुमार मलैया	२५१	००
१३७.	रिषभ कुमार मानव कुमार, दमोह	२५१	००
१३८.	मानक लाल अनिल कुमार, दमोह	२५१	००
१३९.	गुलाबचंद नरेन्द्र कुमार बजाज, दमोह	२५१	००
१४०.	चौ० रूपचंद जी संगल, दमोह	२५१	००
१४१.	चौ० गोपीचंद अनिल कुमार, दमोह	२५१	००
१४२.	चौ० गोकुलचंद कपूरचंद, मीरगंज	२५१	००
१४३.	निर्मल कुमार बजाज, दमोह	२५१	००
१४४.	प्रकाश चंद जी सिंघई बैनधरा वाले	२५१	००
१४५.	श्री नन्दन लाल नायक	२५१	००
१४६.	श्रीमती राजकुमारी बाई धर्मपत्नी श्री कस्तूरचंद जी, दमोह	२५१	००
१४७.	निर्मल कुमार इटोरया फर्म धावचंद गिरीश कुमार, दमोह	२५१	००
१४८.	वर्धमान दाल मिल, दमोह	२५१	००
१४९.	अजीत कुमार जी दिवाकर, सागर	२५१	००
१५०.	नन्दराम रूपचंद जैन, दमोह	२५१	००
१५१.	श्रीमती देशरानी धर्मपत्नी सेठ डालचंद, दमोह	२५१	००
१५२.	प्यारे लाल भागचंद जैन, दमोह	२५१	००
१५३.	श्री हरीश जैन, सीधी	१०१	००
१५४.	श्री राजेन्द्र, आर० बी०	२५१	००
१५५.	श्री मोतीलाल, बढ़कुर	२५१	००
१५६.	डॉ० एस० सी जैन, रायपुर	१५१	००
१५७.	डॉ० हीरालाल जैन, रीवा	५१	००
१५८.	नेमीचन्द्र जी जैन, दिल्ली	२५१	००
१५९.	सुमेरचंद्र जैन, डी० टी० ए० आर०	२५१	००
१६०.	धर्मचंद्र सरावगी, कलकत्ता	११११	००
१६१.	डॉ० कमलेश कुमार जैन, काशी	१०१	००
१६२.	डॉ० चंद्रकुमार खासगीवाला, बोस्टन	३४६	५०
१६३.	डॉ० डी० सी० जैन, न्यूयार्क	१०१	००
१६४.	सुरेश जैन, संजय मेडीकल, रीवा	२५१	००
१६५.	विमलकुमार सौंरया	२५१	००
१६६.	नाथूराम डोंगरीय	१०१	००
१६७.	निर्मल आजाद	२०१	००
१६८.	श्री पी० सी० जैन, सी० ए० बिलासपुर	२०१	००
१६९.	श्री देवेन्द्र सिंघई, आई० ए० एस०	२०१	००
१७०.	श्री बी० एल० जैन, आई० एफ० एस०	१००	००
१७१.	श्री जे० के० जैन, रीवा	१५१	००
१७२.	जैन केन्द्र, रीवा के माध्यम से	२०१	००
१७३.	व्ही० के० गांधी, सतना	५००	००

दि० जैन पारमार्थिक संस्था, सतना (आयोजन समिति) द्वारा एकत्रित*

श्री प्रकाशचन्द्र जी जैन, झांसी वाले, अध्यक्ष, आयोजन समिति	५१००	००
श्री ऋषभदास जी जैन, श्र० सिं० दरबारी लाल घासीराम	२१००	००
श्री कैलाशचन्द्र जी जैन, अध्यक्ष जैन समाज, सतना	२१००	००
श्री सेठ आनन्द कुमार जी जैन	२१००	००
श्री सीताराम जी सरावगी	२१००	००

श्री स० सि० प्रसन्न कुमार सुनील कुमार, कटनी	२१००	००
श्री राजेन्द्र कुमार फौजदार	२१००	००
हुकुम चन्द्र जैन, स्वागत मंत्री	२१००	००
श्री मूलचन्द्र जी जैन, अमर जैन ट्रान्सपोर्ट	१५००	००
श्री हेमचन्द जैन, रीवावाला छाप, सतना	१५००	००
श्री अमरचन्द जी जैन, मेडीक्योर सेल्स	११००	००
श्री नीरज जी जैन, सुषुमा प्रेस, सतना	११००	००
श्री सोमचन्द जी जैन, सोमचन्द एन्ड सन्स	११००	००
श्री शान्ति लाल जैन, पवन ट्रेडिंग कम्पनी	११००	००
श्री देवेन्द्र कुमार जी जैन, जय इंजीनियरिंग वर्क्स, सतना	११००	००
श्री हुकुम चन्द जी जैन रामलाल नत्थूलाल	१०००	००
श्री जवाहर लाल जी जैन, अनुपम क्लाथ स्टोर्स, सतना	५०१	००
श्री सोमचन्द्र जी जैन, कुमार स्टोर्स, सतना	५०१	००
श्री निर्मल जी जैन, सतना	५०१	००
श्री डा० रूप चन्द जी जैन, सतना	५०१	००
श्री प्रकाश चन्द जी जैन, अकौना वाले	५०१	००
श्री जयकुमार जी जैन, रागिनी एन्टरप्राइज	५०१	००
श्री हुकुमचन्द जी जैन, पीपलवाला छाप	५०१	००
श्री कोमल चन्द जी जैन, पीपलावाला छाप	५०१	००
श्री सोमचन्द्र जी जैन, जैन मेडीकल एजेन्सी	५०१	००
श्री राजेन्द्र कुमार जी जैन, अध्यक्ष, जैन क्लब परिसंघ, सतना	५०१	००
श्री हरिश्चन्द्र जैन, खजुराहो टान्सपोर्ट	५०१	००
श्री ऋषभ कुमार जैन, सुभाष टान्सपोर्ट	५०१	००
श्री दरबारीलाल फूलचन्द जी जैन, देवेन्द्रनगर	५०१	००
श्री उदयचन्द्र जैन, सतना	५०१	००
श्री त्रिलोकचन्द्र जैन, रूपाली वस्त्र, सतना	५०१	००
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, अहिंसा वस्त्रालय, सतना	५०१	००
श्री रतनचन्द्र जैन, इलेक्ट्रिकल इम्पोरियम	५०१	००
श्री कल्यानदास परसादीलाल, सतना	५०१	००
श्री कमलचन्द्र अरुण कुमार : जैन ब्रदर्स	५०१	००
श्रीमती प्रभादेवी राजेन्द्र कुमार, सतना	५०१	००

39,320

* यह सूची ३१-३-९० तक की है। त्रुटियाँ भूल-चूक के लिये क्षमाप्रार्थी हैं।

आय व्यय*

(१-१-८७ से ३१-३-९० तक)

आय		व्यय	
५६,८८४.००	कुल आय	४३,१७१.००	तारा प्रिंटिंग प्रेस
		१,६२२.००	पोस्टेज
		४८२.००	स्टेशनरी
		८,०१३.००	यात्रा व्यय
		७३३.००	प्रिंटिंग
		१,३५०.००	लिपिकीय सहायता
		५५३७१.००	
		८५४.००	सहयोग जो प्राप्त नहीं हुआ
		५६२२५.००	

* १. इसमें श्री प्रकाश सिंघई द्वारा एकत्र राशि तथा आयोजन समिति की राशि सम्मिलित नहीं है।

२. यह आयव्ययक अनुमानित है। पूर्ण विवरण आयोजन के बाद प्रसारित किया जायगा।

पंडित जगन्मोहनलाल शास्त्री साधुवाद समारोह समिति के सदस्य-गण

डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, सदस्य, संपादक मंडल (उज्जैन)
डॉ० कंछेदलाल जैन, सदस्य, प्रबंध समिति
श्री रूपचंद्र बजाज, प्रेरक (दमोह)
श्री भूरमल जैन, प्रेरक (जबलपुर)
डॉ० हीरालाल जैन, प्रेरक (रीवा)
पं० गोविंदराम शास्त्री, प्रेरक (झूमरी तिलैया)
श्री बी० सी० जैन, प्रेरक (नई दिल्ली)

के असामयिक निधन पर अपना हार्दिक शोक व्यक्त करते हैं। हमारी कामना है कि दिवंगत आत्माओं को शांति एवं सद्गति प्राप्त हो। उनके परिवार जनों के प्रति हमारी समवेदना है।